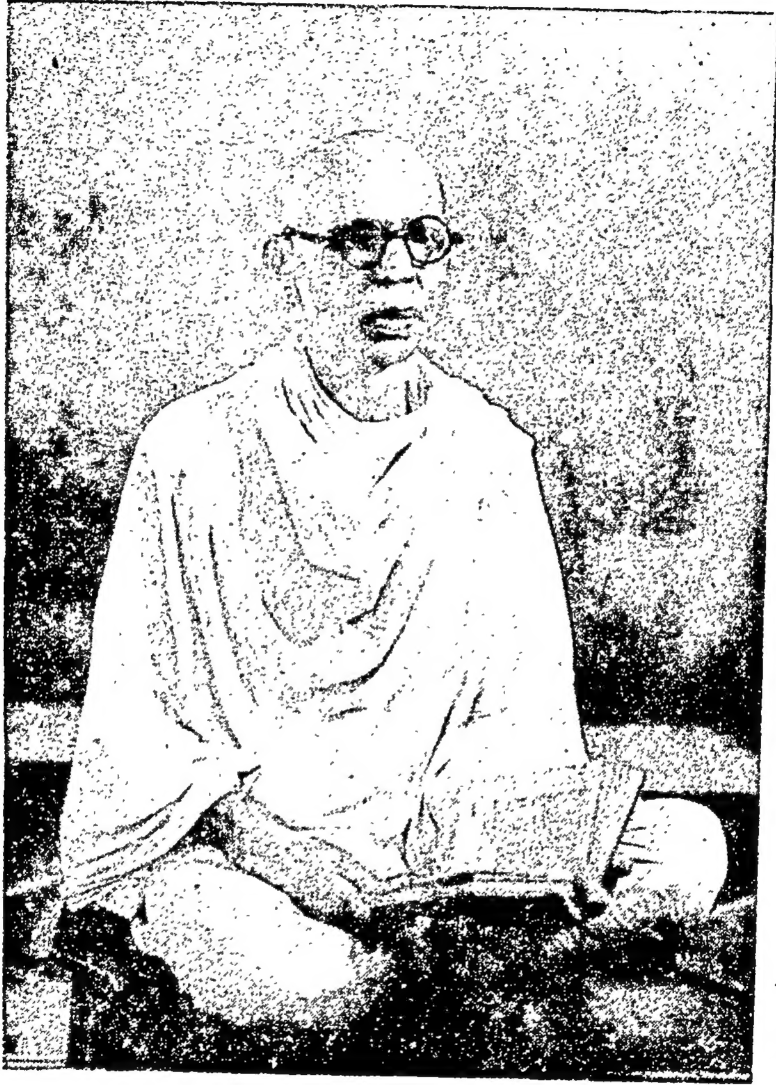
प्रकाशक
श्रीमान् सेठ लालचंद हीराचंद
अध्यक्ष—जैन संस्कृति संरक्षक संघ
सोलापूर (सौराष्ट्र)

वीर संवत्
२५०३
ई० सन् १९७७

प्रथमावृत्ति
प्रति ५००

मुद्रक
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहर नगर कॉलोनी, दुर्गाकुण्ड,
वाराणसी–२२१००१



स्व. ब्र. जीवराज गौतमचंद दोशी

स्व. रो. ता. १६–१–५७ (पौष शु. १५)

श्री जीवराज जैन ग्रंथमालाका

परिचय

सोलापुर निवासी स्व० ब्र० जीवराज गौतमचंद दोशी कई वर्षों से उदासीन होकर धर्म-कार्यमें अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४० में उनकी प्रबल इच्छा हो उठी कि अपनी न्यायो-पार्जित संपत्तिका उपयोग विशेषरूपसे धर्म और समाजकी उन्नतिके कार्यमें करें। तदनुसार उन्होंने समस्त देशका परिभ्रमण कर जैन विद्वानोंसे साक्षात् और लिखित रूपसे सम्मतियाँ इस बातकी संग्रह कीं, कि कौनसे कार्यमें संपत्तिका उपयोग किया जाए। स्फुट मतसंचय कर लेनेके पश्चात् सन् १९४१ के ग्रीष्मकालमें ब्रह्मचारीजीने सिद्धक्षेत्र गजपंथ (नाशिक) के शीतल वाता-वरणमें विद्वानोंकी समाज एकत्रित्त की और ऊहापोहपूर्वक निर्णयके लिए उक्त विषय प्रस्तुत किया।

विद्वान् सम्मेलनके फलस्वरूप ब्रह्मचारीजीने जैनसंस्कृति तथा जैनसाहित्यके समस्त अंगोंके संरक्षण, उद्धार और प्रचारके हेतु **'जैन संस्कृति संरक्षण संघ'** नामक संस्थाकी स्थापना की। उसके लिये रु० ३०,००० के दानकी घोषणा कर दी। उनकी परिग्रहनिवृत्ति बढ़ती गई। सन् १९४४ में उन्होंने लगभग दो लाखकी अपनी संपूर्णसंपत्ति संघको ट्रस्टरूपसे अर्पण की। इस संघ-के अंतर्गत 'जीवराज जैन ग्रन्थमाला' द्वारा प्राचीन प्राकृत-संस्कृत-हिंदी तथा मराठी पुस्तकोंका प्रकाशन हो रहा है।

आजतक इस ग्रन्थमालासे हिंदी विभागमें २९ पुस्तकें, कन्नड विभागमें ३ पुस्तकें, तथा मराठी विभागमें ४४ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ इस ग्रन्थमालाका हिंदी विभागका २९ वाँ पुष्प है।



प्रकाशकीय निवेदन

यह श्रावकाचार संग्रह ग्रन्थ उपासकाध्ययनांगका चरणानुयोगका प्रकाशक अनुपम ग्रन्थ है। इसमें सब श्रावकाचारोंका संग्रह एकत्रित किया है। श्रावक धर्मका स्वरूप क्या है, आत्मधर्मके उपासककी दिनचर्या कैसी होनी चाहिये, परिणामोंकी विशुद्धिके लिये क्रमपूर्वक व्रत-संयमका अनुष्ठान नितांत आवश्यक है इसका विस्तारपूर्वक विवरण इस ग्रन्थका पठन-पाठन करनेसे ज्ञात हो सकता है। स्व० श्रीमान् डा० ए० एन० उपाध्ये ने सब श्रावकाचार ग्रंथोंकी नामावली भेजकर यह ग्रन्थ प्रकाशित करनेके लिये मूलप्रेरणा दी इसलिये यह संस्था उनकी कृतज्ञ है।

श्रावकाचारके इस तीसरे भागका संपादन एवं हिंदी अनुवाद श्री पं० हीरालालजी शास्त्री ब्यावर ने तैयार करके ग्रंथमालाको जिनवाणीका प्रचार करनेमें सहयोग दिया है, जिसके लिये हम उक्त जैनधर्मसिद्धांतके मर्मज्ञ विद्वान्‌को हार्दिक धन्यवाद समर्पण करते हैं।

इस ग्रंथका मुद्रण कार्य सुचारु रूपसे करनेमें श्री वर्द्धमान मुद्रणालय वाराणसी के संचालक-वर्गने सहयोग दिया है इसलिये हम उनका भी आभार मानते हैं।

अंतमें इस ग्रन्थका पठन-पाठन घर-घरमें होकर श्रावकधर्मकी प्रशस्त तीर्थप्रवृत्ति अखंड प्रवाहसे सदैव कायम रहे यह मंगल भावना प्रकट करते हैं।

श्री वालचंद देवचंद शहा
मंत्री श्री जैनसंस्कृतिसंरक्षक संघ
(जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर)

धान सम्पादकीय

श्री जीवराज ग्रन्थमालाके मानद मंत्री श्री सेठ वालचन्द देवचन्द शाह एक कुशल कर्मठ कार्यकर्ता होनेके साथ ही एक दक्ष विचारक भी हैं। उन्हींके विचारमें समस्त श्रावकाचारोंका एक संकलन प्रकाशित करनेकी योजनाका सूत्रपात हुआ और उनके अनन्य सहयोगी तथा जीवराज ग्रन्थमालाके प्रधान सम्पादक डॉ० ए० एन० उपाध्येने कार्यरूपमें परिणत किया। प्रकाशित तीन जिल्दोंमें अधिकांश श्रावकाचार पूर्वमें प्रकाशित हैं किन्तु उनका इस प्रकारका संकलन एकदम अभिनव है। साधारण स्वाध्यायप्रेमी उसका मूल्यांकन नहीं कर सकते। किन्तु जो विचारक हैं, अन्वेषक हैं, उनकी दृष्टिमें इस संकलनका मूल्य अत्यधिक है।

साधारणतया आठ मूलगुण, पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत यह श्रावकका सर्वमान्य आचार है। इसके प्रारम्भमें सम्यग्दर्शन और अन्तमें समाधिमरण जोड़नेसे श्रावकधर्मपूर्ण हो जाता है। विक्रमकी तेरहवीं शतीके ग्रन्थकार पं० आशाधरने अपने सागारधर्मामृतमें कहा भी है—

सम्यक्त्वममलममलान्यणुगुणशिक्षाव्रतानि मरणान्ते।
सल्लेखना च विधिना पूर्णः सागारधर्मोऽयम्॥ (१।१२)

'निर्मल सम्यक्त्व, निर्मल अणुव्रत गुणव्रत शिक्षाव्रत और मरणकालमें विधिपूर्वक सल्लेखना यह पूर्ण श्रावकाचार है।'

अतः प्रायः सभी श्रावकाचारोंमें इस श्रावक धर्मका वर्णन होने पर भी उसके निरूपणकी पद्धतिमें, अन्य प्रासंगिक कथन, तथा देशकालके प्रभावके कारण अनेक विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं और संशोधकोंके लिए वे महत्त्वपूर्ण हैं। प्रत्येक ग्रन्थकार केवल पूर्वकथनको ही नहीं दोहराता है। यदि वे ऐसा करें तो उनकी रचनाका कोई महत्त्व ही न रहे। पूर्व कथनको अपनाकर भी वे उसमें अपना वैशिष्ट्य भी प्रदर्शित करते हैं जिससे प्रवाह रूपसे आगत सिद्धान्तोंका संरक्षण होनेके साथ उसे प्रगति भी मिलती है और वे अधिक लोकप्रिय भी होते हैं। समस्त श्रावकाचारोंका तुलनात्मक अध्ययन करनेसे उक्त कथनकी पुष्टि होती है। प्रत्येककी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। यथा—

१. कुछ श्रावकाचारोंकी विशेषताएँ

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचारके प्रारम्भके चालीस पद्योंमें सम्यक्त्वके माहात्म्यका जैसा वर्णन है वैसा अन्य किसी श्रावकाचारमें नहीं है।

२. पुरुषार्थसिद्ध्युपायका तो प्रारम्भ ही अनेक वैशिष्ट्योंको लिये हुए हैं। वह समयसारके टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्रकी कृति होनेसे उसके प्रारम्भमें ही निश्चय और व्यवहारको क्रमशः भूतार्थ और अभूतार्थ कहा है। और कहा है कि अनजानको जानकारी करानेके लिए मुनीश्वर व्यवहारका उपदेश देते हैं। जो केवल व्यवहारको ही जानता है वह उपदेशका पात्र नहीं है।

अन्य किसी भी श्रावकाचारमें निश्चय और व्यवहारकी चर्चा नहीं है। इसी तरह अन्तमें जो रत्नत्रयके एकदेशको भी कर्मबन्धका कारण न मानकर मोक्षका ही उपाय कहा है, सैद्धान्तिक दृष्टिसे वह चर्चा भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अन्य श्रावकाचारोंमें उसके दर्शन नहीं होते। श्लोक २११से २२० तक यही चर्चा है। श्लोक २११का अर्थ प्रारम्भसे ही भ्रमपूर्ण रहा है। और गतानुगतिकावश इस संग्रहमें भी वही अर्थ किया गया है। वह श्लोक इस प्रकार है—

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः॥ २११॥

अर्थ—अपूर्ण रत्नत्रयधर्मको धारण करनेवाले पुरुषके जो कर्मबन्ध होता वह विपक्षी राग-कृत है, रत्नत्रयकृत नहीं है।'

ऊपरका अर्थ श्लोकके तीन चरणोंका है और ठीक है उसमें कोई विवाद नहीं है। किन्तु उसे जो चतुर्थ चरणसे सम्बद्ध करके अर्थ किया गया है वह यथार्थ नहीं है। लिखा है—

'अतः वह परम्परया मोक्षका उपाय है, कर्मबन्धनका उपाय नहीं है।' जरा इस 'अतः' पर ध्यान दें। वह कर्मबन्ध रागकृत है अतः मोक्षका उपाय है। और यदि वह बन्ध रत्नत्रयकृत होता तो क्या वह मोक्षका उपाय न होता? अपूर्ण रत्नत्रयको धारण करने पर होनेवाला कर्म-बन्ध यतः रागकृत है अतः मोक्षका उपाय है यह विचित्र तर्क है। असलमें चतुर्थ चरण स्वतन्त्र है। वह कर्मबन्ध रागकृत क्यों है? रत्नत्रयकृत क्यों नहीं है, इसके समर्थनमें युक्ति देता है—मोक्षका उपाय बन्धनका उपाय नहीं होता। अर्थात् अपूर्ण रत्नत्रय मोक्षका उपाय है, बन्धनका उपाय नहीं है। इसीसे अपूर्ण रत्नत्रयधर्मको धारण करनेवाले पुरुषके जो कर्मबन्ध होता है वह रत्नत्रयकृत नहीं है विपक्षी रागकृत है। इसीके समर्थनमें आगेका कथन किया गया है कि जितने अंशमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है उतने अंशमें बन्ध नहीं है और जितने अंशमें राग है उतने अंशमें बन्ध है। अन्तमें ग्रन्थकार कहते हैं—

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः॥२२०॥

अर्थ—इस लोकमें रत्नत्रय तो निर्वाणका ही कारण है। अन्यका नहीं। किन्तु रत्नत्रय धारक मुनियोंके जो पुण्यबन्ध होता है वह उसके शुभोपयोगका अपराध है।

जो आचार्य पुण्यबन्धको शुभोपयोगका अपराध कहते हैं वह उसे परम्परासे मोक्षका कारण कैसे कह सकते हैं? अपने तत्त्वार्थसारमें वह लिखते हैं—

हेतुकार्यविशेषाभ्यां विशेषः पुण्यपापयोः।
हेतू शुभाशुभौ भावौ कार्ये चैव सुखासुखे॥१०३॥
संसारकारणत्वस्य द्वयोरप्यविशेषतः।
न नाम निश्चयेनास्ति विशेषः पुण्यपापयोः॥१०४॥ —आस्रवाधिकार।

अर्थ—हेतु और कार्यकी विशेषतासे पुण्य और पापमें भेद है। पुण्यका हेतु शुभभाव है और पापका हेतु अशुभ भाव है। पुण्यका कार्य सुख है और पापका अर्थ दुःख है। किन्तु दोनों

ही संसारके कारण होनेसे दोनोंमें कोई भेद नहीं है। अतः निश्चयसे पुण्य और पापमें कोई भेद नहीं है।

अतः पुण्यबन्धको परम्परासे मोक्षका कारण अमृतचन्द्रजीने नहीं कहा। प्राकृत भावसंग्रहमें देवसेनाचार्य ने सम्यग्दृष्टिके निदानरहित पुण्यको परम्परासे मोक्षका कारण अवश्य कहा है—

सम्मादिट्ठीपुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउ जइवि निदाणं ण सो कुणई ॥४०४॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टीका पुण्य नियमसे संसारका कारण नहीं होता, मोक्षका कारण होता है यदि वह निदान नहीं करता।

इससे पूर्वमें उन्होंने जो कहा है वह प्रत्येक श्रावकके लिए ध्यान देने योग्य है। उन्होंने कहा है—

जब तक मनुष्य घरका त्याग नहीं करता तब तक पापोंका परिहार नहीं कर सकता। और जब तक पापोंका परिहार नहीं होता तब तक पुण्यके कारणोंको नहीं छोड़ना चाहिए। क्योंकि पुण्यके कारणोंको छोड़कर पापके कारणोंका परिहार न करनेवाला पापसे बन्धता रहता है और फिर मरकर दुर्गतिको जाता है। हाँ, वह पुरुष पुण्यके कारणोंको छोड़ सकता है जिसने अपना चित्त विषय-कषायोंमें प्रवृत्त होनेसे रोक लिया है और प्रमादको नष्ट कर दिया है। जो पुरुष गृह-व्यापारसे विरत है, जिसने जिन लिंग धारण कर लिया है और जो प्रमादसे रहित है उस पुरुषको सदा पुण्यके कारणोंसे दूर रहना चाहिए ॥३९३-३९६॥ इस तरह पुण्य न सर्वथा हेय है और न सर्वथा उपादेय है। किन्तु सम्यग्दृष्टी पुण्यबन्धका अनुरागी नहीं होता, वह उसे संसारका कारण होनेसे हेय ही मानता है।

इस सम्बन्धमें कार्तिकेयानुप्रेक्षाके अन्तर्गत धर्मानुप्रेक्षामें जो कथन किया है वह भी उल्लेखनीय है। उसमें कहा है—

'जो पुरुष पुण्यको चाहता है वह संसारको ही चाहता है; क्योंकि पुण्य सुगतिके बन्धका कारण है और मोक्ष पुण्यके क्षयसे मिलता है। जो कषायसहित होकर विषयसुखकी तृष्णासे पुण्यकी अभिलाषा करता है, उसके विशुद्धि दूर है और पुण्यबन्धका कारण विशुद्धि है। पुण्यकी चाहसे पुण्यबन्ध नहीं होता और जो पुण्यकी इच्छा नहीं रखता, उसके पुण्यबन्ध होता है। ऐसा जानकर हे यतीश्वरों! पुण्यमें भी आदर मत करो। मन्द कषायवाला जीव पुण्यबन्ध करता है। अतः पुण्यबन्धका कारण मन्दकषाय है, पुण्यकी चाह नहीं है ॥४०९-४१२॥

इस प्रकार विविध ग्रन्थोंमें एक ही विषयको लेकर जो विवेचन मिलता है वह सब ज्ञातव्य है और यही उन ग्रन्थोंकी विशेषता है।

३. यशस्तिलक चम्पूके अन्तमें जो श्रावकाचार है उसमें अपनेसे पूर्वके श्रावकाचारोंसे अनेक विशेषताएँ हैं। प्रारम्भमें ही सम्यक्त्वके वर्णनमें लोक-प्रचलित मूढ़ताओंका निषेध करते हुए गायकी पूजा, ग्रहणमें दान, आदिका खुलकर निषेध किया गया है। आठो अंगोंमें प्रसिद्ध पुरुषोंकी कथाएँ दी हैं। पाँच अणुव्रत और मद्यत्याग आदि करनेवालों की भी कथाएँ हैं। अन्य

उल्लेखनीय विशेषताओंमें से एक है सामायिक शिक्षाव्रतके अन्तर्गत देवपूजाका विस्तृत वर्णन। उसीमें सर्वप्रथम पूजनके दो प्रकार मिलते हैं—अतदाकार और तदाकार। अतदाकार पूजनके अन्तर्गत भक्तियाँ वर्णित हैं—दर्शन ज्ञान चारित्र भक्ति, अर्हत् सिद्ध आचार्य और चैत्य भक्ति आदि। किन्तु तदाकार पूजनके अन्तर्गत वह सब वर्णित है जिसपरसे आजकी पूजा पद्धति प्रचलित हुई है। इसमें ही सर्वप्रथम विविध फलोंके रसोंसे जिन प्रतिमाके अभिषेकका विधान है तथा ध्यानका वर्णन भी सर्वप्रथम इसी श्रावकाचारमें मिलता है। अन्य भी अनेक विशेषताएँ हैं।

४. अमितगतिका श्रावकाचार उक्त सब श्रावकाचारोंसे बृहत्काय है। उसमें पन्द्रह परिच्छेद हैं। उसकी रचना यशस्तिलकचम्पूके अन्तर्गत श्रावकाचारसे कुछ ही वर्षोंके पश्चात् हुई है। दोनों ही श्रावकाचार विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीमें रचे गये हैं। एक उसके पूर्वार्धकी रचना है तो दूसरी उत्तरार्ध की।

प्रारम्भके चार परिच्छेदोंमें अमितगतिने मिथ्यात्वकी बुराईके साथ सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कथन विस्तारसे किया है जो प्रायः करणानुयोगके ग्रन्थोंमें मिलता है। दूसरा परिच्छेद इसीसे पूर्ण हुआ है। उसे पढ़कर सम्यक्त्वकी उत्पत्ति और उसके भेदोंकी जानकारी भलीभाँति हो जाती है। तीसरे परिच्छेदमें सम्यक्त्वके विषयभूत जीवादि सात तत्त्वोंका विवेचन है। इसमें जीवके भेद, योनि, आदिके कथनपूर्वक चौदह मार्गणा और चौदह गुणस्थानोंके भी नामोंका उल्लेख है। अजीवादितत्त्वोंके वर्णनमें तत्त्वार्थसूत्रके अध्याय ५, ६, ७, ८, ९का सार दे दिया है। चतुर्थ-परिच्छेदमें चार्वाकका खण्डन करते हुए आत्मा तथा सर्वज्ञताकी सिद्धि तथा ईश्वरके जगत्कर्तृत्व-का खण्डन किया गया है। इस प्रकार इस श्रावकाचारके आरम्भके चार परिच्छेदोंमें करणा-नुयोग द्रव्यानुयोग और न्यायशास्त्रसे सम्बद्ध आवश्यक विषयोंकी चर्चा करनेके पश्चात् पाँचवें परि-च्छेदसे श्रावकाचारका कथन प्रारम्भ होता है। इसके सातवें परिच्छेदमें व्रतोंके अतीचारोंका वर्णन करनेके पश्चात् तीन शल्योंका वर्णन करते हुए निदान नामक शल्यके दो भेद किये हैं—प्रशस्त और अप्रशस्त। तथा प्रशस्त निदानके भी दो भेद कहे हैं—एक मुक्तिका निमित्त और एक संसारका निमित्त। जो कषायरहित पुरुषकर्मोंका विनाश, सांसारिक दुःखोंकी हानि, बोधि, समाधि आदिको चाहता है उसका निदान मुक्तिका कारण है, और जिनधर्मकी सिद्धिके लिए उत्तमजाति, उत्तमकुल, बन्धुबान्धवोंसे रहितता और दरिद्रताको भी चाहनेवाले पुरुषका निदान संसारका कारण है। यह सब विशेष कथन पूर्वके श्रावकाचारोंमें नहीं है।

अष्टम परिच्छेदमें छह आवश्यकोंका वर्णन है। ये छह आवश्यक वही हैं जो मुनियोंके अट्ठाईस मूल गुणोंमें गर्भित हैं। वे हैं—सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग। प्राचीनकालमें श्रावकके लिए भी यही षडावश्यक थे। इन्हींके स्थानमें उत्तरकालमें देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, संयम, तप, दान ये षडावश्यक निर्धारित किये गये। आजका श्रावक तो प्राचीन षडावश्यकोंके नामोंको भी भूल गया है। इन षडावश्यकोंके पश्चात् नवम अध्यायमें दान, शील उपवास और पूजाका कथन है जो वर्तमानमें प्रचलित हैं। दसवें आदि अध्यायोंमें पात्र और दानके प्रकारोंका विस्तारसे वर्णन है।

बारहवें अध्यायमें जिनपूजाका वर्णन है। उसके दो भेद हैं—द्रव्यपूजा और भावपूजा। वचन और शरीरको जिनभक्तिमें लगाना द्रव्यपूजा है और मनको लगाना भावपूजा है। अथवा

गन्ध, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, अक्षत आदिसे जिनपूजा करना द्रव्यपूजा है और मनको उसमें लगाना भावपूजा है। पूजाके ये प्रकार भी पूर्व श्रावकाचारोंमें नहीं हैं। इसी अध्यायमें आगे सप्त व्यसनके दोष और मौनके गुण वर्णित हैं। तेरहवेंमें विनय आदि तपोंका, चौदहवेंमें बारह भावनाओंका और पन्द्रहवेंमें ध्यानका विस्तृत वर्णन है।

इस तरह ये श्रावकाचार, विविध विषयोंके वर्णनकी दृष्टिसे, विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। मुनिजन भी इसके स्वाध्यायसे लाभान्वित हो सकते हैं।

५. इसके पश्चात् वसुनन्दी श्रावकाचार प्राकृत गाथाओंमें रचा गया है। यह श्रावकाचार भी कई दृष्टियोंसे विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसमें जो ग्यारहवीं प्रतिमाका वर्णन है वह अपना विशेष स्थान रखता है। इसमें उसके दो भेद किये हैं एक वस्त्रधारी और दूसरा कौपीनमात्रधारी। आगे इन दोनोंकी चर्या भी बतलायी है। अमितगतिकी तरह इसमें भी ग्यारह प्रतिमाके पश्चात् विनय, वैयावृत्य और व्रतोंका वर्णन है। तत्पश्चात् पूजाका वर्णन करते हुए लिखा है—हुण्डावसर्पिणीकालमें असद्भाव स्थापना या अतदाकार स्थापना रूप पूजा नहीं करना चाहिए। आगे संक्षेपमें प्रतिमा-प्रतिष्ठा विधान भी है।

इसमें द्रव्यपूजाके तीन भेद किये हैं—सचित्त अचित्त और मिश्र। प्रत्यक्ष उपस्थित जिन भगवान् और गुरु आदिकी पूजा सचित्त पूजा है। उनके शरीरकी और द्रव्यश्रुत (शास्त्र) की पूजा अचित्त पूजा है। और दोनोंकी पूजा मिश्र पूजा है।

आगे पूजाका फल वर्णन करते हुए कहा है—जो मनुष्य धनियेके पत्तेके बराबर जिनभवन बनाकर उसमें सरसोंके बराबर भी जिन प्रतिमा स्थापित करता है वह तीर्थङ्कर पद पानेके योग्य पुण्यबन्ध करता है।

आचार्य अमितगतिने अपने सुभाषितरत्नसन्दोहमें भी ऐसा ही कहा है, उसीका अनुसरण वसुनन्दीने किया है।

६. उक्त श्रावकाचारोंके पश्चात् विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीमें पं० आशाधरने अपने धर्मामृतके दूसरे भागके रूपमें सागारधर्मामृतकी रचना की और उसपर भव्य कुमुदचन्द्रिका टीका और ज्ञानदीपिका पंजिका रची। आशाधर एक बहुश्रुत विद्वान थे। उन्होंने अपने समयमें उपलब्ध समग्र साहित्यका अवलोकन किया था। उनकी टीकाओंमें जो पूर्वग्रन्थोंके उद्धरण पाये जाते हैं उनसे इसका समर्थन होता है। उनका सागारधर्मामृत पूर्व श्रावकाचारोंका निःस्यन्द जैसा है। वह बहुत व्यवस्थित है। उसीमें प्रथम बार स्पष्ट रूपसे श्रावकके पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक भेद मिलते हैं जो महापुराणमें वर्णित पक्ष, चर्या और साधन पर प्रतिष्ठित हैं। दूसरे अध्यायमें पाक्षिकका, आठवेंमें साधकका और मध्यके शेष अध्यायोंमें नैष्ठिकका वर्णन है। विशेषताकी दृष्टिसे प्रथम दो अध्याय तथा छठा अध्याय उल्लेखनीय है। प्रथम अध्यायमें श्रावकधर्मका पालन करनेके लिये कौन अधिकारी है, यह विशेष कथन है तथा छठें अध्यायमें श्रावककी दिनचर्याका वर्णन है। किसी भी अन्य श्रावकाचारमें यह कथन नहीं है, हाँ, श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रके योगशास्त्रमें यह सब कथन है। सागारधर्मामृतकी कई अन्य चर्चाओंपर भी योगशास्त्रका प्रभाव है। दूसरे अध्यायमें पाक्षिक श्रावकका कथन विस्तारसे है। जिसे जैनधर्मका पक्ष है वह पाक्षिक है। आजका जैन समाज प्रायः पाक्षिक की ही श्रेणीमें आता है। पाक्षिकको जिनदेवके वचनोंपर श्रद्धा रखते हुए मद्य मांस मधु और पाँच उदुम्बर फलोंके सेवनका त्याग करना चाहिए। रात्रिमें केवल मुखको

सुवासित करनेवाले पान, इलायची, जल औषधिके सिवाय अन्य सब नहीं खाना चाहिए। पानी छानकर उपयोगमें लाना चाहिए। जिनपूजन करना चाहिए। श्रद्धा और शक्तिके अनुरूप जिनालय, स्वाध्यायशाला, औषधालय, भूखोंके लिए भोजनालय आदि बनवाना चाहिए। जो नामसे या स्थापनासे भी जैन हैं वह पात्र है उसकी सहायता करनी चाहिए तथा अपनी कन्याका विवाह सावर्मीके साथ ही करना चाहिए। मुनियोंको गुणवान बनानेका प्रयत्न करना चाहिए। यह सब उपदेश आजके श्रावकोंके लिए बहुत ही उपयोगी है। श्रावकके व्रतसम्बन्धी आचारका वर्णन तो सभी श्रावकाचारोंमें है किन्तु उन्हें अपना जीवनयापन कैसे करना चाहिए, गार्हस्थिक विवाहादि कार्य किस प्रकार करना चाहिए, कन्यादान किसे करना चाहिए, सार्धमियोंके प्रति क्या करना चाहिए, यह सब कथन इससे पूर्वके श्रावकाचारोंमें नहीं है। हिन्दू धर्मशास्त्रके विविध विषयोंमें वर्णोंके कर्तव्य, उनकी अयोग्यता, संस्कार, उपनयन, आश्रम, विवाह, भोजन, दान, वानप्रस्थ, संन्यास और तीर्थयात्रादि भी हैं तथा उत्तराधिकार आदि भी हैं। ये सब क्रियाएँ गृहस्थोंके दैनंदिन कर्तव्योंसे सम्बद्ध हैं। पं० आशाधरजीने अपने सागारधर्मामृतमें प्रायः इन सभीको लिया है। धर्ममें वर्णोंका अधिकार बतलाते हुए वह कहते हैं—

जिसका उपनय संस्कार हुआ है वह द्विज—ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य सम्यक्त्वसे विशुद्धबुद्धि होनेपर जीवनपर्यन्तके लिए मद्यपान आदि महापापोंका त्याग करनेपर वीतराग सर्वज्ञ देवके द्वारा उपदिष्ट उपासकाध्ययन आदिके श्रवण करनेका अधिकारी होता है (२।१९)। तथा शूद्र भी आसन आदि उपकरण, मद्य आदिका त्याग और शरीरकी शुद्धिसे विशिष्ट होनेपर जिनधर्मके श्रवणका अधिकारी होता है क्योंकि वर्णसे हीन होनेपर भी आत्मा काललब्धि आनेपर अर्थात् धर्माराधनकी योग्यता होनेपर श्रावकधर्मका आराधक होता है (२।२२)।

पं० आशाधरजी ने अपने अनगारधर्मामृत (४।१६७) में एषणा समितिका स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि विधिपूर्वक अन्यके द्वारा दिये गये भोजनको साधु ग्रहण करता है। अपनी टीकामें उन्होंने 'अन्यैः' का अर्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और सत् शूद्र किया है। इसका मतलब यह हुआ कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी तरह सत् शूद्र भी आहारदान दे सकता है।

आशाधरजी से पूर्ववर्ती आचार्य सोमदेवने भी अपने उपासकाध्ययनमें कहा है—

दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चत्वारश्च विधोचिताः।
मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वेऽपि जन्तवः ॥७९१॥

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन वर्ण दीक्षाके योग्य हैं किन्तु आहारदानके योग्य चारो हैं; क्योंकि सभी प्राणियोंको मानसिक, वाचनिक और कायिक धर्म पालनेकी अनुमति है।

इन्हीं सोमदेव आचार्यने अपने नीतिवाक्यामृतमें एक बार विवाह करनेवालेको सत् शूद्र कहा है। वही आहारदानका अधिकारी है। आगे उन्होंने लिखा है—

'आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्करः शारीरी च विशुद्धिः करोति शूद्रमपि देवद्विजतपस्वीकर्मसु योग्यम् ॥१२॥'

अर्थात् आचारकी निर्दोषता, घर और उपकरणोंकी पवित्रता तथा शारीरिक विशुद्धि शूद्रको भी देव, द्विज और तपस्वी जनोंके परिकर्मके योग्य बनाती है।

आचार्य सोमदेवका ही अनुसरण आशाधरने किया है। आजकल एक नया विवाद पैदा कर दिया गया है कि मद्य मांस मधु आदि अष्टमूल गुणके धारण करनेपर ही प्राणीकी बुद्धि शुद्ध होती है अर्थात् मद्यादिका सेवन मिथ्यात्वके सेवनसे भी बड़ा पाप है। किन्तु यह सब आगम विरुद्ध है। आगममें मिथ्यात्वको ही महापाप कहा है। मिथ्यात्वके उदयमें अष्ट मूलगुण धारण करनेपर भी संसारका अन्त नहीं होता और मिथ्यात्वका उदय जाते ही संसारका अन्त निकट हो जाता है। अतः शुद्धबुद्धि होकर ही अष्ट मूलगुण धारण करना यथार्थ है। इससे यह मतलब नहीं निकालना चाहिए कि मद्यादिका सेवन उचित है या उनका त्याग अनुचित है। उनका सेवन तो हर हालतमें त्याज्य ही है किन्तु मिथ्यात्वके उदयमें उनके त्यागने मात्रसे बुद्धि विशुद्ध नहीं होती। वह होती है सम्यक्त्व धारण करनेसे। पं० आशाधरजीने उक्त श्लोककी टीकामें 'शुद्धधीः' का अर्थ 'सम्यक्त्व विशुद्ध बुद्धि' ही किया है।

अतः 'महापापोंको छोड़कर विशुद्ध बुद्धि हो गई है जिसकी' ऐसा अर्थ गलत है। किन्तु सम्यक्त्व विशुद्ध बुद्धि महापापोंको जीवनपर्यन्त छोड़कर जिनधर्मके श्रवणका अधिकारी होता है' ऐसा अर्थ ही आगमानुकूल है।

पुरुषार्थ सिद्ध्युपायमें इसी प्रकारका कथन है—

'अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥

इसका भी अर्थ 'अष्ट मूलगुण धारण कर शुद्ध हुई है बुद्धि जिनकी' गलत है। यहाँ भी कर्ता 'शुद्धधियः' है। सम्यक्त्व विशुद्ध बुद्धि इन आठ अनिष्टोंको त्यागकर जिनधर्मकी देशनाके पात्र होते हैं—यही अर्थ यथार्थ है।

सभी जैनाचार्यों और ग्रन्थकारोंकी यह विशेषता रही है कि उन्होंने परम्परागत सिद्धान्त का ही संरक्षण किया है और कहीं भी अपने अभिनिवेशसे उसे बाधा नहीं पहुंचाई है। आशाधर जी इस विषयमें अत्यन्त प्रामाणिक रहे हैं। सर्वत्र उन्होंने पूर्वाचार्योंके कथनकी ही यथायोग्य पुष्टि की है। उदाहरणके लिए शासनदेवताओंको ही लीजिये। उन्हें उन्होंने कुदेव ही कहा है। तथा नैष्ठिक श्रावकको विपत्तिग्रस्त होनेपर भी उनकी सेवा न करनेका ही विधान किया है। यथा—सागारधर्मामृत (३।७-८)की टीकामें 'परमेष्ठी पदैकधीः' की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—

'विपत्तियोंसे पीड़ित होनेपर भी नैष्ठिक श्रावक शासनदेवताओंको नहीं भजता। पाक्षिक भजता भी है, यह बतलानेके लिए ही 'एक' पद दिया है'। किसी भी अन्य श्रावकाचारमें इस प्रकारका निषेधपरक कथन नहीं है। विधिपरक भी नहीं है। सोमदेवाचार्यके उपासकाध्ययनमें अवश्य यह कथन आता है कि जो श्रावक जिनेन्द्रदेवको और व्यन्तरादिदेवोंको पूजाविधानमें समान मानता है वह नरकगामी होता है। परमागममें जिनशासनकी रक्षाके लिए उन शासन देवताओंकी कल्पना की गई है। अतः पूजाका एक अंश देकर सम्यग्दृष्टियोंको उनका सम्मान करना चाहिए॥' किन्तु आशाधरजीने इस प्रकारका विधान न करके उसका स्पष्ट रूपसे निषेध किया है।

पं० आशाधरजीके सागारधर्मामृतकी अनेक विशेषताएँ हैं। वे निश्चय और व्यवहार दोनोंके ही पंडित थे और उन्होंने दोनोंका ही समन्वय करनेका प्रयत्न किया है। उनके पश्चात्

भी अनेक श्रावकाचार रचे गये जिनमेंसे कुछ उनसे प्रभावित हैं किन्तु उनके जैसी सन्तुलित आगमिक दृष्टि उनमें नहीं है। मेधावी पण्डितका धर्मसंग्रह श्रावकाचार तो सागारधर्मामृतकी ही अनुकृति है। इन सब उत्तरकालीन श्रावकाचारोंके तुलनात्मक अध्ययनसे उत्तरकालीन श्रावक धर्मका यथार्थ रूप सामने आता है और उसमें हुए परिवर्तन स्पष्ट होते हैं।

पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्री एक परिश्रमशील साहित्यानुरागी आगमज्ञ विद्वान हैं। उन्होंने जैन-साहित्यकी असीम सेवा की है और इस वृद्धावस्थामें भी युवकोंकी तरह कार्य संलग्न हैं। यह उनका ही पुरुषार्थ है जो उपलब्ध समस्त श्रावकाचारोंका संग्रह हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशमें आ सका है। उनकी इस साहित्यसेवाका मूल्यांकन भावी पीढ़ी अवश्य ही विशेष रूपसे कर सकेगी। हम तो केवल उनका अभिनन्दन ही करते हैं। स्व० ब्र० जीवराजजीके सुदानका यह सदुपयोग अवश्य ही हर्षवर्धक है और उसके लिए जीवराज ग्रन्थमालाका संचालक मण्डल बधाईका पात्र है।

वाराणसी
रक्षाबन्धन २०३४

कैलाशचन्द्र शास्त्री
ग्रन्थमाला सम्पादक

सम्पादकीय वक्तव्य

श्रावकाचार-संग्रहके द्वितीय भागके प्रकाशित होनेके एक वर्ष बाद उसका यह तीसरा भाग प्रकाशित हो रहा है। प्रथम भागमें ९ श्रावकाचार और दूसरेमें ५ श्रावकाचार प्रकाशित हुए हैं। इस तीसरे भागमें सब मिलाकर १९ श्रावकाचारोंका संकलन है, जिनमेंसे ८ श्रावकाचार पूर्ण रूपमें स्वतंत्र हैं और शेष ११ विभिन्न ग्रन्थोंमेंसे श्रावक धर्मका वर्णन करनेवाले अंशोंको परिशिष्टमें दिया गया है। इनमेंसे लाटीसंहिताका प्रारंभिक कथामुखवाला भाग अनुपयोगी होनेसे छोड़ दिया गया है।

दूसरे भागके सम्पादकीयमें कहा गया था कि तीसरे भागके साथ विस्तृत प्रस्तावना दी जायगी, जिसमें संकलित श्रावकाचारोंकी समीक्षाके साथ श्रावकाचारका क्रमिक विकास और उनके कर्ताओंका परिचय भी दिया जायगा। किन्तु यह तीसरा भाग प्रारंभ के दोनों भागोंसे भी अधिक पृष्ठोंका हो गया है। यदि इसके साथ प्रस्तावना और श्लोकानुक्रमणिका दी जाती तो इसका कलेवर इससे दुगुना हो जाता। दूसरे यह भी निर्णय किया गया कि जब संस्कृत-प्राकृतमें उपलब्ध सभी श्रावकाचारोंका संकलन प्रस्तुत संग्रहमें किया गया है तो हिन्दीमें छन्दोबद्ध क्रिया-कोषोंका संकलन भी क्यों न कर लिया जावे, जिससे कि उन अनेक ज्ञातव्य कर्त्तव्योंका बोध भी पाठकोंको हो जायगा, जिनका कि पालन श्रावकोंके लिए अत्यावश्यक है। अतः प्रस्तावना पढ़नेके लिए उत्सुक पाठकों और समीक्षकोंको चौथे भागकी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

श्रावकाचारकी जो प्रस्तावना लिखी जा रही है, उसकी कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१. सभी श्रावकाचारोंके रचयिताओंका कालक्रमसे परिचय।

२. प्रत्येक श्रावकाचारकी विशेषताका दिग्दर्शन।

३. मूल गुणों एवं उत्तर गुणोंके वर्णनगत मत-भेद, उसका कारण और क्रमिक विकास।

४. पूजन विधिका क्रमिक विकास, ध्यान, जप, मंडल, व्रतादिपर विशद प्रकाश।

५. अतीचारोंका रहस्य।

६. प्रतिमाओंका उद्देश्य और श्वेताम्बर शास्त्रोंके साथ तुलना।

७. निदानके भेद-प्रभेद और श्वे० शास्त्र-गत विशिष्टता।

८. भक्ष्य पदार्थोंकी काल-मर्यादा।

९ वर्तमानमें जैन या पाक्षिक श्रावकके न्यूनतम कर्त्तव्य आदि।

इसी प्रकार परिशिष्टमें श्लोकानुक्रमणिकाके सिवाय अनेक उपयोगी विभाग रहेंगे।

इस भागके साथ तीनों भागोंका शुद्धि-पत्रक भी दिया जा रहा है। प्रूफ-संशोधककी असावधानीसे २-३ भद्दी भूलें भी रह गई हैं, जिनका उल्लेख शुद्धि-पत्रकके प्रारम्भमें कर दिया गया है। पाठकगण उन्हें यथास्थान सुधारकर पढ़नेकी कृपा करें।

प्रस्तुत भागके सम्पादनमें ग्रन्थ-मालाके प्रधान सम्पादक श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसीका भर-पूर परामर्श-सहयोग रहा है। श्री पं० महादेवजी व्याकरणाचार्य-ने पूर्ववत् ही प्रूफ-संशोधन किया है और वर्धमान मुद्रणालयमें इसका मुद्रण हुआ है, इसलिए मैं सबका आभारी हूँ।

अन्तमें संस्थाके मानद मंत्री श्रीमान् सेठ बालचन्द्र देवचन्द्र शहाका किन शब्दोंमें आभार व्यक्त करूँ जो कि इस जीवराज ग्रन्थमालाके सिवाय अन्य अनेक संस्थाओंका संचालन ८४ वर्ष की अवस्थामें भी नौजवानोंके समान स्फूर्तिके साथ कर रहे हैं। उनके प्रोत्साहन-भरे पत्रोंसे मुझे सदा ही प्रेरणा मिलती रहती है।

ऐ० पन्नालाल दि. जैन
सरस्वती भवन, ब्यावर
२५।७।७७

—हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री

श्रावकाचार-संग्रह तृतीय भागकी

विषय-सूची



।ोसंहि ।

प्रथम सर्ग

अहिंसा परमो धर्मः स्यादधर्मस्तदत्ययात् । सिद्धान्तः सर्वतन्त्रोऽयं तद्विशेषोऽधुनोच्यते ॥१
सर्वसावद्ययोगस्य निवृत्तिर्व्रतमुच्यते । यो मृषादिपरित्यागः सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः ॥२
तद्व्रतं सर्वतः कर्तुं मुनिरेव क्षमो महान् । तस्यैव मोक्षमार्गश्च भावी नान्यस्य जातुचित् ॥३
अतः सर्वात्मना सम्यक् कर्तव्यं तद्धि धीधनैः । कृच्छ्रलब्धे नरत्वेऽस्मिन् सूकविन्दूदकोपमे ॥४
तत्रालसो जनः कश्चित्कषायभरगौरवात् । असमर्थस्तथाप्येष गृहस्थव्रतमाचरेत् ॥५

उक्तं च—

गुण वय तव सम पडिमा दाणं च अणत्थियमियं । दंसणणाणचरित्तं किरिया तेवण्ण सावयाणं च ॥१

तथा चोक्तम्—

दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य । बम्भारम्भ परिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदो य २

इस संसारमें अहिंसा ही परम धर्म है और उस अहिंसा धर्मका उल्लंघन करना या विनाश करना ही अधर्म है। यह सिद्धान्त सर्वतन्त्र है—अर्थात् सर्वसिद्धान्त-सम्मत है। अब आगे इसी अहिंसा धर्मका विशेष वर्णन करते हैं ॥१॥ पाप सहित समस्त योगोंका त्याग करना व्रत कहलाता है तथा झूठ बोलनेका त्याग करना, चोरीका त्याग करना, आदि अलग-अलग पापोंका त्याग करना बतलाया है वह सब उसी व्रतका विस्तार समझना चाहिए ॥२॥ उन व्रतका पूर्ण रीतिसे पालन करनेके लिए मुनिराज ही समर्थ होते हैं और इसीलिए उन मुनिराजोंको ही मोक्षमार्गकी प्राप्ति होती है ॥३॥ जिस प्रकार कमल पत्रपर जलकी बूँदका ठहरना अत्यन्त कठिन है उसी प्रकार इस मनुष्य जन्मका प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। इसलिए ऐसे दुर्लभ मनुष्य जन्मको पाकर पापरूप योगोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिए ॥४॥ कदाचित् तीव्र कषायोंके उदयसे कोई मनुष्य उन व्रतोंको पूर्णरूपसे पालन करनेमें आलस्य करे अथवा असमर्थ हो तो उसे एकदेशरूप गृहस्थोंका व्रत अवश्य पालन करना चाहिए ॥५॥

कहा भी है—आठ मूलगुण, बारह व्रत, बारह प्रकारका तप, एक समता, ग्यारह प्रतिमा, चार प्रकारका दान, एक पानी छानकर काममें लाना, एक रात्रिभोजनका त्याग करना और रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों रत्नोंको धारण करना ये तिरेपन श्रावकोंकी क्रिया कहलाती हैं ॥१॥ग्रन्थकारोंने श्रावकोंके व्रत इस प्रकार भी कहे हैं—दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध (प्रोषधोपवास), सचित्त त्याग, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतत्याग, और उद्दिष्टत्याग इन ग्यारह प्रतिमाओंको पालन करनेवाला देशविरत श्रावक कहलाता है ॥२॥

अष्टमूलगुणोपेतो द्यूतादिव्यसनोज्झितः । नरो दर्शनिकः प्रोक्तः स्याच्चेत्सद्दर्शनान्वितः ॥६
मद्यं मांसं तथा क्षौद्रमथोदुम्बरपञ्चकम् । वर्जयेच्छ्रावको धीमान् केवलं कुलधर्मवित् ॥७
ननु साक्षान्मकारादित्रयं जैनो न भक्षयेत् । तस्य किं वर्जनं न स्यादसिद्धं सिद्धसाधनात् ॥८
मैवं यस्मादतीचाराः सन्ति तत्रापि केचन । अनाचारसमाः नूनं त्याज्या धर्मार्थिभिः स्फुटम् ॥९
तद्भेदा बहवः सन्ति मादृशां वागगोचराः । तथापि व्यवहारार्थं निर्दिष्टाः केचिदन्वयात् ॥१०
चर्म्मभाण्डे तु निक्षिप्ताः घृततैलजलादयः । त्याज्याः यतस्त्रसादीनां शरीरपिशिताश्रिताः ॥११
न चाशङ्क्यं पुनस्तत्र सन्ति यद्वा न सन्ति ते । संशयोऽनुपलब्धित्वाद् दुर्वारो व्योमचित्रवत् ॥१२
सर्वं सर्वज्ञज्ञानेन दृष्टं विश्वैकचक्षुषा । तदाज्ञया प्रमाणेन माननीयं मनीषिभिः ॥१३
नोह्यमेतावता पापं स्याद्वा न स्यादतीन्द्रियात् । अंहो मांसाशिनोऽवश्यं प्रोक्तं जैनागमे यतः ॥१४
तदेवं वक्ष्यमाणेषु सूत्रेषूदितसूत्रवत् । संशयो नैव कर्तव्यः शासनं जैनमिच्छता ॥१५

जो जीव सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला हो और फिर वह यदि आठों मूलगुणोंको धारण कर ले तथा जुआ, चोरी आदि सातों व्यसनोंका त्याग कर दे तो वह दर्शन प्रतिमाको धारण करनेवाला कहलाता है ॥६॥ केवल अपने कुलधर्मको जाननेवाले बुद्धिमान् श्रावकको मद्य, मांस, शहद और पाँचों उदुम्बरोंका त्याग कर देना चाहिए ॥७॥ कदाचित् यहाँपर कोई यह शंका करे कि कोई भी जैनी मद्य मांस शहदको साक्षात् भक्षण नहीं करता, इसलिए क्या जैनी मात्रके उनका त्याग नहीं हुआ ? अवश्य हुआ । इसलिए सिद्ध साधन होनेसे आपके त्याग करानेका उपदेश असिद्ध है । परन्तु यह बात नहीं है क्योंकि यद्यपि जैनी इनका साक्षात् भक्षण नहीं करते हैं, तथापि उनके कितने ही अतिचार हैं और वे अतिचार अनाचारोंके समान हैं इसलिए धर्मात्मा जीवोंको उन अतिचारोंका त्याग भी अवश्य कर देना चाहिए ॥८-९॥ उन अतिचारोंके बहुत-से भेद हैं जो मेरे समान पुरुषसे कहे भी नहीं जा सकते तथापि केवल व्यवहारके लिए गुरुओंकी आम्नायपूर्वक चले आये कुछ भेद कहे जाते हैं ॥१०॥ चमड़ेके बर्तनमें रक्खे हुए घी तेल पानी आदिका त्याग कर देना चाहिए क्योंकि चमड़ेके बर्तनमें रखे घी तेल आदिमें त्रस जीवोंके शरीरके मांसके आश्रित रहनेवाले जीव अवश्य रहते हैं ॥११॥ चमड़ेके बर्तनमें रक्खे हुए तेल घी जल आदिमें जिस पशुका वह चमड़ा है उस पशुके मांसके आश्रित रहनेवाले जीव हैं या नहीं ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए । यहाँपर कदाचित् यहाँ कोई यह कहे कि जिस प्रकार पूर्ण आकाशका चित्र दिखाई नहीं पड़ता इसलिए वह कोई पदार्थ नहीं है इसी प्रकार चमड़ेके बर्तनमें रक्खे हुए तेल घी आदिमें जिस पशुका वह चमड़ा है उस पशुके मांसके आश्रित रहनेवाले जीव दिखाई नहीं पड़ते इसलिए उसमें जीव हैं या नहीं इस शंकाका दूर होना अत्यन्त कठिन है ॥१२॥ परन्तु इसका उत्तर यह है कि भगवान् अरहन्तदेवने अपने सर्वज्ञ ज्ञानसे समस्त सूक्ष्म पदार्थ भी प्रत्यक्ष देख और जान लिए हैं और गुरु परम्परापूर्वक उनके उपदेशके अनुसार आचार्योंने वैसा ही शास्त्रोंमें निरूपण किया है इसलिए बुद्धिमानोंको भगवान् सर्वज्ञदेवकी आज्ञा मानकर प्रमाणरूपसे सब मान लेना चाहिए ॥१३॥ जो जीव इन्द्रियगोचर नहीं होते ऐसे सूक्ष्म अतीन्द्रिय जीवोंके भक्षण करनेसे पाप होता है या नहीं ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए । क्योंकि मांसभक्षण करनेवालोंको पाप अवश्य होता है ऐसा जैन शास्त्रोंमें स्पष्टरूपसे बतलाया है ॥१४॥ इसलिए सर्वज्ञ वीतराग भगवान् अरहन्तदेवके कहे हुए जैन शासनको धारण करनेकी इच्छा करनेवालोंको जो सूत्र पहले कहा

अन्नं मुद्गादि शुण्ठ्यादि भेषजं शर्करादि वा । खाद्यं स्वाद्यं तु भोगार्थं ताम्बूलादि यथागमात् ॥१६
पेयं दुग्धादि लेपस्तु तैलाभ्यङ्गादि कर्म यत् । चतुर्विधमिदं यावदाहार इति संज्ञितः ॥१७
अथाहारकृते द्रव्यं शुद्धशोधितमाहरेत् । अन्यथामिषदोषः स्यात्तदनेकत्र साश्रितात् ॥१८
विद्धं त्रसाश्रितं यावद्वर्जयेत्तदभक्ष्यवत् । शतशः शोधितं चापि सावधानैर्दृगादिभिः ॥१९
सन्दिग्धं च यदन्नादि श्रितं वा नाश्रितं त्रसैः । मनःशुद्धिप्रसिद्ध्यर्थं श्रावकः क्वापि नाहरेत् ॥२०
अविद्धमपि निर्दोषं योग्यं चानाश्रितं त्रसैः । आचरेच्छ्रावकः सम्यग्दृष्टं नादृष्टमीक्षणैः ॥२१
ननु शुद्धं यदन्नादि कृतं शोधनयानया । मैवं प्रमाददोषत्वात्कल्मषस्यास्रवो भवेत् ॥२२
गालितं दृढवस्त्रेण सर्पिस्तैलं पयो द्रवम् । तोयं जिनागमाम्नायादाहरेन्स न चान्यथा ॥२३
अन्यथा दोष एव स्यान्मांसातीचार कः । अस्ति तत्र त्रसादीनां मृतस्याङ्गस्य शेषता ॥२४

गया है और जो सूत्र आगे कहे जायेंगे उनमें कभी संशय नहीं करना चाहिए ॥१५॥ मूंग, मोठ, चना, गेहूँ, जौ, आदि अन्न कहलाता है। सोंठ, मिरच, पीपल आदि औषधियाँ कहलाती हैं। मिश्री, बूरा, लड्डू, पेड़ा, वरफी आदि खाद्य पदार्थ कहलाते हैं। भोगोंके लिए आगमानुकूल ताम्बूल आदि पदार्थ स्वाद्य कहलाते हैं। दूध, पानी आदि पदार्थ पेय कहे जाते हैं और तेल मर्दन करना, उवटन लगाना आदि लेप कहे जाते हैं। ये सव पदार्थ चार प्रकारके आहारके नामसे प्रसिद्ध हैं ॥१६-१७॥ इनको आहाररूपमें ग्रहण करनेके लिये शुद्ध पदार्थोंको ग्रहण करना चाहिए, अशुद्ध पदार्थ कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए। तथा जो शुद्ध पदार्थ भी ग्रहण किये जायँ वे भी शोधकर ग्रहण करने चाहिए। यदि वे पदार्थ विना शोधे हुए ग्रहण किये जायेंगे तो उनके भक्षण करनेमें मांस खानेका दोप लगेगा क्योंकि इन खाने-पीनेके पदार्थोंमें प्रायः त्रस जीवोंके रहनेकी या आ जानेकी सम्भावना रहती है। यदि विना शोधे हुए पदार्थ खाये जायेंगे तो उनमें आये हुए वा उनमें रहनेवाले वा उत्पन्न होनेवाले जीवोंके मारे जानेका पाप लगेगा और विना शोधे पदार्थोंके साथ वे जीव भी भक्षणमें आ जायेंगे इसलिए उनके मांस खानेका भी महापाप लगेगा। इसलिए खानेके समस्त पदार्थोंको देख-शोधकर ही ग्रहण करना चाहिए। खानेके पदार्थोंको विना शोधे ग्रहण करना मांस त्यागका दूसरा अतिचार है ॥१८॥ घुने हुए व वींधे हुए अन्नमें भी अनेक त्रस जीव होते हैं। यदि सावधान होकर नेत्रोंके द्वारा सैकड़ों वार देखा व शोधा जाय तो भी घुने हुए अन्नमेंसे सव त्रस जीवोंका निकल जाना असम्भव है इसलिए सावधानीके साथ सैकड़ों वार शोधा या देखा हुआ भी घुना या वींधा अन्न अभक्ष्यके समान त्याग कर देना चाहिए ॥१९॥ जिन अन्न आदि पदार्थोंमें त्रस जीवोंके रहनेका सन्देह हो और 'इसमें त्रस जीव हैं या नहीं हैं' इस वातका सन्देह वना ही रहे तो भी श्रावकको मन शुद्ध रखनेके लिए ऐसे पदार्थोंका त्याग कर देना चाहिए ॥२०॥ जो अन्न आदि पदार्थ घुने हुए नहीं हैं, जिनमें कोई किसी प्रकारका दोप नहीं है और जो त्रस जीवोंसे सर्वथा रहित हैं ऐसे पदार्थ नेत्रोंसे अच्छी तरह देख-शोधकर खाने आदिके काममें लेने चाहिए, विना अच्छी तरह देखे-शोधे योग्य निर्दोष पदार्थ भी काममें नहीं लेने चाहिये ॥२१॥ शंका—जो अन्नादिक पदार्थ ऊपर लिखी विधिसे अच्छी तरह शोधकर शुद्ध कर लिये गये हैं उनके ग्रहण करनेमें प्रमादरूप दोषोंसे उत्पन्न हुए पापोंका आस्रव कभी नहीं हो सकेगा ॥२२॥ घी, तेल, दूध, पानी आदि पतले पदार्थोंको जैनशास्त्रोंमें कही हुई विधिसे मजवूत गाढ़े वस्त्रमें छानकर ही खानेके काममें लाना चाहिए, पतले पदार्थोंको विना छाने कभी काममें नहीं लाना चाहिए ॥२३॥ इसका भी कारण यह है कि विना छने घी तेल आदि पदार्थोंमें त्रस जीवोंके मरे

दुरवधानतया मोहात्प्रमादाद्वापि शोधितम् । दुःशोधितं तदेव स्याद् ज्ञेयं चाशोधितं यथा ॥२५
तस्मात्सद्व्रतरक्षार्थं पलदोषनिवृत्तये । आप्तमद्दृग्भिः स्वहस्तैश्च सम्यगन्नादि शोधयेत् ॥२६
यथात्मार्थं सुवर्णादिक्रयार्थी सम्यगीक्षयेत् । व्रतवानपि गृह्णीयादाहारं सुनिरीक्षितम् ॥२७
सधर्मेणानभिज्ञेन साभिज्ञेन विधर्मिणा । शोधितं पाचितं चापि नाहरेद् व्रतरक्षकः ॥२८
ननु केनापि स्वीयेन सधर्मेण विधर्मिणा । शोधितं पाचितं भोज्यं सुज्ञेन स्पष्टचक्षुषा ॥२९
मैवं यथोदितस्योच्चैर्विश्वासो व्रतहानये । अनार्यस्याप्यनार्द्रस्य संयमे नाधिकारिता ॥३०
चलितत्वात्सीम्नश्चैव नूनं भाविव्रतक्षतेः । शैथिल्याद्धीयमानस्य संयमस्य कुतः स्थितिः ॥३१
शोधितस्य चिरात्तस्य न कुर्याद् ग्रहणं कृती । कालस्यातिक्रमाद्भूयो दृष्टिपूतं समाचरेत् ॥३२

हुए शरीरके अवयव अवश्य रहते हैं। इसलिए विना छने घी तेल आदि पदार्थ ग्रहण करनेमें मांस त्यागका अतिचार अवश्य लगता है। अतएव घी तेल आदि पदार्थोंको भी अच्छे मजबूत दोहरे वड़े छन्नेमें छानकर ही काममें लाना चाहिए ॥२४॥ जो अन्नादिक पदार्थ मनकी असावधानीसे शोधे गये हैं, या होश हवाश रहित अवस्थामें शोधे गये हैं अथवा प्रमादपूर्वक शोधे गये हैं ऐसे शोधे हुए पदार्थ भी दुःशोधित (अच्छी तरह नहीं शोधे हुए) कहलाते हैं और ऐसे दुःशोधित पदार्थ विना शोधे हुएके समान हो गिने जाते हैं ॥२५॥ इसलिए श्रेष्ठ व्रतोंकी रक्षा करनेके लिए और मांस भक्षणके दोषोंका त्याग करनेके लिए श्रावकोंको अन्न आदि पदार्थ अपने ही नेत्रोंसे और अपने ही हाथोंसे शोध लेना चाहिए फिर काममें लाना चाहिए ॥२६॥ जिस प्रकार अपने लिए सोना खरीदनेवाला पुरुष उस सोनेको वहुत अच्छी तरह देखकर खरीदता है उसी प्रकार व्रती श्रावकको भी वहुत अच्छी तरह देख-शोधकर आहार ग्रहण करना चाहिए ॥२७॥

जो आहार शोधने या शुद्धता पूर्वक भोजन तैयार करनेकी विधिको न जाननेवाले साधर्मी द्वारा शोधा हुआ है या ऐसे ही अजानकार साधर्मीके द्वारा पकाकर तैयार किया हुआ है अथवा जो शोधने या शुद्धतापूर्वक विधिको जाननेवाले विधर्मी द्वारा शोधा हुआ है या ऐसे ही जानकार विधर्मीके द्वारा पकाकर तैयार किया हुआ है ऐसा भोजन भी अपने व्रतोंकी रक्षा करनेवाले श्रावकोंको कभी नहीं ग्रहण करना चाहिये ॥२८॥ कदाचित् यहाँपर कोई यह शंका करे कि जो मनुष्य शोधने या शुद्धता पूर्वक भोजन तैयार करनेकी विधिको जानता है और शोधने आदि कामों के लिये जिसके नेत्र निर्मल हैं, जिसके नेत्रोंमें कोई दोष नहीं है, जिसके नेत्रोंकी ज्योति मन्द नहीं है ऐसे मनुष्यके द्वारा शोधा हुआ और पकाया हुआ भोजन ग्रहण कर लेना चाहिये वह मनुष्य अपना साधर्मी हो और चाहे विधर्मी हो। अर्थात् भोजन शुद्धतापूर्वक तैयार किया हुआ होना चाहिये चाहे वह साधर्मी द्वारा तैयार किया हुआ हो और चाहे वह विधर्मी द्वारा तैयार किया हुआ हो। भोजन तैयार करने या शोधनेमें साधर्मी या विधर्मीकी क्या आवश्यकता है? परन्तु यह वात नहीं है। क्योंकि जो आहारको शोधने और शुद्धतापूर्वक तैयार करनेकी विधिको जाननेवाला विधर्मी हो इन दोनों प्रकारके मनुष्योंपर दृढ़ विश्वास किया जायेगा तो व्रतोंमें हानि अवश्य होगी। तथा इसका भी कारण यह है कि जो पुरुष अनार्य है अथवा निर्दय है उसको संयमके काम में संयमकी रक्षा करनेमें कोई अधिकार नहीं है ॥२९-३०॥ यदि व्रती मनुष्य अपनी सीमा या मर्यादासे चलायमान हो जायेगा तो आगे होनेवाले उसके व्रतोंमें अवश्य ही हानि पहुँचेगी तथा यदि वह संयम इसी प्रकार शिथिलता पूर्वक घटता जायगा तो फिर भला उसकी स्थिरता किस प्रकार रह सकेगी? ॥३१॥ जिन अन्न आदि पदार्थोंको शोधे हुए कई दिन हो गये हैं ऐसे पदार्थ

केवलेनाग्निना पक्वं मिश्रितेन घृतेन वा । उषितान्नं न भुञ्जीत पिशिताशनदोषवित् ॥३३
तत्रातिकालमात्रत्वे परिणामगुणात्तथा । सम्मूर्च्छन्ते त्रसाः सूक्ष्माः ज्ञेयाः सर्वविदाज्ञया ॥३४
शाकपत्राणि सर्वाणि नादेयानि कदाचन । श्रावकैर्मांसदोषस्य वर्जनार्थं प्रयत्नतः ॥३५
तत्रावश्यं त्रसाः सूक्ष्माः केचित्स्युर्दृष्टिगोचराः । न त्यजन्ति कदाचित्तं शाकपत्राश्रयं मनाक् ॥३६
तस्माद्धर्माथिना नूनमात्मनो हितमिच्छता । आताम्बूलं दलं त्याज्यं श्रावकैर्दर्शनान्वितैः ॥३७
रजन्यां भोजनं त्याज्यं नैष्ठिकैर्व्रतधारिभिः । पिशिताशनदोषस्य त्यागाय महदुद्यमैः ॥३८
ननु रात्रिभुक्तित्यागो नात्रोद्देश्यस्त्वया क्वचित् । षष्ठसंज्ञकविख्यातप्रतिमायामास्ते यतः ॥३९
सत्यं सर्वात्मना तत्र निशाभोजनवर्जनम् । हेतोः किन्त्वत्र दिग्मात्रं सिद्धं स्वानुभवागमात् ॥४०
अस्ति कश्चिद्विशेषोऽत्र स्वल्पाभासोऽर्थतो महान् । सातिचारोऽत्र दिग्मात्रे तत्रातीचारवर्जिताः ॥४१

भी व्रती श्रावकोंको ग्रहण नहीं करना चाहिये। जिन पदार्थोंको शोध लेनेपर भी बहुत सा काल बीत गया है, मर्यादासे अधिक काल हो गया है उनको फिर अपने नेत्रोंसे देख-शोधकर ग्रहण करना चाहिये ॥३२॥ जो रोटी, दाल आदि पदार्थ केवल अग्निपर पकाये हुए हैं अथवा पूड़ी कचौरी आदि गरम घीमें पकाये हुए हैं अथवा परामठे आदि पदार्थ घी और अग्नि दोनोंके संयोग से पकाये हुए हैं ऐसे सब प्रकारके पदार्थ मांस-भक्षणके दोषोंको जाननेवाले श्रावकोंको दूसरे दिन वासी नहीं खाना चाहिये ॥३३॥ इसका भी कारण यह है कि वासी भोजनमें मर्यादासे बाहर काल बीत जाता है इसलिये उनमें इस प्रकारका परिणमन होता है जिससे कि उनमें सूक्ष्म और सम्मूर्च्छन ऐसे त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं जो इन्द्रियोंसे दिखाई नहीं पड़ सकते, ऐसे सूक्ष्म त्रस जीव केवल सर्वज्ञदेवके द्वारा प्रतिपादन किये हुए शास्त्रोंसे ही जाने जा सकते हैं ॥३४॥ श्रावकों-को प्रयत्न पूर्वक मांसके दोषोंका त्याग करनेके लिये सब तरहकी पत्तेवाली शाक भाजी भी कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये अर्थात् मैंथी, पालक, चनाकी शाक, वथुआ, चौराई आदि पत्तेवाले शाक भी नहीं खाने चाहिये ॥३५॥ क्योंकि उस पत्तेवाले शाकमें सूक्ष्म त्रस जीव अवश्य होते हैं उनमेंसे कितने हो जीव तो दृष्टिगोचर होते हैं, दिखाई पड़ते हैं और कितने ही दिखाई नहीं पड़ते, परन्तु वे जीव किसी समयमें भी उस पत्तेवाले शाकका आश्रय थोड़ा सा भी नहीं छोड़ते ॥३६॥ इसलिये अपने आत्माका कल्याण चाहनेवाले धर्मात्मा जीवोंको पत्तेवाले सब शाक तथा पानतक छोड़ देना चाहिये और दर्शन प्रतिमाको धारण करनेवाले श्रावकोंको विशेषकर इनकात्याग कर देना चाहिये ॥३७॥ व्रत धारण करनेवाले नैष्ठिक श्रावकोंको मांस-भक्षणके दोषोंकात्याग करने-के लिए बहुत बड़े उद्यमके साथ रात्रिमें भोजन करनेका त्याग कर देना चाहिये ॥३८॥ कदाचित् कोई यहाँपर यह शंका करे कि आपको यहांपर मूल गुणोंके वर्णनमें रात्रि-भोजनके त्यागका उपदेश नहीं देना चाहिये क्योंकि रात्रि-भोजनका त्याग करनेवाली छठी प्रतिमा है। छठी प्रतिमाके वर्णन में इसके त्यागका वर्णन करना चाहिये। इसके उत्तरमें कहा है कि यह बात ठीक है परन्तु उसके साथ इतना और समझ लेना चाहिये कि छठी प्रतिमामें तो रात्रि भोजनका त्याग पूर्ण रूपसे है और यहाँपर मूल गुणोंके वर्णनमें स्थूल रूपसे रात्रि भोजनका त्याग है। मूल गुणोंमें स्थूल रूपसे भी रात्रि भोजनका त्याग करना अपने अनुभवसे भी सिद्ध है और आगमसे भी सिद्ध है ॥३९-४०॥ यहाँपर मूलगुणोंके धारण करनेमें जो रात्रि भोजनका त्याग है उसमें कुछ विशेषता है। तथा वह विशेषता मालूम तो थोड़ी होती है किन्तु उसको अच्छी तरह समझ लेनेपर वह विशेषता बहुत बड़ी मालूम देती है। सामान्य रीतिसे वह विशेषता यह है कि मूलगुणोंमें जो रात्रि भोजनका

निषिद्धमन्नमात्रादिस्थूलभोज्यं व्रते दृशः । न निषिद्धं जलाद्यत्र ताम्बूलाद्यपि वा निशि ॥४२
तत्र ताम्बूलतोयादिनिषिद्धं यावदञ्जसा । प्राणान्तेऽपि न भोक्तव्यमौषधादि मनीषिणा ॥४३
न वाच्यं भोजयेदन्नं कश्चिद्दर्शनिको निशि । अव्रतित्वादशक्यत्वात्पक्षमात्रात्सपाक्षिकः ॥४४
अस्ति तत्र कुलाचारः सैषा नाम्ना कुलक्रिया । तां विना दर्शनिको न स्यान्न स्यान्नामतस्तया ॥४५
मांसमात्रपरित्यागादनस्तमितभोजनम् । व्रतं सर्वजघन्यं स्यात्तदधस्तात्स्यादक्रिया: ॥४६
नेत्थं यः पाक्षिकः कश्चिद् व्रताभावादस्त्यव्रती । पक्षमात्रावलम्बी स्यादव्रतमात्रं न चाचरेत् ॥४७
यतोऽस्य पक्षग्राहित्वमसिद्धं बाधसम्भवात् । लोपात्सर्वविदाज्ञायाः साध्या पाक्षिकता कुतः ॥४८

त्याग है वह अतिचार सहित है । उसमें अतिचारोंका त्याग शामिल नहीं है और छठी प्रतिमामें जो रात्रि भोजनका त्याग है वह अतिचार रहित है उसमें रात्रि भोजनके सब अतिचारोंका त्याग है ॥४१॥ इस व्रतमें रात्रिमें केवल अन्नादिक स्थूल भोजनोंका त्याग है इसमें पान जल तथा आदि शब्दसे औषधिका त्याग नहीं है ॥४२॥ तथा छठी प्रतिमामें पानी, पान, सुपारी, इलायची, औषधि आदि समस्त पदार्थोंका सर्वथा त्याग बतलाया है इसलिये छठी प्रतिमा धारण करनेवाले बुद्धिमान् मनुष्यको औषधि या जल आदि पदार्थ प्राणोंके नाश होनेका समय आनेपर भी रात्रिमें कभी नहीं खाने चाहिये ॥४३॥ कदाचित् यहाँपर कोई यह शंका करे कि दर्शन प्रतिमाको धारण करनेवाला (दर्शन प्रतिमामें भी मूलगुणोंका धारण करनेवाला) अव्रती है—उसके कोई व्रत नहीं है इसलिये वह रात्रिमें अन्नादिक भोजनोंका भी त्याग नहीं कर सकता—वह रात्रिमें अन्नादिक भोजन खा सकता है अथवा वह अभी अव्रती है इसलिए वह रात्रि भोजनके त्यागमें असमर्थ है—शक्ति रहित है इसलिए भी वह रात्रिमें अन्नादिक भोजन खा सकता है । अथवा वह पाक्षिक है—व्रतादिकों के धारण करनेका केवल पक्ष रखता है । व्रतादिकोंको धारण नहीं करता इसलिए भी वह रात्रि भोजनका त्याग नहीं कर सकता । परन्तु ऐसी शंका करना ठीक नहीं है क्योंकि इस दर्शन प्रतिमा में अथवा दर्शन प्रतिमाके अन्तर्गत मूलगुणोंके धारण करनेमें एक कुलाचार माना गया है—कुल परम्परासे चला आया जो आचरण उसे कुलाचार कहते हैं और उसी कुलाचारको कुलक्रिया भी कहते हैं । रात्रि-भोजनका त्याग करना इस पाक्षिक श्रावकका कुलाचार या कुलक्रिया है । इस कुलाचार या कुलक्रियाके विना वह मनुष्य दर्शन प्रतिमाधारी अथवा पाक्षिक श्रावक नहीं हो सकता । और की तो क्या ? इस रात्रि भोजन त्यागरूप कुलक्रियाके विना नाम मात्रसे भी वह पाक्षिक श्रावक नहीं हो सकता ॥४४–४५॥ जो मांस मात्रका त्यागी है और रात्रि भोजन नहीं करता है वह सबसे जघन्य व्रती कहलाता है तथा उससे जो नीच है अर्थात् जिसके मांस और रात्रि भोजनका भी त्याग नहीं है वहाँपर कोई भी क्रिया नहीं समझनी चाहिए ॥४६॥

कदाचित् कोई यह कहे कि पाक्षिक श्रावक किसी व्रतको पालन नहीं करता इसीलिए वह अव्रती है । वह तो व्रत धारण करनेको केवल पक्ष रखता है—किसी व्रतको पालन नहीं करता अतएव वह रात्रि भोजनका त्याग भी नहीं कर सकता । परन्तु शंका करनेवालेकी यह शंका करना ठीक नहीं है और इसका भी कारण यह है कि रात्रि भोजनका त्याग न करनेसे उसका पाक्षिकपना अथवा व्रतोंके धारण करनेके पक्षको स्वीकार करना भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उसमें प्रत्यक्ष बाधा आ जाती है । जब रात्रि भोजनका त्याग करना कुलक्रिया है और उसके विना दर्शन प्रतिमा या मूलगुण हो ही नहीं सकते फिर भला रात्रि भोजन करनेवालेके मूलगुणोंका अथवा

आज्ञा सर्वविदः सैव क्रियावान् श्रावको मतः । कश्चित्सर्वनिकृष्टोऽपि न त्यजेत्स कुलक्रि : ॥४९
उक्तेषु वक्ष्यमाणेषु दर्शनिकव्रतेषु च । सन्देहो नैव कर्तव्यः कर्तव्यो संग्रहः ॥५०
प्रसिद्धं सर्वलोकेऽस्मिन् निशायां दीपसन्निधौ । पतङ्गादि पतत्येव प्राणिजातं त्रसात्मकम् ॥५१
म्रियन्ते जन्तवस्तत्र झम्पापातात्समक्षतः । तत्कलेवरसम्मिश्रं तत्कुतः स्यादनामिषम् ॥५२
युक्तायुक्तविचारोऽपि नास्ति वा निशि भोजने । मक्षिका नेक्ष्यते सम्यक् का कथा मशकस्य तु ॥५३
तस्मात्संयमवृद्ध्यर्थं निशायां भोजनं त्यजेत् । शक्तितस्तच्चतुष्कं स्यादन्नाद्यन्यतमादि वा ॥५४
यत्रोषितं न भक्ष्यं स्यादन्नादि पलदो : । आसवारिष्टसन्धानाथानादीनां कथाऽत्र का ॥५५
रूपगन्धरसस्पर्शाच्चलितं नैव भक्षयेत् । अवश्यं त्रसजीवानां निकोतानां समाश्रयात् ॥५६

सम्यग्दर्शन धारण करनेका भी पक्ष किस प्रकार कहा जा सकता है ? दूसरी बात यह है कि यदि रात्रि भोजन त्यागरूप कुलक्रियाका पालन न किया जायगा तो फिर सर्वज्ञदेवकी आज्ञाका लोप करना समझा जायगा । क्योंकि सर्वज्ञदेवने रात्रि भोजनका त्याग कुलाचारमें बतलाया है और बिना इस कुलाचारके सम्यग्दर्शन हो नहीं सकता इसलिए रात्रि भोजनका त्याग न करना कुलाचारका पालन नहीं करना है और कुलाचारका पालन न करना सर्वज्ञदेवकी आज्ञाका लोप करना है तथा जब सर्वज्ञदेवकी आज्ञाका लोप ही हो जायगा तो फिर उसका पाक्षिकपना भी किस प्रकार ठहर सकेगा ॥४७-४८॥ क्योंकि भगवान् सर्वज्ञदेवकी यही आज्ञा है कि जो क्रियावान् है—कुलक्रियाका पालन करता है वही श्रावक माना जाता है । जो सबसे निकृष्ट श्रावक है उसको भी अपनी कुलक्रियायें कभी नहीं छोड़नी चाहिये । अतएव मांस त्याग करनेवाले पाक्षिक श्रावक को रात्रि भोजनका त्याग अवश्य कर देना चाहिए ॥४९॥ बहुत कहाँतक कहा जाय इस दर्शन प्रतिमाके वर्णनमें जो कुछ पहले कह चुके हैं और जो कुछ आगे कहेंगे उसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं करना चाहिए । सभी सन्देहोंको छोड़कर केवल व्रतोंका संग्रह करना चाहिए ॥५०॥ यह बात समस्त संसारमें प्रसिद्ध है कि रात्रिमें दीपकके सहारे पतंगा आदि अनेक त्रस जीवोंका समुदाय आ जाता है ॥५१॥ वह त्रस जीवोंका समुदाय जरा सी हवाका झकोरा लगने मात्रसे ही अपने देखते-देखते मर जाता है तथा उनका कलेवर उड़-उड़कर सब भोजनमें मिल जाता है । (कुछ जीव तो जीवित ही भोजनमें पड़कर मर जाते हैं और फिर वे उसमेंसे अलग नहीं किये जा सकते तथा कुछ मरे हुए भी उड़-उड़कर भोजनमें मिल जाते हैं ।) ऐसी हालतमें रात्रि भोजनके त्याग न करनेवालोंके मांसका त्याग कैसे हो सकता है ? ॥५२॥ दूसरी बात यह है कि रात्रिमें भोजन करनेमें योग्य और अयोग्यका विचार भी नहीं रहता है । अरे जहाँपर अच्छी तरह मक्खी भी दिखाई न पड़े फिर भला उस रात्रिमें मच्छर आदि छोटे जीव तो किस प्रकार दिखाई दे सकते हैं ? ॥५३॥ इसलिए संयमकी वृद्धिके लिए रात्रि भोजनका त्याग अवश्य कर देना चाहिए । यदि अपनी शक्ति हो तो चारों प्रकारके आहारका त्याग कर देना चाहिए । यदि अपनी इतनी शक्ति न हो तो अन्न पानादिक चारों प्रकारके आहारोंमेंसे अन्न आदि किसी एक प्रकारके अथवा दो प्रकारके या तीन प्रकारके आहारोंका त्याग कर देना चाहिए ॥५४॥ जहाँपर मांस भक्षणके दोषसे वासी भोजनके (एक या दो दिन पहले बनाये हुए भोजनके) भक्षण करनेका भी त्याग है वहाँपर आसव अरिष्ट संधान अथाना आदिकी तो बात ही क्या है ॥५५॥ इसी प्रकार जो पदार्थ रूप, रस, गन्ध, स्पर्शसे चलायमान हो जाते हैं, जिनका रूप बिगड़ जाता है, रस बिगड़ जाता है—चलित हो जाता है, गन्ध बदल जाती है, स्पर्श बिगड़ जाता है ऐसे चलित पदार्थोंको भी कभी

दधितक्ररसादीनां भक्षणं वक्ष्यमाणतः । कालादर्वाक् ततस्तूद्ध्वं न भक्ष्यं तदभक्ष्यवत् ।।५७
इत्येवं पलदोषस्य दिग्मात्रं लक्षणं स्मृतम् । फलितं भक्षणादस्य वक्ष्यामि शृणुताधुना ।।५८
सिद्धान्ते सिद्धमेवैतत् सर्वतः सर्वदेहिनाम् । मांसांशस्याशनादेव भावः संक्लेशितो भवेत् ।।५९
न कदाचित् मृदुत्वं स्याद्योग्यं व्रतधारणे । द्रव्यतो कर्मरूपस्य तच्छक्तेरनतिक्रमात् ।।६०
अनाद्यनिधना नूनमचिन्त्या वस्तुशक्तयः । न प्रतर्क्याः कुतर्कैर्यत् स्वभावोऽतर्कगोचरः ।।६१
अयस्कान्तोपलाकृष्टसूचीवत्तद्द्वयोः पृथक् । अस्ति शक्तिर्विभावाख्या मिथो वन्धादिकारिणी ।।६२
न वाच्यमकिञ्चित्करं वस्तु वाह्यमकारणम् । धत्तूरादिविकाराणामिन्द्रियार्थेषु दर्शनात् ।।६३

उक्तं च—

यद्वस्तुवाह्यं गुणदोषसूतेर्निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतोः ।
अध्यात्मवृत्तस्य तदङ्गभूतमभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते ।।३

नहीं खाना चाहिए। क्योंकि ऐसे पदार्थोंमें अनेक त्रस जीवोंकी और निगोद राशिकी उत्पत्ति अवश्य हो जाती है ।।५६।। दूध, दही, छाछ आदि रसोंका भक्षण उनके कहे हुए नियमित समयके पहले-पहले कर लेना चाहिए, अर्थात् जितनी उनकी मर्यादा कही है वहीं तक उनको खाना चाहिये। उस मर्यादाके वाहर अभक्ष्य पदार्थोंके समान उसे कभी नहीं खाना चाहिये। अर्थात् दूध, दही आदिकी जितनी मर्यादा है उसके वीत जानेपर वे अभक्ष्य हो जाते हैं फिर उनका भक्षण कभी नहीं करना चाहिए ।।५७।। इस प्रकार मांसके दोषोंका थोड़ा सा वर्णन किया है। अव आगे मांस खानेसे क्या फल मिलता है उसको वतलाते हैं सो सुनो ।।५८।। सिद्धान्तशास्त्रोंमें यह वात सिद्ध है कि मांसका एक अंशमात्र भी भक्षण करनेसे समस्त जीवोंके भाव सव ओरसे संक्लेशरूप हो जाते हैं ।।५९।। क्रूर और संक्लेश परिणाम होनेके कारण उन परिणामोंमें फिर व्रत धारण करने योग्य कोमलता कभी नहीं रह सकती तथा उन परिणामोंमें तीव्र कर्मरूप शक्तिके वननेका उल्लंघन कभी नहीं होता है ।।६०।। कदाचित् यहाँपर कोई यह शंका करे कि मांसमें ऐसी क्या वात है जो उसके भक्षण करनेसे परिणामोंमें सदा संक्लेशता वनी रहती है ? सो इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक पदार्थकी शक्तियाँ अचिन्त्य हैं और वे अनादिकालसे चली आ रही हैं और अनन्तकालतक वरावर वनी रहेंगीं। इसमें किसी भी कुतर्कीको किसी भी प्रकारका कुतर्क नहीं करना चाहिए क्योंकि जो जिसका स्वभाव है उसमें किसीका तर्क चल नहीं सकता ।।६१।। अथवा जिस प्रकार चुम्बक पत्थर और सुई दोनों अलग अलग पदार्थ हैं परन्तु दोनोंके मिलनेसे एक ऐसी विभावरूप शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिससे कि चुम्बक सुईको अपनी ओर खींच लेता है अथवा सुई चुम्बककी ओर खिचकर चली जाती है। उसी प्रकार जीव अलग पदार्थ है और मांस अलग पदार्थ है परन्तु जीवमें एक वैभाविक नामकी ऐसी शक्ति है जो उस जीवके साथ मांसका संयोग होनेपर (मांस भक्षण कर लेनेपर) तीव्र वन्धका कारण होती है ।।६२।। कदाचित् यहाँपर कोई यह शंका करे कि शुभ अशुभ वन्ध करनेवाले परिणाम जीवके ही होते हैं उसमें वाह्य वस्तु कोई कारण नहीं है वाह्य पदार्थ तो अकिंचित्कर हैं वे कुछ नहीं कर सकते, परन्तु यह शंका करना ठीक नहीं है। क्योंकि धतूरा आदि खा लेनेसे जीवकी इन्द्रियोंमें विकार हो ही जाता है ।।६३।।

कहा भी है—गुण दोषोंके उत्पन्न होनेमें जो वाह्य पदार्थ निमित्त कारण पड़ते हैं वे आभ्यन्तर मूल कारणके होनेसे ही निमित्त कारण होते हैं अर्थात् आभ्यन्तर कारण मुख्य कारण

एवं मांसाशनाद्भावोऽवश्यं संक्लेशितो भवेत् । तस्मादसातबन्धः स्यात्ततो भ्रान्तिस्ततोऽसुखम् ॥६४
एतदुक्तं परिज्ञाय श्रद्धाय च मुहुर्मुहुः । ततो विरमणं कार्यं श्रावकैर्धर्मवेदिभिः ॥६५
मद्यं त्यक्तवतस्तस्य वक्ष्यतीचारवर्जनम् । यत्त्यागेन भवेच्छुद्धः श्रावको जात्यस्वर्णवत् ॥६६
हृषीकज्ञानयुक्तस्य मादनान्मद्यमुच्यते । ज्ञानाद्यावृत्तिहेतुत्वात्स्यात्तदवद्यकारणम् ॥६७
भङ्गाहिफेनधत्तूरखस्खसादिफलं च यत् । मा हेतुरन्यद्वा सर्वं मद्यवदीरितम् ॥६८
एवमित्यादि यद्वस्तु सुरेव मदकारकम् । तन्निखिलं त्यजेद्धीमान् श्रेयसे ह्यात्मनो गृही ॥६९
दोषत्वं प्राग्मतिभ्रंशस्ततो मिथ्यावबोधनम् । रागादयस्ततः कर्म ततो जन्मेह क्लेशता ॥७०
दिग्मात्रमत्र व्याख्यातं तावन्मात्रैकहेतुतः । व्याख्यास्यामः पुरो व्यासात्तद्व्रतावसरे वयम् ॥७१

है और वाह्य पदार्थ गौण कारण है । तथा कहीं-कहींपर केवल अन्तरंग कारणसे ही कार्यकी सिद्धि हो जाती है । अतएव आत्मा जो आत्मामें लीन होता है उसका कारण केवल अन्तरंग कारण होता है । उसके लिए वाह्य कारणकी आवश्यकता नहीं पड़ती ॥३॥

इस प्रकार मांस भक्षण करनेसे इस जीवके परिणाम संक्लेश रूप अवश्य होते हैं तथा संक्लेश परिणाम होनेसे असाता वेदनीयका वन्ध होता है । असाता वेदनीयका वन्ध होनेसे संसार-में परिभ्रमण होता है और संसारमें परिभ्रमण होनेसे दुःख उत्पन्न होता है । इस प्रकार मांस भक्षण करना अनन्त कालतक अनन्त दुःखोंका कारण है ॥६४॥ इस प्रकार ऊपर जो कुछ मांस भक्षणके दोष वतलाये हैं उनको जानकर और उनपर वार वार श्रद्धान कर धर्मका स्वरूप जानने-वाले श्रावकोंको उन अतिचारोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिए ॥६५॥ अव आगे जिसने मद्यका त्याग कर दिया उसके लिए उसके अतिचार छोड़नेका उपदेश देते हैं । जिस प्रकार कीट-कालिमा-के हटा देनेसे सुवर्ण शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार मद्यके अतिचारोंका त्याग कर देनेसे श्रावक अत्यन्त शुद्ध हो जाता है ॥६६॥ जिन अल्पज्ञानी जीवोंके इन्द्रियजन्य ज्ञान है वे जीव मद्यपान करनेसे उन्मत्त रूप हो जाते हैं अर्थात् मद्यपान (नशीली चीजोंका खाना पीना) इन्द्रियोंको धारण करनेवाले संसारी जीवोंको उन्मत्तताका कारण है इसीलिए वह मद्य कहलाता है तथा मद्यपान करनेसे ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि अशुभ कर्मोंका वन्ध होता है इसलिए वह पापका कारण है ॥६७॥ भाँग, अहिफेन (अफीम), धतूरा, खसखसके दाने आदि (चर्स, गाँजा) जो जो पदार्थ नशा उत्पन्न करनेवाले हैं वे सव मद्यके समान ही कहे जाते हैं ॥६८॥ ये सव पदार्थ तथा इनके समान और ऐसे पदार्थ जो कि मद्यके समान मद्य या नशा उत्पन्न करनेवाले हैं वे सव पदार्थ अपनी आत्माका कल्याण करनेके लिए वुद्धिमान् गृहस्थको छोड़ देना चाहिए ॥६९॥ इस मद्यके सेवन करनेसे तथा भाँग, धतूरा, खसखस आदि मद्य त्यागके अतिचार रूप नशीले पदार्थोंके सेवन करनेसे पहले तो वुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, फिर मिथ्या ज्ञान होता है, माता वहिन आदिको भी स्त्री समझने लगता है तथा इस प्रकारका मिथ्या ज्ञान होनेसे फिर रागादिक उत्पन्न होते हैं, रागादिक उत्पन्न होनेसे फिर व्यभिचार सेवन, अभक्ष्य भक्षण या अन्य अन्याय रूप क्रियायें उत्पन्न होने लगती हैं तथा व्यभिचार सेवन या अभक्ष्य भक्षण करनेसे इस संसारका जन्म-मरण रूप परिभ्रमण वढ़ता है और जन्म-मरण रूप परिभ्रमण वढ़नेसे इस जीवको सदा संक्लेश या दुःख उत्पन्न होते रहते हैं । इसलिए नशीली सव चीजोंका त्याग कर देना ही इस जीवके लिए कल्याणकारी और सुख देनेवाला है ॥७०॥ इस प्रकार जो जो पदार्थ केवल नशा उत्पन्न करनेवाले हैं ऐसे भाँग,

माक्षिकं मक्षिकानां हि मांसासृक्पीडनोद्भवम् । प्रसिद्धं सर्वलोके स्यादागमेष्वपि सूचितम् ॥७२
न्यायात्तद्भक्षणे नूनं पिशिताशनदूषणम् । त्रसास्ता मक्षिका यस्मादामिषं तत्कलेवरम् ॥७३
किञ्च तत्र निकोतादिजीवाः संसर्गजाः क्षणात् ।
संमूर्च्छिमा न मुञ्चन्ति तत्सङ्गं जातु क्रव्यवत् ॥७४
यथा पक्वं च शुष्कं वा पलं शुद्धं न जातुचित् । प्रासुकं न भवेत् क्वापि नित्यं साधारणं यतः ॥७५
अयमर्थो यथान्नादि कारणात्प्रासुकं भवेत् । शुष्कं वाप्यग्निपक्वं वा प्रासुकं न तथामिषम् ॥७६
प्राग्वदत्राप्यतीचाराः सन्ति केचिज्जिनागमात् । यथा पुष्परसः पीतः पुष्पाणामासवो यथा ॥७७
उदुम्बरफलान्येव नादेयानि दृगात्मभिः । नित्यं साधारणान्येव त्रसाङ्गैराश्रितानि च ॥७८
अत्रोदुम्वरशब्दस्तु नूनं स्यादुपलक्षणम् । तेन साधारणास्त्याज्या ये वनस्पतिकायिकाः ॥७९

धतूरा आदि मद्यके थोड़े-से ही अतिचारोंका वर्णन यहाँपर किया है । इनका विस्तृत वर्णन हम आगे व्रतोंका निरूपण करते समय करेंगे ॥७१॥ शहदकी प्राप्ति मक्खियोंके मांस रक्त आदिके निचोड़नेसे होती है । यह वात समस्त संसारमें प्रसिद्ध है तथा शास्त्रोंमें भी यही वात वतलाई है ॥७२॥ इस प्रकार न्यायसे भी यह वात सिद्ध हो जाती है कि शहदके खानेमें मांस भक्षणका दोष आता है क्योंकि मक्खियाँ त्रस जीव हैं और शहद उनका कलेवर है । जो त्रस जीवोंका कलेवर होता है वह सव मांस कहलाता है । शहद भी मक्खियोंका कलेवर है इसलिए वह भी मांस ही है अतएव शहदका खाना मांस खानेके समान है ॥७३॥ इसके सिवाय एक वात यह भी है कि जिस प्रकार मांसमें सूक्ष्म निगोदराशि सदा उत्पन्न होती रहती है उसी प्रकार शहदमें भी रक्त मांसके सम्बन्धसे सदा सूक्ष्म निगोदराशि उत्पन्न होती रहती है । शहद किसी भी अवस्थामें क्यों न हो उसमें सदा जीव उत्पन्न होते रहते हैं । उन जीवोंसे रहित शहद कभी भी नहीं रहता ॥७४॥ मांस चाहे कच्चा हो, चाहे पका हुआ, चाहे पक रहा हो और चाहे सूखा हो वह कभी शुद्ध नहीं हो सकता । इसका भी कारण यह है कि वह सदा साधारण रहता है । उसमें हर अवस्थामें अनन्तकाय रूप निगोदराशि उत्पन्न होती रहती है । इसलिए मांस किसी भी अवस्थामें क्यों न हो वह कभी प्रासुक नहीं हो सकता ॥७५॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार गेहूँ जौ आदि अन्न अपने अपने कारण मिलनेसे प्रासुक हो जाते हैं अर्थात् भून लेनेसे, पका लेनेसे, कूट लेनेसे, पीस लेनेसे गेहूँ जौ आदि अन्न प्रासुक हो जाते हैं उसी प्रकार मांस चाहे सूखा हो चाहे अग्निपर पकाया हुआ हो किसी भी अवस्थामें क्यों न हो, वह कभी प्रासुक नहीं हो सकता ॥७६॥ जिस प्रकार पहले शराव और मांसके अतिचार कह चुके हैं उसी प्रकार इस शहदके अतिचार भी जैन शास्त्रोंमें वर्णन किये हैं । जैसे पुष्पोंका रस पीना अथवा फूलोंका वना हुआ आसव खाना आदि सव शहद त्याग व्रतके अतिचार हैं । गुलकन्दका खाना भी इसी दोषमें समझ लेना चाहिए ॥७७॥ इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवोंको उदुम्बर फल भी नहीं खाना चाहिए, क्योंकि उदुम्बर फल साधारण हैं, अनन्तानन्त निगोदराशिके स्थान हैं तथा अनेक त्रस जीवोंसे भरे हुए हैं । भावार्थ—वड़का फल, गूलर, पीपलका फल, अंजीर और पाकर इनको उदुम्बर फल कहते हैं । इनके पेड़ोंमेंसे सफेद दूध सा निकलता है इसलिए इनको क्षीरी फल भी कहते हैं । वड़, पीपर, गूलरमें हजारों जीव प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं तथा अंजीरमें भी सूक्ष्म जीव रहते ही हैं, अंजीर गूलर जैसा ही फल है उसमें सूक्ष्म जीवोंका होना स्वाभाविक है । इसलिए सम्यग्दृष्टिको इन सवका त्याग कर देना अत्यावश्यक है ॥७८॥ यहाँपर जो उदुम्वर शब्द कहा है । वह उपलक्षण रूप है । जिस प्रकार उदुम्बर

उक्तं च—

मूलग्गपोरवीआ साहा ग्रह खंधकंदबीअरुहा। सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य ॥४

साहारणमाहारं साहारणमाणपाणगहणं च। साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं ॥५

जत्थेक्क मरइ जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं। चंकमइ जत्थ इक्को चंकमणं तत्थ णंताणं ॥६

साधारण है, अनन्त कायात्मक है उसी प्रकार जितने वनस्पति साधारण या अनन्त कायात्मक हैं उन सबका त्याग कर देना चाहिए, तथा जिन जिन पदार्थोंमें त्रस जीव रहते हों या रहनेकी सम्भावना हो उन सबका भी त्याग कर देना चाहिए। अनन्त कायात्मक अथवा साधारण वनस्पति कौन कौन सी हैं इन सबका खुलासा इस प्रकार है ॥७९॥

कहा है—जिनका मूल या जड़ ही बीज हो ऐसे हल्दी अदरख आदिको मूलजीव कहते हैं। जिनका अग्र भाग ही बीज हो जो ऊपरकी डाली काटकर लगा देनेसे लग जायं ऐसे मेंहदी आदिको अग्रबीज कहते हैं। जिनका पर्व या गाँठ ही बीज हो ऐसे गन्ना आदिको पर्वबीज कहते हैं। कन्द ही जिनका बीज हो ऐसे सूरण, पिंडालु आदिको कन्दबीज कहते हैं। जिनका स्कन्ध ही बीज हो ऐसे ढांक आदिको स्कन्धबीज कहते हैं। जो बीजसे उत्पन्न हों ऐसे गेहूँ, जौ आदिको बीजरुह कहते हैं तथा जो मूल अग्रबीज आदि निश्चित बीजोंके विना अपने आप उत्पन्न हों उनको सम्मूर्च्छन कहते हैं। जैसे घास आदि। ये सब प्रत्येक वनस्पति कहलाते हैं। जिन वनस्पतियोंमें अनन्त निगोद जीवोंके शरीर हों उनको अनन्तकाय या सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं तथा जिन वनस्पतियोंमें अनन्तकाय शरीर न हों उनको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। इस प्रकार सप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर तथा अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर दोनों ही प्रकारके जीव सम्मूर्च्छन समझने चाहिए ॥४॥ ये निगोदके जीव साधारण नामा नामकर्मकी प्रकृतिके उदयसे साधारण कहलाते हैं। साधारणका अर्थ सब जीवोंके एक साथ होना है। उस निगोद पिंडमें अनन्तानन्त जीव एक साथ उत्पन्न होते हैं, उन सबकी आहार पर्याप्ति साथ-साथ होती है और वह पहले समयमें होती है। आहार वर्गणारूप पुद्गलकन्धोंको खल (हड्डी आदि कठिन भाग रूप), रस (रक्त आदि नरम भाग रूप) भागरूप परिणमानेकी शक्तिको आहार पर्याप्ति कहते हैं। यह आहार पर्याप्ति भी सब जीवोंकी साथ साथ उत्पन्न होती है तथा उन्हीं आहार वर्गणारूप पुद्गल स्कन्धोंको शरीरके आकार परिणमानेकी शक्तिको शरीर पर्याप्ति कहते हैं। यह शरीर पर्याप्ति भी सबकी साथ साथ होती है तथा उन्हीं पुद्गलस्कन्धोंको स्पर्शन इन्द्रियके आकार रूप परिणमानेकी शक्तिको इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं। यह इन्द्रिय पर्याप्ति भी उन जीवोंकी एक साथ होती है तथा श्वासोच्छ्वासरूप आणप्राण पर्याप्ति भी उन सब जीवोंको साथ-साथ होती है। पहले समयमें एक निगोद शरीरमें अनन्तानन्त जीव उत्पन्न हुए थे। फिर दूसरे समयमें अनन्तानन्त जीव आकर और उत्पन्न हो जाते हैं फिर तीसरे समयमें भी अनन्तानन्त जीव और आकर उत्पन्न हो जाते हैं। नये नये जो जीव आकर उत्पन्न होते जाते हैं वे जिस प्रकार आहार आदि पर्याप्तियोंको धारण करते हैं उनके ही साथ पहलेके समस्त जीव आहारादि पर्याप्तियोंको धारण करते हैं। इन सब जीवोंका आहारादिक सब एक साथ होता है इसलिए इनको साधारण कहते हैं ॥५॥

एक निगोद शरीरमें जिस समय एक जीव अपनी आयुके नाश होनेपर मरता है उसी समय में जिनकी आयु समान हो ऐसे अनन्तानन्त जीव एक साथ मर जाते हैं। तथा जिस समयमें एक जीव उत्पन्न होता है उसी समयमें समान स्थितिके धारक अनन्तानन्त जीव उत्पन्न होते हैं। इस

मूलबीजा यथा प्रोक्ता फलकाद्यार्द्रकादयः । न भक्ष्या दैवयोगाद्वा रोगिणाप्यौषधच्छलात् ॥८०
तद्भक्षणे महापापं प्राणिसन्दोहपीडनात् । सर्वज्ञाज्ञाबलादेतद्दर्शनीयं दृगङ्गिभिः ॥८१
ननु केनानुमीयेत हेतुना पक्षधर्मता । प्रत्यक्षानुपलब्धित्वाज्जीवाभावोऽवधार्यते ॥८२
मैवं प्रागेव प्रोक्तत्वात्स्वभावोऽतर्कगोचरः । तेन सर्वविदाज्ञायाः स्वीकर्तव्यं यथोदितम् ॥८३

प्रकार जन्म-मरण जिन जीवोंका एक साथ साधारण हो उनको साधारण जीव कहते हैं। इसी प्रकार दूसरे समयमें जो अनन्त जीव उत्पन्न हुए थे वे भी साथ ही मरते हैं। इस प्रकार एक निगोद शरीरमें एक-एक समयमें अनन्तानन्त जीव एक साथ उत्पन्न होते हैं और एक साथ ही मरते हैं और वह निगोद शरीर ज्योंका त्यों बना रहता है। उस निगोद शरीरकी उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात कोड़ाकोड़ी सागर है। इतने समय तक उसमें प्रत्येक समयमें अनन्तानंत जीव उत्पन्न होते रहते हैं और अनन्तानन्त जीव प्रत्येक समयमें मरते रहते हैं। इतना विशेष है कि जिस निगोदमें पर्याप्त उत्पन्न होते हैं उसमें पर्याप्त ही उत्पन्न होते हैं अपर्याप्त नहीं। तथा जिसमें अपर्याप्त उत्पन्न होते हैं उसमें अपर्याप्त ही उत्पन्न होते हैं उसमें पर्याप्त उत्पन्न नहीं हो सकते। क्योंकि उनके समान कर्मका उदय होता है ॥६॥

ऊपर जो मूली, अदरख, आलू आदि मूलबीज, अग्रबीज, पोरबीज आदि अनन्तकायात्मक साधारण बतलाये हैं उन्हें कभी नहीं खाना चाहिए। यदि कोई रोगी हो और उसे औषधिरूपमें इन साधारण वनस्पतियोंका सेवन करना पड़े तो भी उसे इन साधारण वनस्पतियोंका भक्षण नहीं करना चाहिये ॥८०॥ इसका भी कारण यह है कि इन साधारण वनस्पतियोंके भक्षण करनेमें अनन्तानन्त जीवोंका घात होता है अथवा यों कहना चाहिये कि अनन्तानन्त जीवोंसे भरे हुए अनन्त पिंडोंका नाश होता है। इसलिये इनके भक्षण करनेमें महापाप होता है। इस महापापका विचार भगवान् सर्वज्ञदेवकी आज्ञाके अनुसार सम्यग्दृष्टियोंको अवश्य करना चाहिये ॥८१॥ कदाचित् यहाँपर कोई यह शंका करे कि इस पक्ष धर्मका अनुमान किस हेतुसे करना चाहिए, अर्थात् आलू, अदरक आदि मूलबीज या अन्य साधारण वनस्पतियोंमें अनन्तानन्त जीव हैं यह बात किस प्रकार मान लेनी चाहिये। क्योंकि उनमें चलते फिरते जीव प्रत्यक्ष तो दिखाई देते ही नहीं हैं। इसलिये प्रत्यक्षमें तो उन साधारण वनस्पतियोंमें जीवोंका अभाव ही दिखायी पड़ता है और इसलिये उनमें कोई जीव नहीं है और जीव न होनेसे उनके भक्षण करनेमें कोई पाप नहीं है ऐसा ही निश्चय करना पड़ता है। परन्तु ऐसी शंका करनेवालेके लिये कहते हैं कि यह बात नहीं है। हम यह बात पहले कह चुके हैं कि प्रत्येक पदार्थका जो अलग-अलग स्वभाव है उसमें किसी प्रकारका तर्क वितर्क नहीं चल सकता। गिलोय कड़वी होती है और गन्ना मीठा होता है यह उन दोनोंका स्वभाव है। इसमें कोई यह नहीं पूछ सकता कि गन्ना मीठा क्यों होता है अथवा गिलोय कड़वी ही क्यों होती है। जिस पदार्थका जैसा स्वभाव होता है वह वैसा ही रहता है। इसी प्रकार आलू अदरक आदि कन्दमूलोंका या अन्य साधारण वनस्पतियोंका यही स्वभाव है कि उनमें प्रत्येक समयमें अनन्तानन्त जीव उत्पन्न होते रहते हैं और मरते रहते हैं तथा जैसा उनका स्वभाव है वैसा ही उन्होंने बतलाया है। यद्यपि आलू अदरक आदि कन्दमूलोंमें या अन्य साधारण वनस्पतियोंमें जीव दिखाई नहीं पड़ते हैं क्योंकि वे अत्यन्त सूक्ष्म हैं परन्तु सर्वज्ञदेवने उनमें अनन्तानन्त जीव राशि बतलायी है इसलिये भगवान् सर्वज्ञदेवकी आज्ञा मानकर कन्दमूल या साधारण वनस्पतियोंके भक्षण करनेका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥८२-८३॥

नन्वस्तु तत्तदाज्ञाया प्रष्टुमीहामहे परम् । यदेकाक्षशरीराणां भक्ष्यत्वं प्रोक्तमर्हता ॥८४
सत्यं बहुवधादत्र भक्ष्यत्वं नोक्तमर्हता । कुतश्चित्कारणादेव नोल्लङ्घ्यं जिनशासनम् ॥८५
एवं चेत्तत्र जीवास्ते कियन्तो वद कोविद । हेतोर्यदत्र सर्वज्ञैरभक्ष्यत्वमुदीरितम् ॥८६
घनाङ्गुलासंख्यभागभागिकं तद्वपुः स्मृतम् । तत्रैकस्मिन् शरीरे स्युः प्राणिनोऽनन्तसंज्ञिताः ॥८७

उक्तञ्च—

एयणिगोयसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा । सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥७
इदमेवात्र तात्पर्यं तावन्मात्रावगाहके । केचिन्मिथोऽवगाहाः स्युरेकीभावादिवापरे ॥८८

प्रश्न—सर्वज्ञदेवकी आज्ञा मान लेना ठीक है इसमें किसीको कुछ कहना नहीं है परन्तु इसमें इतना और पूछ लेना चाहते हैं कि भगवान् अरहन्तदेवने ही तो एकेन्द्रिय जीवोंके शरीरको भक्ष्य या खाने योग्य बतलाया है। फिर आप अनन्तकाय वनस्पतियोंके भक्षण करनेका निषेध क्यों करते हैं वे भी तो एकेन्द्रिय जीव हैं ॥८४॥ उत्तर—यह ठीक है कि सर्वज्ञदेवने दो इन्द्रिय आदि जीवोंके शरीरके भक्षण करनेका निषेध किया है क्योंकि दो इन्द्रिय आदि जीवोंके शरीरकी मांस संज्ञा है तथा एकेन्द्रिय जीवोंके शरीरकी मांस संज्ञा नहीं है इसीलिये सर्वज्ञदेवने एकेन्द्रिय जीवोंके प्रासुक शरीरको भक्षण करनेका निषेध नहीं किया है तथापि उन्होंने (अरहन्तदेवने) अनन्तकायिक वनस्पतियोंके भक्षण करनेका निषेध किया ही है क्योंकि अनन्तकायिक वनस्पतियोंके भक्षण करनेमें अनेक जीवोंका घात होता है। इसलिये किसी भी कारणसे भगवान् अरहन्तदेवकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं करना चाहिये ॥८५॥ प्रश्न—यदि यही बात है अर्थात् साधारण वनस्पतियों-के भक्षण करनेमें उनके जीवोंका वध होता है तो विद्वानोंको बतलाया चाहिए कि उसमें कितने जीव रहते हैं जिस कारणसे कि भगवान् अरहन्तदेवने उनको अभक्ष्य बतलाता है ॥८६॥ उत्तर—साधारण जीवोंका शरीर घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है। अर्थात् साधारण जीवोंका शरीर इतना सूक्ष्म होता है कि वह देखनेमें आ नहीं सकता, किन्तु उसको अनुमानसे जाननेके लिये एक अंगुल लम्बे एक अंगुल चौड़े और एक अंगुल ऊँचे क्षेत्रके यदि असंख्यात भाग किये जायें तो उनमेंसे एक भाग प्रमाण साधारण जीवोंका होता है उतने छोटे अत्यन्त सूक्ष्म शरीरमें अनन्तानन्त जीव रहते हैं ॥८७॥

कहा भी है—एक निगोद शरीरमें अनन्तानन्त जीव हैं। उनकी अनन्तानन्त संख्या सिद्ध राशिसे अनन्तगुणी है तथा अबतक जितने सिद्ध हुए हैं उन सबकी संख्यासे भी अनन्तगुणी है ॥७॥

कदाचित् कोई यह प्रश्न करे कि इतने अत्यन्त सूक्ष्म एक शरीरमें उतने ही बड़े शरीरको धारण करनेवाले अन्य अनन्तानन्त जीव उसमें किस प्रकार रह सकते हैं तो इसका उत्तर यह है कि सूक्ष्म पदार्थ जगह नहीं रोकता है। जगह रोकनेकी शक्ति स्थूल पदार्थोंमें ही है। चाँदनी धूप प्रकाश अन्धकार आदि ऐसे बहुत-से स्थूल सूक्ष्म पदार्थ भी हैं जो जगह नहीं रोकते हैं फिर भला अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ तो जगह रोक ही किस प्रकार सकता है? उन निगोदिया जीवोंका शरीर भी अत्यन्त सूक्ष्म होता है इसलिये उसी एक शरीरमें उतने ही अवगाहको धारण करने-वाले अन्य शरीर भी समा जाते हैं और सब मिलकर एकरूप हो जाते हैं। इसीलिए आचार्योंने बतलाया है कि अत्यन्त सूक्ष्म एक निगोदियाके शरीरमें उतने ही बड़े शरीरको धारण करनेवाले अनन्तानन्त जीव रहते हैं ॥८८॥

उक्तं च—

जम्बूदीवे भरहे कोसल साकेय तग्घरायं च। खंधंडर आवासा पुलवि सरीराणि दिट्ठंता ॥८८

एतन्मत्वाऽर्हता प्रोक्तमाजवञ्जवभीरुणा। कन्दादिलक्षणत्यागे कर्तव्या सुमतिः सती ॥८९

एवमन्यदपि त्याज्यं यत्साधारणलक्षणम्। त्रसाश्रितं विशेषेण तद्वियुक्तस्य का कथा ॥९०

साधारणं च केषांचिन्मूलं स्कन्धस्तथागमात्। शाखाः पत्राणि पुष्पाणि पर्वदुग्धफलानि च ॥९१

तत्र व्यस्तानि केषाञ्चित्समस्तान्यथ देहिनाम्। पापमूलानि सर्वाणि ज्ञात्वा सम्यक् परित्यजेत् ॥९२

मूलसाधारणास्तत्र मूलकाश्चाद्रकादयः। महापापप्रदाः सर्वे मूलोन्मूल्या गृहिव्रतैः ॥९३

स्कन्धपत्रपयः पर्व तुर्यसाधारणा यथा। गण्डीरकस्तथा चार्कदुग्धं साधारणं मतम् ॥९४

कहा भी है—जिस प्रकार जम्बूद्वीपमें भरतक्षेत्र है, भरतक्षेत्रमें कौशल आदि देश हैं, कौशल आदि देशोंमें साकेत आदि नगर हैं और उन नगरोंमें घर हैं उसी प्रकार इस लोकाकाशमें स्कन्धोंकी संख्या असंख्यात लोक प्रमाण है। प्रतिष्ठित प्रत्येक जीवोंके शरीरोंको स्कन्ध कहते हैं। लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं उनको असंख्यातसे गुणा कर देनेपर जो आवे उतनी संख्या उन स्कन्धोंकी है तथा एक-एक स्कन्धमें असंख्यात लोकप्रमाण अंडर हैं। एक-एक अंडरमें असंख्यात लोकप्रमाण आवास हैं। एक-एक आवासमें असंख्यात लोकप्रमाण पुलवी हैं तथा एक एक पुलवीमें असंख्यात लोकप्रमाण निगोद शरीर हैं और एक-एक निगोद शरीरमें अनन्तानन्त जीव हैं ॥८८॥

यही समझकर भगवान् अरहन्तदेवने कहा है कि जिनको इस संसारके परिभ्रमणसे कुछ भी भय है उनको कन्दमूल आदिके त्याग करनेमें ही अपनी सम्यक् और उत्तम बुद्धि लगानी चाहिये ॥८९॥ श्रावकोंको जिस प्रकार कन्दमूलका त्याग कर देना चाहिए उसी प्रकार और भी जो-जो साधारण हों उन सबका त्याग कर देना चाहिये तथा जिन पदार्थोंमें त्रस जीव रहते हों उनका विशेष रीतिसे त्याग करना चाहिये और जिनमें त्रसजीव भी रहते हों तथा जो साधारण भी हों, अनन्त जीवोंका आश्रय भी हों ऐसे पदार्थोंकी तो बात ही क्या है? अर्थात् ऐसे पदार्थोंका तो अवश्य ही त्याग कर देना चाहिये ॥९०॥ किसी वृक्षकी जड़ साधारण होती है, किसीका स्कन्ध साधारण होता है, किसीकी शाखाएँ साधारण होती हैं, किसीके पत्ते साधारण होते हैं, किसीके फूल साधारण होते हैं, किसीके पर्व (गाँठ) साधारण होते हैं, किसीका दूध साधारण होता है और किसीके फल साधारण होते हैं। इस प्रकार उनका साधारणपना आगमसे जान लेना चाहिये ॥९१॥ इनमेंसे किसी-किसीके तो मूल पत्ते स्कन्ध फल-फूल आदि अलग-अलग साधारण होते हैं और किसी-किसीके मिले हुए पूर्णरूपसे साधारण होते हैं परन्तु ये सब प्राणियोंके लिये पापके कारण होते हैं। इनके भक्षण करनेसे या अन्य किसी काममें लाकर विराधना करनेसे महापाप लगता है इसलिये इन सबको अच्छी तरह जानकर सबका त्याग कर देना चाहिये ॥९२॥ मूली, अदरक, आलू, अरवी, रतालू, जमीकन्द आदि सब मूल साधारण कहलाते हैं। अर्थात् इनकी जड़ें सब साधारण हैं। तथा ये सब अनन्तकाय हैं। इनके भक्षण करनेसे तथा किसी प्रकारसे भी काममें लानेसे महापाप उत्पन्न होता है। इसलिये व्रती गृहस्थोंको इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥९३॥ गंडीरक एक प्रकारके कड़वे जमीकन्दको कहते हैं। उसके स्कन्ध भी साधारण होते हैं, पत्ते भी साधारण होते हैं, दूध भी साधारण होता है और पर्व (गाँठें) भी साधारण होते हैं। इस प्रकार उसके चारों अवयव साधारण होते हैं। दूधोंमें आकका दूध साधारण होता है

पुष्पसाधारणाः केचित्करीरसर्षपादयः । पर्वसाधारणाश्चेक्षुदण्डाः साधारणाग्रकाः ॥९५
फलसाधारणं ख्यातं प्रोक्तोदुम्बरपञ्चकम् । शाखासाधारणा ख्याता कुमारीपिण्डकादयः ॥९६
कुम्पलानि च सर्वेषां मृदूनि च यथागमम् । सन्ति साधारणान्येव प्रोक्तकालावधेरधः ॥९७
शाकाः साधारणाः केचित्केचित्प्रत्येकमूर्तयः । वल्ल्यः साधारणाः काश्चित्काश्चित्प्रत्येककाः स्फुटम् ॥
तत्स्वरूपं परिज्ञाय व्या विरतिस्ततः । उत्सर्गात्सर्वतस्त्यागो यथाशक्त्यापवादतः ॥९९
शक्तितो विरतौ चापि विवेकः साधुरात्मनः । निर्विवेकात्कृतं कर्म विफलं चाल्पफलं भवेत् ॥१००
कदाचिन्महतोऽज्ञानाद्दुर्दैवान्निर्विवेकिनाम् । तत्केवलमनर्थाय कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥१०१
यथाऽत्र श्रेयसे केचिद्धिंसां कुर्वन्ति कर्मणि । अज्ञानात्स्वर्गहेतुत्वं मन्यमानाः प्रमादिनः ॥१०२
तदवश्यं तत्कामेन भवितव्यं विवेकिनाम् । देशतो वस्तुसंख्यायाः शक्तितो व्रतधारिणा ॥१०३
विवेकस्यावकाशोऽस्ति देशतो विरतावपि । आदेयं प्रासुकं योग्यं नादेयं तद्विपर्ययम् ॥१०४

॥९४॥ फूलोंमें करीरके फूल और सरसोंके फूल तथा और भी ऐसे ही फूल साधारण होते हैं तथा पर्वोंमें ईखकी गाँठें साधारण होती हैं तथा उसका आगेका भाग भी साधारण होता है ॥९५॥ फलोंमें साधारण फल पाँचों उदुम्बर फल होते हैं तथा शाखाओंमें साधारण कुमारी पिंड (गवाँरपाठा) है। अर्थात् गँवारपाठा शाखारूप ही होता है और उसकी सब शाखायें साधारण हैं ॥९६॥ वृक्षोंपर पहले ही पहले जो नये पत्ते निकलते हैं वे बड़े कोमल होते हैं जिनको कोंपर कहते हैं वे सब अपने नियत समयके भीतर साधारण रहते हैं। भावार्थ—समस्त वृक्षोंपर जो-जो नये पत्ते निकलते हैं वे सब कुछ समय तक साधारण रहते हैं। अपना साधारण अवस्थाका समय बीत जानेपर फिर वे ही पत्ते बड़े होनेपर प्रत्येक हो जाते हैं ॥९७॥ शाकोंमें (चना, मेथी, बथुआ, पालक, कुलफी आदि शाकोंमें) कोई शाक साधारण होते हैं और कोई प्रत्येक होते हैं। इसी प्रकार लता या बेलोंमें कोई लताएँ साधारण होती हैं और कोई लतायें प्रत्येक होती हैं ॥९८॥ इन सब साधारणोंका स्वरूप जानकर इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये क्योंकि मन-वचन-काय या कृत कारित अनुमोदनासे समस्त पापोंका त्याग कर देना उत्सर्ग मार्ग है और अपनी शक्तिसे त्याग कर देना अपवाद मार्ग है ॥९९॥ शक्तिके अनुसार त्याग करनेमें भी अपना विवेक या विचार ही कल्याण करनेवाला होता है। (यह कार्य मेरे आत्माके लिये कल्याण करनेवाला है और यह नहीं है। इस प्रकारके विचारोंको विवेक कहते हैं) श्रावकोंके द्वारा जो कुछ पापोंका त्याग किया जाय वह विवेक या विचारपूर्वक ही त्याग होना चाहिये। क्योंकि जो कार्य बिना विवेकके या बिना विचारके किया जाता है वह या तो निष्फल जाता है या उसका फल बहुत ही थोड़ा मिलता है ॥१००॥ कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जो विवेकरहित पुरुष अपने अज्ञानसे अथवा अपने अशुभ कर्मके उदयसे जो कुछ शुभ अथवा अशुभ कार्य करते हैं उनसे अनेक अनर्थ उत्पन्न हो जाते हैं ॥१०१ जैसे इस संसारमें कितने ही प्रमादी पुरुष ऐसे हैं जो अपना भला करनेके लिये या अपना कल्याण करनेके लिये देवताओंकी पूजा करनेमें या यज्ञ करनेमें या अन्य ऐसे ही कामोंमें अनेक जीवोंकी हिंसा करते हैं और अपने अज्ञानसे या मिथ्याज्ञानसे उसे स्वर्गका कारण मानते हैं ॥१०२॥ इसलिये जो जीव अपनी शक्तिके अनुसार व्रत धारण करना चाहते हैं और पदार्थोंकी संख्याका एक देश रूपसे त्याग कर देना चाहते हैं उन्हें विवेकी अवश्य होना चाहिये ॥१०३॥ एक देशत्याग करनेमें भी विवेक या विचारकी बड़ी भारी आवश्यकता है क्योंकि जो निर्जीव और योग्य पदार्थ हैं उन्हींको ग्रहण करना चाहिए तथा जो सचित्त या जीवराशिसे भरे हुए हैं,

न च स्वात्मेच्छया किञ्चिदात्तमादेयमेव तत् । नात्तं यत्तदनादेयं भ्रान्तोन्मत्तकवाक्यवत् ॥१०५
तस्माद्यत्प्रासुकं शुद्धं तुच्छहिंसाकरं शुभम् । सर्वं त्यक्तुमशक्येन ग्राह्यं तत्क्वचिदल्पशः ॥१०६
यावत्साधारणं त्याज्यं त्याज्यं यावत्त्रसाश्रितम् । एतत्त्यागे गुणोऽवश्यं संग्रहे स्वल्पदोषता ॥१०७
ननु साधारणं यावत्तत्सर्वं लक्ष्यते कथम् । सत्यं जिनागमे प्रोक्ताल्लक्षणादेव लक्ष्यते ॥१०८
तल्लक्षणं यथा भङ्गे समभागः प्रजायते । तावत्साधारणं ज्ञेयं शेयं प्रत्येकमेव तत् ॥१०९
तत्राप्यत्यल्पीकरणं योग्यं योगेषु वस्तुषु । यतस्तृष्णानिवृत्त्यर्थमेतत्सर्वं प्रकीर्तितम् ॥११०

साधारण या त्रसजीवोंसे भरे हुए हैं अथवा अयोग्य हैं ऐसे पदार्थोंको कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए—ऐसे पदार्थोंका दूर ही से त्याग कर देना चाहिये ॥१०४॥ जो कुछ अपनी इच्छानुसार ग्रहण कर लिया है वही आदेय या ग्रहण करने योग्य है तथा जो कुछ अपनी इच्छानुसार छोड़ दिया है वही अनादेय या त्याग करने योग्य है ऐसा सिद्धान्त नहीं है। जिस प्रकार किसी पागल या उन्मत्त पुरुषके वाक्य उसकी इच्छानुसार कहे जाते हैं, पदार्थोंकी सत्ता या असत्ताके अनुसार नहीं कहे जाते और इसीलिये वे मिथ्या या ग्रहण करने अयोग्य समझे जाते हैं उसी प्रकार इच्छानुसार ग्रहण करना या छोड़ना भी मिथ्या या विवेकरहित समझा जाता है। इसलिये किसी भी पदार्थका त्याग या ग्रहण अपनी इच्छानुसार नहीं होना चाहिये किन्तु विवेकपूर्ण यथार्थ शास्त्रोंके अनुसार होना चाहिये ॥१०५॥ अतएव जो पुरुष पूर्णरूपसे पाँचों पापोंका त्याग नहीं कर सकते, महाव्रत धारण नहीं कर सकते उनको जो पदार्थ प्रासुक हैं, जीव रहित हैं, शुद्ध हैं, शुभ हैं और जो थोड़ी वहुत हिंसासे या थोड़ेसे ही सावद्य कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले हैं ऐसे पदार्थ भी थोड़े वहुत ग्रहण करने चाहिये और वे भी कभी-कभी ग्रहण करना चाहिये सदा उन्हींमें लीन नहीं रहना चाहिये ॥१०६॥ जो सधारण हैं उनका सवका त्याग कर देना चाहिये और जिनमें त्रसजीव रहते हैं उनका सवका त्याग कर देना चाहिये। इनके त्याग करनेसे गुण—मूलगुण और उत्तर गुण वढ़ते हैं और इनका ग्रहण करनेसे भक्षण करनेसे महापाप उत्पन्न होते हैं ॥१०७॥

प्रश्न—यदि साधारण वनस्पतियोंका त्याग कर देना चाहिए तो फिर यह भी वतलाना चाहिये कि साधारण वनस्पतियोंकी पहचान क्या है। किस लक्षणसे उनका ज्ञान हो सकता है। उत्तर—आपका यह पूछना ठीक है। जैन-शास्त्रोंमें जो कुछ साधारणका लक्षण वतलाया गया है उसी लक्षणसे साधारण वनस्पतियोंका ज्ञान हो सकता है ॥१०८॥ उसका लक्षण शास्त्रोंमें इस प्रकार लिखा है कि जिसके तोड़नेमें दोनों भाग एकसे हो जायँ जिस प्रकार चाकूसे दो टुकड़े करने पर दोनों भाग चिकने और एकसे हो जाते हैं उसी प्रकार हाथसे तोड़ने पर भी जिसके दोनों भाग चिकने एकसे हो जायँ वह साधारण वनस्पति है। जव तक उसके टुकड़े इसी प्रकारके होते रहते हैं तव तक उसे साधारण समझना चाहिये तथा जिसके टुकड़े चिकने और एकसे न हों ऐसी वाकीकी समस्त वनस्पतियोंको प्रत्येक समझना चाहिये ॥१०९॥ इस प्रकार पदार्थोंकी प्राप्ति होने पर जो योग्य पदार्थ हैं उनको भी वहुत थोड़ी मात्रामें ग्रहण करना चाहिये अर्थात् योग्य पदार्थोंमें भी अधिक भागका त्याग कर जितने कमसे अपना कार्य सिद्ध हो सकता है उतना ही ग्रहण करना चाहिये। वाकी सवका त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि यह सव त्याग या समस्त व्रत, मूलगुण उत्तरगुण आदि तृष्णाको दूर करनेके लिये ही कहे गये हैं। यदि तृष्णा कम न हुई तो त्याग करना व्यर्थ है। क्योंकि तृष्णा घटानेके लिये ही त्याग किया जाता है ॥११०॥ इस प्रकार अत्यन्त

इति संक्षेपतः ख्यातं साम्ना गुणाष्टकम् । अर्थादुत्तरसंज्ञाश्च गुणाः स्युर्गृहमेधिनाम् ॥१११
तांस्तानवसरे तत्र वक्ष्यामः स्वल्पविस्तरात् । इतः प्रसङ्गतो वक्ष्ये तत्सप्तव्यसनोज्झनम् ॥११२
द्यूतमांससुरावेश्याऽऽखेटचौर्यपराङ्गनाः । महापापानि सप्तेति व्यसनानि त्यजेद् बुधः ॥११३
अक्षपासादिनिक्षिप्तं वित्ताज्जयपराजयम् । क्रियायां विद्यते यत्र सर्वं द्यूतमिति स्मृतम् ॥११४
प्रसिद्धं द्यूतकर्मेदं सद्यो बन्धकरं स्मृतम् । यावदापन्मयं ज्ञात्वा त्याज्यं धर्मानुरागिणा ॥११५
तत्र बह्व्यः कथाः सन्ति द्यूतस्यानिष्टसूचिकाः । रतास्तत्र नराः पूर्वं नष्टा धर्मसुतादयः ॥११६
श्रूयते दृश्यते चैव द्यूतस्यैतद्विजृम्भितम् । दरिद्राः कर्तितोपाङ्गा नराः प्रास्ताधिकारकाः ॥११७
न वाच्यं द्यूतमात्रं स्यादेकं तद्व्यसनं मनाक् । चौर्यादि सर्वव्यसनपतिरेष न संशयः ॥११८
विद्यन्तेऽत्राप्यतीचारास्तत्समा इव केचन । जेतव्यास्तेऽपि दृग्मार्गे लग्नैः प्रत्यग्रबुद्धिभिः ॥११९
अन्योन्यस्येर्षया यत्र विजिगीषा द्वयोरिति । व्यवसायादृते कर्म द्यूतातीचार इष्यते ॥१२०
यथाऽहं धावयाम्यत्र यूयं चाऽप्यत्र धावत । यदातिरिक्तं गच्छेयं त्वत्तो गृह्णामि चेप्सितम् ॥१२१

संक्षेपमें गृहस्थोंके समुदाय रूप मूलगुणोंका वर्णन किया । इसके आगे जो गृहस्थोंके अणुव्रत गुणव्रत शिक्षाव्रत आदि गुण हैं, व्रत हैं, वे सब अर्थात् उत्तरगुण कहलाते हैं ॥१११॥ उन अणुव्रत, गुणव्रत तथा शिक्षाव्रतोंका वर्णन थोड़ेसे विस्तारके साथ उनके कथन करनेके समय करेंगे । इस समय प्रसंग पाकर सातों व्यसनोंके त्यागका वर्णन करते हैं ॥११२॥ जुआ खेलना, मांस भक्षण करना, शराब पीना, वेश्या सेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्री सेवन करना ये सातों महापाप व्यसन कहलाते हैं । बुद्धिमान् जनोंको इन सातों व्यसनोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥११३॥ जिस क्रियामें खेलनेके पासे डालकर धनकी हार-जीत होती है वह सब जूआ कहलाता है अर्थात् हार जीतकी शर्त लगाकर तास खेलना, चौपड़ खेलना, शतरंज खेलना, नक्कीमूठ खेलना आदि सब जुआ कहलाता है ॥११४॥ यह जुआ खेलना संसार भरमें प्रसिद्ध है । उसी समय महा अशुभ कर्मोंका बंध करनेवाला है और समस्त आपत्तियोंको उत्पन्न करनेवाला है ऐसा समझकर धर्ममें प्रेम करनेवाले श्रावकोंको इसका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥११५॥ जो लोग इस जुआमें लीन हुए हैं वे सब नष्ट हुए हैं । युधिष्ठिर आदिको इस जुआ खेलनेके ही कारण अनेक आपत्तियाँ उठानी पड़ी थीं, जुआ खेलनेवालोंको अनेक आपत्तियाँ उठानी पड़ीं और अनेक दुःख भोगने पड़े । इन सब चरित्रोंको कहनेवाली बहुत सी कथाएँ हैं ॥११६॥ इस जुआ खेलनेका फल प्रतिदिन सुना जाता है और प्रतिदिन देखा जाता है । इस जुआ खेलनेसे लोग दरिद्र हो जाते हैं, उनके अंग उपांग सब काटे जाते हैं तथा और भी अनेक प्रकारके दुःख उन्हें भोगने पड़ते हैं ॥११७॥ इस जुआ खेलनेको एक ही व्यसन नहीं समझना चाहिये और न इसे छोटा सा व्यसन समझना चाहिये । किन्तु यह जुआ खेलनेका व्यसन चोरी आदि सब व्यसनोंका स्वामी है इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है ॥११८॥ इस जुआ खेलनेके त्यागरूप व्रतके कितने ही अतिचार हैं जो कि जुआ खेलनेके ही समान हैं इसलिए सम्यग्दर्शनके मार्गमें लगे हुए तीव्र बुद्धि श्रावकोंको इन अतिचारोंका त्याग भी अवश्य कर देना चाहिए ॥११९॥ जैसे अपने-अपने व्यापारके कार्योंके सिवाय कोई भी दो पुरुष परस्पर एक दूसरेकी ईर्ष्यासे किसी भी कार्यमें एक दूसरेको जीतना चाहते हों तो उन दोनोंके द्वारा उस कार्यका करना भी जुआ खेलनेका अतिचार कहलाता है ॥१२०॥ जैसे मैं यहाँसे इस स्थानसे दौड़ना प्रारम्भ करता हूँ तू भी मेरे साथ दौड़ लगा । हम दोनोंमेंसे जो मैं आगे निकल जाऊँगा तो तुझसे अपनी इच्छा पूरी कर लूँगा । इस प्रकारकी शर्त

इत्येवमादयोऽप्यन्ये द्यूतातीचारसंज्ञिकाः । क्षपणीया क्षणादेव द्यूतत्यागोन्मुखैर्नरैः ॥१२२
मांसस्य भक्षणे दोषाः प्रागेवात्र प्रपं[illegible] : । पुनरुक्तभयाद् भूयो नीता नोद्देशप्रक्रियाम् ॥१२३
कर्म तत्र प्रवृत्तिः स्यादासक्तिर्व्यसनं महत् । प्रवृत्तिर्यत्र त्याज्या स्यादासक्तेस्तत्र का कथा ॥१२४
मैरेयमपि नादेयमित्युक्तं प्रागितो यतः । ततोऽद्य वक्तव्यतायां पिष्टपेषणदूषणम् ॥१२५
प्राग्वदत्र विशेषोऽस्ति महानप्यविवक्षितः । सामान्यलक्षणाभावे तद्विशेषक्षतिर्यथा ॥१२६
प्रवृत्तिस्तु क्रियामात्रमासक्तिर्व्यसनं महत् । त्यक्तायां तत्प्रवृत्तौ वै का कथाऽऽसक्तिवर्जने ॥१२७
तदलं बहुनोक्तेन तद्गन्धोऽवद्यकारणम् । स्मृतमात्रं हि तन्नाम धर्मध्वंसाय जायते ॥१२८
पण्यस्त्री तु प्रसिद्धा या वित्तार्थं सेवते नरम् । तन्नाम दारिका दासी वेश्या पत्तननायिका ॥१२९
तत्त्यागः सर्वतः श्रेयान् श्रेयोऽर्थं यततां नृणाम् । म [illegible] ंसादिदोषान्वै निःशेषान् त्यक्तुमिच्छताम् १३०
आस्तां तत्सङ्गमे दोषो दुर्गतौ पतनं नृणाम् । इहैव नरकं नूनं वेश्याव्यासक्तचेतसाम् ॥१३१

लगाकर दौड़ना या और कोई ऐसा ही काम करना जुआका अतिचार है ॥१२१॥ इसी प्रकार ऐसे ही ऐसे और भी कितने ही जुआके अतिचार हैं। जिन गृहस्थोंने जुआ खेलनेका त्याग कर दिया है उनको ऐसे जुआके अतिचारोंका उसी समय त्याग कर देना चाहिए ॥१२२॥ मांस भक्षणके दोष पहले विस्तारके साथ कह चुके हैं इसलिए पुनरुक्त दोषके भयसे यहाँ पर उनका वर्णन नहीं किया है ॥१२३॥ मांस भक्षणमें प्रवृत्ति होना मांस कर्म कहलाता है और मांस भक्षणमें आसक्त होना तो मांस भक्षण नामका सबसे बड़ा व्यसन कहलाता है। जब कि मांस भक्षणकी प्रवृत्ति ही त्याज्य है, त्याग करनेके योग्य है, फिर भला आसक्तिकी तो कथा ही क्या है ? ॥१२४॥ इसी प्रकार मद्य या शराबका त्याग कर देना चाहिए। इसी बातको पहले अच्छी तरह कह चुके हैं। यदि इस समय फिर कहा जायगा तो पिष्टपेषण दूषण होगा अर्थात् जिस प्रकार पिसे हुएको फिर पीसना व्यर्थ है उसी प्रकार शराबके दोष पहले लिख चुके हैं अब फिर लिखना व्यर्थ है ॥१२५॥ यद्यपि विशेष कहनेकी यहाँ पर कुछ विवक्षा नहीं है तथापि मूलगुणोंमें जो मांसका त्याग कराया है उससे यहाँ पर कुछ विशेषता है। जहाँ किसीका सामान्य लक्षण कहा जाता है वहाँपर उसका विशेष भी त्याग करा चुके हैं तो फिर विशेष रीतिसे त्याग करानेको भी अवश्य आवश्यकता होती है। वही विशेष त्याग यहाँ पर कराया है ॥१२६॥ शराब पीनेकी क्रिया करना शराबकी प्रवृत्ति कहलाती है और उसमें अत्यन्त आसक्त होना व्यसन कहलाता है। जब उसकी प्रवृत्तिका ही त्याग कराया जाता है तो फिर उसमें आसक्त होनेका त्याग तो अवश्य करना चाहिए ॥१२७॥ इसलिए अधिक कहनेसे कुछ लाभ नहीं है शराबकी गंध भी महापाप उत्पन्न करनेवाली है। शराबका नाम भी स्मरण मात्रसे धर्मका नाश हो जाता है फिर भला उस शराबको किसी काममें लाने या पीनेसे तो धर्मकी रक्षा कभी हो ही नहीं सकती ॥१२८॥ जो स्त्री केवल धनके लिये पुरुषका सेवन करती है उसको वेश्या कहते हैं। ऐसी वेश्यायें संसारमें प्रसिद्ध हैं। उन वेश्याओंको दारिका, दासी, वेश्या या नगरनायिका आदि नामोंसे पुकारते हैं ॥१२९॥ जो मनुष्य अपने आत्माके कल्याणके लिये प्रयत्न करना चाहते हैं और मद्य मांस आदिके समस्त दोषोंको त्याग कर देना चाहते हैं उनको इस वेश्या सेवनका त्याग अवश्य कर देना चाहिए। ऐसे पुरुषोंके लिए पूर्ण रूपसे वेश्या सेवनका त्याग कर देना ही कल्याणकारी है ॥१३०॥ वेश्या सेवन करनेसे अनेक दोष उत्पन्न होते हैं तथा मनुष्योंको नरकादिक दुर्गतियोंमें पड़ना पड़ता है, यदि इन परलोकके

उक्तं च—

याः खादन्ति पलं पिबन्ति च सुरां जल्पन्ति मिथ्यावचः
स्निह्यन्ति द्रविणार्थमेव विदधत्यर्थप्रतिष्ठाक्षतिम् ।
नीचानामपि दूरव नसः पापात्मिका कुर्वते
लालापानमहर्निशं न नरकं वेश्यां विहायापरम् ॥९
रजकशिलास ाभिः कुक्कुरकर्परसमा रिताभिः ।
वेश्याभिर्यदि सङ्गः कृतमिव परलो ाभिः ॥१०

प्रसिद्धैर्बहुभिस्तस्यां प्राप्ता दुःखपरम्पराः । श्रेष्ठिना चारुदत्तेन विख्यातेन यथा पराः ॥१३२
यावान् पापभरो यादृग्दारिका दरिकर्मणः । कविनापि न वा तावान् क्वापि वक्तुं च शक्यते ॥१३३
आस्तां च दत्र चित्रकादिरुजो नृणाम् । नारकादिगतिभ्रान्तेर्यद् दुःखं जन्मजन्मनि ॥१३४

दुःखोंकी उपेक्षा भी करें तो जिनका हृदय वेश्या सेवनमें लीन हो रहा है उनको इस जन्ममें ही निश्चयसे नरककी अनेक यातनायें या अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं। उनके लिये यह लोक ही, यह जन्म ही नरक बन जाता है ॥१३१॥

कहा भी है—यह पापिनी वेश्या मांस खाती है, शराब पीती है, झूठ बोलती है, केवल धनके लिए प्रेम करती है, अपने धन और प्रतिष्ठाका नाश करती है और कुटिल मनसे या बिना मनके नीच लोगोंकी लारको भी रात-दिन चाटती रहती है इसलिये कहना चाहिये कि वेश्याको छोड़कर संसारमें और कोई नरक नहीं है। वेश्या ही घोर नरक है। यह वेश्या धोबीकी शिलाके समान है अर्थात् जिस प्रकार धोबीकी शिलापर ऊँच-नीच अनेक घरोंके बुरेसे बुरे मैल आकर बहते हैं उसी प्रकार वेश्याके शरीरपर भी ऊँच-नीच अनेक पुरुषोंके घृणितसे घृणित और अत्यन्त निन्दनीय ऐसे वीर्य या लार आदि मल आकर बहते हैं, इसके सिवाय वह वेश्या कुत्तेके मुँहमें लगे हुए हड्डीके खप्परके समान आचरण करती रहती है अर्थात् जिस प्रकार उस खप्परको चबाने वाला कुत्ता उस खप्परको चबाता है और उसके चबानेसे जो मुँहके भीतरी गलपटोंसे रुधिरकी धारा बहती है उसको वह कुत्ता समझता है यह मीठी-मीठी रुधिरकी धारा इस खप्परसे ही निकली है उसी प्रकार वेश्या सेवन करनेवाला अपने धनकी हानि करता है और फिर भी उस वेश्याके सेवन करनेसे आनन्द मानता है। ऐसी वेश्याके साथ जो पुरुष समागम करते हैं वे साथ ही साथ परलोककी बातचीत भी अवश्य कर लेते हैं। वेश्याका सेवन करनेवाले पुरुष अवश्य ही परलोक बिगाड़ लेते हैं इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है ॥९-१०॥

इस वेश्या सेवनमें आसक्त होनेके कारण अनेक लोगोंने अनेक प्रकारके दुःख पाये हैं और जन्म-जन्मान्तर तक दुःख पाये हैं सो शास्त्रमें प्रसिद्ध ही है। जैसे अत्यन्त प्रसिद्ध सेठ चारुदत्तने इस वेश्या सेवनसे ही अनेक प्रकारके दुःख सहे थे ॥१३२॥ इस संसारमें वेश्याएँ अपनी वेश्या वृत्तिसे जितने पाप उत्पन्न करती हैं उन सबको कवि भी नहीं कह सकते फिर भला औरोंकी तो बात ही क्या है ॥१३३॥ वेश्या सेवन करनेसे मनुष्योंको इसी जन्ममें गर्मी उपदंश आदि अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। यदि उनको न भी गिना जाय तो भी यह मनुष्य उस वेश्या सेवनके महापापसे अनेक जन्मों तक नरकादिक दुर्गतियोंके परिभ्रमणसे उत्पन्न होनेवाले अत्यन्त घोर दुःख सहता

न वाच्यमेकमेवैतत्तावन्मात्राल्पदोषतः । द्यूतादिव्यसनासक्तेः कारणं धर्मध्वंसकृत् ॥१३५
सुगमत्वाद्धि निस्तारप्रयासो न कृतो मया । दोषः सर्वप्रसिद्धोऽत्र वावदूकतया कृतम् ॥१३६
सन्ति तत्राप्यतीचाराश्चतुर्थव्रतवर्तिनः । निर्देक्ष्यामो वयं तांस्तान् तत्तत्रावसरे यथा ॥१३७
ख्यातः पण्याङ्गनात्यागः संक्षेपादक्षप्रत्ययात् । आखेटकपरित्यागः साधीयानिति शस्यते ॥१३८
अन्तर्भावोऽस्ति तस्यापि गुणाणुव्रतसंज्ञकैः । अनर्थदण्डत्यागाख्ये वाह्यानर्थक्रियादिवत् ॥१३९
तत्तत्रावसरेऽवश्यं वक्ष्यामो नातिविस्तरात् । प्रसङ्गाद्वा तदत्रापि दिग्मात्रं वक्तुमर्हति ॥१४०
ननु चानर्थदण्डोऽस्ति भोगादन्यत्र याः ि : । आत्मानन्दाय यत्कर्म तत्कथं स्यात्तथाविधम् ॥१४१
यथा स्रक्चन्दनं योषिद्वस्त्राभरणभोजनम् । सुखार्थं सर्वमेवैतत्तथाखेटक्रियाऽपि च ॥१४२
मैवं तीव्रानुभागस्य वन्धः प्रमादगौरवात् । प्रमादस्य निवृत्त्यर्थं स्मृतं व्रतकदम्बकम् ॥१४३
स्रक्चन्दनवनितादौ क्रियायां वा सुखाप्तये । भोगभावो सुखं तत्र हिंसा स्यादानुषङ्गिकी ॥१४४

रहता है ॥१३४॥ वेश्या सेवन करनेवाला जन्म-जन्म तक नरकादिक दुर्गतियोंके दुःख सहता रहता है। उसको यही एक दुःख भोगना पड़ता है यह वात नहीं कहनी चाहिये क्योंकि ऐसा कहनेसे वेश्या सेवनमें थोड़ा दोष सिद्ध होता है। परन्तु वेश्यासेवन करना सवसे वड़ा महादोष है। जुआ खेलनेके व्यसनमें लीन होनेका कारण यह वेश्यासेवन ही है। धर्मका नाश करनेवाला यह वेश्यासेवन ही है ॥१३५॥ वेश्यासेवनके दोषोंका जान लेना अत्यन्त सुगम है इसलिये इसके दोष विस्तारके साथ वर्णन नहीं किये हैं। इसके सिवाय इस वेश्या सेवनके दोष वाल गोपाल तक सव लोगोंमें प्रसिद्ध हैं इसीलिये व्यर्थ ही अधिक कहनेसे कोई लाभ नहीं है ॥१३६॥ इस वेश्या सेवनके त्याग रूप चतुर्थ व्रह्मचर्याणुव्रतको धारण करनेवाले पुरुषोंके लिये इस वेश्या सेवनके त्यागमें भी कितने ही अतिचार लगते हैं। जिनको हम समयानुसार व्रह्मचर्याणुव्रतका वर्णन करते समय वर्णन करेंगे ॥१३७॥ इस प्रकार इन्द्रियोंके द्वारा प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले दोषोंका वर्णन कर अत्यन्त संक्षेपसे वेश्या सेवनके त्यागका वर्णन किया। अव आगे शिकार खेलनेका त्याग करना भी अत्यन्त प्रशंसनीय है इसलिये उसका वर्णन करते हैं ॥१३८॥

यद्यपि शिकार खेलना वाह्य अनर्थ क्रियाओंके समान है। इसलिये उसका त्याग अनर्थदण्डत्याग नामके गुणव्रतमें अन्तर्भूत हो जाता है ॥१३९॥ इस अनर्थदण्डत्यागका वर्णन करते समय थोड़ेसे विस्तारके साथ इसका भी अवश्य वर्णन करेंगे तथापि प्रसंग पाकर थोड़ा-सा वर्णन यहाँ भी कर देते हैं ॥१४०॥ प्रश्न—भोगोपभोगोंके सिवाय जो क्रियायें की जाती हैं उनको अनर्थदण्ड कहते हैं परन्तु शिकार खेलनेसे आत्माको आनन्द प्राप्त होता है इसलिये शिकार खेलना अनर्थदण्ड नहीं है किन्तु जिस प्रकार पुष्पमाला, चन्दन, स्त्रियाँ, वस्त्र, आभरण, भोजन आदि समस्त पदार्थ आत्माको सुख देनेवाले हैं, आत्माको सुख देनेके लिये काममें लाये जाते हैं उसी प्रकार शिकार खेलनेसे भी आत्माको सुख प्राप्त होते हैं। इसलिये वह अनर्थदण्ड कभी नहीं हो सकता ? ॥१४१–१४२॥ उत्तर—परन्तु ऐसी शंका करना ठीक नहीं है। क्योंकि प्रमादकी अधिकता होनेसे अनुभागवन्धकी अत्यन्त तीव्रता हो जाती है और प्रमादको दूर करनेके लिये ही समस्त व्रत पाले जाते हैं। शिकार खेलनेसे अशुभ कर्मोंमें अत्यन्त तीव्र फल देनेकी शक्ति पड़ती है। इसलिये शिकार खेलना भोगोपभोगकी सामग्री नहीं है किन्तु महा प्रमाद रूप है ॥१४३॥ माला चन्दन स्त्री आदिके सेवन करनेमें सुखकी प्राप्तिके लिये केवल भोगोपभोग सेवन करनेके भाव किये जाते

आखेटके तु हिंसायाः भावः स्याद्भूरिजन्मिनः। पश्चाद्दैवानुयोगेन भोगः स्याद्वा न वा क्वचित् १४५
हिंसानन्देन तेनोच्चैरौद्रध्यानेन प्राणिनाम्। नारकस्यायुषो बन्धः स्यान्निर्दिष्टो जिनागमे ॥१४६
ततोऽवश्यं हि हिंसायां भावश्चानर्थदण्डकः। त्याज्यः प्रागेव सर्वेभ्यः संक्लेशेभ्यः प्रयत्नतः ॥१४७
तत्रावान्तररूपस्य मृगयाभ्याससकर्मणः। त्यागः श्रेयानवश्यं स्यादन्यथाऽसातबन्धनम् ॥१४८
अतीचारास्तु तत्रापि सन्ति पापानुयायिनः। यानपास्य व्रतिकोऽपि निर्मलीभवति ध्रुवम् ॥१४९
कार्यं विनापि क्रीडार्थं कौतुकार्थमथापि च। कर्तव्यमटनं नैव वापीकूपादिवर्त्मसु ॥१५०
पुष्पादिवाटिकासूच्चैर्वनेषूपवनेषु च। सरित्तडागक्रीडाद्रिसरःशून्यगृहादिषु ॥१५१
शस्याधिष्ठानक्षेत्रेषु गोष्ठीनेष्वन्यवेश्मसु। कारागारगृहेषुच्चैर्मठेषु नृपवेश्मसु ॥१५२
एवमित्यादिस्थानेषु विना कार्यं न जातुचित्। कौतुकादिविनोदार्थं न गच्छेन्मृगयोज्झितः ॥१५३

हैं तथा उनके सेवन करनेसे सुख मिलता भी है और उसमें जीवहिंसा होती है वह प्रसंगानुसार होती है। शिकार खेलनेके लिये जब घरसे निकलता है तब पशु-पक्षियोंके मारनेके परिणामोंको लेकर ही घरसे निकलता है। तदनन्तर उसके कर्मोंके उदयके अनुसार भोगोपभोगकी प्राप्ति होती भी है और नहीं भी होती। शिकार खेलनेवाला प्राणियोंको मारनेके ही अभिप्रायसे जाता है परन्तु यह बात दूसरी है कि उसके हाथसे कोई जीव मरे या न मरे उसके परिणाम हिंसारूप ही रहते हैं ॥१४४–१४५॥ शिकार खेलना हिंसामें आनन्द मानना है और हिंसामें आनन्द मानना रौद्रध्यान है तथा ऐसे रौद्रध्यानसे प्राणियोंको नरकायुका ही बन्ध होता है ऐसा जैनशास्त्रोंमें वर्णन किया है ॥१४६॥ इसलिये मानना पड़ता है कि इस प्रकारकी हिंसा करनेमें अपने परिणाम रखना अवश्य ही अनर्थदण्ड है और इसीलिये समस्त संक्लेशरूप परिणामोंके त्याग करनेके पहले इस शिकार खेलनेका त्याग बड़े प्रयत्नसे बड़ी सावधानीसे कर देना चाहिये ॥१४७॥ शिकार खेलनेका अभ्यास करना, शिकार खेलनेकी मनोकामना रखकर निशान मारनेका अभ्यास करना तथा और भी ऐसी ही ऐसी शिकार खेलनेकी साधनरूप क्रियाओंका करना भी सब इसी शिकार खेलनेमें ही अन्तर्भूत होता है। इसलिये ऐसी क्रियाओंका, ऐसे अभ्यास करनेका त्याग भी अवश्य कर देना चाहिये क्योंकि ऐसी क्रियाओंका त्याग करना भी कल्याण करनेवाला है। यदि ऐसी हिंसारूप क्रियाओंका त्याग नहीं किया जायगा तो फिर उन क्रियाओंसे दुःख देनेवाले अशुभ या असाता वेदनीय कर्मोंका ही बन्ध होगा ॥१४८॥ इस शिकार खेलनेके त्याग करने रूप व्रतके कितने ही अतिचार हैं जो शिकार खेलनेके समान ही पाप उत्पन्न करनेवाले हैं। उन समस्त अतिचारोंका त्याग कर व्रती गृहस्थ भी अत्यन्त निर्मल हो जाता है, इसलिए अपने व्रत निर्मल करनेके लिए अतिचारोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥१४९॥ विना किसी अन्य प्रयोजनके केवल क्रीड़ा करनेके लिए अथवा केवल तमाशा देखनेके लिए इधर-उधर नहीं घूमना चाहिये, किसी बावड़ी या कुआँके मार्गमें या और भी ऐसे ही स्थानोंमें विना प्रयोजनके कभी नहीं घूमना चाहिये ॥१५०॥ जिसने शिकार खेलनेका त्याग कर दिया है उसको विना किसी अन्य कार्यके केवल तमाशा देखनेके लिये या केवल मन बहलानेके लिए पौधे फूल वृक्ष आदिके बगीचोंमें, बड़े-बड़े वनोंमें, उपवनोंमें, नदियोंमें, सरोवरोंमें, क्रीड़ा करनेके छोटे-छोटे पर्वतोंपर, क्रीड़ा करनेके लिये बनाये हुए तालाबोंमें, सूने मकानोंमें, गेहूँ, जौ, मटर आदि अन्न उत्पन्न होनेवाले खेतोंमें, पशुओंके बाँधनेके स्थानोंमें, दूसरोंके घरोंमें, जेलखानोंमें, बड़े-बड़े मठोंमें, राजमहलोंमें या और भी ऐसे

तस्करादिविघातार्थं स्थानेषु चण्डभीरुषु । योद्धुमुत्सुकभूपादियोग्यासु युद्धभूमिषु ॥१५४
गीतनादविवाहादिनाटचशालादिवेश्मसु । हिंसारम्भेषु कूपादिखननेषु च कर्म्मसु ॥१५५
न कर्तव्या मतिर्धीरैः स्वप्नमात्रे मनागपि । केवलं कर्मबन्धाय मोहस्यैतद्धि स्फूर्जितम् ॥१५६
गच्छन्नप्यात्मकार्यार्थं गच्छेद् भूमिं विलोकयन् । युगदघ्नां दृशा सम्यगीर्यासंशुद्धिहेतवे ॥१५७
तत्र गच्छन्न छिन्द्याद्वा तरुपर्णफलादिकान् । पद्भ्यां दोर्भ्यां न कुर्वीत जलस्फालनकर्म च ॥१५८
शर्करादिपरिक्षेपं प्रस्तरैर्भूमिकुट्टनम् । इतस्ततोऽटनं चापि क्रीडाकूर्दनकर्म च ॥१५९
हिंसोपदेशमित्यादि न कुर्वीत विचक्षणः । प्राक्पदव्यामिवारूढः सर्वतोऽनर्थदण्डमुक् ॥१६०

व्याख्यातो मृगयादोषः सर्वज्ञाज्ञानतिक्रमात् ।
अर्गलेवाव्रतादीनां व्रतादीनां सहोदरः ॥१६१

अथ चौर्यव्यसनस्य त्यागः श्रेयानिति स्मृतः । तृतीयाणुव्रतस्यान्तर्भावो चाप्यत्र सूत्रितः ॥१६२
तल्लक्षणं यथा सूत्रे निर्दिष्टं पूर्वसूरिभिः । यद्यददत्तादानं तत्स्तेयं स्तेयविवर्जितैः ॥१६३

ही ऐसे स्थानोंमें कभी नहीं जाना चाहिये ॥१५१–१५३॥ जिन स्थानोंमें चोर, डाकू, हत्यारे आदि महा अपराधी मनुष्योंको प्राण दण्ड दिया जाता हो ऐसे अत्यन्त भयानक और भय उत्पन्न करनेवाले स्थानोंमें जहाँपर युद्ध करनेकी इच्छा करनेवाले राजा सेनापति आदि लोग युद्ध कर सकें ऐसी युद्ध करने योग्य युद्धभूमिमें, जिनमें गाना, नाचना, उत्सव, विवाह, नाटक आदि होते हों ऐसे स्थानोंमें जानेके लिये वीरवीर पुरुषको स्वप्नमें भी कभी वुद्धि नहीं करनी चाहिए, इसी प्रकार जिनमें वहुत-सी हिंसा या आरम्भ होता हो ऐसे कुआँ वावड़ी खुदाने आदिके कार्योंके करनेमें स्वप्नमें भी कभी अपनी थोड़ी-सी वुद्धि भी नहीं करनी चाहिये क्योंकि ऐसे स्थानोंमें जानेसे या ऐसे स्थानोंको वनवानेसे केवल अशुभ कर्मोंका ही वन्ध होता है तथा मोहनीय कर्मके तीव्र उदयसे ही ऐसे स्थानोंमें जानेके लिये या ऐसे काम करनेके लिये वुद्धि उत्पन्न होती है, इसलिये यह सव मोहकर्मका ही कार्य समझना चाहिये ॥१५४–१५६॥ व्रती गृहस्थको जव कभी अपने कार्यके लिये भी कहीं जाना हो तो उसे शुद्ध ईर्यापथ पालन करनेके लिये अपने दोनों नेत्रोंसे शरीर प्रमाण चार हाथ पृथ्वीको देखते हुए जाना चाहिये ॥१५७॥ मार्गमें चलते हुए व्रती गृहस्थको अपने पैरोंसे छोटे-छोटे पौवे, पत्ते या फल नहीं तोड़ते या काटने चाहिये तथा अपने दोनों पैरों व हाथोंसे पानीको उछालना नहीं चाहिये ॥१५८॥ इसी प्रकार ढेले-पत्थर फेंकना, पत्थरोंसे पृथ्वीको कूटना, इधर-उधर घूमना, केवल मनोविनोदके लिये कूदना, हिंसाका उपदेश देना इत्यादि विना प्रयोजनके व्यर्थ ही हिंसा उत्पन्न होनेवाले कार्य पूर्णरूपसे अनर्थदण्डोंका त्याग करनेवाले तथा पहली दर्शनप्रतिमाको धारण करनेवाले चतुर गृहस्थको कभी नहीं करने चाहिये ॥१५९–१६०॥ इस प्रकार भगवान् सर्वज्ञदेवकी आज्ञाके अनुसार शिकार खेलनेके दोष वतलाये । इन दोषोंके त्याग कर देनेसे सव अव्रत रुक जाते हैं और व्रतोंको अत्यन्त सहायता पहुँचती है ॥१६१॥

आगे चोरी करने रूप व्यसनका त्याग करनेके लिये उपदेश देते हैं, क्योंकि चोरीका त्याग कर देना भी इस जीवके लिये कल्याणकारी है । यद्यपि चोरीका त्याग तीसरे अचौर्य अणुव्रतमें अन्तर्भूत होता है तो भी व्यसन रूपसे त्याग करनेका यहाँ उपदेश दिया है ॥१६२॥ अचौर्य महाव्रतको धारण करनेवाले पहलेके आचार्योंने चोरीका लक्षण करते हुए वतलाया है कि जो दूसरेका विना दिया हुआ पदार्थ ग्रहण कर लेता है वह चोरी है ॥१६३॥ उस चोरी करने रूप कार्यमें अत्यन्त

व्यसनं स्यात्तत्रासक्तिः प्रवृत्तिर्वा मुहुर्मुहुः । यद्वा व्रतादिना क्षुद्रैः परित्यक्तुमशक्यता ॥१६४
तदेतद्व्यसनं नूनं निषिद्धं गृहमेधिनाम् । ारदुःखभीरूणामशरीरसुखैषिणाम् ॥१६५
तत्स्वरूपं प्रवक्ष्यामः पुरस्तादल्पविस्तरात् । उच्यतेऽत्रापि दिग्मात्रं सोपयोगि प्रसङ्गसात् ॥१६६

उक्तः प्राणिवधो हिंसा स्यादधर्मः स दुःखदः ।
नार्थाज्जीवस्य नाशोऽस्ति किन्तु वन्धोऽत्र पीडया ॥१६७

ततोऽवश्यं हि पापः स्यात्परस्वहरणे नृणाम् । यादृशं मरणे दुःखं तादृशं द्रविणक्षतौ ॥१६८
एवमेतत्परिज्ञाय दर्शनश्रावकोत्तमैः । कर्तव्या न मतिः क्वापि परदारधनादिषु ॥१६९
आस्तां परस्वस्वीकाराद्यद् दुःखं नारकादिषु । यदत्रैव भवेद् दुःखं तद्वक्तुं कः क्षमो नरः ॥१७०
चौर्यासक्तो नरोऽवश्यं नासिकादिक्षतिं लभेत् । गर्दभारोपणं चापि यद्वा पञ्चत्वमाप्नुयात् ॥१७१
उद्विग्नो विघ्नशङ्की च भ्रान्तोऽनवस्थचित्तकः । न क्षणं तिष्ठते स्वस्थः परवित्तहरो नरः ॥१७२
परस्वहरणासक्तैः प्राप्ता दुःखपरम्पराः । श्रूयते तत्कथा शास्त्राच्छिवभूतिर्द्विजो यथा ॥१७३

आसक्त होना अथवा चोरी करनेमें वार-वार प्रवृत्ति करना चोरीका व्यसन कहलाता है अथवा क्षुद्रपुरुष जो अचौर्य आदि व्रतोंको धारण कर चोरी आदिका त्याग नहीं कर सकते उसको भी चोरीका व्यसन कहते हैं ॥१६४॥ जो संसारके दुःखोंसे भयभीत हैं और आत्मजन्य सुखोंकी इच्छा करते हैं ऐसे गृहस्थोंके लिये यह चोरीका व्यसन अवश्य ही त्याग करने योग्य वतलाया है अर्थात् व्रती गृहस्थोंको इस चोरीके व्यसनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥१६५॥ आगे अचौर्य अणुव्रत-का वर्णन करते समय थोड़ेसे विस्तारके साथ इसका वर्णन करेंगे, परन्तु यहाँ भी प्रकरणके अनुरोधसे थोड़ा-सा वर्णन कर देते हैं ॥१६६॥ शास्त्रोंमें कहा है कि प्राणियोंका वध करना हिंसा है तथा हिंसा करना ही अधर्म है और अत्यन्त दुःख देनेवाला है। यद्यपि दूसरेका धन हरण करनेमें जीवका नाश नहीं होता है तथापि उसको जो मानसिक महासन्ताप और वेदना होती है उससे चोरी करनेवालोंको अशुभ कर्मोंका तीव्र वन्ध होता है और इसीलिये चोरी करनेवाले मनुष्योंको अवश्य महापाप उत्पन्न होता है क्योंकि जिसका धन हरण किया जाता है उसको जैसा मरनेमें दुःख होता है वैसा ही दुःख धनके नाश हो जानेपर होता है ॥१६७–१६८॥ ऊपर लिखे अनुसार चोरी करनेके महादोषोंको समझकर दर्शनप्रतिमा धारण करनेवाले उत्तम श्रावकों-को दूसरेकी स्त्री या दूसरेका धन हरण करनेके लिये कभी भी अपनी वुद्धि नहीं करनी चाहिये ॥१६९॥ दूसरेका धन हरण करनेसे या चोरी करनेसे जो नरकादिक दुर्गतियोंमें महादुःख होता है वह तो होता ही है किन्तु ऐसे लोगोंको इस जन्ममें ही जो दुःख होते हैं उनको भी कोई मनुष्य कह नहीं सकता ॥१७०॥ जो मनुष्य चोरी करनेमें आसक्त रहता है पकड़े जानेपर उसकी नाक काट ली जाती है या हाथ काट लिये जाते हैं, उसे गधेपर चढ़ाकर वाजारमें घुमाया जाता है और अन्तमें उसे प्राणदण्ड दिया जाता है ॥१७१॥ जो मनुष्य दूसरेका धन हरण करता है उसके चित्तमें सदा उद्वेग या भय वना रहता है, उसे पद-पदपर विघ्नोंकी शंका वनी रहती है, उसका हृदय हर समय इधर-उधर घूमा करता है, उसका चित्त सदा डावांडोल रहता है और वह एक क्षण भी निराकुल नहीं रह सकता ॥१७२॥ दूसरेके धन हरण करनेमें आसक्त रहनेवाले लोगोंने पहले जन्म-जन्मान्तर तक अनेक प्रकारके दुःख पाये हैं। जिनकी कथायें शास्त्रोंसे सुनी जाती हैं। जैसे शिवभूति ब्राह्मणने चोरी करनेसे ही अनेक प्रकारके दुःख पाये थे ॥१७३॥ चोरी करने-

न केवलं हि श्रूयन्ते दृश्यन्तेऽत्र समक्षतः । यतोऽद्यापि चुरासक्तो निग्रहं लभते नृपात् ॥१७४
सन्ति तत्राप्यतीचाराश्चौर्यत्यागव्रतस्य च । तानवश्यं यथास्थाने ब्रूमो नातीवविस्तरात् ॥१७५
अथान्ययोषिद्व्यसनं दूरतः परिवर्जयेत् । आशीविषमिवासां यच्चरित्रं स्याज्जगत्त्रये ॥१७६
तुर्याणुव्रते तस्यान्तर्भावः स्यादस्य लक्षणात् । लक्ष्यतेऽत्रापि दिग्मात्रं प्रसङ्गादिह साम्प्रतम् ॥१७७
देवशास्त्रगुरून्नत्वा बन्धुवर्गात्मसाक्षिकम् । पत्नी पाणिगृहीता स्यात्तदन्या चेटिका मता ॥१७८
तत्र पाणिगृहीता या सा द्विधा लक्षणाद्यथा । आत्मज्ञातिः परज्ञातिः कर्मभूरूढिसाधनात् ॥१७९
परिणीतात्मज्ञातिश्च धर्मपत्नीति सैव च । धर्मकार्ये हि सध्रीची यागादौ शुभकर्मणि ॥१८०
सुनूस्तस्याः समुत्पन्नः पितुर्धर्मेऽधिकारवान् । सः पिता तु परोक्षः स्याद्दैवात्प्रत्यक्ष एव वा ॥१८१
सः सूनुः कर्मकार्येऽपि गोत्ररक्षादिलक्षणे । सर्वलोकाविरुद्धत्वादधिकारी न चेतरः ॥१८२
परिणीतानात्मज्ञातिर्या पितृसाक्षिपूर्वकम् । भोगपत्नीति सा ज्ञेया भोगमात्रैकसाधनात् ॥१८३

वालोंके दुःखोंकी कथायें केवल सुनी ही नहीं जाती हैं अपितु इस समयमें भी प्रत्यक्ष देखी जाती हैं क्योंकि आजकल भी चोरी करनेवाले लोगोंको राज्यकी ओरसे अनेक प्रकारके कठोर दण्ड दिये जाते हैं ॥१७४॥ इस चौर्यत्यागव्रतके कितने ही अतिचार हैं उनको भी समयानुसार अचौर्याणुव्रतका वर्णन करते समय थोड़ेसे विस्तारके साथ अवश्य वर्णन करेंगे ॥१७५॥ अब आगे परस्त्री व्यसनके त्यागका वर्णन करते हैं। जिन स्त्रियोंका चरित्र लोकोंमें सर्पके महाविषके समान प्रसिद्ध है ऐसी परस्त्रियोंके सेवन करनेका त्याग भी अवश्य कर देना चाहिये तथा दूरसे ही कर देना चाहिये ॥१७६॥ परस्त्री त्याग व्रतका जो लक्षण है उससे यह व्रत चौथे अणुव्रतमें अन्तर्भूत होता है तथापि इस समय प्रकरण पाकर यहाँपर उसका थोड़ा सा वर्णन करते हैं ॥१७७॥ देव शास्त्र गुरुको नमस्कारकर तथा अपने भाई वन्धुओंकी साक्षीपूर्वक जिस कन्याके साथ विवाह किया जाता है वह विवाहिता स्त्री कहलाती है। ऐसी विवाहिता स्त्रीके सिवाय अन्य सब पत्नियाँ दासी कहलाती हैं ॥१७८॥ उसमें भी जो विवाहिता पत्नी है वह दो प्रकार है तथा उन दोनोंके लक्षण अलग हैं। कर्मभूमिमें रूढ़िसे चली आयी जो अलग-अलग जातियाँ हैं उनमेंसे अपनी जातिकी कन्याके साथ विवाह करना और अन्य जातिकी कन्याके साथ विवाह करना। इस प्रकार अपनी जातिकी विवाहिता पत्नी और अन्य जातिकी विवाहिता पत्नीके भेदसे पत्नियोंके दो भेद हो जाते हैं ॥१७९॥ अपनी जातिकी जिस कन्याके साथ विवाह किया जाता है वह धर्मपत्नी कहलाती है ऐसी धर्मपत्नी ही यज्ञपूजा प्रतिष्ठा आदि शुभ कार्योंमें या प्रत्येक धर्मकार्यमें साथ रह सकती है ॥१८०॥ उस धर्मपत्नीसे जो पुत्र उत्पन्न होता है वही पिताके धर्मका अधिकारी होता है क्योंकि कभी-कभी पिता तो परोक्ष हो जाता है, संन्यास धारण कर लेता है अथवा स्वर्गवासी हो जाता है तथा भाग्योदयसे कभी प्रत्यक्ष भी बना रहता है ॥१८१॥ वह धर्मपत्नीसे उत्पन्न हुआ पुत्र ही समस्त धर्मकार्योंमें अधिकारी होता है और गोत्रकी रक्षा करनेरूप कार्यमें अर्थात् पुत्र उत्पन्न कर आगेके लिये गोत्रकी रक्षा करनेरूप कार्यमें या अपने समस्त घरका स्वामी बनने या समस्त गृहस्थ धर्मकी रक्षा करने रूप कार्यमें अधिकारी होता है क्योंकि धर्मपत्नीसे उत्पन्न हुआ पुत्र ही समस्त लोकका अविरोधी पुत्र है। अन्य जातिकी विवाहिता कन्यारूप पत्नीसे उत्पन्न हुआ पुत्र ऊपर लिखे कार्योंमें कुछ भी अधिकार नहीं रखता ॥१८२॥ जो पिताकी साक्षीपूर्वक अन्य जातिकी कन्याके साथ विवाह किया जाता है वह भोगपत्नी कहलाती है क्योंकि वह केवल

अ ातिः परज्ञातिः सामान्यवनिता तु या । पाणिग्रहणशून्या चेच्चेटिका सुरतप्रिया ॥१८४
चेटिका भोगपत्नी च द्वयोर्भोगाङ्गमात्रतः । लौकिकोक्तिविशेषोऽपि न भेदः पारमार्थिकः ॥१८५
भोगपत्नी निषिद्धा स्यात्सर्वतो धर्मवेदिनाम् । ग्रहणस्याविशेषेऽपि दोषो भेदस्य सम्भवात् ॥१८६
अस्ति दोषविशेषोऽत्र जिनदृष्टश्च न । येन दास्याः प्रसङ्गेन वज्रलेपोऽघसञ्चयः ॥१८७
भावेषु यदि शुद्धत्वं हेतुः पुण्यार्जनादिषु । एवं वस्तुस्वभावत्वात्तद्व्रतात्तद्धि नश्यति ॥१८८

उक्तं च—

मुनिरेव हि जानाति द्रव्यसंयोगजं गुणम् । मक्षिका वमनं कुर्यात्तद्विट् छर्दिप्रणाशिनी ॥११
ननु यथा धर्मपत्न्यां यैव यां क्रियैव सा । विशेषानुपलब्धेश्च कथं भेदोऽवधार्यते ॥१८९
अतो विशेषोऽस्ति युक्तिस्वानुभवागमात् । दृष्टान्तस्यापि सिद्धत्वाद्धेतोः साध्यानुकूलतः ॥१९०

भोगका ही साधन है ॥१८३॥ इस प्रकार अपनी जाति और परजातिके भेदसे स्त्रियाँ दो प्रकार हैं तथा जिसके साथ विवाह नहीं हुआ है ऐसी स्त्री दासी या चेरी कहलाती है, ऐसी दासी केवल भोगाभिलापिणी होती है ॥१८४॥ दासी और भोगपत्नी ये दोनों ही केवल उपभोग-सेवन करनेके ही काम आती हैं। इसलिए यद्यपि लौकिक दृष्टिके अनुसार उनमें कुछ थोड़ा-सा भेद है तथापि परमार्थसे देखा जाय तो उन दोनोंमें कोई भेद नहीं है ॥१८५॥ धर्मके जाननेवाले पुरुषोंको भोगपत्नीका पूर्णरूपसे त्याग कर देना चाहिए। यद्यपि विवाहिता होनेसे वह ग्रहण करने योग्य है तथापि धर्मपत्नीसे वह सर्वथा भिन्न है, सब तरहके अधिकारोंसे रहित है, इसलिए उसके सेवन करनेमें दोष ही है ॥१८६॥ भोगपत्नीके सेवन करनेसे अनेक प्रकारके विशेष दोष उत्पन्न होते हैं जिनको कि भगवान् सर्वज्ञदेव ही जानते हैं। दासीके साथ विषय सेवन करनेसे वज्र लेपके समान पापोंका संचय होता है ॥१८७॥ यदि पुण्य उपार्जन करनेमें भावोंकी शुद्धता ही कारण है क्योंकि वस्तुका स्वभाव ही इसी प्रकार है तो फिर दासीके साथ विषय सेवन करनेसे वह परिणामोंकी शुद्धता अवश्य नष्ट हो जाती है ॥१८८॥

कहा भी है—किस-किस द्रव्यके संयोगसे कैसा-कैसा गुण प्रकट होता है इस बातको मुनि ही जानते हैं। हम लोगोंके अल्पज्ञानमें यह बात नहीं आ सकती। देखो, मक्खीके पेटमें चले जानेसे वमन हो जाता है परन्तु उसकी विष्टा या बीट खा लेनेसे वमन रोग दूर हो जाता है। अतएव यह सिद्ध है कि दासी या भोगपत्नीके सेवन करनेमें विषय सेवनकी तीव्र लालसा रहती है, इसलिए परिणामोंकी शुद्धता नहीं रह सकती तथा परिणामोंमें तीव्र कषायोंका संचार होनेसे या काम सेवनकी तीव्र लालसा होनेसे तीव्र पापकर्मोंका बन्ध होता है ॥११॥

शंका—विषय सेवन करते समय जो क्रिया धर्मपत्नीमें की जाती है वही क्रिया दासीमें की जाती है उन दोनोंके साथ होनेवाली क्रियाओंमें कोई किसी प्रकारका अन्तर नहीं है, फिर भला दासी और धर्मपत्नीमें भेद क्यों बताया जाता है। जिस प्रकार उनके साथ होनेवाली क्रियाओंमें कोई भेद नहीं है उसी प्रकार उन दोनोंमें भेद नहीं होना चाहिए ॥१८९॥ समाधान—परन्तु ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि दासी और धर्मपत्नीमें बहुत अन्तर है, यह बात युक्तिसे भी सिद्ध होती है, आगमसे भी सिद्ध है और अपने अनुभवसे भी सिद्ध होती है। इसके लिये अनेक दृष्टान्त मिलते हैं और इस साध्यको सिद्ध करनेवाले अनेक हेतु मिलते हैं ॥१९०॥

मैवं स्पर्शादि यद्वस्तु वाह्यं विषयसंज्ञिकम् । तद्धेतुस्तादृशो भावो जीवस्यैवास्ति निश्चयात् ॥१९१
दृश्यते जलमेवैकमेकरूपं स्वरूपतः । चन्दनादिवनराजिं प्राप्य नानात्वमध्यगात् ॥१९२
न च वाच्यमयं जीवः स्वायत्तः केवलं भवेत् । वाह्यवस्तु विनाऽऽश्रित्य जायते भावसन्ततिः ॥१९३
ततो वाह्यनिमित्तानुरूपं कार्यं प्रमाणतः । सिद्धं तत्प्रकृतेऽप्यस्मिन्नस्ति भेदो हि लीलया ॥१९४
अत्राभिज्ञानमप्यस्ति सर्वलोकाभिसम्मतम् । दासाः दास्याः सुता ज्ञेया तत्सुतेभ्यो ह्यनादृशाः ॥१९५
कृतं च वहुनोक्तेन सूक्तं सर्वविदाज्ञया । स्वीकर्तव्यं गृहस्थेन नव्रतधारिणा ॥१९६
भोगपत्नी निषिद्धा चेत्का कथा परयोषिताम् । तथाप्यत्रोच्यते किञ्चित्तत्स्वरूपाभिव्यक्तये ॥१९७

केवल यही नहीं समझना चाहिये कि कर्मवन्ध होनेमें या परिणामोंमें शुभ अशुभपना होनेमें स्पर्श करना या विषय सेवन करना आदि वाह्य वस्तु ही कारण हैं किन्तु जीवोंके वैसे परिणाम होना ही निश्चयसे कारण हैं। भावार्थ—वाह्य क्रिया एक-सी होनेपर भी सवके परिणाम एक-से नहीं होते, इसी प्रकार धर्मपत्नीके सेवन करनेमें जीवोंके मन्द परिणाम होते हैं इसलिये उसके सेवन करनेसे तीव्र अशुभ कर्मोंका वन्ध नहीं होता, किन्तु दासीका सेवन करनेमें विषय सेवन करनेकी तीव्र लालसा होती है इसीलिए उसके सेवन करनेसे तीव्र अशुभ कर्मोंका वन्ध होता है। अतएव दासी और धर्मपत्नीमें वहुत भारी भेद है ॥१९१॥ संसारमें भी देखा जाता है कि जो जलस्वरूपसे एकरूप है अथवा एक ही है वह एक ही जल चन्दनके पेड़में देनेसे चन्दन रूप हो जाता है; नीममें देनेसे कड़वा हो जाता है, धतूरेमें देनेसे विषरूप हो जाता है और ईखमें देनेसे मीठे गन्नेरूप परिणत हो जाता है। जल पात्र भेदसे अनेक प्रकारका परिणत हो जाता है उसी प्रकार धर्मपत्नी या दासीमें एक-सी क्रिया होनेपर भी पात्र भेदसे परिणामोंमें वड़ा भारी अन्तर पड़ जाता है तथा परिणामोंमें अन्तर पड़नेसे शुभ अशुभरूप कर्मवन्धमें वड़ा भारी अन्तर पड़ जाता है ॥१९२॥ कदाचित् यह कहा जाय कि यह जीव शुभ-अशुभरूप कर्मवन्ध करनेमें नितान्त स्वाधीन है क्योंकि भाव या परिणामोंकी परम्परा वाह्य पदार्थोंके आश्रय किये विना भी वरावर वनी हो रहती है अर्थात् परिणामोंके शुभ-अशुभ होनेमें वाह्य पदार्थ कोई कारण नहीं है। शुभ या अशुभ परिणामोंको उत्पन्न करना सर्वथा जीवके अधीन है इसलिये चाहे दासीका सेवन किया जाय और चाहे धर्म-पत्नीका सेवन किया जाय उन दोनोंके सेवन करनेमें परिणामोंमें कोई अन्तर नहीं पड़ता इसलिए दासी और धर्मपत्नीमें कोई भेद नहीं है सो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि परिणामोंमें शुभ-अशुभपना वाह्य पदार्थोंके आश्रयसे ही होता है। वाह्य पदार्थोंका जैसा आश्रय मिलता है वैसे ही परिणाम वदलकर हो जाते हैं ॥१९३॥ इसलिये यही प्रमाण मानना चाहिये कि जैसा वाह्य पदार्थोंका निमित्त मिलता है उन्हींके अनुसार कार्यकी सिद्धि होती है। इसी न्यायके अनुसार इस प्रकरणमें भी दासी और धर्मपत्नीमें लीलापूर्वक बहुत ही सरल रीतिसे भेद सिद्ध हो जाता है ॥१९४॥ इस विषयमें समस्त लोगोंके द्वारा माना हुआ ज्ञान ही प्रमाण है क्योंकि समस्त संसारके समस्त लोग यह मानते हैं कि दासीसे जो पुत्र उत्पन्न होते हैं वे दास कहलाते हैं और वे दास धर्मपत्नीसे उत्पन्न हुए पुत्रोंसे सर्वथा भिन्न दूसरे प्रकारके ही कहलाते हैं। इससे भी धर्मपत्नी और दासीमें वड़ा भारी अन्तर सिद्ध होता है ॥१९५॥ वहुत कहनेसे क्या ? भगवान् सर्वज्ञदेवकी आज्ञानुसार शास्त्रोंमें जो कुछ वर्णन किया है, जो व्रत वतलाये हैं वे सव दर्शन प्रतिमारूप व्रतको धारण करनेवाले गृहस्थोंको अवश्य स्वीकार करने चाहिये ॥१९६॥ शास्त्रोंमें जव भोगपत्नीका

विशेषोऽस्ति मिथश्चात्र परत्वैकत्वतोऽपि च। गृहीता चागृहीता च तृतीया नगराङ्गना ॥१९८
गृहीताऽपि द्विधा तत्र यथाऽऽद्या जीवभर्तृका। सत्सु पित्रादिवर्गेषु द्वितीया मृतभर्तृका ॥१९९

चेटिका या च विख्याता पतिस्तस्याः स एव हि।
गृहीता सापि विख्याता स्यादगृहीता च तद्वत् ॥२००

जीवत्सु बन्धुवर्गेषु रण्डा स्यान्मृतभर्तृका। मृतेषु तेषु सैव स्यादगृहीता च स्वैरिणी ॥२०१
अस्याः संसर्गवेलायामिङ्गिते नरि वैरिभिः। सापराधतया दण्डो नृपादिभ्यो भवेद्ध्रुवम् ॥२०२
केचिज्जैना वदन्त्येवं गृहीतेषा स्वलक्षणात्। नृपादिभिर्गृहीतत्वान्नीतिमार्गानतिक्रमात् ॥२०३

विख्यातो नीतिमार्गोऽयं स्वामी स्याज्जगतां नृपः।
वस्तुतो यस्य न स्वामी तस्य स्वामी महीपतिः ॥२०४

तन्मतेषु गृहीता सा पित्राद्यैरावृतापि या। यस्याः संसर्गतो भीतिर्जायते न नृपादितः ॥२०५
तन्मते द्विधैव स्वैरी गृहीताऽगृहीतभेदतः। सामान्यवनिता या स्यादगृहीतान्तर्भावतः ॥२०६

सेवन करना ही निषिद्ध बतलाया है—त्याग करने योग्य बतलाया है फिर भला परस्त्रीके सेवन करनेकी तो बात ही क्या है। उसका त्याग तो अवश्य ही कर देना चाहिए तथापि प्रकरण पाकर उसका स्वरूप बतलानेके लिये यहाँपर थोड़ा-सा उसका वर्णन करते हैं ॥१९७॥ परस्त्रियाँ भी दो प्रकारकी हैं एक दूसरेके अधीन रहनेवाली और दूसरी स्वतन्त्र रहनेवाली, जिनको क्रमशः गृहीता और अगृहीता कहते हैं। इनके सिवाय तीसरी वेश्या भी परस्त्री कहलाती है ॥१९८॥ उनमें भी गृहीता या विवाहिता स्त्रियाँ दो प्रकारकी हैं—एक ऐसी स्त्रियाँ जिनका पति जीता है, तथा दूसरी ऐसी स्त्रियाँ जिनका पति तो मर गया हो परन्तु माता, पिता, भाई आदि जीते (जीवित) हों और उन्हींके यहाँ रहती हों। अथवा जेठ देवरके यहाँ रहती हों ॥१९९॥ इनके सिवाय जो दासी हो और उसका पति वही घरका स्वामी हो तो वह भी गृहीता कहलाती है। यदि वह दासी किसीकी रक्खी हुई न हो, स्वतन्त्र हो तो वह गृहीता दासीके समान ही अगृहीता कहलाती है ॥२००॥ जिसके भाई बन्धु जीवित हों परन्तु पति मर गया हो ऐसी विधवा स्त्रीको भी गृहीता ही कहते हैं। यदि ऐसी विधवा स्त्रीके भाई बन्धु आदि सब मर जायँ और वह स्वतन्त्र रहती हो तो उसको अगृहीता कहते हैं ॥२०१॥ यदि ऐसी स्त्रियोंके साथ संसर्ग करते समय कोई शत्रु राजाको सूचित कर दे तो इस महा अपराधके बदले उस मनुष्यको राज्यकी ओरसे भी कठोर दण्ड मिलता है ॥२०२॥ कितने ही जैनी लोग यह भी कहते हैं कि जिस स्त्रीका पति भी मर जाय और भाई बन्धु आदि भी सब मर जायँ तो भी अगृहीता नहीं कहलाती किन्तु गृहीता ही कहलाती है क्योंकि गृहीताका जो (किसीके द्वारा ग्रहण की हुई) लक्षण बतलाया है वह उसमें घटित होता है क्योंकि नीतिमार्गका उल्लंघन न करते हुए राजाओंके द्वारा वह ग्रहण की जाती है इसलिए वह गृहीता ही है ॥२०३॥ नीतिमार्गका उल्लंघन न करते हुए राजाओंके द्वारा वह ग्रहण की हुई समझी जाती है इसका भी कारण यह है कि संसारमें यह नीतिमार्ग प्रसिद्ध है कि संसार भरका स्वामी राजा होता है। वास्तवमें देखा जाय तो जिसका कोई स्वामी नहीं होता उसका स्वामी राजा होता ही है ॥२०४॥ जो लोग इस नीतिको मानते हैं उनके मतके अनुसार उसको गृहीता ही मानना चाहिए। चाहे वह माता-पिताके साथ रहती हो चाहे अकेली रहती हो। उनके मतमें अगृहीता उसे समझना चाहिये जिसके साथ संसर्ग करनेसे राजादिका डर न हो ॥२०५॥ ऐसे लोगोंके मतमें इच्छानुसार रहनेवाली (कुलटा) स्त्रियाँ दो प्रकारकी ही समझनी

एतत्सर्वं परिज्ञाय स्वानुभूतिसमक्षतः । पराङ्गनासु नादेया वुद्धिर्धीधनशालिभिः ॥२०७
या निषिद्धाऽस्ति शास्त्रेषु लोकेऽत्रातीव गर्हिता । सा श्रेयसी कुतोऽन्यस्त्री लोकद्वयहितैषिणाम् ॥२०८
त्याज्यं वत्स परस्त्रीषु रतिं तृष्णोपशान्तये । विमृश्य चापदां चक्रं लोकद्वयविध्वंसिनीम् ॥२०९
श्रूयन्ते वहवो नष्टाः परस्त्रीसङ्गलालसाः । ये दशास्यादयो नूनमिहामुत्र च दुःखिताः ॥२१०
श्रूयन्ते न परं तत्र दृश्यन्तेऽद्यापि केचन । रागाङ्गारेषु संदग्धाः दुःखितेभ्योऽपि दुःखिताः ॥२११
आस्तां यन्नरके दुःखं भावतीव्रानुवेदिनाम् । जातं पराङ्गनासक्ते लोहाङ्गनादिलिङ्गनात् ॥२१२
इहैवानर्थसन्देहो यावानस्ति सुदुस्सहः । तावान्न शक्यते वक्तुमन्ययोषिन्मतेरितः ॥२१३
आदावुत्पद्यते चिन्ता द्रष्टुं वक्तुं समीहते । ततः स्वान्तभ्रमस्तस्मादरतिर्जायते ध्रुवम् ॥२१४
ततः क्षुत्तृड्विनाशः स्याद्वपुःकार्श्यं ततो भवेत् । ततः स्यादुद्यमाभावस्ततः स्याद्द्रविणक्षतिः ॥२१५
उपहास्यं च लोकेऽस्मिन् ततः शिष्टेष्वमान्यता । इङ्गिते राजदण्डः स्यात्सर्वस्वहरणादिकः ॥२१६

चाहिये—एक गृहीता दूसरी अगृहीता । जो सामान्य स्त्रियाँ हैं वे सव गृहीतामें ही अन्तर्भूत कर लेना चाहिये (तथा वेश्यायें अगृहीता समझनी चाहिये) ॥२०६॥ अपने अनुभव और प्रत्यक्षसे इन सब परस्त्रियोंके भेदोंको समझकर वुद्धिमान पुरुषोंको परस्त्रियोंके सेवन करनेमें अपनी वुद्धि कभी नहीं लगानी चाहिए ॥२०७॥ जो कुलटा परस्त्री समस्त शास्त्रोंमें निषिद्ध है, स्थान-स्थानपर उसके सेवन करनेका निषेध किया है तथा जो इस संसारमें भी अत्यन्त निन्दनीय गिनी जाती है ऐसी परस्त्री इस लोक और परलोक दोनों लोगोंका हित चाहनेवाले लोगोंके लिये कल्याण करनेवाली किस प्रकार हो सकती है अर्थात् परस्त्री सेवन करनेसे इस जीवका कल्याण कभी नहीं हो सकता ॥२०८॥ इसलिए हे वत्स ! हे प्रिय ! परस्त्रीमें प्रेम करना अनेक आपत्तियोंका स्थान है तथा वह परस्त्री दोनों लोकोंके हितका नाश करनेवाली है यही समझकर अपनी तृष्णा या लालसाको शान्त करनेके लिये परस्त्रीमें प्रेम करनेका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥२०९॥ इस परस्त्री सेवनकी लालसा रखनेवाले रावण आदि वहुतसे महापुरुष नष्ट हो गये और उन्होंने इस लोक तथा परलोक दोनों लोकोंमें अनेक प्रकारके दुःख पाये ऐसा अनेक शास्त्रोंमें सुना जाता है ॥२१०॥ परस्त्रीकी लालसा रखनेवाले पुरुष अनेक प्रकारसे दुःखी होते हैं यह वात केवल शास्त्रोंमें ही नहीं सुनी जाती, किन्तु आजकल भी देखी जाती है । आज भी ऐसे वहुत-से लोग हैं जो इस रागरूपी अंगारेकी अग्निसे जलकर अत्यन्त दुःखी लोगोंसे भी अधिक दुःखी हो रहे हैं ॥२११॥ परस्त्रियोंमें आसक्त रहनेवाले लोगोंको उनकी तीव्र लालसाके कारण नरकमें गरम लोहेकी स्त्रियोंके आलिंगन करानेसे जो दुःख होता है वह तो होता ही है, किन्तु इस लोकमें भी परस्त्री सेवन करनेवालोंको जो अत्यन्त असह्य दुःख और अनेक अनर्थ उत्पन्न होते हैं वे भी कहे नहीं जा सकते ॥२१२–२१३॥ देखो, परस्त्री सेवन करनेवालोंके सवसे पहले चिन्ता उत्पन्न होती है फिर उस परस्त्रीको देखनेकी लालसा उत्पन्न होती है, फिर उसके साथ वातचीत करनेकी लालसा होती है, फिर उसका हृदय भ्रममें पड़ जाता है और फिर हृदयमें भ्रम उत्पन्न होनेसे अवश्य ही अरुचि हो जाती है अर्थात् किसी भी काममें उसका चित्त नहीं लगता ॥२१४॥ अरुचि उत्पन्न होनेसे उसकी भूख प्यास सव नष्ट हो जाती है, भूख प्यास नष्ट होनेसे शरीर कृश हो जाता है, शरीर कृश होनेसे फिर वह मनुष्य उद्यम नहीं कर सकता, किसी भी प्रकारका व्यापार नहीं कर सकता और व्यापार न करनेसे उसके धनका नाश हो जाता है ॥२१५॥ इसके सिवाय इस संसारमें उसकी हँसी होती है,

भवेद्वा मरणं मोहादन्यस्त्रीलीनचे : । चित्रं किमत्र रोगाणामुद्भवोऽपि भवेद् ध्रुवम् ॥२१७

यद्वाऽमुत्रेह यद् दुःखं यावद्यादृक् च दुःस्सहम् ।
अन्यस्त्रीव्यसनासक्तः प्राप्नोति निश्चितम् ॥२१८

अस्मदीयमतं चैतद्दोषवित्तद्धि मुञ्चति । न मुञ्चति तथा मन्दो ज्ञातदोषोऽपि मूढधीः ॥२१९

इति श्रीलाटीसंहितायां दर्शनप्रतिमामहाधिकारे मूलगुणाष्टकप्रतिपाल-
सप्तव्यसनरोधवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ॥१॥

संसारमें हँसी होनेसे भले शिष्ट या सभ्य लोगोंमें उसकी अमान्यता या अपमान हो जाता है तथा मालूम हो जानेपर उसे कठोर राजदण्ड मिलता है तथा राज्यकी ओरसे उसका सब धन हरण कर लिया जाता है ॥२१६॥ अथवा तीव्र मोह होनेके कारण परस्त्री सेवन करनेवालोंका मरण भी हो जाता है तथा उपदंश आदि अनेक प्रकारके भयंकर रोग उत्पन्न हो जाते हैं इसके लिये तो कुछ आश्चर्य ही नहीं करना चाहिये। अर्थात् परस्त्री सेवन करनेवालोंके उपदंश आदि भयंकर रोग उत्पन्न होते ही हैं इसमें तो किसी प्रकारका सन्देह ही नहीं है ॥२१७॥ अथवा परलोकमें जितने असह्यसे असह्य दुःख हैं वे सब परस्त्री सेवन करने रूप व्यसनमें लीन होनेवाले मनुष्योंको अवश्य प्राप्त होते हैं ॥२१८॥ हमारा तो यह सिद्धान्त है कि जो इस परस्त्री सेवनके दोषोंको जानता है, इसको अवश्य छोड़ देता है। कदाचित् कोई मन्द बुद्धि होता है और वह दोषोंको नहीं जानता तो वह नहीं भी छोड़ता है परन्तु जो दोषोंको जानकर भी नहीं छोड़ता उसे सबसे बढ़कर मूर्ख समझना चाहिये ॥२१९॥

इस प्रकार दर्शनप्रतिमा नामके महा अधिकारमें आठ मूलगुणोंको पालन करने और
सातों व्यसनोंका त्याग करनेका वर्णन करनेवाला यह प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ॥१॥

द्वितीय सर्ग

सम्यक्त्वं दुर्लभं लोके सम्यक्त्वं मोक्षसाधनम् । ज्ञानचारित्रयोर्वीजं मूलं धर्मतरोरिव ॥१
तदेव सत्पुरुषार्थस्तदेव परमं पदम् । तदेव परमं ज्योतिः तदेव परमं तपः ॥२
तदेवेष्टार्थसंसिद्धिस्तदेवास्ति मनोरथः । अक्षातीतं सुखं तत्स्यात्तत्कल्याणपरम्परा ॥३
विना येनात्र संसारे भ्रमति स्म शरीरभाक् । भ्रमिष्यति तथानन्तं कालं भ्रमति सम्प्रति ॥४
अपि येन विना ज्ञानमज्ञानं स्यात्तदज्ञवत् । चारित्रं स्यात्कुचारित्रं तपो वालतपः स्मृतम् ॥५
अत्रातिविस्तरेणालं कर्म यावच्छुभात्मकम् । सर्वं तत्पुरतः सम्यक् सर्वे मिथ्या तदत्ययात् ॥६
तच्च तत्त्वार्थश्रद्धानं सूत्रे सम्यक्त्वलक्षणे । प्रामाणिकं तदेव स्याच्छ्रुतकेवलिभिर्मतम् ॥७
तत्त्वं जीवास्तिकायाद्यास्तत्स्वरूपोऽर्थसंज्ञकः । श्रद्धानं चानुभूतिः स्यात्तेषामेवेति निश्चयात् ॥८
सामान्यादेकमेवैतत्तद्विशेषविधेर्द्विधा । परोपचारसापेक्षाद्धेतोर्द्वैतवलादपि ॥९

इस संसारमें सम्यग्दर्शन ही दुर्लभ है, सम्यग्दर्शन ही ज्ञान और चारित्रका वीज है अर्थात् ज्ञान चारित्रको उत्पन्न करनेवाला है और सम्यग्दर्शन ही धर्मरूपी वृक्षके लिये जड़के समान है ॥१॥ यह सम्यग्दर्शन ही सवसे उत्तम पुरुषार्थ है, यह सम्यग्दर्शन ही सवसे उत्तम पद है, यह सम्यग्दर्शन ही उत्कृष्ट ज्योति है और यह सम्यग्दर्शन ही सवसे श्रेष्ठ तप है ॥२॥ यह सम्यग्दर्शन ही इष्ट पदार्थोंकी सिद्धि है, यही परम मनोरथ है, यही केवल आत्मासे उत्पन्न होनेवाला अतीन्द्रिय सुख है और यही सम्यग्दर्शन अनेक कल्याणोंकी परम्परा है ॥३॥ इस सम्यग्दर्शनके ही विना इस घोर संसारमें यह प्राणी अनादिकालसे अवतक भ्रमण कर रहा है और आगे अनन्तकाल तक वरावर परिभ्रमण करेगा ॥४॥ इस सम्यग्दर्शनके विना ही इस जीवका ज्ञान अज्ञानी पुरुषके समान अज्ञान या मिथ्याज्ञान कहलाता है, चारित्र मिथ्याचारित्र कहलाता है और तप वाल तप या अज्ञानतप कहलाता है ॥५॥ इस विपयको वहुत वढ़ाकर कहनेसे क्या लाभ है, थोड़ेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि इस संसारमें जो शुभरूप कर्म हैं, शुभ कार्य हैं, शुभ भाव हैं वे सव सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होते हैं और विना सम्यग्दर्शनके वे सव कार्य या भाव मिथ्या होते हैं, विपरीत होते हैं, अशुभ होते हैं ॥६॥ इस सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्त्वार्थसूत्रमें तत्त्वार्थश्रद्धान वतलाया है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक पदार्थमें अलग-अलग धर्म रहता है। उसी धर्मसे उस पदार्थका निश्चय किया जाता है। उस धर्मको तत्त्व कहते हैं। अर्थ शब्दका अर्थ निश्चय करना है, जिस पदार्थका निश्चय उसमें रहनेवाले धर्मसे कर लिया है उस पदार्थका स्वरूप कभी विपरीत नहीं हो सकता ऐसे यथार्थ पदार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है। यह जो सम्यग्दर्शनका लक्षण वतलाया है वही प्रमाण है और वही श्रुतकेवलियोंने माना है ॥७॥ जीव, अजीव, आस्रव, वन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये सात तत्त्व कहलाते हैं, इनका जो स्वरूप है वही पदार्थ कहलाता है तथा निश्चय नयसे उन पदार्थोंकी अनुभूति होना श्रद्धान कहलाता है ॥८॥ वह यथार्थ पदार्थोंका श्रद्धान या अनुभूति अथवा सम्यग्दर्शन सामान्य रीतिसे एक प्रकार है और विशेष विधिसे वही दो प्रकार है। उसके उत्पन्न होनेके कारण जो कि पर पदार्थोंके उपचारोंकी अपेक्षा रखते हैं दो प्रकारके हैं।

तद्विशेषविधिस्तावन्निश्चयाद्व्यवहारतः । सम्यक्त्वं स्याद् द्विधा तत्र निश्चयश्चैकधा यथा ॥१०
शुद्धस्यानुभवः साक्षाज्जीवस्योपाधिवर्जितः । सम्यक्त्वं निश्चयान्नूनमर्थादेकविधं हि तत् ॥११

उक्तं च—

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः ।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥१२

व्यवहाराच्च सम्यक्त्वं ज्ञातव्यं लक्षणाद्यथा । जीवादि सप्ततत्त्वानां श्रद्धानं गाढमव्ययम् ॥१२

च—

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं । रायादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥१३
यद्वा व्यवहृते वाच्यं स्थूलं सम्यक्त्वलक्षणम् । आप्ताप्तागमधर्मादिश्रद्धानं दूषणोजि म् ॥१३

उन कारणोंके दो भेद होनेसे सम्यग्दर्शनके भी दो भेद हो जाते हैं ॥९॥ उसके दो भेद निश्चय और व्यवहारसे होते हैं। इसीलिये सम्यग्दर्शन भी निश्चय सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शनके भेदसे दो प्रकारका कहलाता है। उसमेंसे निश्चय सम्यग्दर्शन एक ही प्रकार है। निश्चय सम्यग्दर्शन-के और भेद प्रभेद नहीं हैं ॥१०॥ जो विना किसी उपाधिके, विना किसी उपचारके शुद्ध जीवका साक्षात् अनुभव होता है वही निश्चयनयसे निश्चय सम्यग्दर्शन कहलाता है। उस निश्चय सम्यग्दर्शनमें कोई उपाधि या उपचार नहीं हैं इसलिये ही वह सम्यग्दर्शन एक ही प्रकारका होता है ॥११॥ यही प्रकारान्तरसे दूसरे शास्त्रोंमें इसका लक्षण कहा है—शुद्ध आत्माका निश्चय होना, अनुभव होना, निश्चय सम्यग्दर्शन है। शुद्ध आत्माका ज्ञान होना निश्चय सम्यग्ज्ञान है और शुद्ध आत्मामें लीन होना निश्चय सम्यक्चारित्र है। इसलिये इन निश्चय सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्रसे कैसे बन्ध हो सकता है ॥१२॥ आगे व्यवहार सम्यग्दर्शनका लक्षण बतलाते हैं—जीव अजीव आदि सातों तत्त्वोंका नाश न होनेवाला चल मलिनरहित गाढ़ श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है ॥१२॥ यही दूसरे शास्त्रोंमें कहा है। जीवादिक सातों पदार्थोंका यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, उन्हीं जीवादिक सातों पदार्थोंको जानना सम्यग्ज्ञान है और राग-द्वेषको दूर करना सम्यक्चारित्र है। ये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही मोक्षके मार्ग हैं या मोक्षके कारण हैं ॥१३॥

अथवा व्यवहारके लिए स्थूल सम्यग्दर्शनका लक्षण इस प्रकार भी आचार्योंने बतलाया है कि आप्त, आप्तका कहा हुआ आगम और आप्तका कहा हुआ दयामय धर्म इन तीनोंका सब प्रकारके दोषोंसे रहित श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। भावार्थ—इन दोनों लक्षणोंमें केवल ऊपरसे देखनेकी ही भिन्नता है, वास्तवमें कोई भेद नहीं है क्योंकि आगमके श्रद्धानमें आगममें कहे हुए सातों तत्त्वोंका श्रद्धान आ जाता है अथवा तत्त्वोंके श्रद्धानमें देवशास्त्र गुरुका श्रद्धान आ जाता है क्योंकि जीव तत्त्वके श्रद्धानमें जो चार घातिया रहित शुद्धजीवका स्वरूप है वही आप्त है, उसी आप्तका कहा हुआ सातों तत्त्वोंको वर्णन करनेवाला आगम है और संवर या निर्जराके स्वरूपमें दयामय अहिंसामय धर्मका स्वरूप वर्णन करना धर्म है। इस प्रकार विचार करनेसे व्यवहार सम्यग्दर्शनके दोनों ही लक्षण पृथक्-पृथक् नहीं हैं किन्तु दोनों ही एक हैं केवल बतलानेका या कथन करनेका प्रकार अलग-अलग है और कुछ भेद नहीं है। ॥१३॥

उक्तं च—

नास्ति चार्हत्परो देवो धर्मो नास्ति दयापरः । तपःपरं च नैर्ग्रन्थ्यमेतत्सम्यक्त्वलक्षणम् ।।१४
हेतुतोऽपि द्विधोद्दिष्टं सम्यक्त्वं लक्षणाद् यथा । तन्निसर्गादधिगमादित्युक्तं पूर्वसूरिभिः ।।१४
निसर्गस्तु स्वभावोक्तिः सोपायोऽधिगमो : । अर्थोऽयं शब्दमात्रत्वादर्थतः सूच्यतेऽधुना ।।१५
नाम्ना मिथ्यात्वकर्मैकमस्ति सिद्धमनादितः । सम्यक्त्वोत्पत्तिवेलायां द्रव्यतस्तत्त्रिधा भवेत् ।।१६
अधोऽपूर्वानिवृत्त्याख्यं प्रसिद्धं करणत्रयम् । करणान्तर्मुहूर्तस्य मध्ये त्रेधाऽस्ति नान्यदा ।।१७

उक्तं च—

जन्तेण कोद्दवं वा पढमुवसमसम्मभावजंतेण । मिच्छादव्वं तु तिहा असंखगुणहीण दव्वकमा ।।१५

यही लक्षण अन्य शास्त्रोंमें भी कहा है—भगवान् अरहन्तदेवके समान अन्य कोई देव नहीं है, दयाके समान और कोई धर्म नहीं है और निर्ग्रन्थ अवस्थाके समान और कोई उत्कृष्ट तप नहीं है अर्थात् तप करनेवाले गुरु निर्ग्रन्थ ही होते हैं ऐसा मानना ही सम्यग्दर्शन है। यही सम्यग्दर्शनका लक्षण है ।।१४।।

यह सम्यग्दर्शन जिस प्रकार अपने लक्षणसे निश्चय और व्यवहाररूप दो प्रकार है उसी प्रकार यह सम्यग्दर्शन अपने उत्पन्न होनेके कारणोंके भेदसे भी दो प्रकार है। उसके उत्पन्न होनेके दो कारण हैं एक निसर्ग और दूसरा अधिगम। जो निसर्गसे उत्पन्न होता है उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं और जो अधिगमसे उत्पन्न होता है उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं। ऐसा पहले आचार्योंने निरूपण किया है ।।१४।। जो सम्यग्दर्शन स्वभावसे उत्पन्न होता है, अपने आप उत्पन्न होता है जो विना किसी उपदेशके उत्पन्न हो जाता है उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं और जो वहिरंग उपदेश आदि उपायोंसे उत्पन्न होता है उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह अर्थ केवल शब्दमात्रसे वतलाया है। जो भेद या जो अर्थ उन शब्दोंसे निकलता है वह वतलाया है। वास्तवमें उन दोनोंमें क्या भेद है तथा निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शन किसको कहते हैं यह वात अव आगे वतलाते हैं ।।१५।। सम्यग्दर्शनरूप आत्माके गुणका घात करनेवाला एक मिथ्यात्वकर्म है। वह मिथ्यात्वकर्म अनादिकालसे एक ही प्रकारका चला आ रहा है। जव इस जीवको मिथ्यात्वकर्मके उपशम होनेसे प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है तव वही एक प्रकारका मिथ्यात्वकर्म अलग-अलग द्रव्यरूप तीन प्रकारका हो जाता है ।।१६।। अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये तीन करण प्रसिद्ध हैं। इन तीनों करणोंका समय अन्तर्मुहूर्त है। यह जीव जिस अन्तर्मुहूर्तमें इन तीनों करणोंको करता है उसी अन्तर्मुहूर्तमें उस मिथ्यात्वकर्मके तीन भेद कर डालता है। ये भेद किसी दूसरे समयमें नहीं होते, करणत्रय करते समय ही होते हैं ।।१७।।

कहा भी है—जिस प्रकार कोदों नामके धान्योंको चक्कीमें पीसनेपर उसके तीन भाग हो जाते हैं—चावल अलग हो जाते हैं, भूसी अलग हो जाती है और कण अलग हो जाते हैं उसी प्रकार उपशम सम्यग्दर्शनरूपी चक्कीके द्वारा पीसे जानेपर मिथ्यात्वकर्म भी तीन भागोंमें वँट जाता है। पहले भागको मिथ्यात्वकर्म कहते हैं यह सवसे अधिक वलवान् और अधिक होता है। दूसरा सम्यक्मिथ्यात्व है यह उससे कम वलवान् है और इसकी द्रव्य संख्या भी उससे कम होती है। तीसरा सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व है। यह दूसरेसे भी कम वलवान् और द्रव्यमें कम होता है ।।१५।।

त्रिधाभूतस्य तस्योच्चैरेवं मिथ्यात्वकर्मणः । भेदास्त्रयश्चतुष्कं च स्यादनन्तानुबन्धितः ॥१८
एतत्समुदितं प्रोक्तं दर्शनं मोहसप्तकम् । प्रागुपशमसम्यक्त्वे तत्सप्तोपशमो भवेत् ॥१९

उक्तं च—

पढमे णियदं पढमं विदियं च सव्वकालह्मि । खाइयसम्मत्तो पुण जत्थ जिणा केवलं तह्मि ॥१६

निसर्गेऽधिगमे वापि सम्यक्त्वे तुल्यकारणम् । दृग्मोहसप्तकस्य स्यादुभयाभावसंज्ञकः ॥२०

उक्तं च—

सत्तण्हं उवसमदो उव   सम्मो खयादुखइयो य ।
विदियकसाउदयादो अ   दो होदि सम्मो सो ॥१७

किन्तु सत्यन्तरङ्गेऽस्मिन् हेतावुत्पद्यते च यत् । नैसर्गिकं हि सम्यक्त्वं विनोद्देशादिहेतुना ॥२१
यत्पुनश्चान्तरङ्गेऽस्मिन् सति हेतौ तथाविधि । उपदेशादिसापेक्षं स्यादधिगमसंज्ञकम् ॥२२
बाह्यं निमित्तमत्रास्ति केषाञ्चिद्विम्बदर्शनम् । अर्हतामितरेषां तु जिनमहिमदर्शनम् ॥२३

इस प्रकार अनादिकालसे चले आए मिथ्यात्वकर्मके तीन भेद हो जाते हैं ॥१८॥ मिथ्यात्व-कर्मके ऊपर लिखे तीन भेद तथा अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ चार भेद ये सब मिलकर सात भेद दर्शनमोहसप्तक (सम्यग्दर्शनको ज्ञात करनेवाली सात प्रकृतियाँ) कहलाता है। जब इस जीवको सबसे पहले उपशम सम्यग्दर्शन होता है तब इन सातों प्रकृतियोंका उपशम हो जाता है ॥१९॥

कहा भी है—यह नियम है कि प्रथम अवस्थामें अर्थात् अनादि मिथ्यादृष्टि आत्मामें सबसे पहले प्रथमसम्यक्त्व अर्थात् औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है तथा प्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन और द्वितीय क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन समस्त समयमें उत्पन्न हो सकता है। परन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन वहीं होता है जहाँ श्रुतकेवली अथवा भगवान् सर्वज्ञदेव विद्यमान हों ॥१६॥

सम्यग्दर्शन चाहे निसर्गज हो और चाहे अधिगमज हो दोनों प्रकारके सम्यग्दर्शनोंमें सम्यग्दर्शनको घात करनेवाली ऊपर लिखी सातों प्रकृतियोंका अभाव होना समान कारण है। अर्थात् दोनों प्रकारके सम्यग्दर्शनोंमें इन सात प्रकृतियोंका अभाव होना ही चाहिये विना इन सातों प्रकृतियोंके अभाव हुए सम्यग्दर्शन कभी उत्पन्न नहीं हो सकता ॥२०॥

कहा भी है—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, और सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व ये दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियाँ तथा अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सब सातों प्रकृतियोंके उपशम होनेसे औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है तथा इन सातों प्रकृतियोंके क्षय होनेसे क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। इस अविरत सम्यग्दर्शन नामके चौथे गुण-स्थानमें अप्रत्याख्यानावरण कर्मका उदय होनेसे संयम नहीं होता इसीलिये इस गुणस्थानको असंयत सम्यग्दर्शन कहते हैं ॥१७॥ सातों प्रकृतियोंके उपशम या क्षय होने पर जो विना वाह्य कारणोंके सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है उसको नैसर्गिक या निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं ॥२१॥ तथा जो अन्तरंग कारणोंके होने पर अर्थात् सातों प्रकृतियोंका अभाव होने पर जो उपदेश आदि वाह्य कारणोंको अपेक्षा रखते हुए सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं ॥२२॥ इस सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेमें वाह्य निमित्तकारण अनेक हैं। किसीको भगवान् अरहन्तदेवके प्रतिबिम्वोंके दर्शन करनेसे सम्यग्दर्शन होता है, किसीको भगवान् अरहन्तदेवकी महिमा या समवशरणादिक विभूतिके देखनेसे सम्यग्दर्शन

धर्मश्रवणमेकेषां यद्वा देवर्द्धिदर्शनम् । जातिस्मरणमेकेषां वेदनाभिभवस्तथा ॥२४
एवमित्यादिवहवो विद्यन्ते वाह्यहेतवः । सम्यक्त्वप्रथमोत्पत्तावन्तरङ्गानतिक्रमात् ॥२५
अस्यैतलक्षणं नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः । जिनोक्तं श्रद्दधात्येव जीवाद्यर्थं यथास्थितम् ॥२६

उक्तं च—

णो इंदिएसु विरदो णो जीवे थावरे तसे चावि । जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥१८
ननूल्लेखः किमेतावानस्ति किं वा परोऽप्यतः । लक्ष्यते येन सद्दृष्टिर्लक्षणेनान्वितः पुमान् ॥२७
अपराण्यपि लक्ष्माणि सन्ति सम्यग्दृगात्मनः । सम्यक्त्वेनाविनाभूतैर्यश्च सङ्लक्ष्यते सुदृक् ॥२८
उक्तमाक्षं सुखं ज्ञानमनादेयं दृगात्मनः । नादेयं कर्मसर्वस्वं तद्वद्दृष्टोपलब्धितः ॥२९
सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम् । गोचरं वावधिस्वान्तपर्ययज्ञानयोर्द्वयोः ॥३०
न गोचरं मतिज्ञानश्रुतविज्ञानयोर्मनाक् । नापि देशावधेस्तत्र विषयोऽनुपलब्धितः ॥३१
अस्त्यात्मनो गुणः कश्चित्सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् । तद्दृग्मोहोदयान्मिथ्यास्वादरूपमनादितः ३२
दैवात्कालादिसंलब्धौ प्रत्यासन्ने भवार्णवे । भव्यभावविपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥३३

हो जाता है ॥२३॥ सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेमें किसीको धर्मश्रवण कारण पड़ता है, किन्हींको बड़े-बड़े देवोंकी ऋद्धियोंका देखना ही कारण पड़ता है, किन्हींको जातिस्मरण (पहले भवका स्मरण हो आना) ही कारण पड़ता है और किन्हींको नरकादिककी तीव्र वेदनाके कारण आत्माको तीव्र दुःख होना या आत्माका तिरस्कार होना ही सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेमें कारण पड़ता है ॥२४॥ प्रथम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होते समय मिथ्यात्व आदि सातों प्रकृतियोंके अभावरूप अन्तरंग कारणोंके होने पर ऊपर लिखे वाह्य कारण भी निमित्तकारण होते हैं तथा इनके सिवाय और भी ऐसे ही अनेक कारण निमित्तकारण पड़ जाते हैं ॥२५॥ इस प्रकारका सम्यग्दर्शन जिसके उत्पन्न हो गया है ऐसे इस सम्यग्दृष्टीका लक्षण निश्चयसे यही है कि वह भगवान् सर्वज्ञदेवके द्वारा कहे हुए जीवादिक पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपका अवश्य श्रद्धान करता है ॥२६॥

कहा भी है—जो न तो इन्द्रियोंसे विरक्त होता है और न त्रस स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्याग करता है जो केवल भगवान् अरहन्त देवके कहे हुए पदार्थोंका श्रद्धान करता है उसको अविरत सम्यग्दृष्टि कहते हैं ॥१८॥ शंका—क्या सम्यग्दृष्टिके विषयमें इतना ही कथन है या और भी है? क्या ऐसा कोई लक्षण है जिस लक्षणसे युक्त यह जीव सम्यग्दृष्टि कहलाता है? ॥२७॥ समाधान—सम्यग्दृष्टि आत्माके और भी लक्षण हैं, सम्यक्त्वके अविनाभावी जिन लक्षणोंके द्वारा सम्यग्दृष्टि जीव लक्षित किया जाता है ॥२८॥ यथा पहले इन्द्रियजन्य सुख और ज्ञानका कथन कर आये हैं जो सम्यग्दृष्टि आत्माके लिए उपादेय नहीं माना गया है। इसी प्रकार उसके लिए सम्पूर्ण कर्म भी उपादेय नहीं माना गया है। और यह वात प्रत्यक्षसे भी दिखाई देती है कि सम्यग्दृष्टिकी इन सवमें हेय वुद्धि हो जाती है ॥२९॥ वास्तवमें सम्यग्दर्शन अत्यन्त सूक्ष्म है जो या तो केवलज्ञान-का विषय है या अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानका विषय है ॥३०॥ यह मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दोनोंका किञ्चित् भी विषय नहीं है। साथ ही यह देशावधिज्ञानका भी विषय नहीं है, क्योंकि इन ज्ञानोंके द्वारा सम्यग्दर्शनकी उपलब्धि नहीं होती ॥३१॥ आत्माका निर्विकल्प सम्यक्त्व नामका एक गुण है। जो दर्शन मोहनीयके उदयसे अनादिकालसे मिथ्या स्वादरूप हो रहा है ॥३२॥ दैववश कालादिलब्धियोंके प्राप्त होने पर जब संसार समुद्र निकट रह जाता है और भव्य भावका परिपाक

प्रयत्नमन्तरेणापि दृग्मोहोपशमो भवेत् । अन्तर्मुहूर्तमात्रं च गुणश्रेण्यनतिक्रमात् ॥३४
अस्त्युपशम्यक्त्वं दृग्मोहोपशमात् यथा । पुंसोऽवस्थान्तराकारं नाकारं चिद्विकल्पकैः ॥३५
सामान्याद्वा विशेषाद्वा वत्वं निर्विकल्पकम् । सत्तारूपं पारिणामि प्रदेशेषु परं चितः ॥३६
ोल्लेखस्तमोनाशे तमोरेरिव रश्मिभिः । दिशः प्रसादमासेदुः सर्वतो विमलाशयाः ॥३७
दृग्मोहोपशमे सम्यग्दृष्टेरुल्लेख एष वै । शुद्धत्वं सर्वदेशेषु त्रिधा बन्धापहारि यत् ॥३८
यथा वा धत्तूरपाकस्यास्तङ्गतस्य वै । उल्लेखो मूर्च्छितो जन्तुरुल्लाघः स्यादमूर्च्छितः ॥३९
दृग्मोहस्योदयान्मूर्छावैचित्यं वा तथा भ्रमः । प्रशान्ते तस्य मूर्च्छाया नाशाज्जीवो निरामयः ॥४०

होता है तब यह जीव सम्यक्त्वको प्राप्त होता है ॥३३॥ उक्त कारण सामग्रीके मिलते ही इस जीवके विना किसी प्रयत्नके एक अन्तर्मुहूर्तके लिए दर्शन मोहनीयके उपशम होता है और तब गुण श्रेणी निर्जरा भी होती है ॥३४॥ दर्शन मोहनीयके उपशमसे जो उपशम सम्यक्त्व होता है वह जीवकी मिथ्यात्व अवस्थासे सर्वथा भिन्न दूसरी अवस्थारूप है जिसका चैतन्यके विकल्पमें आकार नहीं आता ॥३५॥ सम्यग्दर्शन सामान्य और विशेष दोनों प्रकारसे निर्विकल्प है, सत्त्वरूप है और केवल आत्माके प्रदेशोंमें परिणमन करनेवाला है ॥३६॥ जैसे सूर्यकी किरणोंके द्वारा अन्धकारका नाश हो जानेपर दिशाएँ सब तरफसे निर्मल होकर प्रसन्नताको प्राप्त होती हैं वैसे ही दर्शन मोहनीयका उपशम होने पर सम्यग्दृष्टिके भी वही दशा होती है। इसके जो सम्यग्दर्शन होता है वह सब प्रदेशोंमें शुद्ध होता है और तीन प्रकारके बन्धको दूर करनेवाला होता है ॥३७–३८॥ अथवा जिस प्रकार मदिरा और धतूरेके परिपाक होने पर यह जीव मूर्छित होता है और इनकी नशा दूर हो जानेपर यह जीव मूर्छारहित होकर प्रसन्न हो जाता है ॥३९॥ उसी प्रकार दर्शन मोहनीयके उदयसे इस जीवके मूर्छा वैचित्य या भ्रम देखा जाता है और दर्शन मोहनीय कर्मके उपशान्त हो जानेपर मूर्छाका नाश हो जानेसे यह जीव निरामय देखा जाता है ॥४०॥ विशेषार्थ—यहाँ सम्यक्त्व किस ज्ञानका विषय है इस बातका निर्देश करके सम्यक्त्व आत्माका गुण है यह बतलाया गया है और साथ ही उसकी उत्पत्तिकी सामग्री पर प्रकाश डाला गया है। सम्यक्त्व अमूर्त आत्माका गुण है इसलिए इसका प्रत्यक्ष ज्ञान केवलज्ञानके सिवाय अन्य ज्ञानों द्वारा सम्भव नहीं है। फिर भी यहाँ वह अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञानका भी विषय बतलाया गया है सो इसका कारण भिन्न है। बात यह है कि परमावधि और सर्वावधिका विषय कर्म तो है ही, इसलिए इन ज्ञानोंके द्वारा कर्मके उपशम आदिको जानकर अवधिज्ञानी यह जान लेता है कि इस आत्मामें सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो गया है। इसी प्रकार कर्मके निमित्तसे होने वाली मनकी पर्याय मनःपर्ययज्ञान-का विषय होनेसे मनःपर्ययज्ञान भी सम्यक्त्वको जान लेता है। पर शेष ज्ञान सम्यक्त्वको नहीं जान सकते, क्योंकि वे स्थूल मूर्त पर्यायोंको ही जानते हैं। इस प्रकार सम्यक्त्व किस ज्ञानका विषय है यह तो स्पष्ट हो जाता है। अब सम्यक्त्वकी उत्पत्तिकी सामग्रीके सम्बन्धमें विचार करना है। बात यह है कि सम्यक्त्वकी उत्पत्ति अधिकसे अधिक अर्धपुद्गल परिवर्तन कालके शेष रहने पर ही होती है। उसमें भी इस कालके भीतर जब सम्यक्त्वकी उत्पत्तिकी योग्यता होती है तभी यह सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके विषयमें ऐसा नियम है कि सर्वप्रथम उपशम सम्यक्त्व होता है जो अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण-पूर्वक होता है। उसमें भी मिथ्यात्व-का अन्तरकरण उपशम होता है और अनन्तानुबन्धी चतुष्कका अनुदयरूप उपशम होता है। इस सम्यक्त्वका अन्तर्मुहूर्त काल है। इसके होने पर जीवकी ऐसी अवस्था प्रकट होती है जिससे उसका

श्रद्धानादिगुणाः वाह्यं लक्ष्म सम्यग्दृगात्मनः । न सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्ययाः ॥४१
अपि चात्मानुभूतिश्च ज्ञानं ज्ञानस्य पर्ययात् । अर्थाद् ज्ञानं न सम्यक्त्वमस्ति चेद्वाह्यलक्षणम् ॥४२
यथोल्लाघो हि दुर्लक्ष्यो लक्ष्यते स्थूललक्षणैः । वाग्मनःकायचेष्टाणामुत्साहादिगुणात्मकैः ॥४३
नन्वात्मानुभवः साक्षात्सम्यक्त्वं वस्तुतः स्वयम् । सर्वतः सर्वकालस्य मिथ्यादृष्टेरसम्भवात् ॥४४
नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि सत्सामान्यविशेषयोः । अप्यनाकारसाकारलिङ्गयोस्तद्यथोच्यते ॥४५
आकारोऽर्थविकल्पः स्यादर्थः स्वपरगोचरः । सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम् ॥४६
नाकारः स्यादनाकारो वस्तुतो निर्विकल्पता । शेषानन्तगुणानां तल्लक्षणं ज्ञानमन्तरा ॥४७
नन्वस्ति वास्तवं सर्वं सामान्यं च विशेषवत् । तत्किञ्चित्स्यादनाकारं किञ्चित्साकारमेव तत् ॥४८
सत्यं सामान्यवद्ज्ञानमर्थाच्चास्ति विशेषवत् । यत्सामान्यमनाकारं साकारं यद्विशेषभाक् ॥४९
ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्तसल्लक्षणाङ्किताः । सामान्याद्वा विशेषाद्वा सन्त्यनाकारलक्षणाः ॥५०
ततो वक्तुमशक्यत्वान्निर्विकल्पस्य वस्तुनः । तदुल्लेखं समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते ॥५१
स्वापूर्वार्थद्वयोरेव ग्राहकं ज्ञानमेकशः । नात्र ज्ञानमपूर्वार्थो ज्ञानं ज्ञानं परः परः ॥५२

चित्त संसार और संसारके कारणोंसे स्वभावतः हट जाता है। यों तो सम्यक्त्वकी उत्पत्तिकी प्रक्रियाके विषयमें बहुत कुछ वक्तव्य है पर यहाँ संक्षेपमें उसका संकेतमात्र किया है। सम्यग्दृष्टि आत्माके यद्यपि श्रद्धान आदि गुण होते हैं पर वे उसके वाह्य लक्षण हैं। सम्यक्त्व उन रूप नहीं है, क्योंकि वे ज्ञानकी पर्याय हैं ॥४१॥ तथा आत्मानुभूति भी ज्ञान ही है, क्योंकि वह ज्ञानकी पर्याय है। वास्तवमें वह आत्मानुभूति ज्ञान ही है सम्यक्त्व नहीं। यदि उसे सम्यक्त्व माना भी जाय तो वह उसका वाह्य लक्षण है ॥४२॥ आशय यह है कि जिस प्रकार स्वास्थ्य लाभ जन्य हर्षका ज्ञान करना कठिन है परन्तु वचन, मन और शरीरकी चेष्टाओंके उत्साह आदि गुणरूप स्थूल लक्षणोंसे उसका ज्ञान कर लिया जाता है उसी प्रकार अतिसूक्ष्म और निर्विकल्प सम्यग्दर्शनका ज्ञान करना कठिन है तो भी श्रद्धान आदि वाह्य लक्षणोंके द्वारा उसका ज्ञान कर लिया जाता है ॥४३॥ शंका—वास्तवमें आत्मानुभव ही साक्षात् सम्यक्त्व है, क्योंकि मिथ्यादृष्टिके इसका कभी भी पाया जाना असम्भव है ॥४४॥ समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि सत्सामान्य और सद्विशेषका तथा अनाकार और साकारके चिह्नोंका तुम्हें कुछ ज्ञान ही नहीं है। जो इस प्रकार है—ज्ञानमें अर्थका विकल्प होना आकार कहलाता है और अर्थ स्व-परके भेदसे दो प्रकार है। अथवा सोपयोग अवस्थाका होना ही विकल्प है जो कि ज्ञानका लक्षण है ॥४५–४६॥ आकारका नहीं होना ही अनाकार है। उसीका नाम वास्तवमें निर्विकल्पता है। यह निर्विकल्पता ज्ञानके सिवाय शेष अनन्त गुणोंका लक्षण है ॥४७॥ शंका—जब कि सत्सामान्य और सद्विशेष यह सब वास्तविक है तब फिर कुछ अनाकार है और कुछ साकार है ऐसा क्यों ॥४८॥ समाधान—यह कहना ठीक है तथापि ज्ञान वास्तवमें सामान्य और विशेष दोनों प्रकारका होता है। उनमेंसे जो सामान्य ज्ञान है वह अनाकार होता है और जो विशेष ज्ञान है वह साकार होता है। तथा ज्ञानके सिवाय सत् लक्षण वाले सामान्य या विशेष रूप और जितने भी गुण कहे गये हैं वे सब वास्तवमें अनाकार ही होते हैं ॥४९–५०॥ इसलिये निर्विकल्प वस्तुका कथन करना शक्य नहीं होनेसे जहाँ भी उसका उल्लेख किया जाता है वह ज्ञान द्वारा ही किया जाता है ॥५१॥

यद्यपि स्व और अपूर्व दोनों प्रकारके पदार्थोंको ज्ञान युगपत् ग्रहण करता है तथापि ज्ञान अपूर्वार्थ नहीं हो सकता है। किन्तु ज्ञान ज्ञान है और पर पर है ॥५२॥ यतः चित् शक्ति ज्ञानमात्र

स्वार्थो हि ज्ञानमात्रस्य ज्ञानमेकं गुणश्रितः । परार्थाः स्वात्मसम्बन्धिगुणाः शेषाः सुखादयः ॥५३
था सुखदुःखादिभावो जीवगुणः स्वयम् । ज्ञानं तद्वेदकं नूनं नार्थाद्ज्ञानं सुखादिमत् ॥५४
अपि सन्ति गुणाः सम्यक् श्रद्धानादिविकल्पकाः । उद्देशो लक्षणं तेषां तत्परीक्षाऽधुनोच्यते ॥५५
तत्रोद्देशो यथा नाम श्रद्धारुचिप्रतीतयः । चरणं च यथाम्नायादर्थात्तत्त्वार्थगोचरम् ॥५६
तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धा सात्म्यं रुचिस्तथा । प्रतीतिस्तु यथेति स्यात्स्वीकारश्चरणं ि ा ॥५७
अर्थादाद्यत्रिकं ज्ञानं ज्ञानस्यैवार्थपर्ययात् । क्रिया वाक्कायचेतोभिर्व्यापारः शुभकर्मसु ॥५८
व्यस्ताश्चैते समस्ता वा सद्दृष्टेर्लक्षणं न वा । समक्षे वा विपक्षे वा सन्ति यद्वा न सन्ति वा ॥५९
स्वानुभूतिसनाथाश्चेत्सन्ति श्रद्धादयो गुणाः । स्वानुभूतिं विनाभासाः नार्थाच्छ्रद्धादयो गुणाः ॥६०
तस्माच्छ्रद्धादयः सर्वे सम्यक्त्वं स्वानुभूतिवत् । न सम्यक्त्वं तदाभासा मिथ्याश्रद्धादिवच्चितः ॥६१
सम्यग्मिथ्याविशेषाभ्यां विना श्रद्धादिमात्रकाः । सपक्षवद्विपक्षेऽपि वृत्तित्वाद् व्यभिचारिणः ॥६२
अर्थाच्छ्रद्धादयः सम्यग्दृष्टिश्रद्धादयो यतः । मिथ्याश्रद्धादयो मिथ्या नार्थाच्छ्रद्धादयो यतः ॥६३
ननु रुचिः श्रद्धा श्रद्धामात्रैकलक्षणात् । सम्यग्मिथ्याविशेषाभ्यां सा द्विधा तु कुतोऽर्थतः ॥६४
नैवं : समव्याप्तिः श्रद्धास्वानुभवद्वयोः । नूनं नानुपलब्धार्थे श्रद्धा खरविषाणवत् ॥६५

मानी गयी है अतः केवलज्ञान ही उसका स्वार्थ है और स्वार्थसे सम्बन्ध रखनेवाले शेष सुखादि गुण उसके परार्थ हैं ॥५३॥ आशय यह है कि सुख दुःखादि भाव यद्यपि जीवके निज गुण हैं और ज्ञान उसका वेदक है तथापि वास्तवमें ज्ञान सुखादिरूप नहीं है ॥५४॥ यतः सम्यक् श्रद्धान आदि-के भेदसे और भी बहुतसे गुण हैं, इसलिए यहाँ अब उनका उद्देश, लक्षण और परीक्षा कहते हैं ॥५५॥ उनमेंसे उद्देश इस प्रकार है। जैसे कि आम्नायके अनुसार जीवादि पदार्थ-विषयक श्रद्धा, रुचि, प्रतीति और चरणको सम्यक्त्व कहना उद्देश है ॥५६॥ इनमेंसे जीवादि पदार्थोंके सन्मुख बुद्धिका होना श्रद्धा है। बुद्धिका तन्मय हो जाना रुचि है। 'ऐसा ही है' इस प्रकार स्वीकार करना प्रतीति है और अनुकूल क्रिया करना चरण है ॥५७॥ इनमेंसे आदिके तीन वास्तवमें ज्ञान ही हैं, क्योंकि श्रद्धा, रुचि और प्रतीति ये ज्ञानकी ही पर्याय हैं। तथा चरण यह चारित्रगुणकी पर्याय है, क्योंकि शुभ कार्योंमें जो वचन, काय और मनका व्यापार होता है उसे चरण कहते हैं ॥५८॥ ये श्रद्धा आदि चारों पृथक् पृथक् रूपसे अथवा समस्त रूपसे सम्यग्दृष्टिके लक्षण भी हैं और नहीं भी हैं, क्योंकि ये सपक्ष और विपक्ष दोनों ही अवस्थाओंमें पाये जाते हैं और नहीं भी पाये जाते हैं ॥५९॥ यदि स्वानुभूतिके साथ होते हैं तो श्रद्धादिक गुण हैं और स्वानुभूतिके विना वे वास्तवमें गुण नहीं हैं किन्तु गुणाभास हैं ॥६०॥ इसलिए यह निष्कर्ष निकला कि श्रद्धा आदिक सभी गुण स्वानुभूतिके साथ समीचीन हैं और सम्यक्त्वके विना मिथ्या श्रद्धा आदि रूप होनेके कारण वे तदाभास हैं ॥६१॥ सम्यक् और मिथ्या विशेषणके विना जब केवल श्रद्धा आदिक विवक्षित होते हैं तब उनकी सपक्ष-के समान विपक्षमें वृत्ति देखी जाती है अतः वे व्यभिचारी हैं ॥६२॥ यतः सम्यग्दृष्टिके श्रद्धा आदिक ही वास्तवमें श्रद्धा आदिक हैं अतः मिथ्यादृष्टिके श्रद्धा आदिकको मिथ्या जानना चाहिए। वे वास्तवमें श्रद्धा आदिक नहीं हैं ॥६३॥ शंका—जब कि तत्त्व रुचिका नाम श्रद्धा है क्योंकि उसका श्रद्धा यही एक मात्र लक्षण है। तब फिर वह वास्तवमें सम्यक्श्रद्धा और मिथ्याश्रद्धा ऐसी दो भेद वाली कैसे हो जाती है? ॥६४॥ समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि श्रद्धा और स्वानुभव इन दोनोंमें समव्याप्ति है, इसलिए अनुपलब्ध पदार्थमें गधेके सींगके समान श्रद्धा हो ही

विना स्वात्मानुभूतिं तु या श्रद्धा श्रुतमात्रतः । तत्त्वार्थानुगताप्यर्थाच्छ्रद्धा नानुपलब्धितः ॥६६
लब्धिः स्यादविशेषाद्वा सदसतोरुन्मत्तवत् । नोपलब्धिरिहाख्याता तच्छेषानुपलब्धिवत् ॥६७
ततोऽस्ति यौगिकी रूढिः श्रद्धा सम्यक्त्वलक्षणम् । अर्थादप्यविरुद्धं स्यात्सूक्तं स्वात्मानुभूतिवत् ॥६८
गुणाश्चान्ये प्रसिद्धा ये सद्दृष्टेः प्रशमादयः । वहिर्दृष्ट्या यथा स्वं ते सन्ति सम्यक्त्वलक्षणम् ॥६९
तत्राद्यः प्रशमो नाम संवेगश्च गुणः क्रमात् । अनुकम्पा तथास्तिक्यं वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥७०
प्रशमो विषयेषूच्चैर्भावक्रोधादिकेषु च । लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः ॥७१
सद्यः कृतापराधेषु यद्वा जीवेषु जातुचित् । तद्वधादिविकाराय न बुद्धिः प्रशमो मतः ॥७२
हेतुस्तत्रोदयाभावः स्यादनन्तानुवन्धिनाम् । अपि शेषकषायाणां नूनं मन्दोदयो शतः ॥७३
आरम्भादिक्रिया तस्य दैवाद्वा स्यादकामतः । अन्तःशुद्धेः प्रसिद्धत्वान्नहेतुः प्रशमक्षतेः ॥७४
सम्यक्त्वेनाविनाभूतः प्रशमः परमो गुणः । अन्यत्र प्रशमं मन्येऽप्याभासः स्यात्तदत्ययात् ॥७५
संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः । सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु ॥७६
धर्मः सम्यक्त्वमात्रात्मा शुद्धास्यानुभवोऽथवा । तत्फलं सुखमत्यक्षमक्षयं क्षायिकं च यत् ॥७७

नहीं सकती ॥६५॥ स्वानुभूतिके विना केवल श्रुतके आधारसे जो श्रद्धा होती है वह यद्यपि तत्त्वार्थानुगत है तो भी तत्त्वार्थकी उपलब्धि नहीं होनेसे वह वास्तविक श्रद्धा नहीं है ॥६६॥ सत् और असत्की विशेषता न करके उन्मत्त पुरुषके समान पदार्थोंकी जो उपलब्धि होती है वह वास्तवमें उपलब्धि नहीं है किन्तु उन पदार्थोंके सिवाय शेष पदार्थोंकी अनुपलब्धिके समान वह अनुपलब्धि ही है ॥६७॥ इसलिए यौगिक रूढ़िके आधारसे श्रद्धा सम्यक्त्वका लक्षण है यह कहना वास्तवमें तव अविरुद्ध हो सकता है जव उसे स्वानुभूतिसे युक्त मान लिया जाय ॥६८॥ सम्यग्दृष्टि जीवके जो प्रशमादिक अन्य गुण प्रसिद्ध हैं वाह्य-दृष्टिसे वे भी यथायोग्य सम्यक्त्वके लक्षण हैं ॥६९॥ उनमेंसे पहला प्रशम गुण है, दूसरा संवेग है, तीसरा अनुकम्पा है और चौथा आस्तिक्य है। अव क्रमसे इनका लक्षण कहते हैं ॥७०॥ पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंमें और असंख्यात लोक प्रमाण क्रोधादिक भावोंमें स्वभावसे मनका शिथिल होना प्रशम भाव है ॥७१॥ अथवा उसी समय अपराध करनेवाले जीवोंके विषयमें कभी भी उनके मारने आदिकी प्रयोजक वुद्धिका नहीं होना प्रशम भाव है ॥७२॥ इस प्रशम भावके होनेमें अनन्तानुवन्धी कषायोंका उदयाभाव और शेष कषायोंका अंश रूपसे मन्दोदय कारण है ॥७३॥ यद्यपि प्रशम भावसे युक्त सम्यग्दृष्टि जीव दैव वश विना इच्छाके आरम्भ आदि क्रिया करता है तथापि अन्तरंगमें शुद्धता होनेसे वह क्रिया उसके प्रशम गुणके नाशका कारण नहीं हो सकती ॥७४॥ सम्यक्त्वके साथ अविनाभाव सम्वन्ध रखने वाला जो प्रशम भाव है वह परम गुण है और सम्यक्त्वके अभावमें जो प्रशम भाव होता है वह प्रशम भाव न होकर प्रशमाभास है ऐसा मैं मानता हूँ ॥७५॥ विशेषार्थ—कषाय और विषयाभिलाषा ही जीवनमें व्याकुलताका कारण है और जहाँ व्याकुलता है वहाँ प्रशमभावका होना अत्यन्त कठिन है। यही कारण है कि प्रशम गुणके लक्षणका निर्देश करते हुए उसे क्रोधादि कषाय और विषयोंमें मनकी शिथिलतारूप वतलाया है। किन्तु इस प्रकारकी मनकी शिथिलता कदाचित् सम्यक्त्वके अभावमें भी देखी जाती है जिससे कि प्रशम गुण सम्यक्त्वका सहचारी नहीं माना गया है। किन्तु जो प्रशम गुण अनन्तानुवन्धीके उदयाभावमें होता है वह अवश्य ही सम्यक्त्वका सहचारी है, क्योंकि सम्यग्दृष्टिके अनन्तानुवन्धी कषायोंका उदय नहीं पाया जाता। यद्यपि अनन्तानुवन्धी कषायका

इतरत्र पुनारागस्तद्गुणेष्वनुरागतः । नातद्गुणोऽनुरागोऽपि तत्फलस्याप्यलिप्सया ॥७८
अत्रानुरागशब्देन नाभिलाषो निरुच्यते । किन्तु शेषमधर्माद्वा निवृत्तिस्तत्फलादपि ॥७९
न चाऽऽशङ्क्यं निषिद्धः स्यादभिलाषो भोगेष्वलम् । शुद्धोपलब्धिमात्रेऽपि हेयो भोगाभिलाषवत् ॥८०
अर्थात्सर्वोऽभिलाषः स्यान्मिथ्या कर्मोदयात्परम् । स्वार्थस्यार्थक्रियासिद्ध्यै नालं प्रत्यक्षतो यतः ॥८१
क्वचित्तस्यापि सद्भावे नेष्टसिद्धिरहेतुतः । अभिलाषस्याभावेऽपि स्वेष्टसिद्धिस्तु हेतुतः ॥८२
:श्रीसुतमित्रादि ° कामयते जगत् । नास्य लाभोऽभिलाषेऽपि विना पुण्योदयात्सतः ॥८३
जरामृत्युदरिद्रादि नापि कामयते जगत् । तत्संयोगो बलादस्ति सतस्तत्राशुभोदयात् ॥८४
संवेगो विधिरूपः स्यान्निर्वेदस्तु विशे ात् । स्याद्विवक्षावशाद्द्वैतं नार्थादर्थान्तरं तयोः ॥८५
त्यागः सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो लक्षणात्तथा । संवेगोऽप्यथवा धर्मसाभिलाषो न धर्मवान् ॥८६
नापि धर्मः क्रियामात्रं मिथ्यादृष्टेरिहार्थतः । नित्यं रागादिसद्भावात्प्रत्युताऽधर्म एव हि ॥८७
नित्यं रागी कुदृष्टिः स्यान्न स्यात्क्वचिदरागवान् । अस्तरागोऽस्ति सद्दृष्टिर्नित्यं वा स्यान्न रागवान् ॥८८

उदयाभाव तीसरे गुणस्थानमें भी होता है पर यह इसका अपवाद है इतना यहाँ विशेष समझना चाहिए।

धर्ममें और धर्मके फलमें आत्माका परम उत्साह होना या समान धर्म वालोंमें अनुरागका होना या परमेष्ठियोंमें प्रीतिका होना संवेग है ॥७६॥ सम्यक्त्व मात्र या शुद्ध आत्माका अनुभव ही धर्म है और अतीन्द्रिय, अविनाशी क्षायिक सुख ही उसका फल है ॥७७॥ समान धर्मवालोंमें और पाँच परमेष्ठियोंमें जो अनुराग हो वह उनके गुणोंमें अनुराग वृद्धिसे ही होना चाहिये। किन्तु जो समान धर्मवालों या पाँच परमेष्ठियोंके गुणोंसे रहित हैं उनमें इनके समान होनेकी लिप्साके विना भी अनुराग नहीं होना चाहिए ॥७८॥ प्रकृतमें अनुराग शब्दका अर्थ अभिलाषा नहीं कहा गया है। किन्तु अधर्म और अधर्मके फलसे निवृत्ति होकर जो शेष रहता है वही अनुराग शब्दका अर्थ है ॥७९॥ ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिये कि अभिलाषा केवल भोगोंमें ही निषिद्ध मानी गई है। किन्तु जैसे भोगोंकी अभिलाषा निषिद्ध है वैसे ही शुद्धोपलब्धिकी अभिलाषा भी निषिद्ध मानी गई है ॥८०॥ वास्तवमें जितनी भी अभिलाषा है वह सब सम्यग्दर्शनके अभावमें होती है इसलिये वह अज्ञानरूप ही है, क्योंकि जिसे तत्त्वार्थकी प्राप्ति नहीं हुई है वही प्राप्त करना चाहता है। जिसने प्राप्त कर लिया है वह नहीं ॥८१॥ उदाहरणार्थ—कहींपर अभिलाषाके होनेपर भी कारण सामग्रीके नहीं मिलनेसे इष्ट सिद्धि नहीं होती है और कहींपर अभिलाषाके नहीं होने पर भी कारण सामग्रीके मिल जानेसे इष्ट सिद्धि हो जाती है ॥८२॥ यद्यपि सम्पूर्ण जगत् यश, लक्ष्मी, पुत्र और मित्र आदिकी चाह करता है तथापि पुण्योदयके विना केवल चाह मात्रसे उनकी प्राप्ति नहीं होती ॥८३॥ इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत्, जरा, मृत्यु और दरिद्रता आदिकी चाह नहीं करता है तथापि यदि जीवके अशुभका उदय है तो चाहके विना भी बलात् (हठात्) उनका संयोग हो जाता है ॥८४॥ संवेग विधिरूप होता है और निर्वेद निषेधरूप होता है। विवक्षा वशसे ही ये दो हैं वास्तवमें इन दोनोंमें कोई भेद नहीं है ॥८५॥ सब प्रकारकी अभिलाषाओंका त्याग ही निर्वेद है, क्योंकि इसका यही लक्षण है। अथवा वह निर्वेद संवेगरूप धर्म प्राप्त होता है, क्योंकि जो अभिलाषा सहित होता है उसके संवेगधर्म नहीं हो सकता ॥८६॥ यदि क्रियामात्रको धर्म कहा जाय सो भी बात नहीं है, क्योंकि मिथ्यादृष्टिके निरन्तर रागादि पाये जाते हैं इसलिए वह

अनुकम्पा कृपा ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रहः । मैत्रभावोऽथ माध्यस्थ्यं निःशल्यं वैरवर्जनात् ॥८९
दृग्मोहानुदयस्तत्र हेतुर्वाच्योऽस्ति केवलम् । मिथ्याज्ञानं विना न स्याद्वैरभावः क्वचिद्यथा ॥९०
मिथ्या यत्परतः स्वस्य स्वस्माद्वा परजन्मिनाम् । इच्छेत्तत्सुखदुःखादि मृत्युर्वा जीवितं मनाक् ॥९१
अस्ति यस्यैतदज्ञानं मिथ्यादृष्टिः सः शल्यवान् । अज्ञानाद्धन्तुकामोऽपि क्षमो हन्तुं न चापरम् ॥९२
समता सर्वभूतेषु यानुकम्पा परत्र सा । अर्थतः स्वानुकम्पा स्याच्छल्यवच्छल्यवर्जनात् ॥९३
रागाद्यशुद्धभावानां सद्भावे बन्ध एव हि । न बन्धस्तदसद्भावे तद्विधेया कृपात्मनि ॥९४
आस्तिक्यं तत्त्वसद्भावे स्वतः सिद्धे ग तिश्चितः । धर्मे हेतौ च धर्मस्य फले चात्मादि धर्मवित् ॥९५
अस्त्यात्मा जीवसंज्ञो यः स्वतःसिद्धोऽप्यमूर्तिमान् । चेतनः स्यादजीवस्तु यावानप्यस्त्यचेतनः ॥९६
अस्त्यात्माऽनादितो बद्धः कर्मभिः कार्मणात्मकैः । कर्ता भोक्ता च तेषां हि तत्क्षयान्मोक्षभाग्भवेत् ॥९७
अस्ति पुण्यं च पापं च तद्धेतुस्तत्फलं च वै । आस्रवाद्यास्तथा सन्ति तस्य संसारिणोऽनिशम् ॥९८
अस्त्येव पर्ययादेशाद् बन्धो मोक्षस्तु तत्फलम् । अपि शुद्धनयादेशात् शुद्धः सर्वोऽपि सर्वदा ॥९९
तत्रायं जीवसंज्ञो यः स्वयंवेद्यश्चिदात्मकः । सोऽहमन्ये तु रागाद्याः हेयाः पौद्गलिका अमी ॥१००
इत्याद्यनादिजीवादि वस्तुजातं यतोऽखिलम् । निश्चयव्यवहाराभ्यामास्तिक्यं तत्तथामतिः ॥१०१

वास्तवमें अधर्म ही है ॥८७॥ मिथ्यादृष्टि जीव निरन्तर रागी होता है वह रागरहित कभी भी नहीं हो सकता और सम्यग्दृष्टि जीव निरन्तर रागरहित होता है अथवा उसके सदा काल राग नहीं पाया जाता ॥८८॥ अनुकम्पाका अर्थ कृपा है। या सब जीवोंका अनुग्रह करना अनुकम्पा है। या मैत्री भावका नाम अनुकम्पा है। या मध्यस्थ भावका रखना अनुकम्पा है। या शत्रुताका त्याग कर देनेसे शल्यरहित हो जाना अनुकम्पा है ॥८९॥ इसका कारण केवल दर्शन मोहनीयका अनुदय है, क्योंकि मिथ्या ज्ञानके बिना किसी जीवमें वैर भाव नहीं होता है ॥९०॥ परके निमित्तसे अपने लिए या अपने निमित्तसे अन्य प्राणियोंके लिए थोड़े ही सुख, दुःखादि या मरण और जीवनकी चाह करना मिथ्या ज्ञान है ॥९१॥ और जिसके यह अज्ञान होता है वही मिथ्यादृष्टि है और वह शल्यवाला है। वह अज्ञान वश दूसरेको मारना चाहता है पर मार नहीं सकता ॥९२॥ सब प्राणियों में जो समभाव धारण किया जाता है वह परानुकम्पा है और काँटेके समान शल्यका त्याग कर देना वास्तवमें स्वानुकम्पा है ॥९३॥ रागादि अशुद्ध भावोंके सद्भावमें बन्ध ही होता है और उनके अभावमें बन्ध नहीं होता, इसलिए अपने ऊपर ऐसी कृपा करनी चाहिए जिससे रागादि भाव न हों ॥९४॥ स्वतः सिद्ध तत्त्वोंके सद्भावमें निश्चय भाव रखना तथा धर्म, धर्मके हेतु और धर्मके फलमें आत्माकी अस्ति आदि रूप बुद्धिका होना आस्तिक्य है ॥९५॥ जो स्वतः सिद्ध है, अमूर्त है और चेतन है वह आत्मा है। इसका दूसरा नाम जीव है तथा इसके सिवाय जितना भी अचेतन पदार्थ है वह सब अजीव है ॥९६॥ आत्मा अनादि कालसे कार्मण वर्गणा रूप कर्मोंसे बंधा हुआ है। और अपनेको उन्हींका कर्त्ता व भोक्ता मान रहा है। जब इनका क्षय कर देता है तब मुक्त हो जाता है ॥९७॥ उस संसारी जीवके पुण्य, पाप, इनका कारण, इनका फल और आस्रव आदि सदैव बने रहते हैं ॥९८॥ इस प्रकार पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा बन्ध भी है, मोक्ष भी है और उनका फल भी है। किन्तु शुद्ध नयकी अपेक्षा सभी जीव सदा शुद्ध हैं ॥९९॥ उनमें एक जीव ही ऐसा है जो स्वसंवेद्य, चिदात्मक और 'सोऽहम्' प्रत्ययवेद्य होनेसे उपादेय है। बाकी जितने भी रागादिक भाव हैं वे सब हेय हैं, क्योंकि वे पौद्गलिक हैं ॥१००॥ इस प्रकार अनादि कालसे चला

सम्यक्त्वेनाविनाभूतस्वानुभूत्येकलक्षणम् । आस्तिक्यं नाम सम्यक्त्वं मिथ्यास्तिक्यं ततोऽन्यथा ॥१०२
ननु वै केवलज्ञानमेकं प्रत्यक्षमर्थतः । न प्रत्यक्षं कदाचित्तच्छेषज्ञानचतुष्टयम् ॥१०३
यदि वा दे ।ोऽध्यक्षमाक्ष्यं स्वात्मसुखादिवत् । स्वसंवेदनप्रत्यक्षमास्तिक्यं तत्कुतोऽर्थतः ॥१०४
सत्यमाद्यद्वयं ज्ञानं परोक्षं परसंविदि । प्रत्यक्षं स्वानुभूतौ तु दृग्मोहोपशमादितः ॥१०५
स्वात्मानुभूतिमात्रं स्यादास्तिक्यं परमो गुणः । भवेन्मा वा परद्रव्ये ज्ञानमात्रे परत्वतः ॥१०६
अपि तत्र परोक्षत्वे जीवादौ परवस्तुनि । गाढं प्रतीतिरस्यास्ति यथा सम्यग्दृगात्मनः ॥१०७
न तथास्ति प्रतीतिर्वा नास्ति मिथ्यादृशः स्फुटम् । दृग्मोहस्योदयात्तत्र भ्रान्तेः सद्भावतोऽनिशम् ॥१०८
: सिद्धमिदं सम्यग्युक्तिस्वानुभवागमात् । सम्यक्त्वेनाविनाभूतमस्त्यास्तिक्यं गुणो महान् ॥१०९

उक्तं च—

ओ निव्वेओ णिंदण गरहा य उवसमो भत्ती । वच्छल्लं अणुकम्पा अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते ॥१८

उक्तं गाथार्थसूत्रेऽपि प्रशमादिचतुष्टयम् । नातिरिक्तं यतोऽस्त्यत्र लक्षणस्योपलक्षणम् ॥११०
अस्त्युपलक्षणं यत्तल्लक्षणस्यापि लक्षणम् । तद्यथास्त्यादिलक्ष्यस्य लक्षणं चोत्तरस्य तत् ॥१११
यथा सम्यक्त्वभावस्य संवेगो लक्षणं गुणः । स चोपलक्ष्यते भक्त्या वात्सल्येनाथवार्हताम् ॥११२

आया । समस्त जीवादि वस्तु समुदाय निश्चय और व्यवहार नयसे जो जैसा माना गया है वह वैसा ही है ऐसी बुद्धिका होना आस्तिक्य है ॥१०१॥ सो सम्यक्त्वका अविनाभावी है जिसका स्वानुभूति एक लक्षण है वह सम्यक् आस्तिक्य है और इससे विपरीत मिथ्या आस्तिक्य है ॥१०२॥ शंका—वास्तवमें एक केवलज्ञान ही प्रत्यक्ष है बाकीके चारों ज्ञान कभी भी प्रत्यक्ष नहीं हैं ॥१०३॥ अथवा अपने आत्माके सुखादिककी तरह इन्द्रियजन्य ज्ञान एकदेश प्रत्यक्ष हैं इसलिये आस्तिक्य भाव स्वसंवेदन प्रत्यक्षका विषय कैसे हो सकता है ? ॥१०४॥ समाधान—यह कहना ठीक है तथापि आदिके दो ज्ञान परपदार्थोंका ज्ञान करते समय यद्यपि परोक्ष हैं तथापि दर्शनमोहनीयके उपशम आदिके कारण स्वानुभवके समय वे प्रत्यक्ष ही हैं ॥१०५॥ प्रकृतमें अपने आत्माकी अनुभूति ही आस्तिक्य नामका परमगुण माना गया है । फिर चाहे परद्रव्यका ज्ञान हो चाहे मत हो, क्योंकि परपदार्थ पर है ॥१०६॥ दूसरे यद्यपि जीवादि परपदार्थ परोक्ष हैं तथापि इस सम्यग्दृष्टि जीवको जैसी उनकी गाढ़ प्रतीति होती है ॥१०७॥ वैसी उनकी स्पष्ट प्रतीति मिथ्यादृष्टिके कभी नहीं होती, क्योंकि दर्शनमोहनीयके उदयसे उसके निरन्तर भ्रान्ति बनी रहती है ॥१०८॥ इसलिये युक्ति, स्वानुभव और आगमसे यह भली भाँति सिद्ध होता है कि सम्यक्त्वके साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखनेवाला आस्तिक्य नामका महान् गुण है ॥१०९॥

कहा भी है—'संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये सम्यक्त्वके आठ गुण हैं ॥१८॥

उक्त गाथा सूत्रमें भी प्रशम आदि चारों ही कहे गये हैं अधिक नहीं क्योंकि इस गाथा सूत्रमें लक्षणके उपलक्षणकी विवक्षा है ॥११०॥ जो लक्षणका भी लक्षण है वह उपलक्षण कहलाता है । क्योंकि जो आगेके लक्ष्यका लक्षण है वही प्रथम लक्ष्यका उपलक्षण है ॥१११॥ सम्यक्त्व भावका संवेग गुण लक्षण है, इसलिये सम्यक्त्व भाव अरहन्तोंकी भक्ति और वात्सल्यसे उपलक्षित हो जाता है । आशय यह है कि सम्यक्त्वका संवेग गुण लक्षण है और अरहन्तोंकी भक्ति और वात्सल्य ये दोनों गुण संवेग गुणके लक्षण हैं, इसलिये ये दोनों सम्यक्त्वके उपलक्षण प्राप्त होते

तत्र भक्तिरनौद्धत्यं वाग्वपुश्चेतसां शमात् । वात्सल्यं तद्गुणोत्कर्षहेतवे सोद्यतं मनः ॥११३
भक्तिर्वा नाम वात्सल्यं न स्यात्संवेगमन्तरा । संवेगो हि दृशो लक्ष्म द्वावेतावुपलक्षणौ ॥११४
दृग्मोहस्योदयाभावात्प्रसिद्धः प्रशमो गुणः । तत्रापि व्यञ्जकं बाह्यान्निन्दनं चापि गर्हणम् ॥११५
निन्दनं तत्र दुर्वाररागादौ दुष्टकर्मणि । पश्चात्तापकरो बन्धो नोपेक्ष्यो नाप्यपेक्षितः ॥११६
गर्हणं तत्परित्यागः पञ्चगुर्वात्मसाक्षिकः । निष्प्रमादतया नूनं शक्तितः कर्महानये ॥११७
अर्थादेव द्वयं सूक्तं सम्यक्त्वस्योपलक्षणम् । प्रशमस्य कषायाणामनुद्रेकाविशेषतः ॥११८
शेषमुक्तं यथाम्नायाद् ज्ञातस्य परमागमात् । आगमाब्धेः परम्पारं मादृगन्तुं क्षमः कथम् ॥११९
एवमित्यादिसत्यार्थं प्रोक्तं सम्यक्त्वलक्षणम् । कैश्चिल्लक्षणिकैः सिद्धैः प्रसिद्धं सिद्धसाधनात् १२०
भवेद्दर्शनिको नूनं सम्यक्त्वेन युतो नरः । दर्शनप्रतिमाभासः क्रियावानपि तद्विना ॥१२१
देशतः सर्वतश्चापि क्रियारूपं व्रतादि यत् । सम्यक्त्वेन विना सर्वमव्रतं कुतपश्च तत् ॥१२२
ततः प्रथमतोऽवश्यं भाव्यं सम्यक्त्वधारिणा । अव्रतिनाणुव्रतिना मुनिनाथेन सर्वतः ॥१२३

हैं ॥११२॥ कर्मोंका उपशम हो जानेसे वचन, शरीर और चित्तका उद्धत न होना ही भक्ति है और सम्यक्त्वके गुणोंका उत्कर्ष करनेके लिए मनका तत्पर रहना ही वात्सल्य है ॥११३॥ भक्ति और वात्सल्य ये संवेगके विना नहीं होते, इसलिये संवेग सम्यग्दर्शनका लक्षण है और ये दोनों उसके उपलक्षण हैं ॥११४॥ दर्शनमोहनीयके उदयाभावसे प्रशम गुण होता है और उसके निन्दा और गर्हा ये वाह्य रूपसे अभिव्यंजक हैं ॥११५॥ वारण करनेके लिये कठिन ऐसे रागादि दुष्ट कर्मके सद्भावमें वन्ध अवश्य होता है जो न तो अपेक्षणीय है और न उपेक्षित भी है इस प्रकार पश्चात्ताप करना निन्दन है ॥११६॥ और प्रमाद रहित होकर शक्त्यनुसार कर्मोंका नाश करनेके के लिये पाँच गुरु और अपनी साक्षीपूर्वक रागादि भावोंका त्याग करना गर्हा है ॥११७॥ यतः प्रशम गुणके समान इन दोनों गुणोंमें कषायोंके अनुद्रेककी अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है अतः ये दोनों वास्तवमें सम्यक्त्वके उपलक्षण हैं यह जो पहले कहा है सो बहुत ही अच्छा कहा है ॥११८॥ इस प्रकार पहले सम्यक्त्वके जिन गुणोंका वर्णन कर आये हैं उनके सिवाय शेष कथन आम्नायके अनुसार परमागमसे जान लेना चाहिये, क्योंकि आगमरूपी समुद्रके उस पार जानेके लिए हम सरीखे जन कैसे समर्थ हो सकते हैं ॥११९॥ इस प्रकार ऊपर लिखे अनुसार जो सम्यग्दर्शनका लक्षण कहा है वही यथार्थ लक्षण है। वही लक्षण समस्त लक्षणोंके जानकार कितने ही सिद्ध पुरुषोंने कहा है और यही लक्षण हेतुवादसे सिद्ध होता है ॥१२०॥ इस प्रकार जिस सम्यग्दर्शनका लक्षण कहा है उससे जो सुशोभित होता है जिसके वह सम्यग्दर्शन होता है वह मनुष्य दार्शनिक अथवा दर्शन प्रतिमावाला कहलाता है। यदि किसी मनुष्यके वह सम्यग्दर्शन न हो और वह मनुष्य क्रियावान् हो, यत्नाचारसे चलने वाला या व्रतादिकोंको पालन करनेवाला हो तो भी दर्शनिक या दर्शनप्रतिमावाला नहीं कहलाता, दर्शनप्रतिमाभास अथवा मिथ्यादृष्टि कहलाता है ॥१२१॥ क्योंकि संसारमें जितने भी क्रियारूप व्रत या तप हैं वे चाहे एकदेशरूप हों और चाहे पूर्णरूप महाव्रत हों वे सब विना सम्यग्दर्शनके अव्रत कहलाते हैं तथा विना सम्यग्दर्शनके जितना भी तप है वह सब कुतप कहलाता है ॥१२२॥ इसलिए अव्रती श्रावकोंको या अणुव्रतादि गृहस्थोंके वारह व्रत धारण करनेवाले श्रावकोंको और महाव्रतादि धारण करनेवाले मुनियोंको सबसे पहले सम्यग्दर्शन अवश्य धारण करना चाहिये ॥१२३॥

ऋते सम्यक्त्वभावं यो धत्ते व्रततपःक्रियाम् । तस्य मिथ्यागुणस्थानमेकं स्यादागमे स्मृतम् ॥१२४
प्रकृतोऽपि नरो नैव मुच्यते कर्मबन्धनात् । स एव मुच्यतेऽवश्यं यदा सम्यक्त्वमश्नुते ॥१२५
किञ्च प्रोक्ता क्रियाऽप्येषा दर्शनप्रतिमात्मिका । सम्यक्त्वेन युता चेत्सा तद्गुणस्थानवर्तिना ॥१२६
तत्राप्यस्ति विशेषोऽयं तुर्यपञ्चमयोर्द्वयोः । योगाद्वा रूढितश्चापि गुणस्थानविशेषयोः ॥१२७
सैवैका क्रिया साक्षादष्टमूलगुणात्मिका । व्यसनाद्युज्झिता चापि दर्शनेन समन्विता ॥१२८
एवमेव च सा चेत्स्यात्कुलाचारक्रमात्परम् । विना नियमादि तावत्प्रोच्यते सा कुलक्रिया ॥१२९
भावशून्याः क्रिया यस्मान्नेष्टसिद्धयै भवन्ति हि । क्रियामात्रफलं चास्ति स्वल्पभोगानुषङ्गजम् ॥१३०
दर्शनप्रतिमा नास्य गुणस्थानं न पञ्चमम् । केवलं पाक्षिकः सः स्याद्गुणस्थानादसंयतः ॥१३१
किञ्च सोऽपि क्रियामात्रात्कुलाचारक्रमागतात् । स्वर्गादिसम्पदो भुक्त्वा क्रमाद्याति शिवालयम् १३२

शास्त्रोंमें लिखा है कि विना सम्यग्दर्शनके जो व्रत या तपश्चरणकी क्रियाओंको धारण करता है उसके सदा पहला मिथ्यात्वगुण स्थान ही रहता है ॥१२४॥ विना सम्यग्दर्शनके कैसा ही विद्वान् पुरुष क्यों न हो कर्मबन्धनसे कभी छूट नहीं सकता तथा वही मनुष्य जब सम्यग्दर्शन धारण कर लेता है तब फिर वह उन कर्मबन्धनोंसे अवश्य छूट जाता है ॥१२५॥ ऊपर जो यह दर्शन प्रतिमारूप क्रिया बतलायी है वह यदि उन गुणस्थानोंमें होनेवाले सम्यग्दर्शनके साथ हो तब तो वह दर्शनप्रतिमा कहलाती है अन्यथा नहीं ॥१२६॥ उसमें भी इतना विशेष है कि सम्यग्दर्शनके साथ-साथ आठ मूलगुणोंका साक्षात् धारण करनेरूप क्रिया तथा सातों व्यसनोंके त्याग करनेरूप क्रिया योगसे तथा रूढ़िसे चौथे पाँचवें दोनों विशेष गुणस्थानोंमें एक-सी ही होती है। भावार्थ—चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शन भी होता है और आठ मूलगुणोंका पालन तथा सातों व्यसनोंका त्याग भी होता है। पाँचवें गुणस्थानमें भी ये सब क्रियायें होती हैं। इस प्रकार चौथे पाँचवें दोनों गुणस्थानोंमें ये ऊपर लिखी क्रियायें एक-सी होती हैं तथापि उनमें नीचे लिखे अनुसार अन्तर है ॥१२७–१२८॥ यदि ये ऊपर लिखी क्रियाएँ विना किसी नियमके यों ही कुलपरम्परासे चली आयी हों तो उनको व्रत नहीं कहते किन्तु कुलक्रिया कहते हैं। भावार्थ—व्रत तभी कहलाता है जब कि नियमपूर्वक धारण किया जाता है। मद्यमांसादिकका या व्यसनोंका नियमपूर्वक त्याग किये विना कुलाचार कहलाता है व्रत नहीं कहलाता ॥१२९॥ इसका भी कारण यह है कि विना भावोंके को हुई किसी भी क्रियासे अपने इष्टपदार्थोंकी सिद्धि नहीं होती है। ऐसे विना भावोंके जो क्रियाएँ की जाती हैं उनका फल केवल क्रिया करने मात्रका होता है जैसे थोड़ी-सी भोगोपभोगकी सामग्रीका मिल जाना आदि। इसके सिवाय और कुछ फल नहीं मिलता तथा जो त्याग भावपूर्वक किया जाता है उसका फल स्वर्ग मोक्ष मिलता है ॥१३०॥ इस प्रकार जो मनुष्य मद्य, मांस, मधु, पाँचों उदुम्बर तथा व्यसनोंका सेवन नहीं करता, परन्तु उनके सेवन न करनेका नियम भी नहीं लेता, इन ऊपर लिखे पापोंको भावपूर्वक त्याग नहीं करता उसके न तो दर्शनप्रतिमा होती है और न पाँचवाँ गुणस्थान ही होता है। उसको केवल पाक्षिक श्रावक कहते हैं और उसके असंयत नामका चौथा गुणस्थान होता है ॥१३१॥ इस प्रकार सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला पुरुष भी कुलक्रमसे चली आयी परिपाटीके अनुसार जो क्रियाएँ पालन करता है वह भी स्वर्गादिककी सम्पदाओंको भोगकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करता है

सम्यक्त्वेन विहीनोऽपि नियमेनाप्यथोज्झितः । योऽपि कुलक्रियासक्तः स्वर्गादिपदभाग्भवेत् ॥१३३
अथ क्रियां च तामेव कुलाचारोचितां पराम् । व्रतरूपेण गृह्णाति तदा दर्शनिको मतः ॥१३४
दर्शनप्रतिमा चास्य गुणस्थानं च पञ्चमम् । संयतासंयताख्यश्च संयमोऽस्य जिनागमात् ॥१३५
दृगाद्येकादशान्तानां प्रतिमानामनादितः । पञ्चमेन गुणेनामा व्याप्तिः साधीयसी स्मृतेः ॥१३६
ननु या प्रतिमा प्रोक्ता दर्शनाख्या तदादिमा । जैनानां सास्ति सर्वेषामर्थादव्रतिनामपि ॥१३७
मैवं सति तथा तुर्यगुणस्थानस्य शून्यता । नूनं दृक्प्रतिमा यस्माद्गुणे पञ्चमके मता ॥१३८
नोह्यं दृक्प्रतिमामात्रमस्तु तुर्यगुणे नृणाम् । व्रतादिप्रतिमाः शेषाः सन्तु पञ्चमके गुणे ॥१३९
मैवं सति नियमादावव्रतित्वं कुतोऽर्थतः । व्रतादिप्रतिमासूच्चैरव्रतित्वानुषङ्गतः ॥१४०

॥१३२॥ तथा जो पुरुष सम्यग्दर्शनसे भी रहित होता है और नियमपूर्वक भावपूर्वक मद्य, मांस, मधु, उदुम्बर, व्यसन आदिका त्याग भी नहीं करता, केवल अपनी कुलक्रियाका पालन करता है कुलपरम्पराके अनुसार, मद्य, मांस, मधु, पाँचों उदुम्बर और व्यसनोंका सेवन नहीं करता वह मनुष्य भी स्वर्गादिक सुखोंको प्राप्त करता है ॥१३३॥ यदि वही मनुष्य सम्यग्दर्शनके साथ-साथ कुलपरम्परासे चली आयी परिपाटीके अनुसार मद्य, मांस आदिके न सेवन करनेरूप क्रियाओंको व्रतरूपसे धारण कर लेता है तव वह दर्शनप्रतिमाको धारण करनेवाला दार्शनिक कहलाता है ॥१३४॥ इस प्रकार सम्यग्दर्शनके साथ नियमपूर्वक आठों मूलगुणोंको धारण करनेवाले तथा सातों व्यसनोंका त्याग करनेवाले पुरुषके पहली दर्शन प्रतिमा कहलाती है। उसका गुणस्थान संयतासंयत नामका पाँचवाँ गुणस्थान कहलाता है और वह भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंके अनुसार अपने संयमका पालन करता है ॥१३५॥ यह निश्चय है कि सम्यग्दर्शनको आदि लेकर— जो ग्यारह प्रतिमायें हैं उनकी निर्दोष व्याप्ति अनादिकालसे पाँचवें गुणस्थानके साथ ही चली आ रही है ॥१३६॥ यहाँपर शंकाकार कहता है कि यह जो पहिली दर्शनप्रतिमा कही है वह तो समस्त जैनियोंके होती है और इस हिसावसे अव्रत सम्यग्दृष्टिके भी अवश्य होनी चाहिए ॥१३७॥ समाधान—परन्तु यह मानना ठीक नहीं है क्योंकि यदि ऐसा मान लिया जायगा अर्थात् अव्रत सम्यग्दृष्टियोंके भी पहिली प्रतिमा मान ली जायगी तो फिर चौथे गुणस्थानका सर्वथा अभाव मानना पड़ेगा क्योंकि यह नियम है कि दर्शनप्रतिमा पाँचवें गुणस्थानमें ही होती है। भावार्थ— यदि अविरत सम्यग्दृष्टिके ही दर्शनप्रतिमा मान ली जाय तो फिर उसके पाँचवाँ गुणस्थान ही मानना पड़ेगा क्योंकि प्रतिमाएँ सब पाँचवें गुणस्थानमें ही होती हैं तथा अविरत सम्यग्दृष्टिके पाँचवाँ गुणस्थान माननेसे फिर चौथा गुणस्थान कोई बन ही नहीं सकेगा इस प्रकार चौथे गुणस्थानका अभाव ही मानना पड़ेगा ॥१३८॥ यहाँपर शंकाकार फिर कहता है कि अच्छा भाई, मनुष्योंके होनेवाली दर्शनप्रतिमा तो चौथे गुणस्थानमें ही मान लो और शेष बची हुई व्रतादिक दश प्रतिमाओंको पाँचवें गुणस्थानमें मान लो। ऐसा माननेसे कोई विशेष हानि भी नहीं है परन्तु ग्रन्थकार कहते हैं कि यह शंका करना भी ठीक नहीं है। इसका कारण यह है कि नियमपूर्वक मद्य मांसादिकका त्याग कर लेनेपर भी फिर अव्रतीपना किस कारणसे माना जायगा। यदि नियमपूर्वक मद्य, मांसादिकके त्याग करने रूप व्रतको धारण कर लेनेपर भी अव्रत अवस्था मानी जायगी तो फिर व्रत आदि वाकीकी दश प्रतिमाओंको धारण कर लेनेपर भी अव्रत अवस्था मान लेनी पड़ेगी। तथा ऐसा माननेसे फिर पाँचवें गुणस्थानका अभाव या लोप मानना पड़ेगा इसलिए

ततो विविक्षितं साधु सामान्यात्सा कुलक्रिया । नियमेन सनाथा चेद्दर्शनप्रतिमात्मिका ॥१४१
किञ्च मूलगुणादीनामादानेऽथापि वर्जने । समस्ते प्रतिमास्त्य व्यस्ते सति कुलक्रिया ॥१४२
यथा चैकस्य कस्यापि व्यसनस्योज्झने कृते । दर्शनप्रतिमा न स्यात्स्याद्वा साध्वी कुलक्रिया ॥१४३
यदा मूलगुणादानं द्यूतादिव्यसनोज्झनम् । दर्शनं सर्वतश्चैतत्त्रयं स्यात्प्रतिमादिमा ॥१४४
दर्शनप्रतिमायास्तु क्रियाया व्रतरूपतः । तस्याः कुलक्रियायाश्चाविशेषोऽप्यस्ति लेशतः ॥१४५
प्रमादोद्रेकतोऽवश्यं सदोषाः स्यात्कुलक्रियाः । निर्दोषाः स्वल्पदोषा वा दर्शनप्रतिमाः : ॥१४६
यथा कश्चित्कुलाचारी द्यूतातिव्यसनोज्झनम् । कुर्याद्वा न यथेच्छायां कुर्यादेव दृगात्मकः ॥१४७

उक्त शंका सर्वथा अनुचित है। दर्शनप्रतिमा पाँचवें गुणस्थानमें ही होती है। यही सिद्धान्त शास्त्रानुकूल है और अनादिकालसे चला आ रहा है ॥१३९–१४०॥ अतएव सामान्यरीतिसे विना किसी नियमके केवल कुलपरम्परासे चली आयी परिपाटीके अनुसार जो मद्य, मांस, मधु, पाँच उदुम्बर सातों व्यसनोंका सेवन न करना है उसको कुलक्रिया या कुलाम्नाय कहते हैं और यदि उनके सेवन न करनेका नियम ले लिया जाय, नियमपूर्वक मद्यादिकका त्याग कर दिया जाय तो ऐसे सम्यग्दृष्टिके वह दर्शनप्रतिमा कहलाती है। यह जो हमने कहा है सो वहुत ही ठीक शास्त्रानुकूल कहा है ॥१४१॥ उसमें भी इतना विशेष और समझ लेना चाहिए—यदि कोई सम्यग्दृष्टि समस्त आठों मूलगुणोंको धारण करे और समस्त सातों व्यसनोंका त्याग करे तव तो उसके पहिली दर्शनप्रतिमा होती है यदि वह अलग-अलग किसी एक दो व्यसनोंका त्याग करे अथवा मूलगुणोंमेंसे किसी एक दो चार मूलगुणोंको धारण करे तो उसकी पहिली दर्शनप्रतिमा नहीं कहलाती किन्तु कुलक्रिया कहलाती है ॥१४२॥ जैसे किसी सम्यग्दृष्टि मनुष्यने किसी एक व्यसनका त्याग कर दिया तो उसके दर्शनप्रतिमा नहीं कहलायेगी, किन्तु श्रेष्ठ कुलक्रिया कहलावेगी ॥१४३॥ जव उसके पूर्ण सम्यग्दर्शन होगा, आठों मूलगुण होंगे और सातों व्यसनोंका त्याग होगा ये तीनों नियमपूर्वक पूर्ण रीतिसे होंगे, तभी उसके पहली दर्शनप्रतिमा होगी अन्यथा नहीं ॥१४४॥ दर्शनप्रतिमामें होनेवाली व्रतरूप क्रियाओंमें (नियमपूर्वक धारण की हुई क्रियाओंमें) तथा विना नियमके होनेवाली कुलक्रियाओंकी क्रियाओंमें यद्यपि कुछ अंशोंमें अविशेषता है, एकसापन है तथापि यदि यथार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो उसमें वहुत कुछ अन्तर है ॥१४५॥ कुलक्रियामें प्रमादकी तीव्रता होती है क्योंकि प्रमाद ही उसे नियमपूर्वक त्याग नहीं करने देता, अतएव प्रमादकी तीव्रता होनेके कारण कुलक्रियायें सदोष समझी जाती हैं, उनमें समय-समयपर अनेक प्रकारके अनेक दोष लगते रहते हैं तथा दर्शनप्रतिमा धारण करनेवालेकी जो क्रियायें हैं उनमें प्रमादकी अत्यन्त मन्दता है क्योंकि प्रमादोंकी मन्दतासे ही वह नियमपूर्वक उनका त्याग करता है इसीलिए उसकी क्रियायें निर्दोष हैं अथवा मन्दरूपसे प्रमादकी सत्ता रहनेके कारण क्वचित् कदाचित् कुछ थोड़ा-सा दोष लग भी जाता है इसलिए उसे थोड़ेसे दोषवाली क्रियाएँ कहते हैं ॥१४६॥ जैसे कुलक्रियाको पालन करनेवाला कोई पुरुष जुआ खेलने, चोरी करने आदि व्यसनोंका त्याग कर भी सकता है और नहीं भी कर सकता है। त्याग करना और न करना उसकी इच्छापर निर्भर है उसकी इच्छा हो तो त्याग कर दे और यदि उसकी इच्छा न हो तो न करे। उसके नियमपूर्वक त्याग होना ही चाहिए यह वात नहीं है किन्तु दर्शनप्रतिमावालेके नियमपूर्वक इनका त्याग होता है क्योंकि त्याग किये विना दर्शनप्रतिमा हो ही नहीं सकती। वस यही इन दोनोंमें अन्तर है ॥१४७॥

अथ च पाक्षिको यद्वा दर्शनप्रतिमान्वितः । प्रकृतं न परं कुर्यात्कुर्याद्वा वक्ष्यमाणकम् ॥१४८
प्रामाणिकः क्रमोऽप्येष ज्ञातव्यो व्रतसञ्चये । भावना चागृहीतस्य व्रतस्यापि न दूषिका ॥१४९
भावयेद् भावनां नूनमुपर्युपरि सर्वतः । यावन्निर्वाणसम्प्राप्तौ पुंसोऽवस्थान्तरं भवेत् ॥१५०

उक्तं च—

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्कइ तहेव सद्दहणं । सद्दहणमाणो जीवो पावइ अजरामरं ठाणं १९
यथात्र पाक्षिकः कश्चिद्दर्शनप्रतिमोऽथवा । उपर्युपरिशुद्धचर्थं यद्यत्कुर्यात्तदुच्यते ॥१५१
सर्वतो विरतिस्तेषां हिंसादीनां व्रतं महत् । नैतत्सागारिभिः कर्तुं शक्यते लिङ्गमर्हताम् ॥१५२
मूलोत्तरगुणाः सन्ति देशतो वेश्मवर्तिनाम् । तथानगारिणां न स्युः सर्वतः स्युः परेऽथ ते ॥१५३
तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम् । क्वचिदव्रतिनां यस्मात्सर्वसाधारणा इमे ॥१५४

निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणाः स्फुटम् ।
तद्विनापि व्रतं यावत्सम्य ॑ च गुणोऽङ्गिनाम् ॥१५५

जो पाक्षिक श्रावक होता है अथवा दर्शनप्रतिमाधारी श्रावक होता है वह कुलपरम्परा से चली आयी परिपाटीका पालन नहीं करता, किन्तु नीचे लिखे अनुसार व्रतोंका पालन करता है ॥१४८॥ व्रतोंके धारण करनेमें यही क्रम प्रामाणिक समझना चाहिए तथा जो आगेके व्रत धारण नहीं किये हैं उनको धारण करनेके लिए भावना रखनेमें कोई दोष नहीं है ॥१४९॥ जब तक इस जीवकी अन्तिम शुद्ध अवस्था प्राप्त न हो जाय अर्थात् मोक्ष प्राप्त न हो जाय तब तक ज्यों ज्यों ऊँचे व्रत धारण करता जाय, त्यों त्यों आगेके व्रत धारण करनेके लिए सर्वत्र भावनाएँ रखनी चाहिए ॥१५०॥

कहा भी है—जो कर सकता है वह कर लेना चाहिए और जो नहीं कर सकता उसका श्रद्धान करना चाहिए क्योंकि श्रद्धान करनेवाला जीव अजर अमर ऐसे मोक्षस्थानको प्राप्त होता है ॥१९॥

अब आगे पाक्षिक श्रावक अथवा दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक आगे आगे अपनी आत्माको शुद्ध करनेके लिए क्या क्या करता है, कौन कौनसे व्रत पालन करता है इसी बातको दिखलाते हैं ॥१५१॥ इस संसारमें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह ये पाँच पाप कहलाते हैं। इन पाँचों पापोंका पूर्ण रीतिसे मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदनासे त्याग कर देना महाव्रत कहलाते हैं। यह महाव्रत धारण करना भगवान् अरहंतदेवका चिह्न है। जिनलिङ्ग अथवा निर्ग्रन्थ लिङ्ग कहलाता है। इस अवस्थाको इन महाव्रतोंको गृहस्थ लोग धारण नहीं कर सकते ॥१५२॥ किन्तु गृहस्थ लोग एकदेश व्रतोंको धारण करते हैं। इन्हीं एकदेश व्रतोंको मूलगुण और उत्तरगुण कहते हैं। ये एकदेश व्रत रूप मूलगुण अथवा उत्तरगुण मुनियोंके नहीं होते अपितु गृहस्थोंके ही होते हैं। मुनियोंके तो हिंसादि पाँचों पापोंके पूर्ण रूपसे त्याग करने रूप महाव्रत होते हैं। अथवा यों कहना चाहिए कि मुनियोंके मूलगुण और उत्तरगुण इन गृहस्थोंके मूलगुण या उत्तरगुणोंसे सर्वथा भिन्न हैं ॥१५३॥ इनमेंसे आठ मूलगुण व्रत धारण करनेवाले गृहस्थोंके होते हैं अथवा अव्रती सम्यग्दृष्टियोंके भी होते हैं क्योंकि ये सर्वसाधारण व्रत होते हैं, प्रत्येक मनुष्य के पालन करने योग्य हैं, अतएव व्रती अव्रती दोनों प्रकारके श्रावकोंके होते हैं ॥१५४॥ इस जीवके जब तक सम्यग्दर्शन रूप गुण रहता है तबतक मद्य, मांस, मधुका त्याग तथा पाँचों उदुम्बरोंका

एतावता विनाप्येष श्रावको नास्ति नामतः । किं पुनः पाक्षिको गूढो नैष्ठिकः साधकोऽथ वा ॥१५६
मद्यमांसमधुत्यागी यथोदुम्बरपञ्चकम् । नामतः श्रावकः ख्यातो नान्यथापि तथा गृही ॥१५७
यथाशक्ति विधातव्यं गृहस्थैर्व्यसनोज्झनम् । अवश्यं तद्व्रतस्थैस्तैरिच्छद्भिः श्रेयसीं क्रियाम् ॥१५८
त्यजेद् दोषांस्तु तत्रोक्तान् सूत्रेऽतीचारसंज्ञकान् । अन्यथा मद्यमांसादीन् श्रावकः कः समाचरेत्॥ १५९
दानं चतुर्विधं देयं पात्रबुद्धयाऽथ श्रद्धया । जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रेभ्यः श्रावकोत्तमैः ॥१६०
कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देयं यथोचितम् । पात्रबुद्धया निषिद्धं स्यान्निषिद्धं न कृपाधिया ॥१६१
शेषेभ्यः क्षुत्पिपासादि पीडितेभ्योऽशुभोदयात् । दीनेभ्योऽभयदानादि दातव्यं करुणार्णवैः ॥१६२
पूजामप्यर्हतां कुर्याद्यद्वा तत्प्रतिमासु च । स्वरव्यञ्जनान् संस्थाप्य सिद्धानप्यर्चयेत्सुधीः ॥१६३
सूर्युपाध्यायसाधूनां पुरस्तात्पादयोः स्तुतिम् । प्राग्विधायाष्टधा पूजां विदध्यात्स त्रिशुद्धितः ॥१६४

त्याग रूप गुण चाहे तो स्वभावसे हों और चाहे कुलपरम्पराकी परिपाटीके अनुसार चले आ रहे हों, नियम रूपसे या व्रत रूपसे धारण न किये हों तो भी वे गुण ही कहलाते हैं ॥१५५॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि इन गुणोंको धारण किये विना यह मनुष्य नाम मात्रसे भी श्रावक नहीं कहला सकता। फिर भला पाक्षिक श्रावक या गूढ़ श्रावक या नैष्ठिक श्रावक अथवा साधक श्रावक किस प्रकार कहला सकता है ॥१५६॥ जो मनुष्य मद्य, मांस, मधुका त्यागी है और जिसने पाँचों उदुम्बरोंका त्याग कर दिया है ऐसा गृहस्थ नाम मात्रका श्रावक कहलाता है। जिसने इन मद्य मांसादिकका त्याग नहीं किया है वह कभी श्रावक नहीं कहलाता। ऐसे गृहस्थको केवल गृहस्थ कहते हैं श्रावक नहीं कहते अतएव पाक्षिक श्रावकको अथवा दर्शन प्रतिमाधारी श्रावकको इन मद्य मांसादिकका त्याग अवश्य कर देना चाहिए ॥१५७॥ इसी प्रकार जो गृहस्थ अपनी कल्याणमय क्रियाओंको करना चाहते हैं, और जिन्होंने ऊपर लिखे मद्य, मांसादिकका त्याग कर दिया है, मूलगुण धारण कर लिये हैं, ऐसे गृहस्थोंको अपनी शक्तिके अनुसार सातों व्यसनोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिए ॥१५८॥ सूत्रोंमें या शास्त्रोंमें इन आठों मूलगुणोंके अथवा सातों व्यसनोंके जो दोष वतलाए हैं जिनको अतिचारोंके नामसे कहा गया है उनका भी त्याग अवश्य कर देना चाहिए। अन्यथा ऐसा कौन श्रावक है जो मद्य, मांसादिकको साक्षात् सेवन करे ॥१५९॥ इसी प्रकार उत्तम श्रावकोंको जघन्य पात्र या मध्यम पात्र अथवा उत्तम पात्रोंके लिए पात्र बुद्धिसे अथवा श्रद्धापूर्वक आहार दान, औषध दान, उपकरण दान और वसतिका दान या अभय दान यह चारों प्रकारका दान अवश्य देना चाहिए ॥१६०॥ इसी प्रकार कुपात्रोंके लिए तथा अपात्रोंके लिए भी उनकी योग्यतानुसार उचित दान देना चाहिए। शास्त्रोंमें इन अपात्र या कुपात्रोंके लिए दान देनेका निषेध पात्र बुद्धिसे किया है। करुणा बुद्धिसे दान देनेका निषेध नहीं किया है ॥१६१॥ इन पात्र कुपात्र अपात्रोंके सिवाय और भी जो जीव अपने अशुभ कर्मके उदयसे भूख या प्यास आदिसे पीड़ित हों या कोई दीन दुःखी हों उनके लिए भी करुणासागर श्रावकोंको अभयदान आदि योग्यतानुसार उचित दान देना चाहिए ॥१६२॥ इसी प्रकार बुद्धिमान् श्रावकोंको भगवान् अरहन्तदेवकी पूजा करनी चाहिए अथवा भगवान् अरहन्तदेवकी प्रतिमामें भगवान्की पूजा करनी चाहिए तथा स्वर और व्यंजनोंको स्थापन कर सिद्ध यन्त्र वनाकर सिद्ध भगवान्की पूजा करनी चाहिए ॥१६३॥ इसी प्रकार मन, वचन, कायकी शुद्धतापूर्वक आचार्य उपाध्याय साधुओंकी जल-चन्दनादिक आठों द्रव्योंसे पूजा करनी चाहिए और फिर उनके समीप वैठकर उनके चरण कमलोंकी स्तुति करनी चाहिए ॥१६४॥

सन्मानादि यथाशक्ति कर्तव्यं च सधर्मिणाम् । व्रतिनां चेतरेषां वा विशेषाद् ब्रह्मचारिणाम् ॥१६५
नारीभ्योऽपि व्रताढ्याभ्यो न निषिद्धं जिनागमे । देयं सन्मानदानादि लोकानामविरोधतः ॥१६६
जिनचैत्यगृहादीनां निर्माणे सावधानता । । यथासम्पद्विधेयास्ति दूष्या नावद्यलेशतः ॥१६७
सिद्धानामर्हतां चापि यन्त्राणि प्रतिमाः शुभाः । चैत्यालयेषु संस्थाप्य द्राक् प्रतिष्ठापयेत्सुधीः ॥१६८
अपि तीर्थादियात्रासु विदध्यात्सोद्यतं मनः । श्रावकः स च तत्रापि संयमं न विराधयेत् ॥१६९
नित्ये नैमित्तिके चैत्यजिनविम्बमहोत्सवे । शैथिल्यं नैव कर्तव्यं तत्त्वज्ञैस्तद्विशेषतः ॥१७०
संयमो द्विविधश्चैव विधेयो गृहमेधिभिः । विनापि प्रतिमारूपं व्रतं यद्वा स्वशक्तितः ॥१७१
तपो द्वादशधा द्वेधा वाह्याभ्यन्तरभेदतः । कृत्स्नमन्यतमं वा तत्कार्यं चानतिवीर्यवान् ॥१७२

तदनन्तर अपनी शक्तिके अनुसार व्रती या अव्रती धर्मात्माओंका आदर सत्कार करना चाहिए तथा ब्रह्मचारी त्यागियोंका आदर सत्कार विशेष रीतिसे करना चाहिए ॥१६५॥ जो स्त्रियाँ व्रत पालन करती हैं, ब्रह्मचारिणी हैं अथवा क्षुल्लिका हैं उनका आदर सत्कार करना भी जैन शास्त्रोंमें निषिद्ध नहीं वतलाया है। ऐसी स्त्रियोंका आदर सत्कार भी इस प्रकार करना चाहिए जिससे लौकिक दृष्टिमें कोई किसी प्रकारका विरोध न आवे ॥१६६॥ भगवान् अरहन्तदेवकी प्रतिमा या जिनालय वनवानेमें भी सावधानी रखनी चाहिए। जिन प्रतिमा या जिनालय इस अच्छी रीतिसे वनवाना चाहिए जिससे कि थोड़ेसे भी पापोंसे दूषित न होने पावें ॥१६७॥ वुद्धिमान् गृहस्थोंको सिद्ध परमेष्ठीके यंत्र वनवाने चाहिए तथा अनेक शुभ लक्षणोंसे सुशोभित ऐसी अरहन्त भगवान्‌की प्रतिमाएँ वनवानी चाहिए। उन सिद्ध यंत्र और जिन प्रतिमाओंको जिनालयमें स्थापन कर सवसे पहले उनकी प्रतिष्ठा करानी चाहिए ॥१६८॥ श्रावकोंको तीर्थ यात्रा, संघयात्रा आदि करनेके लिए भी अपने मनको सदा उत्साहित रखना चाहिए। परन्तु इतना ध्यान रखना चाहिए कि उन तीर्थ यात्रा आदि करनेमें अपने संयममें किसी प्रकारकी वाधा या विराधना नहीं होनी चाहिए ॥१६९॥ प्रतिदिन होनेवाली पूजा वन्दना या अभिषेक आदिमें तथा किसी निमित्तसे होने वाले अभिषेक पूजा वन्दना आदिमें या किसी जिन प्रतिमा या जिनालयके महोत्सवमें पूजा प्रतिष्ठा रथोत्सव आदि पुण्य वढ़ाने वाले प्रभावनाके कार्योंमें श्रावकोंको कभी शिथिल नहीं होना चाहिए। तथा जो तत्त्वोंके जानकार विद्वान् श्रावक हैं उनको विशेष रीतिसे ऐसे कार्योंमें उत्साह पूर्वक भाग लेना चाहिए। विद्वान् श्रावकोंको तो ऐसे पुण्यवर्द्धक कार्योंमें कभी भी शिथिलता नहीं करनी चाहिए ॥१७०॥ इसी प्रकार गृहस्थ श्रावकोंको इन्द्रिय संयम और प्राण संयम दोनों प्रकारके संयमोंका पालन करना चाहिए अथवा जिन्होंने प्रतिमा रूपसे व्रत धारण नहीं किये हैं ऐसे पाक्षिक श्रावकोंको अपनी शक्तिके अनुसार अहिंसादिक अणुव्रतोंका पालन करना चाहिए ॥१७१॥ इसी प्रकार तपके दो भेद हैं—वाह्यतप और अन्तरंग तप। वाह्यतपके अनशन, अवमोदर्य, वृत्ति-परिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश ये छह भेद हैं तथा अन्तरंग तपके प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह भेद हैं। इस प्रकार वारह प्रकार-का तप भी अपनी शक्तिके अनुसार गृहस्थोंको पालन करना चाहिए। जो गृहस्थ तपश्चरण पालन करनेकी अधिक शक्ति नहीं रखते उन्हें भी एक दो चार आदि जितने वन सकें उतने तपश्चरण पालन करने चाहिए ॥१७२॥

उक्तं दिग्मात्रतोऽप्यत्र प्रसङ्गाद्वा गृहिव्रतम् । वक्ष्ये चोपासकाध्यायं सावकाशं सविस्तरम् ॥१७३

इति दर्शनप्रतिमानामके महाधिकारे सम्यग्दर्शनसामान्यलक्षणवर्णनो नाम
द्वितीयः सर्गः समाप्तः ॥२॥

●

इस प्रकार प्रकरणके अनुसार हमने यहाँ पर थोड़ा-सा गृहस्थोंका व्रत बतलाया है। आगे अवकाशके समय या धीरे धीरे विस्तारके साथ श्रावकाचारका वर्णन करेंगे ॥१७३॥

इस प्रकार दर्शनप्रतिमा नामके महाअधिकारमें सम्यग्दर्शनके सामान्य लक्षणका वर्णन
करनेवाला यह द्वितीय सर्ग समाप्त हुआ ॥२॥

●

तृतीय सर्ग

ननु तद्दर्शनस्यैतल्लक्षणं स्यादशेषतः । किमथास्त्यपरं किञ्चिल्लक्षणं तद्वदाद्य नः ॥१
सम्यग्दर्शनमष्टाङ्गमस्ति सिद्धं जगत्त्रये । लक्षणं च गुणश्चाङ्गं शब्दाश्चैकार्थवाचकाः ॥२
निःशङ्कितं तथा नाम निःकाङ्क्षितमतः परम् । विचिकित्सावर्जं चापि यथादृष्टेरमूढता ॥३
उपवृंहणनामाथ सुस्थितीकरणं तथा । वात्सल्यं च यथाम्नायाद्गुणोऽप्यस्ति प्रभावना ॥४
शङ्का भीः साध्वसं भीतिर्भयमेकाभिधा अमी ।
। निष्क्रान्तितो जातो भावो निःशङ्कितोऽर्थतः ॥५
अर्थवशादत्र सूत्रार्थे शङ्का न स्यान्मनीषिणाम् । सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः सन्ति चास्तिक्यगोचराः ॥६
तत्र धर्मादयः सूक्ष्माः सूक्ष्माः कालाणवोऽणवः । अस्ति सूक्ष्मत्वमेतेषां लिङ्गस्याक्षैरदर्शनात् ॥७
अन्तरिता यथा द्वीपसरिन्नाथनगाधिपाः । दूरार्था भाविनोऽतीता रामरावणचक्रिणः ॥८
न स्यान्मिथ्यादृशो ज्ञानमेतेषां क्वाप्यसंशयम् । संशयादथ हेतोर्वै दृग्मोहस्योदयात्सतः ॥९
न चाऽऽशङ्क्यं परोक्षास्ते सदृष्टेर्गोचराः कुतः । तैः सह सन्निकर्षस्य साक्षिकस्याप्यसम्भवात् ॥१०

शंकाकार कहता है कि क्या सम्यग्दर्शनका सम्पूर्ण लक्षण इतना ही है अथवा कुछ और भी है। यदि इसके सिवाय और भी कोई लक्षण है तो उसे आज कहिये ॥१॥ तीनों लोकोंमें सम्यग्दर्शनके आठ अंग प्रसिद्ध हैं तथा लक्षण, गुण, अंग आदि सब शब्द एक ही अर्थको कहनेवाले हैं ॥२॥ निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपवृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये सम्यग्दर्शनके आठ अंग शास्त्रोंकी परम्परापूर्वक अनादिकालसे चले आ रहे हैं ॥३-४॥ शंका, भी, साध्वस, भीति और भय ये शब्द एक ही अर्थको कहनेवाले हैं। जो आत्माके भाव इन शब्दोंके द्वारा कही जानेवाली शंकासे रहित हैं उसीको निःशंकित अंग कहते हैं ॥५॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि बुद्धिमानोंको अपने किसी भी प्रयोजनसे किसी भी सूत्रके अर्थमें किसी भी पदार्थके स्वरूपमें शंका नहीं करनी चाहिये। संसारमें जो पदार्थ सूक्ष्म हैं, इन्द्रियगोचर नहीं हैं, जो अन्तरित हैं अर्थात् जिनके मध्यमें अनेक नदी पर्वत क्षेत्र द्वीप समुद्र आदि पड़ गये हैं अथवा जो दूरार्थ हैं अर्थात् जो सैकड़ों हजारों वर्ष पहले हो चुके हैं ऐसे समस्त पदार्थोंपर गाढ विश्वास होना चाहिए। ये सब पदार्थ पहले कहे हुए आस्तिक्य गुणके गोचर होने चाहिए ॥६॥ धर्म-अधर्म आकाश आदि सब सूक्ष्म पदार्थ हैं, कालाणु भी सब सूक्ष्म हैं और पुद्गलके परमाणु भी सब सूक्ष्म हैं। ये सब पदार्थ इन्द्रियगोचर नहीं होते और न इनका कोई यथेष्ट हेतु दिखाई पड़ता है इसीलिये ये सूक्ष्म कहलाते हैं ॥७॥ नंदीश्वरादिक द्वीप, क्षीरसागर आदि सागर, मेरु आदिक पर्वत अन्तरित कहलाते हैं। इसी प्रकार राम, रावण, चक्रवर्ती, तीर्थंकर आदि जो पहले हो चुके हैं उनको दूरार्थ कहते हैं ॥८॥ इस प्रकारके सूक्ष्म अन्तरित और दूरार्थ पदार्थोंका ज्ञान मिथ्यादृष्टियोंको कभी भी सन्देह रहित नहीं होता, क्योंकि दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे उस मिथ्यादृष्टिके सदा सन्देह बना रहता है ॥९॥ कदाचित् यहाँपर कोई यह शंका करे कि सूक्ष्म अन्तरित और दूरार्थ ये सब परोक्ष पदार्थ हैं फिर भला वे सम्यग्दृष्टिके ज्ञानगोचर किस प्रकार हो जायेंगे क्योंकि उन सूक्ष्मादिक पदार्थोंका इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध होना तो असम्भव ही है।

अस्ति पि सम्यक्त्वमाहात्म्यं महतां महत् । यदस्य जगतो ज्ञानमस्त्यास्तिक्यपुरस्सरम् ॥११
नासम्भवमिदं यस्मात्स्वभावोऽतर्कगोचरः । अतिशयोऽतिवागस्ति योगिनां योगिशक्तिवत् ॥१२
अस्ति चात्मपरिच्छेदि ज्ञानं सम्यग्दृगात्मनः । स्वसंवेदनप्रत्यक्षं शुद्धं सिद्धास्पदोपमम् ॥१३
ानुभूयमानोऽपि सर्वैरावालमात्मनि । मिथ्याकर्मविपाकाद्वै नानुभूतिः शरीरिणाम् ॥१४
सम्यग्दृष्टेः कुदृष्टेश्च स्वादुभेदोऽस्ति वस्तुनि । न तत्र वास्तवो भेदो वस्तुसोम्नोऽनतिक्रमात् ॥१५
तात्पर्यमेवैतत्तत्त्वैकत्वेऽपि यो भ्रमः । शङ्कायाः सोऽस्त्यपराधो सास्ति मिथ्योपजीविनी ॥१६
ननु शङ्काकृतो दोषो यो मिथ्यानुभवो नृणाम् । शङ्कापि कुतो न्यायादस्ति मिथ्योपजीविनी ॥१७
अत्रोत्तरं कुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्युतः । नापि स्पृष्टः सुदृष्टिर्यः सप्तभिः स भयैर्मनाक् ॥१८

भावार्थ—शंकाकार कहता है कि जब सूक्ष्मादिक पदार्थोंका इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध ही नहीं होता तो फिर उनका ज्ञान जैसा मिथ्यादृष्टिको होता है वैसा ही सम्यग्दृष्टिको होना चाहिये। जिस प्रकार इन सूक्ष्मादिक पदार्थोंके ज्ञानमें मिथ्यादृष्टिको सन्देह रहता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टिको भी सन्देह रहना चाहिये परन्तु शंकाकारकी यह शंका ठीक नहीं है ॥१०॥ क्योंकि परोक्ष पदार्थोंके जाननेमें महापुरुषोंके सम्यग्दर्शनका ऐसा ही कुछ बड़ा भारी माहात्म्य रहता है जिससे कि उनके संसार भरका ज्ञान आस्तिक्य गोचर होता है। भावार्थ—सम्यग्दर्शनका एक आस्तिक्य गुण है जिससे यह सम्यग्दृष्टि जीव भगवान् सर्वज्ञदेवके कहे हुए सूक्ष्मादिक समस्त पदार्थोंका ज्योंके त्यों सत्तारूपसे श्रद्धान करता है तथा उसी आस्तिक्य गुणके कारण उन सूक्ष्मादिक पदार्थोंको अस्तिरूप समझता है। मिथ्यादृष्टि पुरुषके वह आस्तिक्य गुण होता नहीं इसलिये मिथ्यादृष्टिको उन पदार्थोंका ज्ञान सन्देहरहित नहीं होता तथा आस्तिक्य गुण होनेके कारण सम्यग्दृष्टिको उन पदार्थोंका ज्ञान सन्देहरहित होता है ॥११॥ "आस्तिक्यगुणके कारण सम्यग्दृष्टिको समस्त संसारके पदार्थोंका ज्ञान सन्देहरहित हो जाता है" यह बात असम्भव नहीं है क्योंकि सम्यग्दृष्टिका स्वभाव ही ऐसा होता है। जो जिसका जैसा स्वभाव होता है उसमें किसी भी प्रकारका तर्क-वितर्क नहीं हो सकता। सम्यग्दृष्टिका यह अतिशय वचनोंके अगोचर होता है। जैसे योगियोंकी योग शक्ति वचनोंके अगोचर होती है ॥१२॥ सम्यग्दृष्टिका ज्ञान आत्माके शुद्ध स्वरूपको जाननेवाला ज्ञान है। वह ज्ञान शुद्ध है, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है और सिद्धोंके समान है ॥१३॥ यह अपने शुद्ध आत्माका अनुभव बालकोंसे लेकर वृद्धोंतक समस्त आत्माओंमें होता है ॥१४॥ इसमें भी इतना और समझ लेना चाहिये कि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिको केवल पदार्थोंके अनुभवमें, स्वाद लेनेमें अन्तर पड़ता है। उन आत्माओंमें कोई किसी प्रकारका वास्तविक भेद नहीं है तथा पदार्थोंकी जो सीमायें हैं, मर्यादाएँ हैं उनका उल्लंघन कभी नहीं होता है ॥१५॥ इस सबके कहनेका अभिप्राय यही है कि यद्यपि जाननेवाला आत्मतत्त्व भी समान है। जैसा मिथ्यादृष्टिका है वैसा ही सम्यग्दृष्टिका है तथा जानने योग्य पदार्थ भी दोनोंके एक ही हैं, भिन्न-भिन्न नहीं हैं तथापि मिथ्यादृष्टिको जो पदार्थोंमें भ्रम होता है वह केवल उसको शंकाका अपराध है। तथा वह शंका उसके मिथ्यात्वकर्मके उदय होनेके कारण होती है ॥१६॥ यहाँपर शंकाकार फिर कहता है कि मनुष्योंको अपने आत्माका मिथ्या या विपरीत अनुभव होता है वह शंकासे होता है यह बात तो ठीक है परन्तु वह शंका मिथ्यात्वकर्मके उदयसे ही होती है यह बात किस प्रकार सिद्ध हो सकती है ? ॥१७॥

इस शंकाका समाधान यह है कि वह शंका मिथ्यात्व कर्मके उदयसे ही होती है अतः

परत्रात्मानुभूतेर्वै विना भीतिः कुतस्तनी । भीतिः पर्ययमूढानां नात्मतत्त्वैकचेतसाम् ॥१९
ततो भीत्यानुमेयोऽस्ति मिथ्या भावो जिनागमात् । सा च भीतिरवश्यं स्याद्धेतोः स्वानुभवक्षतेः ॥२०
अस्ति सिद्धं परायत्तो भीतः स्वानुभवच्युतः । स्वस्थस्य स्वाधिकारित्वान्नूनं भीतेरसम्भवात् ॥२१
ननु सन्ति चतस्रोऽपि संज्ञास्तस्यास्य कस्यचित् । अर्वाक् तत्तत्स्थितिच्छेदस्थानादस्तित्वसम्भवात् २२
तत्कथं नाम निर्भीकः सर्वतो दृष्टिवानपि । अप्यनिष्टार्थसंयोगादस्त्यध्यक्षं प्रमत्तवान् ॥२३
सत्यं भीतोऽपि निर्भीकस्तत्स्वामित्वाद्यभावतः । रूपिद्रव्यं यथा चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति ॥२४

मिथ्या दृष्टि सातों भयोंसे सदा ग्रस्त रहता है। परन्तु जिसके मिथ्यात्व कर्मका उदय नहीं है ऐसा सम्यग्दृष्टि सातों भयोंसे किंचिन्मात्र भी नहीं डरता है। डरनेकी तो बात ही क्या सम्यग्दृष्टि को सातों भय स्पर्श भी नहीं करते हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि शंका या डर उत्पन्न करनेवाला मिथ्यात्व कर्म ही है ॥१८॥ जिस समय यह जीव परपदार्थोंमें अपने आत्माका अनुभव करने लगता है उसी समय इसको भय उत्पन्न होता है। परपदार्थोंमें अपने आत्माका अनुभव हुए विना भय किसी प्रकार उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिए जो जीव आत्माकी विभाव पर्यायों-को ही अपना आत्मा समझ लेते हैं उन्हींको भय होता है। जो जीव केवल अपने शुद्ध आत्माका ही अनुभव करते हैं उनके भय कभी नहीं हो सकता ॥१९॥ इस प्रकार जब यह बात सिद्ध हो चुकी कि भय मिथ्यात्व कर्मके उदयसे ही होता है, उसके उत्पन्न होनेका और कोई कारण नहीं है तब यह बात भी अनुमानसे सिद्ध हो जाती है कि जिन जिन जीवोंके भय है उनके मिथ्यात्व कर्मका उदय अवश्य है तथा यह बात शास्त्रोंसे स्पष्ट है कि मिथ्यात्व कर्मके उदयसे होनेवाला वह भय अपने आत्माके अनुभवका नाश करनेमें अवश्य ही कारण है ॥२०॥ अतएव इस ऊपरके कथनसे यह सिद्ध हुआ कि जो पराधीन है, परपदार्थोंको अपना आत्मा समझ रहा है और इसीलिए जो भय-सहित है वह मनुष्य अपने आत्माके अनुभवसे अवश्य ही रहित है तथा जो मनुष्य अपने आत्माके अनुभवमें लीन है वह अपने ही आत्माका अधिकारी है, परपदार्थका उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है इसलिए उस मनुष्यको किसी भी प्रकारका भय होना नितान्त असम्भव है ॥२१॥ यहाँपर कोई शंकाकार कहता है कि किसी किसी सम्यग्दृष्टिके आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चारों संज्ञाएँ रहती है तथा उन संज्ञाओंका जहाँ तक जिस गुणस्थानतक नाश नहीं होता है वहाँ तक उन संज्ञाओंका अस्तित्व मानना ही पड़ेगा। अतएव सभी सम्यग्दृष्टि निर्भय होते हैं यह बात कैसे बन सकती है अर्थात् जिस सम्यग्दृष्टिके जहाँतक भय संज्ञा है वहाँ तक तो उसके भय मानना ही पड़ेगा इसमें तो उसके कोई सन्देह ही नहीं है। दूसरी बात यह है कि अनिष्ट पदार्थोंका सम्बन्ध होनेपर सम्यग्दृष्टिको भी प्रमाद उत्पन्न होता है और प्रमादके कारण वह भय करने लगता है यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है, अर्थात् सर्पादिक अनिष्ट पदार्थोंका संयोग होने पर उनसे वचनेका प्रयत्न वह करता ही है। इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टिको भी भय होता है वह सदा निर्भय नहीं रहता है ॥२२-२३॥ समाधान—यह बात ठीक है कि किसी किसी सम्यग्दृष्टिको भय होता है, किन्तु वह सम्यग्दृष्टि भयवान होता हुआ भी निर्भय होता है। इसका भी कारण यह है कि यद्यपि उसके चारों संज्ञाएँ हैं उन संज्ञाओंके कारण उसको भय उत्पन्न होता है परन्तु उसीके साथ यह भी है कि वह सम्यग्दृष्टि अपने आत्माको उन संज्ञाओं का स्वामी नहीं समझता अथवा यों कहना चाहिए कि उन संज्ञाओंको अपनी नहीं समझता किन्तु

सन्ति संसारिजीवानां कर्मांशाश्चोदयागताः। मुह्यन् रज्यन् द्विषंस्तत्र तत्फलेनोपयुज्यते ॥२५
एतेन हेतुना ज्ञानी निःशङ्को न्यायदर्शनात्। देशतोऽप्यत्र मूर्च्छाया शङ्काहेतोरसम्भवात् ॥२६
स्वात्मसञ्चेतनं तस्य कीदृगस्तीति चिन्त्यते। येन कर्मापि कुर्वाणो कर्मणा नोपयुज्यते ॥२७
तत्र भीतिरिहामुत्र लोके वा वेदनाभयम्। चतुर्थी भीतिरत्राणं स्यादगुप्तिस्तु पञ्चमी ॥२८
भीतिः स्याद्वा तथा मृत्युर्भीतिराकस्मिकी ततः। क्रमादुद्देशिताश्चेति सप्तैताः भीतयः स्मृताः ॥२९
तत्रेह लोकतो भीतिः क्रन्दितं चात्र जन्मनि। इष्टार्थस्य व्ययो मा भून्मा मेऽनिष्टार्थसङ्गमः ॥३०
स्यास्यतीदं धनं नो वा दैवान्माभूद्दरिद्रता। इत्याद्याधिश्चिता दग्धुं ज्वलिते वा दृगात्मनः ॥३१
अर्थादज्ञानिनो भीतिर्भीतिर्न ज्ञानिनः क्वचित्। यतोऽस्ति हेतुतः शेषाद्विशेषश्चानयोर्महान् ॥३२

कर्मोंसे उत्पन्न होनेके कारण उन्हें पौद्गलिक या परपदार्थ रूप समझता है, अथवा उन्हें कर्म-जन्य उपाधि समझता हुआ परपदार्थ रूप मानता है इसीलिए उन संज्ञाओंके होनेपर भी उसको भय उत्पन्न नहीं होता जैसे चक्षु रूपादिक परपदार्थोंको देखता हुआ भी नहीं देखता। भावार्थ—यद्यपि रूपादिक पदार्थोंको चक्षु देखता है तथापि वास्तवमें देखा जाय तो भावेन्द्रियसे ही पदार्थ देखा जाता है। पुद्गलमयी द्रव्य चक्षुसे कुछ नहीं देखा जाता। यदि द्रव्य चक्षु ही देखता तो उस शरीरसे जीव निकल जानेके बाद भी देखता परन्तु जीव निकल जानेके बाद वह नहीं देखता। इससे सिद्ध होता है कि देखनेकी शक्ति भावेन्द्रियमें अथवा आत्मामें है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टिके समान अपनेको संज्ञाओंका स्वामी समझकर उसमें लीन नहीं होता किन्तु उनसे अपनेको सर्वथा भिन्न समझता है और इसीलिए उन संज्ञाओंसे उत्पन्न होनेवाला भय उसको नहीं होता ॥२४॥ इस संसारमें जितने प्राणी हैं उन सबके कर्मोंकी वर्गणाएँ उदयमें आती रहती हैं। उन कर्मोंके उदय होनेसे जो सुख-दुःखादिक फल मिलता है उसमें यह संसारी जीव मोह करने लगता है या राग करने लगता है अथवा द्वेष करने लगता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि पुरुष इन सब कारणोंके मिलनेपर निःशंक रहता है। न तो उन कर्मोंके फलोंमें राग करता है, न द्वेष करता है और न मोह करता है क्योंकि राग, द्वेष, मोह ये तीनों ही दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे होते हैं तथा सम्यग्दृष्टि पुरुषके दर्शनमोहनीय कर्मका अभाव है इसीलिए उसके राग, द्वेष, मोह उत्पन्न नहीं होते, अतएव यह बात न्यायसे सिद्ध हो जाती है कि सम्यग्ज्ञानीके एकदेश भी मूर्च्छा नहीं है इसलिए उसके शंका होनेके कारण ही असम्भव हैं ॥२५–२६॥ आगे इसी बातका विचार करते हैं कि इस सम्यग्दृष्टिकी ज्ञानचेतना कैसी विचित्र है जिसके कारण वह सम्यग्दृष्टि कर्मोंको करता हुआ भी उनसे उपयुक्त नहीं होता ॥२७॥ संसारमें सात प्रकारके भय हैं। क्रमसे उनके नाम ये हैं—इस लोकका भय, परलोकका भय, वेदनाका भय, चौथा अरक्षाका भय, पाँचवाँ अगुप्तिका भय, छठा मृत्युका भय और सातवाँ आकस्मिक भय। ये सात प्रकारके भय हैं ॥२८–२९॥ इनमेंसे सबसे पहले इस लोकके भयको बतलाते हैं—मेरे इष्ट पदार्थोंका कभी नाश न हो, इसी प्रकार मेरे अनिष्ट पदार्थोंका भी कभी समागम न हो। इस प्रकार इस जन्ममें सदा विलाप करते रहना, इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोगसे सदा डरते रहना इस लोक सम्बन्धी भय कहलाता है ॥३०॥ "यह घर मेरे ठहरेगा अथवा नहीं, मेरे घर दैवयोगसे भी कभी दरिद्रता न हो" इस प्रकारकी अन्तरङ्गकी व्याधि रूपी चिन्ताएँ मानो मिथ्यादृष्टिको जलानेके लिए ही उसके हृदयमें सदा जलती रहती हैं ॥३१॥ इस लोकके भयके लक्षणसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि यह इस लोक सम्बन्धी भय अज्ञानी या मिथ्यादृष्टिको ही होता है। वह इस लोक सम्बन्धी

अज्ञानी कर्म नोकर्म भावकर्मात्मकं च यत् । मनुतेऽहं सर्वमेवैतन्मोहादद्वैतवादवत् ॥३३
विश्वाद्भिन्नोऽपि विश्वं स्वं कुर्वन्नात्मानमात्महा । भूत्वा विश्वमयो लोके भयं नोज्झति जातुचित् ३४
तात्पर्यं सर्वतोऽनित्ये कर्मणां पाकसम्भवात् । नित्यं बुद्ध्वा शरीरादौ भ्रान्तो भीतिमुपैति सः ॥३५
सम्यग्दृष्टिः सदैकत्वं स्वं समासादयन्नियत् । यावत्कर्मातिरिक्तत्वाच्छुद्धमन्येति चिन्मयम् ॥३६
शरीरं सुखदुःखादि पुत्र-पौत्रादिकं तथा । अनित्यं कर्मकार्यत्वादस्वरूपमवैति यः ॥३७

लोकोऽयं मे हि चिल्लोको नूनं नित्योऽस्ति सोऽर्थतः ।
नापरो लौकिको लोकस्ततो भीतिः कुतोऽस्ति मे ॥३८

स्वात्मसञ्चेतनादेवं ज्ञानी ज्ञानैकतानतः । इह लोकभयान्मुक्तो मुक्तस्तत्कर्मबन्धनात् ॥३९
परलोकः परत्रात्मा भाविजन्मान्तरांशभाक् । ततः कम्प इव त्रासो भीतिः परलोकतोऽस्ति सा ॥४०
भद्रं चेज्जन्म स्वर्लोके मामून्मे जन्म दुर्गतौ । इत्याद्याकुलितं चेतः साध्वसं पारलौकिकम् ॥४१
मिथ्यादृष्टेस्तदेवास्ति मिथ्याभावैककारणात् । तद्विपक्षस्य सद्दृष्टेर्नास्ति तत्तत्र व्यत्ययात् ॥४२
बहिर्दृष्टिरनात्मज्ञो मिथ्यामात्रैकभूमिकः । स्वं समासादयत्यज्ञः कर्म कर्म फलात्मकम् ॥४३
ततो नित्यं भयाक्रान्तो वर्तते भ्रान्तिमानिव । मनुते मृगतृष्णायामम्भोभारं जनः कुधीः ॥४४

भय सम्यग्ज्ञानी या सम्यग्दृष्टिको कभी किसी कालमें भी नहीं होता है। इस प्रकारके इस फल-रूप हेतुसे या इस कार्य रूप हेतुसे यह बात सहज सिद्ध हो जाती है कि सम्यग्दृष्टि और मिथ्या-दृष्टिमें बहुत भारी अन्तर है ॥३२॥ यतः अज्ञानी जीव कर्म, नोकर्म और भावकर्ममय है अतः वह इस सबको मोहवश अद्वैतवादके समान अपनेसे अभिन्न मानता है ॥३३॥ वह आत्मघाती विश्वसे भिन्न होकर भी अपने आत्माको विश्वमय मान बैठा है और इस प्रकार विश्वमय होकर लोकमें कभी भी भयसे मुक्त नहीं हो पाता ॥३४॥ तात्पर्य यह है कि यद्यपि शरीरादि सर्वथा अनित्य हैं तो भी वह मिथ्यात्व कर्मके उदयसे इनमें नित्य बुद्धि रखकर भ्रान्त हो रहा है जिससे वह भयको प्राप्त होता है ॥३५॥ किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव सदा ही अपने आत्मामें एकत्वका अनुभव करता है। वह उसे सब कर्मोंसे भिन्न, शुद्ध और चिन्मय मानता है ॥३६॥ वह शरीर, सुख, दुःख और पुत्र, पौत्र आदिकको अनित्य मानता है और कर्मजन्य होनेसे इन्हें आत्माका स्वरूप नहीं मानता ॥३७॥ वह ऐसा विचार करता है कि यह चैतन्य लोक ही मेरा लोक है। वह वास्तवमें नित्य है। इससे भिन्न अलौकिक लोक नहीं है इसलिये मुझे भय कैसे हो सकता है ॥३८॥ इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्माका अनुभव होनेके कारण ज्ञानानन्दमें लीन रहता है। जिससे वह इस लोक सम्बन्धी भयसे सदा मुक्त रहता है और इसके कारणभूत कर्मबन्धनसे भी अपनेको मुक्त अनुभव करता है ॥३९॥ आगामी जन्मान्तरको प्राप्त होनेवाले परभव सम्बन्धी आत्माका नाम ही परलोक है। इसके कारण जीवको कम्पके समान दुःख होता है इसलिये ऐसे भयको परलोक भय कहते हैं ॥४०॥ यदि इस लोकमें जन्म हो तो अच्छा है, दुर्गतिमें मेरा जन्म न होवे इत्यादि रूपसे चित्तका आकुलित होना ही परलोक भय है ॥४१॥ मिथ्यादृष्टि जीवके ऐसा भय अवश्य पाया जाता है, क्योंकि इसका कारण एकमात्र मिथ्याभाव है। किन्तु इससे विपरीत सम्यग्दृष्टिके यह भय नहीं पाया जाता है क्योंकि इसके मिथ्याभावका अभाव हो गया है ॥४२॥ मिथ्यादृष्टि जीव अपनी आत्माको नहीं पहिचानता है, क्योंकि वह एकमात्र मिथ्याभूमिमें स्थित है। वह मूर्ख अपनी आत्माको कर्म और कर्मफल रूप ही अनुभव करता है ॥४३॥ इसलिये

रात्मा तु निर्भीकः पदं निर्भयमाश्रितः । भीतिहेतोरिहावश्यं मिथ्याभ्रान्तेरसम्भवात् ॥४५
मिथ्याभ्रान्तिर्यदन्यत्र दर्शनं चान्यवस्तुनः । कथा रज्जौ तमोहेतोः सर्पाध्यासाद्द्रवत्यधीः ॥४६
स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्योतिर्यो वेत्त्यनन्यसात् । स विभेति कुतो न्यायादन्यथाभवनादपि ॥४७
वेदनागन्तुका वाधा नां कोपतस्तनौ । भीतिः प्रागेव कम्पोऽस्या मोहाद्वा परिदेवनम् ॥४८
उल्लाघोऽहं भविष्यामि मामून्मे वेदना क्वचित् । मूर्च्छैव वेदना भीतिश्चिन्तनं वा मुहुर्मुहुः ॥४९
अस्ति नूनं कुदृष्टेः सा दृष्टिदोषैकहेतुतः । नीरोगस्यात्मनोऽज्ञानान्न स्यात्सा ज्ञानिनां क्वचित् ॥५०
पुद्गलाद्भिन्नचिद्धाम्नो न मे व्याधिः कुतो भयम् । व्याधिः सर्वः शरीरस्य नामूर्तस्येति चिन्तनात् ५१
स्पर्शनादीन्द्रियार्थेषु प्रत्युत्पन्नेषु भाविषु । नादरो यस्य सोऽस्त्यर्थान्निर्भीको वेदनाभयात् ॥५२
व्याधिस्थानेषु तेषूच्चैर्नासिद्धो नादरो मनाक् । वाधाहेतोः स्वतस्ते यस्याविशेषतः ॥५३
अत्राणं क्षणिकैकान्ते पक्षे चित्तक्षणादिवत् । नाशात्प्रागंशनाशस्य त्रातुमक्षमतात्मनः ॥५४
भीतिः प्रागंशनाशात्स्यादंशिनाशभ्रमोऽन्वयात् । मिथ्यामात्रैकहेतुत्वान्नूनं मिथ्यादृशोऽस्ति सा ॥५५
शरणं पर्ययस्यास्तङ्गतस्यापि सदन्वयम् । तमनिच्छन्निवाज्ञः स त्रस्तोऽस्त्यत्राणसाध्वसात् ॥५६

भ्रमिष्ठ पुरुषके समान वह निरन्तर ही भयाक्रान्त रहता है। ठीक ही है क्योंकि अज्ञानी जीव मृगतृष्णामें ही जल समझ बैठता है ॥४४॥ किन्तु जो अन्तरात्मा है वह निर्भय पदको प्राप्त होनेके कारण सदा ही निर्भीक है, क्योंकि भयकी कारणभूत भ्रान्ति इसके नियमसे पायी जाती है ॥४५॥ जो अन्य पदार्थमें किसी अन्य पदार्थका ज्ञान होता है वह मिथ्या भ्रान्ति कहलाती है। जैसे कि अज्ञानी जीव अन्धकारके कारण रस्सीमें सर्पका निश्चय हो जानेसे डरकर भागता है वैसे ही मिथ्यादृष्टि भी मिथ्यात्वके कारण कर्म और कर्मफलमें आत्माका निश्चय कर लेनेसे डरता रहता है ॥४६॥ किन्तु जो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष रूपी ज्योतिको अपनेसे अभिन्न जानता है वह कैसे डर सकता है, क्योंकि उसे ज्ञात रहता है कि कोई भी कार्य अन्यथा नहीं हो सकता है ॥४७॥

शरीरमें वातादि मलोंके कुपित होनेसे जो वाधा उत्पन्न होती है वह वेदना कहलाती है। इस वेदनाके पहले ही शरीरमें कम्प होने लगता है अथवा मोहवश यह जीव विलाप करने लगता है इसीका नाम वेदना भय है ॥४८॥ मैं नीरोग हो जाऊँ, मुझे वेदना कभी भी न हो इस प्रकारकी मूर्च्छाका होना या इस प्रकार वारवार चिन्तवन करना ही वेदना भय है ॥४९॥ वह वेदना भय मिथ्यादर्शनके कारण नीरोग आत्माका ज्ञान न होनेसे मिथ्यादृष्टि जीवके नियमसे होता है। किन्तु ज्ञानी जीवके वह कभी भी नहीं पाया जाता ॥५०॥ ज्ञानी जीव विचार करता है कि आत्मा चैतन्यमात्रका स्थान है जो पुद्गलसे भिन्न है इसलिये जब कि मुझे व्याधि ही नहीं तव भय कैसे हो सकता है। जितनी भी व्याधियाँ हैं वे सब शरीरमें ही होती हैं अमूर्त आत्मामें नहीं ॥५१॥ जिसका स्पर्शन आदि इन्द्रियोंके वर्तमानकालीन और भविष्यत्कालीन विषयोंमें आदर नहीं है वही वास्तवमें वेदनाभयसे निर्भीक है ॥५२॥ सम्यग्दृष्टि जीवके व्याधियोंके आधारभूत इन इन्द्रियोंके विषयोंमें अत्यन्त अनादर भावका पाया जाना असिद्ध नहीं है, क्योंकि वे स्वयं वाधाकी कारण हैं इसलिये उनमें रोगसे कोई भेद नहीं ॥५३॥ जिस प्रकार क्षणिक एकान्त पक्षमें चित्तक्षण आदिकी रक्षा नहीं की जा सकती उसी प्रकार नाशसे पूर्व ही अंशीके नामकी रक्षा करनेमें अपनी असमर्थता मानना अत्राणभय है ॥५४॥ पर्यायके नष्ट होनेके पहले ही अन्वयरूपसे अंशीके नाशका होना अत्राण भय है। इसका कारण मिथ्याभाव है इसलिये यह मिथ्यादृष्टिके नियमसे होता है ॥५५॥ यद्यपि पर्याय निरन्तर नष्ट होती रहती है तथापि अन्वयरूपसे एक सत् ही शरणभूत है। किन्तु

सद्दृष्टिस्तु चिदंशैः स्वैः क्षणे नष्टे चिदात्मनि । पश्यन्न नष्टमात्मानं निर्भयोऽत्राणभीतितः ॥५७
द्रव्यतः क्षेत्रतश्चापि कालादपि च भावतः । नात्राणमंशतोऽप्यत्र कुतस्तद्भीर्महात्मनः ॥५८
दृग्मोहस्योदयाद्बुद्धिर्यस्यैकान्तादिवादिनः । तस्यैवागुप्तिभीतिः स्यान्नूनं नान्यस्य जातुचित् ॥५९
असज्जन्म सतो नाशं मन्यमानस्य देहिनः । कोऽवकाशस्ततो मुक्तिमिच्छातो गुप्तिसाध्वसात् ॥६०
सम्यग्दृष्टिस्तु स्वं रूपं गुप्तं वै वस्तुनो विदन् । निर्भयोऽगुप्तितो भीतेर्भीतिहेतोरसम्भवात् ॥६१
मृत्युः प्राणात्ययः प्राणाः कायवागिन्द्रियं मनः । निश्वासोच्छ्वासमायुश्च दशैते वाक्यविस्तरात् ॥६२
तद्भीतिर्जीवितं भूयान्मामून्मे मरणं क्वचित् । कदा लेभे न वा दैवादित्याऽऽधिः स्वे तनुव्यये ॥६३
नूनं तद्भीः कुदृष्टीनां नित्यं तत्त्वमनिच्छताम् । अन्तस्तत्त्वैकवृत्तानां तद्भीतिर्ज्ञानिनां कुतः ॥६४
जीवस्य चेतना प्राणा नूनं स्वात्मोपजीविनी । नार्थान्मृत्युरतस्तद्भीः कुतः स्यादिति पश्यतः ॥६५
अकस्माज्जातमित्युच्चैराकस्मिकभयं स्मृतम् । तद्यथा विद्युदादीनां पातात्पातोऽसुधारिणाम् ॥६६
भीति र्भूयाद्यथा सौस्थ्यं माभूद्दौस्थ्यं कदापि मे । इत्येवं मानसी चिन्तापर्याकुलितचेतसाम् ॥६७
अर्थादाकस्मिकभ्रान्तिरस्ति मिथ्यात्वशालिनः । कुतो मोक्षोऽस्ति तद्भीतेर्निर्भीकैकपदच्युतेः ॥६८
निर्भीकैकपदो जीवः स्यादनन्तोऽप्यनादिमान् । नास्त्याकस्मिकं तत्र कुतस्तद्भीस्तमिच्छतः ॥६९

मिथ्यादृष्टि इसे स्वीकार नहीं करता इसलिये वह अत्राणभयसे त्रस्त हो रहा है ॥५६॥ यद्यपि चैतन्य आत्माका अपनी चैतन्यरूप पर्यायोंकी अपेक्षा प्रति समय नाश हो रहा है। किन्तु सम्यग्दृष्टिजीव इस अपेक्षासे आत्माका नाश मानता हुआ भी अत्राणभयसे निडर है ॥५७॥ यतः द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको अपेक्षा वस्तु थोड़ी भी अरक्षित नहीं है अतः महात्माओंको अत्राण भय कैसे हो सकता है ॥५८॥ दर्शनमोहनीयके उदयसे जिसकी बुद्धि एकान्तवादसे मूढ़ है उसीके निश्चयसे अगुप्ति भय होता है किन्तु अन्यके (सम्यग्दृष्टिके) ऐसा भय कभी भी नहीं होता है ॥५९॥ जो प्राणी असत्का जन्म और सत्का नाश मानता है वह अगुप्ति भयसे भले ही छुटकारा चाहता हो पर उसे उससे छुटकारा कैसे मिल सकता है ॥६०॥ किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव वस्तुके स्वरूपको सदैव सुगुप्ति मानता है इसलिये उसके भयका कारण न रहनेसे वह अगुप्ति भयसे निर्भय है ॥६१॥ प्राणोंका वियुक्त होना ही मृत्यु है। विस्तारसे प्राण काय, वचन, पाँच इन्द्रियाँ, मन, श्वासोच्छ्वास और आयु ऐसे दस प्रकारके होते हैं ॥६२॥ मेरा जीवन कायम रहे, मेरा मरण कभी न हो, दैववश भी मैं मृत्युको प्राप्त न होऊँ इस प्रकार अपने शरीरके नाशके विषयमें मानसिक चिन्ताका होना मरणभय है ॥६३॥ तत्त्वको नहीं पहिचाननेवाले मिथ्यादृष्टियोंको सदा ही इस प्रकारका मृत्यु भय बना रहता है किन्तु जिनकी वृत्ति अन्तस्तत्त्वमें लीन है ऐसे ज्ञानियोंको मृत्यु भय कैसे हो सकता है ॥६४॥ जीवके चेतना ही प्राण हैं और वह चेतना आत्माका उपजीवी गुण है। वास्तवमें मृत्यु होती ही नहीं अतः इस प्रकारका जो अनुभव करता है उसे मृत्यु भय कैसे हो सकता है ॥६५॥ जो भय अकस्मात् उत्पन्न होता है वह आकस्मिक भय माना गया है। जैसे कि बिजली आदिके गिरनेसे प्राणियोंका मरण हो जाता है ऐसे समयमें आकस्मिक भय होता है ॥६६॥

मैं सदा स्वस्थ रहूँ अस्वस्थ कभी न होऊँ इस प्रकार व्याकुल चित्तवालेके जो मानसिक चिन्ता होती है वह आकस्मिक भय है ॥६७॥ वास्तवमें आकस्मिक भय मिथ्यादृष्टियोंके ही होता है। ऐसा जीव निर्भय पदसे च्युत रहता है इसलिये इसे आकस्मिकभयसे मुक्ति कैसे मिल सकती है ॥६८॥ वास्तवमें यह जीव निर्भीक पदमें स्थित है, आदि और अन्तसे रहित है।

काङ्क्षा भोगाभिलाषः स्यात्कृते मुख्यिं ासु वा । कर्मणि तत्फले स्वात्म्यमन्यदृष्टिप्रशंसनम् ॥७०
हृषीकारुचितेषूच्चैरुद्वेगो विषयेषु यः । स स्याद्भोगाभिलाषस्य लिङ्गं स्वेष्टार्थरञ्जनात् ॥७१
। न रतिः पक्षे विपक्षे वारतिं विना । नारतिर्वा स्वपक्षेऽपि तद्विपक्षे रतिं विना ॥७२
शीतद्वेषी यथा कश्चिदुष्णस्पर्शं समीहते । नेच्छेदनुष्णंसंस्पर्शमुष्णस्पर्शाभिलाषुकः ॥७३

यस्याऽस्ति काङ्क्षितो भावो नूनं मिथ्यादृगस्ति सः ।
यस्य नास्ति स सद्दृष्टिः युक्तिस्वानुभवागमात् ॥७४

आस्तामिष्टार्थ ोगोऽमुत्रभोगाभिलाषतः । स्वार्थसार्थैकसंसिद्धिर्न स्यान्नामैहिकापि सा ॥७५
निस्सारं प्रस्फुरत्येष मिथ्याकर्मैकपाकतः । जन्तोरुन्मत्तवच्चापि वार्द्धेर्वातोत्तरङ्गवत् ॥७६
ननु कार्यमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते । भोगाकाङ्क्षां विना ज्ञानी तत्कथं व्रतमाचरेत् ॥७७
नासिद्धं बन्धमात्रत्वं क्रियायाः फलमद्वयम् । शुभमात्रं शुभायाः स्यादशुभायाश्चाशुभावहम् ॥७८
न चाऽऽशङ्क्यं ि ऽप्येषा स्यादबन्धफला क्वचित् । दर्शनातिशयाद्धेतोः सरागेऽपि विरागवत् ॥७९
सरागे वीतरागे वा नूनमौदयिकी क्रिया । अस्ति बन्धफलावश्यं मोहस्यान्यतमोदयात् ॥८०
न च वाच्यं स्यात्सद्दृष्टिः कश्चित्प्रज्ञापराधतः । अपि बन्धफलां कुर्यात्तामबन्धफलां विदन् ॥८१

उसे किसी भी प्रकारका आकस्मिक भय नहीं है । जब यह बात है तब इस पदको चाहनेवालेको आकस्मिक भय कैसे हो सकता है ॥६९॥ व्रतादिक क्रियाओंको करते हुए उनसे परभवके लिये भोगोंकी अभिलाषा करना, कर्म और कर्मके फलमें आत्मीय भाव रखना और अन्यदृष्टिकी प्रशंसा करना कांक्षा है ॥७०॥ इन्द्रियोंके लिए अरुचिकर विषयोंमें जो तीव्र उद्वेग होता है वह भोगाभिलाषाका चिह्न है, क्योंकि अपने लिए इष्ट पदार्थोंमें अनुराग होनेसे ही ऐसा होता है ॥७१॥ जैसे स्वपक्षमें जो रति होती है वह भी विपक्षमें अरति हुए बिना नहीं होती वैसे ही स्वपक्षमें जो अरति होती है वह भी उसके विपक्षमें रति हुए बिना नहीं होती ॥७२॥ जैसे कि शीत स्पर्शसे द्वेष करनेवाला व्यक्ति ही उष्ण स्पर्शको चाहता है, क्योंकि जो उष्ण स्पर्शको चाहता है वह शीत स्पर्शको नहीं चाहता है ॥७३॥ इस प्रकारका कांक्षारूप भाव जिसके है वह नियमसे मिथ्यादृष्टि है और जिसके ऐसा भाव नहीं है वह सम्यग्दृष्टि है यह बात युक्ति, अनुभव और आगमसे जानी जाती है ॥७४॥ भोगाभिलाषासे परभवमें इष्ट पदार्थोंका संयोग होना तो दूर रहा किन्तु इससे ऐहिक पदार्थोंकी भी सिद्धि नहीं होती है ॥७५॥ जैसे किसी उन्मत्त पुरुषके मनमें व्यर्थ ही नाना प्रकारके विकल्प उठा करते हैं या समुद्रमें वायुके निमित्तसे व्यर्थ ही नाना प्रकारकी तरंगें उठा करती हैं वैसे ही इस जीवके मिथ्यात्वकर्मके उदयसे यह भोगाभिलाषा व्यर्थ ही उदित होती रहती है ॥७६॥ शंका—जब मन्द पुरुष भी कार्यका निश्चय किये बिना प्रवृत्ति नहीं करता है तब फिर ज्ञानी पुरुष भोगाकांक्षाके बिना व्रतोंका आचरण कैसे कर सकता है ॥७७॥ क्रियाका फल एकमात्र बन्ध है यह बात भी असिद्ध नहीं है, क्योंकि शुभ क्रियाका फल शुभ है और अशुभ क्रियाका फल अशुभ है ॥७८॥ यदि कोई ऐसी आशंका करे कि सम्यग्दर्शनके माहात्म्यसे वीतरागके समान किसी सरागीके भी यह क्रिया बन्ध फलवाली नहीं होती है, सो ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है ॥७९॥ चाहे सरागी हो चाहे वीतरागी हो दोनोंके क्रिया औदयिकी ही होती है, इसलिये जब तक मोहनीयकी किसी एक प्रकृतिका उदय रहता है तबतक क्रियाका फल नियमसे बन्ध ही है ॥८०॥ यह कहना भी ठीक नहीं है कि कोई भी सम्यग्दृष्टि जीव बुद्धिके दोषसे बन्ध फलवाली क्रियाको यह जानकर ही

यतः प्रज्ञाविनाभूतमस्ति सम्यग्विशेषणम् । तस्याश्चाभावतो नूनं कुतस्त्या दिव्यता दृशः ॥८२
नैवं यतः सुसिद्धं प्रागस्ति चानिच्छितः क्रिया । शुभायाश्चाशुभायाश्च को विशेषो विशेषभाक् ॥८३
नन्वनिष्टार्थसंयोगरूपा सानिच्छतः क्रिया । विशिष्टेष्टार्थसंयोगरूपा सानिच्छतः कथम् ॥८४
तत्क्रिया व्रतरूपा स्यादर्थान्नानिच्छतः स्फुटम् । तस्याः स्वतन्त्रसिद्धत्वात्सिद्धं कर्तृत्वमर्थसात् ॥८५
नैवं यतोऽस्त्यनिष्टार्थः सर्वः कर्मोदयात्मकः । तस्मान्नाकाङ्क्षतेऽज्ञानी यावत्कर्म च तत्फलम् ॥८६
यत्पुनः कश्चिदिष्टार्थोऽनिष्टार्थः कश्चिदर्थसात् । तत्सर्वं दृष्टिदोषत्वात्पीतशङ्खावलोकवत् ॥८७
दृग्मोहस्यात्यये दृष्टिः साक्षाद्भूतार्थदर्शिनी । तस्यानिष्टेऽस्त्यनिष्टार्थबुद्धिः कर्मफलात्मके ॥८८
न चासिद्धमनिष्टत्वं कर्मणस्तत्फलस्य च । सर्वतो दुःखहेतुत्वाद् युक्तिस्वानुभवागमात् ॥८९
अनिष्टार्थफलत्वात्स्यादनिष्टार्था व्रतक्रिया । दुष्टकार्यानुरूपस्य हेतोर्दुष्टोपदेशवत् ॥९०
अथासिद्धं स्वतन्त्रत्वं क्रियायाः कर्मणः फलात् । ऋते कर्मोदयाद्धेतोस्तस्याश्चासम्भवो मतः ॥९१
यावदक्षीणमोहस्य क्षीणमोहस्य चात्मनः । यावत्यस्ति क्रिया नाम तावत्यौदयिकी स्मृता ॥९२
पौरुषं न यथाकामं पुंसः कर्मोदितं प्रति । न परं पौरुषापेक्षो दैवापेक्षो हि पौरुषः ॥९३

करता है कि उसका फल अवन्ध है, क्योंकि इसके सम्यक् विशेषण प्रज्ञाका (स्वानुभूतिका) अविना-भावी है उसके विना सम्यग्दर्शनमें दिव्यता कैसे आ सकती है ॥८१–८२॥ समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यह पहले ही अच्छी तरह सिद्ध कर आये हैं कि विना इच्छाके ही सम्यग्दृष्टिके क्रिया होती है। फिर इसके शुभ क्रिया और अशुभ क्रियाकी क्या विशेषता शेष रही अर्थात् कुछ भी नहीं ॥८३॥ शंका—जो क्रिया अनिष्ट अर्थका संयोग करानेवाली है वह तो नहीं चाहनेवालेके भी हो जाती है किन्तु जो विशिष्ट और इष्ट पदार्थका संयोग रूप है वह नहीं चाहनेवालेके कैसे हो सकती है ? ॥८४॥ उदाहरणार्थ व्रतरूप जो समीचीन क्रिया है वह वास्तवमें विना चाहनेवाले पुरुषके नहीं होती। उसके करनेमें व्यक्ति स्वतन्त्र है इसलिए कोई उसका कर्ता है यह बात सिद्ध होती है ॥८५॥ समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कर्मके उदयरूप जो कुछ भी है वह सब अनिष्ट अर्थ है, इसलिये जितना कर्म और उसका फल है उसे ज्ञानी पुरुष नहीं चाहता है ॥८६॥ और प्रयोजनवश हमें जो कोई पदार्थ इष्टरूप और कोई पदार्थ अनिष्टरूप प्रतीत होता है सो यह सब दृष्टि दोषसे ही प्रतीत होता है। जैसे कोई दृष्टि दोषसे धुवल शंखको पीला देखता है वैसे ही दृष्टि दोषसे पदार्थोंमें इष्टानिष्ट कल्पना हुआ करती है ॥८७॥ किन्तु दर्शनमोहनीयका नाश हो जानेपर जो पदार्थ जैसा है उस उसी रूपसे साक्षात् देखनेवाली दृष्टि हो जाती है। फिर उसकी अनिष्टरूप कर्मोंके फलमें अनिष्ट पदार्थरूप ही बुद्धि होती है ॥८८॥ कर्म और उसका फल अनिष्टरूप है यह बात असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि कर्म और कर्मका फल सर्वथा दुःखका कारण है इसलिये इनका अनिष्टरूप होना युक्ति, अनुभव और आगमसे सिद्ध है ॥८९॥ जैसे दुष्ट उपदेशके समान जिस दुष्ट हेतुसे दुष्ट कार्यकी उत्पत्ति होती है वह दुष्ट ही कहा जाता है। वैसे ही व्रत क्रियाका फल अनिष्ट है इसलिये वह अनिष्टार्थ ही है ॥९०॥ यतः क्रिया कर्मका फल है इसलिये उसे स्वतन्त्र मानना ठीक नहीं है, क्योंकि कर्मोदयरूप हेतुके विना क्रियाकी उत्पत्ति होना असम्भव है ॥९१॥ चाहे अक्षीणमोह आत्मा हो और चाहे क्षीणमोह इन दोनोंके जितनी भी क्रिया होती है वह सब औदयिकी ही मानी गयी है ॥९२॥

जीवका पुरुषार्थ कर्मोदयके प्रति इच्छानुसार नहीं होता और वह केवल पुरुषार्थकी

सिद्धो निःकाङ्क्षितो ज्ञानी कुर्वाणोऽप्युदितां क्रियाम् ।
निष्कामतः कृतं न रागाय विरागिणाम् ॥९४

नाशङ्क्यं चास्ति निःकाङ्क्षः न्योऽपि जनः क्वचित् । हेतोः कुतश्चिदन्यत्र दर्शनाति दपि ९५
यतो निःकाङ्क्षिता नास्ति न्यायात्सद्दर्शनं विना । नानिच्छास्त्यक्षजे सौख्ये तदत्यक्षमनिच्छतः ॥९६
तदत्यक्षसुखं मोहान्मिथ्यादृष्टिः स नेष्यति । दृग्मोहस्य तथा पाकशक्तेः सद्भावतोऽनिशम् ॥९७

उक्तो निःकाङ्क्षितो भावो गुणो सद्दर्शनस्य वै ।
अस्तु का नः क्षतिः प्राक् चेत्परीक्षाक्ष मता ॥९८

अथ निर्विचिकित्साख्यो गुणः संलक्ष्यते स यः । सद्दर्शनगुणस्योच्चैर्गुणो युक्तिवशादपि ॥९९
आत्मन्यात्मगुणोत्कर्षबुद्ध्या स्वात्मप्रशंसनात् । परत्राप्यपकर्षेषु बुद्धिर्विचिकित्सा स्मृता ॥१००
निष्क्रान्तो विचिकित्सायाः प्रोक्तो निर्विचिकित्सकः । गुणः सद्दर्शनस्योच्चैर्वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा १०१
दुर्दैवाद्दुःखिते पुंसि तीव्रासाताघृणास्पदे । यन्नासूयापरं चेतः स्मृतो निर्विचिकित्सकः ॥१०२
नैतत्तन्मनस्यज्ञानमस्म्यहं सम्पदां पदम् । नासावस्मत्समो दीनो वराको विपदां पदम् ॥१०३
प्रत्युत ज्ञानमेवैतत्तत्र कर्मविपा ः । प्राणिनः सदृशः सर्वे त्रसस्थावरयोनयः ॥१०४
यथा द्वावर्भकौ जातौ शूद्रिकाय थोदरात् । शू भ्रान्तितस्तौ द्वौ कृतो भेदो भ्रमात्मना ॥१०५

अपेक्षासे होता हो सो वात नहीं है किन्तु वह (क्रिया) अवश्य ही दैवकी अपेक्षासे होता है ॥९३॥ इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञानी पुरुष कर्मोदय जन्य क्रियाको करता हुआ भी कांक्षारहित है, क्योंकि विरागियोंका विना इच्छाके किया हुआ कार्य रागके लिए नहीं होता ॥९४॥ यदि कोई ऐसी आशंका करे कि सम्यग्दर्शन रूप अतिशयके विना भी किसी अन्य कारणसे सामान्य जन भी कहीं-पर कांक्षारहित हो जाता है सो ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि न्यायसे यह बात सिद्ध है कि सम्यग्दर्शनके विना निःकांक्षित गुण नहीं हो सकता है। कारण कि जो अतीन्द्रिय सुखको नहीं चाहता उसकी इन्द्रियजन्य सुखमें अनिच्छा नहीं हो सकती ॥९५–९६॥ उस अतीन्द्रिय सुखको मोहवश मिथ्याजीव नहीं चाहता, क्योंकि उसके दर्शनमोहनीयकी पाकशक्ति सदैव उसी प्रकार पायी जाती है ॥९७॥ इस प्रकार निःकांक्षित भावका निर्देश किया जो नियमसे सम्यग्दर्शनका गुण है। यदि यह सम्यग्दर्शनके पहले होता है ऐसा माना जाय तो ऐसा माननेमें हमारी क्या हानि है क्योंकि प्रत्येक वात परीक्षा करके ही मानी जाती है ॥९८॥ अव निर्विचिकित्सा नामका जो गुण है उसका लक्षण कहते हैं। यह युक्तिसे भी सम्यग्दर्शनका उत्कृष्ट गुण सिद्ध होता है ॥९९॥ अपनेमें अपने गुणोंके उत्कर्षकी वुद्धिसे अपनी प्रशंसा करना और दूसरोंके अपकर्षकी वुद्धि रखना विचिकित्सा मानी गयी है ॥१००॥ जो इस प्रकारकी विचिकित्सासे रहित है वह सम्यग्दर्शनका सर्वोत्तम निर्विचिकित्सक नामक गुण कहा गया है। अव इसका लक्षण कहते हैं ॥१०१॥ यथा—जो पुरुष दुर्दैवके कारण दुःखित हो रहा है और तीव्र असाताके कारण जो घृणास्पद है उसके विषयमें असूयारूप चित्तका नहीं होना ही निर्विचिकित्सक गुण माना गया है ॥१०२॥ मनमें ऐसा अज्ञान नहीं होना चाहिये कि मैं सम्पत्तियोंका घर हूँ और यह दीन गरीव विपत्तियोंका घर है। यह हमारे समान नहीं हो सकता ॥१०३॥ किन्तु इसके विपरीत मनमें ऐसा ज्ञान होना चाहिये कि कर्म विपाकसे जितने भी प्राणी त्रस और स्थावर योनि में हैं वे सव समान हैं ॥१०४॥ जैसे शूद्रीके उदरसे दो वालक पैदा हुए। वे दोनों वास्तवमें शूद्र हैं। किन्तु

जले जंवालवज्जीवे यावत्कर्माशुचि स्फुटम् । अहं ते चाविशेषाद्वा नूनं कर्ममलीमसाः ॥१०६
अस्ति सद्दर्शनस्यासौ गुणो निर्विचिकित्सकः । यतोऽवश्यं स तत्रास्ति तस्मादन्यत्र न क्वचित् ॥१०७
कर्मपर्यायमात्रेषु रागिणः स कुतो गुणः । सद्विशेषेऽपि संमोहाद् द्वयोरैक्योपलब्धितः ॥१०८
इत्युक्तो युक्तिपूर्वोऽसौ गुणः सद्दर्शनस्य यः । नाविवक्षोऽपि दोषाय विवक्षो न गुणाप्तये ॥१०९
अस्ति चामूढदृष्टिः सा सम्यग्दर्शनशालिनी । ययाऽलङ्कृतमात्रं सद्भाति सद्दर्शनं नरि ॥११०
अतत्त्वे तत्त्वश्रद्धानं मूढदृष्टिः स्वलक्षणात् । नास्ति सा यस्य जीवस्य विख्यातः सोऽस्त्यमूढदृक् १११
अस्त्यसद्धेतुदृष्टान्तैर्मिथ्यार्थः साधितोऽपरैः । नाप्यलं तत्र मोहाय दृग्मोहस्योदयक्षतेः ॥११२
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थे दर्शितेऽपि कुदृष्टिभिः । नाल्पश्रुतः समुह्येत किं पुनश्चेद्बहुश्रुतः ॥११३
अर्थाभासेऽपि तत्रोच्चैः सम्यग्दृष्टेर्न मूढता । स्थूलानन्तरितोपात्तमिथ्यार्थेऽस्य कुतो भ्रमः ॥११४
तद्यथा लौकिकी रूढिरस्ति नाना विकल्पसात् । निःसारैराश्रिता पुंभिरथानिष्टफलप्रदाः ॥११५
अफला कुफला हेतुशून्या योगापहारिणी । दुस्त्याज्या लौकिकी रूढिः कैश्चिद्दुष्कर्मपाकतः ॥११६
अदेवे देवबुद्धिः स्यादधर्मे धर्मधीरिह । अगुरौ गुरुबुद्धिर्या ख्याता देवविमूढता ॥११७
कुदेवाराधनां कुर्यादैहिकश्रेयसे कुधीः । मृषालोकोपचारत्वादश्रेया लोकमू. ॥११८

भ्रमात्मा उनमें भेद करने लगता है। वैसे ही प्रकृतमें जानना चाहिए ॥१०५॥ जैसे जलमें काई होती है ठीक वैसे ही जीवमें जव तक अशुचि कर्म मौजूद है तव तक मैं और वे सव संसारी जीव सामान्यरूपसे कर्मोंसे मैले हो रहे हैं ॥१०६॥ यह निर्विचिकित्सा सम्यग्दर्शनका एक गुण है क्योंकि वह सम्यग्दर्शनके होनेपर ही होता है उसके विना और किसीके नहीं होता ॥१०७॥ किन्तु जो केवल कर्मकी पर्यायोंमें अनुराग करता है उसके वह गुण कैसे हो सकता है, क्योंकि कर्मकृत पर्याय यद्यपि सत्से भिन्न है तो भी मिथ्यादृष्टि जीव मोहवश उन दोनोंको एक समझ बैठा है ॥१०८॥ इस प्रकार युक्तिपूर्वक जो यह सम्यग्दर्शनका गुण कहा गया है उसकी यदि अविवक्षा कर दी जाय तो कोई दोष नहीं है और विवक्षित रहनेपर कोई लाभ नहीं है ॥१०९॥ वह अमूढ़-दृष्टि सम्यग्दर्शनसे सुशोभित मानी गई है जिसके होनेपर इस जीवके सम्यग्दर्शन चमक उठता है ॥११०॥ अतत्त्वमें तत्त्वका श्रद्धान करना यह अपने लक्षणके अनुसार मूढदृष्टि है। यह जिस जीवके नहीं होती है वह अमूढदृष्टि कहलाता है ॥१११॥ दूसरे दर्शनवालोंने मिथ्या हेतु और दृष्टान्तों द्वारा मिथ्या पदार्थकी सिद्धि की है वह मिथ्या पदार्थ सम्यग्दृष्टिके दर्शनमोहनीयका उदय नहीं रहनेसे मोह पैदा करनेके लिये समर्थ नहीं होता ॥११२॥ मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंके दिखलाये जानेपर भी उनमें अल्पश्रुत ही जव मोहित नहीं होता तव जो वहुश्रुत है वह मोहित ही कैसे होगा ॥११३॥ इस प्रकार इन सूक्ष्म आदि अर्थाभासोंमें भी जव सम्यग्दृष्टिके मूढता नहीं होती तव फिर स्थूल, समीपवर्ती और उपात्त मिथ्या अर्थोंमें इसे कैसे भ्रम हो सकता है ॥११४॥ उदाहरणार्थ—लौकिकी रूढि नाना प्रकारकी है, जिसे निःसार पुरुषोंने आश्रय दे रखा है, जिसका फल अनिष्ट है ॥११५॥ जो निष्फल है, खोटे फलवाली है, जिसकी पुष्टिमें कोई समुचित हेतु नहीं मिलता और जो निरर्थक है तो भी कितने ही पुरुष खोटे कर्मके उदयसे उस लौकिकी रूढ़िको छोड़नेमें कठिनताका अनुभव करते हैं ॥११६॥ जीवके जो अदेवमें देवबुद्धि, अधर्ममें धर्मबुद्धि और अगुरुमें गुरुबुद्धि होती है वह देवविमूढता कही जाती है ॥११७॥ मिथ्यादृष्टि जीव ऐहिक सुखके लिये कुदेवकी आराधना करता है। यह झूठा लोकाचार

अस्ति श्रद्धानमेकेषां लोकरूढिवशादिह । धनधान्यप्रदा नूनं सम्यगाराधिताम्बिका ॥११९
अपरेऽपि यथाकामं देवानिच्छन्ति दुर्धियः । सदोषानपि निर्दोषानिव प्रज्ञापराधतः ॥१२०
नोक्तस्तेषां समुद्देशः प्रसङ्गादपि सङ्गतः । लब्धवर्णो न कुर्याद्वै निस्सारं ग्रन्थविस्तरम् ॥१२१
अधर्मस्तु कुदेवानां यावानाराधनोद्यमः । तैः प्रणीतेषु धर्मेषु चेष्टा वाक्कायचेतसाम् ॥१२२
कुगुरुः कुत्सिताचारः सशल्यः सपरिग्रहः । सम्यक्त्वेन व्रतेनापि युक्तः स्यात्सद्गुरुर्यतः ॥१२३
अत्रोद्देशोऽपि न श्रेयान्सर्वतोऽतीव विस्तरात् । आदेयो विधिरत्रोक्तो नादेयोऽनुक्त एव सः ॥१२४
दोषो रागादिचिद्भावः स्यादावरणं च कर्म तत् । तयोरभावोऽस्ति निःशेषो यत्रासौ देव उच्यते १२५
अत्र केवलं ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं सुखम् । वीर्यं चेति सुविख्यातं स्यादनन्तचतुष्टयम् ॥१२६
एको देवः स सामान्याद् द्विधाऽवस्थाविशेषतः । संख्येयो नामसंदर्भाद् गुणेभ्यः स्यादनन्तधा ॥१२७
एको देवः स द्रव्यार्थात्सिद्धः शुद्धोपलब्धितः । अर्हन्निति च सिद्धश्च पर्यायार्थाद्द्विधा मतः ॥१२८
दिव्यौदारिकदेहस्थो धौतघातिचतुष्टयः । ज्ञानदृग्वीर्यसौख्याढ्यः सोऽर्हन् धर्मोपदेशकः ॥१२९
मूर्त्तिमद्देहनिर्मुक्तो लोको लोकाग्रसंस्थितः । ज्ञानाद्यष्टगुणोपेतो निष्कर्मा सिद्धसंज्ञकः ॥१३०
अर्हन्निति जगत्पूज्यो जिनः कर्मारिशातनात् । महादेवोऽधिदेवत्वाच्छङ्करोऽभिसुखावहात् ॥१३१

है अतः लोकमूढता अकल्याणकारी मानी गई है ॥११८॥ लोकमूढतावश किन्हीं पुरुषोंका ऐसा श्रद्धान है कि अम्बिकाकी अच्छी तरह आराधना करनेपर वह धन-धान्य देती है ॥११९॥

इसी तरह अन्य मिथ्यादृष्टि जीव भी अज्ञानवश सदोष देवोंको भी निर्दोष देवोंके समान इच्छानुसार मानते हैं ॥१२०॥ प्रसंगानुसार सुसंगत होते हुए भी उनका निर्देश यहाँपर नहीं किया है, क्योंकि जिसे चार अक्षरका ज्ञान है वह निष्प्रयोजन ग्रन्थका विस्तार नहीं करता ॥१२१॥ कुदेवोंको आराधनाके लिये जितना भी उद्यम है वह और उनके द्वारा कहे गये धर्ममें वचन, काय और मनकी प्रवृत्ति यह सब अधर्म है ॥१२२॥ जिसका आचार कुत्सित है जो शल्य और परिग्रह सहित है वह कुगुरु है, क्योंकि सद्गुरु सम्यक्त्व और व्रत इन दोनोंसे युक्त होता है ॥१२३॥ इस विषयमें भी अत्यन्त विस्तारसे लिखना सर्वथा उचित नहीं है, क्योंकि जो विधि आदेय है वही यहाँ कही गयी है और जो अनादेय है वह कही ही नहीं गयी है ॥१२४॥ रागादिका पाया जाना यह दोष है और ज्ञानावरणादि ये कर्म हैं जिनके इन दोनोंका सर्वथा अभाव हो गया है वह देव कहा जाता है ॥१२५॥ उसके केवलज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक सुख और क्षायिक वीर्य यह सुविख्यात अनन्तचतुष्टय होता है ॥१२६॥ द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा वह देव एक है, अवस्था विशेषकी अपेक्षा दो प्रकारका है, संज्ञावाचक शब्दोंकी अपेक्षा संख्यात प्रकार है और गुणोंकी अपेक्षा अनन्त प्रकारका है ॥१२७॥ शुद्धोपलब्धिरूप द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे वह देव एक प्रकारका माना गया है और पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे अरहन्त और सिद्ध इस तरह दो प्रकारका माना गया है ॥१२८॥ जो दिव्य औदारिक देहमें स्थित है; चारों घातिया कर्मोंसे रहित है; ज्ञान-दर्शन, वीर्य और सुखसे परिपूर्ण है और धर्मका उपदेश देनेवाला है वह अरहन्तदेव है ॥१२९॥ जो मूर्तशरीरसे रहित है; सम्पूर्ण चर और अचर पदार्थोंको युगपत् जानने और देखनेवाला है, लोकके अग्रभागमें स्थित है, ज्ञानादि आठ गुण सहित है और ज्ञानावरणादिक आठ कर्मोंसे रहित है वह सिद्ध देव है ॥१३०॥

यह देव जगत् पूज्य है इसलिए अर्हत् कहलाता है, कर्मरूपी शत्रुओंका नाश कर दिया

विष्णुर्ज्ञानेन सर्वार्थविस्तृतत्वात्कथञ्चन । ब्रह्मा ब्रह्मज्ञरूपत्वाद्धरिर्दुःखापनोदनात् ॥१३२
इत्याद्यनेकनामापि नानेकोऽस्ति स्वलक्षणात् । यतोऽनन्तगुणात्मैकद्रव्यं स्यात्सिद्धसाधनात् ॥१३३
चतुर्विंशतिरित्यादियावदन्तमनन्तता । तद्बहुत्वं न दोषाय देवत्वैकविधत्वतः ॥१३४
प्रदीपानामनेकत्वं न प्रदीपत्वहानये । यतोऽत्रैकविधत्वं स्यान्न स्यान्नानाप्रकारतः ॥१३५
न चाऽऽशङ्क्यं यथासंख्यं नामतोऽप्यस्त्वनेकधा । न्यायादेकगुणं चैकं प्रत्येकं नाम चैककम् ॥१३६
नामतः सर्वतो मुख्यं संख्यातस्यैव सम्भवात् । अधिकस्य ततो वाचा व्यवहारस्य दर्शनात् ॥१३७
वृद्धैः प्रोक्तमतः सूत्रे तत्त्वं वागतिवर्ति यत् । द्वादशाङ्गाङ्गबाह्यं च श्रुतं स्थूलार्थगोचरम् ॥१३८
कृत्स्नकर्मक्षयाज्ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं पुनः । अत्यक्षं सुखमात्मोत्थं वीर्यं चेति चतुष्टयम् ॥१३९
सम्यक्त्वं चैव सूक्ष्मत्वमव्याबाधगुणः स्वतः । अस्त्यगुरुलघुत्वं च सिद्धे चाष्टगुणाः स्मृताः ॥१४०
इत्याद्यनन्तधर्माढ्यः कर्माष्टकविवर्जितः । मुक्तोऽष्टादशभिर्दोषैर्देवः सेव्यो न चेतरः ॥१४१
अर्थाद्गुरुः स एवास्ति श्रेयोमार्गोपदेशकः । भगवांस्तु यतः साक्षान्नेता मोक्षस्य वर्त्मनः ॥१४२
तेभ्योऽर्वागपि छद्मस्थरूपा तद्रूपधारिणः । गुरवः स्युर्गुरोर्न्यायान्न्यायोऽवस्थाविशेषभाक् ॥१४३

है इसलिए जिन कहलाता है, सब देव इससे नीचे हैं इसलिए महादेव कहलाता है, सुख देनेवाला है इसलिए शंकर कहलाता है ॥१३१॥ ज्ञान द्वारा कथंचित् सब पदार्थोंमें व्याप रहा है इसलिए विष्णु कहलाता है, ब्रह्मके स्वरूपका ज्ञाता है इसलिए ब्रह्मा कहलाता है और दुःखोंका हरण करनेवाला है इसलिए हरि कहलाता है ॥१३२॥ इस प्रकार यद्यपि इसके अनेक नाम हैं तथापि वह अपने लक्षणकी अपेक्षा अनेक नहीं है, क्योंकि वह साधनोंसे भले प्रकार सिद्ध अनन्तगुणात्मक एक ही द्रव्य है ॥१३३॥ यद्यपि चौवीस तीर्थंकरोंसे लेकर अन्ततक विचार करनेपर व्यक्ति रूपसे देव अनन्त हैं तथापि वह देवोंका बहुत्व दोषाधायक नहीं है, क्योंकि इन सबमें एक प्रकारका ही देवत्व पाया जाता है ॥१३४॥ जिस प्रकार दीपक अनेक हैं तो भी उससे प्रदीप सामान्यकी हानि नहीं होती, क्योंकि जितने भी दीपक होते हैं वे सब एक ही प्रकारके पाये जाते हैं नाना प्रकारके नहीं। उसी प्रकार व्यक्ति रूपसे देवोंके अनेक होनेपर भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि देवत्व सामान्यकी अपेक्षा सब देव एक हैं ॥१३५॥ यदि कोई ऐसी आशंका करे कि नामकी अपेक्षा क्रमसे देवके अनन्त भेद रहे आवें, क्योंकि न्यायानुसार एक एक गुणकी अपेक्षा एक एक नाम रखा जा सकता है सो ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार नामकी अपेक्षा देवके मुख्य रूपसे संख्यात भेद ही सम्भव हैं, क्योंकि वचन व्यवहार इससे अधिक नहीं दिखाई देता है ॥१३६-१३७॥ इसीसे पूर्वाचार्योंने सूत्रमें यह कहा है कि तत्त्व वचनके अगोचर है और बारह अंग तथा अंग बाह्यरूप श्रुत स्थूल अर्थको विषय करता है ॥१३८॥ सम्पूर्ण कर्मोंके क्षयसे सिद्धके ये आठ गुण होते हैं—क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, अतीन्द्रिय सुख और आत्मासे उत्पन्न होनेवाला वीर्य—ये चार अनन्तचतुष्टय होते हैं ॥१३९॥ इनके सिवाय सम्यक्त्व, सूक्ष्मत्व, अव्याबाध और अगुरुलघु ये चार गुण और होते हैं ॥१४०॥ इस प्रकार जो ज्ञानादि अनन्त धर्मोंसे युक्त है, आठ कर्मोंसे रहित है, मुक्त है और अठारह दोषोंसे रहित है वही देव सेवनीय है अन्य नहीं ॥१४१॥ वास्तवमें वही देव सच्चा गुरु है, वही मोक्ष मार्गका उपदेशक है, वही भगवान् है और वही मोक्ष मार्गका साक्षात् नेता है ॥१४२॥ इन अरहंत और सिद्धोंसे नीचे भी जो अल्पज्ञ है और उसी रूप अर्थात् दिगम्बरत्व, वीतरागत्व और हितोपदेशित्वको धारण करनेवाले हैं वे गुरु हैं, क्योंकि इनमें

अस्त्यवस्थाविशेषोऽत्र युक्तिस्वानुभवागमात् । शेषसंसारिजीवेभ्यस्तेषामेवातिशायनात् ॥१४४
भाविनैगमनयायत्तो भूष्णुस्तद्वानिवेष्यते । अवश्यं भावतो व्याप्तेः सद्भावात्सिद्धसाधनात् ॥१४५
अस्ति सद्दर्शनं तेषु मिथ्याकर्मोपशान्तितः । चारित्रं देशतः सम्यक् चारित्रावरणक्षतेः ॥१४६
ततः सिद्धं निसर्गाद्वै शुद्धत्वं हेतुदर्शनात् । मोहकर्मोदयाभावात् तत्कार्यस्याप्यसम्भवात् ॥१४७
तच्छुद्धत्वं सुविख्यातनिर्जराहेतुरञ्जसा । निदानं संवरस्यापि क्रमान्निर्वाणभागपि ॥१४८
यद्वा स्वयं तदेवार्थान्निर्जरादित्रयं यतः । शुद्धभावाविनाभावि द्रव्यनामापि तत्त्रयम् ॥१४९
निर्जरादिनिदानं यः शुद्धो भावश्चिदात्मकः । परमार्हः स एवास्ति तद्वानात्मा परं गुरुः ॥१५०
न्यायाद्गुरुत्वहेतुः स्यात्केवलं दोषसंक्षयः । निर्दोषो जगतः साक्षी नेता मार्गस्य नेतरः ॥१५१
नालं छद्मस्थताप्येषा गुरुत्वक्षतये मुनेः । रागाद्यशुद्धभावानां हेतुर्मोहैककर्म तत् ॥१५२
नन्वावृत्तिद्वयं कर्म वीर्यविध्वंसि कर्म तत् । अस्ति तत्राप्यवश्यं वै कुतः शुद्धत्वमत्र चेत् ॥१५३
सत्यं किन्तु विशेषोऽस्ति प्रोक्तकर्मत्रयस्य च । मोहकर्माविनाभूतं बन्धसत्त्वोदयक्षयम् ॥१५४
या बध्यमानेऽस्मिन् तद्बन्धो मोहबन्धसात् । तत्सत्त्वे सत्त्वमेतस्य पाके पाकः क्षये क्षयः ॥१५५

न्यायानुसार गुरुका लक्षण पाया जाता है। ये उनसे भिन्न और कोई दूसरी अवस्थाको धारण करनेवाले नहीं हैं ॥१४३॥ इनमें अवस्था विशेष पाई जाती है यह बात युक्ति, आगम और अनुभवसे सिद्ध है, क्योंकि उनमें शेष संसारी जीवोंसे कोई विशेष अतिशय देखा जाता है ॥१४४॥ भावि नैगमनयकी अपेक्षासे जो होनेवाला है वह उस पर्यायसे युक्तकी तरह कहा जाता है, क्योंकि उसमें नियमसे भावकी व्याप्ति पाई जाती है इसलिए ऐसा कहना युक्तियुक्त है ॥१४५॥ उनमें दर्शनमोहनीय कर्मकी उपशान्ति (उपशम, क्षय, क्षयोपशम) हो जानेसे सम्यग्दर्शन भी पाया जाता है और चारित्रावरण कर्मका एकदेश क्षय (क्षयोपशम) हो जानेसे सम्यक्चारित्र भी पाया जाता है ॥१४६॥ इसलिए उनमें स्वभावसे ही शुद्धता सिद्ध होती है और इसकी पुष्टि करनेवाला हेतु भी पाया जाता है। यतः उनके मोहनीय कर्मका उदय नहीं है अतः वहाँ मोहनीय कर्मका कार्य भी नहीं पाया जाता है ॥१४७॥ उनकी यह शुद्धता नियमसे निर्जराका कारण है, संवरका कारण है और क्रमसे मोक्ष दिलानेवाली है यह बात सुप्रसिद्ध है ॥१४८॥ अथवा वह शुद्धता ही नियमसे स्वयं निर्जरा आदि तीन रूप है, क्योंकि शुद्ध भावोंसे अविनाभाव रखनेवाला द्रव्य इन तीन रूप ही होता है ॥१४९॥ आशय यह है कि आत्माका जो शुद्ध भाव निर्जरा आदिका कारण है वही परमपूज्य है और उससे युक्त आत्मा ही परम गुरु है ॥१५०॥ न्यायानुसार गुरुपनेका कारण केवल दोषोंका नाश हो जाना ही है। जो निर्दोष है वही जगत्का साक्षी है और वही मोक्षमार्ग का नेता है अन्य नहीं ॥१५१॥ मुनिकी यह छद्मस्थता भी गुरुपनेका नाश करनेके लिए समर्थ नहीं है, क्योंकि रागादि अशुद्ध भावोंका कारण एक मोह कर्म माना गया है ॥१५२॥ शंका—छद्मस्थ गुरुओंमें दोनों आवरण कर्म और वीर्यका नाश करनेवाला अन्तरायकर्म नियमसे है इसलिए उनमें शुद्धता कैसे हो सकती है? ॥१५३॥

समाधान—यह बात ठीक है किन्तु इतनी विशेषता है कि उक्त तीनों कर्मोंका बन्ध, सत्त्व, उदय और क्षय मोहनीय कर्मके साथ अविनाभावी है ॥१५४॥ खुलासा इस प्रकार है कि मोहनीय-का बन्ध होनेपर उसके साथ साथ ज्ञानावरणादि कर्मोंका बन्ध होता है। मोहनीयका सत्त्व रहते हुए इनका सत्त्व रहता है, मोहनीयका पाक होते समय इनका पाक होता है और मोहनीयका क्षय

नोह्यं छद्मस्थावस्थायामर्वागेवास्तु तत्क्षयः । अंशान्मोहक्षयस्यांशात्सर्वतः सर्वतः क्षयः ॥१५६
नासिद्धं निर्जरा तत्त्वं सद्दृष्टेः कृत्स्नकर्मणाम् । आदृग्मोहोदयाभावात्तच्चासंख्यगुणा क्रमात् ॥१५७
ततः कर्मत्रयं प्रोक्तमस्ति यद्यपि सांप्रतम् । रागद्वेषविमोहानामभावाद् गुरुता मता ॥१५८
अथाऽस्त्येकः स सामान्यात्सद्विशेषात्त्रिधा मतः । एकोऽप्यग्निर्यथा तार्ण्यः पार्ण्यो दार्व्यस्त्रिधोच्यते १५९
आचार्यः स्यादुपाध्यायः साधुश्चेति त्रिधा गतिः । स्युर्विशिष्टपदारूढास्त्रयोऽपि मुनिकुञ्जराः ॥१६०
एको हेतुः क्रियाऽप्येका विधश्चैको बहिः समः । तपो द्वादशधा चैकं व्रतं चैकं च पञ्चधा ॥१६१
त्रयोदशविधं चैकं चारित्रं समतैकधा । मूलोत्तरगुणाश्चैको संयमोऽप्येकधा मतः ॥१६२
परीषहोपसर्गाणां सहनं च समं स्मृतम् । आहारादिविधिश्चैकश्चर्यास्थानासनादयः ॥१६३
मार्गो मोक्षस्य सद्दृष्टिः ज्ञानं चारित्रमात्मनः । रत्नत्रयं समं तेषामपि चान्तर्बहिस्थितम् ॥१६४
ध्याता ध्यानं च ध्येयश्च ज्ञाता ज्ञानं च ज्ञेयसात् । चतुर्विधाराधनापि तुल्या क्रोधादिजिष्णुता ॥१६५
किंवात्र बहुनोक्तेन तद्विशेषोऽवशिष्यते । विशेषाच्छेषनिःशेषो न्यायादस्त्यविशेषभाक् ॥१६६
आचार्योऽनादितो रूढेर्योगादपि निरुच्यते । पञ्चाचारं परेभ्यः स आचारयति संयमी ॥१६७
अपि छिन्ने व्रते साधोः पुनः सन्धानमिच्छतः । तत्समादेशदानेन प्रायश्चित्तं प्रयच्छति ॥१६८

होने पर इनका क्षय होता है ॥१५५॥ यदि कोई ऐसी आशंका करे कि छद्मस्थ अवस्थामें ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षय होनेके पहले ही मोहनीयका क्षय हो जाता है सो ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि मोहनीयका एकदेश क्षय होनेसे इनका एकदेश क्षय होता है और मोहनीयका सर्वथा क्षय होनेसे इनका भी सर्वथा क्षय हो जाता है ॥१५६॥ सम्यग्दृष्टिके समस्त कर्मोंकी निर्जरा होती है यह बात असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि दर्शनमोहनीयके उदयका अभाव होनेपर वहाँसे लेकर वह उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी होने लगती है ॥१५७॥ इसलिये छद्मस्थ गुरुओंके यद्यपि वर्तमान में तीनों कर्मोंका सद्भाव कहा गया है। तथापि राग, द्वेष और मोहका हो अभाव हो जानेसे उनमें गुरुपना माना गया है ॥१५८॥ वह गुरु सामान्य रूपसे एक प्रकारका और अवस्था विशेषकी अपेक्षासे तीन प्रकारका माना गया है। जैसे अग्नि यद्यपि एक ही है तो भी वह तिनकेकी अग्नि, पत्तेकी अग्नि और लकड़ीकी अग्नि इस तरह तीन प्रकारकी कही जाती है। वैसे ही प्रकृतमें जानना चाहिये ॥१५९॥ इनके ये भेद आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन हैं। ये तीनों ही मुनिकुंजर यद्यपि अपने अपने विशेष पद पर स्थित हैं ॥१६०॥ तथापि इनके मुनि होनेका कारण एक है; क्रिया एक है; बाह्य वेष एक सा है; बारह प्रकारका तप एक सा है; पाँच प्रकारका व्रत एक सा है; तेरह प्रकारका चारित्र एक सा है; समता एक सी है; मूल और उत्तर गुण भी एकसे हैं; संयम भी एक सा है; परीषह और उपसर्गोंका सहन करना भी एक सा है; आहार आदिकी विधि भी एक सी है; चर्या, स्थान और आसन आदि भी एकसे हैं; मोक्षका मार्ग जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप आत्मीक रत्नत्रय है वह भी उनके भीतर और बारह समान है। इसी प्रकार ध्याता, ध्यान, ध्येय, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, चार प्रकारकी आराधनाएँ और क्रोधादिकका जीतना ये भी समान हैं ॥१६१–१६५॥ इस विषयमें बहुत कहाँ तक कहें। उनका जो कुछ विशेष है वही कहना बाकी है, क्योंकि विशेष रूपसे जो भी शेष रह जाता है वह न्यायानुसार अविशेष (समान) कहलाता है ॥१६६॥ अनादिकालीन रूढि और निरुक्त्यर्थ इन दोनोंकी अपेक्षासे आचार्य शब्दका यह अर्थ लिया जाता है कि जो संयमी दूसरोंसे पाँच आचारका आचरण कराता है वह आचार्य है ॥१६७॥ तथा व्रतभंग होने पर फिरसे उस व्रतको जोड़नेकी इच्छा करनेवाले साधुको जो आदेश

आदेशस्योपदेशेभ्यः स्याद्विशेषः स भेदभाक् । आदत्ते गुरुणा दत्तं नोपदेशेष्वयं विधिः ॥१६९
न निषिद्धस्तदादेशो गृहिणां व्रतधारिणाम् । दीक्षाचार्येण दीक्षेव दीयमानास्ति तत्क्रिया ॥१७०
स निषिद्धो यथाम्नायादव्रतिनां मनागपि । हिंसकश्चोपदेशोऽपि नोपयुज्योऽत्र कारणात् ॥१७१
मुनिव्रतधराणां वा गृहस्थव्रतधारिणाम् । आदेशश्चोपदेशो वा न व्यो बधाश्रितः ॥१७२
न चाऽऽशङ्क्यं प्रसिद्धं यन्मुनिभिर्व्रतधारिभिः । मूर्त्तिमच्छक्तिसर्वस्वं हस्तरेखेव दर्शि ॥१७३
नूनं प्रोक्तोपदेशोऽपि न रागाय विरागिणाम् । रागिणामेव रागाय ततोऽवश्यं स वर्जितः ॥१७४
न निषिद्धः स आदेशो नोपदेशो निषेधितः । नूनं सत्पात्रदानेषु पूज र्हतामपि ॥१७५
यद्वाऽऽदेशोपदेशौ स्तो द्वौ तौ निरवद्यकर्मणि । यत्र सावद्यलेशोऽपि तत्राऽऽदेशो न जातुचित् ॥१७६
सहासंयमिभिर्लोकैः संसर्गं भाषणं रतिम् । कुर्यादाचार्य इत्येकेनासौ सूरिर्न चार्हतः ॥१७७
सङ्घसम्पोषकः सूरिः प्रोक्तः कैश्चिन्मतेरिह । दिशोपदेशाभ्यां नो रोऽपरोऽस्त्यतः ॥१७८

यद्वा मोहात्प्रमादाद्वा कुर्याद्यो लौकिकीं क्रियाम् ।
तावत्कालं स नाचार्योऽप्यस्ति चान्तर्व्रताच्च्युतः ॥१७९

इत्युक्तव्रततपःशी यमादिधरो गणी । नमस्यः स गुरुः साक्षात्तदन्यो न गुरुर्गणी ॥१८०

द्वारा प्रायश्चित्त देता है वह आचार्य है ॥१६८॥ उपदेशोंसे आदेशमें पार्थक्य दिखलाने वाला यह अन्तर है कि आदेशमें 'मैं गुरुके द्वारा दिये गये व्रतको स्वीकार करता हूँ' यह विधि मुख्य रहती है किन्तु उपदेशोंमें यह विधि मुख्य नहीं रहती ॥१६९॥ व्रतधारी गृहस्थोंके लिये भी आचार्यका आदेश करना निषिद्ध नहीं है, क्योंकि दीक्षाचार्यके द्वारा दी गयी दीक्षाके समान ही वह आदेशविधि मानी गई है ॥१७०॥ किन्तु जो अव्रती हैं, उनके लिए आगमकी परिपाटीके अनुसार थोड़ा भी आदेश करना निषिद्ध है और इसी प्रकार कारणवश हिंसाकारी उपदेश करना भी उपयुक्त नहीं है ॥१७१॥ चाहे मुनिव्रतधारी हों चाहे गृहस्थव्रतधारी हों इन दोनोंके लिये हिंसाका अवलम्बन करनेवाला आदेश और उपदेश नहीं करना चाहिये ॥१७२॥ जो यह प्रसिद्ध है कि व्रतधारी मुनि मूर्तिमान पदार्थोंकी समस्त शक्तियोंको हस्तरेखाके समान दिखला देते हैं इसलिये उक्त उपदेश और आदेश उनका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता सो ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यद्यपि पूर्वोक्त उपदेश विरागियोंके लिए रागका कारण नहीं है तो भी जो रागी हैं उनके लिये वह रागका कारण अवश्य है इसलिये उसका निषेध किया गया है ॥१७३–१७४॥ किन्तु सत्पात्रोंके लिये दान और अरहन्तोंकी पूजा इन कार्योंमें न तो वह आदेश ही निषिद्ध है और न वह उपदेश ही निषिद्ध है ॥१७५॥ अथवा आदेश और उपदेश ये दोनों ही निषिद्ध कार्योंके विषयमें उचित माने गये हैं, क्योंकि जिस कार्यमें सावद्यका लेशमात्र भी हो उस कार्यका आदेश करना कभी भी उचित नहीं है ॥१७६॥ कितने ही आचार्योंका मत है कि आचार्य असंयमी पुरुषोंके साथ सम्बन्ध, भाषण और प्रीति कर सकता है परन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा करनेवाला न तो आचार्य ही हो सकता है और न अरहन्तके मतका अनुयायी ही हो सकता है ॥१७७॥ जो संघका पालन-पोषण करता है वह आचार्य है ऐसा किन्हीं अन्य लोगोंने ही अपनी मतिसे कहा है अतः यही निश्चय होता है कि धर्मका आदेश और उपदेशके सिवाय आचार्यका और कोई उपकार नहीं है ॥१७८॥ अथवा मोहवश या प्रमाद वश होकर जो लौकिकी क्रियाको करता है वह उतने काल तक आचार्य नहीं रहता इतना ही नहीं किन्तु तब वह अन्तरंगमें व्रतोंसे च्युत हो जाता है ॥१७९॥ इस प्रकार पूर्वोक्त व्रत, तप, शील और संयम आदिको धारण करने-

उपाध्यायः स साध्वीयान् वादी स्याद्वादकोविदः ।
वाग्मी वाग्ब्रह्मसर्वज्ञः सिद्धान्तागमपारगः ॥१८१

कविः प्रत्यग्रसूत्राणां शब्दार्थैः सिद्धसाधनात् । गमकोऽर्थस्य माधुर्ये धुर्यो वक्तृत्ववर्त्मनाम् ॥१८२
उपाध्यायत्वमित्यत्र श्रुताभ्यासोऽस्ति कारणम् । यदध्येति स्वयं चापि शिष्यानध्यापयेद्गुरुः ॥१८३
शेषस्तत्र व्रतादीनां सर्वसाधारणो विधिः । कुर्याद्धर्मोपदेशं स नादेशं सूरिवत्क्वचित् ॥१८४
तेषामेवाश्रमं लिङ्गं सूरीणां संयमं तपः । आश्रयेत् शुद्धचारित्रं पञ्चाचारं स शुद्धधीः ॥१८५
मूलोत्तरगुणानेव यथोक्तानाचरेच्चिरम् । परीषहोपसर्गाणां विजयी स भवेद् ध्रुवम् ॥१८६
अत्राऽतिविस्तरेणालं नूनमन्तर्बहिर्मुनेः । शुद्धवेषधरो धीरो निर्ग्रन्थः स गणाग्रणीः ॥१८७
उपाध्यायः समाख्यातो विख्यातोऽस्ति स्वलक्षणैः । अधुना साध्यते साधोर्लक्षणं सिद्धमागमात् ॥१८८
मार्गं मोक्षस्य चारित्रं सदृग्ज्ञप्तिपुरस्सरम् । साधयत्यात्मसिद्ध्यर्थं साधुरन्वर्थसंज्ञकः ॥१८९
नोचे वाचंयमी किञ्चिद्धस्तपादादिसंज्ञया । न किञ्चिद्दर्शयेत्स्वस्थो मनसाऽपि न चिन्तयेत् ॥१९०
आस्ते स शुद्धमात्मानमास्तिघ्नुवानश्च परम् । स्तिमितान्तर्बहिर्जल्पो निस्तरङ्गाब्धिवन्मुनिः ॥१९१
नादेशं नोपदेशं वा नादिशेत्स मनागपि । स्वर्गापवर्गमार्गस्य तद्विपक्षस्य किं पुनः ॥१९२
वैराग्यस्य परां काष्ठामधिरूढोऽधिकप्रभः । दिगम्बरो यथाजातरूपधारी दयापरः ॥१९३

वाला आचार्य ही नमस्कार करने योग्य है और वही साक्षात् गुरु है। इससे भिन्न स्वरूपका धारण करनेवाला न तो गुरु ही हो सकता है और न आचार्य ही हो सकता है ॥१८०॥ समाधान करनेवाला, वाद करनेवाला, स्याद्वाद विद्याका जानकार, वाग्मी, वचन ब्रह्ममें पारंगत, सिद्धान्त शास्त्रका पारगामी, वृत्ति तथा मुख्य सूत्रोंका शब्द और अर्थके द्वारा सिद्ध करनेवाला होनेसे कवि, अर्थकी मधुरताका ज्ञान करनेवाला और वक्तृत्व कलामें अग्रणी उपाध्याय होता है ॥१८१–१८२॥ उपाध्याय होनेमें मुख्य कारण श्रुतका अभ्यास है। जो स्वयं पढ़ता है और शिष्योंको पढ़ाता है वह उपाध्याय है ॥१८३॥ उपाध्यायका व्रतादिक सम्बन्धी शेष सब विधि मुनियोंके समान होती है। यह धर्मका उपदेश कर सकता है किन्तु आचार्यके समान किसीको आदेश नहीं कर सकता ॥१८४॥ शुद्ध बुद्धि वाला वह उन्हीं आचार्योंके आश्रममें रहता है। उन्हींके संयम, तप, शुद्ध चारित्र और पंचाचारका पालन करता है ॥१८५॥ वह चिरकालतक शास्त्रोक्त विधिसे मूलगुणों और उत्तरगुणोंका पालन करता है। परीषह और उपसर्गोंको जीतनेवाला होता है तथा जितेन्द्रिय होता है ॥१८६॥ यहाँपर अधिक विस्तार करना व्यर्थ है किन्तु इतना ही कहना पर्याप्त है कि वह अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकारसे मुनिके शुद्ध वेषको धारण करनेवाला, बुद्धिमान्, निर्ग्रन्थ और गणमें प्रधान होता है॥१८७॥ इस प्रकार अपने लक्षणोंसे प्रसिद्ध उपाध्यायका स्वरूप कहा। अब साधुके लक्षणका विचार करते हैं जो कि आगममें भलीभाँति सिद्ध है ॥१८८॥ मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक सम्यक्चारित्र है। जो आत्मसिद्धिके लिए इसका साधन करता है वह साधु है। यह इसका सार्थक नाम है ॥१८९॥ यह साधु स्वस्थ रहता है इसलिए न तो कुछ कहता है, न हाथ पैर आदिसे किसी प्रकारका इशारा करता है और न मनसे ही कुछ विचार करता है ॥१९०॥ किन्तु वह मुनि केवल शुद्ध आत्मामें लीन रहता है, अन्तरंग और बहिरंग जल्पसे रहित हो जाता है और तरंग रहित समुद्रके समान शान्त रहता है ॥१९१॥ वह स्वर्ग और मोक्षके मार्गका थोड़ा भी न तो आदेश करता है और न उपदेश ही करता है फिर विपक्षका तो कर ही कैसे सकता है ॥१९२॥ वैराग्यकी चरम सीमाको प्राप्त, अधिक प्रभावान्,

निर्ग्रन्थोऽन्तर्बहिर्मोहग्रन्थेरुद्ग्रन्थको यमी । कर्मनिर्जरकः श्रेण्या तपस्वी स तपः शुचिः ॥१९४
परीषहोपसर्गाद्यैरजय्यो जितमन्मथः । एषणाशुद्धिसंशुद्धः प्रत्याख्यानपरायणः ॥१९५
इत्याद्यनेकधाऽनेकैः साधुः साधुगुणैः श्रितः । नमस्यः श्रेयसेऽवश्यं नेतरो विदुषां महान् ॥१९६
एवं मुनित्रयी ख्याता महती महतामपि । तद्विशुद्धिविशेषोऽस्ति क्रमात्तरतमात्मकः ॥१९७

तत्राचार्यः प्रसिद्धोऽस्ति दीक्षादेशाद्गुणाग्रणीः ।
न्यायाद्वा देशनोऽध्यक्षात् सिद्धः स्वात्मन्यतत्परः ॥१९८

अर्थान्नातत्परोऽप्येष दृग्मोहानुदयात्सतः । अस्ति तेनाविनाभूतशुद्धात्मानुभवः स्फुटम् ॥१९९
अप्यस्ति देशतस्तत्र चारित्रावरणक्षतिः । वाक्यार्थात् केवलं न स्यात्क्षतिर्वापि तदक्षतिः ॥२००
तथापि न बहिर्वस्तु स्यात्तद्धेतुरहेतुतः । अस्त्युपादानहेतोश्च तत्क्षतिर्वा तदक्षतिः ॥२०१
सन्ति संज्वलनस्योच्चैः स्पर्द्धकाः देशघातिनः । तद्विपाकोऽस्त्यमन्दो वा मन्दो हेतुः क्रमाद्द्वयोः २०२
संक्लेशस्तत्क्षतिर्नूनं विशुद्धिस्तु तदक्षतिः । सोऽपि तरतमस्वांशैः साऽप्यनेकैरनेकधा ॥२०३
अस्तु यद्वा न शैथिल्यं तत्र हेतुवशादिह । तथाप्येतावताचार्यः सिद्धो नात्मन्यतत्परः ॥२०४
तत्रावश्यं विशुद्ध्यंशस्तेषां मन्दोदयादिह । संक्लेशांशोऽथवा तीव्रोदयान्नायं विधिः स्मृतः ॥२०५

दिगम्बर जन्मके समय जैसा रूप होता है वैसे रूपको धारण करनेवाला, दयाशील, निर्ग्रन्थ, अन्तरंग और बहिरंग मोहकी गाँठको खोलनेवाला, व्रतोंको जीवन पर्यन्त पालनेवाला, गुणश्रेणिरूपसे कर्मोको निर्जरा करनेवाला, तपरूपी किरणोंको तपनेसे तपस्वी, परीषह और उपसर्ग आदिसे अजेय, कामको जीतनेवाला, शास्त्रोक्तविधिसे आहार लेने वाला और प्रत्याख्यानमें तत्पर इत्यादि अनेक प्रकारके साधुके योग्य अनेक गणोंको धारण करनेवाला साधु होता है। ऐसा साधु कल्याणके लिये नियमसे नमस्कार करने योग्य है इससे विपरीत कोई यदि विद्वानोंमें श्रेष्ठ भी हो तो वह नमस्कार करने योग्य नहीं है ॥१९३–१९६॥

इस प्रकार यद्यपि श्रेष्ठमें भी श्रेष्ठ इन तीन प्रकारके मुनियोंका व्याख्यान किया तथापि उनमें तरतमरूप कुछ विशेषता पाई जाती है ॥१९७॥ वह इस प्रकार है—उन तीनोंमें जो दीक्षा और आदेश देता है वह गणका अग्रणी आचार्य है। वह अपनी आत्मामें लीन रहता है यह बात युक्ति आगम और अनुभवसे सिद्ध है ॥१९८॥ इसके दर्शन मोहनीयका अनुदय होता है इसलिये यह वास्तवमें अपनी आत्मामें अतत्पर नहीं है। किन्तु इसके उससे अविनाभाव सम्बन्ध रखनेवाला शुद्ध आत्माका अनुभव नियमसे पाया जाता है ॥१९९॥ दूसरे इसके चारित्र मोहनीयका एक देश क्षय भी पाया जाता है। क्योंकि चारित्रकी हानि और लाभ केवल बाह्य पदार्थके निमित्तसे नहीं होता है ॥२००॥ किन्तु उपादान कारणके बलसे चारित्रकी हानि या उसका लाभ होता है। तब भी अहेतु होनेसे बाह्य वस्तु उसका कारण नहीं है ॥२०१॥ वास्तवमें संज्वलन कषायके जो देशघाति स्पर्धक पाये जाते हैं उनका तीव्र और मन्द उदय ही क्रमसे चारित्रकी क्षति और अक्षतिका कारण है ॥२०२॥ संक्लेश नियमसे चारित्रकी क्षतिका कारण है और विशुद्धि चारित्रकी हानिका कारण नहीं है और वह संक्लेश तथा विशुद्धि भी अपने तरतमरूप अंशोंकी अपेक्षा अनेक प्रकारकी है। और ये तरतमरूप भी अपने अवान्तर भेदोंकी अपेक्षा अनेक प्रकारके हैं ॥२०३॥ अथवा कारणवश आचार्यके चारित्रमें कदाचित् शिथिलता भी होवे और कदाचित् न भी होवे तो भी इतने मात्रसे आचार्य अपनी आत्मामें अतत्पर है यह बात सिद्ध नहीं होती ॥२०४॥ उनके देशघाति

किन्तु दैवाद्विशुद्धयंशः संक्लेशांशोऽथ वा क्वचित् । तद्विशुद्धेर्विशुद्धयंशः संक्लेशांशादयं पुनः॥ २०६
तेषां तीव्रोदयात्तावदेतावानत्र बाधकः । सर्वतश्चेत्प्रकोपी च नापराधोस्त्यतोऽपरः ॥२०७
तेनात्रैतावता नूनं शुद्धस्यानुभवच्युतिः । कर्तुं न शक्यते यस्मादत्रास्त्यन्यः प्रयोजकः ॥२०८
हेतुः शुद्धात्मनो ज्ञाने शमो मिथ्यात्वकर्मणः । प्रत्यनीकस्तु तत्रोच्चैरशमस्तस्य व्यत्ययात् ॥२०९
दृग्मोहेऽस्तङ्गते पुंसः शुद्धस्यानुभवो भवेत् । न भवेद्विघ्नकरः कश्चिच्चारित्रावरणोदयः ॥२१०
न चाकिञ्चित्करश्चैवं चारित्रावरणोदयः । दृग्मोहस्य क्षतेनालमलं स्वस्य कृते च यः ॥२११
कार्यं चारित्रमोहस्य चारित्राच्च्युतिरात्मनः । नात्मदृष्टेस्तु दृष्टित्वान्न्यायादितरदृष्टिवत् ॥२१२
यथा चक्षुः प्रसन्नं वै कस्यचिद्दैवयोगतः । इतरत्राक्षतापेऽपि दृष्टाध्यक्षान्न तत्क्षतिः ॥२१३
कषायाणामनुद्रेकश्चारित्रं तावदेव हि । नानुद्रेकः कषायाणां चारित्राच्च्युतिरात्मनः ॥२१४
ततस्तेषामनुद्रेकः स्यादुद्रेकोऽथवा स्वतः । नात्मदृष्टेः क्षतिर्नूनं दृग्मोहस्योदयादृते ॥२१५
अथ सूरिरुपाध्यायः द्वावेतौ हेतुतः समौ । साधुरिवात्मज्ञौ शुद्धौ शुद्धौ शुद्धोपयोगिनौ ॥२१६
नापि कश्चिद्विशेषोऽस्ति द्वयोस्तरतमो मिथः । नैताभ्यामन्तरुत्कर्षः साधोरप्यतिशायनात् ॥२१७

स्पर्धकोंके मन्द उदय होनेसे नियमसे विशुद्धता होती है और देशघाति स्पर्धकोंके तीव्र उदय होनेसे संक्लेश होता है यह विधि नहीं मानी गई है ॥२०५॥ किन्तु दैववश उनके कहीं पर विशुद्धयंश भी होता है और दैववश कहीं पर संक्लेशांश भी होता है। यदि चारित्रकी विशुद्धि है तो विशुद्धयंश होता है और यदि संक्लेशांशका उदय होता है तो संक्लेश भी होता है ॥२०६॥ उन देशघाति स्पर्धकोंका तीव्र उदय तो केवल इतना ही आचार्यके बाधक है कि यदि वह सर्वथा प्रकोपका कारण है ऐसा मान लिया जाय तो इससे बड़ा और कोई अपराध नहीं है ॥२०७॥ इसलिये यहाँ पर इतने मात्रसे आचार्यके शुद्ध अनुभवकी च्युति नहीं की जा सकती, क्योंकि इसका कारण कोई दूसरा है ॥२०८॥ मिथ्यात्व कर्मका अनुदय शुद्ध आत्माके ज्ञानमें कारण है और उसका तीव्र उदय इसमें बाधक है, क्योंकि मिथ्यात्वका उदय होने पर शुद्ध आत्माके ज्ञानका विनाश देखा जाता है ॥२०९॥ दर्शनमोहनीयका अभाव होनेपर शुद्ध आत्माका अनुभव होता है इसलिये चारित्रावरण-का किसी भी प्रकारका उदय उसका बाधक नहीं है ॥२१०॥ एतावता चारित्रावरणका उदय अकिंचित्कर है यह बात नहीं है क्योंकि यद्यपि वह दर्शनमोहनीयका कार्य करनेमें असमर्थ है तथापि वह अपना कार्य करनेमें अवश्य समर्थ है ॥२११॥ चारित्र-मोहनीयका कार्य आत्माको चारित्रसे च्युत करना है आत्मदृष्टिसे च्युत करना उसका कार्य नहीं, क्योंकि न्यायसे विचार करने पर इतर दृष्टियोंके समान वह भी एक दृष्टि है ॥२१२॥ जिस प्रकार दैवयोगसे यदि किसीकी एक आँख निर्मल है तो यह प्रत्यक्षसे देखते हैं कि दूसरी आँखमें संतापके होने पर भी उसकी हानि नहीं होती। उसी प्रकार चारित्र मोहके उदयसे चारित्रगुणमें विकारके होने पर भी आत्माके सम्यक्त्व गुणकी हानि नहीं होती ॥२१३॥ जब तक कषायोंका अनुदय है तभी तक चारित्र है और कषायोंका उदय ही आत्माका चारित्रसे च्युत होना है ॥२१४॥

इसलिये चाहे कषायोंका अनुदय हो चाहे उदय हो पर दर्शनमोहनीयके उदयके विना इतने मात्रसे सम्यग्दर्शनकी कोई हानि नहीं होती ॥२१५॥ अन्तरंग कारणकी अपेक्षा विचार करने पर आचार्य और उपाध्याय ये दोनों ही समान हैं, साधु हैं, साधुके समान आत्मज्ञ हैं, शुद्ध हैं और शुद्ध उपयोगवाले हैं ॥२१६॥ इन दोनोंमें परस्पर तरतमरूप कोई विशेषता नहीं है और न इन दोनोंसे साधुमें भी अतिशयरूपसे कोई भीतरी उत्कर्ष पाया जाता है ॥२१७॥ यदि इनमें परस्पर

लेशतोऽस्ति विशेषश्चेन्मिथस्तेषां वहिः कृतः । का क्षतिर्मूलहेतोः स्यादन्तःशुद्धिसमन्वितः ॥२१८
नास्त्यत्र नियतः कश्चिद्युक्तिस्वानुभवागमात् । मन्दादिरुदयस्तेषां सूर्युपाध्यायसाधुषु ॥२१९
प्रत्येकं वहवः सन्ति सूर्युपाध्यायसाधवः । जघन्यमध्यमोत्कृष्टभवैश्चैकैकशः पृथक् ॥२२०
कश्चित्सूरिः कदाचिद्वै विशुद्धिं परमां गतः । मध्यमां वा जघन्यां वा स्वोचितां पुनराश्रयेत् ॥२२१
हेतुस्तत्रोदिता नानाभावांशैः स्पर्द्धकाः क्षणम् । धर्मादेशोपदेशादिहेतुर्नात्र वहिः क्वचित् ॥२२२
परिपाठ्यानया योज्याः पाठकाः साधवश्च ये । न विशेषो यतस्तेषां नियतः शेषो विशेषभाक् ॥२२३
न तु धर्मोपदेशादि कर्म तत्कारणं वहिः । हेतोरभ्यन्तरस्यापि वाह्यं हेतुर्वहिः क्वचित् ॥२२४
नैवमर्थाद्यतः सर्वं वस्त्वकिञ्चित्करं वहिः । तत्पदं फलवन्मोहादिच्छतोऽप्यान्तरं परम् ॥२२५
किं पुनर्गणिनस्तस्य सर्वतोनिच्छतो वहिः । धर्मादेशोपदेशादिस्वपदं तत्फलं च यत् ॥२२६
नास्यासिद्धं निरोहत्वं धर्मादेशादिकर्मणि । न्यायादक्षार्थकाङ्क्षाया ईहा नान्यत्र जातुचित् ॥२२७
ननु नेहां विना कर्म कर्म नेहां विना क्वचित् । तस्मान्नानीहितं कर्म स्यादक्षार्थस्तु वा न वा ॥२२८

थोड़ी वहुत विशेषता है भी तो वह वाह्य क्रियाकृत ही है क्योंकि इन तीनोंका मूलकारण अन्तरंग शुद्धि जव कि समान है तो वाह्य विशेषतासे क्या हानि है अर्थात् कुछ भी हानि नहीं है ॥२१८॥ इन आचार्य, उपाध्याय और साधुके कषायोंका कोई भी मन्दादि उदय नियत नहीं है। युक्ति, स्वानुभव और आगमसे तो यही ज्ञात होता है कि इनके किसी भी प्रकारके अंशोंका उदय सम्भव है ॥२१९॥

आचार्य, उपाध्याय और साधु इनमेंसे प्रत्येकके अनेक भेद हैं जो पृथक्-पृथक् एक-एकके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भावोंकी अपेक्षासे प्राप्त होते हैं ॥२२०॥ कोई आचार्य कदाचित् उत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त होकर फिर मध्यम या जघन्य विशुद्धिको प्राप्त होता है ॥२२१॥ नाना अविभाग प्रतिच्छेदोंको लिये हुए प्रति समय उदयमें आनेवाले संज्वलन कषायके देशघाति स्पर्धक ही इसका कारण हैं, धर्मका आदेश या उपदेश आदि रूप वाह्यक्रिया इसका कारण नहीं हैं ॥२२२॥ जिस परिपाटीसे आचार्योंके भेद वतलाये हैं इसी परिपाटीसे उपाध्याय और साधुओंके भेद भी घटित कर लेने चाहिये क्योंकि युक्तिसे विचार करनेपर आचार्यसे इनमें अन्तरंगमें और कोई विशेषता शेष नहीं रहती। वे तीनों समान हैं ॥२२३॥ शंका—धर्मका उपदेश आदि वाह्यकार्य आचार्य आदिकी विशेषताका कारण रहा आवे, क्योंकि वाह्यहेतु कहींपर आभ्यन्तर हेतुका वाह्य निमित्त होता है ॥२२४॥ समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि समस्त वाह्य पदार्थ वास्तवमें अकिञ्चित्कर हैं। अव यदि मोहवश कोई परपदार्थको निज मानता है तो उसके लिये ये पर—आचार्य आदि अवश्य ही फलवाले हैं। अर्थात् इनसे वह सांसारिक प्रयोजनकी सिद्धि कर सकता है ॥२२५॥ किन्तु जो वाह्यरूप आचार्य पद और धर्मका आदेश तथा उपदेश आदि रूप उसके फलको सर्वथा नहीं चाहता है उस आचार्यका तो फिर कहना ही क्या है, अर्थात् उसकी अन्तरंग परिणतिमें ये वाह्यकार्य विलकुल ही कारण नहीं हो सकते ॥२२६॥ धर्मके आदेश आदि कार्योंमें आचार्य निरीह होते हैं यह वात असिद्ध नहीं है, क्योंकि न्यायसे इन्द्रियोंके विषयोंकी आकांक्षा ही ईहा मानी गई है अन्यत्र की गई इच्छा कभी भी ईहा नहीं मानी गई है ॥२२७॥ शंका—कहीं भी क्रियाके विना इच्छा नहीं होती है और इच्छाके विना क्रिया नहीं होती है इसलिये इन्द्रियोंके विषय रहे या न रहे, तथापि विना इच्छाके क्रिया नहीं हो सकती ? ॥२२८॥

नैवं हेतोरतिव्याप्तेरारादाक्षीणमोहिषु । बन्धस्य नित्यतापत्तेर्भवेन्मुक्तेरसम्भवः ॥२२९
ततोऽस्त्यन्तःकृतो भेदः शुद्धेनांशांशतस्त्रिषु । निर्विशेषात्समस्त्वेष पक्षो माभूद्बहिः कृतः ॥२३०
किञ्चाऽस्ति यौगिकी रूढि प्रसिद्धा परमागमे । विना साधुपदं न स्यात्केवलोत्पत्तिरञ्जसा ॥२३१
तत्राकृतमिदं सम्यक् साक्षात्सर्वार्थदर्शिनः । क्षणमस्ति स्वतः श्रेण्यामधिरूढस्य तत्पदम् ॥२३२
यतोऽवश्यं स सूरिर्वा पाठकः श्रेण्यनेहसि । कृत्स्नचिन्तानिरोधात्मलक्षणं ध्यानमाश्रयेत् ॥२३३
ततः सिद्धमनायासात्तत्पदत्वं तयोरिह । नूनं बाह्योपयोगस्य नावकाशोऽस्ति तत्र यत् ॥२३४
न पुनश्चरणं तत्र छेदोपस्थापना वरम् । प्रागादाय क्षणं पश्चात्सूरिः साधुपदं श्रयेत् ॥२३५
उक्तं दिग्मात्रमत्राऽपि प्रसङ्गाद्गुरुलक्षणम् । शेषं विशेषतो ज्ञेयं तत्स्वरूपं जिनागमात् ॥२३६
धर्मो नीचपदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम् । तत्राजवञ्जवो नीचैः पदमुच्चैस्तदत्ययः ॥२३७
सम्यग्दृग्ज्ञप्तिचारित्रं धर्मो रत्नत्रयात्मकः । तत्र सद्दर्शनं मूलं हेतुरद्वैतमेतयोः ॥२३८
ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनागार एव वा । सदृक्-पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्तद्विना क्वचित् ॥२३९
रूढितोऽधिवपुर्वाचां क्रिया धर्मः शुभावहा । तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सहानया ॥२४०
सा द्विधा स च सागारानागाराणां विशेषतः । यतः क्रियाविशेषत्वान्नूनं धर्मो विशेषतः ॥२४१
तत्र हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकृत्स्नपरिग्रहात् । देशतो विरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम् ॥२४२

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर यह लक्षण क्षीणमोही और उनके समीपवर्ती गुणस्थानवालोंमें अतिव्याप्त हो जाता है और यदि यहाँ भी इच्छापूर्वक क्रिया मानी जाती है तो बन्धको नित्यताकी आपत्ति प्राप्त होनेसे मुक्ति असम्भव हो जाती है ॥२२९॥ इसलिये विशुद्धिके नाना अंशोंकी अपेक्षासे अन्तरंगकृत भेद है यह पक्ष सामान्यरूपसे तीनोंमें माना जाना चाहिये । इसे बाह्य क्रियाकी अपेक्षासे मानना उचित नहीं है ॥२३०॥ दूसरे परमागममें जो यह सार्थकरूढ़ि प्रसिद्ध है कि साधुपदको प्राप्त किये बिना नियमसे केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती है ॥२३१॥ सो इस विषयमें समस्त पदार्थोंको साक्षात् जाननेवाले सर्वज्ञदेवने यह ठीक ही कहा है कि श्रेणीपर चढ़े हुए जीवके वह साधुपद क्षणमात्रमें स्वतः प्राप्त हो जाता है ॥२३२॥ क्योंकि चाहे आचार्य हो या उपाध्याय, श्रेणीपर चढ़नेके समय वह नियमसे सम्पूर्ण चिन्ताओंके निरोध रूप ध्यानको धारण करता है ॥२३३॥ इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि आचार्य और उपाध्यायके श्रेणी आरोहणके समय साधुपद अनायास होता है क्योंकि वहाँपर बाह्य उपयोगको कोई अवकाश नहीं है ॥२३४॥ किन्तु ऐसा नहीं है कि आचार्य पहले छेदोपस्थापना रूप उत्तम चारित्रको ग्रहण करके पश्चात् साधुपदको धारण करता है ॥२३५॥ इस प्रकार यहाँपर प्रसंगवश संक्षेपसे गुरुका लक्षण कहा । उनका शेषस्वरूप विशेषरूपसे जिनागमसे जानना चाहिये ॥२३६॥ जो धर्मात्मा पुरुषको नीच स्थानसे उठाकर उच्चस्थानमें धरता है वह धर्म है । यहाँ संसार नीच स्थान है और उसका नाशरूप मोक्ष उच्चस्थान है ॥२३७॥ वह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन रूप है । उन तीनोंमेंसे सम्यग्दर्शन इन दोनोंके समीचीनपनेका एकमात्र कारण है ॥२३८॥ इसलिए गृहस्थ धर्म या मुनिधर्म जो भी धर्म है वह सम्यग्दर्शनपूर्वक होनेसे ही धर्म है । सम्यग्दर्शनके बिना कहीं भी धर्म नहीं ॥२३९॥ फिर भी रूढ़िसे शरीर और वचनकी शुभफल देनेवाली क्रियाको धर्म कहते हैं या शरीर और वचनकी शुभ क्रियाके साथ जो अनुकूल मनकी प्रवृत्ति होती है उसे धर्म कहते हैं ॥२४०॥ सम्पूर्ण गृहस्थ और मुनियोंके भेदसे वह क्रिया दो प्रकारकी है, क्योंकि क्रियाके भेदसे ही धर्ममें भेद होता है ॥२४१॥ इन दोनोंमेंसे जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और समस्त परिग्रह इनसे एकदेश विरति

यतेर्मूलगुणाश्चाष्टाविंशतिर्मूलवत्तरोः । नात्राप्यन्यतरेणोना नातिरिक्ता कदाचन ॥२४३
रेव समस्तैश्च सिद्धं यावन्मुनिव्रतम् । न व्यस्तैर्व्यस्तमात्रं तु यावदंशत्रयादपि ॥२४४

उक्तं च—

वदसमिदिंदियरोधो लोचो आवसयमचेलमन्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥२०

एते मूलगुणाः प्रोक्ताः यतीनां जैनशासने । लक्षाणां चतुरशीतिर्गुणाश्चोत्तरसंज्ञकाः ॥२४५
: सागारधर्मो वाऽनगारो वा यथोदितः । प्राणिसंरक्षणं मूलमुभयत्राविशेषतः ॥२४६
उक्तमस्ति क्रियारूपं व्यासाद्व्रतकदम्बकम् । सर्वस योगस्य तदेकस्य निवृत्तये ॥२४७
अर्थाज्जैनोपदेशोऽयमस्त्यादेशः स एव च । सर्वसावद्ययोगस्य निवृत्तिर्व्रतमुच्यते ॥२४८
सर्वशब्देन तत्रान्तर्बहिर्वर्तिपदार्थतः । प्राणोच्छेदो हि सावद्यं सैव हिंसा प्रकीर्तिता ॥२४९
योगस्तत्रोपयोगो वा बुद्धिपूर्वः स उच्यते । सूक्ष्मश्चाबुद्धिपूर्वो यः स स्मृतो योग इत्यपि ॥२५०
तस्याभावो निवृत्तिः स्याद्व्रतं चार्थादिति स्मृतिः । अंशात्साप्यंशतस्तत्सा सर्वतः सर्वतोऽपि तत्॥२५१
तः सिद्धमेवैतद् व्रतं वाह्यं दयाङ्गिषु । व्रतमन्तःकषायाणां त्यागः सैवात्मनि क्रिया ॥२५२
लोकासंख्यातमात्रास्ते यावद्रागादयः स्फुटम् । हिंसायास्तत्परित्यागो व्रतं धर्मोऽथवा किल ॥२५३

है वह गृहस्थोंका अणुव्रत कहा गया है ॥२४२॥ यतिके अट्ठाईस मूलगुण होते हैं। वे ऐसे हैं जैसे कि वृक्षका मूल होता है। कभी भी इनमेंसे न तो कोई कम होता है और न अधिक ही होता है ॥२४३॥ समस्तरूप इन सब गुणोंके द्वारा ही पूरा पूरा मुनिव्रत सिद्ध होता है, व्यस्तरूप इन सब गुणोंके द्वारा नहीं, क्योंकि एक अंशको ग्रहण करनेवाले नयकी अपेक्षा तो वह व्यस्तरूप ही सिद्ध होता है, पूरा मुनिव्रत नहीं सिद्ध होता ॥२४४॥

कहा भी है—'पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँचों इन्द्रियोंका निरोध करना, केशलोंच, छह आवश्यक, नग्न रहना, स्नान नहीं करना, जमीनमें सोना, दन्तधावन नहीं करना, खड़े होकर आहार लेना और एक वार भोजन करना ये अट्ठाईस मूलगुण है ॥२०॥

जैनशासनमें यतियोंके ये मूलगुण कहे हैं। उनके उत्तरगुण चौरासी लाख होते हैं ॥२४५॥ इसलिये जैसा सागारधर्म कहा गया है और जैसा मुनिधर्म कहा गया है उन दोनोंमें सामान्यरीतिसे प्राणियोंका संरक्षण मूल है ॥२४६॥ इसी प्रकार विस्तारसे क्रियारूप जितना भी व्रतोंका समुदाय कहा गया है वह केवल एक सर्वसावद्ययोगकी निवृत्तिके लिये ही कहा गया है ॥२४७॥ अर्थात् जिनमतका यही उपदेश है और यही आदेश है कि सर्वसावद्ययोगकी निवृत्तिको ही व्रत कहते हैं ॥२४८॥ यहाँपर सर्व शब्दसे उसका यौगिक अर्थ अन्तरंग और वहिरंग वृत्ति लिया गया है तथा सावद्य शब्दका अर्थ प्राणोंका छेद करना है और वही हिंसा कही गई है। इस हिंसामें जो बुद्धि-पूर्वक उपयोग होता है वह योग है या जो अवुद्धिपूर्वक सूक्ष्म उपयोग होता है वह भी योग है ॥२४९-२५०॥ तथा इस सर्वसावद्ययोगका अभाव होना ही उससे निवृत्ति है और वही वास्तवमें वृत माना गया है। यदि सर्वसावद्ययोगकी निवृत्ति अंशरूपसे होती है तो व्रत भी एकदेश होता है और यदि वह सब प्रकारसे होती है तो व्रत भी सर्वदेश होता है ॥२५१॥ इस प्रकार यह वात सब प्रकारसे सिद्ध हो गयी कि प्राणियोंपर दया करना वाह्य व्रत है और कषायोंका त्याग करना अन्तरंग व्रत है। अपनी आत्मापर कृपा भी यही है ॥२५२॥ क्योंकि जवतक असंख्यात लोकप्रमाण

आत्मेतराङ्गिणामङ्गरक्षणं यन्मतं स्मृतौ । तत्परं स्वात्मरक्षाया. कृतेनातः परत्र तत् ॥२५४
सत्सु रागादिभावेषु वन्धः स्यात्कर्मणां बलात् । तत्पाकादात्मनो दुःखं तत्सिद्धः स्वात्मनो वधः ॥
ततः शुद्धोपयोगो यो मोहकर्मोदयादृते । चारित्रापरनामैतद्व्रतं निश्चयतः परम् ॥२५६
रूढेः शुभोपयोगोऽपि ख्यातश्चारित्रसंज्ञया । स्वार्थक्रियामकुर्वाणः सार्थनामा न निश्चयात् ॥२५७
किन्तु बन्धस्य हेतुः स्यादर्थात्तत्प्रत्यनीकवत् । नासौ वरं वरं यः स नापकारोपकारकृत् ॥२५८
विरुद्धकार्यकारित्वं नास्यासिद्धं विचारसात् । बन्धस्यैकान्ततो हेतोः शुद्धादन्यत्र सम्भवात् ॥२५९
नोह्यं प्रज्ञापराधत्वान्निर्जराहेतुरंशतः । अस्ति नावन्धहेतुर्वा शुभो नाप्यशुभावहात् ॥२६०
कर्मादानक्रियारोधः स्वरूपाचरणं च यत् । धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात्सैष चारित्रसंज्ञकः ॥२६१

च—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्तिणिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥२१

नूनं सद्दर्शनज्ञानचारित्रैर्मोक्षपद्धतिः । समस्तैरेव न व्यस्तैस्तत्किं चारित्रमात्रया ॥२६२
सत्यं सद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रान्तर्गतं मिथः । त्रयाणामविनाभावाद् रत्नत्रयमखण्डितम् ॥२६३

वे रागादिक भाव रहते हैं तबतक ज्ञानादिक धर्मोंकी हिंसा होनेसे आत्माकी हिंसा होती रहती है ॥२५३॥ आशय यह है कि वास्तवमें रागादि भाव ही हिंसा है, अधर्म है, व्रतसे च्युत होना है और रागादिका त्याग करना ही अहिंसा है, व्रत है अथवा धर्म है ॥२५४॥ रागादि भावोंके होनेपर कर्मोंका बन्ध नियमसे होता है और उस बँधे हुए कर्मके उदयसे आत्माको दुःख होता है इसलिये रागादि भावोंका होना आत्मवध है यह बात सिद्ध होती है ॥२५५॥ इसलिये मोहनीय कर्मके उदयसे अभावमें जो शुद्धोपयोग होता है उसका दूसरा नाम चारित्र है और वही निश्चयसे उत्कृष्ट व्रत है ॥२५६॥ चारित्र सब प्रकारसे अपनी अर्थक्रियाको करता हुआ भी निर्जराका कारण है यह बात न्यायसे भी अबाधित है इसलिये वह दीपकके समान सार्थक नामवाला है ॥२५७॥ किन्तु वह अशुभोपयोगके समान वास्तवमें बन्धका कारण है इसलिये यह श्रेष्ठ नहीं है। श्रेष्ठ वह है जो न तो उपकार ही करता है और न अपकार ही करता है ॥२५८॥ शुभोपयोग विरुद्ध कार्यकारी है यह बात विचार करनेपर असिद्ध भी नहीं प्रतीत होती, क्योंकि शुभोपयोग एकान्तसे बन्धका कारण होनेसे वह शुद्धोपयोगके अभावमें ही पाया जाता है ॥२५९॥ बुद्धि दोषसे ऐसी तर्कणा भी नहीं करनी चाहिये कि शुभोपयोग एक देशनिर्जराका कारण है, क्योंकि न तो शुभोपयोग ही बन्धके अभावका कारण है और न अशुभोपयोग ही बन्धके अभावका कारण है ॥२६०॥ कर्मोंके ग्रहण करनेकी क्रियाका रुक जाना ही स्वरूपाचरण है। वही धर्म है, वही शुद्धोपयोग है और वही चारित्र है ॥२६१॥

कहा भी है—"निश्चयसे चारित्र ही धर्म है और जो धर्म है उसीको शम कहते हैं।" तात्पर्य यह है कि मोह और क्षोभसे रहित आत्माका परिणाम ही धर्म है ॥२१॥

शंका—जब कि सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र इन तीनोंके मिलनेपर ही मोक्षमार्ग होता है एक-एकके रहनेपर नहीं तब फिर केवल चारित्रको मोक्षमार्ग कहनेसे क्या प्रयोजन है ॥२६२॥ समाधान—यह कहना ठीक है तथापि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ये दोनों मिलकर चारित्रमें गर्भित हैं, क्योंकि तीनोंका परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध होनेसे ये तीनों

किञ्च सद्दर्शनं हेतुः संविच्चारित्रयोर्द्वयोः । सम्यग्विशेषणस्योच्चैर्यद्वा प्रत्य   न्मनः ॥२६४
अर्थोऽयं सति सम्यक्त्वे ज्ञानचारित्रमत्र यत् । भूतपूर्वं भवेत्सम्यक् सूते वाऽभूतपूर्वकम् ॥२६५
शुद्धोपलब्धिशक्तिर्या लब्धिज्ञानातिशायिनी । सा भवेत्सति सम्यक्त्वे शुद्धो भावोऽथवापि च ॥२६६
यत्पुनर्द्रव्यचारित्रं श्रुतज्ञानं विनापि दृक् । न तद्ज्ञानं न चारित्रमस्ति चेत्कर्मबन्धकृत् ॥२६७
तेषामन्य ।द्देशो   दोषाय जातुचित् । मोक्षमार्गैकसाध्यस्य स   ं स्मृतेरपि ॥२६८
बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्यः समासात्प्रश्नकोविदैः । रागांशैर्बन्ध एव स्यान्नारागांशैः   ाचन ॥२६९

च—

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति । येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२२
येनांशेन तु ज्ञानं तेनांशेन   बन्धनं नास्ति । येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२३
येनांशेन चारित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति । येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२४
उक्तो धर्मस्वरूपोऽपि प्रसङ्गात्सङ्गतोंऽशतः । कविर्लब्धावकाशस्तं विस्तराद्वा करिष्यति ॥२७०
देवे गुरौ तथा   दृष्टिस्तत्त्वार्थदर्शिनी ।   ताप्यमूढदृष्टिः स्यादन्यथा मूढदृ   ा ॥२७१
क्त्वस्य गुणोऽप्येष नालं दोषाय लक्षितः । सम्यग्दृष्टिर्यतोऽवश्यं यथा स्यान्न तथेतरः ॥२७२

अखण्डित हैं ॥२६३॥ दूसरी बात यह है कि सम्यग्दर्शन यह ज्ञान और चारित्र इन दोनोंमें सम्यक् विशेषणका हेतु है। अथवा जो ज्ञान और चारित्र नूतन होते हैं उनमें सम्यक् विशेषणका एकमात्र यही हेतु है ॥२६४॥ इसका यह अभिप्राय है कि पहलेका जो ज्ञान और चारित्र होता है वह सम्यग्दर्शनके होनेपर समीचीन हो जाता है। अथवा सम्यग्दर्शन यह अभूतपूर्वज्ञान और चारित्रको जन्म देता है ॥२६५॥ शुद्ध आत्माके जाननेकी शक्ति जो कि ज्ञानमें अतिशय लानेवाली लब्धिरूप है वह सम्यक्त्वके होनेपर ही होती है। अथवा शुद्धभाव भी सम्यक्त्वके होनेपर ही होता है ॥२६६॥ और जो द्रव्य चारित्र और श्रुतज्ञान है वह यदि सम्यग्दर्शनके विना होता है तो वह न ज्ञान है न चारित्र है। यदि है तो केवल कर्मबन्ध करनेवाला है ॥२६७॥ इसलिये इन तीनोंमेंसे किसी एकको कथन करना कभी भी दोषाधायक नहीं है, क्योंकि मोक्षमार्ग एक साध्य है और ये तीनों इसके साधक माने गये हैं ॥२६८॥ प्रश्नके अभिप्रायको जाननेवाले पुरुषोंको संक्षेपमें बन्ध और मोक्षका स्वरूप इस प्रकार जानना चाहिये कि रागांशरूप परिणामोंसे बन्ध होता है और रागांशरूप परिणामोंके नहीं रहनेसे कभी भी बन्ध नहीं होता ॥२६९॥

कहा भी है—'जिस अंशसे यह सम्यग्दृष्टि है उस अंशसे इसके बन्ध नहीं होता है। किन्तु जिस अंशसे राग है उस अंशसे इसके बन्ध अवश्य होता है ॥२२॥ जिस अंशसे ज्ञान है, उस अंशसे उसके कर्म-बन्ध नहीं होता, किन्तु जिस अंशसे राग है, उस अंशसे कर्म-बन्ध होता है ॥२३॥ जिस अंशसे चारित्र है, उस अंशसे उसके कर्म-बन्ध नहीं होता, किन्तु जिस अंशसे राग है, उस अंशसे कर्म-बन्ध होता है ॥२४॥

इस प्रकार प्रसंगवश संक्षेपसे युक्तियुक्त धर्मका स्वरूप कहा। कवि यथावकाश उसका विस्तारसे कथन आगे करेगा ॥२७०॥ समस्त कथनका सार यह है कि देव, गुरु और धर्ममें यथार्थताको देखनेवाली दृष्टि ही अमूढ़दृष्टि कही गयी है और इससे विपरीत दृष्टि ही मूढ़ दृष्टि है ॥२७१॥ यह भी सम्यक्त्वका गुण है। यह किसी प्रकार भी दोषकारक नहीं है, क्योंकि जो सम्यग्दृष्टि है वह नियमसे अमूढ़दृष्टि होता है और जो सम्यग्दृष्टि नहीं है वह अमूढ़ दृष्टि

उपबृंहणमत्रास्ति गुणः सम्यग्दृगात्मनः । लक्षणादात्मशक्तीनामवश्यं बृंहणादिह ॥२७३
आत्मशक्तेरदौर्बल्यकरणं चोपबृंहणम् । अर्थाद्दृग्ज्ञप्तिचारित्रभावास्खलनं हि तत् ॥२७४
जानन्नप्येष निःशेषात्पौरुषं नात्मदर्शने । तथापि यत्नवानत्र पौरुषं प्रेरयन्निव ॥२७५
नायं शुद्धोपलब्धौ स्याल्लेशतोऽपि प्रमादवान् । निष्प्रमादतयात्मानमाददानः समादरात् ॥२७६
यद्वा शुद्धोपलब्ध्यर्थमभ्यसेदपि तद्बहिः । सत्क्रियां काञ्चिदप्यर्थात्तत्साध्यानुपयोगिनाम् ॥२७७
रसेन्द्रं सेवमानोऽपि काम्यपथ्यं न वाचरेत् । आत्मनोऽनुल्लाघतामुज्झन्नोज्झन्नुल्लाघतामपि ॥२७८
यद्वा सिद्धं विनायासात्स्वतस्तत्रोपबृंहणम् । ऊर्ध्वमूर्ध्वं गुणश्रेणौ निर्जरायाः सुसम्भवात् ॥२७९
अवश्यं भाविनी तत्र निर्जरा कृत्स्नकर्मणाम् । प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावदसंख्येयगुणक्रमात् ॥२८०
न्यायादायातमेतद्वै यावतांशेन तत्क्षितौ । वृद्धिः शुद्धोपयोगस्य वृद्धिर्वृद्धिः पुनः पुनः ॥२८१
यथा यथा विशुद्धिः स्याद्वृद्धिरन्तःप्रकाशिनी । तथा तथा हृषीकानामुपेक्षा विषयेष्वपि ॥२८२
ततो भूम्नि क्रियाकाण्डे नात्मशक्तिं स लोपयेत् । किन्तु संवर्द्धयन्नूनं यत्नादपि च दृष्टिमान् ॥२८३
उपबृंहणनामापि गुणः सद्दर्शनस्य यः । गणितो गणनामध्ये गुणानां नागुणाय च ॥२८४
सुस्थितीकरणं नाम गुणः सद्दर्शनस्य यः । धर्माच्च्युतस्य धर्मे तन्नाधर्मे धर्मिणः क्षतेः ॥२८५

कभी नहीं होता ॥२७२॥ सम्यग्दृष्टि जीवका उपबृंहण नामका भी एक गुण है । आत्मीक शक्तियों की नियमसे वृद्धि करना यह इसका लक्षण है ॥२७३॥ आत्माकी शुद्धिमें दुर्बलता न आने देना या उसकी पुष्टि करना उपबृंहण है । अर्थात् आत्माको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप भावसे च्युत नहीं होने देना ही उपबृंहण है ॥२७४॥ यह जीव जानता हुआ भी आत्म-साक्षात्कारके विषयमें पूरी तरहसे पुरुषार्थ नहीं कर पाता । तथापि पुरुषार्थकी प्रेरणा देता हुआ ही मानो इस विषयमें प्रयत्नवान् रहता है ॥२७५॥ यह शुद्धोपलब्धिमें रंचमात्र भी प्रमादी नहीं होता है किन्तु प्रमादरहित होकर आदरसे आत्मीक कार्योंमें लगा रहता है ॥२७६॥ अथवा शुद्धोपलब्धिके लिये यह उस आत्मीक कार्यमें उपयोगी पड़नेवाली किहीं बाहरी सत्क्रियाओंका भी अभ्यास करता है ॥२७७॥ जैसे पारद भस्मको सेवन करता हुआ भी कोई पुरुष पथ्य करता है और कोई पुरुष पथ्य नहीं भी करता है । जो पथ्य करता है वह अपने रोगसे मुक्ति पा लेता है और जो पथ्य नहीं करता है वह अपनी नीरोगताको भी खो बैठता है । वैसे ही प्रकृतमें जानना चाहिये ॥२७८॥ अथवा सम्यग्दृष्टिके बिना ही प्रयत्नके स्वभावसे उपबृंहण गुण होता है, क्योंकि इसके ऊपर गुणश्रेणी निर्जरा पाई जाती है ॥२७९॥ इसके समस्त कर्मोंकी प्रतिसमय असंख्यात गुण क्रमसे निर्जरा अवश्य होती रहती है ॥२८०॥ इसलिये यह बात युक्तिसे प्राप्त हुई कि इसके जितने रूपमें कर्मोंका क्षय होता है उतनी शुद्धोपयोगकी वृद्धि होती है । इस प्रकार वृद्धिके बाद वृद्धि बराबर होती जाती है ॥२८१॥ इसके जैसे जैसे विशुद्धिकी भीतर प्रकाश देनेवाली वृद्धि होती है वैसे वैसे इन्द्रियोंके विषयमें भी इसके उपेक्षा होती जाती है ॥२८२॥ इसलिये बड़े भारी क्रियाकाण्डमें वह सम्यग्दृष्टि अपनी शक्तिको न छिपावे । किन्तु प्रयत्नसे भी अपनी शक्तिको बढ़ावे ॥२८३॥ इस प्रकार सम्यग्दर्शनका जो उपबृंहण नामका गुण है वह भी गुणोंकी गणनामें आ जाता है । वह दोषाधायक नहीं है ॥२८४॥ सम्यग्दृष्टिका एक स्थितीकरण नामका गुण है । जो धर्मसे च्युत हो गया है उसका धर्ममें स्थित करना स्थितीकरण है । किन्तु अधर्मसे च्युत हुए जीवको अधर्ममें स्थित करना स्थितीकरण नहीं है ॥२८५॥ कितने ही अल्पज्ञानी भावी धर्मकी

न णीकृतं वृद्धै थाधर्मसेवनम् । भाविधर्माशया केचिन्मदाः स वादिनः ॥२८६
परम्परेति पक्षस्य नावकाशोऽत्र लेशतः । मूर्खादन्यत्र को मोहात्शीतार्थी वह्निमाविशेत् ॥२८७
नैतद्धर्मस्य प्रागरूपं प्रागधर्मस्य सेवनम् । व्याप्तेरपक्षधर्मत्वाद्धेतोर्वा व्यभिचारतः ॥२८८
प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावद्धेतोः कर्मोदयात्स्वतः । धर्मो वा स्यादधर्मो वाऽप्येष सर्वत्र निश्चयः ॥२८९
तत्स्थितीकरणं द्वेधा साक्षात्स्वपरभेदतः । स्वात्मनः स्वात्मतत्त्वेऽर्थात् परतत्त्वे परस्य तत् ॥२९०
तत्र मोहोदयोद्रेकाच्च्युतस्यात्मस्थितेश्चितः । भूयः संस्थापनं स्वस्य स्थितीकरणमात्मनि ॥२९१
 भावः क्वचिद्दैवाद्दर्शनात्स पतत्यधः । व्रजत्यूर्ध्वं पुनर्दैवात्सम्यगारुह्य दर्शनम् ॥२९२
अथ क्वचिद्यथाहेतोर्दर्शनादपतन्नपि । भावशुद्धिमधोधोंऽशैर्गच्छत्यूर्ध्वं स रोहति ॥२९३
क्वचिद्बहिः शुभाचारं स्वीकृतं चाऽपि मुञ्चति । न मुञ्चति कदाचिद्वै मुक्त्वा वा पुनराचरेत् २९४
यद्वा बहिः क्रियाचारे यथावस्थं स्थितेऽपि च । कदाचिद्धीयमानोऽन्तर्भावैर्भूत्वा च वर्तते ॥२९५
नासम्भवमिदं यस्माच्चारित्रावरणोदयः । अस्ति तरतमस्वांशैः गच्छन्निम्नोऽन्नतामिह ॥२९६
अत्राभिप्रेतमेवैतत् स्वस्थितीकरणं स्वतः । न्यायात्कुतश्चिदत्रापि हेतुस्तत्रानवस्थितिः ॥२९७
सुस्थितीकरणं नाम परेषां नुग्रहात् । भ्रष्टानां स्वपदात्तत्र स्थापनं तत्पदे पुनः ॥२९८
धर्मादेशोपदेशाभ्यां कर्तव्योऽनुग्रहः परे । नात्मवृत्तं विहायाशु तत्परः पररक्षणे ॥२९९

आशासे सावद्यका उपदेश देते हैं किन्तु ज्ञानी पुरुषोंने धर्मके लिए अधर्मका सेवन करना प्रमाण नहीं माना है ॥२८६॥ 'अधर्मके सेवन करनेसे परम्परा धर्म होता है' इस पक्षको यहाँ थोड़ा भी अवकाश नहीं है, क्योंकि मूर्खको छोड़कर कोई भी प्राणी मोहवश शीतके लिए अग्निमें प्रवेश नहीं करता है ॥२८७॥ पहले अधर्मका सेवन करना यह धर्मका पूर्व रूप नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा माननेपर व्याप्ति पक्षधर्मसे रहित हो जाती है और हेतु व्यभिचारी हो जाता है ॥२८८॥ प्रति समय जबतक कर्मोंका उदय रूप हेतु मौजूद है तब तक स्वतः धर्म भी हो सकता है और अधर्म भी हो सकता है यह सर्वत्र नियम है ॥२८९॥ यह प्रत्यक्षसे प्रतीत होता है कि वह स्थितीकरण स्व और परके भेदसे दो प्रकारका है। अपनी आत्माको अपने आत्मतत्त्वमें स्थित करना यह स्वस्थितीकरण है और अन्यकी आत्माको उसके आत्मतत्त्वमें स्थित करना यह परस्थितीकरण है ॥२९०॥ मोहके उदयकी तीव्रतावश आत्मस्थितिसे डिगे हुए आत्माको फिरसे अपनी आत्मामें स्थित करना स्वस्थितीकरण है ॥२९१॥ आशय यह है कि कभी दैववश वह जीव सम्यग्दर्शनसे नीचे गिर जाता है। और कभी दैववश सम्यग्दर्शनको पाकर ऊपर चढ़ता है ॥२९२॥ अथवा कभी अनुकूल कारण सामग्रीके मिलने पर सम्यग्दर्शनसे नहीं गिरता हुआ भी भावोंकी शुद्धिको नीचे नीचेके अंशोंसे ऊपर ऊपरको बढ़ाता है ॥२९३॥ कभी यह जीव बाह्य शुभाचारको स्वीकार करके भी छोड़ देता है और कदाचित् नहीं भी छोड़ता है। या कदाचित् छोड़कर पुनः ग्रहण कर लेता है ॥२९४॥ अथवा बाह्य क्रियाचारमें अवस्थानुसार स्थित रहता हुआ भी कदाचित् अन्तरंग भावोंसे देदीप्यमान होता हुआ स्थित रहता है ॥२९५॥ और यह बात असम्भव भी नहीं है, क्योंकि इसके अपने तरतम रूप अंशोंके कारण हीनाधिक अवस्थाको प्राप्त होनेवाला चारित्र मोहनीयका उदय पाया जाता है ॥२९६॥ यहाँ इतना ही अभिप्राय है कि स्वस्थितिकरण होता है। इसमें कोई अन्य कारण नहीं है। यदि किसी नीतिवश इसमें किसी अन्य कारणकी कल्पना की जाती है तो अनवस्था दोष आता है ॥२९७॥ अपने पदसे भ्रष्ट हुए अन्य जीवोंको सदनुग्रह भावसे उसी पदमें फिरसे स्थापित कर देना यह परस्थितीकरण है ॥२९८॥ धर्मके आदेश और उपदेश द्वारा ही

उक्तं च—

आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं । आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं ॥२५
उक्तं दिग्मात्रतोऽप्यत्र सुस्थितीकरणं गुणः । निर्जरायां गुणश्रेणौ प्रसिद्धः सुदृगात्मनः ॥३००
वात्सल्यं नाम दासत्वं सिद्धार्हद्बिम्ववेश्मसु । संघे चतुर्विधे शास्त्रे स्वामिकार्ये सुभृत्यवत् ॥३०१
अर्थादन्यतमस्योच्चैरुद्दिष्टेषु सुदृष्टिमान् । सत्सु घोरोपसर्गेषु तत्परः स्यात्तदत्यये ॥३०२
यद्वा न ह्यात्मसामर्थ्यं यावन्मंत्रासिकोशकम् । तावद्द्रष्टुं च श्रोतुं च तद्बाधां सहते न सः ॥३०३
तद्द्विधाऽथ च वात्सल्यं भेदात्स्वपरगोचरात् । प्रधानं स्वात्मसम्बन्धिगुणो यावत्परात्मनि ॥३०४
परीषहोपसर्गाद्यैः पीडित पि कस्यचित् । न शैथिल्यं शुभाचारे ज्ञाने ध्याने तदादिमम् ॥३०५
इतरत्प्रागिहाख्यातं गुणो दृष्टिमतः स्फुटम् । शुद्धध्यानबलादेव सतो बाधापकर्षणम् ॥३०६
प्रभावनाङ्गसंज्ञोऽस्ति गुणः सद्दर्शनस्य वै । उत्कर्षकरणं नाम लक्षणादपि लक्षितम् ॥३०७
अर्थात्तद्धर्मणः पक्षो नावद्यस्य मनागपि । धर्मपक्षक्षतेर्यस्मादधर्मोत्कर्षरोषणात् ॥३०८
पूर्ववत्सोऽपि द्वैविध्यः स्वान्यात्मभेदतः पुनः । तत्राद्यो वरमादेयः स्यादादेयो परोऽप्यतः ॥३०९
उत्कर्षो यद्बलाधिक्यादधिकीकरणं वृषे । असत्सु प्रत्यनीकेषु नालं दोषाय चित् ॥३१०

दूसरेका अनुग्रह करना चाहिए। किन्तु अपने व्रतको छोड़कर दूसरे जीवोंकी रक्षा करनेमें तत्पर होना उचित नहीं है ॥२९९॥

कहा भी है—'सर्वप्रथम आत्महित करना चाहिए। यदि शक्य हो तो परहित भी करना चाहिए। किन्तु आत्महित और परहित इन दोनोंमेंसे आत्महित भले प्रकार करना चाहिये ॥२५॥ इस प्रकार संक्षेपसे यहाँ पर स्थितीकरण गुण कहा जो कि सम्यग्दृष्टि जीवके गुण श्रेणी निर्जरामें भली प्रकार प्रसिद्ध है ॥३००॥ जिस प्रकार उत्तम सेवक स्वामीके कार्यमें दासभाव रखता है उसी प्रकार सिद्ध प्रतिमा, जिन बिम्ब, जिनमन्दिर, चार प्रकारका संघ और शास्त्र इन सबमें दासभाव रखना वात्सल्य अंग है ॥३०१॥ अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त सिद्ध प्रतिमा आदिमेंसे किसी एक पर घोर उपसर्ग आने पर वह सम्यग्दृष्टि जीव इसके दूर करनेके लिए सदा तत्पर रहता है ॥३०२॥ अथवा यदि आत्मीक सामर्थ्य नहीं है तो जब तक मन्त्र, तलवार और धन है तब तक वह उन सिद्ध प्रतिमा आदि पर आई हुई बाधाको न तो देख ही सकता है और न सुन ही सकता है ॥३०३॥ स्व और परके भेदसे वह वात्सल्य दो प्रकारका है। इनमेंसे अपनी आत्मासे सम्बन्ध रखनेवाला वात्सल्य प्रधान है और अन्य आत्मासे सम्बन्ध रखनेवाला वात्सल्य गौण है ॥३०४॥ परीषह और उपसर्ग आदिसे कहीं पर पीड़ित होकर भी शुभाचारमें, ज्ञानमें और ध्यानमें शिथिलता न लाना यह पहला स्ववात्सल्य है ॥३०५॥ दूसरा पर वात्सल्य इस ग्रन्थमें पहले कह आये हैं। वह भी सम्यग्दृष्टिका प्रकट गुण है क्योंकि शुद्ध ज्ञानके बलसे ही बाधा दूर की जा सकती है ॥३०६॥ सम्यग्दर्शनका एक प्रभावना नामक गुण है। इसका लक्षण उत्कर्ष करना है। इसीसे यह जाना जाता है ॥३०७॥ हिंसा अतद्धर्म है इसलिये इस पक्षका थोड़ा भी पोषण नहीं करना चाहिए क्योंकि अधर्मके उत्कर्षका पोषण करनेसे धर्म पक्षकी हानि होती है ॥३०८॥ पहले अंगोंके समान यह अंग भी स्वात्मा और परात्माके भेदसे दो प्रकारका है। उनमेंसे पहला अच्छी तरहसे उपादेय है और इसके बाद दूसरा भी उपादेय है ॥३०९॥ यतः धर्मको हानि पहुँचाने वाले असमीचीन कारणोंके रहने पर अधिक बल लगाकर धर्मकी वृद्धि करना ही उत्कर्ष है अतः ऐसा उत्सर्ग किसी भी हालत

मोहारातिक्षतेः शुद्धः शुद्धाच्छुद्धतरस्ततः। जीवः शुद्ध : कश्चिदस्तीत्यात्मप्रभ ॥३११
नायं स्यात्पौरुषायत्तः किन्तु नूनं स्वभावतः। ऊद्ध्र्वमूद्ध्र्व गुणश्रेणी यतः शुद्धिर्यथोत्तरा ॥३१२
बाह्यप्रभावनाङ्गोऽस्ति विद्यामन्त्रासिभिर्बलैः। तपोदानादिभिर्जैनधर्मोत्कर्षो विधीयताम् ॥३१३
परेषामपकर्षाय मिथ्यात्वोत्कर्षशालिनाम्। चमत्कारकरं किञ्चित्तद्विधेयं महात्मभिः ॥३१४
उक्तः प्रभावनाङ्गोऽपि गुणः सद्दर्शनस्य वै। येन सम्पूर्णतां याति दर्शनस्य गुणाष्टकम् ॥३१५

इति श्रावकाचारापरनामलाटीसंहितायां अष्टाङ्गसम्यग्दर्शनवर्णनो नाम तृतीयः सर्गः।



में दोषकारक नहीं है ॥३१०॥ कोई जीव मोहरूपी शत्रुका नाश होनेसे शुद्ध हो जाता है। कोई शुद्धसे शुद्धतर हो जाता है। और कोई शुद्धतम हो जाता है। इस प्रकार अपना उत्कर्ष करना स्वात्मप्रभावना है ॥३११॥ यह सब पौरुषाधीन नहीं है किन्तु स्वभावसे ही ऐसा होता है क्योंकि ऊपर ऊपर जैसे गुणश्रेणी निर्जरा बढ़ती जाती है तदनुसार आगे आगे उसकी शुद्धि होती है ॥३१२॥ विद्या और मन्त्र आदि बलके द्वारा तथा तप और दान आदिके द्वारा जैनधर्मका उत्कर्ष करना बाह्य प्रभावना अंग है ॥३१३॥ जो अन्य लोग मिथ्यात्वका उत्कर्ष चाहते हैं उनका अपकर्ष करनेके लिए महा पुरुषोंको कुछ ऐसे कार्य करने चाहिए जो चमत्कार पैदा करनेवाले हों ॥३१४॥ इस प्रकार सम्यग्दर्शनका प्रभावना नामका गुण कहा। जिसके कारण सम्यग्दर्शनके आठों गुण पूर्णताको प्राप्त होते हैं ॥३१५॥ इन आठ गुणोंके सिवा सम्यग्दृष्टिके और भी बहुतसे गुण हैं।

इस प्रकार श्रावकाचार अपर नाम लाटीसंहितामें अष्टाङ्ग सम्यग्दर्शनका वर्णन करनेवाला तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥३॥



चतुर्थ सर्ग

शुद्धदर्शनिकोद्दान्तो भावैः सातिशयः क्षमी । ऋजुर्जितेन्द्रियो धीरो व्रतमादातुमर्हति ॥१
शरीरभवभोगेभ्यो विरक्तो दोषदर्शनात् । अक्षातीतसुखैषी यः स स्यान्नूनं व्रतार्हतः ॥२
न स्यादणुव्रतार्हो यो मिथ्यान्धतमसा ततः । लोलुपो लोलचक्षुश्च वाचालो निर्दयः कुधीः ॥३
मूढो गूढो शठप्रायो जाग्रन्मूर्च्छापरिग्रहः । दुर्विनीतो दुराराध्यो निर्विवेकी समत्सरः ॥४
निन्दकश्च विना स्वार्थं देवशास्त्रेष्वसूयकः । उद्धतो वर्णवादी च वावदूकोऽप्यकारणे ॥५
आततायी क्षणादन्यो भोगाकाङ्क्षी व्रतच्छलात् । सुखाशयो धनाशश्च वहुमानी च कोपतः ॥६
मायावी लोभपात्रश्च हास्याद्युद्रेकलक्षितः । क्षणादुष्णः क्षणाच्छीतः क्षणाद्भीरुः क्षणाद्भटः ॥७
इत्याद्यनेकदोषाणामास्पदः स्वपदास्थितः । इच्छन्नपि व्रतादींश्च नाधिकारी स निश्चयात् ॥८

जिसका सम्यग्दर्शन शुद्ध है, जो अनेक प्रकारके तपश्चरणादिके क्लेश सहन करनेमें समर्थ है, जिसके परिणामोंकी शुद्धता अत्यन्त विलक्षण और सवसे अधिक है, जो क्षमाको धारण करनेवाला है, जिसका मन, वचन, काय सरल है, जो इन्द्रियोंको वशमें करनेवाला है और जो अत्यन्त धीरवीर है वही पुरुष व्रतोंको धारण कर सकता है ॥१॥ जो मनुष्य शरीर, संसार और इन्द्रियोंके भोगोंको सदा नश्वर और असार समझता है और इसीलिये जो शरीर संसार और भोगोंसे सदा विरक्त रहता है, इसके साथ जो आत्मजन्य अतीन्द्रिय सुखकी सदा इच्छा करता रहता है वही मनुष्य निश्चयसे व्रत धारण करनेके योग्य होता है ॥२॥ जो पुरुष मिथ्यात्वरूपी घोर अन्धकारसे व्याप्त हो रहा है, जो अत्यन्त चंचल है, जिसके नेत्र सदा चंचल रहते हैं, जो बहुत वोलनेवाला है, जो निर्दयी है, जिसकी वुद्धि विपरीत है, जो अत्यन्त मूर्ख है अथवा अत्यन्त मूर्खके समान है, जिसका मूर्च्छारूप परिग्रह अत्यन्त प्रज्वलित हो रहा है अथवा जिसकी तृष्णा या परिग्रह वढ़ानेकी लालसा वहुत वढ़ी हुई है, जो अत्यन्त अविनयी है, जो अधिक सेवा करनेसे भी प्रसन्न नहीं होता अर्थात् जिसका हृदय अत्यन्त कठोर है, जो निर्विवेकी है, सवसे ईर्ष्या, द्वेष करनेवाला है, सवकी निन्दा करनेवाला है तथा जो विना किसी अपने प्रयोजनके भी दूसरेकी निन्दा करता रहता है, जो देव शास्त्रोंसे भी ईर्ष्या द्वेष करता है, जो अत्यन्त उद्धृत है, जो अत्यन्त निन्दनीय है, जो व्यर्थ ही वकवास करता रहता है तथा विना कारणके वकवाद करता रहता है, जो अनेक प्रकारके अत्याचार करनेवाला है, जिसका स्वभाव क्षण-क्षणमें वदलता रहता है, जिसे भोगोपभोगोंकी तीव्र लालसा है, जो व्रतोंका वहाना वनाकर अनेक प्रकारके भोगोपभोग सेवन करता है, जो सदा इन्द्रिय सम्वन्धी सुख चाहता रहता है, जिसको धनकी तीव्र लालसा है जो वहुत ही अभिमानी है, वहुत ही क्रोधी है वहुत ही मायाचारी है और वहुत ही लोभी है, जिसके हास्य, शोक, भय, जुगुप्सा, रति, अरति आदि कषाएँ तीव्र हैं, जो क्षणभरमें शान्त हो जाता है और क्षणभरमें क्रोधसे उवल पड़ता है, जो क्षणभरमें भयभीत हो जाता है और क्षणभरमें ही वहुत वड़ा शूरवीर वन जाता है, इस प्रकार जिसमें अनेक दोष भरे हुए हैं और जो अपने आत्माके स्वरूपमें लीन नहीं है ऐसा पुरुष यदि व्रतोंके धारण करनेकी इच्छा भी करे तो भी निश्चयसे व्रतोंके धारण करनेका अधिकारी नहीं होता अतएव ऐसा पुरुष अणुव्रत धारण करनेके योग्य भी

न निषिद्धोऽथवा सोऽपि निर्दम्भश्चेद्व्रतोन्मुखः । मृदुमतिर्भोगाकाङ्क्षी स्याच्चिकित्स्यो न वञ्चकः ९
अर्थात्कालादिसंलब्धो लब्धसद्दर्शनान्वितः । देशतः सर्वतश्चापि व्रती तत्त्वविदिष्यते ॥१०
विनाऽप्यनेहसो लब्धेः कुर्वन्नपि व्रतक्रियाम् । हठादात्मबलाद्वापि व्रतंमन्योऽस्तु का क्षतिः ॥११
किञ्चात्मनो यथाशक्ति तथेच्छन्वा प्रतिक्रियाम् । कस्कोऽपि प्राणिरक्षार्थं कुर्वन्नार्यैर्न वारितः ॥१२
द्रव्यमात्रक्रियारूढो भावरिक्ता यदृच्छतः । स्वल्पभोगं फलं तस्यास्तन्माहात्म्यादिहाश्नुते ॥१३
निर्देशोऽयं यथोक्तायाः क्रियायाः प्रतिपालनात् । छद्मनाऽथ प्रमादाद्वा नायं तस्याश्च साधकः ॥१४
अभव्यो भव्यमात्रो वा मिथ्यादृष्टिरपि क्वचित् । देशतः सर्वतो वापि गृह्णाति च व्रतक्रियाम् ॥१५
हेतुश्चारित्रमोहस्य कर्मणो रसलाघवात् । शुक्ललेश्याबलात्कश्चिदार्हतं व्रतमाचरेत् ॥१६
यथास्वं व्रतमादाय यथोक्तं प्रतिपालयेत् । सानुरागः क्रियामात्रमतिचारविवर्जितम् ॥१७
एकादशाङ्गपाठोऽपि तस्य स्याद् द्रव्यरूपतः । आत्मानुभूतिशून्यत्वाद्भावतः संविदुज्झि : ॥१८

नहीं हो सकता ॥३–८॥ अथवा कोई पुरुष छलकपट रहित है और व्रत धारण करना चाहता है उसके लिए व्रत धारण करनेका निषेध नहीं है क्योंकि जिसकी बुद्धि कोमल है अर्थात् जो दयालु है और भोगोंकी आकांक्षा रखता है ऐसा पुरुष यदि वंचव्य न हो तो वह चिकित्साके योग्य है ॥९॥ इस सबका अभिप्राय यह है कि काललब्धि आदि समस्त सामग्रीके मिलनेपर जब सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है तब एकदेश पापोंका त्याग करनेवाला अथवा पूर्णरूपसे पापोंका त्याग करनेवाला व्रती (अणुव्रती या महाव्रती) आत्मतत्त्वका जानकार गिना जाता है ॥१०॥ जिस किसी मनुष्यको काललब्धि प्राप्त नहीं हुई है तथा काललब्धिके विना जिसको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं है ऐसा मिथ्यादृष्टि पुरुष भी यदि हठपूर्वक अथवा केवल अपने बलसे व्रत पालन करे, तो भी उसमें कोई हानि नहीं है अन्तर केवल इतना ही है कि विना सम्यग्दर्शनके वह व्रती नहीं कहला सकता किन्तु 'व्रतमान्य' (विना व्रतोंके भी अपनेको व्रती माननेवाला) माना जाता है ॥११॥ अथवा यह साधारण नियम समझना चाहिए कि यदि कोई भी पुरुष प्राणियोंकी रक्षा करनेके लिये चाहे मिथ्यादृष्टि व्रतोंका पालन करे अथवा व्रत पालन करनेकी इच्छा करे तो आर्यव्रती पुरुष उसका निषेध कभी नहीं करते हैं ॥१२॥ जिस पुरुषके परिणाम शुद्ध नहीं हैं अथवा जो पुरुष अपने व्रतोंके पालन करनेमें अपने भाव या परिणाम नहीं लगाता तथापि जो अपनी इच्छानुसार व्रतोंकी बाह्य क्रियाओंको पूर्णरीतिसे पालन करता है उसको भी उन व्रतोंके पालन करनेसे थोड़ेसे भोगोपभोगोंकी सामग्री प्राप्त हो ही जाती है ॥१३॥ इसमें भी इतना विशेष है कि जो व्रतरूप क्रियाओंको शास्त्रानुसार पालन करते हैं, उन्हींको उनके पालन करनेका फल मिलता है। जो पुरुष किसी छल-कपटसे अथवा प्रमादसे व्रतरूप क्रियाओं पालन करते हैं उनको उन व्रतोंके पालन करनेका कोई किसी प्रकारका फल प्राप्त नहीं होता ॥१४॥ भव्य जीव या अभव्यजीव अथवा कभी-कभी मिथ्यादृष्टि भी एकदेश या सर्वदेश व्रतोंको (अणुव्रतोंको या महाव्रतोंको) धारण कर लेते हैं ॥१५॥ व्रतोंके धारण करनेके लिए चारित्रमोहनीय कर्मका मन्दोदय कारण है। चारित्रमोहनीय कर्मके मन्द उदय होनेपर तथा शुक्ललेश्याके बलसे यह जीव भगवान् अरहन्तदेवके कहे हुए व्रतोंको धारण कर सकता है ॥१६॥ अपनी शक्तिके अनुसार अणुव्रत या महाव्रतोंको धारण कर उनको शास्त्रानुसार पालन करना चाहिये तथा बड़े प्रेमसे अतिचार रहित पालन करना चाहिये और पूर्णक्रिया या विधिके साथ पालन करना चाहिये ॥१७॥ कोई मुनि मिथ्यादृष्टि भी होते हैं। वे यद्यपि ग्यारह अंगके पाठी होते हैं और महाव्रतादि क्रियाओंको

न वाच्यं पाठमात्रत्वमस्ति तस्येह नार्थतः । यतस्तस्योपदेशाद्वै ज्ञानं विन्दन्ति केचन ॥१९
ततः पाठोऽस्ति तेषूच्चैः पाठस्याप्यस्ति ज्ञातृता । ज्ञातृतायां च श्रद्धानं प्रतीतीरोचनं क्रिया ॥२०
अर्थात्तत्र यथार्थत्वमित्याशङ्क्यं न कोविदैः । जीवाजीवास्तिकायानां यथार्थत्वं न सम्भवात् ॥२१
किन्तु कश्चिद्विशेषोऽस्ति प्रत्यक्षज्ञानगोचरः । येन तज्ज्ञानमात्रेऽपि तस्याज्ञानं हि वस्तुतः ॥२२

तत्रोल्लेखोऽस्ति विख्यातः परीक्षादिक्षमोऽपि यः ।
न स्याच्छुद्धानुभूतिः सा तत्र मिथ्यादृशि स्फुटम् ॥२३

अस्तु सूत्रानुसारेण स्वसंविदविरोधिना । परीक्षायाः सहत्वेन हेतोर्बलवताऽपि च ॥२४
दृश्यते पाठमात्रत्वाद् ज्ञानस्यानुभवस्य च । विशेषोऽध्यक्षको यस्माद्दृष्टान्तादपि संमतः ॥२५
यथा चिकित्सकः कश्चित्पराङ्गगतवेदनाम् । परोपदेशवाक्याद्वा जानन्नानुभवत्यपि ॥२६
तथा सूत्रार्थवाक्यार्थात् जानन्नाप्यात्मलक्षणः । नास्वादयति मिथ्यात्वकर्मणो रसपाकतः ॥२७

बाह्यरूपसे पूर्णरूपसे पालन करते हैं तथापि उन्हें अपने शुद्ध आत्माका अनुभव नहीं होता इसलिए वे अपने परिणामोंके द्वारा सम्यग्ज्ञानसे रहित ही होते हैं ॥१८॥ यहाँपर कदाचित् कोई यह शंका करे कि ऐसे मिथ्यादृष्टि मुनिको जो ग्यारह अंगका ज्ञान होता है वह केवल पाठमात्र होता है उसके अर्थोंका ज्ञान उसको नहीं होता । परन्तु यह शंका करना भी ठीक नहीं है क्योंकि शास्त्रोंमें यह कथन आता है कि ऐसे मिथ्यादृष्टि मुनियोंके उपदेशसे अन्य कितने ही भव्य जीवोंको सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञान प्रगट हो जाता है अर्थात् उनके उपदेशको सुनकर कितने ही भव्यजीव अपने आत्मस्वरूपको पहचानने लगते हैं उन्हें अपने शुद्ध आत्माका अनुभव हो जाता है और वे रत्नत्रय प्राप्तकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ॥१९॥ इससे सिद्ध होता है कि ऐसे मिथ्यादृष्टि मुनियोंके ग्यारह अंगोंका ज्ञान पाठ मात्र भी होता है और उस पाठके सब अर्थोंका ज्ञान भी होता है। उस ज्ञानमें श्रद्धान होता है, प्रतीति होती है, रुचि होती है और पूर्ण क्रिया होती है ॥२०॥ इतना सब होनेपर भी विद्वानोंको उस ज्ञानमें या श्रद्धानमें अथवा क्रियामें यथार्थपनेकी शंका नहीं करनी चाहिये। भावार्थ—ऐसे ऊपर लिखे मिथ्यादृष्टि मुनियोंका वह ज्ञान श्रद्धान या आचरण यथार्थ होता है ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिये क्योंकि ऐसे मिथ्यादृष्टि मुनियोंके जीव अजीव आदि पदार्थोंके ज्ञान या श्रद्धानके यथार्थ होनेकी सम्भावना भी नहीं होती है। भावार्थ—ऐसे मिथ्यादृष्टि मुनियोंका ज्ञान श्रद्धान या आचरण आदि सब मिथ्या ही होता है यथार्थ या सम्यक् नहीं होता ॥२१॥ ग्यारह अंगोंको जाननेवाले ऐसे मिथ्यादृष्टि मुनियोंके ज्ञानमें प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा जानने योग्य कोई ऐसी विशेषता होती है जिससे इतना ज्ञान होनेपर भी वह ज्ञान वास्तवमें मिथ्याज्ञान कहलाता है ॥२२॥ इसमें इतना और समझ लेना चाहिये कि यद्यपि ऐसा मिथ्यादृष्टि-मुनि जीवादिक पदार्थोंकी परीक्षा कर सकता है तो भी उसके शुद्ध आत्माकी अनुभूति कभी नहीं होती ॥२३॥ अथवा स्वानुभूतिका अविरोधी जो एकादशांग सूत्रपाठ है वह बना रहे, परन्तु परीक्षाकी योग्यतासे और बलवान हेतुसे यह देखा जाता है कि पाठमात्र ज्ञानसे और अनुभवमें प्रत्यक्ष विशेषता या भेद है तथा दृष्टान्तसे भी यही बात सिद्ध होती है जैसा कि आगे दिखलाते हैं ॥२४–२५॥ जिस प्रकार कोई वैद्य दूसरेके उपदेशके वाक्योंसे दूसरेके शरीरमें होनेवाले रोगोंके दुःखोंको जानता है परन्तु वह उन दुःखोंका अनुभव नहीं करता, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि पुरुष शास्त्रोंमें कहे हुए वाक्योंके अनुसार आत्माके स्वरूपको जानता है तथापि मिथ्यात्वकर्मके उदयसे

सिद्धमेतावताऽप्येतन्मिथ्यादृष्टेः क्रियावतः । एकादशाङ्गपाठेऽपि ज्ञानेऽप्यज्ञानमेव तत् ॥२८
न चाशङ्क्यं क्रियामत्रे नानुरागोऽस्य लेशतः । रागस्य हेतुसिद्धत्वाद्विशुद्धेस्तत्र सम्भवात् ॥२९
सूत्राद्विशुद्धिस्थानानि सन्ति मिथ्यादृशि क्वचित् । हेतोश्चारित्रमोहस्य रसपाकस्य लाघवात् ॥३०
ततो विशुद्धिसंसिद्धेरन्यथानुपपत्तितः । मिथ्यादृष्टेरवश्यं स्यात्सद्व्रतेष्वनुरागिता ॥३१
ततः क्रियानुरागेण क्रियामात्राच्छुभास्रवात् । सद्व्रतस्य प्रभावात्स्यादस्य ग्रैवेयकं सुखम् ॥३२
किन्तु कश्चिद्विशेषोऽस्ति जिनदृष्टो यथागमात् । क्रियावानपि येनायमचारित्री प्रमाणितः ॥३३
सम्यग्दृष्टेस्तु तत्सर्वं यथाणुव्रतपञ्चकम् । महाव्रतं तपश्चापि श्रेयसे चामृताय च ॥३४
अस्ति वा द्वादशाङ्गादिपाठस्तज्ज्ञानमित्यपि । सम्यग्ज्ञानं तदेवैकं मोक्षाय च दृगात्मनः ॥३५
एवं सम्यक् परिज्ञाय श्रद्धाय श्रावकोत्तमैः । सम्पदर्थमिहामुत्र कर्तव्यो व्रतसंग्रहः ॥३६

उसका आस्वादन या अनुभव नहीं कर सकता ॥२६–२७॥ इससे सिद्ध होता है कि अणुव्रत या महाव्रत क्रियाओंको पालन करनेवाले इस मिथ्यादृष्टिका ज्ञान यद्यपि ग्यारह अंक तकका ज्ञान है तथापि शुद्ध आत्माके अनुभवके विना वह ज्ञान अज्ञान ही कहलाता है ॥२८॥ यहाँपर कदाचित् कोई यह शंका करे कि मिथ्यादृष्टिके व्रतोंके पालन करने रूप क्रियाओंमें लेशमात्र भी अनुराग नहीं होता होगा ? सो भी ठीक नहीं है क्योंकि मिथ्यादृष्टिके व्रतोंमें अनुराग होना हेतुपूर्वक सिद्ध हो जाता है तथा व्रतोंमें अनुराग होनेका हेतु उसके आत्मामें विशुद्धिका होना है ॥२९॥ मिथ्यादृष्टि पुरुषके भी आत्माकी विशुद्धि होती है इसका कारण यह है कि कभी-कभी मिथ्यादृष्टि-के भी चारित्रमोहनीय कर्मका उदय मन्द होता है तथा चारित्रमोहनीय कर्मके मन्द उदय होनेसे उस मिथ्यादृष्टिके भी कितने ही विशुद्धिके स्थान हो जाते हैं ऐसा शास्त्रोंमें स्पष्ट उल्लेख मिलता है ॥३०॥ यह नियम है कि आत्माकी विशुद्धि मोहनीय कर्मके मन्द उदयसे होती है। मोहनीय कर्मके मन्द उदय हुए विना आत्माकी विशुद्धि कभी नहीं होती। मिथ्यादृष्टिके चारित्रमोहनीय कर्मका मन्द उदय होता है इसलिए उसके आत्मामें विशुद्धि होना अनिवार्य है क्योंकि जहाँ-जहाँ चारित्रमोहनीय कर्मका मन्द उदय होता है वहाँ-वहाँ विशुद्धि अवश्य होती है और जहाँ-जहाँ आत्माकी विशुद्धि होती है वहाँ-वहाँ व्रतोंमें अनुराग अवश्य होता है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि पुरुषके भी चारित्रमोहनीय कर्मका मन्द उदय होता है, मोहनीयकर्मके मन्द उदय होनेसे आत्माकी विशुद्धि होती है और आत्माकी विशुद्धि होनेसे उसके व्रतोंमें अनुराग होता है ॥३१॥ इस प्रकार मिथ्यादृष्टि पुरुषके व्रतरूप क्रियाओंके पालन करनेमें अनुराग हो जाता है। व्रतोंमें अनुराग होनेसे वह क्रियारूप व्रतोंको पालन करता है तथा व्रतरूप क्रियाओंको पालन करनेसे शुभ कर्मोंका आस्रव होता है। इस प्रकार श्रेष्ठ व्रतोंके पालन करनेसे उस मिथ्यादृष्टि पुरुषको भी नव ग्रैवेयकतकके सुख प्राप्त होते हैं ॥३२॥ इतना सब होनेपर भी मिथ्यादृष्टिमें कोई ऐसी विशेषता होती है जिसको भगवान् अरहन्तदेव ही देखते हैं अथवा वह विशेषता शास्त्रोंसे जानी जाती है। उस विशेषताके कारण ही महाव्रत आदि व्रतोंकी पूर्ण क्रियाओंको पालन करता हुआ भी वह चारित्र-रहित कहलाता है ॥३३॥ किन्तु सम्यग्दृष्टि-पुरुषके उस दर्शनमोहनीय कर्मका अभाव हो जाता है इसलिए उसके पाँचों अणुव्रत, पाँचों महाव्रत और बारह प्रकारका तप आदि सब आत्माका कल्याण करनेवाला होता है और परम्परासे मोक्ष प्राप्त करनेवाला होता है ॥३४॥ अथवा यों कहना चाहिये कि सम्यग्दृष्टि पुरुषके जो द्वादशांगका पाठ है अथवा उसका ज्ञान है वह सब सम्यग्ज्ञान कहलाता है और वह सम्यग्ज्ञान अकेला ही मोक्षका कारण होता है ॥३५॥ इस प्रकार उत्तम श्रावकोंको

सम्यग्दृशाऽथ मिथ्यात्वशालिनाऽप्यथ शक्तितः । अभव्येनापि भव्येन कर्तव्यं व्रतमुत्तमम् ॥३७
यतः पुण्यक्रिया साध्वी क्वापि नास्तीह निष्फला । यथापात्रं यथायोग्यं स्वर्गभोगादिसत्फला ॥३८
पारम्पर्येण केषांचिदपवर्गाय सत्क्रिया । पञ्चानुत्तरविमाने मुदे ग्रैवेयकादिपु ॥३९
केषांचित्कल्पवासादिश्रेयसे सागरावधि । भावनादित्रयेषूच्चैः सुधापानाय जायते ॥४०
मानुषाणां च केपाञ्चित्तीर्थंकरपदाप्तये । चक्रित्वार्धचक्रित्वपदसम्प्राप्तिहेतवे ॥४१
उत्तमभोगभूषूच्चैः सुखं कल्पतरूद्भवम् । एतत्सर्वमहं मन्ये श्रेयसः फलितं महत् ॥४२
सत्कुले जन्म दीर्घायुर्वपुर्गाढं निरामयम् । गृहे सम्पदपर्यन्ता पुण्यस्यैतत्फलं विदुः ॥४३
साध्वी भार्या कुलोत्पन्ना भर्तुश्छन्दानुगामिनी । सूनवः पितुराज्ञायाः मनागचलिताशयाः ॥४४
सधर्मभ्रातृवर्गाश्च सानुकूलाः सुसंहताः । स्निग्धाश्चानुचरा यावदेतत्पुण्यफलं जगुः ॥४५
जैनधर्मे प्रतीतिश्च संयमे शुभभावना । ज्ञानशक्तिश्च सूत्रार्थे गुरवश्चोपदेशकाः ॥४६

अच्छी तरह समझकर और उसपर पूर्ण यथार्थ श्रद्धान रखकर इस लोक और परलोककी विभूतियोंको प्राप्त करनेके लिये व्रतोंका संग्रह अवश्य करना चाहिये ॥३६॥ इसलिए सम्यग्दृष्टिको या मिथ्यादृष्टिको, भव्य जीवको अथवा अभव्य जीवको सबको अपनी शक्तिके अनुसार उत्तम व्रत अवश्य पालन करने चाहिये ॥३७॥ इसका भी कारण यह है कि पुण्य प्राप्त करनेवाली व्रतरूप श्रेष्ठक्रिया कभी निष्फल नहीं होती। व्रत पालन करनेवाला जैसा पात्र हो और जैसी योग्यता रखता हो उसीके अनुसार उसे स्वर्गादिकके भोगोपभोग रूप उत्तम फल प्राप्त होते हैं ॥३८॥ इन्हीं महाव्रतादिक व्रतरूप क्रियाओंके पालन करनेसे कितने ही जीवोंको परम्परासे मोक्ष प्राप्त हो जाती है अथवा नव ग्रैवयकोंके सुख वा विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, सर्वार्थसिद्धि इन पंच अनुत्तर विमानोंके सुख प्राप्त होते हैं ॥३९॥ अथवा कितने ही जीवोंको सोलह स्वर्गोंके सुख प्राप्त होते हैं। वहाँपर वे सागरोंपर्यन्त इन्द्रियजन्य सुखोंका अनुभव करते रहते हैं और अमृतपान किया करते हैं तथा कितने ही जीव उन व्रतोंके प्रभावसे भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्क देवोंमें उत्पन्न होकर अपनी आयुपर्यन्त अमृतपान किया करते हैं ॥४०॥ उत्तम व्रत पालन करनेवाले सम्यग्दृष्टि पुरुषोंको मनुष्य पर्यायमें भी तीर्थंकर पद प्राप्त होता है, चक्रवर्ती पद प्राप्त होता है, अथवा अर्द्धचक्रवर्ती पद प्राप्त होता है ॥४१॥ अथवा व्रत पालन करनेसे उत्तम भोगभूमिमें कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुए उत्तमोत्तम सुख प्राप्त होते हैं ऐसे-ऐसे महाफलोंका प्राप्त होना या अनुक्रमसे समस्त फलोंका प्राप्त होना आदि सब व्रत पालन करने रूप श्रेष्ठ क्रियाओंका ही फल है ऐसा ग्रन्थकार मानते हैं ॥४२॥ श्रेष्ठ कुलमें जन्म होना, बड़ी आयुका प्राप्त होना, नीरोग और बलवान् शरीर प्राप्त होना और घरमें अपार लक्ष्मीका प्राप्त होना आदि सब व्रत करनेसे प्राप्त हुए पुण्यका ही फल समझना चाहिए ॥४३॥ उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई, पतिके आज्ञानुसार चलनेवाली और अच्छे स्वभाववाली स्त्रीका प्राप्त होना पुण्यका ही फल समझना चाहिये। पिताकी आज्ञासे जिनका मन किंचित्मात्र भी चलायमान न हो ऐसे पुत्रोंका प्राप्त होना भी पुण्यका फल कहा जाता है। अपने धर्मको अच्छी तरहसे पालन करनेवाले, अपने अनुकूल रहनेवाले और सब मिलकर इकट्ठे रहनेवाले ऐसे भाई-बन्धुओंका प्राप्त होना भी पुण्यका फल कहा जाता है तथा अपनेपर सदा प्रेम और भक्ति करनेवाले सेवकोंका प्राप्त होना भी पुण्यका फल कहा जाता है। इस प्रकार सुख देनेवाली सब कुटुम्बकी सामग्रीका प्राप्त होना व्रत पालन करने रूप पुण्यका फल कहा जाता है ॥४४-४५॥ जैनधर्ममें श्रद्धान होना, संयम

सर्धामिणः सहायाश्च स्पष्टाक्षरं वाक्पाटवम् । सौष्ठवं चक्षुरादीनां मनीषा प्रतिभान्विता ॥४७
सुयशः सर्वलोकेऽस्मिन् शरदिन्दुसमप्रभम् । शासनं स्यादनुल्लंघ्यं पुण्यभाजां न   यः ॥४८
विजयः स्यादरिध्वंसात्प्रतापस्तच्छिरोनतिः । दण्डाकर्षोऽप्यरिभ्यश्च सर्वं सत्पुण्यपाकतः ॥४९

चक्रित्वं सन्नृपत्वं वा नहि पुण्यादृते क्वचित् ।
अकस्मादवलालाभो धनलाभोऽप्यचिन्तनात् ॥५०

ऐश्वर्यं च महत्त्वं च सौहार्दं सर्वमान्यता । पुण्यं विना न कस्यापि विद्याविज्ञानकौशलम् ॥५१
अथ किं बहुनोक्तेन त्रैलोक्येऽपि च यत्सुखम् । पुण्यायतं हि तत्सर्वं किञ्चित्पुण्यं विना नहि ॥५२
तत्प्रसीदाधुना प्राज्ञ मद्वचः शृणु फामन । सर्वामयविनाशाय पिब पुण्यरसायनम् ॥५३
प्रोवाच फामनो नाम्ना श्रावकः सर्वशास्त्रवित् । पुण्यहेतौ परिज्ञाते तत्कर्तुमपि चोत्सहेत् ॥५४
शृणु श्रावक पुण्यस्य कारणं वच्मि साम्प्रतम् । देशतो विरतिर्नाम्नाणुव्रतं सर्वतो महत् ॥५५
ननु विरतिशब्दोऽपि साकांक्षो व्रतवाचकः । केभ्यश्च कियन्मात्रेभ्यः कतिभ्यः सा वदाद्य नः ॥५६

धारण करनेके लिये शुभ भावनाओंका होना, सूत्रोंका या समस्त जैनशास्त्रोंका अर्थ समझने योग्य या दूसरोंको प्रतिपादन करने योग्य अपने ज्ञानकी शक्तिका प्राप्त होना, रत्नत्रयका उपदेश देनेवाले गुरुका सहवास प्राप्त होना, धर्मात्मा पुरुषोंका साथ होना अथवा धर्मात्मा पुरुषोंकी सहायता प्राप्त होना, स्पष्ट अक्षरोंका उच्चारण होना, वचनोंके कहनेकी चतुरता प्राप्त होना, नेत्र, नाक, कान आदि इन्द्रियोंकी सुन्दरता प्राप्त होना, प्रतिभाशाली बुद्धिका प्राप्त होना, शरद ऋतुके चन्द्रमाके समान अत्यन्त निर्मल और समस्त लोकमें व्याप्त होनेवाला सुयशका मिलना और जिसका कोई भी उल्लंघन न कर सके ऐसे शासनका प्राप्त होना आदि सब पुण्यवान् पुरुषोंको ही प्राप्त होता है इसमें सन्देह नहीं है ॥४६–४८॥ बड़े-बड़े महायुद्धोंमें समस्त शत्रुओंको नाशकर विजय प्राप्त करना, वे सब शत्रुराजा अपना मस्तक झुकाकर नमस्कार करने लगें ऐसा प्रताप प्राप्त होना और समस्त शत्रु राजाओंसे दण्ड वसूल करना आदि सब श्रेष्ठ पुण्यके ही फलसे प्राप्त होता है ॥४९॥ पुण्य कर्मके उदयके विना न तो कभी चक्रवर्ती पद प्राप्त होता है और न कभी श्रेष्ठ राजा होता है। अकस्मात् स्त्रीका प्राप्त हो जाना, विना ही इच्छाके धन प्राप्त हो जाना, ऐश्वर्य या विभूतियोंका प्राप्त होना, बड़प्पन प्राप्त होना, सबके साथ मित्रता प्राप्त होना, समस्त लोकमें माननीय उत्तमपद प्राप्त होना, श्रेष्ठ विद्या, विज्ञान और कुशलता प्राप्त होना आदि समस्त सुखकी सामग्री विना पुण्यके किसीको भी प्राप्त नहीं होती है ॥५०–५१॥ बहुत कहनेसे क्या ? थोड़ेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि तीनों लोकोंमें जितना भी सांसारिक सुख है वह सब पुण्य कर्मके ही उदयसे प्राप्त होता है। विना पुण्यके किंचित्मात्र भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता ॥५२॥ इसलिए हे बुद्धिमान् और विद्वान् फामन ! तू अब प्रसन्न हो और मेरी बात सुन ! तू अब संसारवन्धी समस्त रोगोंको (संसारके दुःखोंको) दूर करनेके लिए पुण्यरूपी रसायन पी ॥५३॥ यह बात सुनकर समस्त शास्त्रोंका जाननेवाला फामन नामका श्रावक कहने लगा कि पुण्यके कारणोंको जान लेनेपर ही तो कोई भी श्रावक उसके करनेके लिए तैयार हो सकता है ॥५४॥ इसके उत्तरमें ग्रन्थकार कहने लगे कि हे श्रावकोत्तम फामन ! सुन। मैं अब आगे पुण्यके कारणोंको बतलाता हूँ। पाँचों पापोंका एकदेश त्याग करना अणुव्रत है और (उन्हीं पाँचों पापोंका) पूर्ण-रीतिसे त्याग करना महाव्रत है ॥५५॥ यह सुनकर फामन कहने लगा कि व्रतोंको कहनेवाला

हिंसायाः विरतिः प्रोक्ता तथा चानृतभाषणात् । चौर्याद्विरतिः ख्याता स्यादब्रह्मपरिग्रहात् ॥५७
एभ्यो देशतो विरतिर्गृहियोग्यमणुव्रतम् । सर्वतो विरतिर्नाम मुनियोग्यं महाव्रतम् ॥५८
ननु हिंसात्वं किं नाम का नाम विरतिस्ततः । किं देशत्वं यथाम्नायाद् ब्रूहि मे वदतां वर ॥५९
हिंसा प्रमत्तयोगाद्वै यत्प्राणव्यपरोपणम् । लक्षणाल्लक्षिता सूत्रे लक्षशः पूर्वसूरिभिः ॥६०
प्राणाः पञ्चेन्द्रियाणीह वाग्मनोऽङ्गबलत्रयम् । निःश्वासोच्छ्वाससंज्ञः स्यादायुरेकं दशेति च ॥६१

उक्तं च—

पञ्चवि इंदिय पाणा मण वचिकाएण तिण्णि वलपाणा ।
आणपाणप्पाणा आउगपाणेण हुंति दह पाणा ॥२६

एकाक्षे तत्र चत्वारो द्वीन्द्रियेषु षडेव ते । त्र्यक्षे सप्त चतुराक्षे विद्यन्तेऽष्टौ यथागमात् ॥६२
नवासंज्ञिनि पञ्चाक्षे प्राणाः संज्ञिनि ते दश । मत्वेति किल छद्मस्थैः कर्तव्यं प्राणरक्षणम् ॥६३

यह विरति शब्द सापेक्ष है। सो पहले तो यह बताना चाहिये कि किनका त्याग करना चाहिये, कितना त्याग करना चाहिये और कितनेका त्याग करना चाहिये। यह सब आज बतलाना चाहिये ॥५६॥ ग्रन्थकार कहने लगे कि हिंसाका त्याग करना चाहिये, झूठ बोलनेका त्याग करना चाहिये, चोरीका त्याग करना चाहिये, अब्रह्म या कुशीलका त्याग करना चाहिये और परिग्रहका त्याग करना चाहिये ॥५७॥ इन पाँचों पापोंका एकदेश त्याग करना सो गृहस्थोंके धारण करने योग्य अणुव्रत कहलाता है तथा इन्हीं पाँचों पापोंको पूर्णरीतिसे त्याग करना सो मुनियोंके धारण करने योग्य महाव्रत कहलाता है ॥५८॥ यह सुनकर फामन फिर पूछने लगा कि हिंसा किसको कहते हैं, विरति शब्दका क्या अर्थ है और एकदेश किसको कहते हैं। हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ! आचार्य परम्परासे चला आया इनका लक्षण मुझे बतलाइये ॥५९॥ इस प्रश्नके उत्तरमें ग्रन्थकार कहने लगे कि प्रमादके योगसे प्राणोंका व्यपरोपण करना, कषायके निमित्तसे प्राणोंका वियोग करना हिंसा है। पहलेके आचार्योंने शास्त्रोंमें इस हिंसाका स्वरूप अनेक प्रकार बतलाया है ॥६०॥ स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाँच इन्द्रियाँ, मनोबल, वचनबल और कायबल ये तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु ये दश प्राण कहलाते हैं ॥६१॥

कहा भी है—पाँचों इन्द्रियाँ प्राण हैं, मन, वचन, काय ये तीनों बल प्राण हैं, श्वासोच्छ्वास प्राण है और आयु प्राण है। इस प्रकार दस प्राण हैं ॥२६॥

इन प्राणोंमेंसे वृक्षादिक वा पृथ्वीकायादिक एकेन्द्रिय जीवोंके एक स्पर्शन इन्द्रियप्राण, दूसरा कायबलप्राण, तीसरा श्वासोच्छ्वासप्राण और चौथा आयुप्राण इस प्रकार चार प्राण होते हैं। लट, शंख आदि दोइन्द्रिय जीवोंके छह प्राण होते हैं। स्पर्शन रसना दो इन्द्रियप्राण, कायबल वचनबल दो बलप्राण, आयु और श्वासोच्छ्वास ये छह प्राण होते हैं। चींटी चींटा खटमल आदि तेइन्द्रिय जीवोंके सात प्राण होते हैं। स्पर्शन रसना घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ, कायबल वचनबल ये दो बल, आयु और श्वासोच्छ्वास। भौंरा, मक्खी आदि चौइन्द्रिय जीवोंके आठ प्राण होते हैं। स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु ये चार इन्द्रियां, कायबल वचनबल, आयु और श्वासोच्छ्वास। पानीके सर्प आदि असैनी पंचेन्द्रिय जीवोंके नौ प्राण होते हैं। स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु कर्ण ये पाँचों इन्द्रियाँ, कायबल, वचनबल, आयु और श्वासोच्छ्वास। मनुष्य, स्त्री, गाय, भैंस, कबूतर, चिड़िया आदि सैनी पंचेन्द्रिय जीवोंके मन भी होता है इसलिये उनके दशों प्राण होते हैं। इस

अत्रैकाक्षादिजीवाः स्युः प्राणशब्दोपलक्षणात् । प्राणादिमत्त्वं जीवस्य नेतरस्य कदाचन ॥६४
ज्ञादत्र दिग्मात्रं वाच्यं प्राणिनि कायकम् । तत्स्वरूपं परिज्ञाय तद्रक्षां कर्तुमर्हति ॥६५
सन्ति जीवसमासास्ते संक्षेपाच्च चतुर्दश । व्यासादसंख्यभेदाश्च सन्त्यनन्ताश्च भावतः ॥६६
तत्र जीवो महीकायः सूक्ष्मः स्थूलश्च स द्विधा । पर्याप्तापर्याप्तकाभ्यां भेदाभ्यां स द्विधाऽथवा ॥६७
प्रत्येकं तस्य भेदाः स्युश्चत्वारोऽपि च तद्यथा । शुद्धाभूर्भूमिजीवश्च भूकायो भूमिकायिकः ॥६८
शुद्धा प्राणोज्झिता भूमिर्यथा स्याद्दग्धमृत्तिका । भूजीवोऽथैव भूसौ यो द्रागेष्यति गत्यन्तरात् ॥६९
भूरेव यस्य कायोऽस्ति यद्वानन्यगतिर्भुवः । भूशरीरस्तदात्वेऽस्य स भूकाय इत्युच्यते ॥७०
भूकायिकस्तु भूमिस्थोऽन्यगतौ गन्तुमुत्सुकः । स समुद्घातावस्थायां भूकायिक इति स्मृतः ॥७१
एवमग्निजलादीनां भेदाश्चत्वार एव ते । प्रत्येकं चापि ज्ञातव्याः सर्वज्ञाज्ञानतिक्रमात् ॥७२

प्रकार इन जीवोंके प्राण होते हैं। यह सब समझकर गृहस्थ लोगोंको प्राणोंकी रक्षा करनी चाहिये ॥६२–६३॥ यहाँपर प्राण शब्दसे एकेन्द्रिय वा दोइन्द्रिय आदि जीव समझने चाहिये। इसका भी कारण यह है कि संसारमें प्राणधारी जीव ही हैं, जीवोंके ही प्राण होते हैं। जीवोंके सिवाय अन्य किसी पदार्थके भी प्राण नहीं होते ॥६४॥ यहाँपर अहिंसा वा जीवोंकी रक्षाका प्रकरण है इसलिये प्रसंग पाकर संक्षेपसे जीवोंके भेद बतलाते हैं क्योंकि जीवोंके भेदोंको और उनके स्वरूपको जानकर ही श्रावक लोग उन जीवोंकी रक्षा कर सकते हैं ॥६५॥ यदि जीवोंके अत्यन्त संक्षेपसे भेद किये जायँ तो चौदह होते हैं। यदि समस्त जीवोंके विस्तारके साथ भेद किये जायँ तो असंख्यात भेद होते हैं तथा यदि भावोंकी अपेक्षासे उन जीवोंके भेद किये जायँ तो अनन्त भेद हो जाते हैं ॥६६॥ आगे चौदह जीवसमासोंको या जीवोंके चौदह भेदोंको बतलाते हैं। जीवोंके मूल भेद दो हैं—त्रस और स्थावर। उनमेंसे स्थावर जीव पाँच प्रकारके हैं—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। आगे सबसे पहले इन्हीं स्थावर जीवोंके भेद बतलाते हैं। पृथ्वीकायिक जीवोंके दो भेद हैं—स्थूल और सूक्ष्म तथा इन दोनोंके भी दो-दो भेद हैं—एक पर्याप्तक और दूसरे अपर्याप्तक ॥६७॥ इन चार भेदोंमेंसे भी प्रत्येकके चार-चार भेद होते है—शुद्धपृथ्वी, पृथ्वीजीव, पृथ्वीकाय और पृथ्वीकायिक ॥६८॥ जो पृथ्वी प्राणरहित है उसको शुद्ध पृथ्वी कहते हैं जैसे जली हुई मिट्टी। जो जीव किसी दूसरी गतिसे पृथ्वीमें आनेवाला है अर्थात् जिसने अन्य गति छोड़ दी है, दूसरी गतिका शरीर छोड़ दिया है और पृथ्वीकायिकमें उत्पन्न होनेवाला है जो पृथ्वीकायिकमें उत्पन्न होनेके लिये विग्रहगतिमें आ रहा है ऐसे जीवको पृथ्वीजीव कहते हैं ॥६९॥ पृथ्वी ही जिसका शरीर है अथवा जो पृथ्वीकायमें विद्यमान है, पृथ्वीकायके सिवाय जिसकी और कोई गति नहीं है अथवा पृथ्वीरूप शरीरको जो धारण कर रहा है उसको पृथ्वीकाय कहते हैं ॥७०॥ तथा जो जीव अभी पृथ्वीकायमें विद्यमान है परन्तु पृथ्वीकायकी गतिको छोड़कर अन्य गतिमें जानेके लिए तैयार है तथा अन्य गतिमें जानेके लिए समुद्घात कर रहा है उसको पृथ्वीकायिक कहते हैं ॥७१॥ इसी प्रकार जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिके भी चार-चार भेद समझने चाहिए अर्थात् जल, जलजीव, जलकाय और जलकायिक ये चार जलके भेद हैं। अग्नि, अग्निजीव, अग्निकाय और अग्निकायिक ये चार अग्निके भेद हैं। वायु, वायुजीव, वायुकायिक, वायुकाय ये चार वायुके भेद हैं। वनस्पति, वनस्पतिजीव, वनस्पतिकाय और वनस्पतिकायिक ये चार वनस्पतिके भेद हैं। इन सब भेदोंका स्वरूप भगवान् सर्वज्ञदेवकी आज्ञाके अनुसार जान लेना

सूक्ष्मकर्मोदयाज्जाताः सूक्ष्मा जीवा इतीरिताः । सन्त्यघातिशरीरास्ते वज्रानलजलादिभिः ॥७३

उक्तं च—

णहि जेसिं पडिखलणं पुढवीताराहि अग्गिवाराहिं । ते हुंति सुहमकाया इयरे पुण थूलकाया य ॥२७

स्थूलकर्मोदयाज्जाताः स्थूला जीवाः स्वलक्षणात् । सन्ति घातिशरीरास्ते वज्रानलजलादिभिः ॥७४

उक्तं च—

घादिसरीरा थूला अघादिसरीरा हवे सुहमा ॥२८

किञ्च स्थूलशरीरास्ते क्वचिच्च क्वचिदाश्रिताः । सूक्ष्मकायास्तु सर्वत्र त्रैलोक्ये घृतवद्घटे ॥७५

उक्तं च—

आधारधरा पढमा सव्वत्थ णिरन्तरा सुहमा ॥२९

प्रत्येकं ते द्विधा प्रोक्ताः केवलज्ञानलोचनैः । पर्याप्तकाश्चापर्याप्तास्तेषां लक्षणमुच्यते ॥७६

पर्याप्तको यथा कश्चिद्दैवादगत्यन्तराच्च्युतः । अन्यतमां गतिं प्राप्य गृहीतुं वपुरुत्सुकः ॥७७

चाहिए ॥७२॥ इनमेंसे जो जीव सूक्ष्मनामकर्मके उदयसे उत्पन्न होते हैं उनको सूक्ष्म जीव कहते हैं। इन सूक्ष्म जीवोंका वज्र, अग्नि, जल आदि किसी भी पदार्थसे कभी भी घात नहीं होता है ॥७३॥

कहा भी है—पृथ्वी तारे अग्नि जल आदि किसी भी पदार्थसे जिनका परिस्खलन नहीं होता अर्थात्में जो न तो पृथ्वीसे रुकते हैं, न तारोंसे टक्कर खाते हैं, न अग्निमें जलते हैं और न जलसे वहते हैं उनको सूक्ष्म जीव कहते हैं तथा जो जीव पृथ्वीसे रुक जाते हैं, तारोंसे टकराते हैं, अग्निसे जल जाते हैं और पानीमें वह जाते हैं उनको स्थूलकाय या स्थूल शरीरको धारण करनेवाले जीव कहते हैं ॥२७॥

जो जीव स्थूलनामके नामकर्मके उदयसे उत्पन्न होते हैं उनको स्थूल जीव कहते हैं क्योंकि स्थूलका जो लक्षण है वह उनमें अच्छी तरह संघटित होता है तथा वज्र अग्नि जल आदिसे उन जीवोंका शरीर घाता जाता है ॥७४॥

कहा भी है—स्थूल जीव उनको कहते हैं जिनका शरीर घाता जाय और सूक्ष्म जीव उनको कहते हैं जिनका शरीर किसीसे भी न घाता जाय ॥२८॥

इस प्रकार स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकारके जीवोंका लक्षण वतलाया है। इसमें भी इतना भेद है कि जो स्थूल शरीरको धारण करनेवाले जीव हैं वे सब जगह नहीं हैं किन्तु कहीं-कहींपर किसी न किसीके आश्रय रहते हैं तथा जो सूक्ष्म जीव हैं वे इन तीनों लोकोंमें सब जगह इस प्रकार भरे हुए हैं जैसे घड़ेमें घी भरा रहता है ॥७५॥

कहा भी है—स्थूल जीव किसीके आधारपर रहते हैं और सूक्ष्म जीव इन तीनों लोकोंमें सब जगह और सदैव भरे रहते हैं ॥२९॥

अब आगे इनके पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक भेद वतलाते हैं। केवलज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाले भगवान् अरहन्तदेवने उन स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकारके जीवोंमेंसे प्रत्येक जीवके दो दो भेद वतलाये हैं—एक पर्याप्तक और दूसरे अपर्याप्तक। अब उनका लक्षण कहते हैं ॥७६॥ जो जीव दैवयोगसे वा आयु पूर्ण हो जानेसे किसी भी एक गतिको छोड़ कर दूसरी किसी भी गतिमें आकर उत्पन्न होता है तब वह जीव वहाँपर शरीर धारण करनेका प्रयत्न करता है तथा

उदयात्पर्याप्तकस्य कर्मणो हेतुमुत्तरात् । सम्पूर्णं वपुरादत्ते निष्प्रत्यूहतयाऽसुमान् ॥७८
अपर्याप्तकजीवस्तु नाश्नुते वपुःपूर्णताम् । अपर्याप्तकसंज्ञस्य तद्विपक्षस्य पाकतः ॥७९
अष्टादशैकभागेऽस्मिन् श्वा कस्य मात्रया । आयुरस्य जघन्यं स्यादुत्कृष्टं तावदेव हि ॥८०
क्षुद्रभवायुरेतद्वा सर्वजघन्यमागमात् । तद्वदायुर्विशिष्टास्ते जीवाश्चातीव दुःखिताः ॥८१

उक्तं च—

तिण्णि सया छत्तीसा छावट्ठि सहस्स वार मरणाइं । अन्तोमुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा ॥३०
अत्रापर्याप्तशब्देन लब्ध्यपर्याप्तको मतः । अपर्याप्त ीवस्तु स्यात्पर्याप्तक एव हि ॥८२
एवं ज्ञेयं जलादीनां लक्ष्म नो देशितं मया । ग्रन्थगौरवभीतेर्वा पुनरुक्तभयादपि ॥८३
किञ्चिद्भूम्यादिजीवानां चतुर्णां प्रोक्तलक्ष्मणाम् । धातु ष्कमेतेषां संज्ञा स्याज्जिनशासनात् ॥८४
अथ धातुचतुष्काङ्गाः सम्भवन्त्यप्रतिष्ठिताः । साधारणनिकोताङ्गैस्तैर्वनस्पतिकायिकैः ॥८५

उक्तं च—

पुढवी आइचउण्हं तित्थयराहारदेवणिरयङ्गा । अपदिट्ठिदा णिगोदैं पदिट्ठिदङ्गा हवे सेसा ॥३१

पर्याप्तकनामा नामकर्मके उदयसे और सब तरहकी विघ्नबाधाओंके अभाव होनेसे वह जीव शरीर बननेके लिए प्राप्त हुई पुद्गलवर्गणाओंमें शरीर बननेकी शक्ति उत्पन्न करता है। जब उसकी वह शरीर बननेकी शक्ति पूर्ण हो जाती है तबसे वह पर्याप्तक कहलाता है और अपनी आयुपर्यन्त पर्याप्तक ही रहता है ॥७७–७८॥ अपर्याप्तक जीवके अपर्याप्तक नामके नामकर्मका उदय होता है। यह अपर्याप्तक नामकर्म पर्याप्तक नामकर्मका विरोधी है। उसी पर्याप्तकनामा नामकर्मके विरोधी अपर्याप्तकनामा नामकर्मके उदयसे यह जीव शरीर बननेकी शक्तिको पूर्ण नहीं कर पाता है। शरीर बननेकी शक्ति पूर्ण होनेके पहले ही आयु पूर्ण हो जानेके कारण मर जाता है ऐसे जीवको अपर्याप्तक कहते हैं ॥७९॥ इस अपर्याप्तक जीवकी आयु एक श्वासके अठारहवें भाग प्रमाण होती है। यही उसकी जघन्य आयु है और यही उत्कृष्ट आयु है ॥८०॥ शास्त्रोंमें बतलाया है कि यह आयु सबसे जघन्य आयु है और क्षुद्रभव धारण करनेवालोंकी होती है। इस प्रकारकी आयुको धारण करनेवाले अर्थात् क्षुद्रभव धारण करनेवाले जीव अत्यन्त दुखी होते हैं ॥८१॥

कहा भी है—यह जीव अपर्याप्तनामकर्मके उदयसे एकेन्द्रियादि सत्रह स्थानोंमें एक अन्तर्मुहूर्त समयमें छयासठ हजार तीन सौ छत्तीस वार जन्म-मरण करता है और इतने ही क्षुद्रभव धारण करता है ॥३०॥

यहाँ पर अपर्याप्त शब्दसे लब्ध्यपर्याप्तक समझना चाहिए क्योंकि जो निर्वृत्यपर्याप्तक है वह तो नियमसे पर्याप्तक होता ही है अथवा निर्वृत्यपर्याप्तकको पर्याप्तक ही समझना चाहिए, क्योंकि उसके पर्याप्तिनामा नामकर्मका उदय रहता है अपर्याप्तिनामा नामकर्मका उदय नहीं रहता ॥८२॥ जिस प्रकार ये पृथ्वीकायके भेद बतलाए हैं उसी प्रकार जलकायिक अग्निकायिक वायुकायिक वनस्पतिकायिकके भी भेद समझ लेना चाहिए। ग्रन्थ बढ़ जानेके भयसे अथवा पुनरुक्त दोषके भयसे हमने उन सबका लक्षण जुदा नहीं कहा है ॥८३॥ जिनका लक्षण ऊपर कहा जा चुका है ऐसे पृथ्वी जल अग्नि वायु इन चारोंकी ही जैनशास्त्रोंमें धातुसंज्ञा कही गई है ॥८४॥ ये चारों ही धातु अप्रतिष्ठित होते हैं। इनमें वनस्पतिकायिकके साधारण निगोदिया जीव नहीं रहते ॥८५॥

कहा भी है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, तीर्थंकरोंका शरीर, आहारक शरीर, देवोंका शरीर

किन्तु धातुचतुष्कस्य पिण्डे सूच्यग्रमात्रके । एकाक्षाः सन्त्यसंख्याता नानन्ता नापि संख्यकाः ॥८६
अयमर्थः पृथिव्यादिकाये यत्नो विधीयताम् । तद्वधादिपरित्यागवृत्त्यभावेऽपि श्रावकैः ॥८७
अनन्तानन्तजीवास्तु स्युर्वनस्पतिकायिकाः ।पूर्ववक्तेऽपि सूक्ष्माश्च वादराश्चेति भेदतः ॥८८
पर्याप्तापर्याप्तकाश्च प्रत्येकं चेति ते द्विधा । प्रत्येकाः साधारणाश्च विज्ञेया जैनशासनात् ॥८९
सूक्ष्मवादरपर्याप्तापर्याप्तानां च लक्षणम् । ज्ञातव्यं यत्प्रागत्रैव निर्दिष्टं नातिविस्तरात् ॥९०
साधारणा निकोताश्च सन्त्येवैकार्थवाचकाः । घृतघटवद्यैः सूक्ष्मैर्लोकोऽयं संभृतोऽखिलः ॥९१
आधाराधेयहेतुत्वाद् वादराः स्युः क्वचित्क्वचित् । तेऽपि प्रतिष्ठिताः केचिन्निकोतैश्चाप्रतिष्ठिताः ॥९२
तैराश्रिता यथा प्रोक्ताः प्रागितो मूलकादयः । अनाश्रिता यथैतैश्च व्रीहयश्चणकादयः ॥९३
तत्रैकस्मिन् शरीरेऽपि सन्त्यनन्ताश्च प्राणिनः । प्रत्येकाश्च निकोताश्च नाम्ना सूत्रेषु संज्ञिताः ॥९४

उक्तं च—

एय णिगोयसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा । सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥३२

और नारकियोंका शरीर इन आठ स्थानोंमें निगोदिया जीव नहीं रहते हैं। इनके सिवाय बाकी जीवोंके शरीर निगोदराशिसे भरे हुए प्रतिष्ठित समझने चाहिए ॥३१॥

इस प्रकार यद्यपि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चारों धातुओंमें निगोदिया जीव नहीं रहते तथापि इन चारों ही धातुओंका पिंड जितना सुईके अग्रभागपर आता है उतने धातुओंके पिंडमें असंख्यात एकेन्द्रिय जीव होते हैं। उन जीवोंकी संख्या न तो संख्यात होती है और न अनन्त होती है किन्तु असंख्यात ही होती है ॥८६॥ इस सबके कहनेका अभिप्राय यह है कि यद्यपि श्रावकोंके स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्याग नहीं होता तथापि उनको पृथ्वीकायिकादि जीवोंकी रक्षाका प्रयत्न अवश्य करते रहना चाहिए ॥८७॥ वनस्पतिकायिक जीव अनन्तानन्त होते हैं तथा उनके भी पहलेके समान स्थूल और सूक्ष्म ऐसे दो भेद होते हैं ॥८८॥ इनमें भी प्रत्येकके दो-दो भेद होते हैं—एक पर्याप्तक और दूसरा अपर्याप्तक। जैनशास्त्रोंमें इन सबके दो-दो भेद बतलाए हैं—एक प्रत्येक और दूसरे साधारण ॥८९॥ इनमेंसे सूक्ष्म बादर (स्थूल) पर्याप्तक और अपर्याप्तकोंका लक्षण पहले बता चुके हैं, इनका जो लक्षण पहले संक्षेपसे बतलाया है वही यहाँपर समझ लेना चाहिये ॥९०॥ साधारण और निगोद ये दोनों ही शब्द एक ही अर्थको कहनेवाले हैं। जो निगोदका अर्थ है वही साधारणका अर्थ है। ऐसे सूक्ष्म निगोदिया जीवोंसे यह समस्त लोकाकाश इस प्रकार भरा हुआ है जैसे घींका घड़ा घीसे भरा रहता है ॥९१॥ स्थूल वनस्पतिकायिक जीव इस लोकाकाशमें आधाराधेयरूपसे कहीं-कहींपर रहते हैं। तथा वे स्थूल जीव अन्य कितने ही जीवोंके आधारभूत भी होते हैं और उन स्थूल जीवोंमेंसे कितने तो ऐसे हैं जो निगोदिया जीवोंसे भरे हुए प्रतिष्ठित हैं और कितने ही ऐसे हैं जो निगोदिया जीवोंसे रहित अप्रतिष्ठित हैं ॥९२॥ उन अनन्तानन्त निगोदिया जीवोंसे आश्रित रहनेवाले वनस्पतिकायिक स्थूल जीव मूली अदरक आदिक हैं जिनका स्वरूप पहले अच्छी तरह बतला चुके हैं तथा जो अनन्तानन्त निगोदिया जीवोंसे आश्रित नहीं हैं अर्थात् जिनमें अनन्तानन्त निगोदिया जीव नहीं हैं वे एक स्थूल वनस्पतिकायिक गेहूँ चना आदि हैं ॥९३॥ उन निगोदियोंके एक शरीरमें भी अनन्त जीव होते हैं जो कि आगम-सूत्रोंमें प्रत्येक और निगोद नामसे कहे गये हैं ॥९४॥

कहा भी है—निगोदिया जीवोंके एक शरीरमें जो अनन्तानन्त जीव होते हैं उनकी संख्या व्यतीत अनादिकालसे तथा आज तक जितने सिद्ध हुए हैं उनकी संख्यासे अनन्तगुणी है ॥३२॥

मे दुक्तस्य तद्बोधस्याथवार्थतः । यत्नस्तद्रक्षणे कार्यः श्रावकैर्दुःखभीरुभिः ॥९५
उक्तमेकाक्षजीवानां संक्षेपाल्लक्षणं यथा । साम्प्रतं द्वीन्द्रियादीनां त्रसानां वच्मि लक्षणम् ॥९६
तल्लक्षणं यथा सूत्रे त्रसाः स्युर्द्वीन्द्रियादयः । पर्याप्तापर्याप्तकाश्च प्रत्येकं ते द्विधा मताः ॥९७
कृमयो द्वीन्द्रियाः प्रोक्तास्त्रीन्द्रियाश्च पिपीलिकाः । प्रसिद्धसंज्ञकाश्चैते भ्रमराश्चतुरिन्द्रियाः ॥९८
ेन्द्रिया द्विधा ज्ञेयाः संज्ञिनोऽसंज्ञिनस्तथा । संज्ञिनस्तत्र पञ्चाक्षाः देवनारकमानुषाः ॥९९
तिर्यञ्चस्तत्र पञ्चाक्षाः संज्ञिनोऽसंज्ञिनस्तथा । प्रत्येकं ते द्विधा ज्ञेया सम्मूच्छिमाश्च गर्भजाः ॥१००
लब्ध्यपर्याप्तकास्तत्र तिर्यञ्चो मनुजाश्च ये । असंज्ञिनो भवन्त्येव सम्मूच्छिमा न गर्भजाः ॥१०१
इति संक्षेपतोऽप्यत्र जीवस्थानान्यचीकथत् । तत्स्वरूपं परिज्ञाय कर्तव्या करुणा जनैः ॥१०२
व्यपरोपणं प्राणानां जीवाद्विश्लेषकारणम् । नाशकारणसामग्री-सांनिध्यं वा बहिष्कृतम् ॥१०३
अर्थात्तज्जीवद्रव्यस्य नाशो नैवात्र दृश्यते । किन्तु जीवस्य प्राणेभ्यो वियोगो व्यपरोपणम् ॥१०४
ननु प्राणवियोगोऽपि स्यादनित्यः प्रमाणसात् । यतः प्राणान्तरान् प्राणी लभते नात्र यः ॥१०५

इस सब कथनके कहनेका-जाननेका और उसके अर्थको समझनेका यही फल है कि जो श्रावक संसारपरिभ्रमणके दुःखोंसे डरते हैं उनको इन समस्त जीवोंकी रक्षा करनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥९५॥ इस प्रकार संक्षेपसे एकेन्द्रिय जीवोंका लक्षण बतलाया। अब आगे दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय आदि त्रसजीवोंका लक्षण कहते हैं ॥९६॥ शास्त्रोंमें त्रसजीवोंका लक्षण 'द्वीद्रियादयस्त्रसाः' अर्थात्—'दो इन्द्रियको आदि लेकर त्रस हैं' ऐसा कहा है। उन सब त्रसजीवोंमेंसे प्रत्येकके दो दो भेद हैं—एक पर्याप्तक और दूसरा अपर्याप्तक ॥९७॥ लट, गेंडुए आदि जीव दोइन्द्रिय कहलाते हैं, चींटी, चींटा, खटमल आदि तेइन्द्रिय जीव कहलाते हैं तथा भौंरा, मक्खी ततैया, बर्र, लैंप वा दीपकपर आनेवाले छोटे छोटे उड़नेवाले जानवर सब चौइन्द्रिय कहलाते हैं, ये सब जीव संसारमें प्रसिद्ध हैं ॥९८॥ पंचेन्द्रिय जीवोंके दो भेद हैं—एक सैनी और दूसरे असैनी। उनमेंसे देव, नारकी और मनुष्य सब सैनी पंचेन्द्रिय कहलाते हैं ॥९९॥ संसारमें जितने पंचेन्द्रिय तिर्यंच हैं वे दो प्रकारके हैं—एक सैनी और दूसरे असैनी। वे दोनों ही प्रकारके तिर्यंच दो दो प्रकारके हैं एक गर्भसे उत्पन्न होनेवाले गर्भज और दूसरे सम्मूर्च्छन ॥१००॥ इनमें जो लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यंच हैं वे सब असैनी होते हैं और जो लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य हैं वे सब सम्मूर्च्छन होते हैं तथा लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यंच भी सम्मूर्च्छन ही होते हैं। लब्ध्यपर्याप्तक चाहे तिर्यंच हों चाहे मनुष्य हों वे सब सम्मूर्च्छन ही होते हैं गर्भज नहीं होते। स्त्रियोंके कुच या काँख आदि स्थानोंमें सम्मूर्च्छन मनुष्य उत्पन्न होते रहते हैं ॥१०१॥ इस प्रकार अत्यन्त संक्षेपसे जीवोंके स्थान बतलाए। इन सबका स्वरूप समझकर श्रावकोंको इन समस्त जीवोंपर करुणा वा दया करनी चाहिये ॥१०२॥ अब आगे व्यपरोपण शब्दका अर्थ बतलाते हैं। जीवसे उसके प्राणोंको अलग करना—वियोग करना व्यपरोपण कहलाता है अथवा प्राणोंके नाश करनेकी सामग्रीका इकट्ठा करना अथवा प्राणोंको जीवसे सर्वथा अलग कर देना व्यपरोपण है ॥१०३॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि इस संसारमें जीवद्रव्यका तो नाश कभी होता ही नहीं है किन्तु जीवद्रव्यसे उसके वर्तमान आयु, श्वासोच्छ्वास आदि प्राणोंका वियोग हो जाता है। इसीको प्राणोंका व्यपरोपण वा हिंसा कहते हैं ॥१०४॥ कदाचित् यहाँपर कोई यह शंका करे कि प्राणोंका वियोग होना भी अनित्य है, होता ही रहता है। क्योंकि विना मारे भी जीव मरते ही हैं तथा वे जीव फिर अन्य प्राणोंको धारण करते ही हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है यह बात प्रमाणसे सिद्ध है। अतएव जब प्राणोंका वियोग होना अनित्य

नैवं प्राणान्तरप्राप्तौ पूर्वप्राणप्रपीडनात् । प्राणभृद्दुःखमाप्नोति निर्वाच्यं मारणान्तिकम् ॥१०६
कर्मासातं हि बध्नाति प्राणिनां प्राणपीडनात् । येन तेन न कर्तव्या प्राणिपीडा कदाचन ॥१०७
ततो न्यायागतं चैतद्यद्बाधाकरं चितः । कायेन मनसा वाचा तत्तत्सर्वं परित्यजेत् ॥१०८
तस्मात्त्वं मा वदासत्यं चौर्यं मा चर पापकृत् । मा कुरु मैथुनं काञ्चिन्मूर्च्छां वत्स परित्यज ॥१०९
यतः क्रियाभिरेताभिः प्राणिपीडा भवेद् ध्रुवम् । प्राणिनां पीडयाऽवश्यं बन्धः स्यात्पापकर्मणः ॥११०
तदेकाक्षादिपञ्चाक्षपर्यन्ते दुःखभीरुणा । दातव्यं निर्भयं दानं मूलं व्रततरोरिव ॥१११
नन्वेवमीर्यासमितौ सावधानमुनावपि । अतिव्याप्तिर्भवेत्कालप्रेरितस्य मृतौ चितः ॥११२
नैवं प्रमत्तयोगत्वाद्धेतोरध्यक्षजाग्रतः । तस्याभावान्मुनौ तत्र नातिव्याप्तिर्भविष्यति ॥११३
एवं यत्रापि चान्यत्र मुनौ वा गृहमेधिनि । नैव प्रमत्तयोगोऽस्ति न बन्धो बन्धहेतुकः ॥११४

है और प्राणोंका वियोग होनेपर जब यह प्राणी अन्य प्राणोंको धारण कर ही लेता है तब फिर प्राणोंका वियोग करनेमें कोई पाप नहीं होता ॥१०५॥ परन्तु यह शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि जब इस जीवके प्राणोंका वियोग होता है तब उन प्राणोंको बहुत ही पीड़ा होती है तथा प्राणोंको पीड़ा होनेसे उस जीवको मरणसे उत्पन्न होनेवाला एक प्रकारका ऐसा महा दुःख होता है जो वचनोंसे कहा भी नहीं जा सकता ॥१०६॥ इसीके साथ दूसरी बात यह है कि प्राणियोंको पीड़ा करनेसे यह जीव बहुतसे असातावेदनीयकर्मका बन्ध करता है, इसलिए श्रावकोंको या गृहस्थोंको प्राणियोंकी पीड़ा कभी नहीं करनी चाहिए ॥१०७॥ इस प्रकार यह बात न्यायपूर्वक सिद्ध हो जाती है कि जो-जो कार्य इस जीवको दुःख देनेवाले हैं, जिन कार्योंसे अन्य जीवोंको किसी भी प्रकारकी बाधा वा दुःख पहुँचता हो, उन सब कार्योंका मनसे, वचनसे और कायसे त्याग कर देना चाहिए ॥१०८॥ अतएव हे वत्स ! फामन ! तू कभी झूँठ मत बोल, अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करनेवाली चोरी कभी मत कर, कुशील सेवन कभी मत कर और किसी भी प्रकारकी मूर्च्छा वा परिग्रह रखनेकी लालसा मत कर ॥१०९॥ क्योंकि झूँठ बोलनेसे, चोरी करनेसे, कुशील सेवन करने से और परिग्रहकी अधिक लालसा रखनेसे प्राणियोंको पीड़ा अवश्य होती है, तथा प्राणियोंको पीड़ा होनेसे पाप कर्मोंका बन्ध अवश्य होता है ॥११०॥ इसलिए जो जीव उन पापकर्मोंके उदयसे होनेवाले महादुःखोंसे डरना चाहते हैं, बचना चाहते हैं उन्हें एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रियपर्यंत समस्त जीवोंको अभयदान देना चाहिए अर्थात् समस्त जीवोंकी रक्षा करनी चाहिए । यह समस्त जीवोंकी रक्षा करना व्रतरूपी वृक्षकी जड़ है ॥१११॥ यहाँ पर कदाचित् कोई यह शंका करे कि जो मुनि चलते समय ईर्यासमितिसे सावधान रहते हैं अर्थात् ईर्यासमितिको पूर्णरीतिसे पालन करते हुए चलते हैं उनके पाँवसे भी कालके द्वारा प्रेरित हुए प्राणीकी मृत्यु हो सकती है इसलिए अहिंसाके इस लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष आता है । क्योंकि जो जीव मारते हैं उनसे भी हिंसा होती है और जो जीवोंको सर्वथा बचानेका प्रयत्न करते हैं जो जीवोंकी रक्षाके लिए ही ईर्यासमितिसे चलते हैं उनसे भी हिंसा होती है इसलिए अहिंसाका यह लक्षण ठीक नहीं है ॥११२॥ परन्तु यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि जहाँपर प्रमाद वा कषायके सम्बन्धसे प्रत्यक्ष जीवकी हिंसा होती है वहींपर हिंसा कहलाती है । मुनिराजके कषायका सम्बन्ध लेशमात्र भी नहीं है । उनके प्रमादका सर्वथा अभाव है अतएव प्राणोंका वियोग होनेपर भी उनको हिंसाका दोष लेशमात्र भी नहीं लग सकता ॥११३॥ चाहे मुनि हो और चाहे गृहस्थ हो यह नियम सब जगह समझ लेना चाहिए कि जहाँपर प्रमाद नहीं है

उक्तं च—

मरदु व जीवदु जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि वंधो हिंसामित्तेण विरदस्स ॥३३

ननु प्रमत्तयोगो यस्त्याज्यो हेयः स एव च। प्राणिपीडा भवेन्मा वा कामचारोऽस्तु देहिनाम् ॥११५
मैवं स्यात्कामचारोऽस्मिन्नवश्यं प्राणिपीडनात्। विना प्रमत्तयोगाद्वै कामचारो न दृश्यते ॥११६

उक्तं च—

तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां। तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यावृतिः।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां द्वयं न हि विरुद्धयते किमु करोति जानाति च ॥३४
सिद्धमेतावता नूनं त्याज्या हिंसादिका क्रिया। त्यक्तायां तयोगस्तत्रावश्यं निवर्तते ॥११७
अत्यक्तायां तु हिंसादिक्रियायां द्रव्यरूपतः। भावः प्रमत्तयोगोऽपि न कदाचिन्निवर्तते ॥११८
: साधीयसी मैत्री श्रेयसे द्रव्यभावयोः। न श्रेयान् कदाचिद्वै विरोधो वा मिथोऽनयोः ॥११९

वहाँपर न तो कर्मोंका वन्ध होता है और न कर्मोंके वन्ध होनेका कोई कारण ही है ॥११४॥

कहा भी है—जीव चाहे मर जाय अथवा जीवित बना रहे परन्तु जो जीवोंकी रक्षा करनेमें प्रयत्न नहीं करता, जीवोंकी रक्षामें सावधान नहीं रहता उसके हिंसाका पाप अवश्य लगता है तथा जो समितियोंका पालन करता है, जीवोंकी रक्षा करनेमें प्रयत्न करता है, सावधानी रखता है उसके जीवोंकी हिंसा होनेपर भी कर्मोंका वन्ध नहीं होता ॥३३॥

यहाँपर कोई शंका करता है कि जब प्रमादके सम्बन्धसे ही हिंसाका पाप लगता है, जीवोंके प्राणोंका वियोग हो या न हो परन्तु प्रमाद होनेपर हिंसाका पाप लग ही जाता है तो फिर प्रमादका ही त्याग करना चाहिए क्योंकि प्रमाद ही त्याग करने योग्य है। प्रमादके त्याग कर देनेपर फिर प्राणियोंको पीड़ा हो वा न हो यह प्राणियोंकी इच्छापर निर्भर रहना चाहिए ॥११५॥ परन्तु शंका ठीक नहीं है क्योंकि प्रमादका त्याग कर देनेपर जीवोंकी हिंसा करना हिंसा करनेवालेकी इच्छा पर निर्भर रखना सर्वथा अयुक्त है अर्थात् यह बात बन नहीं सकती। जिसने प्रमादका त्याग कर दिया है वह हिंसा भी करता रहे यह बात सर्वथा असम्भव है क्योंकि हिंसा करनेसे प्राणोंकी पीड़ा अवश्य होती है तथा विना प्रमादके हिंसा करनेकी इच्छा ही उत्पन्न नहीं हो सकती। भावार्थ—विना प्रमादके न तो हिंसा करनेके परिणाम होते हैं और न हिंसा हो सकती है ॥११६॥

कहा भी है—ज्ञानियोंको निरर्गल प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए क्योंकि निरर्गल व्यापार करना प्रमादका घर है। जो कर्म विना इच्छाके किया जाता है वह ज्ञानियोंके लिए कर्मबन्धका कारण नहीं होता। इसलिए करता और जानता दोनों ही परस्पर विरुद्ध नहीं होते ॥३४॥

इससे सिद्ध होता है कि हिंसादिक क्रियाओंका त्याग अवश्य कर देना चाहिए। हिंसादिक क्रियाओंका त्याग कर देनेसे प्रमादरूप योगोंका त्याग अपने आप हो जाता है ॥११७॥ यदि द्रव्य-रूपसे हिंसादिक क्रियाओंका त्याग नहीं किया जायगा तो प्रमत्तयोगरूप जो परिणाम हैं उनका त्याग भी कभी नहीं हो सकेगा ॥११८॥ इसलिए आत्माका कल्याण करनेके लिए द्रव्य और भावकी मैत्री होना ही अच्छा है अर्थात् द्रव्यहिंसा और भावहिंसा दोनोंका साथ-साथ त्याग कर देना अच्छा है। इन दोनोंका विरोध होना कभी भी कल्याणकारी नहीं हो सकता ॥११९॥ इतना सब सुन

ननु हिंसा निषिद्धा स्याद् यदुक्तं तद्धि सम्मतः। तस्य देशतो विरतिस्तत्कथं तद्वदाद्य नः ॥१२०
उच्यते शृणु भो प्राज्ञ तच्छ्रोतुंकाम फामन। देशतो विरतेर्लक्ष्म हिंसाया वच्मि साम्प्रतम् ॥१२१
अत्रापि देशशब्देन विशिष्टोंऽशो विवक्षितः। न यथाकाममात्मोत्थं कश्चिदन्यतमोंऽशकः ॥१२२
देशशब्दोऽत्र स्थूलार्थे तथा भावाद्विवक्षितः। कारणात्स्थूलहिंसादेस्त्यागस्यैवात्र दर्शनात् ॥१२३
स्थूलत्वमार्दवं स्थूलत्रसरक्षादिगोचरम्। अतिचाराविनाभूतं सातिचारं च सास्रवम् ॥१२४
तद्यथा यो निवृत्तः स्याद्यावत्त्रसवधादिह। न निवृत्तस्तथा पञ्चस्थावरहिंसया गृही ॥१२५
विरताविरताख्यः स स्यादेकस्मिन्ननेहसि। लक्षणात्त्रसहिंसायास्त्यागेऽणुव्रतधारकः ॥१२६

उक्तं च—

जो तसवहाउ विरओ अविरओ तह थावर-वहाओ।
एक्कसमयम्हि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई ॥३५

अत्र तात्पर्यमेवैतत्सर्वारम्भेण श्रूयताम्। त्रसकायवधाय स्यात्क्रिया त्याज्या हितावती ॥१२७

लेनेपर फामन फिर पूछने लगा कि आपने जो हिंसाका त्याग करना बतलाया है और उसके त्याग करनेकी जो विधि बतलाई सो तो सब ठीक है परन्तु उसका एकदेश त्याग कैसे किया जाता है। एकदेशका क्या अर्थ है उसे ही आज बतलाइये ॥१२०॥ हे विद्वान् फामन ! तूँ हिंसाके एकदेश त्यागका लक्षण सुनना चाहता है सो सुन। मैं अब उसी हिंसाके एकदेश त्यागका लक्षण कहता हूँ ॥१२१॥ यहाँपर देश शब्दका अर्थ विशिष्ट अंश लिया गया है। अपनी इच्छानुसार त्याग कर देना अथवा किसी एक अंशका त्याग कर देना एकदेश शब्दका अर्थ नहीं है ॥१२२॥ यहाँपर एकदेश शब्दका अर्थ स्थूल लेना चाहिए तथा भावपूर्वक लेना चाहिए अर्थात् कारण पूर्वक स्थूल हिंसादिकका त्याग करना ही एकदेश त्यागका अर्थ है। यही अर्थ शास्त्रोंमें कहा गया है ॥१२३॥ स्थूल शब्दका भी अर्थ कोमल परिणाम या करुणा है। करुणापूर्वक स्थूल त्रस जीवोंकी रक्षा करना ही अहिंसाणुव्रत है। यह अणुव्रत अतिचारोंके साथ-साथ होता है अर्थात् यह अतिचार सहित होता है और आस्रव सहित होता है ॥१२४॥ आगे इसीका खुलासा कहते हैं। इस अहिंसा अणुव्रतको धारण करनेवाला गृहस्थ त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग कर देता है परन्तु पाँचों स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्याग नहीं करता इसलिए अणुव्रतोंको धारण करनेवाला गृहस्थ एक ही पापका त्यागी भी होता है और त्यागी नहीं भी होता, अतएव अणुव्रतीको विरताविरत कहते हैं तथा अहिंसाणुव्रतका लक्षण त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करना बतलाया है। इस प्रकार जो त्रस जीवोंकी हिंसाका त्यागी और स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्यागी नहीं है उसको अणुव्रती कहते हैं ॥१२५-१२६॥

कहा भी है—जो त्रस जीवोंकी हिंसाका त्यागी है परन्तु स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्यागी नहीं है। इस प्रकार केवल जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको माननेवाला सम्यग्दृष्टि श्रावक एक ही समयमें विरताविरत कहलाता है। अर्थात् वह त्रस जीवोंकी हिंसाका त्यागी है इसलिए विरत कहलाता है और स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्यागी नहीं है इसलिए अविरत कहलाता है, इस प्रकार एक ही समयमें वह विरत और अविरत अर्थात् विरताविरत कहलाता है ॥३५॥

इस सबके कहने का अभिप्राय यह है कि जिस आरम्भसे त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो ऐसी जितनी भी क्रियाएँ हैं उनका सब प्रकारसे त्याग कर देना चाहिए। इस बातको खूब अच्छी

क्रियायां यत्र विख्यातस्त्रकायवधो महान् । तां तां क्रियामवश्यं स सर्वामपि परित्यजेत् ॥१२८
अत्राप्याऽऽशङ्कते कश्चिदात्मप्रज्ञापराधतः । कुर्याद्धिंसां स्वकार्याय न कार्या स्थावरक्षतिः ॥१२९
अयं तेषां विकल्पो यः स्याद्वा कपोलकल्पनात् । अर्थाभासस्य भ्रान्तेर्वा नैवं सूत्रार्थदर्शनात् ॥१३०
तद्यथा सिद्धसूत्रार्थे दर्शितं पूर्वसूरिभिः । तत्रार्थोऽयं विना कार्यं न कार्या स्थावरक्षतिः ॥१३१
एतत्सूत्र-विशेषार्थेऽनवदत्तावधानकैः । नूनं तैः स्खलितं मोहात्सर्वसामान्यसङ्ग्रहात् ॥१३२
किञ्च कार्यं विना हिंसां न कुर्यादिति धीमता । दृष्टेस्तुर्यगुणस्थाने कृतार्थत्वाद्दृगात्मनः ॥१३३
यदुक्तं गोम्मटसारे सिद्धान्ते सिद्धसाधने । तत्सूत्रं च यथाम्नायात्प्रतीत्यै वच्मि साम्प्रतम् ॥१३४

उक्तं च—

सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं च सद्दहदि । सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥३६

तरह सुन लेना चाहिए, क्योंकि ऐसी क्रियाओंसे आत्माका कभी कल्याण नहीं होता है। ऐसी त्रस जीवोंकी हिंसा करनेवाली क्रियाओंसे यह आत्मा नरकादिक दुर्गतियोंमें ही प्राप्त होता है ॥१२७॥ जिस क्रियाके करनेमें त्रस जीवोंकी महा हिंसा होती हो ऐसी-ऐसी समस्त क्रियाओंका त्याग अवश्य कर देना चाहिए ॥१२८॥ यहाँपर कोई पुरुष अपनी बुद्धिके दोषसे कुतर्क करता हुआ शंका करता है कि अपने कार्यके लिए तो त्रस जीवोंकी हिंसा भी कर लेनी चाहिए परन्तु विना प्रयोजन स्थावर जीवोंका विघात भी नहीं करना चाहिए, परन्तु यह उसका विकल्प कपोल-कल्पित है। या तो उसे अर्थका यथार्थ परिज्ञान नहीं हुआ है अथवा भ्रमरूप बुद्धि होनेसे ऐसी कपोलकल्पना करता है, क्योंकि उसका किया हुआ यह अर्थ सूत्र या शास्त्रोंके अनुसार नहीं है। सूत्र या शास्त्रोंके विरुद्ध है ॥१२९-१३०॥ शंका करनेवालेने जो शंका करते हुए अहिंसा अणुव्रत-का अर्थ किया है वह विरुद्ध क्यों है इसी वातको आगे दिखलाते हैं। पहलेके आचार्योंने अनादि-सिद्ध शास्त्रोंमें जो अर्थ वतलाया है वह यह है कि विना प्रयोजनके स्थावर जीवोंकी हिंसा भी नहीं करनी चाहिए। फिर भला त्रस जीवोंकी हिंसा करनेकी तो वात ही क्या है। त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग तो सर्वथा कर देना चाहिए। किसी विशेष प्रयोजनके वश होकर भी त्रस जीवोंकी हिंसा कभी नहीं करनी चाहिए ॥१३१॥ जो लोग इस सिद्धान्तके विशेष अर्थको नहीं जानते हैं ऐसे लोग ही अपने मोहनीय कर्मके उदयसे स्खलित हो जाते हैं अर्थात् मोहनीय कर्मके उदयसे हिंसाको ही अहिंसा वा अहिंसा अणुव्रत मान लेते हैं। ऐसे लोग समस्त कथनको सामान्यरूपसे समझ लेते हैं और सबको सामान्य समझकर एक साथ संग्रह कर लेते हैं ॥१३२॥ दूसरी समझने योग्य विशेष वात यह है कि सम्यग्दृष्टि पुरुष कृतार्थ होता है। यह अपने आत्माके स्वरूपको अच्छी तरह जानता है अतएव वह चौथे गुणस्थानमें भी विना प्रयोजनके हिंसा नहीं करता। इस वातको सव बुद्धिमान् अच्छी तरह जानते हैं ॥१३३॥ यही वात जीवकी सिद्ध अवस्थाके उपायको वतलानेवाले गोमट्टसारनामके सिद्धान्तशास्त्रमें वतलाई है। आचार्योंकी परम्परापूर्वक चला आया जो वह सूत्र है उसको मैं अव विश्वासके लिए कहता हूँ ॥१३४॥

गोमट्टसारमें लिखा है—सम्यग्दृष्टि जीव भगवान् सर्वज्ञदेवके कहे हुए शास्त्रोंका श्रद्धान करता है तथा जिस किसी पदार्थका स्वरूप वह नहीं जानता है और उसका स्वरूप गुरु वतला देवें तो उन गुरुका वतलाया हुआ उस पदार्थका स्वरूप चाहे यथार्थ न हो तो भी वह उन यथार्थ गुरुके कहे वचनोंका श्रद्धान कर लेता है ॥३६॥

अत्र सूत्रे चकारस्य ग्रहणं विद्यते स्फुटम् । तस्यार्थष्टीकाकारेण टीकायां प्रकटीकृतः ॥१३५
टीका व्याख्या यथा कश्चिज्जीवो यः सम्यग्दृष्टिमान् । उपदिष्टं प्रवचनं जिनोक्तं श्रद्दधाति सः १३६
चकारग्रहणादेव न कुर्यात्त्रसहिंसनम् । विना कार्यं कृपार्द्रत्वात्प्रशमादिगुणान्वितः ॥१३७
एवमित्यत्र विख्यातं कथितं च जिनागमे । स एवार्थो यद्यत्रापि व्रतित्वं हि कुतोऽर्थतः ॥१३८
तत्पञ्चमगुणस्थाने दिग्मात्रं व्रतमिच्छता । त्रसकायवधार्थं या क्रिया त्याज्याऽखिलाऽपि च ॥१३९
ननु जलानलोर्व्यन्नसद्वनस्पतिकेषु च । प्रवृत्तौ तच्छ्रिताङ्गानां त्रसानां तत्र का कथा ॥१४०
नैष दोषोऽल्पदोषत्वाद्यद्वा शक्यविवेचनात् । निष्प्रमादतया तत्र रक्षणे यत्नतत्परात् ॥१४१
एवं चेत्तर्हि कृष्यादौ को दोषस्तुल्यकारणात् । अशक्यपरिहारस्य तद्वत्तत्रापि सम्भवात् ॥१४२

इस सूत्रमें एक चकार है। सूत्रकारने जिस प्रयोजनके लिए चकारका ग्रहण किया है उसका स्पष्ट अर्थ टीकामें लिखा है ॥१३५॥ टीकाकारने इस सूत्रकी टीका इस प्रकार लिखी है कि जो कोई भी सम्यग्दृष्टि जीव है वह भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए वचनोंका श्रद्धान करता है। इस सूत्रमें जो चकार है उसका अभिप्राय यह है कि उसका हृदय करुणासे अत्यन्त भींगा रहता है क्योंकि प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य ये चार गुण उसके स्पष्ट प्रगट हो जाते हैं। अतएव वह सम्यग्दृष्टि पुरुष विना प्रयोजनके त्रस जीवोंकी हिंसा कभी नहीं करता है ॥१३६-१३७॥ चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रत सम्यग्दृष्टिका यह स्वरूप सर्वत्र प्रसिद्ध है तथा जैनशास्त्रोंमें सर्वत्र कहा है। यदि यही अर्थ पंचम गुणस्थानवर्ती अहिंसा अणुव्रतके स्वरूपमें लिया जायगा तो फिर उसको व्रती किस कारणसे कहा जायगा ॥१३८॥ इसलिए जो श्रावक पाँचवें गुणस्थानको धारण कर थोड़ेसे भी व्रतोंको धारण करना चाहता है उसे ऐसी समस्त क्रियाओंका त्याग कर देना चाहिये जिनमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो ॥१३९॥ यहाँपर शंका करनेवाला फिर शंका करता है कि अहिंसा अणुव्रतको धारण करनेवाला त्रस जीवोंकी हिंसा करनेवाली क्रियाओंका त्यागी होता है। स्थावर जीवोंकी हिंसा करनेवाली क्रियाओंका त्यागी नहीं होता अतएव जब वह पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवोंकी हिंसा करनेवाली क्रियाओंमें प्रवृत्त होता है उस समय उन स्थावर जीवोंके आश्रय रहनेवाले त्रस जीवोंकी क्या अवस्था होती होगी ॥१४०॥ कदाचित् यह कहो कि अणुव्रतीके लिए इसमें कोई दोष नहीं है क्योंकि इसमें बहुत थोड़ा दोष लगता है, वह त्रस जीवोंकी हिंसा करनेके लिए तैयार नहीं हुआ है केवल स्थावर जीवोंके आश्रय होनेसे उनका घात हो जाता है। उसके परिणाम उनके हिंसा करनेके लिए नहीं होते इसलिए इसमें अधिक दोष नहीं है। दूसरी बात यह है कि जिन त्रस जीवोंको वह बचा सकता है उनको बचा देता हैं, जिनके बचानेमें वह असमर्थ है, किसी तरह भी नहीं बचा सकता उन्हींका घात हो जाता है इसलिए भी इसमें दोष नहीं है। तीसरी बात यह है कि वह श्रावक उन जीवोंके मारनेके प्रति कषाय नहीं कर रहा है कषायपूर्वक उनका घात नहीं करता है अतएव प्रमादरहित होनेके कारण भी उसमें दोष नहीं है और चौथी बात यह है कि उनकी रक्षा करनेके लिए वह अच्छी तरह यत्न करता है। उनकी हिंसा होनेमें वह असावधान नहीं है इसलिए भी अणुव्रतीके लिये कोई दोष नहीं आता। शंकाकार कहता है कि इस प्रकार अणुव्रतीको तुम निर्दोष सिद्ध करना चाहो सो भी ठीक नहीं है क्योंकि वह इस प्रकार निर्दोष सिद्ध हो नहीं सकता। कदाचित् ऊपर लिखे कारणोंसे उसे निर्दोष सिद्ध करना चाहो तो फिर अणुव्रतीके लिये खेती

अपि तत्रात्मनिन्दादिभावस्यावश्यभावतः । प्रमत्तयोगाद्यभावस्य यथास्वं सम्भवादपि ॥१४३
जलादावपि विख्यातास्त्रसाः सन्त्युपलब्धितः । कृष्यादौ च त्रसाः सन्ति विख्याता क्षितिमण्डले ॥१४४
नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि हिंसाणुव्रतलक्षणे । सतृणाभ्यवहारित्वं भुञ्जानो द्विरदादिवत् ॥१४५
वच्म्यहं लक्षणं तस्य सावधानतया शृणु । क्षणं प्रमादमुत्सृज्य गर्हितावद्यकारणम् ॥१४६
अणुत्वमल्पीकरणं तच्च गृद्धेरिहार्थतः । यथावद्यस्य हिंसादेर्हृषीकविषयस्य च ॥१४७
कृष्यादयो महारम्भाः क्रूरकर्मार्जनक्षमाः । तत्क्रियानिरतो जीवः कुतो हिंसावकाशवान् ॥१४८
न चाऽऽशङ्क्यं हि कृष्यादिमहारम्भे क्रिया तु या । सत्स्वल्पीकरणं चार्थाद्धिंसाणुव्रतमिष्यते ॥१४९
यतः स्वल्पीकृतोऽप्यत्र महारम्भः प्रवर्तते । महावद्यस्य हेतुत्वात्तद्वान्नाणुव्रती भवेत् ॥१५०

करनेमें भी क्या दोष है क्योंकि जो कारण ऊपर बताये हैं वे सब यहाँ भी मिलते हैं। जिस प्रकार स्थावर जीवोंके आश्रय रहनेवाले त्रस जीवोंकी हिंसाको भी वह बचा नहीं सकता उसी प्रकार खेतीमें होनेवाली त्रस जीवोंकी हिंसाको भी वह बचा नहीं सकता ॥१४१–१४२॥ दूसरी बात यह है कि खेती करनेमें जो त्रस जीवोंकी हिंसा होती है उसके करते समय वह अपनी निन्दा अवश्य करता है अर्थात् उस हिंसाको वह त्याज्य अवश्य मानता है। इसी प्रकार जैसे वहाँ-पर उसके प्रमादका अभाव है, कषायरूप परिणामोंका अभाव है उसी प्रकार खेती करनेमें भी कषायरूप परिणामोंका अभाव है। खेती करनेमें जो त्रस जीवोंकी हिंसा होती है उसको वह कषाय-पूर्वक नहीं करता तथा उनकी रक्षा करनेमें भी वह सावधान रहता है अतएव अणुव्रतीके लिए यदि स्थावर जीवोंके आश्रय रहनेवाले त्रस जीवोंकी हिंसाको निर्दोष कहा जायगा तो खेती करनेमें होनेवाली त्रस जीवोंकी हिंसाको भी निर्दोष कहना पड़ेगा ॥१४३॥ शंकाकार कह रहा है कि कदाचित् तुम यह कहो कि स्थावर जीवोंके आश्रय त्रसजीव रहते ही नहीं है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि जलके आश्रय रहनेवाले त्रस जीव प्रसिद्ध हैं और वे प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। सूक्ष्मदर्शक यन्त्रसे स्पष्ट दिखाई देते हैं तथा छोटी-छोटी मछलियाँ तथा और भी अनेक प्रकारके जलचर जीव इन्द्रियोंसे भी दिखाई देते हैं। इसी प्रकार खेती करनेमें भी पृथ्वी मण्डलमें रहनेवाले अनेक प्रकारके त्रसजीव प्रसिद्ध हैं। गिडोरे गिजाई आदि असंख्यात जीव खेतोंमें उत्पन्न हो जाते हैं इसलिए स्थावर जीवोंके आश्रय त्रस जीवोंका सद्भाव मानना ही पड़ता है तथा खेती करनेमें भी त्रस जीवोंकी हिंसा माननी ही पड़ती है। इस प्रकार पाँच श्लोकोंमें शंकाकारने शंका उपस्थित की है ॥१४४॥ ग्रन्थकार अब उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि शंकाकारकी यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि जिस प्रकार घासके साथ चावलोंको खाता हुआ हाथी चावलोंको नहीं समझता, केवल घासको ही समझता है उसी प्रकार शंका करनेवाला अहिंसा अणुव्रतके लक्षणको नहीं समझता ॥१४५॥ हे शंकाकार, तू अत्यन्त निन्दनीय और पापका कारण ऐसे प्रमादको छोड़कर तथा सावधान होकर क्षणभर सुन। मैं अब अणुव्रतका लक्षण कहता हूँ ॥१४६॥ अणु शब्दका अर्थ घटाना है तथा यहाँपर प्रकरणके वशसे गृद्धता वा लालसाका घटाना लेना चाहिए तथा वह लालसा भी पापकर्मोंकी लालसा, हिंसाकी लालसा और इन्द्रियोंके विषयोंकी लालसा घटानी वा कम करनी चाहिए ॥१४७॥ खेती आदिक व्यापार महा आरम्भ उत्पन्न करनेवाले हैं तथा क्रूर कार्योंसे उपार्जन किये जाते हैं? उन क्रूर कार्योंमें लगा हुआ जीव भला अहिंसा अणुव्रतको किस प्रकार पाल सकता है? ॥१४८॥ यहाँपर यह शंका भी नहीं करनी चाहिए कि खेती आदिके महारम्भोंमें होनेवाली क्रियाओंका कम करना भी अहिंसा अणुव्रत कहलावेगा? क्योंकि खेती

अलं वा बहुनोक्तेन वावदूकतयाप्यलम् । त्रसहिंसाक्रिया त्याज्या हिंसाणुव्रतधारिणा ॥१५१
ननु त्यक्तुमशक्यस्य महारम्भानशेषतः । इच्छतः स्वल्पीकरणं कृष्यादेस्तस्य का गतिः ॥१५२
अस्ति सम्यग्गतिस्तस्य साधु साधीयसी जिनैः । कार्या पुण्यफलाश्लाघ्या क्रियामुत्रेह सौख्यदा ॥१५३
यथाशक्ति महारम्भात्स्वल्पीकरणमुत्तमम् । विलम्बो न क्षणं कार्यो नात्र कार्या विचारणा ॥१५४
हेतुरस्त्यत्र पापस्य कर्मणः संवरोंऽशतः । न्यायागतः प्रवाहश्च न केनापि निवार्यते ॥१५५
साधितं फलवन्न्यायात्प्रमाणितं जिनागमात् । युक्तेः स्वानुभवाच्चापि कर्तव्यं प्रकृतं महत् ॥१५६
तत्रागमो यथा सूत्रादाप्तवाक्यं प्रकीर्तितम् । पूर्वापराविरुद्धं यत्प्रत्यक्षाद्यैरबाधितम् ॥१५७

उक्तं च—

यथार्थदर्शिनः पुंसो यथादृष्टार्थवादिनः । उपदेशः परार्थो यः स इहागम उच्यते ॥३७
आगमः स यथा द्वेधा हिंसादेरपकर्षणम् । यमादेकं द्वितीयं तु नियमादेव केवलात् ॥१५८

आदिमें होनेवाली महारम्भोंकी क्रियाएँ चाहें जितनी कम की जायँ तो भी उनमें महारम्भ ही होते रहते हैं । इसका भी कारण यह है कि खेती करनेका महारम्भ महापापका कारण है इसलिए खेती करनेवाला महारम्भी पुरुष कभी अणुव्रती नहीं हो सकता ॥१४९–१५०॥ बहुत कहनेसे क्या ? अथवा अधिक वाद-विवाद करनेसे या अधिक बोलनेसे क्या ? यह निश्चित सिद्धान्त हैं कि अहिंसा अणुव्रत धारण करनेवालेको त्रस जीवोंकी हिंसा करनेवाली समस्त क्रियाओंका त्याग कर देना चाहिए ॥१५१॥ यहाँपर शंकाकार कहता है कि जो कोई पुरुष खेती आदिके महारम्भोंको पूर्ण रीतिसे त्याग नहीं सकता परन्तु उनको कम करना चाहता है उसके लिए क्या उपाय किया जायगा ॥१५२॥ इसका उत्तर यह है कि खेती आदिके महारम्भोंको कम करनेवाले लोगोंके लिए भी भगवान् जिनेन्द्रदेवने बहुत ही अच्छी गति बतलाई हैं । भगवान् जिनेन्द्रदेवने कहा है कि जो क्रियाएँ पुण्यरूप फलको उत्पन्न करनेवाली हैं और इसीलिए प्रशंसनीय और इस लोक तथा परलोक दोनों लोकोंमें सुख देनेवाली हैं ऐसी क्रियाएँ गृहस्थोंको सदा करते रहना चाहिए ॥१५३॥ अपनी शक्तिके अनुसार खेती आदिके महारम्भोंको कम करना उत्तम कार्य है । ऐसे कार्योंके करनेके लिये देर नहीं करनी चाहिए और न ऐसे उत्तम कार्योंके करनेके लिए कुछ विचार करना चाहिये ॥१५४॥ ऐसे उत्तम कार्योंको अत्यन्त शीघ्र और विना किसी सोच विचारके करनेका कारण भी यह है कि खेती आदिके महा आरम्भ जितने कम कर दिये जायेंगे उतने ही पापकर्मोंके अंशोंका संवर हो जायगा । यह न्यायसे प्राप्त हुआ प्रवाह सदासे चला आ रहा है वह किसीसे निवारण नहीं हो सकता ॥१५५॥ इस प्रकार न्यायसे सिद्ध होता है कि खेती आदि महारम्भोंका कम करना भी सफल वा पुण्यफलको देनेवाला है । यह बात जैनशास्त्रोंसे भी सिद्ध होती है, युक्तिसे भी सिद्ध होती है और अनुभवसे भी सिद्ध होती है अतएव खेती आदिके महारम्भोंको कम करनेरूप जो उत्तम कार्य है वह गृहस्थोंको अवश्य करना चाहिये ॥१५६॥ जो सूत्रोंके द्वारा आप्तवाक्योंका कहना है वही आगम कहलाता है । वह आगम पूर्वापर विरोधसे रहित होता है और प्रत्यक्षादिक प्रमाणोंसे अबाधित होता है ॥१५७॥

कहा भी है—जो पुरुष विशेष या अरहन्तदेव यथार्थ दर्शी हैं, समस्त स्थूल सूक्ष्म पदार्थोंको प्रत्यक्ष देखते हैं तथा जिस प्रकार देखते हैं उसी प्रकार उनका स्वरूप निरूपण करते हैं ऐसे भगवान् अरहन्तदेवका भव्य जीवोंका कल्याण करनेके लिए दिया हुआ जो उपदेश है उसीको आगम कहते हैं ॥३७॥

उस आगममें हिंसादिक पापोंका जो त्याग बतलाया है वह दो प्रकारसे बतलाया है—एक

यमस्तत्र यथा यावज्जीवनं प्रति पालनम् । दैवाद्घोरोपसर्गेऽपि दुःखे वा मरणावधि ॥१५९
यमोऽपि द्विविधो ज्ञेयः प्रथमः प्रतिमान्वितः । अन्यः सामान्‍ त्रत्वात्स्पष्टं तल्लक्षणं यथा ॥१६०
यावज्जीवं त्रसानां हि हिंसादेरपकर्षणम् । सर्वतस्तत्क्रियायाश्चेत्प्रतिमारूपमुच्यते ॥१६१
अथ सामान्यरूपं तद्यदल्पीकरणं मनाक् । यावज्जीवनमप्येतद्दे ो न (तु) सर्वतः ॥१६२

आह कृषीवलः कश्चिद्द्विशतं न च करोम्यहम् ।
शतमात्रं करिष्यामि प्रतिमाऽस्य न कापि सा ॥१६३

नियमोऽपि द्विधा ज्ञेयः सावधिर्जीवनावधिः । त्रसहिंसाक्रियायाश्च यथाशक्त्यपकर्षणम् ॥१६४
सावधिः स्वायुषो यावदर्वागेव व्रतावधिः । उद्ध्वं यथात्मसामर्थ्यं कुर्याद्वा न यथेच्छया ॥१६५
पुनः कुर्यात्पुनस्त्यक्त्वा पुनः कृत्वा पुनस्त्यजेत् । न त्यजेद्वा न कुर्याद्वा कारं कारं करोति च ॥१६६
अस्ति कश्चिद्विशेषोऽपि द्वयोर्यमनियमयोः । नियमो दृक्प्रतिमायां व्रतस्थाने यमो मतः ॥१६७

तो केवल यमरूपसे और दूसरा केवल नियमरूपसे ॥१५८॥ इन यम नियम दोनोंमेंसे जीवनपर्यन्त पालन करना यम है। यदि दैवयोगसे कोई घोर उपसर्ग आ जाय अथवा महादुःख उत्पन्न हो जाय अथवा मरण होने तकका समय आ जाय तो भी उस किये हुए त्यागसे विचलित न होना यम कहलाता है ॥१५९॥ वह यम भी दो प्रकार है—एक प्रतिमारूप और दूसरा सामान्यरूप। इन दोनोंका स्पष्ट लक्षण नीचे लिखे अनुसार है ॥१६०॥ जीवन पर्यंत पूर्णरूपसे त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करना तथा जिन जिन क्रियाओंमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो ऐसी समस्त क्रियाओंका जीवनपर्यन्ततकके लिए त्याग कर देना प्रतिमारूप यम कहलाता है ॥१६१॥ तथा जीवन पर्यन्त त्रस जीवोंकी हिंसाको थोड़ा कम करना और वह भी पूर्णरूपसे नहीं किन्तु एकदेश कम करना सामान्य-रूप यम कहलाता है ॥१६२॥ जैसे कोई किसान जन्मभरके लिए यम-नियम ले कि मैं जो इस समय दो सौ बीघा खेती करता हूँ सो अब न करूँगा। अबसे मैं जन्म भर तक सौ बीघा खेती करूँगा। ऐसे यमरूप त्यागको सामान्य यम कहते हैं। इसमें त्रस जीवोंकी हिंसा कम की गई है, उसका पूर्ण रूपसे त्याग नहीं किया गया है इसलिए वह प्रतिमारूप यम नहीं है किन्तु एकदेश रूपसे कम की गई है इसलिए उसको सामान्य यम कहते हैं ॥१६३॥ इस प्रकार यमके दो भेद बतलाए। अब आगे नियमके भी दो भेद बतलाते हैं। नियम भी दो प्रकार है। जिनमें त्रस जीवों-की हिंसा हो ऐसी क्रियाओंका अपनी शक्तिके अनुसार कालकी मर्यादा लेकर त्याग करना पहला नियम है तथा उन्हीं क्रियाओंका अपनी शक्तिके अनुसार जीवन पर्यन्त त्याग करना दूसरा नियम है ॥१६४॥ अपनी आयुके पहले पहले तक किसी कालकी मर्यादा लेकर किसी व्रतके धारण करने-का नियम करना वह पहला सावधि (अवधि अर्थात् कालकी मर्यादा सहित) नियम कहलाता है। उस व्रतके धारण करनेकी जितने कालकी मर्यादा ली है उतने काल तक तो वह उसको पालन करता ही है। उसके बाद वह उस व्रतको अपनी इच्छानुसार और अपनी सामर्थ्यके अनुसार पालन करता भी है और नहीं भी करता है ॥१६५॥ कालकी मर्यादा लेकर नियम करनेवाला पुरुष उस मर्यादाके पूर्ण होनेपर फिर उस व्रतको करता भी है, करके छोड़ भी देता है, छोड़ करके भी फिर करने लगता है और फिर छोड़ देता है, अथवा फिर उसे नहीं छोड़ता—बराबर करता ही रहता है, अथवा कालकी मर्यादा होनेपर फिर उसे करता ही नहीं, सर्वथा छोड़ देता है अथवा बार बार करता है और फिर करता है ॥१६६॥ इन यम और नियम दोनोंमें विशेषकर यह भेद

अयं भावो व्रतस्थाने या क्रियाऽभिमता सताम् । तां सामान्यतः कुर्वन्सामान्ययम उच्यते ॥१६८
प्रतिमायां क्रियायां तु प्रागेवात्रापि सूचिता । यावज्जीवं हि तां कुर्वन्नियमोऽनवधिः स्मृतः ॥१६९
उक्तं सम्यक् परिज्ञाय गृहस्थो व्रतमाचरेत् । यथाशक्ति यथाकालं यथादेशं यथावयः ॥१७०
त्रसहिंसाक्रियात्यागो यदि कर्तुं न शक्यते । व्रतस्थानाग्रहेणालं दर्शनेनैव पूर्यताम् ॥१७१
व्रतस्थानक्रियां कर्तुमशक्योऽपि यदीप्सति । व्रतंमन्योऽपि संमोहाद् व्रताभासोऽस्ति न व्रती ॥१७२
अलं कोलाहलेनालं कर्तव्याः श्रेयसः क्रियाः । फलमेव हि साध्यं स्यात्सर्वारम्भेण धीमता ॥१७३
त्रसहिंसाक्रियात्यागशब्दः स्याद्उपलक्षणम् । तेन भूकायिकादींश्च निःशङ्कं नोपमर्दयेत् ॥१७४
किन्तु चैकाक्षजीवेषु भूजलादिषु पञ्चसु । अहिंसाव्रतशुद्ध्यर्थं कर्तव्यो यत्नो महान् ॥१७५
त्रसहिंसाक्रियात्यागी महारम्भं परित्यजेत् । नारकाणां गतेर्बीजं नूनं तद्दुःखकारणम् ॥१७६

है कि दर्शनप्रतिमामें तो श्रावक नियमका पालन करता है और व्रत प्रतिमामें यमका पालन करता है ॥१६७॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि व्रत प्रतिमामें सज्जनोंके लिये जो क्रियाएँ बतलाई हैं उनको जो सामान्य रीतिसे या एक देशरूपसे पालन करता है उसको सामान्य यम कहते हैं तथा दर्शनप्रतिमामें जो क्रियाएँ पहले बतलाई हैं उनको जो पुरुष जीवन पर्यन्त पालन करता है उसको अनवधि नियम अथवा जीवनपर्यन्त होनेवाला नियम कहते हैं ॥१६८–१६९॥ ऊपर जो कुछ यम और नियमका स्वरूप बतलाया है उसको अच्छी तरह समझ कर अपनी शक्तिके अनुसार, देशके अनुसार, कालके अनुसार और अपनी आयुके अनुसार गृहस्थोंको व्रत पालन करना चाहिए ॥१७०॥ जो पुरुष जिनमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती है ऐसी क्रियाओंका त्याग नहीं कर सकता उसको पाँचवें गुणस्थानमें आनेकी आवश्यकता नहीं है अर्थात् उसे अणुव्रत धारण नहीं करना चाहिए। उसको चतुर्थ गुणस्थानमें होनेवाली क्रियाएँ ही पूर्ण रीतिसे पालन करनी चाहिए ॥१७१॥ जो पुरुष पाँचवें गुणस्थानमें होनेवाली क्रियाओंका पालन नहीं कर सकता, अर्थात् अणुव्रतोंको धारण नहीं कर सकता, अथवा त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग नहीं कर सकता, अथवा जिनमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो ऐसी क्रियाओंका त्याग नहीं कर सकता, तथापि वह यदि व्रतोंको धारण करना चाहे और अपनेको व्रती मानना चाहे तो भी वह व्रती नहीं हो सकता किन्तु मोहनीय कर्मके उदय होनेसे उसको व्रताभासी अथवा व्रताभासोंको धारण करनेवाला कहते हैं ॥१७२॥ ग्रन्थकार कहते हैं कि व्यर्थके कोलाहल करनेसे कोई लाभ नहीं है। जिन क्रियाओंसे आत्माका कल्याण होता हो ऐसी ही क्रियाएँ श्रावकको करनी चाहिए, क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष जितने आरम्भ या कार्य करते हैं उन सबसे अपने फलकी ही सिद्धि करते हैं ॥१७३॥ "अणुव्रती श्रावकोंको जिनमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो ऐसी समस्त क्रियाओंका त्याग कर देना चाहिये" यह जो कहा गया है वह उपलक्षण है। अतएव त्रस जीवोंकी रक्षा तो करनी ही चाहिये किन्तु पृथ्वीकायिक जलकायिक आदि स्थावरकायिक जीवोंको निःशंक होकर उपमर्दन नहीं करना चाहिये ॥१७४॥ अतएव अहिंसा अणुव्रतको शुद्ध बनाये रखनेके लिये पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक इन पाँचों प्रकारके एकेन्द्रिय स्थावर जीवोंकी रक्षा करनेमें भी सबसे अधिक प्रयत्न करना चाहिये ॥१७५॥ जिनमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती है ऐसी क्रियाओंको त्याग करनेवाले श्रावकको खेती आदिके समान महा आरम्भोंका त्याग कर देना चाहिये, क्योंकि महा आरम्भ करना नरकगतिका कारण है तथा निश्चयसे नरकोंके महा दुःख देनेवाला है ॥१७६॥

उक्तं च—

मिच्छो हु महारंभो निस्सीलो तिव्वलोहसंजुत्तो । निरयाउगं णिवद्धइ पावमयी रुद्दपरिणामो ॥३८

क्रूरं कृष्यादिकं कर्म सर्वतोऽपि न कारयेत् । वाणिज्यार्थं विदेशेषु शकटादि न प्रेषयेत् ॥१७७

क्रयविक्रयवाणिज्ये क्रयेद्वस्तु त्रसोज्झितम् । विक्रयेद्वा तथा वस्तु नूनं सावद्यवर्जितम् ॥१७८

वाणिज्यार्थं न कर्तव्योऽतिकाले धान्यसंग्रहः । घृततैलगुडादीनां भाण्डागारं न कारयेत् ॥१७९

लाक्षालोष्टक्षणक्षारशस्त्रचर्मादिकर्मणाम् । हस्त्यश्ववृषादीनां चतुष्पदानां च यावताम् ॥१८०

द्विपदानां च वाणिज्यं न कुर्याद्व्रतवानिह । महारम्भो भवत्येव पशुपाल्यादिकर्मणि ॥१८१

शुककुर्कुरमार्जारीकपिसिंहमृगादयः । न रक्षणीयाः स्वामित्वे महाहिंसाकरा यतः ॥१८२

इत्यादिकाश्च यावन्त्यः क्रियास्त्रसवघात्मिकाः । कर्तव्यास्त्रसानां ह्यहिंसाणुव्रतधारिभिः ॥१८३

सर्वसागारधर्मेषु देशशब्दोऽनुवर्तते । तेनानगारयोग्यायाः कर्तव्यास्ता अपि क्रियाः ॥१८४

कहा भी है—जो मिथ्यादृष्टि है, महारम्भ करनेवाला है, शीलरहित है, तीव्र लोभके वशीभूत है, पापरूप क्रियाओंको करनेवाला है और रौद्रपरिणामी है वह नरक आयुका बन्ध करता है ॥३८॥

अणुव्रती श्रावकोंको परिणामोंमें क्रूरता उत्पन्न करनेवाले खेती आदिके कार्य पूर्ण रूपसे छोड़ देना चाहिये तथा व्यापार करनेके लिए (किसी मालको भेजने वा मँगानेके लिए) विदेशोंको गाड़ी आदि नहीं भेजने चाहिये ॥१७७॥ यदि किन्हीं पदार्थोंके खरीदने या बेचनेका व्यापार करना हो तो ऐसे पदार्थोंको खरीदना चाहिये जिनमें त्रस जीव न हों तथा जिनके खरीदनेमें बहुत सा पापकार्य न हो। इसी प्रकार ऐसे ही पदार्थ वेचने चाहिये जिनमें त्रस जीव न हों और जिनके वेचनेमें अधिक पाप न हो ॥१७८॥ व्यापार करनेके लिये गेहूँ जौ आदि धान्योंका संग्रह बहुत दिन तक नहीं करना चाहिये, इसी प्रकार गुड़ तैल और घी आदि पदार्थोंका भंडार भी नहीं रखना चाहिये ॥१७९॥ लाख, गूगुल, नील, लोहा, खार, शस्त्र, चमड़ा आदिका व्यापार नहीं करना चाहिये तथा इसी प्रकार हाथी घोड़ा वैल आदि पशुओंका व्यापार भी नहीं करना चाहिये ॥१८०॥ अणुव्रती श्रावकोंको दास दासी आदिका व्यापार भी नहीं करना चाहिये तथा पशुओंके पालनेका व्यापार भी नही करना चाहिये, क्योंकि पशुओंके पालन करने आदिमें भी महा आरम्भ होता है ॥१८१॥ तोते, कुत्ते, विल्ली, वन्दर, सिंह, हिरण आदि पशुओंको भी नहीं पालना चाहिए क्योंकि ये सव पशु या जानवर महा हिंसा करनेवाले हैं। जो श्रावक इन पशुओंको पालकर इनका स्वामी वनता है वह भी इनकी हिंसाके सम्वन्धसे महा हिंसक कहलाता है ॥१८२॥ त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करनेवाले अहिंसाणुव्रती श्रावकोंको ऊपर लिखी क्रियाओंके समान त्रस जीवोंकी हिंसा करनेवाली समस्त क्रियाओंका त्याग कर देना चाहिए ॥१८३॥ अहिंसा अणुव्रतीके कर्तव्य ऊपर दिखला चुके हैं। इनके सिवाय इतना और समझ लेना चाहिये कि गृहस्थोंके धर्ममें देश शब्द लगा हुआ है अर्थात् गृहस्थोंका धर्म एकदेश धर्म है और मुनियोंका धर्म सर्वदेश या पूर्ण धर्म है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि मुनियोंका जो धर्म है उसीको एकदेशरूपसे पालन करना गृहस्थोंका धर्म है अतएव अणुव्रती श्रावकोंको मुनियोंके करने योग्य क्रियाओंमेंसे जो जो क्रियाएँ गृहस्थ पालन कर सकते हैं, अथवा उन क्रियाओंके जितने अंशोंको पालन कर सकते हैं, उतनी क्रियाओंको अथवा उन क्रियाओंके उतने अंशोंको अवश्य पालन करना चाहिए ॥१८४॥ आगे उन्हीं क्रियाओंको वतलाते

यथा समितयः सन्ति तिस्रश्च गुप्तयः। अहिंसाव्रतरक्षार्थं कर्तव्या देशतोऽपि तैः ॥१८५
उक्तं तत्त्वार्थसूत्रेषु यत्तत्रावसरे यथा। व्रतस्थैर्याय कर्तव्या भावना पञ्च पञ्च च ॥१८६

तत्सूत्रं यथा—

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥३९

तत्रापि हिंसात्यागव्रतरक्षार्थं वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ॥४०
न चाऽऽशङ्क्यमिमाः पञ्च भावना मुनिगोचराः। न पुनर्भावनीयास्ता देशतो व्रतधारिभिः ॥१८७
यतोऽत्र देशशब्दो हि सामान्यादनुवर्तते। ततोऽणुव्रतसंज्ञेषु व्रतत्वान्नाव्यापको भवेत् ॥१८८
अलं विकल्प-संकल्पैः कर्तव्या भावना इमाः। अहिंसाव्रतरक्षार्थं देशतोऽणुव्रतादिवत् ॥१८९
तत्र वाग्गुप्तिरित्युक्ता त्रसबाधाकरं वचः। न वक्तव्यं प्रमादाद्वा वध-बन्धादिसूचकम् ॥१९०
अवश्यम्भाविकार्येऽपि वक्तव्यं सकृदेव तत्। धर्मकार्येषु वक्तव्यं यद्वा मौनं समाश्रयेत् ॥१९१

हैं। जिस प्रकार पाँचों महाव्रतोंका पालन करना मुनियोंका कर्तव्य है उसी प्रकार पाँच समिति और तीन गुप्तियोंका पालन करना भी मुनियोंका कर्तव्य है अतएव अणुव्रती श्रावक जिस प्रकार पाँचों व्रतोंको एकदेशरूपसे पालन करता है उसी प्रकार अहिंसाणुव्रतकी रक्षा करनेके लिये श्रावकोंको एकदेशरूपसे समिति और गुप्तियोंका पालन अवश्य करना चाहिये ॥१८५॥ अहिंसा अणुव्रतका स्वरूप कहते समय तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है कि व्रतोंको स्थिर रखनेके लिये प्रत्येक व्रतकी पाँच पाँच भावना करनी चाहिये ॥१८६॥

तत्त्वार्थसूत्रका वह सूत्र यह है। उन व्रतोंको स्थिर रखनेके लिए प्रत्येक व्रतकी पाँच पाँच भावनाएँ हैं। उसमें भी अहिंसाणुव्रतकी रक्षा करनेके लिए ये पाँच भावनाएँ हैं—वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपानभोजन ये पाँच अहिंसाणुव्रतकी भावनाएँ हैं ॥३९–४०॥

आगे संक्षेपसे इन्हीं भावनाओंका निरूपण करते हैं—कदाचित् यहाँपर कोई यह कहे कि इन भावनाओंका पालन करना मुनियोंका ही कर्तव्य है, एकदेशव्रतको धारण करनेवाले अणुव्रती श्रावकोंको इन भावनाओंके पालन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, परन्तु यहाँपर ऐसी शंका करना सर्वथा अनुचित है, कभी नहीं करनी चाहिये क्योंकि गृहस्थोंके व्रतोंमें एकदेश शब्द सामान्य रीतिसे चला आ रहा है इसीलिए वह एकदेश शब्द अणुव्रतोंमें भी व्यापक नहीं है अर्थात् अव्यापक है क्योंकि अणुव्रत भी व्रत है ॥१८७–१८८॥ इस विषयमें अनेक संकल्प-विकल्प उठाने से कोई लाभ नहीं है। यह निश्चित सिद्धान्त है कि श्रावक जिस प्रकार अहिंसाव्रतकी रक्षा करने के लिए व्रतोंका एकदेश रूपसे वा अणुव्रत रूपसे पालन करता है उसी प्रकार उसको उसी अहिंसा-व्रतकी रक्षा करनेके लिए इन भावनाओंका पालन करना चाहिये ॥१८९॥ अब आगे इन पाँचों भावनाओंमेंसे वचन गुप्तिका स्वरूप कहते हैं। वचनयोगको अपने वशमें रखना वचनगुप्ति है। गृहस्थ उसको पूर्णरूपसे पालन नहीं कर सकता इसलिए उसे ऐसे वचन नहीं कहने चाहिये जिससे त्रस जीवोंको बाधा पहुँचे, अथवा प्रमादसे ऐसे वचन भी नहीं कहने चाहिये जो त्रस जीवोंके वध बन्धन आदिको सूचित करनेवाले हों ॥१९०॥ जो कार्य अवश्य करने पड़ेंगे उनके लिए एक वार कहना चाहिये। यह नियम रखना चाहिये कि धर्म कार्योंमें तो सदा कहना वा बोलना चाहिये। धर्म कार्योंके सिवाय बाकीके कार्योंमें मौन धारण करना चाहिये ॥१९१॥ आगे गृहस्थोंके लिए

मनोगुप्तिर्यथानाम त्रसच्छेदे न चिन्तयेत् । समुत्पन्नेऽपि तत्कार्ये जने वा सापराधिनि ॥१९२
सङ्ग्रामादिविधौ चिन्तां न कुर्यान्नैष्ठिको व्रती । अव्रती पाक्षिकीः कुर्याद्दैवयोगात्कदाचन ॥१९३
नैष्ठिकोऽपि यदा क्रोधान्मोहाद्वा सङ्गरमा[illegible]म् । कुर्यात्तावति काले स भवेदात्मव्रताच्च्युतः ॥१९४
त्रसहिंसाक्रियायां वा नाऽपि व्यापारेयन्मनः । मोहाद्वापि प्रमादाद्वा स्वामिकार्ये कृतेऽपि वा ॥१९५
वीतरागोक्तधर्मेषु हिंसावद्यं न वर्तते । रूढिधर्मादिकार्येषु न कुर्यात्त्रसहिंसनम् ॥१९६
रूढिधर्मे निषिद्धा चेत्कामार्थयोस्तु का कथा । मज्जन्ति द्विरदा यत्र मशका[illegible]त्र किं पुनः ॥१९७
हृषीकार्थादिदुर्ध्यानं वञ्चनार्थं स नैष्ठिकः । चिन्तयेत्परमात्मानं स्वं शुद्धं चिन्मयं महः ॥१९८
यद्वा पञ्चपरमेष्ठिस्वरूपं चिन्तयेन्मुहुः । यद्वा त्रैलोक्यसंस्थानं जीवांस्तद्वर्तिनोऽथवा ॥१९९
जगत्कायस्वभावौ वा चिन्तयेत्तन्मुहुर्मुहुः । द्वादशात्राऽप्यनुप्रेक्षाः धारयेन्मनसि ध्रुवम् ॥२००
यद्वा दृष्टिचरानत्र जिनविम्बांश्च चिन्तयेत् । मुनीन् देवालयांश्चापि तत्पूजादिविधीनपि ॥२०१

एकदेश मनोगुप्तिका स्वरूप वतलाते हैं। यदि किसी त्रस जीवके छेदन भेदन करनेका कार्य आ पड़े अथवा कोई अपराधी जीव सामने आ जाय तो भी अणुव्रती श्रावकको त्रस जीवोंके छेदन भेदन करनेके लिए कभी चिन्तवन नहीं करना चाहिये ॥१९२॥ व्रतोंको धारण करनेवाले नैष्ठिक श्रावकको युद्ध आदिका चिन्तवन कभी नहीं करना चाहिये। जो अव्रती पाक्षिक श्रावक हैं वे दैवयोगसे कभी कभी युद्धादिकका चिन्तवन करते हैं ॥१९३॥ यदि कोई व्रतोंको करनेवाला नैष्ठिक श्रावक तीव्र क्रोधके उदयसे अथवा मोहनीय कर्मके उदयसे युद्ध करनेमें लग जाय तो वह जितने कालतक युद्ध करता है उतने कालतक अपने व्रतोंसे रहित हो जाता है ॥१९४॥ इसी प्रकार अणुव्रती श्रावकको मोहसे अथवा प्रमादसे त्रस जीवोंकी हिंसा करनेवाली क्रियाओंमें अपना मन कभी नहीं लगाना चाहिये। यदि ऐसा कोई कार्य अपना न हो किन्तु अपने स्वामीका हो तो उस अपने स्वामीके ऐसे त्रस जीवोंकी हिंसा करनेवाले कार्योंमें भी व्रती श्रावकको अपना मन नहीं लगाना चाहिये ॥१९५॥ यह निश्चित सिद्धान्त है कि वीतराग सर्वज्ञदेव भगवान् अरहन्तदेवके कहे हुए धर्ममें तो हिंसा करनेवाले पाप कार्य हैं ही नहीं तथा जो रूढ़िसे माने हुए धार्मिक कार्य हैं उनके लिए भी अणुव्रती श्रावकोंको कभी भी त्रस जीवोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिये ॥१९६॥ अणुव्रती श्रावकोंको यह स्वयं ही समझ लेना चाहिये कि जव रूढिसे माने गये धार्मिक कार्योंमें ही त्रस जीवोंकी हिंसाका निषेध किया गया है तो फिर अर्थ और काम पुरुषार्थके लिए तो कहना ही क्या है क्योंकि जहाँपर वड़े बड़े हाथी डूव जाते हैं वहाँपर मच्छरोंकी तो वात ही क्या है ॥१९७॥ इन्द्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न हुए आर्तध्यान या रौद्रध्यानोंसे बचनेके लिए, अथवा किसी भी प्रकारके अशुभ ध्यानसे वचनेके लिए व्रतोंको धारण करनेवाले नैष्ठिक श्रावकको सदा परमात्माका चिन्तवन करते रहना चाहिये अथवा शुद्ध चैतन्यस्वरूप और देदीप्यमान अपने आत्माका चिन्तवन करना चाहिये ॥१९८॥ अथवा अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व-साधु इन पाँचों परमेष्ठियोंके स्वरूपका बार वार चिन्तवन करते रहना चाहिये, अथवा तीनों लोकोंके आकारका तथा तीनों लोकोंमें भरे हुए जीवोंके स्वरूपका चिन्तवन करते रहना चाहिये ॥१९९॥ अथवा जगत् और कायके स्वभावका चिन्तवन वार वार करते रहना चाहिये। तथा अणुव्रती श्रावकको अपने मनमें वारह अनुप्रेक्षाओंका चिन्तवन करते रहना चाहिये ॥२००॥ अथवा जहाँ जहाँ पर भगवान् जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाओंके दर्शन किये हों उन सवका चिन्तवन

इत्याद्यालम्बनांश्चित्ते भावयेद् भावशुद्धये । न भावयेत्कदाचिद्वै त्रसहिंसां क्रियां प्रति ॥२०२
उक्ता वाग्गुप्तिरत्रैव मनोगुप्तिस्तथैव च । अधुना कायगुप्तेश्च भेदान् गृह्णाति सूत्रवित् ॥२०३
तत्रेर्यादाननिःक्षेपभावनाः कायसंश्रिताः । भावनीयाः सदाचारैराजवंजवविच्छिदे ॥२०४
अत्रेर्यावचनं यावद्धर्मोपकरणं मतम् । तस्याऽऽदानं च निक्षेपः समासात्तत्तथा स्मृतः ॥२०५
अस्यार्थो मुनिसापेक्षः पिच्छिका च कमण्डलुः । त्रसरक्षाव्रतापेक्षः पूजोपकरणानि च ॥२०६
घण्टाचामरदीपाम्भःपरछत्रध्वजादिकान् । स्नानाद्यर्थं जलादींश्च धौतवस्त्रादिकानपि ॥२०७
देशनावसरे शास्त्रं दानकाले तु भोजनम् । काष्ठपट्टादिकं शुद्धं काले सामायिकेऽपि च ॥२०८
इत्याद्यनेकभेदानि धर्मोपकरणानि च । निष्प्रमादतया तत्र कार्यो यत्नो बुधैर्यथा ॥२०९
दृग्भ्यां सम्यग्निरीक्ष्यादौ यत्नतः प्रतिलेखयेत् । समादाय ततस्तत्र कार्ये व्यापारयत्यपि ॥२१०

करना चाहिये, अथवा जिन जिन मुनियोंके दर्शन किये हुए हों उनका चिन्तवन करना चाहिये, जिन जिन जिनालयोंके दर्शन किये हों उन जिनालयोंका चिन्तवन करना चाहिये तथा भगवान् जिनेन्द्रदेवके अभिषेककी विधि या पूजाकी विधि आदिका चिन्तवन करना चाहिये ॥२०१॥ अपने परिणामोंको शुद्ध रखनेके लिए इस प्रकार ऊपर लिखे हुए परिणामोंको निर्मल रखनेके जितने साधन हैं उन सबका चिन्तवन करते रहना चाहिये, परन्तु जिनमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो ऐसी क्रियाओंका चिन्तवन कभी नहीं करना चाहिये ॥२०२॥ इस प्रकार ऊपर लिखे अनुसार वचनगुप्ति और मनोगुप्तिका स्वरूप बतलाया, अब आगे जैनसूत्रोंके जाननेवाले विद्वान् कायगुप्तिके भेदोंको इस प्रकार ग्रहण करते हैं ॥२०३॥ ईर्या आदाननिक्षेपण भावनाएं शरीरके आश्रित हैं अतएव संसारके दुःखोंको नाश करनेके लिए अणुव्रत आदि सदाचरणोंको पालन करनेवाले श्रावकोंको इन भावनाओंका पालन अवश्य करना चाहिये ॥२०४॥ यहाँपर ईर्या शब्दका अर्थ धर्मोपकरण है तथा आदान शब्दका अर्थ ग्रहण करना और निक्षेप शब्दका अर्थ रखना है। उन धर्मोपकरणोंका ग्रहण करना तथा रखना सो संक्षेपसे ईर्यादान निक्षेप भावना कहलाती है ॥२०५॥ इसका भी अर्थ यह है कि मुनियोंके धर्मोपकरण पीछी और कमण्डलु हैं तथा त्रस जीवोंकी रक्षा करने रूप अणुव्रतोंको धारण करनेवाले श्रावकोंके धर्मोपकरण पूजाके उपकरण हैं अर्थात् पूजाकी सामग्री, वर्तन, स्थान, पुस्तक आदि पूजा करनेमें जो जो पदार्थ काममें आते हैं वे सब पूजाके उपकरण कहलाते हैं ॥२०६॥ इनके सिवाय घंटा, चमर, दीपक, जल, छत्र, ध्वजा, स्नान करनेका जल और धुले हुए वस्त्र आदि भी सब पूजामें काम आते हैं इसलिए ये सब भी पूजाके उपकरण कहलाते हैं ॥२०७॥ जो श्रावक धर्मोपदेश देता है उस समय उसका उपकरण शास्त्र है, जिस समय वह दान देता है उस समय बना हुआ तैयार भोजन भी उसका धर्मोपकरण है तथा सामायिकके समय बैठनेका आसन वा काठका पाटा आदि धर्मोपकरण है। अभिप्राय यह है कि धार्मिक क्रियाओंमें जो जो पदार्थ काम आते हैं वे सब धर्मोपकरण कहलाते हैं ॥२०८॥ इस प्रकार श्रावकोंके धर्मोपकरणोंके अनेक भेद हैं। बुद्धिमानोंको इन सब कार्योंमें सब तरहका प्रमाद छोड़ कर यत्न वा यत्नाचार करना चाहिये। वह यत्नाचार किस प्रकारका करना चाहिये इसी बातको आगे दिखलाते हैं ॥२०९॥ सबसे पहले उन पदार्थोंको नेत्रोंसे अच्छी तरह देख लेना चाहिये, फिर यत्नाचारपूर्वक उसको कोमल वस्त्रसे झाड़ पोंछ लेना चाहिये और फिर उसको वहाँसे उठाना चाहिये। इस प्रकार उस धर्मोपकरणको उठाकर फिर उसको जिस कार्यमें लगाना हो उस कार्यमें लगाना चाहिये। उस धर्मोपकरणसे कार्य लेते समय भी किसी जीवका घात न हो जाय, इस

दृष्टिपूतं यथाऽऽदानं निक्षेपोऽपि यथा स्मृतः । दृष्ट्वा स्थानादिकं शुद्धं तत्र तानि विनिक्षिपेत् ॥२११
इतः समितयः पञ्च वक्ष्यन्ते नातिविस्तरात् । ग्रन्थगौरवतोऽप्यत्र नोक्तास्ताः संयतोचिताः ॥२१२
संयतासंयतस्यास्य प्रोक्तस्य गृहमेधिनः । समितयो या योग्याः स्युर्वक्ष्यन्ते ताः क्रमादपि ॥२१३
ईर्यासमितिरप्यस्ति कर्तव्या गृहमेधिना । अत्रेर्याशब्दो वाच्योऽस्ति मार्गोऽयं गतिगोचरः ॥२१४
दृष्ट्वा दृष्ट्वा शनैः सम्यग्युगदघ्नां धरां पुरः । निष्प्रमादो गृही गच्छेदीर्यासमितिरुच्यते ॥२१५
किञ्च तत्र विवेकोऽस्ति विधेयस्त्रसरक्षकैः । बहुत्रसाकुले मार्गे न गन्तव्यं कदाचन ॥२१६
तत्र विचार्या प्रागेव देशकालगतिर्यथा । प्रष्टव्याः साधवो यद्वा तत्तन्मार्गावलोकिनः ॥२१७
निश्चित्य प्रासुकं मार्गं बहुत्रसैरनाश्रितम् । ईर्यासमितिसंशुद्धस्तत्र गच्छेन्न चान्यथा ॥२१८
गच्छंस्तत्रापि दैवाच्चेत्पुरोमार्गस्त्रसाकुलः । तदा व्याघुट्टनं कुर्यात्कुर्याद्वा वीरकर्म तत् ॥२१९
वीरकर्म यथा तत्र पर्यङ्काद्यासनेन वा । कायोत्सर्गेण वा तिष्ठेद्योगिवद्योगमार्गवित् ॥२२०

बातका ध्यान रखना चाहिये ॥२१०॥ जिस प्रकार उस पदार्थको नेत्रोंसे देखकर उठाया था उसी प्रकार नेत्रोंसे देखकर तथा कोमल वस्त्रसे झाड़कर शोधकर उस पदार्थको रखना चाहिये, तथा रखते समय जिस स्थानपर रखना हो उस स्थानको भी नेत्रोंसे देख लेना चाहिये, तथा कोमल वस्त्रसे झाड़कर शुद्ध कर लेना चाहिये। इस प्रकार स्थान और पदार्थ दोनोंको देख-शोधकर तब उस पदार्थको रखना चाहिये, इस प्रकार संक्षेपसे श्रावकोंके पालन करने योग्य कायगुप्तिका स्वरूप कहा ॥२११॥ अब आगे संक्षेपसे पाँचों समितियोंका स्वरूप कहते हैं। यहाँपर केवल अणुव्रती श्रावकोंके पालन करने योग्य समितियोंका स्वरूप कहते हैं। ग्रन्थ बढ़ जानेके डरसे मुनियोंके पालन करने योग्य समितियोंका स्वरूप इस ग्रन्थमें नहीं कहा है ॥२१२॥ ऊपर जिस अणुव्रती श्रावककी क्रियाओंका वर्णन करते चले आ रहे हैं ऐसे संयतासंयत गृहस्थके पालन करने योग्य जो समितियाँ हैं उन्हींको यहाँपर क्रमसे कहते हैं ॥२१३॥ पाँचों समितियोंमें पहली ईर्यासमिति है वह भी अणुव्रती श्रावकको पालन करनी चाहिये। यहाँपर ईर्या शब्दका अर्थ मार्गमें गमन करना है ॥२१४॥ गृहस्थोंको आगेकी चार हाथ जमीन देखकर तथा प्रमादको छोड़कर धीरे-धीरे अच्छी तरह बार-बार देखते हुए गमन करना चाहिये, इसीको ईर्यासमिति कहते हैं ॥२१५॥ इसमें भी त्रस जीवोंकी रक्षा करनेवाले श्रावकोंको बहुत-सा विचार करना चाहिये और वह विचार यह है कि श्रावकोंको ऐसे मार्गमें कभी भी गमन नहीं करना चाहिये जिसमें बहुत-से त्रसजीव भरे हों ॥२१६॥ देश और कालकी गतिके अनुसार उसका विचार पहलेसे ही कर लेना चाहिये अथवा उस मार्गको देखनेवाले सज्जन लोगोंसे पूछ लेना चाहिये ॥२१७॥ गमन करनेके पहले यह निश्चय कर लेना चाहिये कि जिस मार्गसे जाना है वह प्रासुक है या नहीं, अथवा वह अनेक त्रस जीवोंसे रहित है या नहीं जब वह मार्ग प्रासुक वा जीव जन्तुओंसे रहित हो तथा उसमें त्रस जीवोंका आश्रय न हो तब ईर्यासमितिसे उस मार्गको शोधते हुए गमन करना चाहिए। यदि ऐसा मार्ग न हो तो उस मार्गसे कभी गमन नहीं करना चाहिये ॥२१८॥ जिस मार्गका प्रासुक होने तथा त्रस जीवोंसे रहित होनेका निश्चय हो चुका है उस मार्गमें गमन करते हुए यदि दैवयोगसे आगेका मार्ग त्रस जीवोंसे भरा हुआ हो तो वहाँसे लौट आना चाहिये, अथवा वहींपर बैठकर वीरकर्म करना चाहिये ॥२१९॥ आगे वीरकर्मका स्वरूप कहते हैं—योगकी विधिको जाननेवाला जो श्रावक योगियोंके समान पर्यंकासनसे अथवा कायोत्सर्गसे एक स्थानपर विराजमान होता है उसको

यावत्तस्योपसर्गस्य निवृत्तिर्वा वपुःक्षतिः । यद्वावधि यथाकालं नीत्वाऽस्तीतस्ततो गतिः ॥२२१
सर्वारम्भेण तात्पर्यं प्रत्यक्षात्त्रससङ्कुले । मार्गे पादौ न क्षेप्तव्यौ व्रतिनां मरणावधि ॥२२२
किञ्च रजन्यां गमनं न कर्तव्यं दीर्घेऽध्वनि । दृष्टिचरे शुद्धे स्वल्पे न निषिद्धा मार्गे गतिः ॥२२३
अश्वाद्यारोहणं मार्गे न कार्यं व्रतधारिणा । ईर्यासमितिसंशुद्धिः कुतः स्यात्तत्र कर्मणि ॥२२४
इतीर्यासमितिः प्रोक्ता संक्षेपाद् व्रतधारिणः । यद्वोपासकाध्ययनात् ज्ञातव्यातीतविस्तरात् ॥२२५
अप्यस्ति भाषासमितिः कर्तव्या सद्मवासिभिः । अवश्यं देशमात्रत्वात्सर्वथा मुनिकुञ्जरैः ॥२२६
वचो धर्माश्रितं वाच्यं वरं मौनमथाऽऽश्रयेत् । हिंसाश्रितं न तद्वाच्यं भाषासमितिरिष्यते ॥२२७
इति संक्षेपतस्तस्या लक्षणं चात्र सूचितम् । मृषात्यागव्रताख्याने वक्ष्यामीषत्सविस्तरात् ॥२२८
एषणासमितिः कार्या श्रावकैर्धर्मवेदिभिः । यथा सागारधर्मस्य स्थितिर्मुनिव्रतस्य च ॥२२९
यतो व्रतसमूहस्य शरीरं मूलसाधनम् । आहारस्तस्य मूलं स्यादेषणासमितावसौ ॥२३०

वीरकर्म कहते हैं। इस वीरकर्ममें उस श्रावकको जबतक वह उपसर्ग दूर न हो जाय, अथवा जबतक अपना शरीर नाश न हो जाय तबतक वहींपर विराजमान रहना पड़ता है, अथवा जबतक उसकी मर्यादाका समय पूरा हो जाय अथवा इधर-उधरसे जानेका मार्ग हो जाय, तबतक उसको वहीं रहना पड़ता है ॥२२०–२२१॥ इस समस्त कथन कहनेका अभिप्राय यह है कि जो मार्ग प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले त्रस जीवोंसे भरा हो उस मार्गमें अणुव्रती श्रावकको मरनेका समय आनेपर भी अपने पैर नहीं रखने चाहिये ॥२२२॥ इसी प्रकार अणुव्रती श्रावकको किसी लम्बे मार्गमें रातको नहीं चलना चाहिये परन्तु जो मार्ग नेत्रोंसे देखा हुआ है, शुद्ध है और छोटा है उस मार्गमें रातमें चलनेका निषेध नहीं है ॥२२३॥ अणुव्रती श्रावकको घोड़े गाड़ी आदिकी सवारीपर चढ़कर भी मार्गमें नहीं चलना चाहिये, क्योंकि घोड़े आदिकी सवारीपर चढ़कर चलनेमें उसके ईर्यासमितिकी शुद्धि किस प्रकार हो सकती है ॥२२४॥ इस प्रकार अणुव्रती श्रावकोंके पालन करने योग्य ईर्यासमितिका स्वरूप अत्यन्त संक्षेपसे बतलाया। इसका विशेष स्वरूप या विस्तारपूर्वक स्वरूप उपासकाध्ययनोंसे या श्रावकाचारोंसे जान लेना चाहिये ॥२२५॥ दूसरी समितिका नाम भाषासमिति है। उस भाषासमितिका एकदेश पालन गृहस्थोंको अवश्य करना चाहिये, क्योंकि इसका पूर्ण पालन मुनिराज ही करते हैं ॥२२६॥ अणुव्रती श्रावकोंको धर्मरूप ही वचन कहने चाहिये। यदि धर्मरूप वचन कहते न बने तो फिर मौन धारण करना चाहिए। जिन वचनोंसे हिंसा होना सम्भव हो, अथवा जो वचन हिंसात्मक हों ऐसे वचन श्रावकोंको कभी नहीं कहने चाहिये। हिंसात्मक वचन कहनेका त्याग करना और धर्मरूप वचन कहना ही श्रावकोंके लिये भाषासमिति कही जाती है ॥२२७॥ इस प्रकार यहाँपर संक्षेपसे भाषासमितिका स्वरूप कहा है। इसका थोड़ा-सा विशेष स्वरूप अथवा थोड़े-से विस्तारके साथ इसका स्वरूप आगे सत्याणुव्रतका स्वरूप करते समय कहेंगे ॥२२८॥

तीसरी समितिका नाम एषणासमिति है। धर्मके स्वरूपको जाननेवाले श्रावकोंको इस एषणासमितिका पालन भी अवश्य करना चाहिये क्योंकि गृहस्थ धर्मकी स्थिति और मुनियोंके व्रतोंकी स्थिति इस एषणा समितिपर ही निर्भर है ॥२२९॥ गृहस्थोंको एषणासमितिका पालन करना अत्यावश्यक है, क्योंकि व्रतोंके समूहको पालन करनेका मूल साधन शरीर है। यदि शरीर न हो तो कोई किसी प्रकारका तप वा व्रत पालन नहीं हो सकता तथा शरीरका मूल साधन आहार

एषणासमितिर्नाम्ना संक्षेपाल्लक्षणादपि । आहारशुद्धिराख्याता सर्वव्रतविशुद्धये ॥२३१
उक्तमांसाद्यतीचारैर्वर्जितो योऽशनादिकः । स एव शुद्धो नान्यस्तु मांसातीचारसंयुतः ॥२३२
सोऽपि शुद्धो यथाभक्तं यथाकालं यथाविधिः । अन्यथा शुद्धोऽपि स्यादशुद्धवदेनकृत् ॥२३३
काले पूर्वाह्णके यावत्परतो पराह्णेऽपि च । यामस्यार्द्धं न भोक्तव्यं निशायां चापि दुर्दिने ॥२३४
याममध्ये न भोक्तव्यं यामयुग्मं न लङ्घयेत् । आहारस्यास्त्ययं कालो नौषधादेर्जलस्य वा ॥२३५
सङ्ग्रामादिदिने हिंस्रे चन्द्रसूर्याद्युपग्रहे । अन्यत्राप्यवयोगेषु भोजनं नैव कारयेत् ॥२३६
उच्यते विधिरत्रापि भोजयेन्नाशुचिगृहे । तमश्छन्नेऽथ त्रसादिबहुजन्तुसमाश्रिते ॥२३७
जैमनीयादिजीवानां हिंस्राणां दृष्टिगोचरे । अश्वादिपशुसंकीर्णे स्थाने भोज्यं न जातुचित् ॥२३८

है क्योंकि विना आहारके यह शरीर टिक नहीं सकता और उस आहारका प्राप्त होना एषणा समितिके पालनसे ही होता है ॥२३०॥ समस्त व्रतोंको शुद्ध पालन करनेके लिए आहारकी शुद्धि रखना ही एषणासमिति है तथा संक्षेपसे यही एषणासमितिका लक्षण है ॥२३१॥ पहले जो मांस मद्य मधु उदम्बर आदिके अतिचार वतलाए हैं उनसे रहित भोजन करना शुद्ध आहार कहलाता है। जिस भोजनमें मांसादिकके अतिचार लगें वह भोजन कभी शुद्ध नहीं कहला सकता ॥२३२॥ अणुव्रती श्रावकोंको वह शुद्ध और यथायोग्य भोजन भी समयके अनुसार और विधिके अनुसार ग्रहण करना चाहिए। यदि वह भोजन समय और तिथिके अनुसार ग्रहण न किया गया हो तो सव प्रकारसे शुद्ध होनेपर भी वह अशुद्ध और पाप उत्पन्न करनेवाला कहलाता है ॥२३३॥ भोजनका समय दोपहरसे पहले पहले है अथवा दोपहरके वाद दिन ढलेका समय भी भोजनका समय है, अणुव्रती श्रावकोंको सूर्य निकलनेके बाद आधे पहरतक भोजन नहीं करना चाहिये, इसी प्रकार सूर्य अस्त होनेके आधे पहर पहले भोजन कर लेना चाहिये। इसी प्रकार अणुव्रती श्रावकको रातमें सर्वथा भोजन नहीं करना चाहिये तथा जिस दिन पानी वरस रहा हो, काली घटा छायी हो और उस घटाके कारण अन्धेरा-सा हो गया हो उस समय भी भोजन नहीं करना चाहिये ॥२३४॥ अणुव्रती श्रावकोंको प्रायः पहले पहरमें भोजन नहीं करना चाहिये। (क्योंकि वह समय मुनियोंके भोजनका समय नहीं है। मुनिलोग प्रायः दूसरे पहरमें भोजनके लिए निकलते हैं तथा मुनियोंको आहार देकर या उस समयतक पात्रकी प्रतीक्षा कर भोजन करना श्रावकका कर्तव्य है अतएव श्रावकोंको पहले पहरमें भोजन नहीं करना चाहिये।) इसी प्रकार अणुव्रती श्रावकोंको दोपहरका समय उल्लंघन भी नहीं करना चाहिये। यह भोजनका समय वतलाया है, औषधि और जलका समय नहीं वतलाया। अतः वह उन्हें ले सकता है ॥२३५॥ जिस दिन कोई भारी युद्ध हो रहा हो, अथवा जिस दिन अनेक जीवोंकी हिंसा हो रही हो, जिस दिन सूर्यग्रहण या चन्द्रग्रहण पड़ रहा हो तथा इनके सिवाय और भी अशुभयोग जिस दिन हों उस दिन अणुव्रती श्रावकको उचित है कि वह भोजन न करे ॥२३६॥ आगे भोजनकी विधि वतलाते हैं। अपवित्र घरमें कभी भोजन नहीं करना चाहिए। जिस घरमें अन्धेरा हो वहाँपर कभी भोजन नहीं करना चाहिए तथा जिस घरमें या जिस स्थानमें त्रस और स्थावर आदि अनेक प्रकारके वहुतसे जीवोंका समुदाय हो, जहाँपर वहुतसे त्रस या स्थावर जीव भरे हों वहाँपर कभी भोजन नहीं करना चाहिये ॥२३७॥ जहाँपर घोड़े, गाय, वैल आदि पशु वाँधे जाते हों ऐसे संकीर्ण या छोटे स्थानमें भी कभी भोजन नहीं अरना चाहिये, इसी प्रकार जहाँपर यज्ञ आदिमें मारे

अन्तरायाश्च सन्त्यत्र श्रावकाचारगोचराः । अवश्यं पालनीयास्ते त्रसहिंसानिवृत्तये ॥२३९
दर्शनात्स्पर्शनाच्चैव मनसि स्मरणादपि । श्रवणाद् गन्धनाच्चापि रसनादन्तरायकाः ॥२४०
दर्शनात्तद्यथा सार्द्रं मांसमद्यं वसाऽजिनम् । अस्थ्यादि भोजनस्यादौ सद्यो दृष्ट्वा न भोजयेत् ॥२४१
शुष्कचर्मास्थिलोमादिस्पर्शनान्नैव भोजयेत् । मूषकादिपशुस्पर्शात्त्यजेदाहारमञ्जसा ॥२४२
गन्धनान्मद्यगन्धेव पूतिगन्धेव तत्समे । आगते घ्राणमार्गं च नान्नं भुञ्जीत दोषवित् ॥२४३

प्राक् परिसंख्यया त्यक्तं वस्तुजातं रसादिकम् ।
भ्रान्त्या विस्मृतमादाय त्यजेद् भोज्यमसंशयम् ॥२४४

आमगोरससंपृक्तं द्विदलान्नं परित्यजेत् । लालायाः स्पर्शमात्रेण त्वरितं बहुमूर्च्छनात् ॥२४५
भोज्यमध्यादशेषांश्च दृष्ट्वा त्रसकलेवरान् । यद्वा समूलतो रोम दृष्ट्वा ो न भोजयेत् ॥२४६
चर्मतोयादिसम्मिश्रात्सदोषमशनादिकम् । परिज्ञायेङ्गितैः सूक्ष्मैः कुर्यादाहारवर्जनम् ॥२४७

जानेवाले जीव दृष्टिगोचर हो रहे हों वहाँपर भी भोजन नहीं करना चाहिये ॥२३८॥ अणुव्रती श्रावकोंके लिए श्रावकाचारोंमें भोजनके अन्तराय बतलाये हैं। श्रावकोंको त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करनेके लिए उन अन्तरायोंको भी सदा बचाते रहना चाहिये ॥२३९॥ श्रावकोंके लिए भोजनके अन्तराय कई प्रकारके होते हैं। कितने ही अन्तराय देखनेसे होते हैं, कितने ही छूनेसे वा स्पर्श कर लेनेसे होते हैं, कितने ही मनमें स्मरण कर लेने मात्रसे होते हैं, कितने ही सुननेसे होते हैं, कितने ही सूँघनेसे होते हैं और कितने ही अन्तराय चखने वा स्वाद लेनेसे अथवा खाने मात्रसे होते हैं ॥२४०॥ सबसे पहले देखनेके अन्तराय दिखलाते हैं। गीला मांस, मद्य, चर्बी, गीला चमड़ा, गीली हड्डी, रुधिर, पीव आदि पदार्थ यदि भोजन करनेसे पहले दिखाई पड़ जाय तो उसी समय भोजन नहीं करना चाहिये। यदि भोजन करते समय ये पदार्थ दिखाई पड़ जायँ तो उसी समय भोजन नहीं करना चाहिए। यदि भोजन करते समय ये पदार्थ दिखाई पड़ जायँ तो भोजन छोड़ देना चाहिये। मुख शुद्धि कर उठ आना चाहिये। ये देखनेके अन्तराय हैं ॥२४१॥ सूखी हड्डी, सूखा चमड़ा, बाल आदिका स्पर्श हो जानेपर भोजन नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार चूहा, कुत्ता, बिल्ली आदि घातक पशुओंका स्पर्श हो जानेपर शीघ्र ही भोजनका त्याग कर देना चाहिये। ये स्पर्श करनेके अन्तराय हैं ॥२४२॥ भोजनके अन्तराय और दोषोंको जानने-वाले श्रावकोंको मद्यकी दुर्गन्ध आनेपर वा मद्यकी दुर्गन्धके समान दुर्गन्ध आनेपर अथवा और भी अनेक प्रकारकी दुर्गन्धोंके आनेपर भोजनका त्याग कर देना चाहिये। ये सूँघनेके अन्तराय हैं ॥२४३॥ भोगोपभोग पदार्थोंका परिमाण करते समय जिन पदार्थोंका त्याग कर दिया है अथवा जिन रसों का त्याग कर दिया है उनको भूल जानेके कारण अथवा किसी अन्य पदार्थका भ्रम हो जानेके कारण ग्रहण कर ले तथा फिर उसी समय स्मरण आ जाय, अथवा किसी भी तरह मालूम हो जाय तो बिना किसी सन्देहके उस समय भोजन छोड़ देना चाहिये ॥२४४॥ कच्चे दूध दही आदि गोरसमें मिले हुए चना, उड़द, मूँग, रमास आदि जिनके बराबर दो भाग हो जाते हैं (जिनकी दाल बन जाती है) ऐसे अन्नका त्याग कर देना चाहिये, क्योंकि कच्चे गोरसमें मिले हुए चना, उड़द, मूग आदि अन्नोंके खानेसे मुँहकी लारका स्पर्श होते ही उसमें उसी समय अनेक सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं ॥२४५॥ यदि बने हुए भोजनमें किसी भी प्रकारके त्रस जीवोंका कलेवर दिखाई पड़े तो उसे देखते ही भोजन छोड़ देना चाहिये, इसी प्रकार यदि भोजनमें जड़ सहित बाल दिखाई दे तो भी भोजन छोड़ देना चाहिये ॥२४६॥ "यह भोजन चमड़ेके पानीसे बना है

श्रवणाद्धिंसकं शब्दं मारयामीति शब्दवत् । दग्धो मृतः स इत्यादि श्रुत्वा भोज्यं परित्यजेत् ॥२४८
शोकाश्रितं वचः श्रुत्वा मोहाद्वा परिदेवनम् । दीनं भयानकं श्रुत्वा भोजनं त्वरितं त्यजेत् ॥२४९
उपमानोपमेयाभ्यां तदिदं पिशितादि । मनःस्मरणमात्रत्वात्कृत्स्न ादिकं त ेत् ॥२५०
सूतकं पा ं चापि यथोक्तं जैनशासने । एषणाशुद्धिसिद्धयर्थंवर्जयेच्छ्रावकाग्रणीः ॥२५१
एषणासमितिः ख्याता संक्षेपात्सारसंग्रहात् । तत्रान्तराद्विशेषज्ञैर्ज्ञातव्याऽस्ति सुविस्तरात् ॥२५२
अस्ति चादाननिक्षेपस्वरूपा समितिः स्फुटम् । वस्त्राभरणपात्रादिनिखिलोपधिगोचराः २५३
यावन्त्युपकरणानि गृहकर्मोचितानि च । तेषामादाननिक्षेपौ कर्तव्यौ प्रतिलेख्य च ॥२५४
प्रतिष्ठापननाम्नी च विख्याता समितिर्यथा । श्रवद्वपुर्दशद्वारा मलमूत्रादिगोचरा ॥२५५
निश्छिद्रं प्रासुकं स्थानं सर्वदोषविवर्जितम् । दृष्ट्वा प्रमार्ज्य सागारो वर्चोमूत्रादि निक्षिपेत् ॥२५६

या इसमें चमड़ेके वर्तनमें रक्खे हुए घी, दूध, तेल, पानी आदि पदार्थ मिले हुए हैं और इसीलिए यह भोजन अशुद्ध या सदोष हो गया है" ऐसा किसी भी सूक्ष्म इशारेसे या किसी भी सूक्ष्म चेष्टा से मालूम हो जाय तो उसी समय आहार छोड़ देना चाहिये । ये सब चखनेके अन्तराय हैं ॥२४७॥ मैं इसको मारता हूँ इस प्रकारके हिंसक शब्दोंको सुनकर अथवा वह जल गया, मर गया इस प्रकारके हिंसक शब्दोंको सुनकर भोजनका परित्याग कर देना चाहिये । ये सुननेके अन्तराय हैं ॥२४८॥ अथवा शोकसे उत्पन्न होनेवाले वचनोंको सुनकर या किसीके मोहसे अत्यन्त रोनेके शब्द सुनकर अथवा अत्यन्त दीनताके वचन सुनकर या अत्यन्त भयंकर शब्द सुनकर शीघ्र ही भोजन छोड़ देना चाहिये । ये सुननेके अन्तराय हैं ॥२४९॥

"यह भोजन मांसके समान है या रुधिरके समान है अथवा विष्ठाके समान है" इस प्रकार किसी भी उपमेय या उपमानके द्वारा मनमें स्मरण हो आवे तो भी उसी समय समस्त जलपानादि-का त्याग कर देना चाहिए। ("यह भोजन मांसके समान है" इस प्रकारका स्मरण हो आना उपमेयके द्वारा होनेवाला स्मरण कहलाता है तथा "मांस भी ऐसा ही होता है" इस प्रकारका स्मरण होना उपमानके द्वारा होनेवाला स्मरण कहलाता है) ॥२५०॥ अणुव्रतोंको पालन करने-वाले श्रावकोंको अपने भोजनोंकी शुद्धि बनाए रखनेके लिए अथवा एषणासमितिको शुद्ध रीतिसे पालन करनेके लिए जैनशास्त्रोंमें बतलाए हुए सूतक पातकोंका भी त्याग कर देना चाहिये ॥२५१॥ इस प्रकार अत्यन्त संक्षेपसे तथा सबका थोड़ा थोड़ा सार कहकर एषणासमितिका स्वरूप बतलाया। विशेष विद्वानोंको यदि विस्तारके साथ इसका स्वरूप जानना हो तो अन्य शास्त्रोंसे जान लेना चाहिये ॥२५२॥ चौथी समितिका नाम आदाननिक्षेपण समिति है। अणुव्रती श्रावकोंको इसका भी पालन करना चाहिए। वस्त्र, आभरण, वर्तन आदि घरके जितने पदार्थ हैं या जितने पदार्थ घरके काममें आते हैं उन सबको देख-शोध कर उठाना या रखना चाहिये जिससे किसी जीवका घात न हो जाय, इसीको आदाननिक्षेपण समिति कहते हैं ॥२५३–२५४॥ पाँचवों समितिका नाम प्रतिष्ठान समिति या उत्सर्ग समिति है। वह भी अणुव्रती श्रावकोंको पालन करनी चाहिए। इस शरीरके दश द्वार हैं—दो नेत्र, दो कान, दो नाक, एक मुँह, एक गुदा, एक गुह्येन्द्रिय और एक ब्रह्मांड द्वार इस प्रकार दश द्वार हैं। इन दश द्वारोंसे मल मूत्र कफ मैल आदि पदार्थ सदा बहते रहते हैं। उन सब मलोंको तथा विशेषकर मल मूत्रको ऐसे स्थानपर छोड़ना चाहिये जो छिद्र रहित हो, प्रासुक या निर्जीव हो और समस्त दोषोंसे रहित हो ऐसे स्थानको देख कर और शोध कर अणुव्रती श्रावकोंको मल आदि छोड़ना चाहिये जिससे किसी जीवका घात न हो ॥२५५–२५६॥

अस्ति चालोकितपानभोजनाख्याथ पञ्च ताः। भावना भावनीया स्यादहिंसाव्रतहेतवे ॥२५७
शुद्धं शोधितं चापि सिद्धं भक्तादिभोजनम्। सावधानतया भूयो दृष्टिपूतं च भोजयेत् ॥२५८
न चानध्यवसायेन दोषेणानवधानतः। मया दृष्टचरं चैतन्मत्वा भोज्यं न भोजयेत् ॥२५९
तत्र यद्यपि भक्त्यादि शुद्धमस्तीति निश्चितम्। तथापि दोष एव स्यात्प्रमादादिकृतो महान् ॥२६०
सन्ति तत्राप्यतीचाराः पञ्च सूत्रेऽपि लक्षिताः। त्रसहिंसापरित्यागलक्षणेऽणुव्रताह्वये ॥२६१

तत्सूत्रं यथा—

वन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥४१

अत्रोक्तं वधशब्देन ताडनं यष्टिकादिभिः। प्रागेव प्रतिपिद्धत्वात्प्राणिहत्या न श्रेयसी ॥२६२
पशूनां गोमहिष्यादिछागवारणवाजिनाम्। तन्मात्रातिरिक्तां वाधां न कुर्याद्वा कशादिभिः ॥२६३
वन्धो मात्राधिको गाढं दुःखदं शृङ्खलादिभिः। आततायी (?) प्रमादाद्वा न कुर्याच्छ्रावकोत्तमः ॥२६४

इस प्रकार चार भावनाओंका स्वरूप कहा। पाँचवीं भावनाका नाम आलोकितपानभोजन है। आलोकितपानभोजन दिनमें सूर्यके प्रकाशमें देख-शोध कर भोजन करनेको कहते हैं। इसका पालन भी गृहस्थोंको अवश्य करना चाहिये। इस प्रकार पाँचों भावनाओंका स्वरूप कहा। अणुव्रती श्रावकोंको अहिंसाव्रत पालन करनेके लिए इन पाँचों भावनाओंको अच्छी तरह पालन करना चाहिए तथा अच्छी तरह चिंतवन करना चाहिये ॥२५७॥ जो दाल भात आदि भोजन तैयार किया हुआ है वह चाहे शुद्ध हो और खूब अच्छी तरह शोध लिया हो तथापि उसे फिर भी अच्छी तरह देख कर बड़ी सावधानीके साथ भोजन करना चाहिये ॥२५८॥ अपने अज्ञानसे या किसी अन्य दोषसे अथवा असावधानीसे ऐसा कभी नहीं मानना चाहिये कि यह भोजन मेरा देखा हुआ है अथवा मेरा शुद्ध किया है तथा ऐसा मान कर विना देखे शोधे कभी भोजन नहीं करना चाहिये ॥२५९॥ यद्यपि उस भोजनमें यह निश्चित है कि यह भोजन शुद्ध है, इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है तथापि यदि विना देखे-शोधे भोजन किया जायगा तो प्रमाद या अज्ञानसे उत्पन्न हुआ महा दोष लगेगा ॥२६०॥ तत्त्वार्थसूत्रमें त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करने रूप अहिंसा अणुव्रतके पाँच अतिचार वतलाये हैं ॥२६१॥

मारना, वाँधना, छेदना, अधिक वोझा लादना तथा अन्नपानका रोक देना ये पाँच अहिंसा अणुव्रतके अतिचार हैं ॥४१॥

आगे इन्हींका स्वरूप यथाक्रमसे दिखलाते हैं। यहाँपर वध शब्दसे या मारना शब्दसे लकड़ी आदिसे मारना लेना चाहिये। प्राणोंका नाश करना नहीं लेना चाहिये क्योंकि प्राणोंकी हत्या करना तो पहले ही छोड़ा जा चुका है, उसका त्याग पहले ही किया जा चुका है, प्राणोंकी हत्या करना कभी कल्याण करनेवाली नहीं है इसलिये उसका तो सर्वथा त्याग करना वतलाया है और सबसे पहले उसका त्याग वतलाया है। प्राणोंकी हत्याका त्याग करके किसी भी पुरुष या पशुको लकड़ी वेत थप्पड घूँसा आदिसे मारना अतिचार कहलाता है ॥२६२॥ गाय भैंस वकरी हाथी घोड़ा आदि पशुओंको कोड़ा, पैना, लकड़ी आदिसे उनकी शक्तिसे अधिक वाधा नहीं पहुँचाना चाहिये ॥२६३॥ अणुव्रत धारण करनेवाले उत्तम श्रावकोंको अपने क्रूर परिणामोंसे अथवा प्रमादसे गाय भैंस आदि पशुओंको साँकल रस्सी आदिसे इस प्रकार कसकर नहीं वाँधना चाहिये जिससे उनको दुःख पहुँचे अथवा जिस वन्धनको वह सहन न कर सके। उसको दुखदायी

छेदो नासादिछिद्रार्थः काष्ठसूलादिभिः : । तावन्मात्रातिरिक्तं विधेयं प्रतिमान्वितैः ॥२६५
सापराधे मनुष्यादौ कर्णनासादि छेदनम् । न कुर्याद् भूपकल्पोऽपि व्रतवानपि न ॥२६६
भारः काष्ठादिलोष्ठान्नघृततैलजलादिकम् । नेतुं क्षेत्रान्तरे क्षिप्तं मनुजांश्चत्रिकादिषु ॥२६७
य स्यास्ति सामर्थ्यं तावत्तत्रैव निक्षिपेत् । नातिरिक्तं ततः क्वापि निक्षिपेद् व्रतधारकः ॥२६८
दासी-दासादिभृत्यानां वन्धु-मित्रादिप्राणिनाम् । सामर्थ्यातिक्रमः क्वापि कर्तव्यो न विचक्षणैः ॥२६९
अन्नपाननिरोधाख्यो व्रतदोषोऽस्ति पञ्चमः । तिरश्चां वा नराणां वा गोचरः स स्मृतो यथा ॥२७०
नराणां गोमहिष्यादितिरश्चां वा प्रमादतः । तृणाद्यन्नादिपातानां विरोधो व्रतदोषकृत् ॥२७१
वहुप्रलपितेनालं ज्ञेयं तात्पर्यमात्रतः । सा क्रिया नैव कर्तव्या यथा त्रसवधो भवेत् ॥२७२
इत्युक्तमात्रदिग्मात्रं सागारार्हमणु । त्रसहिंसापरित्यागलक्षणं विश्वसाक्षिभिः ॥२७३

इति श्रावकाचारापरनामलाटीसंहितायां त्रसहिंसापरित्यागप्रथमाणुव्रतवर्णनो नाम चतुर्थः सर्गः ॥४॥

कस कर वाँधना अतिचार है ॥२६४॥ प्रतिमा रूप अहिंसा अणुव्रतको पालन करनेवाले श्रावकोंको नाक छेदनेके लिए सुई सूजा या लकड़ी आदिसे जो छेद करना पड़ता है वह भी उतना ही करना चाहिए जितनेसे काम चल जाय, उससे अधिक छेद नहीं करना चाहिये। दुःख देनेवाला अधिक छेद करना अतिचार है ॥२६५॥ यदि कोई राजाके समान व्रती मनुष्य हो तथा उसे अपराधी मनुष्योंको दण्ड देनेका पूर्ण अधिकार हो तो भी उसे अपराधी मनुष्योंके भी नाक कान आदि नहीं काटने चाहिए ॥२६६॥ इसी प्रकार किसी मनुष्य या पशुपर उसकी सामर्थ्यसे अधिक वोझा लादना भी अतिचार है। यदि किसी व्रती श्रावकको काठ, पत्थर, लोहा, अन्न, घी, तेल, जल आदि पदार्थ एक स्थानसे दूसरे स्थानमें ले जाना हो अथवा किसी मनुष्य या स्त्रीको डोलीमें विठाकर दूसरे किसी स्थानमें ले जाना हो तो जिस मनुष्य या पशुकी जितनी सामर्थ्य है उसपर उतना ही वोझ रखना चाहिये, अणुव्रती श्रावकोंको उनकी शक्तिसे अधिक वोझा कभी नहीं रखना चाहिये। अधिक वोझा लादना अहिंसाणुव्रतका चौथा अतिचार है ॥२६७-२६८॥ चतुर श्रावकोंको उचित है कि वे दास दासी आदि नौकर चाकरोंसे अथवा भाई मित्र आदि कुटुम्वीजनोंसे काम लेवें तो उनकी शक्तिसे अधिक काम नहीं लेना चाहिये। उनकी शक्तिका अतिक्रम कभी नहीं करना चाहिये। शक्तिसे अधिक काम लेना या शक्तिसे अधिक वोझा लादना या शक्तिसे अधिक चलाना आदि सव अहिंसाणुव्रतका अतिचार है ॥२६९॥ इस अहिंसाणुव्रतका पाँचवाँ अतिचार अन्न-पान निरोध है वह भी मनुष्य और पशु दोनोंके लिए होता है। भावार्थ—दासी दास भाई वन्धु पुत्र स्त्री आदि अपने आश्रित मनुष्योंको या पशुओंको समयपर भोजन न देना अथवा उनको भूखे प्यासे रखना या कम भोजन देना आदि अहिंसाणुव्रतका पाँचवाँ अतिचार है ॥२७०॥ प्रमादसे दासी दासादिक मनुष्योंको या गाय भैंस आदि पशुओंको भोजन या घास जल आदि खानेपीनेकी सामग्रीको उनको देनेसे रोक देना, न देने देना अहिंसाणुव्रतका अतिचार है ॥२७१॥ वहुत कहनेसे क्या, सवका अभिप्राय यह समझ लेना चाहिये कि अणुव्रत धारण करनेवाले श्रावकोंको ऐसी कोई भी क्रिया नहीं करनी चाहिये जिसमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो ॥२७२॥ इस प्रकार ऊपर जो कुछ कहा गया है, जो जो त्याग वतलाया है, जिन जिन क्रियाओंका निषेध किया है, जिन जिन व्यापारोंका निषेध किया है वह सव गृहस्थोंके द्वारा पालन करने योग्य त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करने रूप अहिंसाणुव्रत है ऐसा भगवान् सर्वज्ञदेवने कहा है ॥२७३॥

इस प्रकार लाटीसंहितामें त्रसहिंसाके त्याग करने रूप अहिंसाणुव्रत नामके प्रथम अणुव्रतको वर्णन करनेवाला यह चौथा सर्ग समाप्त हुआ ॥४॥

पंचम सर्ग

अथ मृषापरित्यागलक्षणं व्रतमुच्यते । सर्वतस्तन्मुनीनां स्याद्देशतो वेश्मवासिनाम् ॥१
ग्राह्या तत्रानुवृत्तिः सा प्राग्वदत्रापि धीधनैः । प्रोक्तमसदभिधानमनृतं सूत्रकारकैः ॥२
दिति हिंसाकरमभिधानं स्याद्भापणम् । शब्दानामनेकार्थत्वाद्गतिश्चार्थानुसारिणी ॥३
नात्रासदिति शब्देन मृषामात्रं समस्यते । साकारमन्त्रभेदादौ सूनृतत्वानुषङ्गतः ॥४
देशतो विरतिस्तत्र सूत्रमित्यनुवर्तते । त्रसबाधाकरं तस्माद्वचो वाच्यं न धीमता ॥५
सत्यमप्यसत्यतां याति क्वचिद्धिंसानुबन्धतः । सर्वतस्तन्न वक्तव्यं यथा चौरादिदर्शनम् ॥६
असत्यं सत्यतां याति कचिज्जीवस्य रक्षणात् । अचक्षुषा मया चोरो न दृष्टोऽस्ति यथाध्वनि ॥७
तत्रासत्यवचस्त्यागव्रतरक्षार्थमेव याः । भावनाः पञ्च सूत्रोक्ताः भावनीया व्रतार्थिभिः ॥८

अब आगे असत्य वचनोंका त्याग कर देना ही जिसका लक्षण है ऐसे सत्याणुव्रतका स्वरूप कहते हैं, यह सत्यव्रत पूर्ण रूपसे तो मुनियोंके होता है तथा एकदेश रूपसे गृहस्थोंके होता है ।।१।। बुद्धिमानोंको अहिंसाणुव्रतमें कहे हुए समस्त कथनकी अनुवृत्ति इस सत्याणुव्रतमें भी ग्रहण करनी चाहिये । सूत्रकारने कहा है "असदभिधानमनृतम्" अर्थात् प्रमादके योगसे असत्य वचन कहना अनृत या झूठ है ।।२।। आगे असत् और अभिधान दोनोंका अलग अलग अर्थ कहते हुए दिखलाते हैं । हिंसा करनेवालेको असत् कहते हैं तथा भापण करने, कहने या बोलनेको अभिधान कहते हैं । इन दोनों शब्दोंका मिलाकर अर्थ करनेसे यही अर्थ निकलता है कि जो जो वचन हिंसा करनेवाले हैं उन सबको अनृत कहते हैं । यद्यपि असत् शब्दके अनेक अर्थ होते हैं तथापि उनका अर्थ वही लिया जाता है जो प्रकरणके अनुसार ठीक बैठता है ।।३।। यहाँ पर असत् शब्दका अर्थ केवल झूठ बोलना मात्र नहीं लेना चाहिये, क्योंकि यदि असत् शब्दका अर्थ केवल झूठ बोलना लिया जायगा तो साकार मन्त्र भेद आदि जो झूठके भेद हैं उनमें कुछ बोलना नहीं पड़ता इसलिये ऐसे झूठको सत्यमें ही शामिल करना पड़ेगा ।।४।। सूत्रमें जो 'असदभिधानमनृतम्' लिखा है उसमें "एकदेश रूपसे त्याग करना" इस वाक्यकी अनुवृत्ति चली आ रही है । इस अनुवृत्तिको मिलानेसे इस सबका यही अर्थ होता है जो हिंसा करनेवाले वचन हैं उनका एकदेश त्याग करना सत्याणुव्रत है अतएव बुद्धिमान् श्रावकोंको ऐसे वचन कभी नहीं कहना चाहिये जिनके कहनेसे त्रस जीवोंकी हिंसा होना सम्भव हो ।।५।। जिस सत्य वचनके कहनेसे त्रस जीवोंकी हिंसा होना सम्भव हो ऐसे सत्यवचन भी कभी कभी असत्य ही कहलाते हैं "जैसे इस चोरको चोरी करते हुए मैंने देखा था" ऐसा कहनेसे उसको दंड दिया जा सकता है अतएव ऐसे सत्यवचन कहना भी हिंसा करनेवाले वचन हैं, ऐसे सत्यवचन भी असत्य वचन कहलाते हैं ऐसे वचन अणुव्रती श्रावकोंको कभी नहीं बोलने चाहिये ।।६।। इसी प्रकार कहीं कहीं पर जीवोंकी रक्षा होनेसे असत्य वचन भी सत्य कहलाते हैं । जैसे मुझे दिखाई नहीं देता इसलिये मार्गमें मैंने किसी चोरको नहीं देखा ।।७।। इस असत्यवचनोंके त्याग करने रूप सत्याणुव्रतकी रक्षा करनेके लिए सूत्रकारने पाँच भावनाएँ बतलाई हैं । अणुव्रत धारण करनेवाले श्रावकोंको उन भावनाओंका पालन भी अच्छी तरह करते रहना चाहिये ।।८।।

तत्सूत्रं यथा—

क्रोध-लोभ-भीरुत्व-हास्य-प्रत्याख्यान्यनुवीचिभाषणं पञ्च ॥४२

क्रोधप्रत्याख्यानं वचो वाच्यं मनीषिभिः। स्वपराश्रितभेदेन तद्वचश्च द्विधोच्यते ॥९
स्वयं क्रोधेन सत्यं वा न वक्तव्यं कदाचन। न च वाच्यं वचस्तद्वत्परेषां क्रोधकारणम् ॥१०
यथा क्रोधस्तथा मानं माया लोभस्तथैव च। तेषामवद्यहेतुत्वे मृषावादाविशेषतः ॥११
हास्योज्झितं च वक्तव्यं न च हास्याश्रितं क्वचित्। तदपि द्विविधं ज्ञेयं स्वपरोभयभेदतः ॥१२
स्वयं हास्यवता भूत्वा न वक्तव्यं प्रमादतः। न च वाच्यं परेषां वा हास्यहेतुर्विचक्षणैः ॥१३
हास्योपलक्षणेनैव नोकषाया नवेति ये। तेऽपि त्याज्या मृषात्यागव्रतसंरक्षणार्थिभिः ॥१४
भीरुत्वोत्पादकं रौद्रं वचो वाच्यं न श्रावकैः। अवश्यं बन्धहेतुत्वात्तीव्रासातादिकर्मणाम् ॥१५

वह सूत्र यह है—क्रोधका त्याग, लोभका त्याग, डर या भयका त्याग, हँसीका त्याग और अनुवीचिभाषण या निर्दोष अनिन्द्य भाषण ये पाँच सत्याणुव्रतकी भावनाएँ हैं ॥४२॥

आगे इन्हीं पाँचों भावनाओंका स्वरूप बतलाते हैं बुद्धिमानोंको ऐसे वचन कहने चाहिये जिसमें क्रोध उत्पन्न न हो, यही क्रोधका त्याग नामकी पहली भावना है। क्रोधसे उत्पन्न होने-वाले वचन दो प्रकारके हैं—एक अपने क्रोधसे कहे जानेवाले वचन और दूसरे दूसरेको क्रोध उत्पन्न करनेवाले वचन ॥९॥ अणुव्रती श्रावकको स्वयं क्रोध कर सत्य वचन भी कभी नहीं कहने चाहिये तथा इसी प्रकार ऐसे वचन भी कभी नहीं कहने चाहिये जो दूसरे लोगोंको क्रोध उत्पन्न करने वाले हों ॥१०॥ जिस प्रकार क्रोधसे कहे जानेवाले वचनोंका त्याग करना बतलाया है उसी प्रकार मान माया और लोभका त्याग भी समझ लेना चाहिये। इसका भी कारण यह है कि क्रोध मान माया वा लोभसे उत्पन्न हुए वचन पापके कारण होते हैं अतएव असत्य वचनोंसे उनमें किसी प्रकारकी विशेषता नहीं होती अर्थात् जो जो वचन कषायोंके वशीभूत होकर कहे जाते हैं अथवा कषायोंको उत्पन्न करनेवाले वचन कहे जाते हैं वे सब प्राणोंको पीड़ा उत्पन्न करनेवाले या पाप उत्पन्न करनेवाले होते हैं इसलिये ऐसे वचन असत्य ही कहे जाते हैं ॥११॥ अणुव्रती श्रावकको सदा हास्य रहित वचन कहना चाहिये। हँसीसे मिले हुए वचन श्रावकोंको कभी नहीं कहने चाहिये। क्रोध रूप वचनोंके समान हास्य रूप वचन भी दो प्रकार हैं—एक स्वयं हँसीसे कहे जानेवाले वचन और दूसरे दूसरोंको या दोनोंको हँसी उत्पन्न करनेवाले वचन ॥१२॥ अणुव्रती श्रावकको प्रमादके वशीभूत होकर स्वयं हँसकर वचन कभी नहीं कहने चाहिये। इसी प्रकार चतुर श्रावकोंको ऐसे वचन भी कभी नहीं कहने चाहिये जो दूसरोंको हँसी उत्पन्न करनेवाले हों ॥१३॥ यहाँपर हास्यशब्द उपलक्षण है इसीलिये हास्य शब्दसे नौ नोकषाय लेने चाहिये। असत्य वचनोंके त्याग करने रूप सत्याणुव्रतको धारण करनेवाले श्रावकोंको उस सत्याणुव्रतकी रक्षा करनेके लिए हास्यके समान हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्रीवेद पुंवेद और नपुंसकवेद इन नौ नोकषायोंका भी त्याग कर देना चाहिये। अभिप्राय यह है कि कषाय या नोक-षायोंसे कहे जानेवाले वचन अथवा कषाय या नोकषायोंको उत्पन्न करनेवाले वचन किसी न किसीको दुःख पहुँचानेवाले या प्राणोंको पीड़ा पहुँचानेवाले होते हैं अतएव ऐसे वचन असत्य ही कहे जाते हैं इसीलिए श्रावकोंको ऐसे वचन नहीं कहने चाहिये ॥१४॥ अणुव्रती श्रावकोंको डर उत्पन्न करनेवाले भयानक शब्द कभी नहीं कहने चाहिये क्योंकि दूसरोंको डरानेवाले भयानक

आलोचितं च वक्तव्यं न वाच्यमनालोचितम् । चौर्यादिविकथाख्यानं न वाच्यं पापभीरुणा ॥१६
अत्रासत्यपरित्यागव्रतेऽतीचारपञ्चकम् । प्रामाणिकं प्रसिद्धं स्यात्सूत्रेष्युक्तं महर्षिभिः ॥१७

तत्सूत्रं यथा—

मिथ्योपदेश-रहोऽभ्याख्यान-कूटलेखक्रिया-न्यासापहार-साकारमन्त्रभेदाः ॥४३

तत्र मिथ्योपदेशाख्यः परेषां प्रेरणं यथा । अहमेवं न वक्ष्यामि वद त्वं मम मन्मनात् ॥१८
रहोऽभ्याख्यानमेकान्ते गुह्यवार्ताप्रकाशनम् । परेषां शङ्कया किञ्चिद्धेतोरस्त्यत्र कारणम् ॥१९
कूटलेखक्रिया सा स्याद्वञ्चनार्थं लिपिर्मृषा । सा न साक्षात्तथा तस्या मृषानाचारसम्भवात् ॥२०
किन्तु स्वल्पा यथा कश्चित्किञ्चित्प्रत्यूहनिस्पृहः । इदं मदीयपत्रेषु मदर्थं न लिपीकृतम् ॥२१
न्यासस्याप्यपहारो यो न्यासापहार उच्यते । सोऽपि परस्य सर्वस्वहरो नैव स्वलक्षणात् ॥२२

शब्दोंके कहनेसे आसातावेदनीय आदि अशुभ कर्मोंका बन्ध अवश्य होता है ॥१५॥ अणुव्रती श्रावकोंको जो कुछ कहना चाहिये वह सब समझकर शास्त्रोंके अनुकूल वचन कहने चाहिये। विना सोचे-समझे शास्त्रोंके विरुद्ध वचन कभी नहीं कहने चाहिये, इसी प्रकार पापोंसे डरनेवाले अणुव्रती श्रावकोंको चौर कथा, राष्ट्रकथा, भोजनकथा, युद्धकथा आदि विकथाएँ कभी नहीं कहनी चाहिये ॥१६॥ अणुव्रती श्रावकोंको इस प्रकार ऊपर लिखी हुई सत्यव्रतकी पाँचों भावनाओंका पालन अवश्य करना चाहिये। इसके पालन करनेसे व्रतोंकी रक्षा होती है। इस असत्य वचनोंके त्याग करने रूप सत्याणुव्रतके पाँच अतिचार हैं। वे पाँचों ही अतिचार प्रसिद्ध हैं और उनको सब मानते हैं। बड़े बड़े महर्षियोंने भी सूत्रोंमें उनका वर्णन किया है ॥१७॥ वह सूत्र इस प्रकार है–

मिथ्या उपदेश देना, किसी एकांतमें की हुई क्रियाओंको या कही हुई बातको प्रकट कर देना, झूठे लेख लिखना, किसीका धरोहर मार लेना और किसी भी चेष्टासे किसीके मनकी बात को जानकर प्रकट कर देना ये पाँच सत्याणुव्रतके अतिचार हैं ॥४३॥ आगे अनुक्रमसे इन्हींका स्वरूप दिखलाते हैं—

"इस बातको मैं नहीं कहूँगा मेरे मनके अनुसार तू ही कह" इस प्रकार मिथ्यावचन कहनेके लिए दूसरोंको प्रेरणा करना मिथ्योपदेश नामका पहला अतिचार कहलाता है ॥१८॥ "यहाँ पर कुछ कारण अवश्य है विना कारणके एकान्तमें कोई बातचीत नहीं करता" इस हेतुसे शंका उत्पन्न कराकर एकान्तमें किसी पुरुषके द्वारा या स्त्री पुरुषोंके द्वारा कही हुई बातोंको या की हुई क्रियाओंको प्रकाशित करना रहोभ्याख्यान कहलता है ॥१९॥ दूसरोंको ठगनेके लिए झूंठा लेख लिखना या लिखाना कूटलेखक्रिया है। इसमें इतना और समझ लेना चाहिये कि यह झूठा लेख साक्षात् नहीं लिखा जाता, न साक्षात् झूठा लेख लिखाया जाता है क्योंकि यदि साक्षात् झूठा लेख लिखा जाय या लिखाया जाय तब तो वह असत्य वचन रूप अनाचार ही हो जाता है क्योंकि ऐसा करनेसे किसी भी अंशमें सत्यव्रतकी रक्षा नहीं होती है किन्तु उसमें थोड़े थोड़े झूठे शब्द मिलाये जाते हैं। जैसे कोई पुरुष अपने ऊपर आई हुई आपत्तिको दूर करनेके लिये कहता है कि "मैंने जो यह अपने पत्रमें लेख लिखा है वह अपने लिये नहीं लिखा है।" सत्याणुव्रतीको ऐसे अतिचारका भी त्याग कर देना चाहिये ॥२०–२१॥ दूसरेकी धरोहरको अपहरण कर लेना, मार लेना, न देना न्यासापहार कहलाता है। उसमें भी इतना विशेष है कि वह दूसरेके समस्त धनका हरण करता है क्योंकि रखी हुई धरोहरके कुछ भागको हरण कर लेना ही न्यासापहार कहलाता है।

किञ्च कश्चिद्यथा सार्थः कस्यचिद्धनिनो गृहे । स्थापयित्वा धनादीनि स्वयं स्थानान्तरं गतः ॥२३
वदत्येवं स लोकानां पुरस्तादिह निह्नवात् । धृतं न मे गृहे किञ्चित्तेनाऽमाऽर्थेन गच्छता ॥२४
उक्तो न्यासापहारः स प्रसिद्धोऽनर्थसूचकः । मृषात्याग स्योच्चैः दोषः स्वात्सर्वतो महान् ॥२५
साकारमन्त्रभेदोऽपि दोषोऽतीचारसंज्ञकः । न वक्तव्यः कदाचिद्वै नैष्ठिकैः श्रावकोत्तमैः ॥२६
दुर्लक्ष्यमर्थं गुह्यं यत्परेषां मनसि स्थितम् । कथञ्चिदिङ्गितैर्ज्ञात्वा न प्रकाश्यं व्रतार्थिभिः ॥२७
ननु चैवं मदीयोऽयं ग्रामो देशोऽथवा नरः । इत्येवं यज्जगत्सर्वं वदत्येतन्मृषा वचः ॥२८
मैवं प्रमत्तयोगाद्वै सूत्रादित्यनुवर्तते । तस्याभावान्न दोषोऽस्ति तद्भावे दोष एव हि ॥२९
एवं संव्यवहाराय स्याददोषा नयात्मके । नाम्नि च स्थापनायां च द्रव्ये भावे जगत्त्रये ॥३०

न्यासापहारका यही लक्षण है, जैसे किसी पुरुषके पास कुछ धन था वह अपना सब धन किसी अन्य धनीके यहाँ जमा कराकर या रख कर स्वयं परदेशको चला गया। उस धनको छिपानेके लिए या प्रगट न होने देनेके लिए वह धनी दूसरे लोगोंके सामने यह कहता है कि वह पुरुष मेरे घर तो कुछ नहीं रख गया, वह तो परदेश जाते समय सब धन अपने साथ ले गया है ॥२३–२४॥ ऊपर जो न्यासापहारका स्वरूप बतलाया है वह प्रसिद्ध है और अनेक अनर्थोंको उत्पन्न करनेवाला है। असत्य वचनोंके त्याग करने रूप सत्य अणुव्रतको पालन करनेवाले श्रावकके लिए यह सबसे बड़ा और बहुत बड़ा दोष है। इसका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥२५॥ साकारमन्त्रभेद भी सत्याणुव्रतका अतिचार और दोष कहलाता है। नैष्ठिक उत्तम श्रावकको यह साकारमन्त्रभेद भी कभी नहीं कहना चाहिये ॥२६॥ दूसरेके मनमें जो छिपी हुई बात है अथवा कोई ऐसी बात है जो दूसरोंको मालूम नहीं है उस बातको किसी चेष्टासे या किसी इशारे आदिसे जानकर प्रकाशित कर देना साकारमन्त्रभेद कहलाता है। व्रती श्रावकोंको ऐसी किसी दूसरेके मनकी बात कभी प्रकाशित नहीं करनी चाहिये ॥२७॥ कोई शंका करता है कि "यह गाँव मेरा है, यह देश मेरा है अथवा यह मनुष्य मेरा है" इस प्रकार जो यह समस्त संसार कहता है वह भी सब मिथ्या वचन हैं। व्रती भी ऐसा बोलते हैं इसलिये असत्यका त्याग व्रतियोंसे भी नहीं हो सकता ॥२८॥ इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि शंकाकारकी यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रमें जो असत्यका लक्षण "असदभिधानमनृतम्" लिखा है उसमें ऊपरके सूत्रसे "प्रमत्तयोगात्" पदकी अनुवृत्ति चली आ रही है। इस अनुवृत्तिके अर्थको मिला देनेसे असत्यका लक्षण "प्रमाद या कषायके निमित्तसे दूसरेकी अनुवृत्तिसे दूसरेकी हिंसा उत्पन्न करनेवाले वचन कहना असत्य है" ऐसा बन जाता है। जहाँ जहाँ प्रमाद या कषाय होते हैं वहीं असत्य होता है। जहाँ प्रमाद या कषाय नहीं होता वहाँ असत्य भी नहीं होता। संसारमें जो "यह गाँव मेरा है या यह देश मेरा है" ऐसा वचन कहा जाता है उसमें प्रमाद या कषाय नहीं हैं केवल अपना निवासस्थान बतलानेके लिए ऐसा कहता है परन्तु जहाँपर उस गाँव या उस देशको अपनानेके लिए, उसपर अपना अधिकार जमानेके लिए कषायकी प्रवृत्ति होती है वहाँपर वही वाक्य असत्य हो जाता है अतएव उक्त शंका सर्वथा निर्मूल है ॥२९॥ "जहाँ जहाँपर कषाय होता है वहीं पर असत्यता होती है" ऐसा मान लेनेसे नयोंके अनुसार जो एक ही पदार्थका स्वरूप भिन्न-भिन्न रीतिसे कहा जाता है, अथवा संसारमें अपना व्यवहार चलानेके लिए जो नाम स्थापना द्रव्य भाव चार निक्षेप बतलाये हैं उनसे भी पदार्थोंका स्वरूप भिन्न भिन्न रीतिसे

अस्ति स्तेयपरित्यागो व्रतं चाणु तथा महत् । देशतः सर्वतश्चापि त्यागद्वैविध्यसम्भवात् ॥३१
तल्लक्षणं तथा सूत्रे सूक्तं सूत्रविशारदैः । अदत्तादानं स्तेयं स्यात्तदर्थः कथ्यतेऽधुना ॥३२
अदत्तस्य दानं चौर्यमित्युच्यते बुधैः । अर्थात्स्वामिगृहीतार्थे सद्द्रव्ये नेतरे पुनः ॥३३
अन्यथा लोकेऽस्मिन्नतिव्याप्तिः पदे पदे । अनगारैश्च दुर्वारा विशद्भिर्गोपुरादिषु ॥३४
सर्वतः सर्वविषयं देशतस्त्रसगोचरम् । यतः सागारिणां न स्याज्जलादिपरिवर्जनम् ॥३५
देशतः स्तेयं सत्यागलक्षणं गृहिणां । अदत्तं वस्तु नादेयं यस्मिन्नस्ति त्रसाश्रयः ॥३६
रक्षार्थं तस्य कर्तव्या भावनाः पञ्च नित्यशः । सर्वतो मुनिनाथेन देशतः श्रावकैरपि ॥३७

समझा जाता है। उसमें भी कोई दोष नहीं आता ॥३०॥ चोरीका त्याग करने रूप अचौर्यव्रत भी दो प्रकार है—एक अणुव्रत और दूसरा महाव्रत। एकदेश चोरीका त्याग करना अचौर्याणुव्रत है और पूर्ण रूपसे चोरीका त्याग कर देना अचौर्य महाव्रत है, इस प्रकार चोरीका त्याग दो प्रकारसे सम्भव हो सकता है ॥३१॥ सूत्र बनानेमें अत्यन्त चतुर ऐसे आचार्यवर्य श्री उमास्वामी ने उस चोरीका लक्षण कहते हुए सूत्र लिखा है वह सूत्र "अदत्तादानं स्तेयम्" है अर्थात् बिना दिये हुए पदार्थका ग्रहण करना चोरी है। अब आगे इस सूत्रका अर्थ बतलाते हैं ॥३२॥ किसी भी बिना दिये हुए पदार्थका ग्रहण करना चोरी है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। इसका भी अर्थ यह है कि जिन पदार्थोंका कोई स्वामी है तथा जो पदार्थ कुछ मूल्यवाले हैं ऐसे पदार्थोंको बिना दिये हुए ग्रहण करना चोरी है। जिन पदार्थोंका कुछ मूल्य नहीं है अथवा जिन पदार्थोंका कोई स्वामी नहीं है ऐसे पदार्थोंको बिना दिये हुए ग्रहण कर लेना गृहस्थोंके लिए चोरी नहीं है ॥३३॥ यदि चोरीका लक्षण यह माना जायगा तो इस समस्त संसारमें पद-पदपर अतिव्याप्ति दोष मानना पड़ेगा क्योंकि सांसके द्वारा वायुका ग्रहण करना, कर्म नोकर्म वर्गणाओंका ग्रहण करना आदि सब बिना दिये हुए होता है इसलिये वहाँ भी चोरी समझी जायगी परन्तु वहाँ पर चोरी नहीं कही जाती इसलिये चोरीका ऊपर लिखा हुआ लक्षण ही ठीक है। दूसरी बात यह है कि मुनिराज नगरमें जानेके लिए नगरके बड़े दरवाजेमें प्रवेश करते हैं वह भी बिना पूछे ही प्रवेश करते हैं इसलिये उसको भी चोरी ही मानना पड़ेगा तथा इस प्रकार माननेसे अचौर्यव्रतका पालना कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव हो जायगा। इसलिये चोरीका लक्षण वही मानना चाहिये जो ऊपर कहा जा चुका है ॥३४॥ उस चोरीका पूर्ण रूपसे त्याग करना महाव्रत है अर्थात् त्रस और स्थावर दोनों प्रकारके जीवोंको दुःख पहुँचानेवाली चोरीके त्याग करनेको पूर्ण त्याग या अचौर्य महाव्रत कहते हैं, तथा केवल त्रस जीवोंको पीड़ा पहुँचानेवाली चोरीके त्याग करनेको एकदेश अथवा अचौर्याणुव्रत कहते हैं। गृहस्थ लोग अचौर्याणुव्रत ही पालन कर सकते हैं क्योंकि वे गृहस्थ जल मिट्टी आदि सर्वसाधारणके ग्रहण करने योग्य पदार्थोंको बिना दिये ग्रहण करनेका त्याग नहीं कर सकते ॥३५॥ एकदेश चोरीका त्याग करना गृहस्थ श्रावकोंका व्रत है। अणुव्रती श्रावकोंको जिनमें त्रस जीवोंका आश्रय हो ऐसे कोई भी पदार्थ बिना दिये हुए कभी ग्रहण नहीं करने चाहिये। यही उनका अचौर्याणुव्रत है ॥३६॥ इस अचौर्यव्रतकी रक्षा करनेके लिए पाँच भावनाएँ हैं वे भी नित्य पालन करनी चाहिये। उन भावनाओंका पालन मुनियोंको पूर्ण रूपसे करना चाहिये और श्रावकोंको एकदेश करना चाहिये ॥३७॥ इस अचौर्यव्रतकी रक्षाके लिए जो भावनाएँ सूत्रकारने बतलाई हैं वे ये हैं—

तत्सूत्रं यथा—

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसद्धर्माविसंवादाः ॥४४

शून्यागारेषु चावासा भूभृतां गह्वरादयः । तदिन्द्रादिविरोधेन न वास्तव्यमिहामुना ॥३८
किन्तु प्राक् प्रार्थनामित्थं कृत्वा तत्रापि संविशेत् । प्रसीदात्रत्य भो देव रात्रं वसाम्यहम् ॥३९
निःस्वामित्वेन संत्यक्ताः गृहाः सन्त्युद्वसाह्वयाः । प्राग्वदत्रापि वसति न कुर्यात्कुर्याद्वा तथा ॥४०
स्वामित्वेन वसत्यादि परैः स्यादुपरुन्ि । परोपरोधाकरणमाहुः सूत्रविशारदाः ॥४१
तत्स्वामिनमनापृच्छच स्थातव्यं न गृहिव्रतैः । स्थातव्यं च तमापृच दीयमानं तदाज्ञया ॥४२
भैक्ष्यशुद्धचाविसंवादौ भावनीयौ व्रतार्थिना । सर्वतो मुनिनाथेन देशतो गृहमेधिना ॥४३
नादेयं केनचिद्दत्तमन्येनातत्स्वामिना । तत्स्वामिनश्च प्रच्छन्नवृत्त्या त्तवत् ॥४४
आत्मधर्मः सधर्मो स्यादर्थाज्जैनो ।न्वितः । तेन कारापितं ज्जिनचैत्यगृहादि यत् ॥४५

सूने मकानमें रहना, छोड़े हुए मकानमें रहना, किसीको रोकना नहीं, भोजनकी शुद्धि रखना और धर्मात्माओंके साथ यह तेरा है यह मेरा है, इस प्रकार धर्मोपकरणोंमें विवाद नहीं करना ये पाँच अचौर्यव्रतकी भावनाएँ हैं ॥४४॥

आगे इन्हींका स्वरूप बतलाते हैं—व्रतियोंको पर्वतोंकी गुफा आदि सूने मकानोंमें ठहरना चाहिये तथा वहाँ पर भी उस स्थानके इन्द्रसे या स्वामीसे विरोध कर नहीं रहना चाहिये। यदि व्रतीको किसी भी स्थानपर ठहरना हो तो उसे आज्ञा इस प्रकार लेनी चाहिये कि "यहाँ इस स्थानपर रहनेवाले या इस स्थानके स्वामी हैं देव प्रसन्न होओ, मैं यहाँपर पाँच दिनतक ठहरूँगा या तीन दिनतक ठहरूँगा" इस प्रकार पहले प्रार्थना कर फिर उस स्थानमें प्रवेश करना चाहिये ॥३८–३९॥ अपना अधिकार न होनेके कारण जो घर छोड़ दिया गया है उसको छोड़ा हुआ घर कहते हैं। इस छोड़े हुए घरमें भी पर्वतकी गुफा आदि सूने मकानके समान विना उसके स्वामीकी आज्ञा लिये कभी निवास नहीं करना चाहिये। यदि वहाँ निवास करना हो तो वहाँके इन्द्रकी या वहाँपर रहनेवाले व्यंतरदेवकी ऊपर लिखे अनुसार आज्ञा लेकर निवास करना चाहिये ॥४०॥ जिस वसतिका आदि स्थानको अन्य लोगोंने स्वामी बनकर रोक रक्खा है उसको शास्त्रोंके जानकार पुरुष परोपरोधाकरण कहते हैं। गृहस्थोंको ऐसे स्थानमें उसके स्वामीको विना पूछे कभी नहीं रहना चाहिये। उसको पूछकर और उसकी आज्ञा मिल जानेपर रहना चाहिये। यदि किसी गुफा आदिमें स्वयं रह रहा हो और अन्य कोई व्रती उसमें आना चाहे तो उसे रोकना नहीं चाहिये, इसीको परोपरोधाकरण कहते हैं ॥४१–४२॥ चौथी भावनाका नाम भैक्ष्यशुद्धि और पाँचवीं भावनाका नाम तद्धर्म अविसंवाद है। व्रती श्रावकोंको इन दोनों भावनाओंका पालन भी करना चाहिये। मुनिराज इन दोनों भावनाओंका पालन पूर्ण रीतिसे करते हैं और गृहस्थ श्रावक इनका पालन एकदेश रूपसे करते हैं ॥४३॥ यदि कोई श्रावक भोजन देवे और वह भोजन उसका न हो किसी अन्यका हो तो उस व्रती श्रावकको नहीं लेना चाहिये। यदि वह भोजन उसीका हो और वह उसे छिपा कर देता हो तो भी उसे विना दिये हुएके समान ही समझना चाहिये। यही श्रावककी भैक्ष्यशुद्धि है ॥४४॥ जो आत्मके धर्मको पालन करता हो, अथवा जो अपने धर्मको पालन करता हो उसको सधर्मी कहते हैं। इसका भी अभिप्राय यह है कि जो जैन धर्मको धारण करनेवाला व्रती श्रावक है उसको सधर्मी कहते हैं। उसने जो कुछ जिनेन्द्र भवन, चैत्यालय आदि

तत्रापि निवसेद्धीमान् क्षणं यावत्तदाज्ञया । तदाज्ञामन्तरेणेह न स्थातव्यमुपेक्षया ॥४६
भावनापञ्चकं यावदत्रोक्तं च तः । स्वर्णाद्यपि च नादेयमदत्तं वसनादि वा ॥४७
अत्रापि सन्त्यतीचाराः पञ्चेति सूत्रसम्मताः । त्याज्याः स्तेयपरित्यागव्रतसंशुद्धिहेतवे ॥४८

उक्तं च—

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥४५

परस्य प्रेरणं लोभात्स्तेयं प्रति मनीषिणा । स्तेनप्रयोग इत्युक्तः स्तेयातीचारसंज्ञकः ॥४९
अप्रेरितेन केनापि दस्युना स्वयमाहृतम् । गृह्यते धन-धान्यादि तदाहृतादानं स्मृतम् ॥५०
नादेयं दीयमानं वा पुण्यदानेन चापि तत् । स्तेयत्यागव्रतस्यास्य स्वामिनात्महितैषिणा ॥५१
राज्ञाज्ञापितमात्मेत्थं युक्तं वाऽयुक्तमेव तत् । क्रियते न यदा स स्याद्विरुद्धराज्यातिक्रमः ॥५२
कर्तव्यो न कदाचित्स प्रकृतव्रतधारिणा । आस्ताममुत्र तेनार्तिरिहानर्थपरम्परा ॥५३
क्रेतुं मानाधिकं मानं विक्रेतुं न्यूनमात्रकम् । हीनाधिकमानोन्माननामातीचारसंज्ञकः ॥५४

बनवाया है उसमें भी यदि कोई श्रावक क्षण भर भी ठहरना चाहे तो उसकी आज्ञा लेकर ठहरना चाहिये, उसकी आज्ञाके विना उपेक्षापूर्वक उसे वहाँपर कभी नहीं रहना चाहिये। अथवा अपने भी बनवाये हुए धर्मस्थानपर यदि कोई सधर्मी आकर ठहरना चाहता है, तो उसे विना किसी विसंवादके ठहरने देना चाहिये। इसको सद्धर्माविसंवाद नामकी पाँचवीं भावना कहते हैं ॥४५-४६॥ इस प्रकार यहाँपर पाँचों भावनाओंका स्वरूप बहुत ही संक्षेपसे अंशमात्र कहा है। व्रती श्रावकको सोना चाँदी वस्त्र आदि कुछ भी विना दिया हुआ ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥४७॥ इस अचौर्याणुव्रतके भी पाँच अतिचार हैं जो सूत्रकारने भी अपने सूत्रमें कहे हैं। चोरीके त्याग करने रूप अचौर्य अणुव्रतको शुद्ध रखनेके लिए व्रती श्रावकको इन पाँचों अतिचारोंका त्याग कर देना चाहिये ॥४८॥ सूत्रकारने अतिचारोंको कहनेवाला जो सूत्र कहा है वह यह है—

चोरीको भेजना, चोरीका माल लेना, राजाकी आज्ञाके विरुद्ध चलना, तौलने या नापनेके बाँट गज आदि कमती-बढ़ती रखना या और अधिक मूल्यके पदार्थमें कम मूल्यके पदार्थ मिलाकर चलाना, ये पाँच अचौर्याणुव्रतके अतिचार हैं। आगे इसीका स्पष्टीकरण करते हैं ॥४५॥

किसी लोभके वश होकर अन्य मनुष्योंको चोरी करनेकी प्रेरणा करनेको बुद्धिमान लोग स्तेन प्रयोग कहते हैं। अचौर्याणुव्रतका यह पहला अतिचार है ॥४९॥ जिस किसी चोरको चोरी करनेकी प्रेरणा नहीं की है, विना प्रेरणा किये ही वह स्वयं चुराकर जो धन-धान्य आदि पदार्थ लाया है उसको ग्रहण करना तदाहृतादाननामका अतिचार कहलाता है ॥५०॥ अपने आत्माका कल्याण करनेवाले और अचौर्याणुव्रतको पालन करनेवाले व्रती श्रावकोंको ऐसा चोरीका धन यदि कोई दे भी तो नहीं लेना चाहिए। यदि कोई पुण्य समझ कर दान देता हो तो भी नहीं लेना चाहिए ॥५१॥ राजा ने कुछ आज्ञा दी है चाहे वह योग्य हो और चाहे वह अयोग्य हो, उसका पालन न करना विरुद्धराज्यातिक्रम नामका अतिचार कहलाता है ॥५२॥ अचौर्याणुव्रत धारण करनेवाले श्रावकोंको राजाकी आज्ञाके विरुद्ध कार्य कभी नहीं करना चाहिए क्योंकि राज्यविरुद्ध कार्य करनेसे परलोकमें दुःख होता है और इस लोकमें अनेक अनर्थ उत्पन्न होते हैं। अतएव व्रती श्रावकको इस अतिचारका भी त्याग कर देना चाहिए ॥५३॥ खरीदनेके लिए तौलनेके बाँट या नापनेके गज पायली आदि अधिक या बढ़ती रखना और बेचनेके लिए कमती रखना हीनाधिक-

रम्भेण त्याज्योऽयं गृहस्थेन व्रतार्थिना । इहैवाकीर्तिसन्तानःस्यादमुत्र च दुःखदः ॥५५
निक्षेपणं समर्थस्य महार्घे वञ्चनाशया । प्रतिरूपकनामा स्याद् व्यवहारो व्रतक्षतौ ॥५६
स्तेयत्यागव्रतारूढैर्नादेयः श्रावकोत्तमैः । अस्त्यतीचारसंज्ञोऽपि सर्वदोषाधिपो महान् ॥५७
उक्तातिचारनिर्मुक्तं तृतीयव्रतमुत्तमम् । अवश्यं प्रतिपाल्यं स्यात्परलोकसुखाप्तये ॥५८
चतुर्थं ब्रह्मचर्यं स्याद्व्रतं देवेन्द्रवन्दितम् । देशतः श्रावकैर्ग्राह्यं सर्वतो मुनिनायकैः ॥५९
देशतस्तद्व्रतं धाम्नि स्थितस्यास्य सरागिणः । उदिता धर्मपत्नी या सैव सेव्या न चेतरा ॥६०
ब्रह्मव्र रक्षार्थं कर्तव्याः पञ्च भावनाः । तल्लक्षणं यथा सूत्रे प्रोक्तमत्रापि चाहृतिः ॥६१

तत्सूत्रं यथा—

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ॥४६
प्रसिद्धं विटचर्यादि दम्पत्योर्वा मिथो रतिः । अनुरागस्तद्वार्तायां योषिद्रागकथाश्रुतिः ॥६२

मानोन्मान नामका अतिचार है ॥५४॥ व्रती श्रावकको इस हीनाधिकमानोन्मान नामके अतिचार को पूर्णरूपसे त्याग कर देना चाहिए क्योंकि जो गृहस्थ तौलनेके लिए बाँटोंको कमती-बढ़ती रखता है या नापनेके गजोंको कमती-बढ़ती रखता है उसकी अपकीर्ति इस समस्त लोकमें फैल जाती है तथा बाँट या गजोंको कमती-बढ़ती रखकर वह दूसरोंको ठगता है इसलिए परलोकमें भी उसे नरकादिकके महादुःख भोगने पड़ते हैं इसलिए व्रती गृहस्थको इस अतिचारका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिए ॥५५॥ दूसरोंको ठगनेकी इच्छासे अधिक मूल्यके पदार्थमें जो उसमें अच्छी तरह मिल सके ऐसा कम मूल्यका पदार्थ मिला देना प्रतिरूपक व्यवहार नामका पाँचवाँ अतिचार कहलाता है। इस अतिचारसे यह अचौर्याणुव्रत प्रायः नष्ट हो जाता है ॥५६॥ चोरीके त्याग करने रूप अचौर्याणुव्रतको पालन करनेवाले उत्तम श्रावकोंको यह अतिचार कभी नहीं लगाना चाहिए क्योंकि यह अतिचार यद्यपि अतिचार कहलाता है तथापि यह अतिचार सबसे बड़ा और सब दोषोंका अधिपति है ॥५७॥ व्रती गृहस्थोंको परलोकके सुख प्राप्त करनेके लिए ऊपर लिखे अतिचारोंको छोड़कर इस तीसरे उत्तम अचौर्याणुव्रतको अवश्य पालन करना चाहिए ॥५८॥ अब आगे ब्रह्मचर्याणुव्रतका स्वरूप बतलाते हैं। चौथे व्रतका नाम ब्रह्मचर्य व्रत है। सोलह स्वर्गोंके देवोंके इन्द्र भी इस ब्रह्मचर्यव्रतकी वन्दना करते हैं, मुनिराज इसका पालन पूर्णरीतिसे करते हैं और श्रावक इसका पालन एकदेश रूपसे करते हैं ॥५९॥ घरमें रहनेवाले सरागी गृहस्थोंको इस व्रतका पालन एकदेश रूपसे करना चाहिए। इसी ग्रन्थमें पहले जो धर्मपत्नीका स्वरूप कह आये हैं वह धर्मपत्नी ही गृहस्थोंको सेवन करनी चाहिए। उसके सिवाय अन्य समस्त स्त्रियोंके सेवन करनेका त्याग कर देना चाहिए ॥६०॥ इस ब्रह्मचर्यव्रतकी रक्षा करने के लिए जो पाँच भावनाएँ बतलाई हैं उनका भी पालन करना चाहिए तथा उन पाँचों भावनाओंका लक्षण जो सूत्रकारने अपने सूत्रमें कहा है वही ग्रहण कर लेना चाहिए ॥६१॥ सूत्रकारका वह सूत्र यह है—

स्त्रियोंकी रागरूप कथा सुननेका त्याग, उनके मनोहर अंगोंके देखनेका त्याग, पहले भोगी हुई स्त्रियोंके स्मरण करनेका त्याग, पौष्टिक रसका त्याग और अपने शरीरके संस्कार करनेका त्याग ये पाँच ब्रह्मचर्यव्रतकी भावनाएँ हैं। इनके पालन करनेसे ब्रह्मचर्यकी रक्षा होती है ॥४६॥

आगे इन्हींका स्वरूप बतलाते हैं—व्यभिचारी लोग जो रागरूप कुचेष्टाएँ करते रहते हैं, अथवा कोई भी स्त्री-पुरुष जो परस्पर कामक्रीड़ा करते रहते हैं उनकी कथा सुननेमें प्रेम रखना

तत्रापि निवसेद्धीमान् क्षणं यावत्तदाज्ञया । तदाज्ञामन्तरेणेह न स्थातव्यमुपेक्षया ॥४६
भावना   कं यावदत्रोक्तं चांशमात्रतः । स्वर्णाद्यपि च नादेयमदत्तं वसनादि वा ॥४७
अत्रापि सन्त्यतीचाराः पञ्चेति सूत्रसम्मताः । त्याज्याः स्तेयपरित्यागव्रतसंशुद्धिहेतवे ॥४८

उक्तं च—

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥४५

परस्य प्रेरणं लोभात्स्तेयं प्रति मनीषिणा । स्तेनप्रयोग इत्युक्तः स्तेयातीचारसंज्ञकः ॥४९
अप्रेरितेन केनापि दस्युना स्वयमाहृतम् । गृह्यते धन-धान्यादि तदाहृतादानं स्मृतम् ॥५०
नादेयं दीयमानं वा पुण्यदानेन चापि तत् । स्तेयत्यागव्रतस्यास्य स्वामिनात्महितैषिणा ॥५१
राज्ञाज्ञापितमात्मेत्यं युक्तं वाऽयुक्तमेव तत् । क्रियते न यदा स स्याद्विरुद्धराज्यातिक्रमः ॥५२
कर्तव्यो न कदाचित्स प्रकृतव्रतधारिणा । आस्तामयुत्र तेनार्तिरिहानर्थपरम्परा ॥५३
क्रेतुं मानाधिकं मानं विक्रेतुं न्यूनमात्रकम् । हीनाधिकमानोन्माननामातीचारसंज्ञकः ॥५४

बनवाया है उसमें भी यदि कोई श्रावक क्षण भर भी ठहरना चाहे तो उसकी आज्ञा लेकर ठहरना चाहिये, उसकी आज्ञाके बिना उपेक्षापूर्वक उसे वहाँपर कभी नहीं रहना चाहिये। अथवा अपने भी बनवाये हुए धर्मस्थानपर यदि कोई सधर्मी आकर ठहरना चाहता है, तो उसे बिना किसी विसंवादके ठहरने देना चाहिये। इसको सद्धर्माविसंवाद नामकी पाँचवीं भावना कहते हैं ॥४५-४६॥ इस प्रकार यहाँपर पाँचों भावनाओंका स्वरूप बहुत ही संक्षेपसे अंशमात्र कहा है। व्रती श्रावकको सोना चाँदी वस्त्र आदि कुछ भी बिना दिया हुआ ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥४७॥ इस अचौर्याणुव्रतके भी पाँच अतिचार हैं जो सूत्रकारने भी अपने सूत्रमें कहे हैं। चोरीके त्याग करने रूप अचौर्य अणुव्रतको शुद्ध रखनेके लिए व्रती श्रावकको इन पाँचों अतिचारोंका त्याग कर देना चाहिये ॥४८॥ सूत्रकारने अतिचारोंको कहनेवाला जो सूत्र कहा है वह यह है—

चोरीको भेजना, चोरीका माल लेना, राजाकी आज्ञाके विरुद्ध चलना, तौलने या नापनेके बाँट गज आदि कमती-बढ़ती रखना या और अधिक मूल्यके पदार्थमें कम मूल्यके पदार्थ मिलाकर चलाना, ये पाँच अचौर्याणुव्रतके अतिचार हैं। आगे इसीका स्पष्टीकरण करते हैं ॥४५॥

किसी लोभके वश होकर अन्य मनुष्योंको चोरी करनेकी प्रेरणा करनेको बुद्धिमान लोग स्तेन प्रयोग कहते हैं। अचौर्याणुव्रतका यह पहला अतिचार है ॥४९॥ जिस किसी चोरको चोरी करनेकी प्रेरणा नहीं की है, बिना प्रेरणा किये ही वह स्वयं चुराकर जो धन-धान्य आदि पदार्थ लाया है उसको ग्रहण करना तदाहृतादाननामका अतिचार कहलाता है ॥५०॥ अपने आत्माका कल्याण करनेवाले और अचौर्याणुव्रतको पालन करनेवाले व्रती श्रावकोंको ऐसा चोरीका धन यदि कोई दे भी तो नहीं लेना चाहिए। यदि कोई पुण्य समझ कर दान देता हो तो भी नहीं लेना चाहिए ॥५१॥ राजा ने कुछ आज्ञा दी है चाहे वह योग्य हो और चाहे वह अयोग्य हो, उसका पालन न करना विरुद्धराज्यातिक्रम नामका अतिचार कहलाता है ॥५२॥ अचौर्याणुव्रत धारण करनेवाले श्रावकोंको राजाकी आज्ञाके विरुद्ध कार्य कभी नहीं करना चाहिए क्योंकि राज्यविरुद्ध कार्य करनेसे परलोकमें दुःख होता है और इस लोकमें अनेक अनर्थ उत्पन्न होते हैं। अतएव व्रती श्रावकको इस अतिचारका भी त्याग कर देना चाहिए ॥५३॥ खरीदनेके लिए तौलनेके बाँट या नापनेके गज पायली आदि अधिक या बढ़ती रखना और बेचनेके लिए कमती रखना हीनाधिक-

स्वशरीरसंस्काराख्यो दोषोऽयं ब्रह्मचारिणः। ँतो मुनिना त्याज्यो देशतो गृहमेधिभिः ॥७०
भ : पञ्च निर्दिष्टाः सर्वतो मुनिगोचराः। तत्रासक्तिर्गृहस्थानां ँनीया स्वशक्तितः ॥७१
लक्ष्यन्तेऽत्राऽप्यतीचाराः ब्रह्मचर्यव्रतस्य ये। पञ्चैवेति यथा सूत्रे सूक्ताः प्रत्य ादिभिः ॥७२

तत्सूत्रं यथा—
परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥४८

परविवाहकरणं दोषो ब्रह्मव्रतस्य यः। व्यक्तो लोकप्रसिद्धत्वात्सुगमे प्रयासो वृथा ॥७३
अयं भावः स्वसम्वन्धिपुत्रादींश्च विवाहयेत्। परवर्गविवाहांश्च कारयेन्नानुमोदयेत् ॥७४
इत्वरिका स्यात्पुंश्चली सा द्विधा प्राग्यथोदिता। काचित्परिगृहीता स्यादपरिगृहीता परा ॥७५
ताभ्यां सरागवागादिवपुःस्पर्शोऽथवा रतम्। दोषोऽतीचारसंज्ञोऽपि ब्रह्मचर्यस्य हानये ॥७६
दोषश्चानङ्गक्रीडाख्यः स्वप्नादौ शुक्रविच्युतिः।
विनापि कामिनीसङ्गात्क्रिया वा कुत्सितोदिता ॥७७

अनेक प्रकारके अतिचार उत्पन्न करनेवाला है ॥६९॥ ब्रह्मचर्य अणुव्रतको धारण करनेवाले ब्रह्मचारियोंको यह स्वशरीरसंस्कार नामका दोष भी एक प्रवल दोष है। मुनियोंको इसका त्याग पूर्ण रूपसे कर देना चाहिये और गृहस्थोंको इसका त्याग एकदेश रूपसे करना चाहिये। यह ब्रह्मचर्यकी रक्षा करनेवाली पाँचवीं भावना है ॥७०॥ इस प्रकार ब्रह्मचर्यकी पाँचों भावनाओंका निरूपण किया। इन भावनाओंका पूर्ण रीतिसे पालन मुनियोंसे ही होता है तथा गृहस्थोंको अपनी शक्तिके अनुसार इन सवमें आसक्त या लीन रहनेका त्याग कर देना चाहिये। तथा अपनी शक्तिके अनुसार इनमेंसे जितना त्याग वन सके उतना त्याग कर देना चाहिये। इस प्रकार पाँचों भावनाओंका स्वरूप वतलाया ॥७१॥ इस ब्रह्मचर्य व्रतके भी पाँच अतिचार हैं जो सर्वज्ञदेवने वतलाये हैं तथा जो सूत्रकारने अपने सूत्रमें लिखे हैं ॥७२॥

वह सूत्र इस प्रकार है—दूसरेके पुत्र-पुत्रियोंका विवाह करना, कुलटा विवाहिता स्त्रीके यहाँ आना जाना, अविवाहिता कुलटा स्त्रीके यहाँ आना जाना, अनंगक्रीडा करना और कामसेवनकी तीव्र लालसा रखना ये पाँच ब्रह्मचर्य अणुव्रतके अतिचार हैं ॥४८॥

आगे इन्हींका स्वरूप वतलाते हैं—दूसरेके पुत्र पुत्रियोंका विवाह करना परविवाहकरण कहलाता है। यह भी ब्रह्मचर्यका एक अतिचार या दोष है। दूसरेके पुत्र पुत्रियोंका विवाह करना संसारमें प्रसिद्ध है, सब कोई जानता है अतएव सुगम होनेसे इसके स्वरूपके कहनेमें परिश्रम करना व्यर्थ है ॥७३॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाले पुत्र-पुत्रियोंका तो विवाह कर देना चाहिए परन्तु जिनसे अपना कोई सम्बन्ध नहीं है ऐसे पुत्र-पुत्रियोंका विवाह न तो कराना चाहिए और न उसकी अनुमोदना करनी चाहिए। यह परविवाहकरण ब्रह्मचर्य अणुव्रतका पहला अतिचार है ॥७४॥ इत्वरिका शब्दका अर्थ पुंश्चली या व्यभिचारिणी स्त्री है इसीको कुलटा कहते हैं। वह दो प्रकारकी होती है—एक परिगृहीता और दूसरी अपरिगृहीता। इन दोनोंका स्वरूप पहले अच्छी तरह कह चुके हैं ॥७५॥ परिगृहीता व्यभिचारिणी स्त्री और अपरिगृहीता व्यभिचारिणी स्त्री इन दोनोंके साथ रागपूर्वक वातचीत करना, शरीर स्पर्श करना, अथवा क्रीडा करना अतिचार है, यह अतिचार या दोष ब्रह्मचर्यको घात करनेवाला है ॥७६॥ स्वप्नमें वीर्यपात हो जाना, अथवा किसी भी स्त्रीके समागमके विना खोटी चेष्टा करना, खोटी

उक्तं च—

रतिरूपा तु या चेष्टा दम्पत्योः सानुरागयोः । श्रृङ्गारः स द्विधा प्रोक्तः संयोगो विप्रलम्भकः ॥४७

स त्याज्यो परदम्पत्योः सम्बन्धी वन्धकारणम् । प्रीतिः श्रृङ्गारशास्त्रादौ नादेया ब्रह्मचारिभिः ।६३
चक्षुर्गण्डाधरग्रीवास्तनोदरनितम्बकान् । पश्येत्तन्मनोहराङ्गनिरीक्षणमत्यादरात् ॥६४
न कर्तव्यं तदङ्गनां भाषणं वा निरीक्षणम् । कायेन मनसा वाचा ब्रह्माणुव्रतधारिणा ॥६५
रतं मोहोदयात्पूर्वं सार्द्धमन्याङ्गनादिभिः । तत्स्मरणमतीचारं पूर्वरतानुस्मरणम् ॥६६
ब्रह्मचर्यव्रतस्यास्य दोषोऽयं सर्वतो महान् । त्याज्यो ब्रह्मपयोजांशुमालिना ब्रह्मचारिणा ॥६७
वृषमन्नं यथा माषाः पयश्चेष्टरसः स्मृतः । वीर्यवृद्धिकरं चान्यत्त्याज्यमित्यादि ब्रह्मणे ॥६८
स्नेहाभ्यङ्गादिस्नानानि माल्यं स्रक्-चन्दनानि च । कुर्यादत्यर्थमात्रं चेद् ब्रह्मातीचारदोषकृत् ॥६९

स्त्रियोंकी राग-रूप कथाका सुनना कहलाता है। यहाँ पर रागरूप कथाके कहनेसे श्रृंगारके कहनेका अभिप्राय है। श्रृंगाररसके सुननेमें प्रेम करना स्त्रीरागकथा श्रवण है ॥६२॥ कहा भी है—

परस्पर एक दूसरेको प्रेम करनेवाले स्त्री-पुरुषोंकी जो काम-क्रीड़ारूप चेष्टा है उसको श्रृंगार कहते हैं। वह श्रृंगार दो प्रकारका बतलाया है—एक संयोगात्मक और दूसरा वियोगात्मक। स्त्री-पुरुषोंके मिलनेसे जो श्रृंगार-रस प्रगट होता है वह संयोगात्मक श्रृंगाररस है और स्त्री-पुरुषोंके वियोग होनेपर जो परस्पर मिलनेकी उत्कट इच्छा होती है अथवा जो वियोगजन्य दुःख होता है उसको कहना या सुनना वियोगात्मक रस है ॥४७॥

व्रती श्रावकोंको अन्य स्त्री पुरुषों से उत्पन्न होनेवाले दोनों प्रकारके श्रृङ्गाररसके सुननेका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि ऐसी कुचेष्टाओंके सुननेसे अशुभ कर्मोंका तीव्र वन्ध होता है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य व्रतको धारण करनेवाले ब्रह्मचारियोंको श्रृङ्गाररसको कहनेवाले शास्त्रोंमें भी प्रेम नहीं करना चाहिए ॥६३॥ स्त्रियोंके नेत्र, कपोल, अधर, ग्रीवा (गर्दन), स्तन, उदर, नितम्ब आदि मनोहर अंगोंको अत्यन्त आदरसे देखना तन्मनोहरांगनिरीक्षण कहलाता है ॥६४॥ ब्रह्मचर्य अणुव्रतको धारण करनेवाले व्रती गृहस्थोंको मनसे, वचनसे और कायसे स्त्रियोंके मनोहर अंगोंका न तो कभी वर्णन करना चाहिए और न कभी उनको देखना चाहिए। ब्रह्मचर्यव्रतकी रक्षा करनेके लिए यह दूसरी भावना है ॥६५॥ मोहनीयकर्मके उदयसे पहले जो अन्य स्त्रियोंके साथ कामक्रीडा की थी उसका स्मरण करना पूर्वरतानुस्मरण कहलाता है। यह पूर्वरतानुस्मरण नामका दोष इस ब्रह्मचर्य व्रतका सवसे बड़ा दोष है। इसलिए इस ब्रह्मचर्यव्रतरूपी कमलको प्रफुल्लित करनेके लिए सूर्यके समान ब्रह्मचारीको इस पूर्वरतानुस्मरण नामके दोषका त्याग अवश्य कर देना चाहिये। यह तीसरी भावना है ॥६६–६७॥ उड़दकी दाल, दूध तथा अपनेको अच्छे लगने वाले जितने रस हैं वे सब पौष्टिक रस कहलाते हैं, अथवा वीर्यको बढ़ाने वाले जितने भी पदार्थ हैं वे सव पौष्टिक रस कहलाते हैं। अणुव्रती श्रावकोंको अपना ब्रह्मचर्य सुदृढ बनानेके लिये ऐसे पौष्टिक रसोंके सेवन करनेका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। यह ब्रह्मचर्यकी रक्षा करनेके लिए चौथी भावना है ॥६८॥ तेल लगाकर नहाना, उवटन लगाकर नहाना, फूलोंका श्रृंगार करना, माला पहिनना, चन्दन लगाना तथा इनके सिवाय शरीरका संस्कार करनेवाले जितने भी पदार्थ हैं उनका अधिकताके साथ सेवन करना स्वशरीरसंस्कार कहलाता है। यह स्वशरीरसंस्कार ब्रह्मचर्यको घात करनेवाला, उसमें अनेक प्रकारके दोष उत्पन्न करनेवाला और

स्वशरीरसंस्काराख्यो दोषोऽयं ब्रह्मचारिणः । तो मुनिना त्याज्यो देशतो गृहमेधिभिः ॥७०
भावनाः पञ्च निर्दिष्टाः सर्वतो मुनिगोचराः । तत्रासक्तिर्गृहस्थानां वर्जनीया स्वशक्तितः ॥७१
लक्ष्यन्तेऽत्राऽप्यतीचाराः ब्रह्मचर्यव्रतस्य ये । पञ्चैवेति यथा सूत्रे सूक्ताः प्रत्यक्षवादिभिः ॥७२

तत्सूत्रं यथा—
परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥४८

परविवाहकरणं दोषो ब्रह्मव्रतस्य यः । व्यक्तो लोकप्रसिद्धत्वात्सुगमे प्रयासो वृथा ॥७३
अयं भावः स्वसम्बन्धिपुत्रादींश्च विवाहयेत् । परवर्गविवाहांश्च कारयेन्नानुमोदयेत् ॥७४
इत्वरिका स्यात्पुंश्चली सा द्विधा प्राग्यथोदिता । काचित्परिगृहीता स्यादपरिगृहीता परा ॥७५
ताभ्यां सरागवागादिवपुःस्पर्शोऽथवा रतम् । दोषोऽतीचारसंज्ञोऽपि ब्रह्मचर्यस्य हानये ॥७६
दोषश्चानङ्गक्रीडाख्यः स्वप्नादौ शुक्रविच्युतिः ।
विनापि कामिनीसङ्गात्क्रिया वा कुत्सितोदिता ॥७७

अनेक प्रकारके अतिचार उत्पन्न करनेवाला है ॥६९॥ ब्रह्मचर्य अणुव्रतको धारण करनेवाले ब्रह्मचारियोंको यह स्वशरीरसंस्कार नामका दोष भी एक प्रवल दोष है। मुनियोंको इसका त्याग पूर्ण रूपसे कर देना चाहिये और गृहस्थोंको इसका त्याग एकदेश रूपसे करना चाहिये। यह ब्रह्मचर्यकी रक्षा करनेवाली पांचवीं भावना है ॥७०॥ इस प्रकार ब्रह्मचर्यकी पाँचों भावनाओंका निरूपण किया। इन भावनाओंका पूर्ण रीतिसे पालन मुनियोंसे ही होता है तथा गृहस्थोंको अपनी शक्तिके अनुसार इन सबमें आसक्त या लीन रहनेका त्याग कर देना चाहिये। तथा अपनी शक्तिके अनुसार इनमेंसे जितना त्याग वन सके उतना त्याग कर देना चाहिये। इस प्रकार पाँचों भावनाओंका स्वरूप वतलाया ॥७१॥ इस ब्रह्मचर्य व्रतके भी पाँच अतिचार हैं जो सर्वज्ञदेवने वतलाये हैं तथा जो सूत्रकारने अपने सूत्रमें लिखे हैं ॥७२॥

वह सूत्र इस प्रकार है—दूसरेके पुत्र-पुत्रियोंका विवाह करना, कुलटा विवाहिता स्त्रीके यहाँ आना जाना, अविवाहिता कुलटा स्त्रीके यहां आना जाना, अनंगक्रीडा करना और कामसेवनकी तीव्र लालसा रखना ये पाँच ब्रह्मचर्य अणुव्रतके अतिचार हैं ॥४८॥

आगे इन्हींका स्वरूप वतलाते हैं—दूसरेके पुत्र पुत्रियोंका विवाह करना परविवाहकरण कहलाता है। यह भी ब्रह्मचर्यका एक अतिचार या दोष है। दूसरेके पुत्र पुत्रियोंका विवाह करना संसारमें प्रसिद्ध है, सव कोई जानता है अतएव सुगम होनेसे इसके स्वरूपके कहनेमें परिश्रम करना व्यर्थ है ॥७३॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि अपनेसे सम्वन्ध रखनेवाले पुत्र-पुत्रियोंका तो विवाह कर देना चाहिए परन्तु जिनसे अपना कोई सम्वन्ध नहीं है ऐसे पुत्र-पुत्रियोंका विवाह न तो कराना चाहिए और न उसकी अनुमोदना करनी चाहिए। यह परविवाहकरण ब्रह्मचर्य अणुव्रतका पहला अतिचार है ॥७४॥ इत्वरिका शब्दका अर्थ पुंश्चली या व्यभिचारिणी स्त्री है इसीको कुलटा कहते हैं। वह दो प्रकारकी होती है—एक परिगृहीता और दूसरी अपरिगृहीता। इन दोनोंका स्वरूप पहले अच्छी तरह कह चुके हैं ॥७५॥ परिगृहीता व्यभिचारिणी स्त्री और अपरिगृहीता व्यभिचारिणी स्त्री इन दोनोंके साथ रागपूर्वक वातचीत करना, शरीर स्पर्श करना, अथवा क्रीडा करना अतिचार है, यह अतिचार या दोष ब्रह्मचर्यको घात करनेवाला है ॥७६॥ स्वप्नमें वीर्यपात हो जाना, अथवा किसी भी स्त्रीके समागमके विना खोटी चेष्टा करना, खोटी

कामतीव्राभिनिवेशो दोषोऽतीचारसंज्ञकः । दुर्दान्तवेदनाक्रान्तस्मरसंस्कारपीडितः ॥७८
ननु चास्ति स दुर्वारो दुस्त्याज्या मानसी क्रिया । ब्रह्मव्रतगृहीतस्य सतोऽत्र वद का गतिः ॥७९
उच्यते गतिरस्यास्ति वृद्धैः सूत्रे प्रमाणिता । यथा कथञ्चिन्न त्याज्या नीता ब्रह्मव्रतक्रिया ॥८०
उक्तं ब्रह्मव्रतं साङ्गमतिचारविवर्जितम् । पालनीयं सदाचारैः स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ॥८१
उपाधिपरिमाणस्य सद्विधिश्चाधुनोच्यते । सति यत्रोदितानां स्याद्व्रतानां स्थितिसन्ततिः ॥८२
मुनिभिः सर्वतस्त्याज्यं तृणमात्रपरिग्रहम् । तत्संख्या गृहिभिः कार्या त्रसहिंसादिहानये ॥८३
अवश्यं द्रविणादीनां परिमाणं च परिग्रहे । गृहस्थेनापि कर्तव्यं हिंसातृष्णोपशान्तये ॥८४
परिमाणे कृते तस्मादर्वाग्मूर्च्छा प्रवर्तते । अभावान्मूर्च्छायास्तूर्ध्वं मुनित्वमिव गीयते ॥८५
तस्मादात्मोचितादृद्रव्याद् ह्रासनं तद्वरं स्मृतम् । अनात्मोचितसङ्कल्पाद् ह्रा तन्निरर्थं ॥८६
अनात्मोचितसङ्कल्पाद् ह्रासनं यन्मनी । कुर्युर्यद्वा न कुर्युर्वा तत्सर्वं व्योमचित्रवत् ॥८७

क्रिया करना अनंगक्रीडा नामका दोष कहलाता है ॥७७॥ काम सेवनकी तीव्र वेदनाके वशीभूत होकर कामके विकारसे अत्यन्त पीड़ित हुआ मनुष्य जो कामसेवनकी तीव्र लालसा रखता है उसको कामतीव्राभिनिवेश नामका अतिचार कहते हैं ॥७८॥ यहाँपर शंकाकार कहता है कि मनके विकारोंका त्याग करना अत्यन्त कठिन है फिर भला जिसने ब्रह्मचर्य अणुव्रत धारण कर लिया है और मनके विकारोंका त्याग कर नहीं सकता ऐसा मनुष्य उस व्रतका पालन किस प्रकार कर सकेगा, उसके व्रत पालन करनेका क्या उपाय है सो बतलाना चाहिए ॥७९॥ ग्रन्थकार इस शंकाका उत्तर देते हुए कहते हैं कि ऐसे मनुष्योंके व्रत पालन करनेका उपाय भी है। जो कि वृद्ध पुरुषोंने, बड़े-बड़े आचार्योंने सूत्रोंमें बतलाया है। उसका अभिप्राय यही है कि जो ब्रह्मचर्यव्रत धारण किया है उसको जिस प्रकार बने उसी प्रकार पालन करना चाहिए, उसको किसी भी प्रकार छोड़ना नहीं चाहिये ॥८०॥ इस प्रकार ब्रह्मचर्य अणुव्रतका स्वरूप कहा। अणुव्रतोंको धारण करनेवाले श्रावकों-को स्वर्ग और मोक्षके अनुपम सुख देनेवाला यह व्रत अतिचार रहित और भावनाओं सहित पालन करना चाहिए ॥८१॥ अब आगे परिग्रहके परिमाण करनेकी विधि कहते हैं। यह निश्चित है कि परिग्रहके परिमाण करनेसे ही ऊपर कहे हुए समस्त व्रत चिरकाल तक ठहर सकते हैं ॥८२॥ तृणमात्र भी परिग्रहका त्याग मुनियोंको पूर्णरूपसे कर देना चाहिए। तथा अणुव्रती श्रावकोंको त्रसजीवोंकी हिंसाके त्यागका पालन करनेके लिए अथवा त्रसजीवोंकी रक्षा करनेके लिए उस परिग्रहका परिमाण नियत कर लेना चाहिए ॥८३॥

हिंसा और तृष्णाको शान्त करनेके लिए गृहस्थोंको धन धान्य आदि परिग्रहका परिमाण अवश्य कर लेना चाहिए ॥८४॥ जो मनुष्य जितने परिग्रहका परिमाण कर लेता है उसकी लालसा वा मूर्च्छा उतने ही परिग्रहमें रहती है। उतने परिग्रहसे अधिक परिग्रहमें उसकी मूर्च्छा या लालसा नहीं रहती। किये हुए परिमाणसे अधिक परिग्रहमें उसकी मूर्च्छाका सर्वथा अभाव हो जाता है। अतएव किये हुए परिमाणके ऊपर वह परिमाण करनेवाला मुनिके समान समझा जाता है ॥८५॥ अतएव अपने योग्य जो परिग्रह है उसमेंसे घटाना ही कल्याणकारी है। जो द्रव्य अपने योग्य नहीं है उसका घटाना या त्याग करना व्यर्थ है ॥८६॥ जो परिग्रह या जो द्रव्य अपने लिए कभी संभव नहीं हो सकते उनका त्याग या उनका कम करना केवल मनके संकल्पसे होता है अतएव उनका त्याग करना या न करना दोनों ही आकाशके चित्रके समान हैं। भावार्थ—जैसे

प्रत्यग्रजन्मनीहेदमत्यन्ताभावलक्षणम् । तत्त्यागोऽपि वरं कैश्चिदुच्यते सारवर्जितम् ॥८८
तत्रोत्सर्गो नृपर्यायस्थितिमात्रकृते धनम् । रक्षणीयं व्रतस्थैस्तैस्त्याज्यं शेषमशेषतः ॥८९
अपवादस्तूपात्तानां व्रतानां रक्षणं यथा । स्याद्वा न स्यात्तु तद्धानिः संख्यातव्यस्तथोपधिः ॥९०
रक्षार्थं तद्व्रतस्यापि भावनाः पञ्च सम्मताः । भावनीयाश्च ता नित्यं तथा सूत्रेऽपि लक्षिताः ॥९१

तत्सूत्रं यथा—

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ॥४९

इन्द्रियाणि स्फुटं पञ्च पञ्च तद्विषयाः स्मृताः । यथास्वं तत्परित्यागभावनाः पञ्च नामतः ॥९२
पञ्चस्वेषु मनोज्ञेषु भावना रागवर्जनम् । अमनोज्ञेषु तेषूच्चैर्भावना द्वेषवर्जनम् ॥९३
अयमर्थो यदीष्टार्थसंयोगोऽस्ति शुभोदयात् । तदा रागो न कर्तव्यो हिरण्याद्यपकर्षता ॥९४

आकाशके चित्रोंका होना कल्पना मात्र होनेसे असंभव है। आकाशमें चित्र हो नहीं सकते उसी प्रकार जिन पदार्थोंका प्राप्त होना कभी संभव नहीं है उन पदार्थोंका त्याग करना या परिमाण करना व्यर्थ है। उनके त्याग करने या परिमाण करनेको व्रत नहीं कह सकते ॥८७॥ इस विषयमें कोई कोई लोग ऐसा भी कहते हैं कि इस जन्ममें जिस पदार्थका प्राप्त होना अत्यन्त असंभव है अथवा जो पदार्थ अत्यन्त सारहीन है व्यर्थके समान है उसका त्याग करना भी अच्छा है ॥८८॥ इस परिग्रहके त्याग करनेका उत्सर्ग मार्ग यह है कि इस मनुष्य पर्यायको स्थिर रखनेके लिए जितने धनकी आवश्यकता है उतना धन तो रख लेना चाहिए और बाकीका जितना धन है या जितना परिग्रह है उस सबका अणुव्रती श्रावकोंको त्याग कर देना चाहिए ॥८९॥ इसका भी आवश्यक अपवाद यह है कि जो व्रत धारण कर लिये हैं उनकी रक्षा जिस प्रकार हो जाय जितने धन या परिग्रहसे हो जाय अथवा जितना धन या परिग्रह रखनेसे उन व्रतोंमें किसी प्रकारकी हानि न हो उतने परिग्रहका परिमाण कर लेना चाहिए ॥९०॥ अन्य व्रतोंके समान इस परिग्रहत्यागव्रतकी रक्षा करनेके लिए भी पाँच भावनाएँ हैं जो कि तत्त्वार्थसूत्रमें बतलाई हैं। अणुव्रती श्रावकोंको उनका भी पालन करते रहना चाहिए ॥९१॥

उन भावनाओंको कहनेवाला सूत्र यह है—मनोज्ञ और अमनोज्ञ जो इन्द्रियोंके विषय हैं उनमें रागद्वेषका त्याग कर देना परिग्रहत्यागकी पांच भावनाएँ हैं ॥४९॥

आगे उन्हींका विशेष वर्णन करते हैं—इन्द्रियाँ पाँच हैं और उनके विषय भी पाँच हैं। उनका यथायोग्य रीतिसे त्याग करना ही पाँच भावनाएँ हैं ॥९२॥ इसका भी अर्थ यह है कि पाँचों इन्द्रियोंके जो विषय हैं उनमें कुछ मनोज्ञ विषय रहते हैं और कुछ अमनोज्ञ विषय रहते हैं। उनमें से जो मनोज्ञ विषय हैं इन्द्रियोंको अच्छे लगनेवाले विषय हैं उनमें राग नहीं करना चाहिए तथा जो अमनोज्ञ विषय है इन्द्रियोंको बुरे लगनेवाले विषय हैं उनमें द्वेष नहीं करना चाहिए। पाँचों इन्द्रियोंको अच्छे लगनेवाले विषयोंमें रागका त्याग कर देना और बुरे लगनेवाले विषयोंमें द्वेषका त्याग कर देना ही इस व्रतकी भावनाएँ हैं ॥९३॥ इसका भी खुलासा यह है कि यदि शुभ कर्मोंके उदयसे इष्ट पदार्थोंका संयोग हो जाय, सोना, चाँदी, भोजन, वस्त्र आदि उत्तम पदार्थ प्राप्त हो जायँ तो सोना चाँदी आदि पदार्थोंको घटानेकी इच्छा करनेवाले श्रावकको उन पदार्थोंमें राग नहीं करना चाहिए। शांत और मध्यस्थ भावोंसे उसका उपभोग करना चाहिए ॥९४॥ यदि अशुभ

अथानिष्टार्थसंयोगो दुर्दैवाज्जायते नृणाम् । तथा द्वेषो न कर्तव्यो धनसंख्याव्रतेप्सिना ॥९५
इष्टानिष्टादिशब्दार्थः सुगमत्वान्न लक्षितः । रागद्वेषौ प्रसिद्धौ स्तः प्रयासः सुगमे वृथा ॥९६
अत्रातीचारसंज्ञाः स्युः दोषाः संख्याव्रतस्य च । उदिता सूत्रकारेण त्याज्या व्रतविशुद्धये ॥९७

तत्सूत्रं यथा—

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥५०

क्षेत्रं स्याद्वसतिस्थानं धान्याधिष्ठानमेव वा । गवाद्यागारमात्रं वा स्वीकृतं यावदात्मना ॥९८
ततोऽतिरिक्ते लोभान्मूर्च्छावृत्तिरतिक्रमः । न कर्तव्यो व्रतस्थेन कुर्वतोपधितुच्छताम् ॥९९
वास्तु वस्त्रादिसामान्यं ख्यां क्रियतां बुधैः । अतीचारनिवृत्त्यर्थं कार्यो नातिक्रमस्ततः ॥१००
हिरण्यध्वनिना प्रोक्तं वज्रमौक्तिकसत्फलम् । तेषां प्रमाणमात्रेण क्षणान्मूर्च्छा प्रलीयते ॥१०१
अत्र सुवर्णशब्देन ताम्रादिरजतादयः । संख्या तेषां च कर्तव्या श्रेयान्नातिक्रमस्ततः ॥१०२

कर्मके उदयसे मनुष्योंको अनिष्ट पदार्थोंका संयोग हो जाय, रोग या कुपुत्र या कलह करनेवाली स्त्रीका संयोग प्राप्त हो जाय तो धन-धान्यादिका परिमाण करनेवाले या घटानेकी इच्छा करनेवाले श्रावकोंको उन अनिष्ट पदार्थोंसे द्वेष नहीं करना चाहिए। उन अनिष्ट पदार्थोंके संयोगको भी शांत और मध्यस्थ भावोंसे भोगना चाहिए ॥९५॥ इष्ट और अनिष्ट शब्दोंका अर्थ सुगम है इसलिए उनका अलग लक्षण नहीं कहा है। इसी प्रकार राग और द्वेष शब्द भी प्रसिद्ध हैं अतएव उनका अर्थ भी नहीं बतलाया है क्योंकि जिन शब्दोंका अर्थ सुगमतासे मालूम हो जाय उनके अर्थ बतलानेमें परिश्रम करना व्यर्थ है ॥९६॥ इस परिग्रहपरिमाणव्रतके भी पाँच अतिचार हैं जो सूत्रकारने भी अपने सूत्रमें बतलाए हैं। अणुव्रती श्रावकोंको अपने व्रत शुद्ध रखनेके लिये उन दोषोंका भी त्याग कर देना चाहिए ॥९७॥

उन अतिचारोंको कहने वाला जो सूत्र है वह यह है—क्षेत्र वास्तु हिरण्य सुवर्ण धन धान्य दासी दास और कुप्य पदार्थोंका जितना परिणाम किया है उसको उल्लङ्घन करना परिग्रहपरिमाण-व्रतके अतिचार हैं ॥५०॥

आगे इन्हींका विशेष करते हैं। क्षेत्र शब्दका अर्थ रहनेका स्थान है अथवा जिसमें गेहूँ, जौ, चावल आदि धान्य उत्पन्न होते हैं ऐसे खेतोंको भी क्षेत्र कहते हैं अथवा जिनमें गाय भैंस आदि पशु बाँधे जाते हैं ऐसे स्थानको भी क्षेत्र कहते हैं। ऐसे क्षेत्रका जितना परिमाण कर लिया है उससे अधिक क्षेत्रमें किसी लोभके कारण मूर्च्छा रखना, मोह रखना, ममत्व रखना अतिक्रम या अतिचार कहलाता है। अणुव्रतोंको धारण करनेवाले और परिग्रहको घटानेकी इच्छा करनेवाले श्रावकको ऐसे अतिचारका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥९८–९९॥ वस्त्र आदि सामानको वास्तु कहते हैं। बुद्धिमान श्रावकोंको अतिचार या दोषोंका त्याग करनेके लिये वस्त्रादिकोंका परिमाण भी नियत कर लेना चाहिये तथा जो परिमाण नियत कर लिया है उसका उल्लङ्घन कभी नहीं करना चाहिये ॥१००॥ हिरण्य शब्दका अर्थ हीरा मोती मानिक आदि जवाहरात हैं ऐसे पदार्थोंका परिमाण कर लेनेसे अणुव्रती श्रावकका ममत्व क्षणभरमें नष्ट हो जाता है ॥१०१॥ यहाँ सुवर्ण शब्दका अर्थ सोना, चाँदी, तांबा, पीतल आदि धातु समझना चाहिये। अणुव्रती श्रावकको ऐसी धातुओंका परिमाण भी नियत कर लेना चाहिये तथा जितना परिमाण नियत किया है उसका

धनशब्दो गवाद्यर्थः स्याच्चतुष्पदवाचकः । विधेयं तत्परिमाणं ततो नातिक्रमो वरः ॥१०३
धान्यशब्देन मुद्गादि यावदन्नकदम्बकम् । व्रतं तत्परिमाणेन व्रतहानिरति   ात् ॥१०४
दासकर्मरता दासी क्रीता वा स्वीकृता सती । तत्संख्या   शुद्धचर्थं कर्तव्या सानतिक्रमात् ॥१०५
यथा दासी तथा दासः संख्या तस्यापि श्रेयसी । श्रेयानतिक्रमो नैव हिंसातृष्णोपबृंहणात् ॥१०६
कुप्यशब्दो घृताद्यर्थस्तद्भाण्डं भाजनानि वा । तेषामप्यल्पीकरणं श्रेयसे स्याद्व्रतार्थिनाम् ॥१०७
उक्ताः संख्याव्रतस्यास्य दोषाः संक्षेपतो मया । परिहार्याः प्रयत्नेन संख्याणुव्रतधारिणा ॥१०८
प्रोक्तं सूत्रानुसारेण यथाणुव्रतपञ्च   । गुणव्र   यं वक्तुमुत्सहेदधुना कविः ॥१०९
दिग्देशानर्थदण्डानां विरतिः स्याद्गुण   । एकत्वाद्विरतेश्चापि त्रेधा विषयभेदतः ॥११०
दिग्विरतिर्यथानाम दिक्षु प्राच्यादिकासु च । गमनं प्रतिजानीते कृत्वासीमानमार्हतः ॥१११

उल्लङ्घन कभी नहीं करना चाहिये ॥१०२॥ धन शब्दका अर्थ गाय भैंस घोड़ा आदि चार पैर वाले पशु हैं। अणुव्रती श्रावकको गाय भैंस आदि पशुओंका परिमाण भी नियत कर लेना चाहिये तथा जितने पशुओंका परिमाण नियत किया है उससे कभी बढ़ाना नहीं चाहिये ॥१०३॥ गेहूँ, जौ, उड़द, मूंग आदि सब प्रकारके अन्नोंको धान्य कहते हैं। परिग्रहका परिमाण करनेवाले श्रावकको इन धान्योंका परिमाण भी नियत कर लेना चाहिये तथा जितना परिमाण नियत किया है उसका उल्लङ्घन कभी नहीं करना चाहिये क्योंकि नियत किये हुए परिमाणका उल्लङ्घन करनेसे व्रतकी हानि होती है, व्रतमें दोष लगता है ॥१०४॥ घरका काम काज करनेवाली स्त्रीको दासी कहते हैं, चाहे वह खरीदी हो, नौकर रक्खी हुई हो अथवा और किसी तरहसे काम काजके लिये घरमें रख ली हो। अणुव्रती श्रावकोंको अपना परिग्रह परिमाणव्रत शुद्ध रखनेके लिये दासियोंकी संख्या भी नियत कर लेनी चाहिये तथा जितनी संख्या नियत की है उसका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये ॥१०५॥ जिस प्रकार टहल चाकरी करनेवाली दासियाँ होती हैं उसी प्रकार दास होते हैं। अणुव्रती श्रावकको दासोंकी संख्या भी नियत कर लेनी चाहिये और फिर नियत की हुई संख्याको कभी नहीं बढ़ाना चाहिये क्योंकि नियत की हुई संख्याको बढ़ा लेनेसे हिंसा और तृष्णाकी वृद्धि होती है ॥१०६॥ कुप्य शब्दका अर्थ घी तेल आदि रखनेके बर्तन अथवा रोटी पानी आदिके वर्तन हैं। व्रतोंको धारण करनेवाले श्रावकोंको उन वर्तनोंकी संख्या भी घटा लेनी चाहिये क्योंकि ममत्व या परिग्रह जितना कम होता है उतना ही पाप कम लगता है तथा उतना ही आत्माका कल्याण अधिक होता है ॥१०७॥ इस प्रकार संक्षेपसे परिग्रह परिमाणके अतिचार या दोष बतलाये। परिग्रहपरिमाण नामके अणुव्रतको धारण करनेवाले श्रावकको प्रयत्न पूर्वक इनका त्याग कर देना चाहिये ॥१०८॥ जिस प्रकार पाँचों अणुव्रतोंका स्वरूप सूत्रके अनुसार निरूपण किया है उसी प्रकार अब तीनों गुणव्रतोंका स्वरूप कहते हैं ॥१०९॥ दिशाओंका त्याग करना (दिशाओंकी मर्यादा नियत कर उससे आगे आने जानेका त्याग करना) देशका त्याग (कुत्सित देशमें जानेका त्याग अथवा जो त्याग किया है उसको किसी कालकी मर्यादासे और घटाना) तथा अनर्थ दण्डोंका त्याग (विना प्रयोजनके जिनमें पाप लगता है ऐसी क्रियाओंका त्याग कर देना) इन तीनोंको गुणव्रत कहते हैं। यद्यपि त्यागकी अपेक्षासे ये तीनों ही एक हैं तथापि जिनका त्याग किया जाता है उन विषयोंमें भेद होनेसे तीन प्रकारके कहलाते हैं ॥११०॥ भगवान् अरहन्तदेवकी आज्ञानुसार व्रतोंको धारण करनेवाले श्रावकको पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि सब दिशाओंकी सीमा नियत कर

सन्त्यत्र विषयाः सीम्नः वननीवृन्नगापगाः । अनु तानवधिं कृत्वा गच्छेदर्वाग्न तद्वहिः ॥११२
पूर्वस्यां दिशि गच्छामि यावद्गङ्गाम्बु केवलम् । तद्वहिर्वपुषानेन न गच्छामि सचेतनः ॥११३
एवं कृतप्रतिज्ञस्य संवरः पापकर्मणः । तद्वहिः सर्वहिंसाया अभावात्तन्मुनेरिव ॥११४
परिपाटयानयोदीच्यां पश्चिमायां दिशि स्मृताः । मर्यादोर्ध्वमधश्चापि दक्षिणस्यां विदिक्षु च ॥११५
तत्करणे महच्छ्रेयो हिंसा तृष्णाद्वयात्ययात् । करणीयं ततोऽवश्यं श्रावकैर्व्रतधारिभिः ॥११६
सन्ति तत्राप्यतीचाराः पञ्चेति सूत्रसाधिताः । सावधानतया त्याज्यास्तेऽपि तद्व्रतसिद्धये ॥११७

तत्सूत्रं यथा—

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ॥५१

उच्चैर्धात्रीधरारोहे भवेदूर्ध्वव्यतिक्रमः । अगाधभूधरावेशाद्विख्यातोऽधोव्यतिक्रमः ॥११८
क्वचिद्दिक्कोणदेशादौ क्षेत्रे दीर्घाध्ववर्तिनि । कारणाद् गमनं लोभाद् भवेत्तिर्यग्व्यतिक्रमः ॥११९

उससे आगे न जानेका नियम लेना दिग्व्रत अथवा दिग्विरतिव्रत कहलाता है ॥१११॥ वन, देश, पर्वत, नदी और वड़े वड़े देश इस दिग्व्रतकी सीमा कहलाते हैं। इनकी मर्यादा नियत करके उस मर्यादाके भीतर ही जाना चाहिये। मर्यादाके वाहर कभी नहीं जाना चाहिये ॥११२॥ जैसे मैं इस शरीरसे सचेतन अवस्थामें पूर्व दिशामें जहाँ तक गंगा नदी वहती है वहाँ तक जाऊँगा इससे आगे कभी नहीं जाऊँगा ॥११३॥ इस प्रकारकी प्रतिज्ञा करनेवाले श्रावकको मर्यादाके वाहर मुनिके समान समस्त हिंसाका त्याग हो जाता है। अतएव उस श्रावकके मुनियोंके समान ही पापकर्मोंका संवर होता है ॥११४॥ जिस प्रकार यह पूर्व दिशाका उदाहरण दिया है उसी प्रकार उत्तर दिशामें, पश्चिम दिशामें, दक्षिण दिशामें, ईशान आग्नेय नैंऋत्य वायव्यादिक चारों विदिशाओंमें तथा ऊपरकी और नीचेकी ओर भी मर्यादा नियत कर उससे आगे न जानेकी प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये ॥११५॥ इस प्रकार दशों दिशाओंमें मर्यादा नियत कर उससे आगे न जानेकी प्रतिज्ञा कर लेनेसे आत्माका वहुत भारी कल्याण होता है क्योंकि इस प्रकारकी प्रतिज्ञा करनेसे हिंसा और तृष्णा दोनोंका त्याग हो जाता है। मर्यादा नियत कर लेने पर मर्यादाके वाहर फिर किसी भी प्रकारका सम्वन्ध रखनेकी तृष्णा नहीं रहती है और न किसी प्रकारकी हिंसा हो सकती है अतएव व्रत धारण करनेवाले श्रावकोंको यह दिग्व्रत अवश्य धारण कर लेना चाहिये ॥११६॥ अन्य व्रतोंके समान इस दिग्व्रतके भी पाँच अतिचार हैं जो कि सूत्रमें वतलाये हैं। इस दिग्व्रतको अच्छी तरह पालन करनेके लिये, निर्दोष या शुद्ध पालन करनेके लिये इन सव अतिचारोंका त्याग भी वड़ी सावधानी के साथ कर देना चाहिये ॥११७॥

उन अतिचारोंके कहनेवाला वह सूत्र यह है—ऊर्ध्वव्यतिक्रम अर्थात् ऊपरकी मर्यादाका उल्लङ्घन करना, अधोव्यतिक्रम अर्थात् नीचेकी मर्यादाका उल्लङ्घन करना, तिर्यग्व्यतिक्रम अर्थात् आठों दिशाओंकी मर्यादाका उल्लङ्घन करना, क्षेत्रकी मर्यादा वढ़ा लेना और नियत की हुई मर्यादाको भूल जाना ये पाँच दिग्व्रतके अतिचार हैं ॥५१॥

आगे इन्हींका विशेष वर्णन करते हैं। ऊँची पृथ्वी पर चढ़नेसे अथवा किसी पर्वत पर चढ़नेसे ऊर्ध्वव्यतिक्रम होता है। इस प्रकार किसी पर्वतकी वहुत नीची गुफामें जानेसे अधोव्यतिक्रम होता है। भावार्थ—ऊपर और नीचेकी जितनी मर्यादा नियत कर ली है उसका उल्लङ्घन करना अतिचार है ॥११८॥ कोई कोई देश ऐसे हैं जो दिशाओंके कोनोंमें हैं और वहुत लम्वे हैं

यथा सत्यमितः क्रोशः शतं द् गति । क्रोशा मालवदेशीया क्षेत्रवृद्धिश्च दूषणम् ॥१२०
स्मृतं स्मृत्यन्तराधानं विस्मृतं च पुनः स्मृतम् । दूषणं दिग्विरतेः स्यादनिर्णीतमियत्तया ॥१२१
प्रोचिता देशविरतिर्यावत्कालात्मवर्तिनी । तत्पर्यायाः क्षणं यामदिनमासत्तु वत्सराः ॥१२२
तद्विषयो गतित्यागस्तथा चाशन नम् । मैथुनस्य परित्यागो यद्वा मौनादिधारणम् ॥१२३
यथाद्य यदि गच्छामि प्राच्यामेवेति केवलम् । कारणान्नापि गच्छामि शेषदिक्त्रितये वशात् ॥१२४

अथवा उनका जो मार्ग है वह वहुत ही लम्बा है। मर्यादासे वाहर ऐसे किसी देश या क्षेत्रमें किसी लोभके कारणसे जाना तिर्यग्व्यतिक्रम नामका अतिचार कहलाता है। व्रती श्रावकोंको ऐसा अतिचार नहीं लगाना चाहिये ॥११९॥ यह ठीक है कि वह नगर यहाँसे सौ कोश है तथा यहाँसे सौ कोश तक जानेकी ही मेरी मर्यादा है परन्तु ये कोश मालव देशके कोश हैं इसको क्षेत्र वृद्धि नाम-का दोष कहते हैं। भावार्थ—देशके भेदसे कोशमें भी भेद होता है। जैसे उत्तरकी ओर (मेरठ सहारनपुरकी ओर) सोलह मीलके वारह कोश गिने जाते हैं परन्तु आगरेकी ओर सोलह मीलके आठ ही कोश होते हैं। कहीं कहीं पर तीन तीन मीलका भी एक कोश माना जाता है। जिस श्रावकने पहले सौ कोशकी मर्यादा नियत कर ली है वह श्रावक यदि काम पड़ने पर यह कहे कि कोश मालवदेशके कोशसे सम्भाले जायेंगे अथवा अन्य किसी देशके कोश मालवदेशके कोशसे भी बड़े हों और वह श्रावक वहाँके कोशोंसे अपनी मर्यादाके सौ कोश सम्भाले तो उसके क्षेत्र वृद्धि नामका दोष होता है क्योंकि पहले उसने साधारण या उस देशमें प्रचलित कोशोंसे मर्यादा नियत की थी और अव वह अपनी सौ कोशकी संख्याको तो नियत रखता है उसको तो नहीं वढ़ाता किन्तु कोशोंको वड़ा मानकर क्षेत्रकी मर्यादा बढ़ा लेता है अतएव व्रतका एक देश भंग होनेके कारण वह अतिचार या दोष कहलाता है। ऐसा दोष व्रती श्रावकको कभी नहीं लगाना चाहिए ॥१२०॥ जो मर्यादा नियत की थी वह पहले तो स्मरण थी, फिर कुछ दिन वाद उसे भूल गया अथवा नियत संख्याको भूल कर कोई और संख्या स्मरण हो आई ऐसे दोषको स्मृत्य-न्तराधान कहते हैं। निश्चय न होनेके कारण व्रतका निश्चय भी नहीं हो सकता इसलिए यह दोष व्रतका एक देशभंग करनेवाला है। ऐसा अतिचार व्रती श्रावकको कभी नहीं लगाना चाहिए ॥१२१॥ अव आगे देशव्रतका निरूपण करते हैं। किसी नियत समय तक त्याग करनेको देशविरति या देशव्रत कहते हैं। नियत समय तक अथवा थोड़े कालतकका अर्थ एक पहर, एक दिन, एक महीना, एक ऋतु या दो महीना अथवा एक वर्ष लेना चाहिए। भावार्थ—एक पहर, एक दिन, एक महीना, एक वर्ष आदि कालकी मर्यादा नियत कर किसी भी पाप रूप क्रियाका त्याग करना देशविरति नामका व्रत कहलाता है ॥१२२॥ इस व्रतका विपय गमन करनेका त्याग, भोजन करनेका त्याग, मैथुन करनेका त्याग अथवा मौन धारण करना आदि है। भावार्थ—यहाँ पर देश शव्दका अर्थ एकदेश है, व्रती श्रावकने जो जो व्रत धारण कर रक्खे हैं उनमें जन्म भरके लिए जिन जिन पापरूप क्रियाओंका त्याग कर रक्खा है उन पापरूप क्रियाओंको किसी कालकी मर्यादा नियत कर और अधिक त्याग कर देना देशव्रत है। यह व्रत समस्त व्रतोंकी मर्यादाका और संक्षेप करता है, परन्तु करता है कुछ कालके लिये; इसीलिये इसको देशव्रत कहते हैं ॥१२३॥ जैसे यदि आज मैं कहीं जाऊँगा तो केवल पूर्व दिशामें ही जाऊँगा। यदि आज मुझे जानेके लिये कोई विशेष कारण भी मिल जायगा तो भी मैं वाकीको तीन दिशाओंमें नहीं जाऊँगा ॥१२४॥

यथा वा यावदद्याह्नि भूयान्मेऽनशनं महत् । यद्वा तत्रापि रात्रौ च ब्रह्मचर्यं ममास्तु तत् ॥१२५
यथा वा वर्षासमये चातुर्मास्येऽथ योगिवत् । इतः स्थानान्न गच्छामि क्वापि देशान्तरे जवात् ॥१२६
परिपाट्यानया योज्या वृत्तिः स्याद्बहुविस्तरा । कर्तव्या च यथाशक्ति मातेव हितकारिणी ॥१२७
पञ्चातिचारसंज्ञाः स्युर्दोषाः सूत्रोदिता बुधैः । देशविरतिरूपस्य व्रतस्यापि मलप्रदाः ॥१२८

तत्सूत्रं यथा—

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥५२

आत्मसङ्कल्पिताद्देशाद्बहिः स्थितस्य वस्तुनः । आनयेतीङ्गितैः किञ्चिद् ज्ञापनानयनं मतम् १२९
उक्तं केनाप्यनुक्तेन स्वयं तच्चानयाम्यहम् । एवं कुर्विति नियोगो प्रेष्यप्रयोग उच्यते ॥१३०
शब्दानुपातनामापि दोषोऽस्तीचारसंज्ञकः । संदेशकारणं दूरे तद्व्यापारकरान् प्रति ॥१३१
दोषो रूपानुपाताख्यो व्रतस्यामुष्य विद्यते । स्वाङ्गाङ्गदर्शनं यद्वा समस्या चक्षुरादिना ॥१३२

अथवा आज अबसे लेकर दिन भर तक मेरे चारों प्रकारके आहारका त्याग है और आजकी रात्रिमें अपना पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करूँगा ॥१२५॥ अथवा वर्षा होनेके समयमें अथवा वर्षा ऋतुके चार महीनेमें मैं मुनिराजके समान इसी स्थान पर रहूँगा इतने दिन तक इस स्थानसे अन्य किसी भी देश या गाँवमें कभी नहीं जाऊँगा ॥१२६॥ इस क्रमके अनुसार, इस परिपाटीके अनुसार इस देशव्रतका पालन करना चाहिये। इस परिपाटीके अनुसार इसका विस्तार बहुत कुछ बढ़ सकता है। व्रती श्रावकोंको अपनी शक्तिके अनुसार इस व्रतका पालन अवश्य करना चाहिये क्योंकि यह व्रत माताके समान आत्माका कल्याण करनेवाला है ॥१२७॥ इस देश विरति नामके व्रतको दूषित करनेवाले पाँच अतिचार हैं जो सूत्रमें बतलाये हैं। व्रती श्रावकोंको उनका भी त्याग कर देना चाहिये ॥१२८॥

वह सूत्र यह है—नियत की हुई मर्यादाके बाहरसे किसीको बुलाना या कोई पदार्थ मँगाना, मर्यादाके बाहर किसीको भेजना या किसीके द्वारा काम कराना, मर्यादाके भीतर रहते हुए मर्यादाके बाहर अपने शब्दसे ही काम निकालना अथवा अपना रूप दिखाकर अथवा शरीरके किसी इशारेसे मर्यादाके बाहर काम निकालना तथा ढेले पत्थर फेंक कर मर्यादाके बाहर रहनेवालोंके लिये कुछ इशारा करना या काम निकालना ये पाँच देशव्रतके अतिचार हैं। आगे इन्हींका विशेष वर्णन करते हैं ॥५२॥

देशव्रतको धारणा करनेवाले व्रती पुरुषने उस देशव्रतकी जितनी मर्यादा नियत कर ली है उसके बाहर रक्खे हुए पदार्थको मँगानेके लिये किसी पुरुषको किसी भी इशारेसे बतला देना आनयननामका अतिचार है ॥१२९॥ इसी प्रकार जिस किसी पुरुषको उस पदार्थको लानेके लिये आज्ञा नहीं दी है या कुछ भी इशारा नहीं किया है वह पुरुष यदि यह कहे कि मैं उस पदार्थको लाता हूँ उस पुरुषको 'तू ऐसा करना इस प्रकार करना' इस प्रकारकी आज्ञा न देनेको प्रेष्यप्रयोग कहते हैं ॥१३०॥ अपनी नियत की हुई मर्यादाके बाहर जो कोई व्यापार करनेवाले हैं या अपना काम करनेवाले मुनीम गुमास्ते नौकर चाकर हैं उनको अपने शब्दके द्वारा कोई भी सन्देश पहुँचाना, कोई भी कार्य बता देना अथवा वे अपने काममें लगे रहें इसलिए खकार-मठार कर अपनी देखरेख या उपस्थिति बतला देना शब्दानुपात नामका अतिचार है। यह भी व्रतको दूषित करनेवाला है इसलिये व्रती श्रावकको इसका भी त्याग कर देना चाहिये ॥१३१॥ मर्यादाके बाहर काम

अस्ति पुद्गलनिक्षेपनामा दोषोऽत्र संयमे। इतो वा प्रेषणं तत्र पत्रिकाहेमवाससाम् ॥१३३
उक्तातीचारनिर्मुक्तं द्देशविरतिर्व्रतम्। व्यं व्रतिनाऽवश्यं हिंसातृष्णादिहानये ॥१३४
व्रतं चानर्थदण्डस्य विरतिर्गृहमेधिनाम्। द्वादशव्रतवृक्षाणामेतन्मूलमिवाद्वयम् ॥१३५
एकस्यानर्थदण्डस्य परित्यागो न देहिनाम्। व्रतित्वं स्यादनायासान्नान्यथा कोटिभिः ॥१३६

स्वार्थं चान्यस्य सं विना कुर्यान्न कर्म तत्।
स्वार्थश्चावश्यमात्रात्मास्वार्थः ो न सर्वतः ॥१३७

यथानाम विनोदार्थं जलादि-वनक्रीडनम्। कायेन मनसा वाचा तद्भेदा बहवः स्मृताः ॥१३८
कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचःकायैः। परिहृत्य कर्मसकलं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बेत १३९
दोषाः सूत्रोदिताः पञ्च सन्त्यतीचारसंज्ञकाः। अनर्थदण्डत्यागस्य व्रतस्यास्यापि दूषिकाः ॥१४०

करनेवाले नौकर चाकर अपना काम करते रहें इसके लिये अपनी उपस्थिति या देखरेख सूचित करनेके लिये अपना शरीर दिखलाना या और किसी प्रयोजनके लिये मर्यादाके बाहर वालोंको अपना शरीर दिखलाकर अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेना अथवा आँख आदि शरीरके अवयवोंसे मर्यादाके बाहर वालोंको कोई इशारा करना रूपानुपात नामका अतिचार कहलाता है। यह अतिचार भी इस देशव्रतमें दोष लगानेवाला है इसलिये व्रती श्रावकको इसका भी त्याग कर देना चाहिये ॥१३२॥ अपनी मर्यादामें रहते हुए मर्यादाके बाहर सोना-चाँदी वस्त्र चिट्ठी-पत्री आदि कोई भी पदार्थ भेजना अथवा मर्यादाके बाहर वालोंको ढेले पत्थर फेंककर अपना कुछ भी प्रयोजन सिद्ध कर लेना पुद्गलक्षेप नामका अतिचार है। इस अतिचारसे भी इस व्रतका एकदेश भंग होता है इसलिये व्रती श्रावकको इसका भी त्याग कर देना चाहिये ॥१३३॥ इस देशव्रतको धारण करनेवाले श्रावकोंको उचित है कि वे हिंसा और तृष्णा, ममत्व, लालसा, इन्द्रियोंके विषयोंकी लालसाको दूर करनेके लिये ऊपर कहे हुए अतिचारोंको छोड़कर इस देशव्रतका पालन अवश्य करें ॥१३४॥ अब आगे अनर्थदण्डविरति नामके व्रतका स्वरूप बतलाते हैं। अनर्थदण्डोंका त्याग करने रूप अनर्थदण्डविरति नामके व्रतका पालन भी गृहस्थोंको अवश्य करना चाहिये क्योंकि यह अनर्थदण्डविरति नामका व्रत बारह व्रतरूपी वृक्षकी अद्वितीय या सबसे मुख्य जड़ है ॥१३५॥ इन अनर्थदण्डोंमेंसे किसी एक अनर्थदण्डका त्याग कर देना व्रत नहीं है क्योंकि एक-एक अनर्थदण्डका त्याग बहुत आसानीके या बिना किसी परिश्रमके हो जाता है तथा समस्त अनर्थदण्डोंका त्याग करोड़ों परिश्रमसे भी नहीं होता है ॥१३६॥ जिसमें दूसरेके स्वार्थकी सिद्धि हो ऐसा कार्य सिवाय समाधिमरणके और कुछ नहीं करना चाहिये। वास्तवमें देखा जाय तो आत्माको अवश्य करने योग्य ऐसा आत्माका कल्याण करना ही स्वार्थ है। संसार सम्बन्धी और समस्त कार्य स्वार्थ नहीं हैं तथा वे पूर्णरूपसे स्वार्थ कभी नहीं हो सकते ॥१३७॥ जैसे चित्त प्रसन्न करनेके लिये जलक्रीड़ा करना, वनक्रीड़ा करना आदि सब अनर्थदण्ड कहलाता है। उसको मनसे करना, वचनसे करना, कायसे करना आदि रूपसे उसके अनेक भेद हो जाते हैं ॥१३८॥ मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे भूत भविष्यत और वर्तमानकाल सम्बन्धी समस्त पाप रूप कार्योंका त्याग कर सबसे उत्तम उदासीन अवस्था धारण करनी चाहिये ॥१३९॥ इस अनर्थदण्डत्याग व्रतके भी पाँच अतिचार हैं जो कि सूत्रकारने अपने सूत्रमें बतलाए हैं। ये अतिचार भी व्रतमें दोष लगाने वाले हैं इसलिए व्रती श्रावकको इसका भी त्याग कर देना चाहिए ॥१४०॥

तत्सूत्रं यथा—

कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥५३

अस्ति कन्दर्पनामापि दोषः प्रोक्तव्रतस्य यः। रागोद्रेकात्प्रहासादिमिश्रो वाग्योग इत्यपि ॥१४१
दोषः कौत्कुच्यसंज्ञोऽस्ति दुष्टकायक्रियादियुक्। पराङ्गस्पर्शनं स्वाङ्गैरर्थादन्याङ्गनादिषु ॥१४२
मौखर्यदूषणं नाम रतप्रायं वचःशतम्। अतीव गर्हितं धाष्टर्याद्वातयर्थं प्रजल्पनम् ॥१४३
असमीक्ष्याधिकरणमनल्पीकरणं हि यत्। अर्थात्स्वार्थमसमीक्ष्य वस्तुनोऽनववानतः ॥१४४
यथाऽऽहारकृते यावज्जलेनास्ति प्रयोजनम्। नेतव्यं तावदेवात्र दूषणं चान्यथोदितम् ॥१४५
भुज्यते सकृदेवात्र स्यादुपभोगसंज्ञकः। यथा स्रक्चन्दनं माल्यमन्नपानौषधादि वा ॥१४६
परिभोगः समाख्यातो भुज्यते यत्पुनः पुनः। यथा योषिदलङ्कारवस्त्रागारगजादिकम् ॥१४७
आनर्थक्यं तयोरेव स्यादसम्भविनोर्द्वयोः। अनात्मोचितसंख्यायाः करणादपि दूषणम् ॥१४८

उन अतिचारोंको कहनेवाला सूत्र यह है—कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोगपरिभोगानर्थक्य ये पाँच अनर्थदण्डव्रतके अतिचार हैं ॥५३॥

आगे इनका स्वरूप कहते हैं—रागकी तीव्रतासे हँसीसे मिले हुए अशिष्ट वचन कहना कन्दर्प कहलाता है। यह कन्दर्प भी अनर्थदण्डत्याग व्रतका पहला अतिचार है। कन्दर्प शब्दका अर्थ काम है। कामको वढ़ानेवाले जितने हँसीके वचन हैं अथवा जितने अशिष्ट वचन हैं उनके कहनेको कन्दर्प कहते हैं। ऐसे वचन कहनेसे परिणाम मलिन होते हैं तथा व्यर्थ ही पाप कर्मोंका वन्ध होता है इसलिए व्रती श्रावकको इस अतिचारका त्याग कर देना चाहिए ॥१४१॥ रागकी तीव्रतासे शरीरकी दुष्ट क्रिया करना कौत्कुच्य है। जैसे अपने शरीरसे अन्य स्त्रियोंका शरीर स्पर्श करना, भौंह चलाना, आँखें मटकाना आदि सब कामको वढ़ानेवाली शरीरकी चेष्टाओंको, शरीरकी क्रियाओंको कौत्कुच्य कहते हैं। इससे भी व्यर्थ ही पाप कर्मोंका वन्ध होता है इसलिए व्रती श्रावकको इसका भी त्याग कर देना चाहिये ॥१४२॥ कामको वढ़ानेवाले अत्यन्त निन्दनीय सैकड़ों वचन कहना, अथवा धृष्टतापूर्वक वहुत वकवाद करना मौखर्य नामका अतिचार है। इससे भी व्यर्थ ही पापकर्मोंका वन्ध होता है इसलिए व्रती श्रावकको इसका भी त्याग कर देना चाहिये ॥१४३॥ अपने प्रयोजन या आवश्यकताका विचार किये विना असावधानीके साथ पदार्थोंका अधिक संग्रह करना असमीक्ष्याधिकरण कहलाता है। व्रती श्रावकको इस अतिचारका भी त्याग कर देना चाहिये ॥१४४॥ जैसे भोजनादि वनानेके लिए जितने जलकी आवश्यकता हो उतना ही जल भरना चाहिये, उससे अधिक जल भरना अनर्थदंड है, अधिक जल भरनेसे व्यर्थका पाप लगता है अतएव आवश्यकतासे अधिक पदार्थोंका संग्रह कभी नहीं करना चाहिये ॥१४५॥ जो पदार्थ एक वार भोगे जाते हैं, एक वार काममें आते हैं उनको उपभोग कहते हैं जैसे माला, चन्दन, फूल, भोजन, पानी, औषध आदि ॥१४६॥ जो पदार्थ वार-वार भोगनेमें आते हैं उनको परिभोग कहते हैं जैसे स्त्री, अलंकार, वस्त्र, घर, हाथी, घोड़े आदि ॥१४७॥ उपभोग और परिभोग इन दोनोंको आवश्यकतासे अधिक इकट्ठा करना अनर्थदंडका अतिचार है। अथवा जिन पदार्थोंकी सम्भावना ही नहीं है, जो पदार्थ असम्भव हैं उनका परिमाण करना, अथवा जो पदार्थ अपनी योग्यतासे वाहर हैं, अपनी योग्यताके अनुसार जिन पदार्थोंका प्राप्त होना असम्भव है ऐसे पदार्थोंका त्याग

यथा दीनश्च दुर्भाग्यो वस्तुसंख्यां चिकीर्षति । गृह्णाम्यशाश्वतं या गृह्णामि ततोऽ म् ॥१४९
निर्दिष्टानर्थदण्डस्य निरतिर्नाम्ना गुणव्रतम् । अतीचारविनिर्मुक्तं नूनं निःश्रेयसे भवेत् ॥१५०
ः तानि ारि सन्ति स्याद्गृहमेधिनाम् । इतस्तान्यपि वक्ष्यामि पूर्वसूत्रानतिक्रमात् ॥१५१

तत्सूत्रं यथा—

सामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणाति विभागव्रतसम्पन्नश्च ॥५४

अर्थात्सामायिकः प्रोक्तः साक्षात्साम्यावलम्बनम् । तदर्थं व्यवहारत्वात्पाठः कालासनादिमान् ॥१५२

तत्सूत्रं यथा—

भूतेषु संयमे शुभभावना । आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकव्रतम् ॥५५

ः त्थाय कुर्यादात्मादिचिन्तनम् । एकोऽहं शुद्धचिद्रूपो नाहं पौद्गलिकं वपुः ॥१५३
चिन्तनीयं ततश्चित्ते सूक्ष्मं षड्द्रव्यलक्षणम् । ततः संसारिणो मुक्ता जीवाश्चिन्त्या द्विधार्थतः ॥१५४

करना या परिमाण करना अनर्थदण्ड व्रतका अतिचार है ॥१४८॥ जैसे कोई अत्यन्त दरिद्र पुरुष है और उसके अशुभ कर्मका उदय अत्यन्त प्रबल हो रहा है, वह यदि ऐसा प्रमाण करना चाहे कि संसारमें जितने अनित्य पदार्थ हैं उनकों ही ग्रहण करनेकी मेरी प्रतिज्ञा है । अनित्य पदार्थोंके सिवाय नित्य पदार्थोंको मैं कभी ग्रहण नहीं करूँगा यह परिमाण असम्भव पदार्थोंका है क्योंकि संसारमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो अनित्य न हो अथवा ऐसा पदार्थ होना सर्वथा असम्भव है जो सर्वथा नित्य हो अतएव ऐसा परिमाण करना उपभोगपरिभोगपरिमाणनामक व्रतका अतिचार है ॥१४९॥ इस प्रकार अनर्थदंडविरतिनामक गुणव्रतका स्वरूप बतलाया । इस व्रतको अतिचार रहित पालन करनेसे ही आत्माका कल्याण होता है अतएव व्रती श्रावकोंको अतिचाररहित ही व्रतोंको पालन करना चाहिये ॥१५०॥ गृहस्थोंके पालन करने योग्य शिक्षाव्रत चार हैं । अब सूत्रोंके अनुसार उन्हीं शिक्षाव्रतोंका वर्णन करते हैं ॥१५१॥

उन शिक्षाव्रतोंका वर्णन करनेवाला सूत्र यह है—सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोग-परिमाण और अतिथिसंविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं । व्रती गृहस्थ इन व्रतोंका भी पालन करता है ॥५४॥

आगे इन्हींका वर्णन करते हुए सबसे पहले सामायिकका स्वरूप वर्णन करते हैं । शुद्ध आत्माका साक्षात् चिन्तवन करना सामायिक है अथवा शुद्ध आत्माका चिन्तवन करनेके लिए योग्य समय में योग्य आसन से बैठकर सामायिकका पाठ करना भी सामायिक कहलाता है ॥१५२॥

सो ही सामायिक पाठमें लिखा है—समस्त जीवोंमें समताभाव धारण करना, संयम पालन करनेके लिए सदा शुभ भावना रखना और आर्तध्यान तथा रौद्रध्यानका सर्वथा त्याग कर देना सामायिकव्रत कहलाता है ॥५५॥

उस सामायिक व्रतको पालन करनेके लिए प्रातःकाल उठकर शुद्ध आत्माका चिन्तवन करना चाहिये । मैं अकेला हूँ, शुद्ध हूँ और चैतन्यस्वरूप हूँ, पुद्गलका बना हुआ शरीर मेरा स्वरूप नहीं है, पुद्गल जड़ है मैं चैतन्यरूप हूँ अतएव पुद्गलसे सर्वथा भिन्न हूँ । इस प्रकार चिन्तवन करना चाहिये ॥१५३॥ तदनन्तर अपने हृदयमें छहों द्रव्योंका सूक्ष्म स्वरूप चिन्तवन

तत्र संसारिणो जीवाश्चतुर्गतिनिवासिनः । कर्मनोकर्मयुक्तत्वाद् यायिनोऽतीवदुःखिताः ॥१५५
पूर्वकर्मोदयाद् भावस्तेषां रागादिसंयुतः । जायतेऽशुद्धसंज्ञो यस्तस्माद्वन्धोऽस्ति कर्मणाम् ॥१५६
एवं पूर्वापरीभूतो भावश्चान्योन्यहेतुकः । शक्यते न पृथक् कर्तुं यावत्संसारसंज्ञकः ॥१५७
एवं वाऽनादिसन्तानाद्भ्रमति स्म चतुर्गतौ । जन्ममृत्युजरातङ्कदुःखाक्रान्तः स प्राणभृत् ॥१५८
तत्र कश्चन भव्यात्मा काललब्धिवशादिह । कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वा संसाराद्धि प्रमुच्यते ॥१५९
अस्ति सद्दर्शनज्ञानचारित्राण्यत्र कारणम् । हेतुस्तेषां समुत्पत्तौ काललब्धिः परं स्वतः ॥१६०
इत्यादि जगत्सर्वं स्वं चिन्तयेत्तन्मुहुर्मुहुः । नूनं संवेगवैराग्यवर्द्धनाय महामतिः ॥१६१

उक्तं च—

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥५६

चिन्तनानन्तरं चेति चिन्तयेदात्मनो गतिम् । कोऽहं कुतः समायातः क्व यास्यामि जवादितः ॥१६२

करना चाहिये। फिर उन छह द्रव्योंमेंसे भी जीव दो प्रकार हैं—एक संसारी और दूसरे मुक्त। इस प्रकार जीवोंके भेद प्रभेदोंका तथा उनके स्वरूपका चिन्तवन करना चाहिये ॥१५४॥ उन दोनों प्रकारके जीवोंमेंसे जो जीव चारों गतियोंमें निवास करते हैं, कर्म नोकर्म सहित होनेसे जो सदा परिभ्रमण करते रहते हैं और अत्यन्त दुखी रहते हैं उनको संसारी जीव कहते हैं ॥१५५॥ इस संसारी जीवके पूर्व कर्मोंके उदय होनेसे रागद्वेष रूप अशुद्धभाव उत्पन्न होते हैं तथा उन्हीं राग-द्वेष रूप अशुद्ध भावोंसे फिर नवीन कर्मोंका वन्ध होता है ॥१५६॥ जिस प्रकार वीजसे वृक्ष और वृक्षसे वीज होता है अर्थात् वीज वृक्ष दोनों एक दूसरेसे उत्पन्न होते रहते हैं उसी प्रकार पहले कर्मोंके उदयसे रागद्वेष और उन रागद्वेपसे नवीन कर्मोंका वन्ध, तथा उन कर्मोंके उदयसे फिर रागद्वेष और उन रागद्वेपसे फिर नवीन कर्मोंका वन्ध होता रहता है। जव तक यह जीव संसारमें परिभ्रमण करता रहता है, तव तक यह कार्य कारण सम्वन्ध कभी छूट नहीं सकता ॥१५७॥ इस प्रकार यह जीव अनादिकालसे नरक तिर्यंच देव मनुष्य इन चारों गतियोंमें परिभ्रमण करता रहता है तथा जन्म, मरण, वुढ़ापा, रोग आदि अनेक दुःखोंसे दुःखी वना रहता है ॥१५८॥ उन संसारी जीवोंमेंसे कोई भव्य जीव काललब्धिके प्राप्त हो जानेपर समस्त कर्मोंको नाश करके इस संसारसे छूटकर मुक्त हो जाता है। इस प्रकार सामायिक करते समय जीवोंके इन भेदोंके स्वरूप को चिन्तवन करना चाहिये ॥१५९॥ इसके साथ यह भी चिन्तवन करना चाहिये कि उन कर्मोंसे छूटनेके लिए या मोक्ष प्राप्त करनेके लिए सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही कारण हैं तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र उत्पन्न होनेके लिए काललब्धि कारण है और काललब्धि अपने आप प्रगट होती है ॥१६०॥ इस प्रकार महा वुद्धिमान् श्रावकको आत्माका संवेग और वैराग्य गुण वढ़ानेके लिए अपने आत्माका चिन्तवन करना चाहिये तथा इसी संवेग और वैराग्य गुणको वढ़ानेके लिए इस समस्त जगत्का स्वरूप वार-वार चिन्तवन करना चाहिये ॥१६१॥

तत्त्वार्थसूत्रमें लिखा भी है—जगत्का स्वरूप या स्वभाव चिन्तवन करनेसे संवेग वढ़ता है और शरीरका स्वभाव चिन्तवन करनेसे वैराग्य वढ़ता है ॥५६॥

इस प्रकार चिन्तवन कर लेनेके अनन्तर सामायिक करनेवालेको अपने आत्माका स्वरूप चिन्तवन करना चाहिये तथा विचार करना चाहिये कि "मैं कौन हूँ, कहाँसे आया हूँ, किस गति से आकर इस गतिमें जन्म लिया है और अव यहाँसे जो मुझे शीघ्र जाना है सो कहाँ जाना होगा

हेयं किं किमुपादेयं मम शुद्धचिदात्मनः । कर्तव्यं किं मया त्याज्यमधुना जीवनावधि ॥१६३
इति चिन्तयतस्तस्य संवेगो जायते गुणः । संसारभवभोगेभ्यो वैराग्यं चोपबृंहति ॥१६४
ततः साधुसमाधिश्च यिकव्रतान्वितः । ततः सामायिकीं क्रि कुर्याद्वा शल्यवर्जितः ॥१६५
तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं पठेत दिलक्षणम् । सिद्धानामथ साधूनां कुर्यात्सोऽपि गुणस्तुतिम् ॥१६६
ततोऽर्हद्भारतीं स्तुत्वा जगच्छान्तिमधीय च । क्षणं ध्यानस्थितो भूत्वा चिन्तयेच्छुद्धचिन्मयम् ॥१६७
ततः सम्पूर्णतां नीत्वा ध्यानं कालानतिक्रमात् । संस्तुतानां यथाशक्ति तत्पूजां कर्तुमर्हति ॥१६८
स्नानं कुर्यात्प्रयत्नेन संशुद्धैः प्रासुकोदकैः । गृह्णीयाद्धौतवस्त्राणि दृष्टिपूतानि प्रायशः ॥१६९
ततः शनैः शनैर्गत्वा स्वसद्मस्थजिनालये । द्रव्याण्यष्टौ जलादीनि सम्यगादाय भाजने ॥१७०
तत्रस्थान् जिनविम्वांश्च सिद्धयन्त्रान् चंयेत् । दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं स्थाप्य समर्चयेत् ॥१७१
शेषानपि यथाशक्ति गुणानप्यर्चयेद् व्रती । अत्र संक्षेपमात्रत्वादुक्तमुल्लेखतो मया ॥१७२
अस्त्यत्र पञ्चधा पूजा मुख्यमाह्वानमात्रिका । प्रतिष्ठापनसंज्ञाऽथ सन्निधीकरणं तथा ॥१७३

॥१६२॥ मेरे इस शुद्ध आत्माके लिए ऐसे कौन-कौनसे कार्य हैं अथवा ऐसे कौन-कौनसे पदार्थ हैं जो त्याग करने योग्य हैं, तथा ऐसे कौनसे पदार्थ हैं जो ग्रहण करने योग्य हैं। मुझे अब इस जन्म पर्यन्त क्या-क्या कार्य करने चाहिये और किन-किन कार्योंका त्याग कर देना चाहिये ॥१६३॥ इस प्रकार चिन्तवन करनेसे सामायिक करनेवालेके आत्माका संवेग गुण बढ़ता है तथा संसार, शरीर और भोगोंसे अथवा संसारमें उत्पन्न हुए भोगोंसे वैराग्य बढ़ता है ॥१६४॥ तदनन्तर सामायिक करनेवाले व्रती श्रावकको साधु समाधि करनी चाहिये। अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिन्तवन करने अथवा पंचपरमेष्ठीके स्वरूपका चिन्तवन करनेको साधु समाधि कहते हैं। इस प्रकार चिन्तवन कर लेनेके अनन्तर उस व्रती श्रावकको माया मिथ्या निदान इन तीनों शल्योंको छोड़कर सामायिककी क्रिया करनी चाहिये ॥१६५॥ आगे उसी सामायिककी क्रियाको बतलाते हैं। अनुष्टुप्, जाति, उपजाति, वसन्ततिलका आदि छन्दोंमें भगवान् जिनेन्द्रदेवके गुणोंकी स्तुति पढ़नी चाहिये, अथवा सिद्ध परमेष्ठीकी स्तुति करनी चाहिये या साधुओंके गुणोंकी स्तुति करनी चाहिये ॥१६६॥ तदनन्तर भगवान् अरहन्तदेवकी कही हुई वाणीकी अर्थात् सरस्वती देवीकी स्तुति करनी चाहिये और संसारकी शान्तिकी कामनाके लिए शान्ति पाठ पढ़ना चाहिये ॥१६७॥ तदनन्तर समय पूरा हो जानेपर उस ध्यानको समाप्त कर देना चाहिये और फिर जिनकी स्तुति की है उनकी पूजा अपनी शक्तिके अनुसार करनी चाहिये ॥१६८॥ भगवान् अरहन्तदेव आदिकी पूजा करनेके लिए यत्नाचारपूर्वक शुद्ध और प्रासुक जलसे स्नान करना चाहिये। फिर धुले हुए वस्त्रोंको आँखोंसे देखकर पहिनना चाहिये ॥१६९॥ तदनन्तर जल चन्दन आदि आठों द्रव्योंको किसी उत्तम थाल आदि पात्रमें लेकर धीरे धीरे अपने घरके चैत्यालयमें जाना चाहिये ॥१७०॥ उस चैत्यालयमें विराजमान अरहन्तदेवके प्रतिविम्वोंकी पूजा करनी चाहिये, सिद्धयन्त्रकी पूजा करनी चाहिये और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रको स्थापन कर उनकी पूजा करनी चाहिये ॥१७१॥ व्रती श्रावकको अपनी शक्तिके अनुसार आत्माके शेष उत्तम क्षमा आदि गुणोंकी भी पूजा करनी चाहिये। यह पूजा करनेका विधान पहले आचार्योंके कहे अनुसार हमने अत्यन्त संक्षेपसे कहा है ॥१७२॥ पूजा पंचोपचारी होती है अर्थात् पाँच प्रकारसे की जाती है। सबसे हले आह्वान करना चाहिये, फिर स्थापन करना चाहिये, फिर सन्निधापन या सन्निधिकरण

ततः पूजनमत्रास्ति ततो नाम विसर्जनम् । पञ्चधेयं समाख्याता पञ्चकल्याणदायिनी ॥१७४
तद्विधिश्चात्र निर्दिष्टुमर्हन्नप्युपलक्षितः । स्मृतेः संक्षेपसङ्केताद्विधेश्चातीव विस्तरात् ॥१७५
एवमित्याद्यवश्यं स्यात्कर्तव्यं व्रतधारिभिः । अस्ति चेदात्मसामर्थ्यं कुर्याच्चाप्यपरं विधिम् ॥१७६
अर्चयेच्चैत्यवेश्मस्थानर्हद्बिम्बादिकानपि । सूर्युपाध्यायसाधूंश्च पूजयेद् भक्तितो व्रती ॥१७७
ततो मुनिमुखोद्गीर्णं प्रोक्तं वा सद्मसूरिभिः । धर्मस्य श्रवणं कुर्यादादराद् ज्ञानचक्षुषे ॥१७८
गृहकार्यं ततः कुर्यादात्मनिन्दादिमानयम् । ततो मध्याह्निके प्राप्ते भूयः कुर्यादमुं विधिम् ॥१७९
अतिथिसंविभागस्य भावनां भावयेदपि । मध्याह्नादीषदर्वाग्वै नातः कालाद्यतिक्रमे ॥१८०
भोजयित्वा स्वयं यावत्क्षणं शेते सुखाशया । धारयेद्धर्मश्रवणं पूर्वाह्ने यच्छ्रुतं स्मृतेः ॥१८१
ऊहापोहोऽपि कर्तव्यः सार्द्धं चापि सधर्मिभिः । अस्ति चेद् ज्ञानसामर्थ्यं कार्यं शास्त्रावलोकनम् ॥१८२
गृहकार्यं ततः कुर्याद् भूयः संध्यावधेरिह । ततः सायंतने प्राप्ते कुर्यात्सामायिकीं क्रियाम् ॥१८३
किञ्चापराह्णके काले जिनबिम्बान् प्रागर्चयेत् । ततः सामायिकं कुर्यादुक्तेन विधिना व्रती ॥१८४
ततश्च शयनं कुर्याद्यथानिद्रं यथोचितम् । निशीथे पुनरुत्थाय कुर्यात्सामायिकीं क्रियाम् ॥१८५

करना चाहिये तदनन्तर पूजा करनी चाहिये और फिर विसर्जन करना चाहिये । इस प्रकार यह पूजा पाँच प्रकारकी वतलायी है । यह पाँच प्रकारसे की हुई पूजा पंचकल्याणक फलको देनेवाली है ॥१७३-१७४॥ पूजाकी विधि वहुत वड़ी है यद्यपि उसको पूर्ण रीतिसे मैं कह सकता हूँ तथापि मैंने उसका उपलक्षण मात्र कहा है क्योंकि पूजाकी विधि तो वहुत वड़ी है और यह स्मृतिशास्त्र अथवा श्रावकाचार अत्यन्त संक्षेपसे केवल संकेतमात्र कहा है ॥१७५॥ व्रती श्रावकोंको ऊपर लिखे अनुसार कर्तव्य तो अवश्य पालन करना चाहिये । यदि उसकी अधिक सामर्थ्य हो तो अन्य शास्त्रों के अनुसार उसे और विधि भी करनी चाहिये ॥१७६॥ तदनन्तर उस व्रती श्रावकको जिनालयमें जा कर वहाँपर विराजमान भगवान् अरहन्तदेवके विम्वोंकी पूजा करनी चाहिये तथा आचार्य उपाध्याय और साधुओंकी पूजा भी भक्तिके साथ करनी चाहिये ॥१७७॥ तदनन्तर मुनिराजके मुखारविन्दसे कहे हुए धर्मका श्रवण करना चाहिये अथवा अपने ज्ञानरूपी नेत्रोंकी ज्योति वढ़ानेके लिये अपने घरके आचार्यके (गृहस्थाचार्य के) द्वारा कहे हुए धर्मका श्रवण वड़े आदरके साथ करना चाहिये ॥१७८॥

तदनन्तर अपनी निन्दा करते हुए उस व्रती श्रावकको अपने घरके व्यापार-धन्धे करने चाहिये और दोपहरका समय होनेपर फिर भगवान् अरहन्तदेवकी पूजा करनी चाहिये ॥१७९॥ दोपहरके कुछ समय पहले अतिथिसंविभागव्रतकी भावनाका भी चिन्तवन करना चाहिये ॥१८०॥ फिर भोजन कर थोड़ी देर तक आराम करनेके लिये सोना चाहिये । फिर प्रातःकाल मुनियोंसे या गृहस्थाचार्यसे जो धर्म श्रवण किया था उसका मनन करना चाहिये, चिन्तवन करना चाहिये और धारण करना चाहिये ॥१८१॥ इसी समय धर्मात्माओंके साथ वैठकर धर्म चर्चा करनी चाहिये । यदि अपनेमें ज्ञानकी सामर्थ्य अधिक हो तो शास्त्रोंका अवलोकन करना चाहिये ॥१८२॥ तदनन्तर फिर शाम तक घरके व्यापार-धन्धे करने चाहिये तथा शाम हो जानेपर सामायिक करना चाहिये ॥१८३॥ इसमें भी इतना विशेष है कि शाम हो जानेपर पहले भगवान् अरहन्तदेवकी पूजा करनी चाहिये और फिर उस व्रती श्रावकको ऊपर लिखी विधिके अनुसार सामायिक करना चाहिये ॥१८४॥ फिर सोना चाहिये । अपनी नींदके अनुसार तथा जितना उचित समझा जाय उतना सोना

तत्रार्द्धरात्रके पूजां न कुर्यादर्हतामपि । हिंसाहेतोरवश्यं द्रात्रौ पूजाविवर्जनम् ॥१८६
एवं प्रवर्तमानश्च सागारो व्रतवानिह । स्वर्गादिसम्पदो भुक्त्वा निर्वाणपदभाग्भवेत् ॥१८७
सामायिकव्रतस्यापि पञ्चातीचारसंज्ञकाः । दोषाः सन्ति प्रसिद्धास्ते त्याज्याः सूत्रोदिता यथा १८८

तत्सूत्रं यथा--

योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥५७

सामायिकादितोऽन्यत्र मनोवृत्तिर्यदा भवेत् । मनोदुष्प्रणिधानाख्यो दोषोऽतीचारसंज्ञकः ॥१८९
वाग्योगोऽपि ततोऽन्यत्र हुंकारादिप्रवर्तते । वचोदुष्प्रणिधानाख्यो दोषोऽतीचारसंज्ञकः ॥१९०
काययोगस्ततोऽन्यत्र हस्तसंज्ञादिदर्शने । वर्तते तदतीचारः कायदुष्प्रणिधानकः ॥१९१
यदाऽऽलस्यतया मोहात्कारणाद्वा दतः । अनुत्साहतया कुर्यात्तदाऽनादरदूषणम् ॥१९२
अस्ति स्मृत्यनुपस्थानं दूषणं प्रकृतस्य यत् । न्यूनं वर्णैःपदैर्वाक्यैः पठ्यते यत्प्रमादतः ॥१९३

चाहिये। फिर आधी रातके समय उठकर सामायिक करना चाहिये ॥१८५॥ इसमें भी इतना विशेष है कि आधी रातके समय भगवान् अरहन्तदेवकी पूजा नहीं करनी चाहिये क्योंकि आधी रातके समय पूजा करनेसे हिंसा अधिक होती है। रात्रिमें जीवोंका संचार अधिक होता है तथा यथोचित रीतिसे जीव दिखाई भी नहीं पड़ते इसलिये रात्रिमें पूजा करनेका निषेध किया है ॥१८६॥ इस संसारमें इस प्रकार ऊपर लिखी हुई क्रियाओंको करता हुआ व्रती गृहस्थ स्वर्गादिकके अनुपम सुखोंको भोगकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करता है ॥१८७॥ अन्य व्रतोंके समान इस सामायिक व्रतके भी पाँच अतिचार हैं जो दोषोंके नामसे प्रसिद्ध हैं और जिनका वर्णन सूत्रमें भी किया है। व्रती श्रावकोंको उन अतिचारोंका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥१८८॥

उन अतिचारोंको कहनेवाला जो सूत्र है वह यह है—मनोदुष्प्रणिधान अर्थात् मनके द्वारा अशुभ चिन्तवन, वचनदुष्प्रणिधान अर्थात् वचनके द्वारा अशुभ प्रवृत्ति, काय दुष्प्रणिधान अर्थात् शरीरके द्वारा अशुभ क्रियाका होना, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान अर्थात् भूल जाना ये पाँच सामायिकके अतिचार हैं ॥५७॥

आगे इन्हींका स्वरूप दिखलाते हैं। सामायिक करते समय अपने मनकी प्रवृत्ति सामायिक के सिवाय अन्य कार्योंमें लगाना—अपने आत्माके स्वरूपके चिन्तवनके सिवाय या पंच परमेष्ठीके स्वरूपके चिन्तवनके सिवाय अन्य किसी भी पदार्थका चिन्तवन करना मनोदुष्प्रणिधान नामका दोष है जो सामायिकका पहला अतिचार कहलाता है ॥१८९॥ सामायिक करते समय हुँ हुँ, हूँ, हाँ आदि रूपसे वचनोंकी प्रवृत्ति सामायिकके सिवाय अन्य कार्यमें लगाना वचनदुष्प्रणिधान नामका दोष है। उस समय किसी भी कार्यके इशारेके लिए हूँ, हाँ करना सामायिकका दूसरा अतिचार है ॥१९०॥ इसी प्रकार सामायिक करते समय अपने शरीरकी प्रवृत्ति सामायिकके सिवाय अन्य किसी भी कार्यमें लगाना, हाथ, उँगली, माथा, आँख, भौंह आदिके इशारेसे किसी भी कार्यका इशारा करना, किसी पदार्थको इशारेसे दिखलाना कायदुष्प्रणिधान नामका अतिचार कहलाता है ॥१९१॥ यह व्रती श्रावक जब कभी आलससे, मोहसे या प्रमादसे या अन्य किसी कारणसे विना उत्साहके सामायिक करता है तब उसके अनादर नामका चौथा अतिचार लगता है ॥१९२॥ जब कभी यह व्रती श्रावक प्रमादी होकर वर्णरहित (अक्षररहित) पदरहित या वाक्य-

ख्यातं सामायिकं नाम व्रतं चाणुव्रतार्थिनाम् । अतीचारविनिर्मुक्तं भवेत्संसारविच्छिदे ॥१९४
स्यात्प्रोषधोपवासाख्यं व्रतं च परमौषधम् । जन्ममृत्युजरातङ्कविध्वंसनविचक्षणम् ॥१९५
चतुर्द्धाऽशनसंन्यासो यावद् यामाश्च षोडश । स्थितिर्निरवद्यस्थाने व्रतं प्रोषधसंज्ञकम् ॥१९६
कर्तव्यं तदवश्यं स्यात्पर्वण्यां प्रोषधव्रतम् । अष्टम्यां च चतुर्दश्यां यथाशक्त्यापि चान्यदा ॥१९७
धारणाह्नि त्रयोदश्यां मध्याह्ने कृतभोजनः । तिष्ठेत्स्थानं समासाद्य नीरागं निरवद्यकम् ॥१७८
तत्रैव निवसेद् रात्रौ जागरूको यथाबलम् । प्रातरादिदिनं कृत्स्नं धर्मध्यानैर्नयेद् व्रती ॥१९९
जलपानं निषिद्धं स्यान्मुनिवत्तत्र प्रोषधे । न निषिद्धाऽनिषिद्धा स्यादर्हत्पूजा जलादिभिः ॥२००
यदा सा क्रियते पूजा न दोषोऽस्ति तदापि वै । न क्रियते सा तदाप्यत्र दोषो नास्तीह कश्चन ॥२०१
एवमित्यादि तत्रैव नीत्वा रात्रिं स धर्मधीः । कृतक्रियोऽशनं कुर्यान्मध्याह्ने पारणादिने ॥२०२

रहित सामायिकका पाठ पढ़ता है या शीघ्रताके साथ पढ़ता है या पढ़ते-पढ़ते भूल जाता है या कुछ छोड़कर आगे पढ़ने लगता है तब उसके स्मृत्यनुपस्थान नामका सामायिकका पाँचवाँ अतिचार होता है ॥१९३॥ इस प्रकार अणुव्रत धारण करनेवाले व्रती श्रावकोंके लिये सामायिक नामके शिक्षाव्रतका स्वरूप कहा । यदि इस व्रतको अतिचाररहित पालन किया जाय तो इस जीवके संसार परिभ्रमणका अवश्य ही नाश हो जाता है और मोक्षकी प्राप्ति अवश्य होती है ॥१९४॥

आगे प्रोषधोपवासव्रतका स्वरूप कहते हैं । जन्म, मरण, बुढ़ापा, रोग आदि संसार सम्बन्धी समस्त दुःखों को, समस्त रोगोंको नाश करनेके लिये यह प्रोषधोपवास नामका व्रत एक विलक्षण और सबसे उत्तम औषधि है ॥१९५॥ सोलह पहर तक चार प्रकारके आहारका त्याग कर देना और जिनालय आदि किसी भी निर्दोष स्थानमें रहना प्रोषधोपवासव्रत कहलाता है ॥१९६॥ यह प्रोषधोपवास नामका व्रत अष्टमी और चतुर्दशी इन दोनों पर्वोके दिनोंमें अवश्य करना चाहिये ॥१९७॥ यदि चतुर्दशीको प्रोषधोपवास करना हो तो इस व्रतको त्रयोदशीके दिन ही ग्रहण करना चाहिये । त्रयोदशीके दिन मध्याह्नमें या दोपहरके समय एक बार भोजन करना चाहिए तथा भोजनके बाद किसी निर्दोष और रागरहित स्थानमें जाकर रहना चाहिये ॥१९८॥ बाकी दिन उसे वहीं बिताना चाहिये, रात्रिमें भी वहीं निवास करना चाहिये । उस रातको अपनी शक्तिके अनुसार जगते रहना चाहिये । प्रातःकाल उठकर उस व्रती श्रावकको वह समस्त दिन धर्मध्यानसे बिताना चाहिये ॥१९९॥ प्रोषधोपवासके दिन उस व्रती श्रावकको जल नहीं पीना चाहिये । आचार्योंने प्रोषधोपवासके दिन मुनियोंके समान ही जलपानका निषेध किया है । इसमें भी इतना और समझ लेना चाहिये कि उस व्रती श्रावकको जलके पीनेका निषेध है, जल चन्दन अक्षत आदि आठों द्रव्योंसे भगवान् अरहन्तदेवकी पूजा करनेका निषेध नहीं है ॥२००॥ प्रोषधोपवासके दिन भगवान् अरहन्तदेवकी पूजा करनेके लिये आचार्योंकी ऐसी आज्ञा है कि व्रती श्रावक यदि प्रोषधोपवाससे दिन भगवान् अरहन्तदेवकी पूजा करे तो भी कोई दोष नहीं है । यदि उस दिन वह पूजा न करे तो भी कोई दोष नहीं है ॥२०१॥ उस धर्मात्मा व्रती श्रावकको वहीं पर उस दिनकी रात्रि व्यतीत करनी चाहिये तथा पारणाके दिन अर्थात् पूर्णिमाके दिन प्रातः काल उठकर पूजा, स्वाध्याय, ध्यान आदि अपना नित्य कर्तव्य करना चाहिये और दोपहरके समय एक बार भोजन करना चाहिये ॥२०२॥ धारणाके दिनसे लेकर अर्थात् त्रयोदशीसे लेकर तीन दिन तक त्रयोदशी, चतुर्दशी और पूर्णिमा इन तीनों दिन उसे ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिये । यह

ब्रह्मचर्यं च कर्तव्यं धारणादिदिनत्रयम् । परयोषिन्निषिद्धा प्रागिदं त्वात्मकलत्रके ॥२०३
स्युः प्रोषधोपवासस्य दोषाः पञ्चोदिताः स्मृतौ । निरस्यास्ते व्रतस्थैस्तैः सागारैरपि यत्नतः ॥२०४

तत्सूत्रं यथा—

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥५८

जीवाः सन्ति न वा सन्ति कर्तव्यं प्रत्यवेक्षणम् । चक्षुर्व्यापारमात्रं स्यात्सूत्रात्तल्लक्षणं यथा ॥२०५
प्रमार्जनं च मृदुभिः यथोपकरणैः कृतम् । उत्सर्गादानसंस्तरविषयं चोपबृंहणम् ॥२०६
अप्रत्यवेक्षितं तत्र यथा स्यादप्रमार्जितम् । मूत्राद्युत्सर्ग एवास्ति दोषः प्रोषधसंयमे ॥२०७
यथोत्सर्गस्तथाऽऽदानं संस्तरोपक्रमस्तथा । तन्नामानो व्यतीचारा दोषाः प्रोक्ता व्रतस्य ते ॥२०८
ज्ञेयः पूर्वोक्तसंदर्भादनुत्साहोऽप्यनादरः । प्रोषधोपोषितस्यास्य दोषोऽतीचारसंज्ञकः ॥२०९
स्यात्स्मृत्यनुपस्थानं दूषणं प्रोषधस्य तत् । अनेकाग्र्यं तदेव स्याल्लक्षणादपि लक्षणम् ॥२१०

ध्यानमें रखना चाहिये कि ऐसे व्रती श्रावकके लिये परस्त्रीका निषेध या त्याग तो पहले ही कह चुके हैं। अब यहाँ पर जो तीन दिनके लिये ब्रह्मचर्यका पालन बतलाया है वह अपनी विवाहिता धर्मपत्नीके सेवन करनेका त्याग बतलाया है ॥२०३॥ अन्य व्रतोंके समान इस प्रोषधोपवासके भी श्रावकाचारोंमें पाँच अतिचार बतलाये हैं। व्रती श्रावकोंको इन पाँचों अतिचारोंका त्याग बड़े प्रयत्नसे कर देना चाहिये ॥२०४॥

वह सूत्र यह है—अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-उत्सर्ग अर्थात् बिना देखे बिना शोधे मलमूत्र करना या कोई वस्तु रखना, अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-आदान अर्थात् बिना देखे बिना शोधे कोई वस्तु उठाना, अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण अर्थात् बिना देखे बिना शोधे साथरा या सोनेका बिछौना बिछाना, अनादर अर्थात् व्रतको उत्साहपूर्वक नहीं करना और स्मृत्यनुपस्थान अर्थात् उस दिन मनको स्थिर न रखकर चंचल रखना ये पाँच प्रोषधोपवासके अतिचार हैं ॥५८॥

आगे इन्हींका विशेष वर्णन करते हैं। जीव हैं अथवा नहीं हैं इस बातको जाननेके लिये नेत्रोंसे खूब अच्छी तरह देखना प्रत्यवेक्षण कहलाता है। प्रत्यवेक्षणका लक्षण सूत्रोंमें यही बतलाया है ॥२०५॥ कोमल वस्त्रोंसे पोंछना झाड़ना प्रमार्जन कहलाता है। किसी वस्तुको रखना हो, उठाना हो या बिछौना या सांथरा बिछाना हो तो उन सबको खूब अच्छी तरह देखकर या कोमल वस्त्रसे झाड़-पोंछ कर रखना या उठाना चाहिये तथा देख-शोध कर बिछौना या सांथरा बिछाना चाहिये जिससे किसी जीवका घात न हो। ऐसा करनेसे व्रत निर्दोष पलता है, व्रतकी वृद्धि होती है ॥२०६॥ बिना देखे बिना शोधे मल मूत्र करना या अन्य कोई पदार्थ रखना प्रोषधोपवासका पहला अतिचार है ॥२०७॥ जिस प्रकार बिना देखे बिना शोधे किसी पदार्थको रखना पहला अतिचार है उसी प्रकार बिना देखे और बिना शोधे झाड़े किसी भी पुस्तक आदि धर्मोपकरणको उठा लेना अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-आदान नामका प्रोषधोपवास व्रतका दूसरा अतिचार कहलाता है तथा बिना देखे बिना शोधे सांथरा बिछाना या सोनेके लिये चटाई आदि बिछाना इस प्रोषधोपवासव्रतका अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-संस्तरोपक्रमण नामका तीसरा अतिचार है ॥२०८॥ अनादरका लक्षण जो पहले कह चुके हैं वही ग्रहण करना चाहिये अर्थात् इस प्रोषधोपवास व्रतको उत्साहपूर्वक न करना, बिना उत्साहके, बिना मनके करना प्रोषधोपवासका अनादर नामका चौथा अतिचार या दोष कहलाता है ॥२०९॥ प्रोषधोपवासके दिन मनको स्थिर न रखना, चंचल या डावांडोल

प्रोषधोपवासस्यात्र लक्षणं कथितं मया। इतः संख्योपभोगस्य परिभोगस्य चोच्यते ॥२११
निर्दिष्टं लक्षणं पूर्वं परिभोगोपभोगयोः। तयोः संख्या प्रकर्तव्या सागारैर्व्रतधारिभिः ॥२१२
सन्ति तत्राप्यतीचाराः पञ्च सूत्रोदिता बुधैः। परिहार्याः प्रयत्नेन श्रावकैर्धर्मवेदिभिः ॥२१३

तत्सूत्रं यथा—

सचित्तसम्बन्धसन्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ॥५९

चिकीर्षन्नपि तत्संख्यां सचित्तं यो न मुञ्चति। दोषः सचित्तसंज्ञोऽस्य भवेत्संख्याव्रतस्य सः ॥२१४
तथाविधोऽपि यः कश्चिच्चेतनाधिष्ठितं च यत्। वस्तुसंख्यामकुर्वाणो भवेत्तत्सम्बन्धदूषणम् ॥२१५
मिश्रितं च सचितेन वस्तुजातं च वस्तुना। स्वीकुर्वाणोऽप्यतीचारं सन्मिश्राख्यं च न त्यजेत् ॥२१६
आहारं स्निग्धग्राहिश्च ? दुर्जरं जठराग्निना। असंख्यातव्रतस्तस्य दोषो दुष्पक्वसंज्ञकः ॥२१७
उक्तातिचारनिर्युक्तं परिभोगोपभोगयोः। संख्याव्रतं गृहस्थानां श्रेयसे भवति ध्रुवम् ॥२१८

रखना स्मृत्यनुपस्थान नामका पाँचवाँ अतिचार कहलाता है। इस अतिचारका यह लक्षण उपलक्षण-रूपसे कहा है। मनके समान वचन और शरीरको भी चंचल रखना प्रोषधोपवासका अतिचार समझना चाहिये। इस प्रकार प्रोषधोपवासके पाँचों अतिचारोंका वर्णन किया। प्रोषधोपवासव्रत धारण करनेवाले व्रती श्रावकको इन पाँचों अतिचारोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥२१०॥ इस प्रकार प्रोषधोपवास व्रतका लक्षण बतलाया। अब आगे भोगोपभोगपरिमाणका लक्षण कहते हैं ॥२११॥ उपभोग और परिभोग दोनोंका लक्षण पहले इसी अध्यायमें कह चुके हैं। व्रत धारण करनेवाले गृहस्थोंको उपभोग और परिभोग दोनों प्रकारके पदार्थोंकी संख्या नियत कर लेनी चाहिये ॥२१२॥ इस उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतके भी पाँच अतिचार हैं जो सूत्रमें भी बतलाये हैं। धर्मके स्वरूपको जाननेवाले विद्वान् श्रावकोंको बड़े प्रयत्नसे इन अतिचारोंका त्याग कर देना चाहिये ॥२१३॥

उन अतिचारोंको कहनेवाला सूत्र यह है—सचित्त पदार्थोंका सेवन करना, सचित्तसे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थोंका सेवन करना, सचित्तसे मिले हुए पदार्थोंका सेवन करना, रसीले पौष्टिक आहारका सेवन करना और दुष्पक्व अर्थात् जो अच्छी तरह नहीं पका है अथवा जो आवश्यकतासे अधिक पक गया है ऐसे पदार्थोंका सेवन करना ये पाँच उपभोग परिभोगपरिमाणके अतिचार हैं ॥५९॥

आगे इन्हींका वर्णन करते हैं। उपभोगपरिभोगपदार्थोंका परिमाण करनेकी इच्छा करनेवाला अर्थात् उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतको धारण करनेवाला श्रावक यदि सचित्त पदार्थोंका त्याग न करे तो उसके उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतका सचित्त नामका अतिचार होता है ॥२१४॥ जो पदार्थ अचित्त हैं परन्तु उनका सम्बन्ध सचित्त पदार्थोंसे हो तो उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत करनेवाले श्रावकोंको ऐसे पदार्थोंका भी त्याग कर देना चाहिए। यदि व्रती श्रावक ऐसे पदार्थोंका त्याग न करें तो उनको सचित्तसम्बन्ध नामका दूसरा अतिचार लगता है ॥२१५॥ यदि उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत करनेवाला व्रती श्रावक सचित्तसे मिले हुए पदार्थोंका त्याग न करे, सचित्तसे मिले हुए अचित्त पदार्थोंका सेवन करे तो उसके सचित्तसन्मिश्र नामका तीसरा अतिचार या दोष लगता है ॥२१६॥ जो पदार्थ चिकने और रसीले हैं तथा जो पेटकी अग्निसे पच नहीं सकते ऐसे पदार्थोंका त्याग न करना अभिषव नामका अतिचार है ॥२१७॥ जो पदार्थ अग्निके द्वारा अच्छी

अतिथिसंविभागाख्यं व्रतमस्ति व्रतार्थिनाम् । व्रतशिरोरत्नमिहामुत्र सुखप्रदम् ॥२१९
ईषन्न्यूनं च मध्याह्ने कुर्याद् द्वारावलो म् । दातुकामः सुपात्राय दानीयाय महात्मने ॥२२०
तत्पात्रं त्रिविधं ज्ञेयं तत्राप्युत्कृष्टमादिमम् । द्वितीयं मध्यमं ज्ञेयं तृतीयं तु जघन्यकम् ॥२२१

उक्तं च—

उत्कृष्टपात्रमनगारमणुव्रत मध्यं व्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यम् ।
निर्दर्शनं व्रतनिकाययुतं कुपात्रं युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदं हि विद्धि ॥६०

एतेष्वन्यतमं प्राप्य दानं देयं यथाविधि । प्रासुकं शुद्धमाहारं विनयेन समन्वि ॥२२२
पात्रालाभे यथाचित्ते पश्चात्तापपरो भवेत् । अधमे विफलं जन्म भूयोभूयश्च चिन्तयेत् ॥२२३
कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देयं यथायथम् । केवलं तत्कृपादानं देयं पात्रधिया न हि ॥२२४

तरह पका नहीं है जैसे कच्ची रोटी, विना गली हुई दाल या भात, अथवा जो पदार्थ आवश्यकतासे अधिक पक गया जैसे, रोटी जली, जला हुआ शाक आदि, ऐसे पदार्थोंको दुष्पक्व कहते हैं। ऐसे पदार्थोंके सेवन करनेसे लोलुपता अधिक प्रतीत होती है तथा अधपके कच्चे पदार्थ पचते भी नहीं हैं, कठिनतासे पचते हैं अतएव उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत करनेवालोंको ऐसे दुष्पक्व पदार्थोंका भी त्याग कर देना चाहिए। यदि इस व्रतको पालन करनेवाला ऐसे पदार्थोंका त्याग न करे तो उसके दुष्पक्व नामका पाँचवाँ अतिचार लगता है। इस प्रकार इस व्रतके पाँचों अतिचारोंका निरूपण किया। व्रती श्रावकोंको अपना व्रत शुद्ध और निर्दोष रखनेके लिए इन पाँचों अतिचारोंका त्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार अतिचार रहित पालन किया हुआ यह उपभोगपरिभोगपरिमाण नामका व्रत गृहस्थोंके लिए अवश्य ही कल्याणकारी होता है ॥२१८॥ व्रत पालन करनेवालोंके लिए अतिथिसंविभागव्रत नामका भी एक उत्तम व्रत है। यह व्रत समस्त व्रतोंके मस्तकका रत्न है तथा इस लोक और परलोक दोनों लोकोंमें सुख देनेवाला है ॥२१९॥ जिस महात्माके लिए, जिस देने योग्य सुपात्रके लिए दान देनेकी इच्छा हो ऐसे श्रावकको दोपहरके कुछ समय पहले द्वारालोकन करना चाहिये ॥२२०॥ जिनको आहार देना चाहिये ऐसे पात्रोंके तीन भेद हैं पहले उत्तमपात्र, दूसरे मध्यमपात्र और तीसरे जघन्यपात्र ॥२२१॥

कहा भी है—मुनियोंको उत्तम पात्र कहते हैं, अणुव्रती श्रावक मध्यमपात्र हैं, व्रतरहित सम्यग्दृष्टि श्रावक जघन्यपात्र हैं। सम्यग्दर्शनसे रहित और व्रतोंको पालन करनेवाले मिथ्यादृष्टि कुपात्र हैं और जो सम्यग्दर्शनसे भी रहित हैं तथा व्रतोंसे भी रहित हैं ऐसे मनुष्योंको अपात्र कहते हैं ॥६०॥

उत्तम मध्यम जघन्य इन तीनों पात्रोंमेंसे जो कोई मिल जाय उसीको विधिपूर्वक दान देना चाहिये। दानमें जो आहार दिया जाय वह प्रासुक होना चाहिये और शुद्ध होना चाहिये तथा विनयपूर्वक देना चाहिये ॥२२२॥ यदि दैवयोगसे किसी पात्रका लाभ न हो तो अपने हृदयमें पश्चात्ताप करना चाहिये और इस अधम समयमें मेरा जन्म व्यर्थ जा रहा है इस प्रकार उसे वार वार चिन्तवन करना चाहिये ॥२२३॥ कुपात्र और अपात्रोंको भी उनकी योग्यतानुसार दान देना चाहिये, परन्तु इसमें इतना विशेष है कि कुपात्र अपात्रोंको दिया हुआ दान केवल करुणादान कहलाता है तथा करुणावुद्धिसे ही देना चाहिये। उनको पात्र समझकर या पात्रवुद्धिसे दान कभी

अस्ति सूत्रोदितं शुद्धं तत्रातीचारप म् । अतिथिसंविभागाख्यव्रतरक्षार्थं परित्यजेत् ॥२२५

तत्सूत्रं यथा—

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥६१

सचित्ते पद्मपत्रादौ निक्षेपोऽन्नादिवस्तुनः । दोषः सचित्तनिक्षेपो भवेदन्वर्थसंज्ञकः ॥२२६
अपिधानमावरणं सचित्तेन कृतं यदि । स्यात्सचित्तापिधानाख्यं दूषणं व्रतधारिणः ॥२२७
आस्माकीनं सुसिद्धान्नं त्वं प्रयच्छेति योजनम् । दोषः परोपदेशस्य करणाख्यो व्रतात्मनः ॥२२८
प्रयच्छन्नच्छमन्नादि गर्वमुद्वहते यदि । दूषणं लभते सोऽपि महामात्सर्यसंज्ञकम् ॥२२९
ईषन्न्यूनाच्च मध्याह्नाह्वानकालादधोऽथवा । ऊर्ध्वं तद्भावनाहेतोर्दोषः कालव्यलि : ॥२३०
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तं पात्रेभ्यो दानमुत्तमम् । । अतिथिसंविभागाख्यव्रतं तस्य सुखाप्तये ॥२३१
यथात्मज्ञानमाख्यातं संख्याव्रतचतुष्टयम् । अस्ति सल्लेखना कार्या तद्व्रतो मारणान्तिकी ॥२३२

नहीं देना चाहिये ॥२२४॥ अन्य व्रतोंके समान इस व्रतके भी सूत्रमें कहे हुए पाँच अतिचार हैं अतएव इस अतिथिसंविभाग व्रतकी रक्षा करनेके लिए, इस व्रतको निर्दोष पालन करनेके लिए उन पाँचों अतिचारोंका भी त्याग कर देना चाहिये ॥२२५॥

उन अतिचारोंको कहनेवाला सूत्र यह है—आहारदान देते हुए सचित्त वस्तुपर रक्खे हुए पदार्थको दानमें देना, सचित्त वस्तुसे ढके हुए पदार्थको दान देना, दान देनेके लिए दूसरेको आज्ञा देना, मात्सर्य या ईर्षा करना और समयको टालकर आहारका समय बीत जानेपर द्वारावलोकन करना ये पाँच अतिथिसंविभागव्रतके अतिचार हैं ॥६१॥

आगे इन्हींका वर्णन करते हैं। सचित्त (हरित) कमलके पत्तेपर या केलेके पत्तेपर रक्खे हुए पदार्थको आहार दानमें देना सचित्तनिक्षेप नामका अतिचार है। जिसमें चेतनाके अंश हों उसको सचित्त कहते हैं, ऐसे सचित्त पदार्थपर रक्खे हुए दाल भात आदि पदार्थोंका दान देना सचित्तनिक्षेप नामका पहला अतिचार है ॥२२६॥ अपिधान शब्दका अर्थ ढकना है। जो दाल, भात, रोटी आदि पदार्थ हरे कमलके पत्ते आदि सचित्त पदार्थोंसे ढके हुए हैं ऐसे पदार्थोंका दान देनेसे व्रती श्रावकके लिए सचित्तापिधान नामका दूसरा अतिचार लगता है ॥२२७॥ "यह हमारा बना बनाया तैयार भोजन है इसको तुम दान देना" इस प्रकार दान देनेके लिए दूसरेको कहना व्रती श्रावकके लिए परव्यपदेश नामका तीसरा अतिचार है ॥२२८॥ यदि कोई दान देनेवाला दाता दानमें किसी निर्दोष अन्नको देवे परन्तु उसको देते हुए वह यदि अभिमान करे और यह समझे कि निर्दोष अन्न मैंने ही दिया है इस प्रकारका समझना या अभिमान करना महामात्सर्य नामका अतिचार कहलाता है ॥२२९॥ दान देनेका समय दोपहरके समयसे कुछ पहलेका समय है, उस आहार दान देनेके समयसे पहले अथवा उसके बाद यदि आहार दानकी भावना करनेके लिए द्वारावलोकन करे तो उसके कालातिक्रम नामका पाँचवाँ अतिचार होता है ॥२३०॥ जो व्रती श्रावक समयानुसार प्राप्त हुए उत्तम मध्यम जघन्य पात्रोंको ऊपर लिखे पाँचों अतिचारोंसे रहित दान देता है और इस प्रकार इस अतिथिसंविभाग व्रतको निर्दोष पालन करता है उसको स्वर्ग मोक्षके अनुपम सुखोंकी प्राप्ति अवश्य होती है ॥२३१॥ इस प्रकार अपने ज्ञानके अनुसार चारों संख्याव्रतोंका अथवा शिक्षाव्रतोंका निरूपण किया। तथा इन चारों व्रतोंमें पापोंका त्याग किया जाता है तथा नियतकाल तक त्याग किया जाता है या परिमाण किया जाता है इसलिये इन व्रतों

सोऽस्ति सल्लेखनाकालो जीर्णे वयसि चाथवा । दैवाद्घोरोपसर्गेऽपि रोगे साध्यतरेऽपि च ॥२३३
क्रमेणाराधनाशास्त्रप्रोक्तेन विधिना व्रती । वपुषश्च कषायाणां जयं कृत्वा तनुं त्यजेत् ।।२३४
धन्यास्ते वीरकर्माणो ज्ञानिनस्ते व्रतावहाः । येषां सल्लेखनामृत्युः निष्प्रत्यूहतया भवेत् ॥२३५
दोषाः सूत्रोदिताः पञ्च सन्त्यतीचारसंज्ञकाः । अन्त्यसल्लेखनायास्ते संत्याज्याः पारलौकिकैः ॥२३६

तत्सूत्रं यथा—

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥६२

आशंसा जीविते मोहाद् यथेच्छेदपि जीवि[illegible] । यदि जीव्ये वरं तावद्दोषोऽयं यत्तमस्यते ॥२३७
आशंसा मरणे चापि यथेच्छेन्मरणं द्रुतम् । वरं मे मरणं तूर्णं मुक्तः स्यां दुःखसङ्कटात् ॥२३८
दोषो मित्रानुरागाख्यो यन्नेचच्छेन्मरणं क्वचित् । पुरस्तान्मित्रतो मृत्युर्वरं पश्चान्न मे वरम् ॥२३९

को संख्याव्रत कहते हैं। यहाँपर संख्या शब्दका अर्थ नियत की हुई संख्या अथवा परिमाण है इसीलिये इसको संख्याव्रत कहते हैं। अब आगे सल्लेखना व्रतको कहते हैं। व्रती श्रावकको मरण समयमें होनेवाली सल्लेखना भी अवश्य करनी चाहिये ॥२३२॥ जब अपनी आयु अत्यन्त जीर्ण हो जाय अर्थात् सबसे अधिक बुढ़ापा आ जाय अथवा दैवयोगसे कोई घोर उपसर्ग आ जाय (जलमें डूब जाय अथवा अग्निमें जल मरनेका समय आ जाय) अथवा कोई प्रबल और असाध्य रोग हो जाय तो वही समय सल्लेखनाका समय समझना चाहिये ॥२३३॥ व्रती श्रावकको आराधना-शास्त्रोंमें कही हुई विधिके अनुसार अनुक्रमसे शरीर और कषायोंको जीतना चाहिये और फिर शरीरका त्याग करना चाहिये ॥२३४॥ इस संसारमें वे ही व्रती श्रावक धन्य हैं, वे ही शूरवीर या वीर कर्म करनेवाले हैं और वे ही ज्ञानी हैं जिनका समाधिमरण विना किसी विघ्नके पूर्ण हो जाता है ॥२३५॥ इस सल्लेखनाव्रतके भी पाँच अतिचार हैं जो सूत्रकारने भी अपने सूत्रमें बतलाये हैं। परलोकमें सुख चाहनेवाले व्रती श्रावकोंको इस मरण समयमें होनेवाले सल्लेखनाव्रतके उन पाँचों अतिचारोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥२३६॥

उन अतिचारोंको कहनेवाला सूत्र यह है—जीवित रहनेकी आशा रखना, शीघ्र मरनेकी आशा रखना, मित्रोंमें प्रेम रखना, भोगे हुए सुखोंका अनुभव करना अथवा आगामी सुखोंको चाह करना और निदान करना ये पाँच सल्लेखनाव्रतके अतिचार हैं ॥६२॥

आगे इन्हींका वर्णन करते हैं। मोहनीयकर्मके उदयसे जीवित रहनेकी आशा करना अथवा अपने जीवित रहनेकी इच्छा करना अथवा 'मैं यदि तब तक जीता रहूँ तो अच्छा' इस प्रकार नियत काल तक जीवित रहनेको इच्छा करे तो उसके जीविताशंसा नामका पहला अतिचार होता है ॥२३७॥ "मुझे इस समय बहुत दुःख हो रहा है, यदि मेरा मरण शीघ्र हो जाय तो मैं इस भारी दुःखसे छूट जाऊँ" इस प्रकार विचार कर शीघ्र ही मरनेकी इच्छा करना मरणाशंसा नामका दूसरा अतिचार है ॥२३८॥ "मेरा मरण यदि मेरे मित्रके सामने ही होता तो अच्छा, मित्रके पीछे मेरा मरण होना अच्छा नहीं" इस प्रकार मित्रके सामने ही अपने मरणकी इच्छा करना मित्रानुराग नामका अतिचार है। मित्रानुराग शब्दका अर्थ मित्रोंमें प्रेम रखना है। सो इस प्रकार मित्रके सामने मरनेकी इच्छा करना भी मित्रानुराग है। अथवा पहले जो मित्रोंके साथ बालकपनमें क्रीडा की थी उसका स्मरण करना भी मित्रानुराग है। ऐसा स्मरण करनेसे भी परिणामोंकी निर्मलतामें कमी आ जाती है इसलिये समाधिमरण धारण करनेवालोंको इस

दोषः सुखानुवन्धाख्यो यथात्रास्मीह दुःखवान् ।
मृत्वापि व्रतमाहात्म्याद् भविष्येऽहं सुखी क्वचित् ॥२४०
दोषो निदानवन्धाख्यो यथेच्छेन्मरणं कुधीः । भवेयं व्रतमाहात्म्यादस्य घाताय तत्परः ॥२४१
यदि वा मरणं चेच्छेन्मोहोद्रेकात्स मूढधीः । भवेयं चोपकाराय मित्रस्यास्य व्रतादितः ॥२४२
यदि वा मरणं चेच्छेदज्ञानाद्वा सुखाशया । भूयान्मे माहात्म्यात्स्वर्गश्रीरद्विवादिनी ॥२४३
एतैर्दोषैर्निर्मुक्तमन्त्यसल्लेखनाव्रतम् । स्वर्गापवर्गसौख्यानां सुधापानाय ते ॥२४४
उक्ता सल्लेखनोपेता द्वादश भावनाः । एताभिर्व्रतप्रतिमा पूर्णतां याति सुस्थिता ॥२४५

इति श्रावकाचारापरनामलाटीसंहितायां मृषात्यागादिलक्षणचतुष्क-गुणव्रतत्रिक-शिक्षाव्रतचतुष्टयप्रतिमाप्रतिपादकः पञ्चमः सर्गः ॥५॥

•

अतिचारका भी त्याग कर देना चाहिये ॥२३९॥ "मैं इस जन्ममें बहुत दुःखी हूँ, मैंने जो ये व्रत पालन किये इनके माहात्म्यसे मैं मर कर किसी दूसरे स्थानमें जाकर सुखी हूँगा" इस प्रकार चिन्तवन करना सुखानुवन्ध नामका अतिचार है । अथवा इस जन्ममें जिन-जिन सुखोंका अनुभव किया है उनका स्मरण करना भी सुखानुवन्ध नामका अतिचार है ॥२४०॥ यदि समाधिमरण धारण करनेवाला कोई श्रावक अपनी दुर्बुद्धिके दोषसे यह चिन्तवन करे कि "मैं इस व्रतके माहात्म्यसे मर कर ऐसे स्थानमें उत्पन्न होऊँ जो इस अपने शत्रुका घात करूँ" यही सोचकर मरनेकी इच्छा करना निदान नामका अतिचार है ॥२४१॥ अथवा कोई मूर्ख मोहनीयकर्मके उदयसे यह चिन्तवन करे कि "मैं मर कर इस व्रतके माहात्म्यसे ऐसे स्थानमें उत्पन्न होऊँ जो अपने इस मित्रका अच्छा उपकार करूँ" इस प्रकार चिन्तवन कर मरनेकी इच्छा करना निदानवन्ध नामका अतिचार है ॥२४२॥ अथवा अपने अज्ञानसे सुखकी इच्छा करता हुआ वह समाधिमरण धारण करनेवाला यह चिन्तवन करे कि "मैं शीघ्र मर जाऊँ जिससे मुझे इस व्रतके माहात्म्यसे स्वर्गकी अद्वितीय लक्ष्मी प्राप्त हो।" इस प्रकार चिन्तवन कर मरनेकी इच्छा करना निदान नामका अतिचार है ॥२४३॥ जो व्रती मनुष्य ऊपर लिखे समस्त दोषोंसे रहित इस मरणसमयके सल्लेखना-व्रतको पालन करते हैं अर्थात् इस सल्लेखनाव्रतको अतिचाररहित पालन करते हैं उनको स्वर्ग और मोक्षके अनुपम सुखरूपी अमृत अवश्य पीनेको मिलता है ॥२४४॥ इस प्रकार सल्लेखनाव्रतके साथ वारह व्रतोंका तथा उनकी भावनाओंका निरूपण किया । जो व्रती श्रावक इन सम्पूर्ण व्रतोंको पालन करता है उसके व्रतप्रतिमा पूर्णरीतिसे पालन होती है । भावार्थ—इन सव व्रतोंको निर्दोष और निरतिचार पालन करना व्रतप्रतिमा कहलाती है ॥२४५॥

इस प्रकार व्रतप्रतिमाका स्वरूप कहा ।

इस प्रकार सत्याणुव्रत आदि चार अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चारों शिक्षाव्रतोंको निरूपण करनेवाला अथवा दूसरी प्रतिमाके स्वरूपको पूर्ण कहनेवाला यह पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥५॥

•

षष्ठ सर्ग

द्वादशव्रतशुद्धस्य विशुद्धेश्चातिशायिनः । युक्तमुत्कृष्टाचरणमिच्छतस्तत्पदं मुदे ॥१
स्यात्सामायिकप्रतिमा नाम्ना चाप्यस्तिसंख्यया । तृतीया व्रतरूपा स्यात्कर्तव्या वेश्मशालिभिः ॥२
व्रतानां द्वादशं चात्र प्रतिपाल्यं यथोदितम् । विशेषादपि कर्तव्यं सम्यक् सामायिकव्रतम् ॥३
ननु व्रतप्रतिमायामेतत्सामायिकव्रतम् । तदेवात्र तृतीयायां प्रतिमायां तु किं पुनः ॥४
सत्यं किन्तु विशेषोऽस्ति प्रसिद्धः परमागमे । सातिचारं तु स्यादत्रातीचारविवर्जितम् ॥५
किञ्च तत्र त्रिकालस्य नियमो नास्ति देहिनाम् । अत्र त्रिकालनियमो मुनेर्मूलगुणादिवत् ॥६
तत्र हेतुवशात् क्वापि कुर्यात्कुर्यान्न वा क्वचित् । सातिचारव्रतत्वाद्वा तथापि न व्रतक्षतिः ॥७
अत्रावश्यं त्रिकालेऽपि कार्यं सामायिकं जगत् । अन्यथा व्रतहानिः स्यादतीचारस्य का कथा ॥८
अन्यत्राप्येवमित्यादि यावदेकादशस्थितिः । व्रतान्येव विशिष्यन्ते नार्थादर्थान्तरं क्वचित् ॥९

जो श्रावक बारह व्रतोंके पालन करनेसे शुद्ध है तथा निर्मल सम्यग्दर्शनके प्रभावसे जिसकी विशुद्धि, जिसके आत्माकी निर्मलता अत्यन्त बढ़ती जा रही है और जो अपनी आत्माका कल्याण करनेके लिए उत्तम मुनिपदको धारण करनेकी इच्छा करता है ऐसे श्रावकको उत्कृष्ट आचरण धारण करना चाहिये ॥१॥ तीसरी प्रतिमाका नाम सामायिक प्रतिमा है। व्रती श्रावकोंको दूसरी प्रतिमाके पालन करनेमें निपुण हो जानेपर तीसरी प्रतिमा पालन करनी चाहिये ॥२॥ इस तीसरी प्रतिमामें ऊपर कहे हुए बारह व्रतोंका तो पालन करना ही चाहिये किन्तु इतना और विशेष है कि इसमें सामायिक नामका व्रत बहुत अच्छी तरहसे विधिपूर्वक करना चाहिये ॥३॥ यहाँपर शंकाकार शंका करता है कि यह सामायिक नामका व्रत व्रतप्रतिमामें कहा है तथा वही सामायिक नामका व्रत इस तीसरी प्रतिमामें बतलाया सो इसमें क्या विशेषता है ॥४॥ ग्रन्थकार उत्तर देते हुए कहते हैं कि आपका कहना सत्य है जो सामायिक व्रतप्रतिमामें है वही सामायिक तीसरी प्रतिमामें है परन्तु उन दोनोंमें जो विशेषता है वह शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है और वह विशेषता यह है कि व्रतप्रतिमामें जो सामायिक है वह अतिचार सहित पालन किया जाता है तथा इस तीसरी प्रतिमामें जो सामायिक है वह अतिचार रहित पालन किया जाता है ॥५॥ इसके सिवाय भी इसमें इतनी और विशेषता है कि व्रतप्रतिमामें श्रावकोंको तीनों समय सामायिक करनेका नियम नहीं है किन्तु इस तीसरी सामायिक प्रतिमामें मुनियोंके मूलगुण आदिके समान तीनों समय सामायिक करनेका नियम है ॥६॥ दूसरी प्रतिमाको धारण करनेवाला व्रती श्रावक सामायिक करता है और कभी किसी स्थानपर कारणवश नहीं भी करता है क्योंकि वहाँपर वह सामायिक व्रतको अतिचारसहित पालन करता है इसीलिये कभी किसी स्थानपर कारणवश सामायिक न करनेपर भी उसके व्रतकी हानि नहीं होती ॥७॥ परन्तु इस तीसरी सामायिक प्रतिमामें यह बात नहीं है। सामायिक प्रतिमाको धारण करनेवाले व्रती श्रावकको तीनों समय अवश्य सामायिक करना पड़ता है। यदि वह तीनों समयमेंसे एक समयमें भी सामायिक न करे तो उसके व्रतोंकी हानि हो जाती है फिर भला अतिचारोंकी तो बात ही क्या है ॥८॥ जो यह नियम तथा दूसरी प्रतिमाको धारण करनेवाले श्रावकोंके व्रतोंसे विशेषता इस सामायिकमें बतलायी है वही विशेषता

शोभतेऽतीव संस्कारात् साक्षादाकरजो मणिः । संस्कृतानि व्रतान्येव निर्जराहेतवस्तथा ॥१०
स्यात्प्रोषधोपवासाख्या चतुर्थी प्रतिमा शुभा । कर्तव्या निर्जराहेतुः संवरस्यापि कारणम् ॥११
अस्त्यत्रापि समाधानं वेदितव्यं तदुक्तवत् । सातिचारं च तत्र स्यादत्रातीचारवर्जितम् ॥१२
द्वादशव्रतमध्येऽपि विद्यते प्रोषधं व्रतम् । तदेवात्र समाख्यानं विशेषस्तु विवक्षितः ॥१३
अवश्यमपि कर्तव्यं चतुर्थप्रतिमाव्रतम् । कर्मकाननकोटीनामस्ति दावानलोपमम् ॥१४
पञ्चमी प्रतिमा चास्ति व्रतं सागारिणामिह । तत्सचित्तपरित्यागलक्षणं भक्ष्यगोचरम् ॥१५
इतः पूर्वं कदाचिद्वै सचित्तं वस्तु भक्षयेत् । इतः परं स नाश्नुयात्सचित्तं तज्जलाद्यपि ॥१६

ग्यारह प्रतिमातक सब प्रतिमाओंमें समझ लेना चाहिये क्योंकि आगेकी प्रतिमाओंमें बारह व्रत ही विशेषताके साथ पालन किये जाते हैं। उन आगेकी प्रतिमाओंमें उन्हीं व्रतोंकी विशेष विधिके सिवाय और कुछ नहीं है ॥९॥ जिस प्रकार खानिमेंसे निकला हुआ मणि स्वभावसे ही शोभायमान होता है परन्तु यदि उसको शानपर रखकर उसका विशेष संस्कार कर दिया जाय, उसके पहल आदि कर दिये जायं तो वह और अधिक शोभायमान होने लगता है उसी प्रकार व्रत पालन करना स्वभावसे ही कर्मोंकी निर्जराका कारण है परन्तु वे ही व्रत यदि अतिचार-रहित पालन किये जायँ, तथा विशेष विधिके साथ पालन किये जायँ तो कर्मोंकी विशेष निर्जराके कारण होते हैं ॥१०॥ चौथी प्रतिमाका नाम प्रोषधोपवास प्रतिमा है। यह प्रतिमा सबमें शुभ है, कर्मोंकी निर्जराका कारण और संवरका भी कारण है अतएव व्रती श्रावकोंको इसका पालन अवश्य करना चाहिये ॥११॥ व्रतप्रतिमामें भी प्रोषधोपवास व्रत कहा है तथा यहाँपर चौथी प्रतिमामें भी प्रोषधोपवास व्रत बतलाया है। इसका समाधान वही है जो ऊपर बतलाया है अर्थात् व्रत प्रतिमामें अतिचार सहित पालन किया जाता है तथा यहाँपर चौथी प्रतिमामें वही प्रोषधोपवास व्रत अतिचाररहित पालन किया जाता है ॥१२॥ जो प्रोषधोपवास व्रत बारह व्रतोंमें वा व्रत प्रतिमामें बतलाया है वही प्रोषधोपवासव्रत यहाँपर चौथी प्रतिमामें बतलाया है, यहाँपर चौथी प्रतिमामें होनेवाले प्रोषधोपवासव्रतमें उससे कुछ विशेषता है और वह विशेषता यही है कि बारह व्रतोंका पालन करनेवाला व्रतप्रतिमावाला श्रावक अष्टमी चतुर्दशीको प्रोषधोपवास करता है तथा कभी किसी स्थानपर कारण मिलनेपर नहीं भी करता है तो भी उसके व्रतकी हानि नहीं होती। किन्तु चौथी प्रतिमावालेको प्रत्येक पर्वके दिन प्रोषधोपवास अवश्य करना पड़ता है, यदि चौथी प्रतिमावाला किसी भी स्थानपर किसी भी कारणसे किसी भी समय प्रोषधोपवास न करे तो फिर उसके व्रतकी अर्थात् चौथी प्रतिमाकी हानि हो जाती है। यही व्रतप्रतिमा और चौथी प्रतिमाके प्रोषधोपवासमें अन्तर है इसलिये ऊपर कहा गया है कि व्रत प्रतिमावाला अतिचार सहित पालन करता है और चौथी प्रतिमावाला अतिचाररहित पालन करता है ॥१३॥ यह प्रोषधोपवासव्रत कर्मरूपी करोड़ों वनोंको जलानेके लिये दावानल अग्निके समान है, जिस प्रकार दावानल अग्नि करोड़ों वनोंको भस्म कर देती है उसी प्रकार इस प्रोषधोपवासव्रतके पालन करनेसे करोड़ों जन्मके अनन्तानन्त कर्म नष्ट हो जाते हैं अतएव व्रती श्रावकोंको इस चौथी प्रतिमाका पालन अवश्य करना चाहिये ॥१४॥

गृहस्थ व्रतियोंकी पाँचवीं प्रतिमाका नाम सचित्तत्यागप्रतिमा है। यह प्रतिमा केवल खाने योग्य पदार्थोंसे सम्बन्ध रखती है ॥१५॥ इस पाँचवीं प्रतिमाको पालन करनेवाला श्रावक इससे

भक्षणेऽत्र सचित्तस्य नियमो न तु स्पर्शने । तत्स्वहस्तादिना कृत्वा प्रासुकं चात्र भोजयेत् ॥१७
रात्रिभक्तपरित्यागलक्षणा प्रतिमाऽस्ति सा । विख्याता संख्यया षष्ठी सद्मस्थश्रावकोचिता ॥१८
इतः पूर्वं कदाचिद्वा पयःपानादि स्यान्निशि । इतः परं परित्यागः सर्वथा पयसोऽपि तत् ॥१९
यद्वा विद्यते नात्र गन्धमाल्यादिलेपनम् । नापि रोगोपशान्त्यर्थं तैलाभ्यङ्गादि कर्म तत् ॥२०
किञ्च रात्रौ यथा भुक्तं वर्जनीयं हि सर्वदा । दिवा योषिद्व्रतं चापि षष्ठस्थानं परित्यजेत् ॥२१
अस्ति तस्यापि जन्मार्द्धं ब्रह्मचर्याधिवासितम् । तदर्द्धसर्वसंन्याससनाथं फलवन्महत् ॥२२
नहि कालकलैकाऽपि काचित्तस्यास्ति निष्फला । मन्ये साधुः स एवास्ति कृती सोऽपीह बुद्धिमान् २३
मी प्रतिमा चास्ति ब्रह्मचर्याह्वया पुनः । यत्रात्मयोषितश्चापि त्यागो निःशल्यचेतसः ॥२४
कायेन मनसा वाचा त्रिकालं वनितारतम् । कृतानुमननं चापि कारितं तत्र वर्जयेत् ॥२५
अस्ति हेतुवशादेष गृहस्थो मुनिरर्थतः । ब्रह्मचर्यव्रतं यस्माद् दुर्धरं व्रतसन्ततौ ॥२६

पहले अर्थात् चौथी प्रतिमातक कभी-कभी सचित्त पदार्थोंका भी भक्षण कर लेता था परन्तु अब इस प्रतिमाको स्वीकार करनेके बाद वह कभी भी सचित्त पदार्थका भक्षण नहीं करता है। यहाँ तक कि कच्चा जल भी कभी काममें नहीं लाता है ॥१६॥ इसमें भी इतना और समझ लेना चाहिये कि पाँचवीं प्रतिमाको पालन करनेवाले श्रावकके सचित्त पदार्थोंके खानेका त्याग होता है सचित्त पदार्थोंके स्पर्श करनेका त्याग नहीं होता। पाँचवीं प्रतिमाको पालन करनेवाला श्रावक जलादिक सचित्त पदार्थोंको अपने हाथसे प्रासुक करके खा-पी सकता है ॥१७॥ इस प्रकार पाँचवीं प्रतिमाका निरूपण किया। अब आगे छठी प्रतिमाका वर्णन करते हैं। गृहस्थ व्रतियोंको पालन करने योग्य छठी प्रतिमाका नाम रात्रिभक्तत्यागप्रतिमा है ॥१८॥ इस प्रतिमाको स्वीकार करनेसे पहले अर्थात् पाँचवीं प्रतिमातक पालन करनेवाला श्रावक कदाचित् रात्रिमें पानी आदि पीता था परन्तु अब इस छठी प्रतिमाको स्वीकार कर लेनेपर वह श्रावक रात्रिमें पानी पीनेका भी सर्वथा त्याग कर देता है ॥१९॥ इस छठी प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक रात्रिमें गन्ध, पुष्पमाल आदिका सेवन नहीं कर सकता, न कोई लेप लगा सकता है तथा अपने किसी रोगको शान्त करनेके लिये रात्रिमें तेल लगाना या उबटन लगाना आदि कार्य भी नहीं कर सकता ॥२०॥ इस छठी प्रतिमाको पालन करनेवाला व्रती श्रावक जिस प्रकार रात्रिमें भोजनका सर्वथा त्याग कर देता है उसी प्रकार वह दिनमें स्त्रीसेवन करनेका भी सर्वथा त्याग कर देता है ॥२१॥ इस प्रकार जो श्रावक इस छठी प्रतिमाका पालन करता है उसका आधा जन्म तो ब्रह्मचर्यसे व्यतीत होता है तथा आधा जन्म सब प्रकारके आहारके त्यागपूर्वक व्यतीत होता है अतएव संसारमें वही जन्म सफल और महत्त्वशालो गिना जाता है ॥२२॥ इस प्रकार उसका दिन और रात्रि दोनों ही त्यागपूर्वक व्यतीत होते हैं इस प्रकार उसका एक समय भी निष्फल व्यतीत नहीं होता इसलिये संसारमें वही साधु है, वही कृती है और वही बुद्धिमान् गिना जाता है ॥२३॥ इस प्रकार छठी प्रतिमाका वर्णन किया। सातवीं प्रतिमाका नाम ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। इस प्रतिमामें अपनी विवाहिता धर्मपत्नीका भी सर्वथा त्याग कर देना पड़ता है और अपना हृदय सर्वथा निःशल्य बना लेना पड़ता है ॥२४॥ इस ब्रह्मचर्य प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक मनसे, वचनसे, कायसे और कृत-कारित अनुमोदनासे भूत-भविष्यत् वर्तमान तीनों काल सम्बन्धी समस्त स्त्रीमात्रके सेवन करनेका त्याग कर देता है ॥२५॥ इस सातवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक किसी कारण

हेतुस्तत्रास्ति विख्यातः प्रत्याख्यानावृतेर्यथा । विपाकात्कर्मणः सोऽपि नेतुं नार्हति तत्पदम् ॥२७
उदयात्कर्मणो नाग्न्यं कर्तुंनालमयं जनः । क्षुत्पिपासादि दुःखं च सोढुं न क्षमते यतः ॥२८
ततोऽशक्यः गृहत्यागः सद्मन्येवात्र तिष्ठते । वैराग्यस्य परां काष्ठामधिरूढः स शुद्धधीः ॥२९
इतः प्रभृति सर्वेऽपि यावदेकादशस्थितिः । इयद्वस्त्रावृताश्चापि विज्ञेया मुनिसन्निभाः ॥३०
अष्टमी प्रतिमा साऽथ प्रोवाच वदतां वरः । सर्वतो देशतश्चापि यत्रारम्भस्य वर्जनम् ॥३१
इतः पूर्वमतीचारो विद्यते वधकर्मणः । सचित्तस्पर्शनत्वाद्वा स्वहस्तेनाम्भसां यथा ॥३२
इतः प्रभृति यद् द्रव्यं सचित्तं सलिलादिवत् । न स्पर्शति स्वहस्तेन बह्वाऽऽरम्भस्य का कथा ॥३३
तिष्ठेत्स्वबन्धुवर्गाणां मध्येऽप्यन्यतमाश्रितः । सिद्धं भक्त्यादि भुञ्जीत यथालब्धं मुनिर्यथा ॥३४
क्वापि केनावहूतस्य बन्धुनाऽथ सधर्मिणा । तद्गेहे भुञ्जमानस्य न दोषो न गुणः पुनः ॥३५
किञ्चायं सद्मस्वामित्वे वर्तते व्रतवानपि । अर्वागादशमस्थानान्नापरान्नपरायणः ॥३६

विशेषसे गृहस्थ या श्रावक कहलाता है। वास्तवमें देखा जाय तो एक प्रकारसे मुनिके ही समान है क्योंकि समस्त व्रतोंके समुदायमें वह ब्रह्मचर्य व्रत सबसे अधिक कठिन है, इसका पालन करना अत्यन्त कठिन है इसलिये जिसने इस व्रतको पालन कर लिया उसे मुनिके ही समान समझना चाहिये ॥२६॥ ब्रह्मचर्यप्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक मुनिपदको धारण नहीं कर सकता, इसका प्रसिद्ध कारण प्रत्याख्यानावरणकर्मका उदय ही समझना चाहिये ॥२७॥ प्रत्याख्यानावरण-कषायके उदयसे वह नग्नपना (मुनिवेष) धारण करनेके लिए समर्थ नहीं है, और भूख-प्यास आदिके दुःखको भी सहन करनेके लिए समर्थ नहीं है ॥२८॥ इसीलिए वह घरके त्याग करनेमें असमर्थ होता है, गृहस्थ अवस्थाका त्याग नहीं कर सकता। अत्यन्त शुद्ध बुद्धिको धारण करने-वाला ब्रह्मचारी श्रावक अवस्थामें ही रहकर उत्कृष्ट वैराग्यको धारण करता है ॥२९॥ इस सातवीं प्रतिमासे लेकर ग्यारहवीं प्रतिमातकके समस्त श्रावक अपने नियत किये हुए वस्त्र रखते हैं। अपने नियत किये हुए वस्त्रोंके साथ साथ वे मुनियोंके ही समान माने जाते है ॥३०॥ इस प्रकार सातवीं प्रतिमाका स्वरूप कहा। अब आगे वक्ताओंमें श्रेष्ठ ग्रन्थकार आठवीं प्रतिमाका स्वरूप कहते हैं। जिसमें आरम्भका सर्वथा भी त्याग है और एकदेश भी त्याग है। खेती व्यापार आदि आजीविकाके कार्योंके आरम्भका सर्वथा त्यागी होता है इसीलिये वह सर्वदेश आरम्भका त्यागी कहलाता है तथा सचित्त अभिषेक पूजन आदि क्रियाओंके आरम्भका त्यागी होता है इसी-लिए वह एकदेश आरम्भका त्यागी कहलाता है ॥३१॥ इस आठवीं प्रतिमाके स्वीकार करनेसे पहले वह सचित्त पदार्थोंका स्पर्श करता था, जैसे अपने हाथसे जल भरता था, छानता था और फिर उसे प्रासुक करता था। इस प्रकार करनेसे उसे अहिंसाव्रतका अतिचार लगता था। परन्तु इस आठवीं प्रतिमाको धारण कर लेनेके अनन्तर वह जल आदि सचित्त द्रव्योंको अपने हाथसे छूता भी नहीं है, फिर भला अधिक आरम्भ करनेकी तो बात ही क्या है ॥३२-३३॥ आठवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला व्रती श्रावक अपने बन्धुवर्गोंमेंसे किसी एकके आश्रय रहता है तथा उसके यहाँ जैसा कुछ बना बनाया भोजन मिल जाता है उसे ही मुनिके समान निस्पृह होकर कर लेता है ॥३४॥ कभी कभी यदि कोई अन्य कुटुम्बी अथवा बाहरका कोई अन्य सधर्मी पुरुष भोजनके लिए बुला लेवे तो उसके घर भी भोजन कर लेता है। इस प्रकार भोजन करनेमें न तो उसके व्रतमें कोई दोष आता है और न कोई गुण बढ़ता है ॥३५॥ इस आठवीं प्रतिमाको धारण

प्रक्षालनं च वस्त्राणां प्रासुकेन जलादि । कुर्याद्वा स्वस्य हस्ताभ्यां कारयेद्वा सधर्मिणा ॥३७
वहुप्रलपितेनालमात्मार्थं वा परात्मने । यत्रारम्भस्य लेशोऽस्ति न कुर्यात्तामपि क्रियाम् ॥३८
नवमं प्रतिमास्थानं व्रतं चास्ति गृहाश्रमे । यत्र स्वर्णादिद्रव्यस्य सर्वं जनं स्मृतम् ॥३९
इतः पूर्वं सुवर्णादिसंख्यामात्रापकर्षणः । इतः प्रभृति वित्तस्य मूलादुन्मूलनं ॥४०
अस्त्यात्मैकशरीरार्थं वस्त्रवे दि स्वीकृतम् । धर्मसाधनमात्रं वा शेषं निःशेषणीयताम् ॥४१
स्यात्पुरस्तादितो यावत्स्वामित्वं सद्मयोषिताम् । तत्सर्वं सर्वतस्त्याज्यं निःशल्यं जीवनावधि ॥४२
शेषो विधिस्तु सर्वोऽपि ज्ञातव्यः परमागमात् । सानुवृत्तं व्रतं यावत्सर्वत्रैवैष निश्चयः ॥४३
दशमस्थानस्थमननुमनना‍ह्वयम् । ाहारादिनिष्पत्तौ देया नानुमतिः क्वचित् ॥४४
आदेशोनुमतिश्चाज्ञा सैवं कुर्वितिलक्षणा । यद्वा : कृतेनादौ सानुमतिः स्मृता ॥४५
: : सिद्धं लब्धं समाहरेत् । तपश्चेच्छानिरोधाख्यं व किल रः ॥४६

करनेवाला श्रावक व्रती होनेपर भी दशवीं प्रतिमासे पहले पहले अपने घरका स्वामी वना रहता है इसीलिए वह दूसरेके घर भोजन करनेका नियम नहीं लेता ॥३६॥ वह अपने वस्त्रोंको प्रासुक जलसे अपने हाथसे धोता है, अथवा अन्य किसी साधर्मी भाईसे धुलवा लेता है ॥३७॥ वहुत कहनेसे क्या ? थोड़ेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि आठवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला व्रती श्रावक अपने लिए अथवा किसी दूसरेके लिए ऐसी कोई भी क्रिया नहीं करता जिसमें लेशमात्र भी आरम्भ हो ॥३८॥ इस प्रकार आठवीं प्रतिमाका स्वरूप कहा। व्रती श्रावककी नौवीं प्रतिमा का नाम परिग्रहत्याग प्रतिमा है। इस नौवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक सोना चांदी रुपया पैसा आदि समस्त द्रव्यमात्रका त्याग कर देता है ॥३९॥ इस नौवीं प्रतिमाको स्वीकार करनेके पहले सोना चांदी आदि द्रव्योंका परिमाण कर रक्खा था तथा अपनी इच्छानुसार वह परिमाण वहुत कुछ घटा रक्खा था अर्थात् वहुत थोड़े द्रव्यका परिमाण कर रक्खा था परन्तु अव इस प्रतिमाको धारण कर लेनेपर वह श्रावक सोना चांदी आदि धनका त्याग सर्वथा कर देता है ॥४०॥ इस परिग्रहत्यागप्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक केवल अपने शरीरके लिए वस्त्र, घर आदि आवश्यक पदार्थोंको स्वीकार करता है अथवा धर्मसाधनके लिए जिन जिन पदार्थोंकी आवश्यकता पड़ती है उनको ग्रहण करता है। इसके सिवाय वाकीके समस्त पदार्थोंका—समस्त परिग्रहोंका वह त्याग कर देता है ॥४१॥ इस नौवीं प्रतिमाको धारण करनेसे पहले वह घर और स्त्री आदिका स्वामी गिना जाता था, परन्तु इस नौवीं प्रतिमाको धारण कर लेनेपर उसे जन्म-पर्यन्ततकके लिए पूर्णरीतिसे सवका त्याग कर देना पड़ता है और तव सव तरहसे शल्य-रहित हो जाता है ॥४२॥ इस प्रतिमाको धारण करनेवाले श्रावककी शेष विधि अन्य शास्त्रोंसे जान लेनी चाहिए क्योंकि यह निश्चय है कि व्रतोंका स्वरूप समस्त शास्त्रोंमें एक-सा ही वर्णन किया है ॥४३॥ इस प्रकार नौवीं प्रतिमाका निरूपण किया। श्रावकोंकी दशवीं प्रतिमाका नाम अनुमति त्याग प्रतिमा है। इस अनुमतित्याग प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक आहार आदि वनानेके लिये भी कभी अपनी सम्मति नहीं देता ॥४४॥ किसी कामके लिये आदेश देना, सलाह देना, आज्ञा देना, अथवा 'ऐसा करो' इस प्रकार कहना अथवा जो कार्य किसीने पहलेसे कर रक्खा है उसकी प्रशंसा करना आदिको अनुमति कहते हैं ॥४५॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि दशवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक जैसा कुछ वना वनाया भोजन मिल जाता है उसीको ग्रहण

इदमिदं कुरु मैवेदमित्यादेशं न यच्छति । मुनिवत्प्रासुकं शुद्धं यावदन्नादि भोजयेत् ॥४७
गृहे तिष्ठेद् व्रतस्योऽपि सोऽयमर्थादपि स्फुटम् । शिरःक्षौरादि कुर्याद्वा न कुर्याद्वा यथामतिः ॥४८
अद्य यावद्यथालिङ्गो नापि वेषधरो मनाक् । शिखासूत्रादि दध्याद्वा न दध्याद्वा यथेच्छया ॥४९
तिष्ठेद्देवालये यद्वा गेहे सा वर्जिते । स्वसम्बन्धिगृहे भुङ्क्ते यद्वाहूतोऽन्यसद्मनि ॥५०
एवमित्यादिदिग्मात्रं व्याख्यातं दशमव्रतम् । पुनरुक्तभयादत्र नोक्तमुक्तं पुनः पुनः ॥५१
व्रतं चैकादशस्थानं नाम्नानुद्दिष्टभोजनम् । अर्थादीषन्मुनिस्तद्वान्निर्जराधिपतिः पुनः ॥५२
समुद्दिश्य कृतं यावदन्नपानौषधादि यत् । जानन्नेवं न गृह्णीयान्नूनमेकादशव्रती ॥५३
सर्वतोऽस्य गृहत्यागो विद्यते सन्मुनेरिव । तिष्ठेद्देवालये यद्वा वने च मुनिसन्निधौ ॥५४
उत्कृष्टः श्रावको द्वेधा क्षुल्लकश्चैलकस्तथा । एकादशव्रतस्थौ द्वौ स्तो द्वौ निर्जरकौ क्रमात् ॥५५

कर लेता है। वह कहकर कुछ नहीं वनवाता। इस प्रकार जो श्रावक अपनी इच्छाको रोकनेरूप तपश्चरण करता है उसके कर्मोंका संवर अवश्य होता है ॥४६॥

इस दशवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक 'ऐसा करो ऐसा करो' 'ऐसा मत करो, ऐसा भी मत करो' इस प्रकारकी आज्ञा किसीको नहीं देता। उसे जो कुछ वना वनाया शुद्ध प्रासुक भोजन मिल जाता है उसे ही वह मुनिके समान भोजन कर लेता है ॥४७॥ इस प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक व्रती होनेपर भी घरमें रहता है तथा अपने मस्तकके वाल वनवा लेता है अथवा नहीं भी वनवाता। वाल वनवाने अथवा न वनवानेमें जैसी उसकी इच्छा होती है वैसा ही करता है ॥४८॥ इस दशवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक जवतक मुनिव्रत धारण नहीं करता तवतक कोई विशेष वेष धारण नहीं करता। जैसा है वैसा ही वना रहता है। चोटी और यज्ञोपवीत धारण करता है अथवा नहीं भी करता ॥४९॥ इस दशवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक किसी देवालय (जिनालयमें या चैत्यालयमें) रहता है अथवा किसी निर्दोष या पापरहित मकानमें रहता है तथा अपने सम्वन्धियोंके घर कुटुम्वियोंके घर भोजन करता है अथवा बुलानेपर किसी अन्य साधर्मीके घर भोजन कर लेता है ॥५०॥ इस प्रकार अत्यन्त संक्षेपसे दशवीं प्रतिमाका स्वरूप कहा। पुनरुक्त दोषके भयसे जो ऊपरकी प्रतिमाओंमें कहा हुआ विषय है वह वार-वार नहीं कहा है ॥५१॥ इस प्रकार दशवीं प्रतिमाका स्वरूप कहा। अव आगे ग्यारहवीं प्रतिमाका नाम उद्दिष्टत्यागप्रतिमा है अथवा इस प्रतिमाको पालन करनेवाला अनुद्दिष्ट भोजन करनेवाला है इसलिए अनुद्दिष्टभोजन भी इस प्रतिमाका नाम है। इस प्रतिमाको पालन करनेवाला उत्कृष्ट श्रावक ईषत् मुनि अर्थात् मुनिका छोटा भाई गिना जाता है और कर्म निर्जराका स्वामी होता है ॥५२॥ इस ग्यारहवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक जो कुछ अन्नपान औषधि आदि उसके लिए वनाया गया होगा उसको जानता हुआ वह कभी ग्रहण नहीं करता है ॥५३॥ इस ग्यारहवीं प्रतिमाको पालन करनेवाला श्रावक मुनिके समान ही पूर्णरूपसे घरका त्याग कर देता है। वह उत्कृष्ट श्रावक घरका सर्वथा त्याग कर या तो देवालयमें रहता है अथवा किसी वनमें मुनियोंके संघमें रहता है ॥५४॥ इस ग्यारहवीं प्रतिमाको पालन करनेवाला श्रावक उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है तथा वह उत्कृष्ट श्रावक दो प्रकारका होता है—एक क्षुल्लक और दूसरा ऐलक। इन दोनोंके कर्मोंकी निर्जरा उत्तरोत्तर अधिक-अधिक होती रहती है। भावार्थ—क्षुल्लकके जितने कर्मोंकी निर्जरा होती है उससे अधिक ऐलकके कर्मोंकी निर्जरा होती है ॥५५॥

उक्तं च—

एयारम्मिट्ठाणे उक्किट्ठो ो हवे दुविहो। वच्छेयधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो बिदिओ ॥६३

तत्रैलकः स गृह्णाति वस्त्रं कौपीनमात्रकम्। लोचं स्मश्रुशिरोलोम्नां पिच्छिकां च कमण्डलुम् ॥५६
पुस्तकाद्युपधिश्चैव सर्वसाधारणं यथा। सूक्ष्मं चापि न गृह्णीयादीषत्साव रणम् ॥५७
कौपीनोपधिमात्रत्वाद् विना वा मिक्रिया। विद्यते चैलकस्यास्य दुर्द्धरं व्रतधारणम् ॥५८
तिष्ठेच्चैत्यालये सङ्घे वने वा मुनिसन्निधौ। निरवद्ये यथास्थाने शुद्धे शून्यमठादिषु ॥५९
पूर्वोदितक्रमेणैव कृतकर्मावधावनात्। ईषन्मध्याह्नकाले वै भोजनार्थमटेत्पुरे ॥६०
ईर्यासमितिसंशुद्धः पर्यटेद् गृहसंख्यया। द्वाभ्यां पात्रस्थानीयाभ्यां हस्ताभ्यां परमश्नुयात् ॥६१
दद्याद्धर्मोपदेशं च निर्व्याजं मुक्तिसाधनम्। तपो द्वादशधा कुर्यात्प्रायश्चित्तादि वाचरेत् ॥६२
क्षुल्लकः कोमलाचारः शिक्षासूत्राङ्कितो भवेत्। एकवस्त्रं सकौपीनं वस्त्रपिच्छकमण्डलुम् ॥६३

कहा भी है—ग्यारहवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है तथा वह दो प्रकारका होता है। एक तो खण्ड वस्त्रको धारण करनेवाला क्षुल्लक और दूसरा कौपीन-मात्र परिग्रहको धारण करनेवाला ऐलक। भावार्थ—क्षुल्लक श्रावक एक वस्त्र धारण करता है और कौपीन धारण करता है तथा ऐलक कोई वस्त्र नहीं रखता केवल एक कौपीन रखता है ॥६३॥

इन दोनों प्रकारके उत्कृष्ट श्रावकोंमेंसे जो ऐलक है वह केवल कौपीनमात्र वस्त्रको धारण करता है। कौपीनके सिवाय अन्य समस्त परिग्रहका–समस्त वस्त्रोंका त्याग कर देता है तथा दाढ़ी मूँछ और मस्तकके बालोंका लोंच करता है और पोछी कमण्डलु धारण करता है ॥५६॥ इसके सिवाय स्वाध्यायके लिये पुस्तक आदि सबके काममें आनेवाले धर्मोपकरणोंको भी धारण करता है। परन्तु जो पदार्थ थोड़ी-सी भी हिंसाके कारण हैं या अन्य किसी पापके कारण हैं ऐसे पदार्थोंको वह लेश मात्र भी अपने पास नहीं रखता है ॥५७॥ यह ऐलक श्रावक एक कौपीनमात्र परिग्रहको तो रखता है, इस कौपीनमात्र परिग्रहके सिवाय उसकी समस्त क्रियाएँ मुनियोंके समान होती हैं तथा मुनियोंके समान ही वह अत्यन्त कठिन-कठिन व्रतोंको पालन करता है ॥५८॥ यह ऐलक श्रावक या तो किसी चैत्यालयमें रहता है या मुनियोंके संघमें रहता है अथवा किसी मुनिराजके समीप वनमें रहता है अथवा किसी भी सूने मठमें या अन्य किसी भी निर्दोष और शुद्ध स्थानमें रहता है ॥५९॥ यह ऐलक श्रावक पहले कहे हुए क्रमके अनुसार समस्त क्रियाएँ करता है तथा दोपहरसे कुछ समय पहले सावधान होकर आहारसे लिये नगरमें जाता है ॥६०॥ आहारको जाते समय भी ईर्यापथ शुद्धिसे जाता है तथा घरोंकी संख्याका नियम लेकर भी जाता है। तथा वहाँपर जाकर पात्रोंके समान केवल अपने दोनों हाथोंसे ही आहार लेता है ॥६१॥ यह ऐलक श्रावक विना किसी छल-कपटके मोक्षका कारण ऐसा धर्मोपदेश देता है तथा बारह प्रकारका तपश्चरण पालन करता है और किसी व्रतमें किसी प्रकारका दोष लग जानेपर प्रायश्चित्त ग्रहण करता है ॥६२॥ इस ग्यारहवीं प्रतिमाको धारण करनेवाले श्रावकका दूसरा भेद क्षुल्लक है। यह क्षुल्लक श्रावक ऐलककी अपेक्षा कुछ सरल चारित्र पालन करता है, चोटी और यज्ञो-पवीत धारण करता है, एक वस्त्र धारण करता है, कौपीन धारण करता है, वस्त्रकी पीछी रखता है और कमण्डलु रखता है ॥६३॥ यह क्षुल्लक भिक्षाके लिये एक कांसेका अथवा लोहेका

भिक्षापात्रं च गृह्णीयात्कांस्यं यद्वाऽप्ययोमयम् । एषणादोषनिर्मुक्तं भिक्षाभोजनमेकशः ॥६४
क्षौरं श्मश्रुशिरोलोम्नां शेषं पूर्ववदाचरेत् । अतीचारे समुत्पन्ने प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥६५
यथा निर्दिष्टकाले स भोजनार्थं च पर्यटेत् । पात्रे भिक्षां समादाय पञ्चागारादिहालिवत् ॥६६
तत्राप्यन्यतमे गेहे दृष्ट्वा प्रासुकमम्बुकम् । क्षणं चातिथिभागाय सम्प्रेक्ष्याध्वं च भोजयेत् ॥६७
दैवात्पात्रं समासाद्य दद्याद्दानं गृहस्थवत् । तच्छेषं यत्स्वयं भुङ्क्ते नोचेत्कुर्यादुपोषितम् ॥६८
किञ्च गन्धादिद्रव्याणामुपलब्धौ सधर्मिभिः । अर्हद्बिम्बादिसाधूनां पूजा कार्या मुदात्मना ॥६९
किञ्चात्र साधकाः केचित्केचिद्गूढाह्वयाः पुनः । वाणप्रस्थाख्यकाः केचित्सर्वे तद्वेषधारिणः ॥७०
क्षुल्लकीवत्क्रिया तेषां नात्युग्रं नातीव मृदुः । मध्यवर्तिव्रतं तद्वत्पञ्चगुर्वात्मसाक्षिकम् ॥७१
अस्ति कश्चिद्विशेषोऽत्र साधकादिषु कारणात् । अगृहीतव्रताः कुर्युर्व्रताभ्यासं व्रताशया ॥७२

पात्र रखता है तथा शास्त्रोंमें जो भोजनके दोष बतलाये हैं उन सब दोषोंसे रहित एक बार भिक्षा भोजन करता है ॥६४॥ दाढ़ी मूँछ और मस्तकके बालोंको बनवा लेता है तथा बाकीकी समस्त क्रिया पहले कही हुई प्रतिमाओंके अनुसार करता है अर्थात् दश प्रतिमाओंमें कही हुई समस्त क्रियाओंका पालन करता है। यदि उसके किसी व्रतमें किसी प्रकारका दोष या अतिचार लग जाता है तो वह उसका प्रायश्चित्त लेता है ॥६५॥ भोजनके समयपर अर्थात् दोपहरके पहले वह भोजनके लिये नगरमें जाता है तथा भ्रमरके समान बिना किसीको किसी प्रकारका दुख पहुँचाये अपने पात्रमें पाँच घरोंसे आहार लेता है ॥६६॥ वह क्षुल्लक श्रावक उन पाँच घरोंमेंसे ही जिस घरमें प्रासुक जल दृष्टिगोचर हो जाता है उसी घरमें भोजनके लिये ठहर जाता है तथा थोड़ी देर तक वह किसी भी मुनिराजको आहार दान देनेके लिये प्रतीक्षा करता है। यदि आहार दान देनेके लिये किसी मुनिराजका समागम नहीं मिला तो फिर वह भोजन कर लेता है ॥६७॥ यदि दैवयोगसे आहार दान देनेके लिये किसी मुनिराजका समागम मिल जाय, अथवा अन्य किसी पात्रका समागम मिल जाय तो वह क्षुल्लक श्रावक गृहस्थके ही समान अपना लाया हुआ भोजन उन मुनिराजको दान देता है। दान देकर फिर अपने पात्रमें जो कुछ बचा रहता है उसको वह स्वयं भोजन कर लेता है। यदि अपने पात्रमें कुछ न बचे तो उस दिन वह उपवास करता है ॥६८॥ तथा यदि उस क्षुल्लक श्रावकको किसी साधर्मी पुरुषसे जल चन्दन अक्षत आदि पूजा करनेकी सामग्री मिल जाय तो प्रसन्नचित्त होकर भगवान् अरहन्तदेवकी पूजा कर लेनी चाहिये अथवा भगवान् सिद्ध परमेष्ठी या साधु परमेष्ठीकी पूजा कर लेनी चाहिये ॥६९॥ इस प्रकार क्षुल्लक और ऐलक दोनों प्रकारके उत्कृष्ट श्रावकोंकी क्रियाओंका निरूपण किया। जिस प्रकार उत्कृष्ट श्रावकके क्षुल्लक और ऐलक ये दो भेद हैं उसी प्रकार क्षुल्लक श्रावकोंके भी कितने ही भेद हैं। कोई साधक क्षुल्लक हैं, कोई गूढ क्षुल्लक होते हैं और कोई वानप्रस्थ क्षुल्लक होते हैं। ये तीनों प्रकारके क्षुल्लक क्षुल्लकके समान वेष धारण करते हैं ॥७०॥ ये तीनों प्रकारके क्षुल्लक क्षुल्लकोंकी ही क्रियाओंको पालन करते हैं। ये तीनों प्रकारके क्षुल्लक न तो अत्यन्त कठिन व्रतोंका पालन करते हैं और न अत्यन्त सरल व्रतोंका पालन करते हैं किन्तु मध्यम स्थितिके व्रतोंका पालन करते हैं तथा पंच परमेष्ठीकी साक्षी पूर्वक व्रतोंको ग्रहण करते हैं ॥७१॥ क्षुल्लकोंके जो साधक गूढ और वानप्रस्थ भेद बतलाये हैं उनमें कुछ विशेष भेद नहीं है किन्तु थोड़ा-सा ही भेद है। इनमेंसे जिन्होंने क्षुल्लकके व्रत धारण नहीं किये हैं, किन्तु क्षुल्लकके व्रत

समभ्यस्तव्रताः केचिद् गृह्णन्ति साहसात् । न गृह्णन्ति केचिद् गृहे गच्छन्ति कातराः ॥७३
एवमित्यादि दिग्मात्रं मया प्रोक्तं गृहिव्रतम् । दृगाद्येकादशं यावत् शेषं ज्ञेयं जिनागमात् ॥७४
अस्त्युत्तरगुणं नाम्ना तपो द्वादशधा मतम् । सूचीमात्रं प्रव मि देशतो व्रतधारिणाम् ॥७५

तत्सूत्रं यथा—

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविवि ग्यासनकायक्लेशाः बाह्यं तपः ॥६४
खाद्यादिचतुर्द्धाहारसंन्यासोऽनशनं मतम् । केवलं भक्तसलिलमवमोदर्यमुच्यते ॥७६
त्रिचतुःपञ्चषष्ठादिवस्तूनां संख्ययाऽशनम् । सद्मादिसंख्यया यद्वा वृत्तिसंख्या प्रचक्ष्यते ॥७७
मधुरादिरसानां यत्समस्तं व्यस्तमेव वा । परित्यागो यथाशक्ति रसत्यागः स लक्ष्यते ॥७८
एकान्ते विजनस्थाने सरागादिदोषोज्झिते । शय्या यद्वासनं भिन्नं शय्यासनमुदीरितम् ॥७९

धारण करना चाहते हैं वे उन व्रतोंका अभ्यास करते हैं ॥७२॥ उक्त वानप्रस्थ आदिमेंसे कितने ही व्रतोंका अभ्यास करके साहसके साथ व्रतोंको ग्रहण करते हैं और कितने ही कायर पुरुष व्रतोंको ग्रहण न करके अपने घरोंको चले जाते हैं ॥७३॥ इस प्रकार ऊपर लिखे अनुसार दर्शन-प्रतिमासे लेकर उद्दिष्टत्यागप्रतिमातक गृहस्थोंकी ग्यारह प्रतिमाओंका स्वरूप मैंने अत्यन्त संक्षेपसे कहा है। इन प्रतिमाओंके स्वरूप कहनेमें जो कुछ वाकी रह गया है वह अन्य जैनशास्त्रोंसे जान लेना चाहिए ॥७४॥ एकदेश व्रतोंको धारण करनेवाले इन श्रावकोंके (उत्कृष्ट श्रावकोंके) उत्तर-गुण वारह प्रकारके तप कहलाते हैं। आगे मैं संक्षेपसे नाम मात्र इन वारह प्रकारके तपोंको भी कहता हूँ ॥७५॥

तप दो प्रकार है—एक अन्तरंग तप और दूसरे वाह्य तप। इनमेंसे वाह्य तपके छह भेद हैं जो सूत्रकारने अपने सूत्रमें इस प्रकार वतलाये हैं—अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश यह छह प्रकारका वाह्य तप है ॥६४॥

आगे संक्षेपसे इन्हींका स्वरूप लिखते हैं। अन्न पान लेह्य खाद्य इन चारों प्रकारके आहार-का त्याग कर देना अनशन तप कहलाता है। केवल भात और पानी लेना वाकीके समस्त आहारोंका त्याग कर देना अर्थात् थोड़ा भोजन लेना अवमोदर्य तप है ॥७६॥ मैं आज केवल दाल भात और पानी ऐसे तीन पदार्थ खाऊँगा वाकी सबका त्याग है अथवा चार या पाँच पदार्थ खाऊँगा या छह खाऊँगा वाकीके नहीं अथवा पाँच घर तक जाऊँगा, पाँच घरमें आहार मिलेगा तो लूँगा नहीं तो नहीं। इस प्रकार खाने योग्य पदार्थोंका नियम कर अथवा जाने योग्य घरोंका नियम कर आहारके लिए जाना अथवा आहारके लिए इस प्रकारका नियम कर लेना वृत्तिपरि-संख्या नामका तप कहलाता है ॥७७॥ मीठा, खट्टा, चरपरा, कड़वा, कषायला आदि रसोंका अथवा मीठा, दूध, दही, घी, तेल और फलादिक सचित्त पदार्थ इन छहों रसोंका पूर्ण रूपसे त्याग कर देना अथवा एक दो आदि अलग-अलग रूपसे रसोंका त्याग करना, जैसी अपनी शक्ति हो उसीके अनुसार त्याग करना रसपरित्याग नामका तप है। यदि अपनी शक्ति हो तो समस्त रसोंका त्याग कर देना चाहिए। यदि ऐसी शक्ति न हो तो फिर जितनी शक्ति हो उसके अनुसार एक दो चार आदि रसोंका त्याग कर देना चाहिए। इस प्रकारके त्यागको रसपरित्याग तप कहते हैं ॥७८॥ जहांपर मनुष्योंका निवास न हो तथा राग-द्वेष उत्पन्न होनेके कोई कारण न हों ऐसे निर्दोष एकान्त स्थानमें सोने और वैठनेका स्थान वनाना विविक्तशय्यासन नामका तप कहलाता

आतापनादियोगेन वीर्यचर्यासनेन वा । वपुषः क्लेशकरणं कायक्लेशः प्रकीर्तितः ॥८०
षोढा बाह्यं तपः प्रोक्तमेवमित्यादिलक्षणैः । अधुना लक्ष्यतेऽस्माभिःषोढा बाम्यन्तरं तपः ॥८१

तत्सूत्रं यथा—

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥६५

प्रायो दोषेऽप्यतीचारे गुरौ सम्यग्निवेदिते । उद्दिष्टं तेन कर्तव्यं प्रायश्चित्ततपः स्मृतम् ॥८२
गुर्वादीनां यथाप्येषामभ्युत्थानं च गौरवम् । क्रियते चात्मसामर्थ्याद्विनयाख्यं तपः स्मृतम् ॥८३
तपोधनानां दैवाद्वा ग्लानित्वं समुपेयुषाम् । यथाशक्ति प्रतीकारो वैयावृत्यः स उच्यते ॥८४
नैरन्तर्येण यः पाठः क्रियते सूरिसन्निधौ । यद्वा सामायिकीपाठः स्वाध्यायः स स्मृतो बुधैः ॥८५
शरीरादिममत्वस्य त्यागो यो ज्ञानदृष्टिभिः । तप-संज्ञाः सुविख्यातो कायोत्सर्गो महर्षिभिः ॥८६
कृत्स्नचिन्तानिरोधेन पुंसः शुद्धस्य चिन्तनम् । एकाग्रलक्षणं ध्यानं यदुक्तं परमं तपः ॥८७

है ॥७९॥ आतापन आदि योग धारण कर अथवा वीरचर्या आसन धारण कर शरीरको क्लेश पहुँचाना कायक्लेश नामका तप कहलाता है। नग्न अवस्था धारण कर एक स्थानपर खड़े होकर ध्यान धारण करना आतापन योग है तथा भ्रामरी वृत्तिसे भोजन करना, ग्रीष्म ऋतुमें पर्वतपर खड़े होना, वर्षामें वृक्षके नीचे रहना और शीत ऋतुमें नदीके किनारे या चौहटेमें रहना आदि वीरचर्या है। इनके द्वारा शरीरको क्लेश पहुँचाना कायक्लेश नामका तप कहलाता है ॥८०॥ इस प्रकार अत्यन्त संक्षेप रीतिसे सबका लक्षण कहकर छहों प्रकारके बाह्य तपका निरूपण किया। अब आगे छहों प्रकारके अन्तरंग तपका लक्षण कहते हैं ॥८१॥

उन अन्तरंग तपोंको कहनेवाला सूत्र यह है—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान यह छह प्रकारका अतरंग तप है ॥६५॥

आगे इनका स्वरूप संक्षेपसे कहते हैं। किसी व्रतमें या किसी भी क्रियामें किसी प्रकारका अतिचार या दोष लग जानेपर उसको विना किसी छल कपटके अच्छी तरह गुरुसे निवेदन करना और उसके बदले गुरु महाराज जो कुछ आज्ञा दें, जो दण्ड दें उसे मन वचन कायसे पालन करना प्रायश्चित्त नामका तप कहलाता है ॥८२॥ आचार्य उपाध्याय आदि गुरुओंका अपनी सामर्थ्यके अनुसार आदर-सत्कार करना, उनके सामने खड़े होना, पीछे-पीछे चलना तथा अपनी सामर्थ्यके अनुसार उनका महत्त्व प्रगट करना आदि विनय नामका तप कहलाता है ॥८३॥ यदि दैवयोगसे किसी मुनिके किसी प्रकारका रोग हो गया हो अथवा और किसी प्रकारकी शरीरमें बाधा हो गयी हो तो अपनी शक्तिके अनुसार उसको दूर करना, उस मुनिराजकी सेवा करना, पैर दाबना तथा जिस प्रकार वह व्याधि दूर हो सके उसी प्रकार निर्दोष यत्न करना वैयावृत्य नामका तप कहलाता है ॥८४॥ आचार्य महाराजके समीप बैठकर निरन्तर शास्त्रोंका पाठ करनेको, अथवा सामायिकके पाठ करनेको विद्वान् लोग स्वाध्याय नामका तप कहते हैं ॥८५॥ ज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाले महा तपस्वी लोग शरीरादिकसे ममत्वका सर्वथा त्याग कर देनेको प्रसिद्ध कायोत्सर्ग नामका तप कहते हैं ॥८६॥ योगी लोग जो अन्य समस्त चिन्ताओंको रोककर अपने मनकी एकाग्रतासे केवल शुद्ध आत्माका चिन्तवन करते हैं उसको ध्यान नामका परम तपश्चरण कहते हैं ॥८७॥ इस प्रकार हमने कृपापूर्वक एकदेश व्रतोंको धारण करनेवाले श्रावकोंके लिए

एवमित्यादिदिग्मात्रं षोढा चाभ्यन्तरं तपः। निर्दिष्टं कृपयाऽस्माभिर्देशतो व्रतधारिणाम् ॥८८

अक्षरमात्रपदस्वरहीनं व्यञ्जनसन्धिविवर्जितरेफम्।
भिरत्र मम क्षमितव्यं को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे ॥८९

इति श्रावकाचारापरनाम लाटीसंहितायां सामायिकाद्येकादश प्रतिमापर्यन्त-
वर्णनं नाम षष्ठः सर्गः ॥६॥

छहों प्रकारके अंतरंग तपोंका स्वरूप अत्यन्त संक्षेपसे वतलाया ॥८८॥ इस ग्रन्थमें जो अक्षर, मात्रा, पद, स्वर आदि कम हों अथवा व्यंजन सन्धि रेफ आदिसे रहित हों तो भी सज्जन लोगोंको मेरा यह अपराध क्षमा कर देना चाहिए, क्योंकि शास्त्र एक प्रकारका अगाध समुद्र है इसमें कौन गोता नहीं खाता है अर्थात् कौन नहीं भूलता है? छद्मस्थ अल्पज्ञानी सभी भूलते हैं ॥८९॥

इस प्रकार सामायिक प्रतिमासे लेकर उद्दिष्टत्याग नामकी ग्यारहवीं प्रतिमा तक
नौ प्रतिमाओंके स्वरूपको निरूपण करनेवाला यह छठा सर्ग समाप्त हुआ।

उमास्वामि-श्रावकाचार

अनेकान्तमयं यस्य मतं मतिमतां मतम् । सन्मतिः सन्मतिं कुर्यात्सन्मतिर्वो जिनेश्वरः ॥१
पूर्वाचार्यप्रणीतानि श्रावकाध्ययनान्यलम् । दृष्ट्वाऽहं श्रावकाचारं करिष्ये मुक्तिहेतवे ॥२
धरत्यपारसंसारदुःखादुद्धृत्य यो नरान् । मोक्षेऽव्ययसुखे नित्ये तं धर्मं विद्धि तत्त्वतः ॥३
सम्यग्दृग्बोधवृत्तानि विविक्तानि विमुक्तये । धर्मं सागारिणामाहुर्धर्मकर्मपरायणाः ॥४
देवे देवमतिर्धर्मे धर्मधीर्मलवर्जिता । या गुरौ गुरुताबुद्धिः सम्यक्त्वं तन्निगद्यते ॥५
अदेवे देवताबुद्धिरधर्मे वत धर्मधीः । अगुरौ गुरुताबुद्धिस्तन्मिथ्यात्वं निगद्यते ॥६
क्षुत्पिपासा भयं द्वेषो रागो मोहो जरा रुजा । चिन्ता मृत्युर्मदः खेदो रतिः स्वेदश्च विस्मयः ॥७
विषादो जननं निद्रा दोषा एते सुदुस्तराः । सन्ति यस्य न सोऽवश्यं देवस्त्रिभुवनेश्वरः ॥८
विष्णुः स एव स ब्रह्मा स देवः स महेश्वरः । बुद्धः स एव यः सर्वसुरासुरसमर्चि[illegible]ः ॥९
निर्मलः सर्ववित् सार्वः परमः परमेश्वरः । परंज्योतिर्जगद्भर्ता शास्ताऽऽप्तः परिगीयते ॥१०
अपारापारसंसारसागरे पततां नृणाम् । धारणाद् धर्म इत्युक्तो [illegible] मुक्तिसुखप्रदः ॥११
क्षमादिदशभेदेन भिन्नात्मा भुक्तिमुक्तिदः । जिनोक्तः पालनीयोऽयं धर्मश्चेदस्ति चेतना ॥१२

जिस सन्मति श्रीवर्धमान स्वामीका मत अनेकान्तमय है और जो बुद्धिमानोंके मान्य हैं, ऐसे वे उत्तम बुद्धि (केवलज्ञान) के धारक सन्मति जिनेश्वर आप सब लोगोंकी सन्मति करें ॥१॥ मैं पूर्व आचार्योंसे रचे गये सर्व श्रावकाचार शास्त्रोंको भलीभांतिसे देखकर मुक्ति प्राप्तिके लिए इस श्रावकाचारकी रचना करूँगा ॥२॥ जो मनुष्यको इस अपार संसार-सागरके दुःखोंसे उद्धार करके नित्य और अविनाशी सुखवाले मोक्षमें धरे, तत्त्वतः उसे धर्म जानना चाहिये ॥३॥ सम्यग्-दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये पृथक्-पृथक् मुक्तिके लिए कारण हैं, धर्म-कर्ममें परायण पुरुषोंने यह श्रावकोंका धर्म कहा है ॥४॥ सत्यार्थ देवमें देवकी बुद्धि, मल-रहित निर्दोष धर्ममें धर्मकी बुद्धि और निष्परिग्रही निरारम्भी गुरुमें गुरुत्वकी बुद्धि होना यह सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन कहा गया है ॥५॥ अदेवमें देवताकी बुद्धि होना, अधर्ममें धर्म बुद्धि करना और अगुरुमें गुरु बुद्धि करना यह मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन कहा गया है ॥६॥ भूख प्यास भय द्वेष राग मोह जरा रोग चिन्ता मृत्यु मद खेद रति स्वेद (पसीना) विस्मय (आश्चर्य) विषाद जन्म और निद्रा ये अति दुस्तर अठारह दोष जिसके निश्चयसे नहीं हैं, वही सच्चा देव है, वही अवश्य ही तीनों लोकोंका स्वामी है, वही विष्णु है, वही ब्रह्मा है, वही देवोंका देव महेश्वर है, वही बुद्ध है, वही सुर-असुर से पूजित है। वही निर्मल, सर्वज्ञ, सर्वहितैषी, परम, परमेश्वर, परंज्योति, जगद्-भर्ता, शास्ता और आप्त कहा जाता है ॥७-१०॥ इस अपारावार संसार-सागरमें पड़े हुए जीवोंको धारण करनेसे 'धर्म' ऐसा नाम कहा गया है, यह धर्म प्रकट रूपसे मुक्तिके सुखका दाता है ॥११॥ उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दश भेदोंसे भिन्न स्वरूपवाला धर्म जिनदेवने कहा है, वह संसारके भोगोंको और मुक्तिके सुखोंको देता है। यदि धर्म-बुद्धिकी चेतना है, तो यह दश प्रकारका धर्म पालन करना चाहिये ॥१२॥ मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा प्रतिपादित और हिंसादि पापों से संयुक्त धर्म होता है ऐसा कहनेवाला भी प्राणी पापी है। अर्थात् जो यज्ञादिमें हिंसादि करने

हिंसादिकलितो मिथ्यादृष्टिभिः प्रतिपादितः । ों भवेदिति प्राणी वदन्नपि हि पापभाक् ॥१३

महाव्रतान्वितास्तत्त्वज्ञानाधिष्ठितमानसाः । धर्मोपदेशकाः पाणिपात्रास्ते गुरवो मताः ॥१४
ाचारविचारज्ञाः शान्ता ि परीषहाः । त एव गुरवो ग्रन्थैर्मुक्ता वाह्यैरिवाऽन्तरैः ॥१५

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्प । आ शयनं कुप्यं भाण्डं चेति वहिर्दश ॥१६
मि त्ववेदरागाश्च द्वेषो हास्यादय । क्रोधादयश्च विज्ञेया आभ्यन्तरपरिग्रहाः ॥१७
यथेष्टभोजना भोगलालसा पीडिताः । मिथ्योपदेशदातारो न ते स्युर्गुरवः सताम् ॥१८
सरागोऽपि हि देवश्चेद् गुरुरब्रह्मचार्यपि । कृपाहीनोऽपि श्चेत्कष्टं नष्टं हि हा जगत् ॥१९
एतेषु नि ो विद्यते स पुमानिह । सम्यग्दृष्टिरिति ज्ञेयो मिथ्यादृष्टिश्च यी ॥२०

जीवाजीवादितत्त्वानां श्रद्धानं दर्शनं म । निश्च त्वे स्वरूपे वाऽवस्थानं मलवर्जितम् ॥२१
पञ्चाक्षपूर्णपर्याप्ते लब्धकालावलब्धिके । निसर्गाज्जायते भव्येऽधिगमाद्वा सुदर्शनम् ॥२२
आसन्नभव्यता कर्महानिसंज्ञित्वशुद्धपरिणामाः । सम्यक्त्वहेतुरन्तर्वाह्य उपदेशकादिश्च ॥२३

त्रयो भेदास्तस्य चोक्ता दशधा ाः । प्रागेवोपशमो मिश्रः क्षायिकं च ततः परम् ॥२४

को धर्म कहते हैं, वह धर्म नहीं, किन्तु अधर्म है ॥१३॥ जो महाव्रतोंसे संयुक्त हैं, जिनका मन तत्त्वज्ञानके विचारमें संलग्न है, जो धर्मके उपदेशक हैं और पाणिपात्रमें भोजन करते हैं, वे ही पुरुष गुरु माने गये हैं ॥१४॥ जो दर्शनाचार, ज्ञानाचार आदि पाँच आचारोंके विचारज्ञ हैं, जिनके कषाय शान्त हैं, शीत-उष्णादि परीषहोंके विजेता हैं, और जो वाह्य परिग्रहके समान अन्तरंग परिग्रहोंसे भी रहित हैं, वे ही सच्चे गुरु हैं ॥१५॥

क्षेत्र (भूमि), वास्तु (भवन), धन, धान्य, द्विपद (दासी-दास), चतुष्पद (हाथी घोड़ा आदि), आसन, शय्या, कुप्य (वस्त्रादि) और भाण्ड (वर्तन) यह दश प्रकारका बाह्य परिग्रह है ॥१६॥ मिथ्यात्व, स्त्री पुरुष और नपुंसक ये तीन वेद, राग, द्वेष, हास्यादिक (हास्य, शोक, भय, जुगुप्सा) और क्रोधादिक चार कषाय ये चौदह अन्तरंग परिग्रह कहलाते हैं ॥१७॥ जो इन बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहोंसे संयुक्त हैं, यथेष्ट भोजन करते हैं, भोगोंकी अभिलाषावाले हैं, कामदेवसे पीड़ित हैं और मिथ्यामार्गके उपदेशको देते हैं, वे पुरुष सज्जनोंके गुरु नहीं हो सकते हैं, अर्थात् ऐसे पुरुष सद्-गुरु नहीं किन्तु कुगुरु हैं ॥१८॥ यदि राग-द्वेष युक्त पुरुष भी देव माना जाय, अब्रह्मचारी पुरुष भी गुरु कहा जाय और दया-हीन भी धर्म माना जाय, तब यह अति कष्टकी वात है कि यह सारा जगत् नष्ट ही हो जायगा ॥१९॥ इसलिए जिसे वीतराग देवमें, निर्ग्रन्थ गुरुमें और दयामय धर्ममें निश्चय है, वह सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए। तथा जिसके सरागी देवमें, सग्रन्थ और अब्रह्मचारी गुरुमें एवं हिंसामय—दयाहीन धर्ममें निश्चय है, या सत्यार्थ देव गुरु धर्ममें निश्चय नहीं है, संशय है, वह मिथ्यादृष्टि जानना चाहिए ॥२०॥ जीव अजीव आदि सात तत्त्वोंका निर्मल श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन माना गया है। और निश्चयसे अपने आत्म-स्वरूपमें अवस्थान होना सम्यग्दर्शन है ॥२१॥ पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक, संज्ञी भव्य जीवमें काल-लब्धि आदिके प्राप्त होनेपर यह सम्यग्दर्शन निसर्गसे अथवा अधिगमसे उत्पन्न होता है ॥२२॥ निकटभव्यता, कर्मोंकी हानि, संज्ञीपना और विशुद्ध परिणाम ये सम्यग्दर्शनके अन्तरंग कारण हैं और गुरुजनोंका उपदेश आदिक वाह्य कारण हैं ॥२३॥ उस सम्यग्दर्शनके उपशमसम्यक्त्व

चतुर्थतो गुणेषु स्यात्क्षायिकं निखिलेष्वपि । मिश्राख्यं सप्तमं यावत्सम्यक्त्वं मुक्तिकारणम् ॥२५
तुर्यादारभ्य भव्यात्मवाञ्छितार्थप्रदायकम् । उपशान्तकषायान्तं सम्यक्त्वं प्रथमं मतम् ॥२६

साध्यसाधनभेदेन द्विधा सम्यक्त्वमीरितम् । साधनं द्वितयं साध्यं क्षायिकं मुक्तिदायकम् ॥२७
पुद्गलार्धपरावर्तादूर्ध्वं मोक्षं प्रपित्सुना । भव्येन लभ्यते पूर्वं प्रशमाख्यं सुदर्शनम् ॥२८
प्रथमस्य स्थितिः प्रोक्ताऽजघन्याऽन्तर्मुहूर्त्तिकी । वेदकस्य स्थितिः श्रेष्ठा षट्षष्टिमितसागरा ॥२९
अन्तर्मुहूर्त्तमात्राऽन्या प्रोक्ता क्षायिकसम्भवा । पूर्वकोटिद्वयोपेतास्त्रयस्त्रिंशत्पयोधयः ॥३०
किञ्चिन्न्यूना स्थितिः प्रोक्ता परा सम्यक्त्ववेदिभिः ।

सम्यक्त्वं त्रितयं श्वभ्रे प्रथमेऽन्येषु हे जनाः ॥३१
सम्यक्त्वद्वितयं मुक्त्वा क्षायिकं मुक्तिदायकम् ।
तिर्यङ्नरामराणां च सम्यक्त्वत्रयमुत्तमम् ।
देवाङ्गनातिरश्चीनां क्षायिकाच्चापरं द्वयम् ॥३२ (षट्पदी श्लोकः)

सम्यक्त्वद्वितयं प्रोक्तं सरागं सुखकारणम् । वीतरागं पुनः सम्यक् क्षायिकं भववारणम् ॥३३
दर्शनं साङ्गमुद्दिष्टं समर्थं भवसङ्क्षये । नाङ्गहीनं भवेत्कार्यकरं मन्त्रादिवद्यथा ॥३४

आदि तीन भेद कहे गये हैं और आज्ञासम्यक्त्व आदि दश भेद भी माने गये हैं। इनमेंसे सबसे पहले उपशमसम्यक्त्व होता है, तत्पश्चात् मिश्र अर्थात् क्षायोपशमिकसम्यक्त्व होता है और तदनन्तर क्षायिकसम्यक्त्व उत्पन्न होता है ॥२४॥ यह क्षायिकसम्यक्त्व चौथे गुणस्थानसे लेकर ऊपरके सभी गुणस्थानोंमें पाया जाता है। मिश्रनामक सम्यक्त्व चौथेसे सातवें गुणस्थान तक पाया जाता है। यह भी मुक्तिका कारण है ॥२५॥ उपशमसम्यक्त्व चौथेसे लेकर उपशान्त-कषाय नामके ग्यारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है और यह भव्य आत्माओंको वांछित अर्थोंका देनेवाला माना गया है ॥२६॥ साध्य और साधनके भेदसे सम्यक्त्व दो प्रकारका कहा गया है। उपशम और मिश्र ये दो सम्यक्त्व तो साधन माने गये हैं और मुक्तिको साक्षात् देनेवाला क्षायिक-सम्यक्त्व साध्य कहा गया है ॥२७॥ अर्धपुद्गल परिवर्तनके अनन्तर नियमसे मोक्षको प्राप्त होनेकी इच्छा रखनेवाले भव्यजीवके द्वारा पहले प्रशम नामका सुदर्शन अर्थात् उपशम सम्यक्त्व प्राप्त किया जाता है ॥२८॥ प्रथम जो उपशमसम्यक्त्व है उसकी उत्कृष्ट (और जघन्य) स्थिति अन्तर्मुहूर्तप्रमाण कही गई है। वेदक अर्थात् मिश्रसम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति छ्यासठ सागर प्रमाण कही गई है, तथा उसकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तमात्र कही गई है। क्षायिकसम्यक्त्वकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तप्रमाण होती है और उत्कृष्ट स्थिति कुछ कम दो पूर्वकोटि वर्षसे अधिक तेतीस सागरप्रमाण सम्यक्त्वके वेत्ताओंने कही है ॥२९–३०½॥ हे भव्यजनो, प्रथम नरकमें तीनों ही सम्यक्त्व होते हैं, और अन्य छह नरकोंमें मुक्ति-दायक क्षायिकको छोड़कर शेष दोनों सम्यक्त्व होते हैं। पुरुषवेदी तिर्यंच, मनुष्य और देवोंके तीनों ही उत्तम सम्यक्त्व होते हैं। देवाङ्गनाओंके और तिर्यचनियोंके क्षायिकसम्यक्त्वके सिवाय शेष दोनों सम्यक्त्व होते हैं ॥३१–३२॥ उपशम और मिश्र ये दो सम्यक्त्व सराग और सुखके कारण कहे गये हैं। किन्तु क्षायिकसम्यक्त्व वीतराग और संसारका निवारण करनेवाला है ॥३३॥ अपने सर्व अंगोंसे संयुक्त सम्यग्दर्शन संसारका क्षय करनेमें समर्थ कहा गया है। अंग-हीन सम्यक्त्व कार्यकारी नहीं होता, जैसे कि अक्षर आदिसे

अनेकान्तात्मकं वस्तुजातं यद् गदितं जिनैः । न्यथेति तन्वानो जनो निःशङ्कितो भवेत् ।।३५
जिन एकोऽस्ति सद्देवस्तेनोक्तं तत्त्वमेव च । यस्येति निश्चयः सः स्यान्निःशङ्कितशिरोमणिः ।।३६
हृषीकराक्षसाक्रान्तो गगनेऽपि गतिं क्षणात् । निःशङ्कितया प्राप तस्करोऽञ्ज क: ।।३७

तपः सुदुःसहं तन्वन् दानं वा स्वर्गसम्भवम् । सुखं नाकाङ्क्षति त्रेधा यः स निष्काङ्क्षि णीः ३८
सुखे वैषयिके सान्ते तपोदानं वि : । नरस्य स्पृहयालुत्वं यत्सा ङ्क्षा बुधैर्मता ।।३९
हासात्पितुश्चतुर्थेऽस्मिन् व्रतेऽनन्तमती स्थिता । कृत्वा तपश्च निष्काङ्क्षा कल्पं द्वादशमाविशत् ४०

स्वभावादशुचौ देहे रत्नत्रयपवित्रिते । निर्घृणा च गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता ।।४१
ऊर्ध्वत्वभुक्तितो नाग्न्यात्स्नानाचमनवर्जनात् । अनिद्यमपि निन्दन्ति दुर्दृशो जिनशासनम् ।।४२
ते तदर्थं नाना मिथ्यात्वोदयदूषिताः । वृथैव विचिकित्सन्ति स्वभावकुटिलाः खलाः ।।४३
शुद्धात्मध्याननिष्ठानां यतीनां ब्रह्मचारिणाम् । व्रतमन्त्रपवित्राणामस्नानं नात्र दूष्यते ।।४४
यदेवाङ्गमशुद्धं स्याद्द्भिः शोध्यं तदेव हि । अङ्गुली सर्पदष्टायां न हि नासा निकृन्त्यते ।।४५
सङ्गे कापालिकात्रेयीचाण्डालशबरादिभिः । आप्लुत्य दण्डवत्सम्यक् जपेन्मन्त्रमुपोषितः ।।४६

हीन मन्त्र आदि कार्यकारी नहीं होते हैं ।।३४।। जिनराजोंने जो अनेक धर्मात्मक वस्तुसमुदाय कहा है, वह वैसा ही है, अन्यथा नहीं है, ऐसी दृढ श्रद्धा रखनेवाला मनुष्य निःशंकित अंगधारी है ।।३५।। जिनदेव ही एकमात्र सच्चे देव हैं, और उनके द्वारा कहा गया तत्त्व ही सत्य है, ऐसा जिसके निश्चय होता है, वह व्यक्ति निःशंकित अंगधारियोंमें शिरोमणि है ।।३६।। पाँचों इन्द्रियोंके विषयरूप राक्षसोंसे आक्रान्त भी अंजन नामका चोर निःशंकित अंगको धारण करनेसे क्षणमात्रसे आकाशमें गमन करनेकी शक्तिको प्राप्त हो गया ।।३७।। जो पुरुष दुःसह तपको तपता हुआ और स्वर्गमें पैदा करनेवाले दानको देता हुआ भी मन वचन कायरूप त्रियोगसे सांसारिक सुखकी आकांक्षा नहीं करता है, वह निःकांक्षित पुरुषोंमें अग्रणी हैं ।।३८।। तप और दानको करते हुए भी जिस मनुष्यके सान्त वैषयिक सुखमें जो अभिलाषा होती है, उसे ज्ञानी जनोंने कांक्षा माना है ।।३९।। पिताके हास्यसे कहे गये वचनोंपर ब्रह्मचर्य नामके इस चौथे व्रतमें अनन्तमती स्थित रही और आकांक्षा-रहित होकर तप करके उसने बारहवें स्वर्गको प्राप्त होकर देव पद पाया ।।४०।। स्वभावसे अपवित्र किन्तु रत्नत्रयसे पवित्र हुए साधुके शरीरमें ग्लानि नहीं करना और उनके गुणोंमें प्रीति करना निर्विचिकित्सा मानी गई है ।।४१।। साधुओंके खड़े होकर भोजन करनेसे, नग्न रहनेसे, स्नान और आचमन नहीं करनेसे अनिन्द्य भी जिनशासनकी मिथ्यादृष्टि लोग निन्दा करते हैं ।।४२।। जो मिथ्यात्वकर्मके उदयसे दूषितचित्त हैं, और स्वभावसे कुटिल हैं, ऐसे दुर्जन मिथ्यादृष्टि लोग साधुओंके उक्त गुणोंके अर्थ या अभिप्रायको नहीं जानते हुए वृथा ही साधुओंकी एवं जिनशासनकी निन्दा करते और उसके प्रति ग्लानि प्रकट करते हैं ।।४३।। जो शुद्ध आत्माके ध्यानमें संलग्न हैं, ब्रह्मचर्यके धारक हैं, व्रत और मन्त्रसे पवित्र हैं, ऐसे साधुओंका स्नान नहीं करना इस संसारमें दूषणयोग्य नहीं है ।।४४।। शरीरका जो अंग अशुद्ध हो, वही अंग जलसे शुद्ध करनेके योग्य होता है। अंगुली साँपके द्वारा डँसी जानेपर नाक नहीं काटी जाती है ।।४५।। भावार्थ—साधुजन मल-मूत्रादिसे अशुद्ध हुए स्थानको जलसे शुद्ध कर लेते हैं, अतः उन्हें सर्वांग स्नान आवश्यक नहीं है। गमन करते हुए कदाचित् कापालिक (मनुष्यकी खोपड़ीको रखनेवाला), अत्रेयी (रजस्वला स्त्री), चाण्डाल और भील आदिसे स्पर्शका संगम होनेपर साधुजन

एकरात्रं त्रिरात्रं वा कृत्वा स्नात्वा चतुर्थके। दिने शुद्ध्यन्त्यसन्देहमृतौ व्रतगताः स्त्रियः ॥४७
विकारवति नाग्न्यं न वस्त्रस्योद्वेष्टनं किल। अविकारान्विते पुंसि प्रशंसास्पदं हि तत् ॥४८

न श्वभ्रायास्थितेर्नापि भोजनान्न विमुक्तये। किन्तु संयमिनामेषा प्रतिज्ञा ज्ञानचक्षुषाम् ॥४९
अदैन्यवैराग्यकृते कृतोऽयं केशलोचकः। यतीश्वराणां वीरत्वं व्रतं नैर्मल्यदीपकः ॥५०
बालवृद्धगदग्लानान्मुनीनुद्दायनः स्वयम्। भजन्निर्विचिकित्सात्मा स्तुतिं प्राप पुरन्दरात् ॥५१

देवाभासे तथा शास्त्राभासेऽप्याश्चर्यकारिणि। यन्न सङ्गमनं त्रेधा सा मताऽमूढदृष्टिता ॥५२
सुहंसतार्क्ष्योक्षासिंहपीठाधिपतिषु स्वयम्। आगतेष्वपि नैवाभूद् रेवती मूढतावती ॥५३

कमण्डलुके जलको मस्तकपर छोड़कर उसकी दण्डाकार धारासे शरीरको भली-भाँति पोंछकर और उपवास रखकर मन्त्रका जाप करें (ऐसा जिनशासनका विधान है और इस प्रकार वे शुद्ध हो जाते हैं।) ॥४६॥ तथा व्रत धारण करनेवाली आर्यिका आदि स्त्रियाँ ऋतुकालमें एक रात्रि, तीन रात्रि पश्चात् चौथे दिन निःसन्देह शुद्ध हो जाती हैं ॥४७॥ विकारवान् लिंगमें नग्नताका विधान नहीं है, इसलिए निश्चयसे उनके वस्त्रका आवरण धारण करना कहा गया है। किन्तु निर्विकार लिंगसे संयुक्त पुरुषमें तो वह नग्नपना प्रशंसाके ही योग्य है ॥४८॥

भावार्थ—स्त्रीका लिंग स्वयं विकार युक्त है और दर्शकके मनमें भी विकार उत्पन्न कर देता है, अतः स्त्रियोंको नग्न रहनेका विधान नहीं है, किन्तु उन्हें साध्वी दशामें भी वस्त्रका आवरण आवश्यक माना गया है। इसी प्रकार जिन मनुष्योंका लिंग विकार युक्त हो, स्थूल एवं मणिभागके चर्मसे रहित हो, अण्डकोष बढ़े हुए हों, तो ऐसे पुरुषको भी नग्न दीक्षाका विधान नहीं है। किन्तु निर्विकारी पुरुषके लिए नग्न रहना दूषक नहीं है।

इस प्रकार जो लोग स्नान न करनेसे, तथा नग्न रहनेसे साधुओंकी निन्दा करते हैं और उनसे घृणा करते हैं, उनका परिहार कर अब ग्रन्थकार खड़े होकर भोजन करनेको निन्द्य समझने वाले लोगोंको लक्ष्य कर कहते हैं—

खड़े होकर भोजन करनेसे न तो मनुष्य नरकमें जाता है और न मुक्तिके लिए ही यह कार्य है। किन्तु ज्ञान नेत्रवाले संयमी साधुओंकी यह प्रतिज्ञा होती है, कि जब तक शरीरमें खड़े होनेकी सामर्थ्य रहेगी, तब तक ही मैं भोजन ग्रहण करूँगा। जिस समय खड़े रहनेकी सामर्थ्य नहीं रहेगी, उस समय यावज्जीवनके लिए भोजनका त्याग कर दूँगा। इस प्रतिज्ञाके कारण वे खड़े होकर भोजन करते हैं,[1] अतः यह कार्य भी निन्दाके योग्य नहीं है ॥४९॥ जो लोग साधुओंके केशलुंच करनेकी निन्दा करते हैं, उनको लक्ष्य करके ग्रन्थकार कहते हैं—यतीश्वरोंका यह केश लुंच करना अदैन्यभाव और वैराग्यभाव प्रकट करनेके लिए है। उनका यह वीरत्वव्रत उनकी निर्मलताका प्रकाशक है ॥५०॥ इस प्रकार बाल, वृद्ध, रोगसे पीड़ित मुनियोंकी ग्लानि-रहित होकर स्वयं सेवा—वैयावृत्य करनेवाला निर्विचिकित्साका धारक उद्दायन राजा इन्द्रसे स्तुतिको प्राप्त हुआ ॥५१॥ आश्चर्यकारी भी मिथ्या देवमें तथा मिथ्या शास्त्रमें त्रियोगसे जो संगति या श्रद्धा नहीं करना, सो वह अमूढदृष्टिता मानी गयी है ॥५२॥ देखो—हंसारूढ ब्रह्माके, गरुडारूढ

---

१. पाणिपात्रं मिलत्येतच्छक्तिश्च स्थितिभोजने।
यावत्तावदहं भुञ्जे रहस्याहारमञ्जसा ॥ (यशस्तिलकचम्पू आ० ५. श्लो० १३४)

धर्मकर्मरतेर्दैवात्प्राप्तदोषस्य जन्मिनः। वाच्यतागोपनं प्राहुरार्याः सदुपगूहनम् ॥५४
धर्मोऽभिवर्धनीयोऽयं भावैस्तैर्मार्दवादिभिः। परं सञ्छोपनीयं च दूषणं स्वहितैषिणा ॥५५
निगूहति द्रुतं दोषान् परस्याप्यात्मनो गुणान्। ति न क्वापि स स्यात्सदुपगूहकः ॥५६
संयमिनः सूर्यनाम्नो रत्नापहारिणः। श्रेष्ठी जिनेन्द्रभक्तोऽसौ कृतवानुपगूहनम् ॥५७
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयाद् भ्रष्टस्य जन्मिनः। प्रत्यवस्थापनं तज्ज्ञाः स्थितीकरणमूचिरे ॥५८
कामक्रोधमदोन्मादप्रमादेषु विहारिणः। आत्मनोऽन्यस्य वा कार्यं सुस्थितीकरणं बुधैः ॥५९
व शक्तजनानां च व्रताच्च्युरि लोकयन्। लोकयन्नास्थितेश्छेदाद् भवेद्धर्मापराधवान् ॥६०
ज्येष्ठां गर्भवतीमार्यामाशु राज्ञी तु चेलना। अतिष्ठिपत्पुनः शुद्धे व्रते सम्यक्त्वलोचना ॥६१
सुदतीसङ्गमा पुष्पडालं तपोधनम्। वारिषेणः कृतत्राणः स्थापय संयमी ॥६२

साधूनां साधुवृत्तीनां सागाराणां सधर्मिणाम्। प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं तज्ज्ञैर्वात्सल्यमुच्यते ॥६३
आदरो व्यावृत्तिर्भक्तिश्च टूक्तिः सत्कृतिस्तथा। षूपकृतिः श्रेयोऽर्थिभिर्वात्सल्यमुच्यते ॥६४
महापद्मसुतो विष्णुर्मुनीनां हास्तिने पुरे। बलिद्विजकृतं विघ्नं शमयामास वत्सलम् ॥६५
आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा तमेव। दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥६६

विष्णुके, वृषभारूढ महेशके, तथा सिंहासनपर विराजमान जिनराजके मायारूपोंके स्वयं आनेपर भी रेवती रानी मूढतावाली नहीं हुई ॥५३॥ धर्म कार्यमें निरत पुरुषके दैवयोगसे किसी दोषके प्राप्त हो जानेपर उसकी निन्दा नहीं करके उसके दोषके ढाँकनेको आर्य पुरुष उपगूहन कहते हैं ॥५४॥ आत्महितैषी मनुष्यको उन मार्दव-आर्जव आदि भावोंके द्वारा यह धर्म बढ़ाते रहना चाहिये। तथा दूसरोंके दूषण ढकना चाहिये ॥५५॥ जो पुरुष दूसरेके दोषोंको तुरन्त ढकता है उन्हें कहींपर भी प्रकाशित नहीं करता है, तथा अपने गुणोंको भी कभी कहीं प्रकट नहीं करता है, वह पुरुष उपगूहन अंगका धारक है ॥५६॥ मायाचारसे संयम धारण करके रत्नकी प्रतिमाको चुरानेवाले सूर्य नामके क्षुल्लकका उस जिनेन्द्र भक्त सेठने उपगूहन किया ॥५७॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय धर्मसे भ्रष्ट होनेवाले मनुष्यको पुनः धर्ममें अवस्थित करना, इसे ज्ञानी जनोंने स्थितीकरण अंग कहा है ॥५८॥ काम क्रोध मद उन्माद और प्रमादमें विहार करनेवाले अपने आत्माका, तथा अन्य पुरुषका ज्ञानियोंको स्थितीकरण करना चाहिये ॥५९॥ बाल (अज्ञानी) और अशक्त (असमर्थ) जनोंका व्रतसे पतन देखता हुआ भी उसका स्थितीकरण न करे और उसके धर्मसे च्युत होनेको अनदेखा-सा करे, तो वह पुरुष धर्मका अपराधी होता है ॥६०॥ गर्भवती ज्येष्ठा आर्याको सम्यक्त्वरूप नेत्रकी धारक रानी चेलनाने पुनः शुद्ध व्रतमें स्थापित किया ॥६१॥ तथा सुदती नामक अपनी कानी स्त्रीके संगम पानेको आसक्त पुष्पडाल साधुको संयमी वारिषेणने उसकी रक्षा करते हुए उसे संयममें स्थापित किया ॥६२॥ साधुओंकी, साधुओं जैसी वृत्तिवाले श्रावकोंको और साधर्मी भाइयोंकी यथायोग्य प्रतिपत्ति करनेको पूजा भक्ति, आदर सम्मान आदि करनेको ज्ञानियोंने वात्सल्य कहा है ॥६३॥ आदर, वैयावृत्य, प्रियवचन बोलना, सत्कार करना और साधुओंका उपकार करना इत्यादि कार्योंको कल्याणार्थी पुरुष वात्सल्य कहते हैं ॥६४॥ महापद्म राजाके पुत्र विष्णुकुमार मुनिने हस्तिनापुरमें बलि ब्राह्मण द्वारा किये गये उपसर्गरूप विघ्नको शान्त किया, यह वात्सल्य गुण है ॥६५॥ रत्नत्रयरूप धर्मके तेजसे अपनी आत्माको सदा ही प्रभावित करते रहना चाहिये। तथा दान तप

शास्त्रव्याख्याविद्यानवद्यविज्ञानदानपूजाभिः । ऐहिकफलानपेक्षः शासनसद्भावनं कुर्यात् ॥६७
ऊर्मिलाया महादेव्याः पूतिकस्य महीभुजः । स्यन्दनं भ्रामयामास मुनिर्वज्रकुमारकः ॥६८
एतैरष्टभिरङ्गैश्च सम्यक्त्वं यस्य मानसे । दृढं तस्य हि तज्ज्ञेयमन्यथा तस्य हानिता ॥६९

संवेगो निर्वेदो निन्दा गर्हा तथोपशमो भक्तिः । वात्सल्यं त्वनुकम्पा चाष्टगुणाः सन्ति सम्यक्त्वे ॥७०
देवे दोषोज्झिते धर्मे तथ्ये शास्त्रे हिते गुरौ । निर्ग्रन्थे योऽनुरागः स्यात्संवेगः स निगद्यते ॥७१
भोगे भुजङ्गभोगाभे संसारे दुःखदे सताम् । यद्वैराग्यं सरोगेऽङ्गे निर्वेदोऽसौ प्रचक्ष्यते ॥७२
पुत्रमित्रकलत्रादिहेतोः कार्ये विनिर्मिते । दुष्टे योऽनुशयः पुंसो निन्दा सोक्ता विचक्षणैः ॥७३
रागद्वेषादिभिर्जाते दूषणे सद्गुरोः पुरः । भक्त्याऽऽलोचना गर्हा सार्हद्भिः प्रतिपाद्यते ॥७४
रागद्वेषादयो दोषा यस्य चित्ते न कुर्वते । स्थिरत्वं सोऽत्र शान्तात्मा भवेद् भव्यमतल्लिका ॥७५
सेवाहेवाकिनाकीशपूजार्हार्हति सद्गुरौ । विनयाद्या सपर्याऽऽद्यैः सा भक्तिर्व्यक्तमिष्यते ॥७६
साधुवर्गे निसर्गोद्यद्रोगपीडितविग्रहे । व्यावृत्तिर्भेषजाद्यैर्या वात्सल्यं तद्धि कथ्यते ॥७७
प्राणिषु भ्राम्यमाणेषु संसारे दुःखसागरे । चित्तार्द्रत्वं दयालोर्यत्तत्कारुण्यमुदीरितम् ॥७८
एतैरष्टगुणैर्युक्तं सम्यक्त्वं यस्य मानसे । तस्यानिशं गृहे वासं विधत्ते कमलाऽमला ॥७९

जिनपूजा और विद्याके अतिशयसे जिनधर्मकी प्रभावना करनी चाहिये ॥६६॥ शास्त्रका व्याख्यान, निर्दोष विद्या और विज्ञान तथा दान और पूजाके द्वारा इस लोकसम्बन्धी किसी भी प्रकारके फल की अपेक्षा न रख कर जैन शासनकी प्रभावना करनी चाहिये ॥६७॥ देखो—वज्रकुमार मुनिने जैन धर्मकी प्रभावनाके लिए पूतिक नामके राजाकी महारानी ऊर्मिला महादेवीका रथ चलवाया ॥६८॥ इन आठ अंगोंसे जिसके मनमें सम्यक्त्व दृढ़ होता है, उसके ही सम्यग्दर्शन जानना चाहिये। यदि अंगोंका परिपालन नहीं है, तो सम्यग्दर्शनकी हानि समझना चाहिये ॥६९॥ आत्मा में सम्यग्दर्शनके प्रकट होनेपर संवेग, निर्वेग, निन्दा, गर्हा, उपशमभाव, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये आठ गुण उत्पन्न होते हैं ॥७०॥ दोष-रहित वीतराग देवमें, अहिंसामयी सत्यार्थ धर्ममें, हितकारी शास्त्रमें और निर्ग्रन्थ गुरुमें जो अनुराग होता है, वह संवेग कहलाता है ॥७१॥ भुजंग (सर्प) के मुखके समान महाभयंकर इन्द्रियोंके भोगोंमें, दुखदायी संसारमें, तथा रोगोंसे भरे हुए इस शरीरमें सज्जनोंको जो वैराग्य होता है, वह निर्वेद कहा जाता है ॥७२॥ पुत्र मित्र स्त्री आदिके निमित्तसे किसी दुष्ट कार्यके हो जानेपर—बुरा कार्य करनेपर—मनुष्यके हृदयमें जो पश्चात्ताप होता है, उसे ज्ञानीजन निन्दा कहते हैं ॥७३॥ राग-द्वेषादिसे किसी प्रकारके दोष हो जानेपर सद्-गुरुके आगे भक्तिपूर्वक अपनी आलोचना करनेको अरहन्तदेवने गर्हा कहा है ॥७४॥

जिसके चित्तमें राग-द्वेष, क्रोध आदि दोष स्थिरता नहीं करते हैं, वह भव्यशिरोमणि पुरुष उपशमभावका धारक शान्तात्मा कहा जाता है ॥७५॥ सेवा करना ही है क्रीड़ा-कुतूहल जिसके, ऐसे स्वर्गाधीश इन्द्रोंके द्वारा पंचकल्याणरूप पूजाके योग्य अर्हन्तदेवमें और सद्-गुरुमें विनयके साथ जो पूजा आदि की जाती है, उसे आदि पुरुषोंने उत्तम भक्ति कहा है ॥७६॥ कर्मोदयसे अपने आप उत्पन्न हुए रोगोंसे जिनका शरीर पीड़ित हो रहा है, ऐसे साधुवर्गमें औषधि आदिसे जो रोगकी निवृत्ति की जाती है, वह वात्सल्य कहलाता है ॥७७॥ दुःखरूप संसार-सागरमें निरन्तर परिभ्रमण करनेवाले प्राणियोंके ऊपर दयालु पुरुषका जो चित्त दयासे आर्द्र (द्रवित) हो जाता है, वह कारुण्य या अनुकम्पा भाव कहा गया है ॥७८॥ जिस पुरुषके हृदयमें इन उपर्युक्त

दोषाश्चापि तथा हेयास्ते के साम्प्रतमुच्यते ।
मूढत्रयं चाष्ट मदास्तथाऽनायतनानि षट् ।
शङ्कादयस्तथा चाष्टौ कुदोषाः विंशतिः ॥८० (षट्पदी श्लोकः)
वरप्राप्त्यर्थमाशावान् प्राणिघातोद्यताः खलाः ।
रागद्वेषाकुलाः सर्वाः क्रूरा हेया जिनागमे ।
यास्तासां यः करोत्येवमुपास्ति देवमूढभाक् ॥८१ (षट्पदी श्लोकः)

ग्रहणस्नानसूर्यार्घाश्वास्त्रद्विपसपर्यणम् । जाह्नवीसिन्धुसंस्नानं सङ्क्रान्तौ दानमेव च ॥८२
गोमूत्रवन्दनं पृष्ठवन्दनं वटपूजनम् । देहलीमृतपिण्डादिदानं लोकस्य मू ॥८३
सग्रन्थारम्भयुक्ताश्च मन्त्रौषधिविराजिताः । पाखण्डिनस्तद्विनयः शुश्रूषा तद्विमूढता ॥८४
ज्ञानं पूजां कुलं जातिं मृद्धिं तपो वपुः । अष्टौ चाश्रित्य दर्पित्वं गतदर्पा मदं न्यगुः ॥८५
मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानं चरणममीभिः हितः पुरुषः । दर्शनकल्पद्रुमवनवह्निरिवेदं स्वनायतनमुद्धम् ॥८६

इत्यादिदूषणैर्मुक्तं मुक्तिप्रीतिनिबन्धनम् । सम्यक्त्वं सम्यगाराध्यं संसारभयभीरुभिः ॥८७
सम्यक्त्वसंयुतः प्राणी मिथ्यावासेषु जायते । द्वादशेषु न तिर्यक्षु नारकेषु नपुंसके ॥८८
स्त्रीत्वे च दुःकृताल्पायुर्दारिद्र्यादिकवर्जिते । भवनत्रिषु षट्भूषु तद्देवीषु न जायते ॥८९

आठ गुणोंसे युक्त सम्यक्त्व विद्यमान रहता है, उसके घरमें निर्मल लक्ष्मी रात-दिन सदा निवास करती है ॥७९॥ सम्यग्दर्शनके जो दोष हैं, वे सदा हेय हैं। वे दोष कौन हैं? ऐसा पूछनेपर ग्रन्थकार कहते हैं कि तीन मूढता, आठ मद, छह अनायतन और शंका आदिक आठ दोष ये पच्चीस कुदोष हैं, इनके कारण सम्यग्दर्शन निर्मल और स्थिर नहीं रहने पाता है ॥८०॥ जो प्राणियोंकी हिंसा करनेमें उद्यत हैं, दोषयुक्त हैं, राग-द्वेषसे आकुलित हैं और क्रूर हैं, ऐसे सभी देवी-देवता जिनागममें हेय कहे गये हैं, जो पुरुष इच्छित वर पानेके लिए आशावान् होकर उनकी उपासना आराधना करता है, वह देवमूढता धारक है ॥८१॥ सूर्य-चन्द्रके ग्रहणके समय स्नान करना, सूर्यको अर्घ चढ़ाना, घोड़ा, शस्त्र और हाथीकी पूजा करना, गंगा और सिन्धुमें स्नान करना, संक्रान्तिमें दान देना; गोमूत्रका वन्दन करना, गायकी पीठकी वन्दना करना, वट वृक्ष-पीपल आदिका पूजना, देहलीका पूजना और मृतपुरुषको पिण्डदान देना आदि कार्य लोकमूढता कहलाते हैं ॥८२-८३॥ जो परिग्रह और आरम्भसे युक्त हैं, मन्त्र और औषधि आदिसे विराजमान हैं, ऐसे पाखण्डी जनोंकी विनय करना, उनकी शुश्रूषा करना सो पाखण्डिमूढता है ॥८४॥ ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठके आश्रयको लेकर दर्प करनेको दर्प-रहित आचार्योंने मद कहा है ॥८५॥ मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र और इन तीनोंके धारक पुरुष ये छह अनायतन कहलाते हैं। ये सम्यग्दर्शनरूप कल्पवृक्षोंके वनको जलानेके लिए प्रबल दावाग्निके समान हैं ॥८६॥ संसारके भयसे डरनेवाले पुरुषोंको ऊपर कहे गये दूषणोंसे रहित और मुक्तिरमाकी प्रीतिका कारणभूत सम्यक्त्वका सम्यक्प्रकारसे आराधन करना चाहिए ॥८७॥ सम्यक्त्वसे संयुक्त प्राणी बारह मिथ्यावासोंमें नहीं उत्पन्न होता है। वे बारह मिथ्यावास इस प्रकार हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, कुभोगभूमि और म्लेच्छखण्ड। तथा तिर्यंचपंचेन्द्रियोंमें, नारकियोंमें और नपुंसकोंमें उत्पन्न नहीं होता है। और वह सम्यक्त्वी जीव स्त्रीपर्यायमें, खोटे कुलमें, अल्प आयुवालोंमें,

तीर्थकृच्चक्रवर्त्यादिविभूतिं प्राप्य भासुराम् । नरः सम्यक्त्वमाहात्म्यात्प्राप्नोति परमं पदम् ॥९०
किमत्र बहुनोक्तेन ये गता यान्ति जन्मिनः । मोक्षं यास्यन्ति तत्सर्वं सम्यक्त्वस्यैव चेष्टितम् ॥९१

सप्तव्यसननिर्मुक्ता जिनपूजासमुद्यताः । सम्यग्दर्शनसंयुक्तास्ते धन्याः श्रावका मताः ॥९२
यो मानुष्यं समासाद्य दुर्लभं भवकोटिषु । सज्जातिं सत्कुलं चाप्य मा भूयाद् दृग्विवर्जितः ॥९३
देवपूजादिषट्कर्मनिरतः कुलसत्तमः । अघषट्कर्मनिर्मुक्तः श्रावकः परमो भवेत् ॥९४
इति प्रथममावर्ण्य दर्शनं जिनपूजनम् । तद्-दृढीकरणार्थं च वक्ष्येऽहं युगले पदे ॥९५
नित्यपूजाविधिः केन प्रकारेण क्रियेत च । बुधैस्तथाहं वक्ष्ये च पूर्वसूत्रानुसारतः ॥९६
स्नानं पूर्वमुखीभूय प्रतीच्यां दन्तधावनम् । उदीच्यां श्वेतवस्त्राणि पूजा पूर्वोत्तरामुखी ॥९७
गृहे प्रविशता वामभागे शल्यविवर्जिते । देवतावसरं कुर्यात्सार्धहस्तोर्ध्वभूमिके ॥९८
नीचैर्भूमिस्थितं कुर्याद्देवतावसरं यदि । नीचैर्नीचैस्ततोऽवश्यं सन्तत्यापि भवेत् ॥९९
एकादशाङ्गुलं बिम्बं सर्वकामार्थसाधकम् । एतत्प्रमाणमाख्यातमत ऊर्ध्वं न कारयेत् ॥१००
एकाङ्गुलं भवेच्छ्रेष्ठं द्व्यङ्गुलं धननाशनम् । त्र्यङ्गुले जायते वृद्धिः पीडा स्याच्चतुरङ्गुले ॥१०१

दरिद्रियोंमें, निन्दनीय वंशमें, भवनत्रिकदेवोंमें, उनकी देवियोंमें तथा प्रथम नरकको छोड़कर शेष छह नरकभूमियोंमें नहीं उत्पन्न होता है ॥८८–८९॥ किन्तु वह सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्वके माहात्म्यसे तीर्थंकर चक्रवर्ती आदिकी भासुरायमान विभूतिको प्राप्त करके अन्तमें परमपद निर्वाणको प्राप्त करता है ॥९०॥ इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या ? अभी तक जितने जीव मोक्ष गये हैं, जा रहे हैं और आगे जावेंगे, वह सब सम्यक्त्वका ही माहात्म्य है ॥९१॥ जो जीव सातों व्यसनोंसे रहित हैं, जिन-पूजन करनेमें उद्यत हैं, और सम्यग्दर्शनसे संयुक्त हैं, वे श्रावक धन्य माने जाते हैं ॥९२॥ कोटि भवोंमें दुर्लभ ऐसे मनुष्यभवको पाकरके, तथा उत्तम जाति और उत्तम कुल पाकरके भव्य जीवको सम्यग्दर्शनसे रहित नहीं होना चाहिए ॥९३॥ जो उत्तम कुलीन पुरुष सम्यग्दर्शनको धारण करके देवपूजा आदि षट् आवश्यक कर्मोंमें निरत रहता है, चक्की बुहारी आदि षट् पापकार्योंसे विमुक्त है, वह परम श्रावक कहलाता है ॥९४॥ इस प्रकार श्रावकके ग्यारह पदोंमेंसे प्रथम दार्शनिक पदका वर्णन करके अब मैं दूसरे श्रावकपदमें उसीके दृढ़ करनेके लिए जिनपूजनका वर्णन करूँगा ॥९५॥

ज्ञानी पुरुष नित्य पूजाकी विधि किस प्रकारसे करते हैं, यह, मैं पूर्वाचार्य-रचित सूत्रके अनुसार कहूँगा ॥९६॥ पूजन करनेके पहले पूर्व दिशाकी ओर मुख करके स्नान करे, पश्चिम दिशाकी ओर मुख करके दातुन करे, उत्तर दिशाकी ओर मुख करके श्वेत वस्त्र धारण करे और जिनेन्द्रदेवकी पूजा पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके करे ॥९७॥ भावार्थ—यदि जिनप्रतिमाका मुख पूर्वकी ओर हो तो पूजा उत्तर मुख होकर करे और यदि प्रतिमाका मुख उत्तरकी ओर हो तो पूजा पूर्व मुख होकर करे। अब ग्रन्थकार सर्वप्रथम अपने घरमें चैत्यालय बनानेकी विधि कहते हैं—घरमें प्रवेश करते हुए शल्य-रहित वाम भागमें डेढ़ हाथ ऊँची भूमिपर देवताका स्थान बनावे ॥९८॥ यदि गृहस्थ नीची भूमिपर स्थित देवताका स्थान बनायगा, तो वह अवश्य ही सन्तानके साथ नीचली नीचली अवस्थाको प्राप्त होता जायगा ॥९९॥ घरके चैत्यालयमें ग्यारह अंगुल प्रमाणवाला जिनबिम्ब सर्व मनोवांछित अर्थका साधक होता है, अतएव इस प्रमाण से अधिक ऊँचा जिनबिम्ब नहीं बनाना चाहिये ॥१००॥ एक अंगुल प्रमाण जिनबिम्ब श्रेष्ठ होता

पञ्चाङ्गुले तु वृद्धिः स्यादुद्वेगस्तु षडङ्गुले । सप्ताङ्गुले गवां वृद्धिर्हानिरष्टाङ्गुले मता ॥१०२
नवाङ्गुले पुत्रवृद्धिर्धननाशो दशाङ्गुले । आरभ्यैकाङ्गुलाद्बिम्बाद्यावदेकादशाङ्गुलम् ॥१०३
गृहे संपूजयेद्बिम्बमूर्ध्वं प्रासादगं पुनः । प्रतिमाकाष्ठलेपाश्मस्वर्णरूप्यायसां गृहे ॥१०४
मानाधिकपरीवाररहिता नैव पूज्यते । काष्ठलेपायसां भूता प्रतिमा साम्प्रतं न हि ॥१०५
योग्यास्तेषां यथोक्तानां लाभस्यापि स्वभावतः । जीवोत्पत्त्यादयो दोषा बहवः सम्भवन्ति च ॥१०६
प्रासादे ध्वजनिर्मुक्ते पूजाहोमजपादिकम् । सर्वं विलुप्यते यस्मात्तस्मात्कार्यो ध्वजोच्छ्रयः ॥१०७
अतीताब्दशतं याद् यच्च स्थापितमुत्तमैः । तद्व्यङ्गमपि पूज्यं स्याद्बिम्बं तन्निष्फलं न हि ॥१०८

उक्तं च—

यद्बिम्बं लक्षणैर्युक्तं शिल्पिशास्त्रनिवेदितम् । साङ्गोपाङ्गं यथायुक्तं पूजनीयं प्रतिष्ठितम् ॥१०९
नासामुखे तथा नेत्रे हृदये नाभिमण्डले । स्थानेषु व्यङ्गितेष्वेव प्रतिमा नैव पूजयेत् ॥११०
जीर्णं चातिशयोपेतं तद्व्यङ्गमपि पूजयेत् । शिरोहीनं न पूज्यं स्यान्निक्षेप्यं तन्नदादिषु ॥१११

है, दो अंगुलप्रमाणका जिनविम्ब धन-नाशक होता है, तीन अंगुलके जिनविम्ब बनवानेपर धन-धान्य एवं सन्तान आदिकी वृद्धि होती है और चार अंगुलके जिनविम्ब होनेपर पीड़ा होती है ॥१०१॥ पाँच अंगुलके जिनविम्ब होनेपर घरकी वृद्धि होती है, छह अंगुलके जिनबिम्ब होनेपर घरमें उद्वेग होता है, सात अंगुलके जिनविम्ब होनेपर गायोंकी वृद्धि होती है और आठ अंगुलके जिनविम्ब होनेपर धन-धान्यादिकको हानि होती है ॥१०२॥ नौ अंगुलके जिनविम्ब होनेपर पुत्रोंकी वृद्धि होती है और दश अंगुलके जिनविम्ब होनेपर धनका नाश होता है। इस प्रकार एक अंगुल-प्रमाण जिनविम्बसे लेकर ग्यारह अंगुल तकके जिनविम्बको घरमें स्थापन करनेका शुभाशुभ फल कहा ॥१०३॥ अतएव गृहस्थको घरमें ग्यारह अंगुलप्रमाणवाला जिनविम्ब पूजना चाहिए। इससे अधिक प्रमाणवाला जिनविम्ब ऊँचे शिखरवाले जिनमन्दिरमें स्थापन करके पूजे। घरके चैत्यालयके लिए प्रतिमा काठ, लेप (चित्राम), पाषाण, सुवर्ण, चाँदी और लोहेकी बनवाये ॥१०४॥ ग्यारह अंगुलसे अधिक प्रमाणवाली प्रतिमा आठ प्रातिहार्य आदि परिवारसे रहित नहीं पूजना चाहिए। अर्थात् ग्यारह अंगुलसे बड़ी प्रतिमाको आठ प्रातिहार्यादि परिवारसे संयुक्त ही बनवाना चाहिए। तथा आजके समयमें काठ, लेप और लोहेकी प्रतिमा नहीं बनवाना चाहिए ॥१०५॥ क्योंकि इनकी बनवाई गई यथोक्त योग्य प्रतिमाओंके निर्माणका कोई लाभ नहीं है और जीवोंकी उत्पत्ति आदिक होनेसे अनेक दोषोंकी सम्भावना है ॥१०६॥ यतः जिनमन्दिरके ध्वजासे रहित होनेपर पूजन-हवन और जप आदिक सर्व विलुप्त हो जाते हैं, अतः जिनमन्दिर पर ध्वजारोपण कराना चाहिए ॥१०७॥ जिस जिनविम्बको पूजते हुए एक सौ वर्ष व्यतीत हो गये हैं, और जिस जिनविम्बको उत्तम पुरुषोंने स्थापित किया है, वह जिनविम्ब यदि अंगहीन है, तो भी पूज्य है, उसका पूजन निष्फल नहीं है ॥१०८॥

इस विषयमें प्रतिष्ठाशास्त्रोंमें ऐसा कहा है—जो जिनविम्ब शुभ लक्षणोंसे युक्त हो, शिल्पिशास्त्रमें प्रतिपादित नाप-तौलवाला हो, अंग और उपांगसे सहित हो और प्रतिष्ठित हो, वह यथायोग्य पूजनीय है। किन्तु जो जिनविम्ब नासा, मुख, नेत्र, हृदय और नाभिमण्डल इतने स्थानोंपर यदि अंगहीन हो तो वह प्रतिमा नहीं पूजनी चाहिए ॥१०९-११०॥ यदि कोई प्रतिमा प्राचीन हो और अतिशय-संयुक्त हो, तो वह अंग-हीन भी पूजनी चाहिए। किन्तु शिर-हीन प्रतिमा

पूर्वस्यां श्रीगृहं कार्यमाग्नेय्यां तु महानसम् । शयनं दक्षिणस्यां तु नैऋत्यामायुधादिकम् ॥११२
भुजिक्रिया पश्चिमस्यां वायव्ये धनसंग्रहः । उत्तरस्यां जलस्थानमैशान्यां देवसद्‌-गृहम् ॥११३
अङ्गुष्ठमात्रं विम्बं च यः नित्यमर्चयेत् । तत्फलं न च वक्तुं हि शक्यतेऽसंख्यपुण्ययुक् ॥११४
विम्बीदलसमे चैत्ये नं सुविम्बकम् । यः करोति हि तस्यैव मुक्तिर्भवति सन्निधिः ॥११५
तथार्चकः पूर्वदिशि वोत्तरस्यां च सम्मुखः । दक्षिणस्यां दिशायां च विदिशायां च वर्जयेत् ॥११६
पश्चिमाभिमुखः कुर्यात्पूजां चेच्छ्रीजिनेशिनः । तदा स्यात्सन्ततिच्छेदो दक्षिणस्यामसन्ततिः ॥११७
आग्नेय्यां च कृता पूजा धनहानिर्दिने दिने । वायव्यां सन्ततिर्नैव नैऋत्यां तु कुलक्षयः ॥११८
ईशान्यां नैव कर्त्तव्या पूजा सौभाग्यहारिणी । पूर्वस्यां शान्तिपुष्ट्यर्थमुत्तरे च धनागमः ॥११९
तिलकैस्तु विना पूजा न कार्या गृहमेधिभिः । अङ्घ्रिजानुकरांसेषु मूर्ध्नि पूजा यथाक्रमम् ॥१२०
भाले कण्ठे हृदि भुजे उदरे चिह्नकारणैः । नवभिस्तिलकैः पूजा करणीया निरन्तरम् ॥१२१
मुक्तिश्रिया ललामं वा तिलकं समुदाहृतम् । तेनानर्थत्वमिन्द्रस्य पूजकस्य च तैर्विना ॥१२२
षोडशाभरणोपेतः साङ्गोपाङ्गस्तु पूजकः । विनयी भक्तिमान् : श्रद्धावान् लोभवर्जितः ॥१२३
पद्मासनसमासीनो न ग्रन्यस्तलोचनः । मौनी वस्त्रावृतास्योऽयं कुर्याज्जिनेशिनः ॥१२४

पूज्य नहीं है, उसे नदी समुद्रादिकमें विसर्जित कर देना चाहिए ॥१११॥ श्रावकको अपने घरकी पूर्वदिशामें श्रीगृह कराना चाहिए, आग्नेय दिशामें रसोई वनवाना चाहिये, दक्षिण दिशामें शयन करना चाहिए, नैऋत्य दिशामें आयुध आदिक रखना चाहिये, पश्चिम दिशामें भोजन क्रिया करना चाहिए, वायव्यदिशामें धनसंग्रह करना चाहिए, उत्तर दिशामें जलस्थान रखना चाहिए और ईशान-दिशामें देव-गृह वनवाना चाहिए ॥११२–११३॥ जो श्रावक अंगुष्ठप्रमाण भी जिनविम्वको निर्माण कराके नित्य पूजन करता है, उसका फल कहनेके लिये कोई भी पुरुष समर्थ नहीं है, वह असंख्य पुण्यका उपार्जन करता है ॥११४॥ जो पुरुष विम्वीदल (किन्दूरीके पत्र) के समान चैत्यालय वनवा करके उसमें यव (जौ) प्रमाण भी जिनविम्वको स्थापन कर उसका प्रतिदिन पूजन करता है, उसके ही मुक्ति समीपवर्तिनी होती है ॥११५॥ तथा पूजा करनेवाला पुरुष पूर्वदिशामें अथवा उत्तर-दिशामें मुख करके जिनेन्द्रका पूजन करे। दक्षिण दिशामें और विदिशाओंमें मुख करके पूजन नहीं करना चाहिए ॥११६॥ जो पुरुष पश्चिम दिशाकी ओर मुख करके श्रीजिनेश्वरदेवकी पूजा करेगा, उसकी सन्तानका विच्छेद होगा, और दक्षिणदिशामें मुख करके पूजन करनेवालेके सन्तान नहीं होगी ॥११७॥ आग्नेयदिशामें मुख करके पूजा करनेवालेके दिन-प्रतिदिन धनकी हानि होती है। वायव्य दिशामें मुख कर पूजन करनेवालेके सन्तान नहीं होती है, नैऋत्य दिशामें मुखकर पूजन करनेवालेका कुलक्षय होता है ॥११८॥ ईशान दिशामें मुख करके पूजा नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह सौभाग्यका अपहरण करती है। शान्ति और पुष्टिके लिए पूर्वदिशामें मुख करके पूजन करना चाहिए। उत्तर दिशामें मुख करके पूजन करनेपर धनकी प्राप्ति होती है ॥११९॥ गृहस्थोंको तिलक लगाये विना पूजा नहीं करनी चाहिये। चरण, जाँघ, हाथ, कन्धा, मस्तक, भाल, कण्ठ, हृदय, भुजा और उदर इन नौ स्थानोंपर तिलक चिह्न करके सदा पूजा करनी चाहिये ॥१२०–१२१॥ तिलक मुक्तिलक्ष्मीका सुन्दर आभूषण कहा गया है, इस कारण उन तिलकोंके विना पूजक इन्द्रकी पूजा निरर्थक है ॥१२२॥ भगवान्‌की पूजा करनेवाला पुरुष सोलह आभूषणोंसे भूपित हो, अंग-उपांगसे सहित हो, विनयी हो, भक्तिवाला हो, समर्थ हो, श्रद्धावान् हो, लोभ-रहित हो, पद्मासनसे अवस्थित हो, नासाके अग्रभागपर दृष्टि रखनेवाला हो, मौन-धारक हो

श्रीचन्दनं विना नैव पूजां कुर्यात्कदाचन । प्रभाते घनसारस्य पूजा कार्या विचक्षणैः ॥१२५
मध्याह्ने कुसुमैः पूजां सन्ध्यायां दीपधूपयुक् । वामाङ्गे धूपदाहः स्याद्दीपपूजा च सन्मुखी ॥१२६
अर्हतो दक्षिणे भागे दीपस्य च निवेशनम् । ध्यानं च दक्षिणे भागे चैत्यानां वन्दना : ॥१२७
गन्धधूपाक्षतस्रग्भिः प्रदीपफलवारिभिः । प्रभातकालेऽपचितिर्विधेया श्रीजिनेशिनः ॥१२८
पद्मचम्पकजात्यादिस्रग्भिः संपूजयेज्जिनान् । पुष्पाभावे प्रकुर्वीत पीताक्षतभवैः ः ॥१२९
नैव पुष्पं द्विधा कुर्यान्न छिन्द्यात्कलिकामपि । चम्पकोत्पलभेदेन यतिहत्या फलम् । १३०

हस्तात्प्रस्खलितं क्षितौ निपतितं लग्नं क्वचित्पादयोः
यन्मूर्धोर्ध्वगतं धृतं कुवसने नाभेरधो यद्-धृतम् ।
स्पृष्टं दुष्टजनैर्घनैरभिहतं यद्दूषितं कण्टकै-
स्त्याज्यं तत्कुसुमं वदन्ति विबुधा भक्त्या जिनप्रीतये ॥१३१

स्पृश्यशूद्रादिजं स्पृश्यमस्पृश्यादपसारितम् । पुष्पं देयं महाभक्त्या न तु दुष्टजनैर्धृतम् ॥१३२
पयोऽर्थं गां जलार्थं वा कूपं पुष्पेषु हेतवे । वाटिकां संप्रकुर्वन्ना नातिदोषधरो भवेत् ॥१३३
शुद्धतोयेक्षुसर्पिर्भिर्दुग्धदध्याम्रजै रसैः । सर्वौषधिभिरुच्चूर्णैर्भावात्संस्नापयेज्जिनम् ॥१३४
पूज्यपूजावशेषेण गोशीर्षेण हृतालिना । देवाधिदेवसेवायै स्ववपुश्चर्चयेऽमुना ॥१३५

और वस्त्र-वेष्टित हो। ऐसा पुरुष जिनेन्द्रदेवकी पूजा करे ॥१२३-१२४॥ श्रीचन्दनके विना कदाचित् भी पूजा नहीं करनी चाहिए। ज्ञानीजनोंको प्रातःकाल चन्दनसे पूजा करनी चाहिये। मध्याह्नमें पुष्पोंसे और सन्ध्यासमयमें दीप-धूपसे पूजन करना चाहिये। पूजन करते समय अपने वाम अंगकी ओर धूपदहन रखना चाहिये और दीपसे पूजा आरती सन्मुख होकर करना चाहिए ॥१२५-१२६॥ अरहन्त भगवन्तके दक्षिण भागमें दीपक स्थापित करना चाहिये तथा अरहन्तदेवके दक्षिण भागमें वैठकर ध्यान और चैत्योंकी वन्दना करना चाहिए ॥१२७॥ प्रभात-कालमें श्रीजिनेश्वरदेवकी पूजा गन्ध, धूप, अक्षत, पुष्पमाल, प्रदीप, फल और जलसे करना चाहिए ॥१२८॥ कमल, चम्पक, चमेली आदिके पुष्पोंकी मालाओंसे जिनेन्द्रदेवका पूजन करे। पुष्पोंके अभावमें पीले अक्षतोंसे वने हुए पुष्पोंसे पूजा करे ॥१२९॥ पूजनके समय पुष्पके दो टुकड़े नहीं करे, और न पुष्पकलीको ही छेदे। क्योंकि चम्पक, कमल आदि पुष्पोंको भेदन करके पूजन करनेपर साधुकी हत्याके समान फल कहा गया है ॥१३०॥ जो पुष्प हाथसे छूटकर भूमिपर गिर गया हो, पैरोंमें कहींपर लग गया हो, जो मस्तकके ऊपर रख लिया गया हो, जो खोटे (गन्दे) वस्त्रमें रख गया हो, जो नाभिके अधोभागमें रखकर लाया गया हो, जिसे दुष्टजनोंने स्पर्श कर लिया हो, जो घन-प्रहारसे ताडित हो, और जो काँटोंसे दूषित हो, ऐसे पुष्पको ज्ञानीजन भक्तिसे जिनदेवकी प्रीतिके लिये त्याज्य कहते हैं ॥१३१॥ स्पृश्य शूद्रादिके द्वारा लाया गया पुष्प तो स्पृश्य है, किन्तु अस्पृश्य शूद्रके द्वारा लाया गया पुष्प पूजाके लिए निषिद्ध है। अतः उच्च कुल वालोंके द्वारा लाया गया पुष्प महाभक्तिके साथ पूजामें चढ़ाना चाहिये। किन्तु दुष्टजनोंके द्वारा लाया गया पुष्प पूजाके योग्य नहीं है ॥१३२॥ दूधके लिये गायको रखनेवाला, जलके लिये कूपको वनवानेवाला और पुष्पोंके लिये वाटिका करनेवाला पुरुष अधिक दोषका धारक नहीं है ॥१३३॥ शुद्ध जल, इक्षु-रस, घृत, दुग्ध, दधि, और आम्रजनित रसोंसे, तथा सर्वौषधियोंके चूर्णसे भावपूर्वक जिनदेवका अभिषेक करना चाहिये ॥१३४॥ पूज्य जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेसे अवशिष्ट रहे हुए,

स्नानैर्विलेपनविभूषणपुष्पवासधूपप्रदीपफलतन्दुलपत्रपूगैः ।
नैवेद्यवारिवसनैश्चमरातपत्रवादित्रगीतनटस्वस्तिककोशवृद्धया ॥१३६
इत्येकविंशति विधा जिनराजपूजा यद्यत्प्रियं तदिह भाववशेन योज्यम् ।
द्रव्याणि चर्पाणि तथा हि कालभावाः सदा नैव समा भवन्ति ॥१३७

शान्तौ श्वेतं जये श्यामं भद्रे रक्तं भये हरित् । पीतं धनादिसंलाभे पञ्चवर्णं तु सिद्धये ॥१३८
खण्डिते गलिते छिन्ने मलिने चैव वाससि । दानं पूजा तपो होमः स्वाध्यायो विफलं भवेत् ॥१३९
माल्यगन्धप्रधूपाद्यैः सचित्तैः कोऽर्चयेज्जिनम् । सावद्यसंभवं वक्ति यः स एवं प्रबोध्यते ॥१४०
जिनार्चाऽनेकजन्मोत्थं किल्विषं हन्ति यत्कृतम् । सा किं न यजनाचारसंभवं सावद्यमङ्गिनाम् १४१
प्रेर्यन्ते यत्र वातेन दन्तिनः पर्वतोपमाः । तत्राल्पशक्तितेजस्सु का कथा मशकादिषु ॥१४२
भुक्तं स्यात्प्राणनाशाय विषं केवलमङ्गिनाम् । जीवनाय मरीचादिसदौषधिविमिश्रितम् ॥१४३
तथा कुटुम्बभोगार्थमारम्भः पापकृद् भवेत् । धर्मकृद्दानपूजादौ हिंसालेशो मतः सदा ॥१४४
गन्धोदकं च शुद्धयर्थं शेषां सन्ततिवृद्धये । तिलकार्थं च सौगन्ध्यं गृह्णन् स्यान्नहि दोषभाक् ॥१४५

तथा जिसपर भ्रमर गुंजार कर रहे, ऐसे गोशीर्ष चन्दनसे देवाधिदेव जिनेन्द्रदेवकी पूजा-सेवाके लिये मैं अपने शरीरको चर्चित करता हूँ, ऐसी भावना करे ॥१३५॥ स्नानपूजा, विलेपनपूजा, आभूषणपूजा, पुष्पपूजा, सुगन्धपूजा, धूपपूजा, प्रदीपपूजा, फलपूजा, तन्दुलपूजा, पत्रपूजा, पुंगीफलपूजा, नैवेद्यपूजा, जलपूजा, वसनपूजा, चमरपूजा, छत्रपूजा, वादित्रपूजा, गीतपूजा, नृत्यपूजा, स्वस्तिकपूजा, और कोशवृद्धिपूजा अर्थात् भण्डारमें द्रव्य देना, इस प्रकार जिनराजकी पूजा इक्कीस प्रकार की है। जिसे जो पूजा प्रिय हो, वह उससे भावपूर्वक पूजन करे। क्योंकि सभी मनुष्योंके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सदा समान नहीं रहते हैं ॥१३६-१३७॥ शान्तिकार्यमें श्वेत, जयकार्यमें श्याम, कल्याणकार्यमें रक्त, भयकार्यमें हरित, धनादिके लाभमें पीत और सिद्धिके लिये पंचवर्णके वस्त्र पहिने और उसी वर्णके पुष्पादिसे पूजन करे ॥१३८॥ खण्डित, गलित, छिन्न और मलिन वस्त्र पहिननेपर दान, पूजा, तप, होम और स्वाध्याय निष्फल होता है ॥१३९॥

माला, गन्ध, धूप आदि सचित्त पदार्थोंसे कौन बुद्धिमान् जिन भगवान्‌का पूजन करेगा, क्योंकि सचित्त वस्तुओंसे पूजन करनेमें पापकी सम्भावना है, ऐसी जो आशंका करता है, ग्रन्थकार उसे इस प्रकार सम्बोधित करते हैं—कि जो जिनेन्द्र-पूजन अनेक जन्मोंमें उपार्जित पापोंका नाश करता है, वह क्या प्राणियोंके पूजन विधिके आचारसे उत्पन्न हुए पापका नाश नहीं करेगा? अर्थात् अवश्य ही करेगा ॥१४०-१४१॥ जिस पवनके द्वारा पर्वतोंके सदृश हाथी उड़ा दिये जाते हैं, वहाँपर अल्प शक्ति और अल्प तेजवाले मच्छर आदिकी क्या कथा है? अर्थात् वे तो उड़ा ही दिये जावेंगे ॥१४२॥ यदि केवल विष खाया जाय, तो वह प्राणियोंके प्राणोंका नाश करनेवाला होता है। और वही विष जब कालीमिर्च आदि उत्तम औषधियोंसे मिश्रित करके खाया जाता है, तब वह प्राणियोंके जीवनके लिए होता है ॥१४३॥ उसी प्रकार जो आरम्भ कुटुम्बके भोगके लिए किया जाता है, वह पापका उपार्जन करनेवाला होता है, किन्तु दान-पूजा आदिमें किया गया आरम्भ तो सदा धर्मका करनेवाला होता है। हाँ, उसमें हिंसाका लेश अवश्य माना गया है ॥१४४॥ यद्यपि निर्माल्य वस्तुका ग्रहण करना दोषकारक है, तथापि गन्धोदकका ग्रहण करना शुद्धिके लिए और आशिकाको ग्रहण करना सन्तान वृद्धिके लिए माना गया है। इसी प्रकार

पूज्यो जिनपतिः पूजा पुण्यहेतुर्जिनार्चना । फलं स्वाभ्युदया मुक्तिर्भव्यात्मा पूजकः स्मृतः ॥१४६
आवाहनं च प्रथमं ततः संस्थापनं परम् । सन्निधीकरणं कृत्वा पूजनं तदनन्तरम् ॥१४७
ततो विसर्जनं कार्यं ततः क्षमापणा मता । पञ्चोपचारापचितिः कर्तव्या हीतिऽसज्जनैः ॥१४८
पूर्वं स्नाताऽनुलिप्ताऽपि धौतवस्त्रान्विता परम् । षोडशाभरणोपेता स्याद्वधूः पूजयेज्जिनम् ॥१४९
सती शीलव्रतोपेता विनयादिसमन्विता । एकाग्रचित्ता प्रयजेज्जिनान् सम्यक्त्वमण्डिता ॥१५०
तक्षा स्रष्टा दिवाकीर्त्तिश्चित्रकारोऽश्मभेदकः । सूत्रधारः प्रेषकश्च सूत्रधारस्तु माल्यवान् ॥१५१
भरतो दीर्घजीवी च मार्दङ्गिकमृणालकौ । वृती जीवी ग्रन्थिकारः कर्णजाहो नियन्त्रिकः ॥१५२
धर्माध्यक्षास्तु शूद्राश्च स्पृश्याष्टादश सम्मिताः । कार्वकारुप्रभेदेन द्विधा तेषामवस्थितिः ॥१५३
शेषाः शूद्रास्तु वर्ज्याः स्युर्जिनमन्दिरकर्मसु । स्वकीयगृहसत्कार्ये तदधीना गृहस्थितिः ॥१५४

एवं सम्यग्विचार्यात्र द्रव्यपात्रादिशुद्धिभाक् ।
स्वः शुद्धोऽन्यानि संशोध्य सम्यक्कृत्वा विशोधयेत् ॥१५५

तिलकके लिए सुगन्धित चन्दन-केशरको ग्रहण करनेवाला पुरुष भी दोषका भागी नहीं होता है ॥१४५॥ पूजाके विषयमें पूज्य, पूजा, पूजक और पूजाका फल ये चार बातें ज्ञातव्य हैं। जिनेन्द्र-देव तो पूज्य हैं अर्थात् पूजा करनेके योग्य हैं। जिनदेवकी अर्चा करना पूजा कहलाती है, जो कि पुण्यका कारण है। सांसारिक अभ्युदयोंकी प्राप्ति और मुक्तिकी प्राप्ति यह पूजाका फल है और भव्य जीव पूजक माना गया है ॥१४६॥ पूजन करते समय सर्व प्रथम पूज्य पुरुषका आह्वान करे, तत्पश्चात् संस्थापन करे, तदनन्तर सन्निधीकरण करके पूजन करे ॥१४७॥ तत्पश्चात् विसर्जन करना चाहिये। उसके बाद क्षमापणा करना आवश्यक माना गया है। यह पाँच प्रकारके उपचार-वाली पूजा सज्जनोंको सदा करनी चाहिये ॥१४८॥ भावार्थ—पूजनके प्रारम्भमें 'अत्र अवतर अवतर संवौषट्' बोलकर आवाहन करे। पुनः 'अत्र तिष्ठ ठः ठः' बोलकर स्थापन करे। पुनः 'मम सन्निहितो भव भव वषट्' बोलकर सन्निधीकरण करे। तदनन्तर 'निर्वपामीति स्वाहा' बोलकर जल-चन्दनादि द्रव्योंसे पूजन करे। अन्तमें 'गच्छ गच्छ' बोलकर विसर्जन करे और क्षमा माँगे। यह पाँच उपचार करना पूजनकी विधि कहलाती है। यदि स्त्री पूजन करे, तो पहले स्नान करे, शरीरमें चन्दनादिका लेपन करे, धुले वस्त्र पहिरे और सोलह आभूषण धारण कर जिनेन्द्र-देवका पूजन करे ॥१४९॥ पूजन करनेवाली स्त्री सती हो, शीलव्रतको धारण करनेवाली हो, विनय आदि गुणोंसे संयुक्त हो, एकाग्र चित्त हो और सम्यक्त्वसे मण्डित हो, ऐसी स्त्री जिन भगवान्का पूजन करे ॥१५०॥ अब ग्रन्थकार स्पृश्य शूद्रोंके नाम कहते हैं—खाती (बढ़ई), कारी-गर, दिवाकीर्ति (नाई), चित्रकार, शिलावट, सूत्रधार, शिल्पी, पेशगार, दरजी, मालाकार, भरत (भाट, चारण, गन्धर्व), दीर्घजीवी, मृदंगवादक, सारंगीवादक, आजीवक, सेवक, ग्रन्थिकार (सुनार), कर्णजाह, नियंत्रिक (सारथी, कोचवान) और धर्माध्यक्ष (प्रतिहार) ये अठारह प्रकारके स्पृश्य शूद्र माने गये हैं। इन शूद्रोंकी अवस्था कारु और अकारुके भेदसे दो प्रकारकी मानी गयी है ॥१५१–१५३॥ जिन मन्दिरके निर्माण कार्यमें शेष अस्पृश्य शूद्र वर्जनीय हैं। अपने घरके सत्कार्य करनेमें उक्त शूद्रोंके अधीन ही गृहकी स्थिति है ॥१५४॥ इस प्रकार भली-भाँतिसे विचार करके जिनमन्दिरके निर्माण आदिमें द्रव्यशुद्धि, पात्रशुद्धि आदिका धारक श्रावक स्वयं शुद्ध होकर और अन्यको सम्यक् प्रकार संशोधन करके पूजनकी सामग्री आदिको शोधे ॥१५५॥

शुद्धियुक्तो जिनान् भावात् पूजयेद्यः समाहितः । ईप्सितार्थस्य संसिद्धिं लभते सोऽपि मानवः ॥१५६
त्रिसन्ध्यं प्रार्चयेद्यस्तु जिनादीन् जितमत्सरः । सौधर्मादिषु कल्पेषु जायते सुरनायकः ॥१५७
एकवारं सुभावैर्य. पूजयति जिनाकृतिम् । सः सुरत्वं समाप्नोति हत्वा दुष्कृतसन्ततिम् ॥१५८
प्रतिमां पूजयेद् भक्त्या जिनेन्द्रस्य जितैनसः । यः सः संपूज्यते देवैर्मृतोऽपि मनुजोत्तमः ॥१५९
सा पूजाऽष्टविधा ज्ञेया गृहिणी-गृहमेधिनाम् । जलादिफलपर्यन्ता भवान्तकरणक्षमा ॥१६०
जिनेन्द्रप्रतिमा भव्यः स्नपयेत्पञ्चकामृतैः । तस्य नश्यति सन्तापः शरीरादिसमुद्भवः ॥१६१
श्रीमतां श्रीजिनेन्द्राणां प्रतिमाग्रे च पुण्यवान् । ददाति जलधारां यस्तिस्रो भृङ्गारनालतः ॥१६२
जन्ममृत्युजराद्ुःखं क्रमात्तस्य क्षयं व्रजेत् । स्वल्पैरेव भवैः पापरजः शाम्यति निश्चितम् ॥१६३
चन्दनादचर्चनापुण्यात्सुगन्धितनुभाग् भवेत् । सुगन्धीकृतदिग्भागो जायते च भवे भवे ॥१६४
अखण्डतन्दुलैः शुभ्रैः सुगन्धैः शुभशालिजैः । पूजयेज्जिनपादाब्जाऽक्षयां लभते रमाम् ॥१६५
पुष्पैः संपूजयन् भव्योऽमरस्त्रीलोचनैः सदा । पूज्यतेऽमरलोके स देवीनिकरमध्यगः ॥१६६
पक्वान्नादिसुनैवेद्यैः प्रार्चयत्यनिशं जिनान् । स भुनक्ति महासौख्यं पञ्चेन्द्रियसमुद्भवम् ॥१६७
रत्नचञ्चलकर्पूरभवैर्दीपैर्जिनेशिनाम् । द्योतयेद्यः पुमानङ्घ्री स स्यात्कान्तिकलानिधिः ॥१६८
कृष्णागुर्वादिजैर्धूपैर्धूपयेज्जिनपद्युगम् । सः सर्वजनतानेत्रवल्लभः संप्रजायते ॥१६९

पुनः शुद्धियुक्त होकर समाधानको प्राप्त जो मनुष्य भावसे जिनभगवान्‌का पूजन करता है, वह मनोवांछित अर्थकी सिद्धिको प्राप्त करता है ॥१५६॥ जो श्रावक मत्सरभावको जीतकर तीनों सन्ध्याकालोंमें जिनेन्द्रदेव आदिके पूजनको करता है, वह सौधर्म आदि कल्पोंमें उत्पन्न होकर देवोंका नायक इन्द्र बनता है ॥१५७॥ जो पुरुष उत्तम भावोंसे एक वार भी जिनेन्द्रके बिम्बका पूजन करता है, वह पाप-सन्तानका नाश कर देवपनेको प्राप्त करता है ॥१५८॥ जो मनुष्य पापों के जीतनेवाले जिनेन्द्रदेवका भक्तिसे पूजन करता है, वह उत्तम पुरुष मर करके स्वर्गलोकमें देवोंके द्वारा पूजा जाता है ॥१५९॥

वह पूजा जलको आदि लेकर फल-पर्यन्त आठ प्रकारकी जाननी चाहिए। यह पूजा गृहस्थ स्त्री और पुरुषोंके संसारका अन्त करनेमें समर्थ है ॥१६०॥ भव्य पुरुषको जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाका पंचामृतसे अभिषेक करना चाहिए। जो पंचामृतसे अभिषेक करता है, उसके शरीर आदिमें उत्पन्न हुआ सन्ताप नष्ट हो जाता है ॥१६१॥ जो पुण्यवान् श्रावक श्रीमन्त श्री जिनेन्द्रभगवन्तों-की प्रतिमाके आगे भृंगारके नालसे तीन जलधारा देता है, उसके जन्म जरा मरणका दुःख क्रमसे क्षयको प्राप्त हो जाता है और थोड़े ही भवोंमें उसका पापरज निश्चितरूपसे शान्त हो जाता है ॥१६२–१६३॥ चन्दन आदिके द्वारा पूजन करनेके पुण्यसे मनुष्य सुगन्धित शरीरको धारण करनेवाला होता है तथा भव-भवमें अपने यशःसौरभसे दशों दिशाओंको सुगन्धित करता है ॥१६४॥ उत्तम शालिसे उत्पन्न हुए, उज्ज्वल, सुगन्धित, उत्खण्ड तन्दुलोंसे जो जिनदेवके चरण-कमलोंको पूजता है, वह अक्षय लक्ष्मीको प्राप्त करता है ॥१६५॥ पुष्पोंसे जिनदेवको पूजनेवाला भव्य पुरुष देवलोकमें देवियोंके समूहके मध्यको प्राप्त होकर देवांगनाओंके नयनोंके द्वारा सदा पूजा जाता है ॥१६६॥ जो पकवान आदि उत्तम नैवेद्यके द्वारा जिनेन्द्रदेवोंका निरन्तर पूजन करता है, वह पाँचों इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए महान् सुखको भोगता है ॥१६७॥ जो पुरुष रत्न और चंचल कपूरकी ज्योतिवाले दीपोंसे जिनेन्द्रदेवके चरणोंको प्रकाशित करता है, वह कान्ति और कलाओंका निधान होता है ॥१६८॥ जो कृष्णागुरु आदिसे उत्पन्न हुई धूपके द्वारा जिनदेवके चरणयुगलको धूपित

आम्रनारिङ्गजम्बीरकदल्यादितरूद्भवैः । जति ज्ञं लभतेऽपीहितं फलम् ।।१७०

गन्धाक्षतातीवसुगन्धिकुसुमैः कृती । पुष्पाञ्जलिं ददन् दिव्यां जिनाग्रे लभते सुखम् ।।१७१

पुष्पाञ्जलिप्रदानेन महापुण्यं प्रजायते । तेन स्वकीयदुःखेभ्यो नरो दत्ते जलाञ्जलिम् ।।१७२

तः स्थापनातश्च द्रव्यतो भावतोऽपि । विन्यस्य पुण्यसम्प्राप्त्यै पूजयन्तु जिनेश्वरम् ।।१७३

विना न्यासं न पूज्यः वन्द्योऽसौ दृषत्समः । सुखं न जनयेन्न्यासवर्जि : प्राणिनां क्वचित् १७४

अतद्‌गुणेषु भावेषु व्यवहारप्रसिद्धये । यत्संज्ञाकर्म तन्नाम नरेच्छावशवर्तनात् ।।१७५

साकारे वा निराकारे दृषदादौ निवेशनम् । सोऽयमित्यवधानेन स्थापना सा निगद्यते ।।१७६

आगामिगुणयोग्योऽर्थो द्रव्यन्यासस्य गोचरः । तत्कालपर्य न्तं वस्तु भावोऽभिधीयते ।।१७७

इति चातुर्विधत्वेन न्यासं कृत्वा सुभावतः । श्रावकैः शुद्धसम्यक्त्वैः पूजा कार्या स्वशक्तितः ।।१७८

जिनेश्वरगुणग्रामरञ्जितैर्यति मैः । पूजा भावेन सत्कार्या सर्वपापापहारिणी ।।१७९

त्रि द्वि भव्यैः पूजापुण्यविधायिनी । या कृता पापसंघातं हन्त्याजन्मसमर्जितम् ।।१८०

पूर्वाह्णे हरते पापं मध्याह्ने कुरुते श्रियम् । ददाति मोक्षं सन्ध्यायां जिनपूजा निरन्तरम् ।।१८१

इत्येवं जिनपूजां च वर्णयित्वा युगे पदे । गुरूपास्तिं प्रवक्ष्येऽहं सर्वसौख्यकारिणीम् ।।१८२

गुरुसेवा विधातव्या मनोवाञ्छितसिद्धये । संशयध्वान्तनाशार्थमिहामुत्र सुखाय च ।।१८३

करता है, वह सर्व जनताके नेत्रोंका वल्लभ होता है ।।१६९।। जो भव्य आम, नारंगी, नीबू, केला आदि वृक्षोंसे उत्पन्न हुए फलोंके द्वारा सर्वज्ञदेवकी पूजा करता है, वह मनोवांछित फलको पाता है ।।१७०।। जल गन्ध अक्षत और अतीव सुगन्धित पुष्पोंके द्वारा जिनदेवके आगे दिव्य पुष्पाञ्जलि देनेवाला कृती पुरुष सुखको पाता है ।।१७१।। पुष्पाञ्जलि प्रदान करनेसे महान् पुण्य प्राप्त होता है। उसके द्वारा मनुष्य अपने सर्वदुःखों के लिए जलाञ्जलि दे देता है ।।१७२।। गृहस्थोंकी पुण्यकी प्राप्तिके लिए नाम स्थापना द्रव्य और भाव निक्षेपसे जिनेश्वरकी स्थापना करके उनकी पूजा करनी चाहिए ।।१७३।। विना स्थापना किये प्रतिमा न पूज्य होती है और न वन्दनीय ही होती है। प्रत्युत वह तो पाषाण समान ही रहती है। स्थापना-रहित प्रतिमा प्राणियोंको कभी भी कहीं पर सुख नहीं दे सकती है ।।१७४।। अपने गुणोंसे रहित पदार्थोंमें व्यवहार चलानेके लिए मनुष्योंको इच्छाके वशसे जो संज्ञाकर्म किया जाता है, वह नामनिक्षेप कहलाता है ।।१७५।। साकार या निराकार पाषाण आदिमें 'यह वही है' इस प्रकारके अभिप्रायसे जो अभिनिवेश किया जाता है, वह स्थापना कही जाती है ।।१७६।। आगामी कालमें गुणोंकी प्राप्तिके योग्य पदार्थ द्रव्यनिक्षेपका विषय है। और वर्तमान कालकी पर्यायसे संयुक्त पदार्थ भाव निक्षेप कहा जाता है ।।१७७।। इस प्रकार चारों विधियोंसे उत्तम भाव पूर्वक जिनेन्द्रदेवका न्यास करके शुद्ध सम्यक्त्वी श्रावकोंको अपनी शक्तिके अनुसार जिनदेवकी पूजा करनी चाहिए ।।१७८।। जिनेश्वरदेवके गुण-समूहसे अनुरंजित उत्तम साधुजनोंको सर्व पापोंका अपहरण करनेवाली भावपूजा करनी चाहिए ।।१७९।। पुण्यका विधान करनेवाली जिनपूजा भव्यजन तीनों ही सन्ध्याकालोंमें करते हैं। विधिवत् की गई जिनपूजा जन्म-जन्मके उपार्जित पापसमूहको नष्ट कर देती है ।।१८०।। निरन्तर प्रभातमें की गई जिनपूजा पापको दूर करती है, मध्याह्नमें की गई जिनपूजा लक्ष्मीको करती है और सन्ध्याकालमें की गई जिनपूजा मोक्षको देती है ।।१८१।। इस प्रकार श्रावकके दूसरे पदमें जिनपूजा-का वर्णन करके अब मैं सर्व सुखको करनेवाली गुरूपास्तिका वर्णन करूँगा ।।१८२।। श्रावकोंको मनोवांछित कार्यकी सिद्धिके लिए, इस लोकमें संशयरूप अन्धकारके नाशके लिए और परलोकमें

उत्तमा मध्यमा ये च जघन्या अपि मानवाः । गुरुं विना न तेऽपि स्युर्गुरुः सेव्यो महानतः ॥१८४
शुभाशुभमहाकर्मकलिता मनुजाः सदा । गुरूपदिष्टाचारेण जायन्ते गुरवो गुणैः ॥१८५
शिष्यानुग्रहकर्ता यो दुरितेन्धनपावकः । पञ्चेन्द्रियमहाभोगविरतो विश्ववन्दितः ॥१८६
प्रमादमदमुक्तात्मा जिनाज्ञाप्रतिपालकः । शास्त्राणां पाठने शक्तः पठने च सदा पटुः ॥१८७
धर्मोपदेशपीयूषप्रक्षालितमनोमलः । सम्यक्त्वरत्नालङ्कारः सम्यग्ज्ञानसुभोजनः ॥१८८
सम्यक्चारित्रसद्वस्त्रवेष्टिताङ्गो विशुद्धधीः । महोपशममातङ्गसमारूढः शुभाशयः ॥१८९
सर्वजीवहितः सर्वजीवकल्याणकारकः । पापमिथ्यात्वदुष्कर्महारको भवतारकः ॥१९०
मुक्तबाह्यान्तरग्रन्थो जैनधर्मप्रभावकः । गणी सर्वगणाधारो मूलमार्गप्रदर्शकः ॥१९१
इत्यादिगुणसद्रत्नसमुद्रो गुरुराट् भवेत् । भव्यजीवान् भवाम्भोधौ पततोऽप्यवलम्बनम् ॥१९२
गुरुं विना न कोऽप्यस्ति भव्यानां भवतारकः । मोक्षमार्गप्रणेता च सेव्योऽतः श्रीगुरुः सताम् ॥१९३
गुरूणां गुणयुक्तानां विधेयो विनयो महान् । मनोवचनकायैश्च कृतकारितसम्मतैः ॥१९४
विनयो विदुषा कार्यश्चतुर्धा धर्मसद्धिया । विनयेन गुरोश्चित्तं रञ्जतेऽहर्निशं ननु ॥१९५
सुराः सेवां प्रकुर्वन्ति दासत्वं रिपवोऽखिलाः । सिध्यन्ति विविधा विद्या विनयादेव धीमताम् ॥१९६

सुख पानेके लिए गुरुओंकी सेवा करनी चाहिए ॥१८३॥ संसारमें जितने भी उत्तम, मध्यम और जघन्य मनुष्य हैं, वे भी गुरुके विना नहीं रहते हैं; अतः श्रावकको महान् गुरुकी सेवा करनी ही चाहिए ॥१८४॥ मनुष्य सदा ही शुभ और अशुभ महाकर्म करते रहते हैं, अतः वे गुरुके द्वारा उपदिष्ट आचारसे शुद्ध होकर गुणोंसे गुरु बन जाते हैं ॥१८५॥ अब आचार्य गुरुका स्वरूप कहते हैं—जो शिष्योंका अनुग्रह करनेवाला हो, पापरूप इन्धनको जलानेके लिए अग्नितुल्य हो, पाँचों इन्द्रियोंके महान् भोगोंसे विरक्त हो, विश्ववन्दित हो, प्रमाद और मदसे विमुक्त हो, जिन-आज्ञाका प्रतिपालक हो, शास्त्रोंके पढ़ानेमें सदा निरत रहता हो और स्वयं भी शास्त्र-पठनमें पटु हो, धर्मोपदेशरूप अमृतसे लोगोंके मनोमलको धो देनेवाला हो, सम्यक्त्वरूप रत्नसे अलंकृत हो, सम्यग्ज्ञानरूप उत्तम भोजन करनेवाला हो, जिसका शरीर सम्यक्चारित्ररूप उत्तम वस्त्रसे वेष्टित हो, विशुद्ध बुद्धि हो, महान् उपशमभावरूप गजराजपर समारूढ हो, उत्तम अभिप्रायवाला हो, सर्वजीवोंका हितैषी और सर्वप्राणियोंका कल्याणकर्त्ता हो, पाप, मिथ्यात्व और दुष्कर्मोंका दूर करनेवाला हो, संसारसे पार उतारनेवाला हो, बाहरी और भीतरी परिग्रहसे विमुक्त हो, जैन-धर्मकी प्रभावना करनेवाला हो, गणका स्वामी हो, सर्वगणका आधार हो और जैनधर्मके मूल मार्गका प्रदर्शक हो । इनको आदि लेकर अनेक उत्तम गुणरूप रत्नोंका सागर हो, ऐसा गुरुराज ही संसार-समुद्रमें पड़े हुए भव्य जीवोंको हस्तावलम्बन दे सकता है ॥१८६–१९२॥

गुरुके विना भव्य जीवोंको भवसे पार उतारनेवाला और कोई भी नहीं है, और न गुरुके विना अन्य कोई मोक्षमार्गका प्रणेता ही हो सकता है । अतः सज्जनोंको श्रीगुरुकी सेवा करनी चाहिये ॥१९३॥ गुणोंसे संयुक्त गुरुओंका मन वचन कायसे और कृत कारित अनुमोदनासे महान् विनय करनी चाहिये ॥१९४॥ धर्ममें सद्बुद्धि रखनेवाले विद्वान्‌को दर्शन ज्ञान चारित्र और उपचार-रूप चार प्रकारकी विनय करनी चाहिये । विनयके द्वारा निश्चयसे गुरुका चित्त रात दिन प्रसन्न रहता है ॥१९५॥ विनयसे देव सेवा करते हैं, सर्वशत्रु दासपना करते हैं और विनयसे ही बुद्धिमानों-

गुरूपास्तिमथोऽप्युक्त्वा वक्ष्ये स्वाध्यायसंयमौ । तपो दानं च भव्यानां सुखसिद्ध्यर्थमीप्सि ॥१९७
ध्याय: पञ्चधा प्रोक्तो लोकानां ज्ञानदायक: । वाचना पृच्छनाऽऽम्नायोऽनुप्रेक्षा धर्मदेशना ॥१९८
इति वाक्यार्थसन्दर्भहीना वाच्या न वाचना । सन्देहहानये व्यक्ता गुरुपार्श्वे हि पृच्छना ॥१९९
आम्नाय: शुद्धसंघोषोऽनुप्रेक्षाऽप्यनुचिन्तनम् । धर्मोपदेश इत्येवं स्वाध्याय: धा भवेत् ॥२००
संयमो द्विविधो ज्ञेय आद्यश्चेन्द्रियसंयम: । इन्द्रियार्थनिवृत्त्युत्थो द्वितीय: प्राणि : ॥२०१
प्रथमं सेवमान: स्यात्सकलप्रिय: । पुमानिन्द्रनरेन्द्रादिपदभोक्ता भवातिग: ॥२०२
वने करी मदोन्मत्त: करिणीस्पर्शलोलुप: । बन्धनं ताडनं प्राप्त: पारवश्यमुपागत: ॥२०३
अगाध सम्पूर्णनदीनदसरस्सु च । गले संविद्ध्यते मत्स्यो रसनेन्द्रियवञ्चित: ॥२०४
घ्राणेन्द्रियसमासक्तो मधुलिट् पङ्कजस्थित: । तत्रैव म्रियते मूढोऽस्तंगते च दिवाकरे ॥२०५
नयनेन्द्रियसंसक्त: शलभो दीपतेजसा । अतीवमू : पतित्वा म्रियतेऽत्र च ॥२०६
श्रवणेन्द्रिययोगेन गेया : कुरङ्गक: । व्याधेन बाणसंविद्धो म्रियते क्षणमात्रत: ॥२०७
एकैकेन्द्रियसंसक्ता जीवा दु:खमुपागता: । पञ्चेन्द्रियवशा: के न दु:खिन: स्युर्भवे भवे ॥२०८
मनोऽभिधानभूपालप्रेरितेन्द्रियभृत्यका: । स्वस्वकार्येषु वर्तन्ते विचारपरिवर्जिता: ॥२०९

को नाना प्रकारकी विद्याएँ सिद्ध होती हैं ॥१९६॥ इस प्रकार गुरूपास्तिको कहकर अब मैं भव्य-जनोंके अभीष्ट सुखकी सिद्धिके लिये स्वाध्याय, संयम, तप और दानका वर्णन करूँगा ॥१९७॥ लोगोंको ज्ञानका देनेवाला स्वाध्याय पाँच प्रकारका कहा गया है—वाचना, पृच्छना, आम्नाय, अनुप्रेक्षा और धर्मोपदेश ॥१९८॥ (आगमके शब्द और अर्थका दूसरोंको निर्दोष प्रतिपादन करना वाचना स्वाध्याय है।) अतः वाक्यके अर्थ-सन्दर्भसे हीन वाचना कभी नहीं करनी चाहिए। अपने सन्देहको दूर करनेके लिए गुरुके पासमें प्रश्न पूछकर स्पष्ट अर्थ-बोध करना पृच्छना स्वाध्याय है ॥१९९॥ ग्रन्थका शुद्ध उच्चारण करना आम्नाय स्वाध्याय है। ज्ञात तत्त्वके स्वरूपका बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है। भव्योंके लिए धर्मका उपदेश करना धर्मोपदेश नामका स्वाध्याय है। इस प्रकार स्वाध्याय पाँच प्रकारका होता है ॥२००॥ संयम दो प्रकारका जानना चाहिए—पहला इन्द्रियसंयम और दूसरा प्राणिसंयम। पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंकी निवृत्ति करना इन्द्रियसंयम है और छह कायके जीवोंकी रक्षा करना प्राणिसंयम है ॥२०१॥ पहले इन्द्रियसंयमको सेवन करनेवाला मनुष्य सबका प्यारा होता है। वह पुरुष इन्द्र नरेद्र आदि पदोंको भोगकर संसारके पार पहुँचता है ॥२०२॥ देखो—वनमें मदोन्मत्त हस्ती हस्तिनीके स्पर्शका लोलुपी होकर परवश होता हुआ बन्धन और ताडनको प्राप्त होता है ॥२०३॥ अगाधजलसे भरे हुए नदी, नद और सरोवरोंमें रहनेवाला मत्स्य रसनेन्द्रियके वशंगत होकर गलेमें बंशीके द्वारा बेधा जाता है ॥२०४॥ कमलमें बैठा मूढ भ्रमर घ्राणेन्द्रियके विषयमें आसक्त होकर सूर्यके अस्त हो जानेपर वहीं मरणको प्राप्त होता है ॥२०५॥ नेत्रेन्द्रियके विषयमें आसक्त शलभ दीपकके तेजसे अतीव मूढताको प्राप्त होकर उसीमें गिरकर इस लोकमें मरणको प्राप्त होता है ॥२०६॥ कर्णेन्द्रियके विषयसे गीत सुननेमें आसक्त हरिण व्याधके बाणसे बेधित होकर क्षणमात्रमें मारा जाता है ॥२०७॥ जब एक-एक इन्द्रियके विषयमें आसक्त ये जीव मरणके दुःखको प्राप्त होते हैं तब जो पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंके वश हो रहे हैं, वे भव-भवमें क्यों न दुखी होंगे? अवश्य ही दुखी होंगे ॥२०८॥ मन नामके राजाके आदेशसे प्रेरित ये इन्द्रियरूपी भृत्य (नौकर) विचार-रहित होकर अपने-अपने कार्योंमें संलग्न रहते हैं ॥२०९॥ इन्द्रियरूप भृत्योंसे रहित मन पंगु पुरुषके समान

श्रेन्द्रियभृत्यैश्च रहितं पङ्गुवत्सदा। स्वस्थानस्थं विकल्पानां जालं रचयति ध्रुवम् ॥२१०
मनोरोधाद्विलीयेत पापं प्राक्कृतमञ्जसा। विषयेषु न वर्तेत नरोऽर्जयति सद्-वृषम् ॥२११
मनो न चञ्चलं यस्य तस्य देवा वरप्रदाः। दानपूजोपवासाद्याः सफलाः स्युः सुचेतसः ॥२१२
पञ्चेन्द्रियदमादेव दुर्धरं चरितं चिरम्। क्षमः पालयितुं प्राज्ञो जागर्तीति दिवानिशम् ॥२१३
जीवा यत्र हि रक्ष्यन्ते स्थावराः पञ्चधा त्रसाः। विकलास्त्रिविधाश्चैव रक्षणीयाः प्रयत्नतः ॥२१४
पञ्चाक्षा द्विप्रकाराश्च संज्ञिनोऽसंज्ञिनस्तथा। पर्याप्तास्ते तथैवापर्याप्ताः स प्राणिसंयमः ॥२१५
प्राणिहिंसापरित्यागात्सुकृतं जायते महत्। दुष्कृतं दूरतो याति दयार्द्रमनसः सदा ॥२१६
कारुण्यकलितस्वान्तप्राणिनां प्राणरक्षणात्। न दुःखं जायते क्वापि तोषः सम्पद्यते सदा ॥२१७
स्वाध्यायं संयमं चापि चतुर्थे च पदेऽन्तरे। कथयित्वा प्रवक्ष्येऽहं तपोदानाख्यकर्मणी ॥२१८
बाह्यमाभ्यन्तरं चेति तपो द्विविधमुच्यते। एकैकं षड्विधं ज्ञेयं कर्मकक्षदवानलम् ॥२१९
तपोऽनशनकं चावमोदर्यं च द्वितीयकम्। वृत्तिसंख्याभिधानं च रसत्यागाभिधं ततः ॥२२०
पञ्चमं परमं विद्धि विविक्तशयनासनम्। कायक्लेशाभिधं षष्ठं तपोऽतीव प्रियं सताम् ॥२२१
प्रायश्चित्तं च विनयो वैयावृत्त्यं विशेषतः। स्वाध्यायश्चापि व्युत्सर्गो ध्यानं षोढेति तन्मतम् ॥२२२

होता है और वह अपने स्थानपर स्थित रहते हुए ही नियमसे नाना प्रकारके संकल्प-विकल्पोंका जाल रचता रहता है ॥२१०॥ मनके निरोध करनेसे यह फिर विषयोंमें नहीं प्रवर्तता है, उस समय पूर्वकृत पाप नियमसे विलीन हो जाते हैं और मन शान्त होकर उत्तम धर्मका उपार्जन करता है ॥२११॥ जिसका मन चंचल नहीं है, उसको देवता अभीष्ट वर प्रदान करते हैं, तथा उसी सुचेता पुरुषके दान पूजा और उपवास आदिक सफल होते हैं ॥२१२॥ पाँचों इन्द्रियोंके दमन करनेसे ही ज्ञानी पुरुष चिरकालसे दुर्धर चारित्रको रात-दिन पालन करनेके लिए समर्थ होता है ॥२१३॥ इस प्रकार इन्द्रिय संयमका वर्णन किया।

अब प्राणिसंयमका निरूपण करते हैं—जहाँपर पाँच प्रकारके स्थावर जीवों और त्रस जीवोंकी रक्षा की जाती है, वहाँपर प्राणिसंयम होता है। प्राणिसंयम पालन करनेवाले पुरुषको तीन प्रकारके विकलेन्द्रिय जीवोंकी प्रयत्न पूर्वक रक्षा करनी चाहिए ॥२१४॥ पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकारके होते हैं—संज्ञी और असंज्ञी। ये सभी उपर्युक्त जीव पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक भी होते हैं। इन सर्व प्रकारके जीवोंकी रक्षा करना प्राणिसंयम है ॥२१५॥ प्राणियोंकी हिंसाके परित्यागसे महान् सुकृत (पुण्य) होता है और उस दयालुचित्त पुरुषके दुष्कृत (पाप) सदा दूर भागते हैं ॥२१६॥ प्राणियोंके प्राणोंकी रक्षा करनेसे करुणा-संयुक्त चित्तवाले जीवोंके कहींपर भी दुःख नहीं होता है और सदा सन्तोष प्राप्त होता है ॥२१७॥ इस प्रकार तृतीय और चतुर्थ पदमें स्वाध्याय और संयमको कहकर अब मैं पाँचवें तप और छठे दान नामके आवश्यक कर्मोंको कहूँगा ॥२१८॥ बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे तप दो प्रकारका कहा गया है। ये दोनों ही छह छह प्रकारके हैं। तपको कर्मरूपी वनके जलानेके लिए दावानल जानना चाहिए ॥२१९॥ बाह्य तप छह प्रकारका है—१. अनशन, २. अवमोदर्य, ३. वृत्तिपरिसंख्यान, ४. रसपरित्याग, ५. विविक्तशय्यासन और ६. कायक्लेश। ये तप सन्तजनोंको अतीव प्यारे होते हैं ॥२२०–२२१॥ अन्तरंग तप भी छह प्रकारका माना गया है—१. प्रायश्चित्त, २. विनय, ३. वैयावृत्य, ४. स्वाध्याय, ५. व्युत्सर्ग और ध्यान ॥२२२॥ यह बारह प्रकारका तप सम्यक् प्रकारसे तप करके मुनीश्वर घातिया कर्मोंका क्षय

तपो द्वादशभेदं च सम्यक् तप्त्वा मुनीश्वरः । घाति क्षयं कृत्वा केवली च शिवं व्रजेत् ॥२२३
दानसंज्ञं महाकर्म गृहस्थानां सुखाकरम् । षष्ठं वक्ष्ये सुभोगादिदायकं दुःखनाशकम् ॥२२४
दानं लोकान् वशीकर्तुं प्रथमं कारणं म् । दानं गुरुत्वसद्धेतुकुलजातिप्रकाश ॥२२५
दानमाहारदानं ज्ञानदानं तथा परम् । भैषज्यमभयं चेति दानानि जिनशासने ॥२२६
आहारः सर्वजीवानां सद्यः सुखविधायकः । ध्यानाध्ययनकर्माणि कर्तुं तस्मात्क्षमो नरः ॥२२७
अन्नदानं दानं न भूतं भुवनत्रये । न भवत्यपि नो भावि ततोऽन्यल्लोभवर्धकम् ॥२२८
श्रीषेणः समभूद् राजाऽऽहारदानात्प्रसिद्धिभाक् । शान्तिसत्तीर्थकृच्चक्री लोकानां सुखदायकः ॥२२९
केवलज्ञानसाम्राज्यकारणं कर्मनाशकम् । ज्ञानदानं प्रदातव्यं योग्यपात्राय पावनम् ॥२३०
विवेकिनो विनीताश्च गुरुभक्तिपरायणाः । ये शिष्याः सद्व्रताचारास्ते पाठ्याः पुण्यहेतवे ॥२३१
दाता गुरुश्च शिष्या हि त्रिभिः स्याच्छास्त्रविस्तरः । सामग्री सकलं कार्यं सिद्धत्येव न संशयः २३२
पुस्तकार्चाप्रदानादिविधिना विगतभ्रमः । कौण्डेश इव पुण्यात्मा प्रशस्यः स्याज्जगत्त्रये ॥२३३
त्रिविधेभ्यः सुपात्रेभ्यो रोगनिर्णाशहेतवे । औषधं विविधं देयं विधिपूर्वं विचक्षणैः ॥२३४
निर्दोषं प्रासुकं शस्यं त्वनिन्द्यं भक्ष्यमुत्तमैः । म्लेच्छाद्यस्पृश्यतापेतं देयमौषधमुत्तमम् ॥२३५
पात्रेभ्यो निन्द्यमस्पृश्यमौषधं चेत्प्रदीयते । तद्दानान्नरकग्रामभागी स्याच्च भवे भवे ॥२३६

करके और केवली होकर मोक्षको जाते हैं ॥२२३॥ अब मैं गृहस्थोंको सुखका निधानभूत दान नामके छठे महान् आवश्यक कर्मको कहूँगा, जो कि उत्तम भोग आदिका दायक और दुःखोंका नाशक है ॥२२४॥ लोगोंको अपने वशमें करनेके लिए दान प्रथम कारण माना गया है। दान गुरुपनेका उत्तम कारण है और अपने कुल एवं जातिका मुख उज्ज्वल करनेवाला है ॥२२५॥ जैन शासनमें आहारदान, ज्ञानदान, औषधिदान और अभयदान ये चार प्रकारके दान कहे गये हैं ॥२२६॥ आहार दान सभी जीवोंको शीघ्र सुख देता है। इस आहारके प्रभावसे ही मनुष्य ध्यान और स्वाध्याय कार्य करनेके लिए समर्थ होता है ॥२२७॥ अन्नदानके समान दान तीन भुवनमें न तो हुआ है, न है और न आगे होगा। इससे भिन्न अन्य दान तो लोभके वर्धक हैं, किन्तु अन्नदान लोभका नाशक है ॥२२८॥ आहारदानसे श्रीषेण राजा उस जन्ममें तो प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ और अन्य भवमें शान्तिनाथ तीर्थंकर और चक्रवर्ती पद-धारक होके लोगोंको सुखका देनेवाला हुआ ॥२२९॥ ज्ञानदान केवलज्ञान साम्राज्यकी प्राप्तिका कारण है और कर्मोका नाशक है, इसलिए योग्य पात्रको पवित्र ज्ञानदान सदा देना चाहिए ॥२३०॥ जो शिष्य विवेकी हैं, विनीत हैं, गुरुभक्तिमें तत्पर हैं और सद्-व्रतोंका आचरण करनेवाले हैं, उन्हें पुण्य-प्राप्तिके लिए पढ़ाना चाहिए ॥२३१॥ ज्ञान-सामग्रीका दाता, पढ़ानेवाला गुरु और पढ़नेवाले शिष्य ये तीनोंके द्वारा ही शास्त्रोंका विस्तार होता है। सम्पूर्ण सामग्रीके मिलनेपर कार्य सिद्ध होता है, इसमें कोई संशय नहीं है ॥२३२॥ पुस्तक-शास्त्रकी पूजा और उसके दानकी विधिसे विभ्रम-रहित होकर पुण्यात्मा मनुष्य कौण्डेशके समान तीन जगत्में प्रशंसनीय होता है ॥२३३॥

तीनों प्रकारके सुपात्रोंको उनके रोगको दूर करनेके लिए चतुरजनोंको अनेक प्रकारकी औषधि विधि पूर्वक देनी चाहिये ॥२३४॥ दानमें देने योग्य औषधि निर्दोष हो, प्रासुक हो, प्रशंसनीय हो, अनिन्द्य हो, भक्ष्य हो, और म्लेच्छ आदि नीच जनोंके स्पर्शसे रहित हो। ऐसी उत्तम औषधि ही श्रेष्ठ पुरुषोंको देनी चाहिये ॥२३५॥ यदि पात्रोंके लिए निन्द्य और अस्पृश्य औषधि

नाम्ना वृषभसेनाया श्रेष्ठिपुत्री पवित्रवाक् । औषधस्य प्रदानेनाभूद् ऋद्धिपरिमण्डिता ॥२३७
निर्भयोऽभयदानेन सम्पनीपद्यते पुमान् । चिरञ्जीवी जगज्जिष्णुर्यशस्वी च जितेन्द्रियः ॥२३८
सम्यक्त्वव्रतशीलानि तपांसि विविधान्यपि । अभयाख्येन दानेन सफलानि भवन्ति च ॥२३९
सूकरेण च सम्प्राप्तं तद्दानफलमुत्तमम् । ततो मुक्त्वा चतुर्दानान्यन्यानि च परित्यजेत् ॥२४०
दानेन पुण्यमाप्नोति प्रसिद्धं कुलमप्यहो । शीलं सकलकल्याणं विवेकं विनयं सुखम् ॥२४१
इति मत्वा शुभं दानं सदा देयं महोर्जितैः । येन स्वर्गादिजं सौख्यं भुक्त्वा भव्यः शिवी भवेत् ॥२४२
इति षट्कर्मभिर्नित्यं गृही श्रीजिनभाषितम् । धर्मं कुर्वन् गृहारम्भषड्जं वा पापमस्यति ॥२४३
खण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी प्रमार्जनी । गृहारम्भाः पञ्च चैते षष्ठं द्रव्यसमर्जनम् ॥२४४
श्रावको जायते षड्भिः कर्मभिः कर्मघातिभिः । अहोरात्रसमुद्भूतं पापं तैरेव क्षिप्यते ॥२४५
सम्यक्त्वं निर्मलं पुंसामेभिः सम्बोभवीति च । एभिः श्रीजिनधर्मस्याराधको जायते नरः २४६
इति स्वाध्यायमुख्यानि चतुष्कर्माणि सत्पदे । चतुर्थे कथितानीह वक्ष्येऽहं ज्ञानमुत्तरे ॥२४७

इत्थमात्मनि संरोप्य सम्यक्त्वं मुक्तिकाङ्क्षिभिः ।
समुपास्यं ततः सम्यग्ज्ञानं साम्नायमुक्तिभिः ॥२४८

दी जाती है, तो वह दाता उसके देनेसे भव-भवमें नरक-ग्राममें जानेवाला होता है ॥२३६॥ पवित्र वाणी बोलनेवाली वृषभसेना नामकी श्रेष्ठिपुत्री औषधिके दानसे सर्वौषधऋद्धिसे मण्डित हुई ॥२३७॥ अभयदान देनेसे मनुष्य सदा निर्भय रहता है और चिरजीवी, जगज्जेता, यशस्वी एवं जितेन्द्रिय होता है ॥२३८॥ अभय नामक इस दानके देनेसे सम्यक्त्व, व्रत, शील और अनेक प्रकारके तप सफल होते हैं ॥२३९॥ इस अभय दानके फलसे सूकरने उत्तम फल प्राप्त किया। उपर्युक्त चारों दानोंके सिवाय अन्य दान नहीं देना चाहिये ॥२४०॥ दान देनेसे मनुष्य उत्तम पुण्यको प्राप्त करता है और प्रसिद्ध कुलको भी पाता है। दानसे शील, सर्व कल्याण, विवेक, विनय और सुख प्राप्त होता है ॥२४१॥ ऐसा जानकर महान् पुरुषार्थी जनोंको सदा उत्तम दान देना चाहिये। इसके प्रभावसे भव्य पुरुष स्वर्गादिके सुख भोगकर अन्तमें शिवपदको प्राप्त करता है ॥२४२॥ इस प्रकार जो गृहस्थ देवपूजादि षट्कर्मोंके द्वारा नित्य ही जिनभाषित धर्मको करता है, वह छह प्रकारके गृहारम्भ-जनित पापोंका नाश करता है ॥२४३॥ वे गृहारम्भवाले छह प्रकारके पाप ये हैं—खण्डनी (ऊखली), पेषणी (चक्की), चूल्हा, उदकुम्भी (पानीका परंडा) और प्रमार्जनी (बुहारी)। पाँच तो ये और छठा द्रव्यका उपार्जन। गृहस्थके ये छह गृहारम्भ सदा होते रहते हैं, अतः इनके द्वारा संचित पापोंको दूर करनेके लिए श्रावकको देवपूजादि छह आवश्यक कार्य सदा करते रहना चाहिये ॥२४४॥ पेषणी, कुट्टनी आदि छह प्रकारके आरम्भ कार्योंके द्वारा रात-दिन उपार्जन किये गये पापको श्रावक देव पूजादि कर्म-घातक छह आवश्यक कार्योंके द्वारा नाश करता है ॥२४५॥ इन छह आवश्यकोंके द्वारा ही मनुष्योंका सम्यग्दर्शन निर्मल होता है और इनके द्वारा ही मनुष्य जिनधर्मका आराधक होता है ॥२४६॥ इस प्रकार स्वाध्याय है मुख्य जिनमें ऐसे चार आवश्यक कर्म अर्थात् स्वाध्याय, संयम, तप और दान चौथे सत्पदमें कहे। अब इससे आगे मैं सम्यग्ज्ञानका वर्णन करूँगा ॥२४७॥ इस प्रकार मुक्तिकी आकांक्षा रखनेवाले गृहस्थोंको आत्मामें सम्यग्दर्शनका संरोपण करके तत्पश्चात् प्रवचनकी उक्तियोंसे आम्नाय-पूर्वक सम्यग्ज्ञानकी उपासना करनी चाहिये ॥२४८॥ यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक ही कालसे जन्मको प्राप्त

एककालादपि प्राप्तजन्मनोर्दृष्टिवोधयोः । पृथगाराधनं प्रोक्तं भिन्नत्वं चापि लक्षणात् ॥२४९
सम्यग्ज्ञानं मतं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं यतः । ज्ञानस्याराधनं प्रोक्तं सम्यक्त्वानन्तरं ततः ॥२५०
त्रैकाल्यं त्रिजगत्तत्त्वं हेयादेयप्रकाशनम् । यत्करोतीह जीवानां सम्यग्ज्ञानं तदुच्यते ॥२५१
ग्रन्थार्थोभयपूर्णं कालविनयसोपधानं च । बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यम् ॥२५२
तस्यानुयोगाश्चत्वारो विदिता वेदसंज्ञया । जिनागमे वेदसंज्ञा नान्ये वेदाः प्रकल्पिता ॥२५३
यत्र जिनादिविचित्रोत्तमपुरुषचरित्रकीर्तनं पुण्यम् । प्रथमानुयोगसम्यग्ज्ञानं मुनयर ाहुश्च ॥२५४
नरकद्वीपपयोनिधिगिरिवरसुरलोकवातवलयानाम् । परिमाणादिप्रकटनदक्षः करणानुयोगोऽयम् २५५
मितिगुप्तिलक्षणचरणं यो वदति तत्फलं चापि । चरणानुयोगसम्यग्ज्ञानं तज्ज्ञानिनो जगदुः ॥२५६
षड्द्रव्यनवपदार्थास्तिकायसहितानि तत्त्वानि । द्रव्यानुयोगदीपो विमलः सम्यक् प्रकाशयति २५७
शोकानोकुहभेदैकपरशुं जीवनम् । मुक्तिश्रीवोधजनकं सम्यग्ज्ञानं श्रयन्तु च ॥२५८
इत्थं विधूतदृग्मोहैर्भव्यैः प श्रये । सम्यग्ज्ञानं विभाव्यात्र चारित्रमवलम्ब्यताम् ॥२५९
अज्ञानपूर्वकं वृत्तं सम्यग् नाप्नोति यज्जनः । संज्ञानानन्तरं प्रोक्तं व्रतस्याराधनं ततः ॥२६०
सम्यक्समस्तसा वियोगाद् व्रतमुत्तमम् । तदेव व्रतमाख्यातं भेदं तदन्तरे ॥२६१

होते हैं, तथापि लक्षणकी अपेक्षासे उन दोनोंमें भिन्नता है, अतः सम्यग्दर्शनसे सम्यग्ज्ञानका पृथक् आराधन करना कहा गया है ॥२४९॥ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इन दोनोंमें सम्यग्दर्शन यतः कारण है, अतः सम्यग्ज्ञान उसका कार्य माना गया है। इसलिए सम्यग्दर्शनके अनन्तर सम्यग्ज्ञानकी आराधना कही गयी है ॥२५०॥ जो त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती तत्त्वोंमेंसे जीवोंको हेय और उपादेय तत्त्वका प्रकाशन करता है, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं ॥२५१॥ ज्ञानकी आराधना ग्रन्थशुद्धि, अर्थशुद्धि, उभयशुद्धि, कालशुद्धि, विनयशुद्धि पूर्वक उपधान और बहुमानके साथ निह्नव-रहित होकर करनी चाहिये ॥२५२॥ जिनागममें उस सम्यग्ज्ञानके वेदसंज्ञक ये चार अनुयोग कहे गये हैं—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। इन अनुयोगोंकी ही वेदसंज्ञा है। इनके अतिरिक्त जो वेद हैं, वे सब पर-परिकल्पित हैं, यथार्थ नहीं है ॥२५३॥ जिसमें जिन तीर्थंकर और चक्रवर्ती आदि अनेक उत्तम पुरुषोंके चरित्रोंका कथन हो, पुण्यका वर्णन हो, उसे मुनिजनोंने प्रथमानुयोग नामका सम्यग्ज्ञान कहा है ॥२५४॥ जो नरक, द्वीप, समुद्र, पर्वत, देवलोक, और वातवलयोंके परिमाण, संख्या आदिके प्रकट करनेमें दक्ष है, वह करणानुयोग कहलाता है ॥२५५॥ जो व्रत, समिति, गुप्तिस्वरूप चारित्रका और उसके फलका भी प्रतिपादन करता है उसे ज्ञानीजनोंने चरणानुयोगरूप सम्यग्ज्ञान कहा है ॥२५६॥ द्रव्यानुयोगरूप निर्मल दीपक छह द्रव्य, नौ पदार्थ और पाँच अस्तिकायके सहित सात तत्त्वोंको उत्तम प्रकारसे प्रकाशित करता है ॥२५७॥ शोकरूपी वृक्षके भेदन करनेके लिए अद्वितीय परशुके समान, उपशम या समभावका जीवन स्वरूप और मुक्ति लक्ष्मीका ज्ञान-उत्पादक सम्यग्ज्ञानका भव्य जीवोंको आश्रय लेना चाहिये ॥२५८॥ इस प्रकार जिनका दर्शनमोहकर्म दूर हो गया है, ऐसे भव्योंको पंचम पदमें सम्यग्ज्ञानकी आराधना करके सम्यक्चारित्रका आलम्बन लेना चाहिए ॥२५९॥ यतः अज्ञानपूर्वक धारण किया गया चारित्र सम्यक्पनेको प्राप्त नहीं होता है, अतः सम्यग्ज्ञानके पश्चात् सम्यक्चारित्रकी आराधना करना कहा गया है ॥२६०॥ सम्यक् प्रकार मन वचन कायसे समस्त पापकार्योंके त्याग करनेको उत्तम व्रत कहते हैं। उसके अवान्तर भेदोंकी अपेक्षा वह व्रत

सकलं विकलं प्रोक्तं द्विभेदं व्रतमुत्तमम् । सकलस्य त्रिदिग्भेदा विकलस्य च द्वादश ॥२६२
मैरेयपललक्षौद्रपञ्चोदुम्बरवर्जनम् । व्रतं जिघृक्षुणा पूर्वं विधातव्यं प्रयत्नतः ॥२६३
मनोमोहस्य हेतुत्वान्निदानत्वाद् भवापदाम् । सद्भिः सदा हेयमिहामुत्र च दोषकृत् ॥२६४
मद्याद्यदुसुता नष्टा एकपात्तापसः खलः । अङ्गारकः खलो जातः पिङ्गलो मद्यदोषतः ॥२६५
हन्ता दाता च संस्कर्ताऽनुमन्ता भक्षकस्तया । क्रेता पलस्य विक्रेता यः स दुर्गतिभाजनम् ॥२६६
नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् । न च प्राणिवधात्स्वर्गस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥२६७
मां स भक्षयति प्रेत्य यस्य मांसमिहाद्म्यहम् । एतन्मांसस्य मांसत्वे निरुक्ति मनुरब्रवीत् ॥२६८
न मांससेवने दोषो न मद्ये न च मैथुने । प्रवृत्तिरेवं भूतानामित्यूचुर्विषयार्थिनः ॥२६९
अनादिकालाद् भ्रमतां भवाब्धौ निर्दयात्मनाम् । कामार्तचेतसां याति वचः पेशलतामदः ॥२७०
कृपालुतार्द्रबुद्धीनां चारित्राचारशालिनाम् । अमृषाभाषिणामेषां न स्तुत्या गीः क्वचिन्नृणाम् ॥२७१
सन्दिग्धेऽपि परे लोके त्याज्यमेवाशुभं बुधैः । यदि न स्यात्ततः किं स्यादस्ति चेन्नास्तिको हतः ॥२७२

पाँच भेदरूप कहा गया है ॥२६१॥ मूलमें व्रतके दो भेद कहे गये हैं—सकलव्रत और विकलव्रत। सकलव्रतके पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप तेरह भेद हैं और विकलव्रतके पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतरूप बारह भेद हैं ॥२६२॥ व्रतको ग्रहण करनेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको सबसे पहले प्रयत्नपूर्वक मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलोंके त्यागरूप आठ मूलगुणव्रत धारण करना चाहिए ॥२६३॥ मद्य मनके मोहित करनेका कारण है, संसारकी आपदाओंका निदान है और इस लोक तथा परलोकमें अनेक दोषोंका करनेवाला है, इसलिए सज्जनोंको उसका सदा त्याग करना चाहिए ॥२६४॥ मद्यपानसे यदुपुत्र (यादव) नष्ट हुए, मद्यदोषसे एकपाद नामका तापस नष्ट हुआ, अंगारक नामका तापस और पिंगल नामका राजा भी मद्यके दोषसे नष्ट हुआ ॥२६५॥ मांसके लिए जीवका मारनेवाला, मांसको देनेवाला, मांसको पकानेवाला, मांस खानेकी अनुमोदना करनेवाला, मांसका भक्षक, मांसको खरीदनेवाला और मांसको बेचनेवाला, ये सभी दुर्गतिके पात्र हैं ॥२६६॥ प्राणियोंकी हिंसाको किये विना मांस कहींपर उत्पन्न नहीं होता है, और न प्राणिघातसे स्वर्ग ही मिलता है, इसलिए मांसको खानेका त्याग करना चाहिए ॥२६७॥ मनु ऋषिने 'मांस' की निरुक्ति इस प्रकार की है कि मैं जिसका मांस यहाँपर खाता हूँ, 'मां' मुझे 'स' वह परलोकमें खावेगा। यहीं 'मांस' की मांसता है ॥२६८॥ इन्द्रिय-विषयोंके लोलुपी लोगोंने यह कहकर लोगोंको भ्रम डाला है कि न मांस-भक्षणमें दोष है, न मद्य-पानमें और न मैथुन-सेवनमें ही दोष है। यह तो प्राणियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है ॥२६९॥ अनादिकालसे संसार-समुद्रमें परिभ्रमण करनेवाले, निर्दय-स्वभावी और कामसे पीड़ित चित्तवाले मनुष्योंको ही उक्त प्रकारके वचन अच्छे लगते हैं ॥२७०॥ किन्तु दयालुतासे जिनकी बुद्धि गीली हो रही है, जो चारित्रका आचरण करनेवाले हैं और सत्यभाषी हैं, ऐसे मनुष्योंको उक्त वाणी कहींपर भी अच्छी नहीं लगती है ॥२७१॥ जिन्हें परलोकके विषयमें सन्देह है, उन बुद्धिमानोंको भी अशुभ कार्य सदा त्याज्य ही हैं। यदि परलोक नहीं है, तो भी उससे क्या हानि है, अर्थात् बुरे कार्य न करनेका फल इस लोकमें भी अच्छा ही होता है। और यदि परलोक है, तो फिर उसका अभाव बतानेवाला नास्तिक मारा गया। अर्थात् वह परलोकमें बुरे कार्यका फल पायेगा ही ॥२७२॥ जो परलोकको उत्तम बनाना चाहते हैं, उन्हें मद्य-मांस-भक्षियोंके घरोंमें प्राण जानेपर

पानादिकं कर्म मद्यमांसाशिसद्मसु । प्राणान्तेऽपि न कुर्वीरन् परलोकाभिलाषुकाः ॥२७३
भोजनादिषु ये कुर्युरपाङ्क्तेयैः समं जनाः । संसर्गं तेऽत्र निन्द्यन्ते परलोकेऽपि दुःखिताः ॥२७४
कुत्सितागमसम्भ्रान्ताः कुतर्कहतचेतसः । वदन्ति वादिनः केचिन्नाभक्ष्यमिह किञ्चन ॥२७५
जीवयोगाविशेषो न मृगमेषादिकायवत् । मुद्गमाषादिकायोऽपि मांसमित्यपरे जगुः ॥२७६
तदयुक्तं न वाच्यं च युक्तं जैनागमे यथा । स्थावरा जङ्गमाश्चैव द्विधा जीवाः प्रकीर्तिताः ॥२७७
जङ्गमेषु भवेन्मांसं फलं च स्थावरेषु च । फलं खाद्यं भवेद् भक्ष्यं त्याज्यं मांसमभक्ष्यकम् ॥२७८
मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं भवेन्न वा मां । यद्वन्निम्बो वृक्षो वृक्षस्तु भवेन्न वा निम्बः ॥२७९

यद्वद् गरुडः पक्षी पक्षी न तु सर्व एव गरुडोऽस्ति ।
रामैव चास्ति माता माता न तु सार्विका रामा ॥२८०

प्रायश्चित्तादिशास्त्रेषु विशेषा गणनातिगाः । भक्ष्याभक्ष्यादिषु प्रोक्ता कृत्याकृत्ये विमुञ्च तान् २८१
शुद्धं दुग्धं न गोमांसं वस्तुवैचित्र्यमीदृशम् । विषघ्नं रत्नमाहेयं विषं च विपदे यतः ॥२८२
हेयं पलं पयः पेयं समे सत्यपि कारणे । विषद्रोरायुषे पत्रं मूलं तु मृतये मतम् ॥२८३

भी भोजन-पानादिक कार्य नहीं करना चाहिये ॥२७३॥ जो मनुष्य अपांक्तेय (अपनी पंक्तिमें विठाकर भोजन करानेके लिये अयोग्य) लोगोंके साथ भोजनादिमें संसर्ग करते हैं, वे मनुष्य इस लोकमें निन्दाको प्राप्त होते हैं और परलोकमें भी दुःख पाते हैं ॥२७४॥ खोटे आगमोंके अभ्याससे जिनकी वुद्धि भ्रममें पड़ रही है और कुतर्कसे जिनका चित्त विक्षिप्त हो रहा है, ऐसे कितने ही अज्ञानी वादी लोग कहते हैं कि इस लोकमें कोई भी वस्तु अभक्ष्य नहीं है ॥२७५॥ कितने ही कुतर्की कहते हैं कि हरिण, मेढा आदिके कायके समान मूँग-उड़द आदिका काय भी मांस है, क्योंकि उसमें भी जीव-संयोगकी समानतामें कोई अन्तर नहीं है। अर्थात् जैसे हरिण आदिके शरीरमें जीवका संयोग पाया जाता है, उसी प्रकार उड़द-मूँग आदि वनस्पतिकायमें भी जीवका संयोग पाया जाता है। अतः हरिण आदिके शरीरके समान उड़द-मूँग आदि भी मांसरूप ही हैं ॥२७६॥ आचार्य कहते हैं कि उन्हें ऐसा अयोग्य वचन नहीं बोलना चाहिए। क्योंकि जैन-आगममें जीव दो प्रकारके कहे गये हैं—स्थावर जीव और जंगम (त्रस) जीव ॥२७७॥ जंगम जीवोंमें मांस उत्पन्न होता है और स्थावर जीवोंमें फल उत्पन्न होते हैं। इनमेंसे फल तो खाने योग्य हैं, भक्ष्य हैं, किन्तु मांस अभक्ष्य है, खानेके योग्य नहीं है ॥२७८॥ जो मांस है, वह तो नियमसे जीवका शरीर होता है, किन्तु जो जीव शरीर है, वह मांस होता भी है और नहीं भी होता है। देखो जो नीम है, वह तो नियमसे वृक्ष है, किन्तु जो वृक्ष है, वह नीम हो भी, और न भी हो ॥२७९॥ अथवा जैसे गरुड़ तो नियमसे पक्षी है, किन्तु सभी पक्षी गरुड़ नहीं होते। और माता तो स्त्री है, किन्तु सभी स्त्रियाँ माता नहीं होती हैं ॥२८०॥ प्रायश्चित्त आदि शास्त्रोंके भीतर भक्ष्य और अभक्ष्य आदि पदार्थोंमें गणनातीत भेद कहे गये हैं, इसलिए कर्त्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय करके उनमेंसे अभक्ष्य पदार्थोंको छोड़ देना चाहिए ॥२८१॥ और भी देखो—दूध और मांस दोनों ही गायसे निकलते हैं, उनमेंसे दूध तो शुद्ध है और गोमांस शुद्ध नहीं है, इस प्रकारकी यह वस्तु विचित्रता है। मणिधर सर्पका रत्न तो विष-घातक होता है और उसका विष विपत्तिके लिये होता है, अर्थात् मारक होता है ॥२८२॥ दूध और मांस इन दोनोंके कारण समान होनेपर भी, अर्थात् एक शरीरसे उत्पन्न होनेपर भी मांस हेय है और दूध पेय है। देखो—विषवृक्षके

पञ्चगव्यं तु तैरिष्टं गोमांसे शपथः कृतः । तत्पित्तजाऽप्युपादेया प्रतिष्ठादिषु रोचना ॥२८४
शरीरावयवत्वेन मांसे दोषो न सर्पिषु । धेनुदेहस्रुतं मूत्रं न पुनः पयसा समम् ॥२८५
यथा वा तीर्थभूतेषु मुखतो निन्द्यते हि गौः । पृष्ठतो वन्द्यते सैव कियदित्थं प्रकाश्यताम् ॥२८६
तच्छाक्यसांख्यचार्वाकवेदवैद्यकपर्दिनाम् । मतं विहाय हातव्यं मांसं श्रेयोऽर्थिभिः सदा ॥२८७
मांसास्वादपराश्चैते तं पुष्यन्ति दिने दिने । अप्यन्यान्युपदिश्यन्ते जिह्वावशगता खलाः ॥२८८
अवन्तिविषये चण्डो मातङ्गो मांसवर्जनात् । यक्षाधिदेवसाम्राज्यं प्रपेदे करुणाङ्कितः ॥२८९
वकोऽथ भीमदासोऽथ सिंहसौदासनामभाक् । मांसभक्षणदोषेण गता नरकपद्धतिम् ॥२९०
अनेकजन्तुसङ्कीर्णं प्राणिघातसमुद्भवम् । लालावन्माक्षिकं दक्षः कः स्वादयितुमिच्छति ॥२९१
मधुबिन्दुकलास्वादाद् ये सत्त्वाः प्रविदारिताः । पल्लीदाहेऽपि तावन्तो भवन्ति न भवन्ति हि २९२
ग्रामद्वादशदाहोत्थं पापं भवति मानवः । मधुभक्षणसञ्जातदोषात्पूर्वमुनीरितम् ॥२९३
जग्धं मध्वौषधेनापि नरकाय न संशयः । गुडेन मिश्रितं मृत्युहेतवे भक्षितं विषम् ॥२९४
लोलाख्योऽत्र द्विजवरोऽप्यभूत्पुष्पाख्यपत्तने । मधुभक्षणदोषेण जातो दुर्गतिभाजनम् ॥२९५
राजीवलोचनो धीमान् जातो राजीवलोचनः । मधूनां त्यागजातेन जातो राजीवलोचनः ॥२९६

पत्त तो आयुष्य प्रदान करते हैं और उसका (जड़) भाग मृत्युका कारण होता है ॥२८३॥ और भी देखो—अन्य वादियोंने गायसे उत्पन्न होनेवाले दूध, दही, घी, गोवर और मूत्र इन पंचगव्योंको तो इष्ट ग्राह्य कहा है, किन्तु गोमांस-भक्षणमें शपथ की है। तथा गायके पित्त आदिसे उत्पन्न गोरोचनको प्रतिष्ठादि कार्योंमें उपादेय कहा है ॥२८४॥ शरीरके अवयवपना होते हुए भी मांस-भक्षणमें दोप कहा है, घृत-भक्षणमें नहीं। गायके देहसे निकला हुआ भी मूत्र उसीके दूधके समान नहीं माना जाता है ॥२८५॥ अथवा जैसे गायोंके शरीर तीर्थस्वरूप होनेपर भी गौ मुखकी ओरसे निन्द्य और पीठकी ओरसे वन्द्य मानी गई है। इस विषयमें इस प्रकार और कितना प्रकाश डाला जाय ? ॥२८६॥ इसलिए शाक्य (बौद्ध), सांख्य, चार्वाक (नास्तिक), वैदिक, वैद्य और कापालिक लोगोंके मतको छोड़कर कल्याणार्थी जनोंको सदा मांसका त्याग ही करना चाहिए ॥२८७॥ मांसके आस्वादनमें तत्पर ये वाममार्गी लोग दिन-दिन मांस-भक्षणका ही पोपण करते हैं और जिह्वाके वशंगत ये दुष्टजन औरोंको भी मांस-भक्षणका ही उपदेश देते हैं ॥२८८॥ देखो—अवन्तीदेशमें चण्ड नामका चाण्डाल करुणासे युक्त होकर मांस-त्यागसे यक्षाधिपतिके साम्राज्यको प्राप्त हुआ ॥२८९॥ वकराजा, भीमदास और सिंहसौदास नामका राजा, ये सब मांस-भक्षणके दोपसे नरकके मार्गको प्राप्त हुए। अतएव मांस-भक्षण सर्वथा त्याज्य है ॥२९०॥

अब मधुके दोप वर्णन करते हैं—अनेक जन्तुओंसे व्याप्त और प्राणियोंके घातसे उत्पन्न हुए लारके समान निन्द्य मधुको कौन चतुर पुरुप आस्वादन करनेकी इच्छा करेगा ? कोई भी नहीं ॥२९१॥ मधु-बिन्दुके लेश-मात्रके आस्वादन करनेसे जितने प्राणी मारे जाते हैं, उतने प्राणियोंका घात पल्ली (ग्वालोंकी टोली) के जलानेपर भी नहीं होता है ॥२९२॥ मधु-भक्षणके दोपसे उत्पन्न पाप बारह गाँवोंके जलानेके पापके समान मनुष्यको प्राप्त होता है ऐसा पूर्व मुनियोंने कहा है ॥२९३॥ औपधिके साथ खाया गया मधु भी नरक ले जानेके लिए कारण होता है। जैसे कि गुडके साथ मिलाकर खाया गया विप मृत्युका कारण होता है ॥२९४॥ देखो—पुष्पपत्तन नामके नगरमें लोलनामक श्रेष्ठ ब्राह्मण भी मधु-भक्षणके दोपसे दुर्गतिका भाजन हुआ ॥२९५॥ और मधुके त्यागसे उत्पन्न पुण्यके प्रभावसे राजीवलोचन नामक बुद्धिमान् व्यक्ति मरकर कमलके

अन्तर्मुहूर्ततो यत्र विचित्रा सत्त्वसन्ततिः । सम्   ते न तद्भक्ष्यं नवनीतं विचक्षणैः ॥२९७
नवनीतं मधुसमं जिनैः प्रोक्तं त्वभक्ष्यकम् । यः खादति न तस्यास्ति संय   लवोऽपि हि २९८
जन्तोरेकतरस्यापि रक्षणे यो विचक्षणः । नवनीतं स सेवेत कथं प्राणिगणाकुलम् ॥२९९
न्यग्रोधपिप्पलप्लक्षकाकोदुम्बरभूरुहाम् । फलान्युदुम्बरस्यापि भक्षयेन्न विचक्षणः ॥३००
स्थावराश्च त्रसा यत्र परे लक्षाः शरीरिणः । तस्य चोदुम्बरोद्भूतं खादने न   क्वचित् ॥३०१
क्षीरवृक्षफलान्यत्ति चित्रजीवकुलानि यः । संसारे पातकं   पातकं जायते बहु ॥३०२
तैलं सलिलमाज्यं वा चर्मपात्रापवित्रितम् । प्राणान्तेऽपि न गृह्णीयान्नरः सद्-व्रतभूषितः ॥३०३
देशकालवशात्तस्यमाद्रियन्तेऽत्र ये जनाः । जिनोदितमकुर्वन्तो निन्द्यास्तेऽपि पदे पदे ॥३०४

अज्ञातफलमश्नातास्तथाऽशोधितशाककाः । विद्धपूगीफलास्वादा हट्टचूर्णस्य भक्षकाः ॥३०५
अपरीक्षितमालिन्यसर्पिः पयश्राशनकाः । म्लेच्छान्नभक्षकाः शूद्रनिन्द्यमानुष्यसद्मगाः ॥३०६
तेऽपि मांसाशिनो ज्ञेया न   ाः श्रावकोत्तमाः ।

अज्ञातभाजनाशानाः कुतक्रग्रहणाशनाः ॥३०७
र्द्रपात्रविन्यस्तभक्ष्याः पुष्पादिभक्षकाः । दिनद्वयगतक्राशा दध्यारनाललम्पटाः ॥३०८

समान नेत्रवाला देव हुआ। पुनः वहाँसे आकर राजीवलोचन नामका राजा हुआ ॥२९६॥ ऐसा जानकर महापापका कारण मधु-भक्षण नहीं करना चाहिए। अब नवनीत (लोणी, मक्खन) के दोष वर्णन करते हैं—जिसमें अन्तर्मुहूर्तसे ही अनेक प्रकारके सम्मूर्च्छन जीवोंकी सन्तान उत्पन्न होने लगती है, ऐसा नवनीत ज्ञानी जनोंको नहीं खाना चाहिए ॥२९७॥ जिनेन्द्रदेवने नवनीतको मधुके ही समान अभक्ष्य कहा है। जो इसे खाता है उसके संयमका लेश भी नहीं है ॥२९८॥ जो एक प्राणीकी भी रक्षा करनेमें सावधान है, वह चतुर पुरुष अनेक प्राणियोंके समूहसे व्याप्त नवनीतको कैसे सेवन करेगा? अर्थात् सेवा नहीं करेगा ॥२९९॥ इसी प्रकार बुद्धिमानोंको वड़, पीपल, पीलु, गूलर और ऊँवर वृक्षोंके फलोंको नहीं खाना चाहिए ॥३००॥ जिन उदुम्बर फलोंमें असंख्य स्थावर और लाखों त्रस जीव रहते हैं, उनके खानेमें कुछ भी फल नहीं है, प्रत्युत महान् पाप ही है ॥३०१॥ जो मनुष्य नाना जीवोंसे भरे हुए इन क्षीरी वृक्षोंके फलोंको खाता है, उसको संसारमें पतन करानेवाला भारी पातक (पाप) प्राप्त होता है ॥३०२॥ सद्-व्रतसे भूषित मनुष्यको चाहिए कि वह चर्म-पात्रमें रखनेसे अपवित्र हुए तेल, जल अथवा घीको प्राणान्त होनेपर भी ग्रहण न करें ॥३०३॥ जो मनुष्य देश-कालके वशसे चमड़ेमें रखे हुए तेल, जलादिको उपयोगमें लाते हैं, वे जिनदेवके कहे तत्त्वका श्रद्धान न करनेसे पद-पदपर निन्द्य समझे जाते हैं ॥३०४॥ जो लोग अज्ञात फलोंको खाते हैं, तथा जो अशोधित शाकाहारी हैं, बींधी घुनी सुपारीका स्वाद लेते हैं, हाट-बाजारके बने चूर्णके भक्षक हैं, विना परीक्षा किये मलिन घी-दूधको खाते हैं, म्लेच्छ पुरुषोंके यहाँ बने भोजनके भक्षी हैं एवं शूद्र तथा निन्द्य मनुष्योंके घर जाकर भोजन करते हैं, उन लोगोंको भी मांस-भक्षी जानना चाहिये, उन्हें कदाचित् भी उत्तम श्रावक नहीं समझना चाहिए ॥३०५–३०६½॥

जो अज्ञात पुरुषोंके भाजनोंमें भोजन करते हैं, खोटे दुर्गन्धित छांछको ग्रहण कर खाते हैं, जलसे गीले पात्रमें रखी वस्तुओंको खाते हैं, पुष्प आदिके भक्षक हैं, दो दिन वासी छांछ और

प्रातःक्षणागलितयुक्नीरपानपराः सदा। तेऽपि मद्याशिनो ज्ञेया न ज्ञेयाः श्रावकोत्तमाः ॥३०९

विद्धान्नचलितस्वादपुष्पितान्नप्रहेयकाः। श्रावकाः सम्भवन्तीह मूलाष्टगुणसंयुताः ॥३१०
आमगोरससंपृक्तं द्विदलं द्रोणपुष्पिका। सन्धानकं कलिंगं च नाद्यते शुद्धदृष्टिभिः ॥३११
आस्थानकं च वृन्ताकं कूष्माण्डं च करीरकम्। रम्भाफलं च करकं नाद्यते शुद्धदृष्टिभिः ॥३१२

शिम्बयो मूलकं बिल्वफलानि कुसुमानि च। नालीसूरणकन्दश्च त्यक्तव्यं शृङ्गबेरकम् ॥३१३
शतावरी कुमारी च गुडूची गिरिकर्णिका। स्नुही त्वमृतवल्ली च त्यक्तव्या कोमलाम्लिका ॥३१४
कोशातकी च कर्कोटी वन्ध्या कर्कोटिका तथा। महाफला य जम्बूश्च तिन्दुकं त्वामवाटकम् ॥३१५
प्रपुन्नाटं त्वेडदलं त्याज्यमित्यादिदोषयुक्। सर्वे किसलयाः सूक्ष्मजन्तुसन्तानसङ्कुलाः ॥३१६
आर्द्रकन्दाश्च नाद्यन्ते भवभ्रमणभीरुभिः। सौवर्चली लूणिकादिनाल्यादि कुसुमानि च ॥३१७

मांसरक्तार्द्रचर्मास्थिसुरादर्शनतस्त्यजेत्। मृताङ्गिवीक्षणादन्नं प्रत्याख्यातान्नसेवनात् ॥३१८
सप्तान्तरायाः सन्तीह पालनीयाश्च श्रावकैः। अन्येषां दुर्वहत्वाच्च सप्तैव नाधिका मताः ॥३१९

प्रसर्पति तमःपूरे पतन्तः प्राणिनो भृशम्। यत्रान्ने नावलोक्यन्ते तत्र रात्रौ न भुज्यते ॥३२०

दहीको खाते हैं, कमलनाल, कांजी बड़े आदि खानेमें लम्पट हैं और प्रातःकाल नहीं छाने हुए जलको पीते हैं, वे सब मनुष्य मद्यके खानेवाले जानना चाहिये, उन्हें कभी उत्तम श्रावक नहीं समझना चाहिये ॥३०६३–३०९॥ जो पुरुष घुने अन्नके, स्वाद-चलित भोजनके और पुष्पित (अंकुरित) हुए अन्नके त्यागी हैं, वे ही पुरुष यहाँपर अष्टमूलगुणोंसे संयुक्त श्रावक हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥३१०॥ शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव कच्चे गोरस (दूध दही छाँछ) से मिश्रित द्विदल अन्नको, द्रोण पुष्पोंको और गुलकन्द आदि मुरब्बोंको नहीं खाते हैं ॥३११॥ सर्व प्रकारके तेल आदिमें पड़े अथानों (अचारों) को, बैंगन, काशीफल, कैर, केला और ओला आदिको भी शुद्ध-सम्यग्दृष्टि जीव नहीं खाते हैं ॥३१२॥ सेम (वालौर), मूली, विल्वफल (वेल), पुष्प, नाली, सूरण, जमीकन्द और अदरकका भी त्याग करना चाहिये ॥३१३॥ सतावर, गँवारपाठा, गुड़वेल, गिरि-कर्णिका (अपराजिता लता), स्नुही (थूहर), अमृतवेलि, कोमल इमली, इनका भी त्याग करना चाहिये ॥३१४॥ कोशातकी (तोरई, गिलकी), कर्कोटी (ककोड़ी), वन्ध्या कर्कोटी (एक औषधि वनकरेला), महाफला (खिरनी), जामुन, तेन्दुक, आमवाटक (कच्चे अन्न—हरे मक्कीके भुट्टे आदि), प्रपुन्नाट (कफ-नाशक शाकविशेष), एरण्डपत्र इत्यादि दोषयुक्त वस्तुओंका त्याग करना चाहिये। तथा सूक्ष्म जन्तुओंकी सन्तानसे भरे हुए सभी पत्रशाक, किसलय (कोमल पत्ते) और गीले जमीकन्द, सूवापालक, लूणी, नाली और पुष्प आदि भी भवभ्रमणसे डरनेवाले पुरुष नहीं खाते हैं ॥३१५–३१७॥ श्रावकको भोजनके समय ये सात अन्तराय भी पालन करना चाहिये—मांस, रक्त, गीला चर्म, हड्डी और मदिरा देखनेसे भोजनको छोड़ देवे, तथा भोजनमें किसी मरे हुए जन्तुको देखकर और त्यागे हुए अन्नका सेवन हो जानेपर भोजनको छोड़ देवे। इनके अतिरिक्त और भी भोजनके अन्तराय हैं, किन्तु उनका पालन करना अति कठिन है, (वे मुनिजनों-के द्वारा ही पालन हो सकते हैं।) अतः श्रावकके उक्त सात ही अन्तराय माने गये हैं, अधिक नहीं ॥३१८–३१९॥ जिस रात्रिमें अन्धकारके पूरके प्रसार होनेपर अन्नमें प्रचुरतासे गिरते हुए प्राणी नहीं दिखाई देते हैं, इसलिये रात्रिमें भोजन नहीं करना चाहिये ॥३२०॥ रात्रिमें अन्धकारके

मक्षिका कुरुते छर्दि कुष्ठव्याधिं च कोकिला । मेधां पिपीलकाऽवश्यं निर्वासयति भक्षिता ॥३२१
दन्तखण्डं दृषत्खण्डं गोमयः कुरुते घृणाम् । भोज्ये च पतिता यूका वितनोति ोदरम् ॥३२२
शिरोरुहः स्वरध्वन्सं कण्ठपीडां च कण्टकः । वृश्चि लुभङ्गं च तनुते नात्र संशयः ॥३२३
अतोऽन्येऽपि प्रजायन्ते दोषा वाचामगोचरा । विमुञ्चन्तु ततः सन्तः पापकृत्तन्निशाशनम् ॥३२४

ये रात्रौ सर्वदाऽऽहारं वर्जयन्ति सुमेधसः । तेषां पक्षोपवासस्य मासेन जायते ॥३२५
खादन्त्यहर्निशं येऽत्र ति न्ति व्यस्तचेतनाः । शृङ्गपुच्छपरिभ्रष्टास्ते कथं पशवो न च ॥३२६
वासरस्य मुखे चान्ते विमुच्य घटिकाद्वयम् । योऽशनं सम्यगाधत्ते नस्तमितव्रतम् ॥३२७
रात्रिभुक्तिपरित्यागफलं गोमायुनेरितम् । तदत्यागफलं चापि लोकैर्दृष्टं धनश्रियः ॥३२८
उलूककाकमार्जारगृध्रसंवरशूकराः । अहिवृश्चिकगोधाश्च जायन्ते रात्रिभोजनात् ॥३२९
रात्रिभुक्तिविमुक्तस्य ये गुणाः खलु जन्मिनः । सर्वज्ञमन्तरेणान्यो न सम्यग् वक्तुमीश्वरः ॥३३०

अणुव्रतानि पञ्च स्युस्त्रिप्रकारं गुणव्रतम् । शिक्ष नि चत्वारि सागाराणां जिनागमे ॥३३१
हिंसातोऽसत्यतः स्तेयान्मैथुनाच्च परिग्रहात् । यदेकदेशविरतिस्तदणुव्रतपञ्चकम् ॥३३२
यत्कषायोदयात्प्राणिप्राणानां व्यपरोपणम् । न क्वापि तदहिंसाख्यं व्रतं विश्वहितङ्करम् ॥३३३

कारण नहीं दिखनेसे यदि मक्खी खानेमें आ जाय, तो वह तत्काल वमन कराती है, विसम्भरी कसारी खानेमें आ जाय, तो वह कोढ़ जैसी व्याधिको करती है, चींटी-कीड़ी यदि खानेमें आ जाय, तो वह वुद्धिको अवश्य ही भ्रष्ट कर देती है ॥३२१॥ भोजनमें यदि दान्तका टुकड़ा, पाषाणका खण्ड, और गोवर आ जाय, तो घृणा उत्पन्न होती है। तथा भोज्यवस्तुमें गिरी हुई यूका (जूँ) यदि खानेमें आ जाय, तो वह जलोदर रोगको उत्पन्न करती है ॥३२२॥ भोजनमें खाया गया केश स्वर-भंगको, काँटा कण्ठ-पीड़ाको और विच्छू तालु-भंगको करता है, इसमें कोई संशय नहीं है ॥३२३॥ इनके अतिरिक्त रात्रिमें भोजन करनेसे और भी अनेक वचनके अगोचर दोष उत्पन्न होते हैं, अतएव सज्जनोंको ऐसे पापकारक रात्रिभोजनका त्याग करना चाहिये ॥३२४॥ जो बुद्धिमान् लोग रात्रिमें सदा ही सर्व प्रकारके आहारका त्याग करते हैं, उन्हें एक मासमें एक पक्ष (१५ दिन) के उपवासका फल प्राप्त होता है ॥३२५॥ जो वुद्धि-विचार-विहीन लोग इस संसारमें रात-दिन खाते रहते हैं, वे सींग और पूँछसे रहित पशु कैसे न माने जायं ? अर्थात् उन्हें पशु ही समझना चाहिये ॥३२६॥ जो गृहस्थ दिनके प्रारम्भ और अन्तमें दो घड़ी समय छोड़कर आहार करते हैं, वे ही अनस्तमित (रात्रिभोजन त्याग) व्रत भली-भाँतिसे पालन करते हैं ॥३२७॥ रात्रि भोजन त्यागका फल इस लोकमें गोमायु (गीदड़) ने प्रकट किया। तथा रात्रिभोजन करनेका फल लोगोंने धनश्रीके देखा ॥३२८॥ रात्रिभोजन करनेसे मनुष्य उलूक, काक, मार्जार, गिद्ध, विसमरा, सूकर, साँप, विच्छू और गोधा (गोहरा) आदि निकृष्ट जीवोंमें उत्पन्न होते हैं ॥३२९॥ रात्रिभोजन त्याग करनेवाले मनुष्यके जो गुण प्रकट होते हैं, उन्हें निश्चयसे सर्वज्ञदेवके विना और कोई अन्य पुरुष कहनेके लिये समर्थ नहीं है ॥३३०॥

जिनागममें श्रावकोंके पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये वारहव्रत वतलाये गये हैं ॥३३१॥ हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुनसेवन और परिग्रह इन पाँच पापोंके एक देश त्यागको पाँच अणुव्रत कहते हैं ॥३३२॥ कषायके उदयसे जो कहींपर भी प्राणियोंके प्राणोंका घात नहीं

विलोक्यानिष्टकुष्ठित्वपङ्गुत्वादिफलं सुधीः । त्रसानां न क्वचित्कुर्यान्मनसापि हि हिंसनम् ॥३३४
स्थावरेष्वपि सत्त्वेषु न कुर्वीत निरर्थकम् । स्यात्तु मोक्षसुखं काङ्क्षन् हिंसा हिंसापराङ्मुखः ॥३३५
स्थावराणां पञ्चकं यो विनिघ्नन्नपि तिक्षति । त्रसानां दशकं सः स्याद्विरताविरतः सुधीः ॥३३६

म्रियस्वेत्युच्यमानोऽपि देही भवति दुःखितः । मार्यमाणः प्रहरणैर्दारुणैर्न कथं भवेत् ॥३३७
जिजीविषति सर्वोऽपि सुखितो दुःखितोऽथवा । ततो जीवितदात्रात्र किं न दत्तं महीतले ॥३३८
सर्वासामेव देवीनां दयादेवी गरीयसी । या ददाति समस्तेभ्यो जीवेभ्योऽभयदक्षिणाम् ॥३३९

निशातधारमालोक्य खड्गमुत्खातमङ्गिनः । कम्पन्ते त्रस्तनेत्रास्ते नास्ति मृत्युसमं भयम् ॥३४०
प्राणिघातः कृतो देवपित्रर्थमपि शान्तये । न क्वचित्किं गुडाश्लिष्टं न विषं प्राणघातकम् ॥३४१
हिंसा विघ्नाय जायेत विघ्नशान्त्यै कृतापि हि । कुलाचारधियाऽप्येषा कृता कुलविनाशिनी ॥३४२
अपि शान्त्यै न कर्तव्यो घोरः प्राणिवधः क्वचित् ।
यशोधरो न किं यातस्तं कृत्वा किल दुर्गतिम् ॥३४३
कुणिर्वरं वरं पङ्गुः शरीरी च वरं पुमान् । अपि सर्वाङ्गसम्पूर्णो न तु हिंसापरायणः ॥३४४
पाठीनस्य किलैकस्य रक्षणात्पञ्चधाऽऽपदः । व्यतीत्य सम्पदं प्राप धनकीर्त्तिर्मनीषिताम् ॥३४५

करना, सो वह विश्वका हितकारी अहिंसा नामका व्रत है ॥३३३॥ संसारमें अनेक अनिष्ट रोगोंसे ग्रस्त कोढ़ी, पंगु आदिके फलको देखकर बुद्धिमान् पुरुषको त्रस जीवोंकी हिंसाका भाव मनसे भी कभी नहीं करना चाहिये ॥३३४॥ स्यायो मोक्षसुखकी आकांक्षा करनेवाले पुरुषको स्थावर जीवोंकी भी निरर्थक हिंसा नहीं करनी चाहिये और हिंसासे पराङ्मुख रहना चाहिये ॥३३५॥ आरम्भ आदि कार्योंके वश होकर पाँच प्रकारके स्थावर जीवोंका घात करता हुआ भी जो पुरुष द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रियके पर्याप्त-अपर्याप्तरूप अथवा सूक्ष्म-स्थावररूप दश प्रकारके त्रस जीवोंकी रक्षा करता है, वह बुद्धिमान् विरताविरत (देशसंयम) का धारक होता है ॥३३६॥ 'तुम मर जाओ' ऐसा कहा गया भी प्राणी जब दुखी होता है, तब दारुण शस्त्रोंसे मारा जाता हुआ वह कैसे अत्यन्त दुखी नहीं होगा ? अवश्य ही होगा ॥३३७॥ इस भूतलपर सुखी अथवा दुखी कोई भी प्राणी हो, सभी जीना चाहते हैं, तब प्राणियोंको जीवन-दान करनेवाले दाताने क्या नहीं दिया ? अर्थात् जीवोंको सभी सुख दिया ॥३३८॥ संसारमें जितने भी देवी-देवता हैं, उन सबमें दयादेवी ही सबसे श्रेष्ठ है, जो कि समस्त ही जीवोंके लिये अभय-दानकी दक्षिणा देती है ॥३३९॥ तीक्ष्ण धारवाली तलवारको मारनेके लिये उठी हुई देखकर प्राणी भयभीत नेत्र होकर काँपने लगते हैं। अतः संसारमें मृत्युके समान और कोई बड़ा भय नहीं है ॥३४०॥ देवता और पितरोंके लिये भी किया गया प्राणिघात कभी भी सुख-शान्तिके लिये नहीं होता है। क्या गुडसे मिश्रित विष प्राण-घातक नहीं होता है ॥३४१॥ विघ्नोंकी शान्तिके लिये की गई भी हिंसा विघ्नके ही लिये होती है। कुलाचारकी बुद्धिसे भी की गई हिंसा कुलका विनाश करनेवाली ही होती है ॥३४२॥ शान्तिके लिये भी घोर प्राणिघात कभी भी कहीं पर नहीं करना चाहिये। देखो यशोधर-राजा ऐसी हिंसाको करके क्या दुर्गति नहीं प्राप्त हुआ ॥३४३॥ दयावान् लूला-लंगड़ा भी मनुष्य श्रेष्ठ हैं, किन्तु हिंसापरायण पुरुष सर्वाङ्गसे सम्पूर्ण होनेपर भी श्रेष्ठ नहीं है ॥३४४॥ देखो—एक मच्छकी रक्षा करनेसे पाँच बार आपत्तियोंसे बचकर धनकीर्ति धीवर मनोवांछित सम्पदाको प्राप्त हुआ अतः ज्ञानियोंको हिंसासे बचना चाहिये ॥३४५॥ जहाँपर

लाभालाभभयद्वेषैरसत्यं यत्र नोच्यते। सूनृतं तत्प्रशंसन्ति तथ्यमेव द्वितीयकम् ॥३४६
कुरूपत्वलघीयस्त्वनिन्द्यत्वादिफलं द्रुतम्। विज्ञाय वितथं तथ्‍ दी तत्क्षणतस्त्यजेत् ॥३४७
तदसत्योचितं वाक्यं प्रमादादपि नोच्यते। उन्मूल्यन्ते गुणा येन वायुनेव महाद्रुमाः ॥३४८
असत्याधिष्ठितं श्लिष्टं विरुद्धं ङ्कुलम्। च निष्ठुरं यं हेयं तत्त्वविशारदैः ॥३४९
सूनृतं न वचो ब्रूते यः प्राप्य जिनशा । मृषावादी मृतो मूढः कां गतिं स गमिष्यति ॥३५०
सत्यवाक्याज्जनः सर्वो भवेद्विश्वासभाजनम्। किं न रथ्याम्बु दुग्धाब्धेः सङ्गाद्दुग्धायते तराम् ३५१
स्वात्माधीनेऽपि माधुर्ये सर्वप्राणिहितङ्करे। ब्रूयात्कर्णकटु स्पष्टं को नाम बुधसत्तमः ॥३५२
सत्त्वसन्ततिरक्षार्थं मनुष्यः णाचणः। असत्याधिष्ठितं यं ब्रुवन्नपि न पापभाक् ॥३५३
परोपरोधतो ब्रूते योऽसत्यं पापवञ्चितः। वसुराज इवाप्नोति स तूर्णं नरकावनिम् ॥३५४
सूनृतं हितमग्राम्यं हितं कारुणयाञ्चि म्। सत्योपकारकं वक्तव्यं हितकाङ्क्षिणा ॥३५५
धनदेवेन सम्प्राप्तं जिनदेवेन चापरम्। त्यागापरभवं परमं सत्यसम्भवम् ॥३५६

विस्मृतं पतितं नष्टं स्थापितं पथि कानने। परस्वं गृह्यते यैर्न तार्तीयकमणुव्रतम् ॥३५७
दास्यप्रेष्यस्वदारिद्र्यदौर्भाग्यादिफलं सुधीः। ज्ञात्वा चौर्यं हि रज्ञो विमुञ्चेन्मुक्तिलालसः ३५८
धैर्येण चलितं धर्मवृद्धया च प्रपलायितम्। विलीनं परलोकेन स्तेयता यदि मानसे ॥३५९

लाभ, अलाभ, भय और द्वेषसे भी असत्य नहीं बोला जाता है, उस सत्यकी ज्ञानीजन प्रशंसा करते हैं। यह दूसरा सत्याणुव्रत है ॥३४६॥ सत्यवादी मनुष्य असत्य-भाषणके कुरूपता, लघुता, और निन्द्यपना आदि फलको जानकर तत्क्षण शीघ्र ही असत्य बोलनेका त्याग करें ॥३४७॥ जिस असत्यसे महान् गुण भी पवनके द्वारा महान् वृक्षोंके समान जड़से उखाड़कर फेंक दिये जाते हैं, ऐसा असत्योचित वाक्य प्रमादसे भी नहीं बोलना चाहिये ॥३४८॥ जो वचन असत्यसे मिश्रित, श्लेषयुक्त, विरुद्ध, दोप-बहुल, ग्रामीण एवं निष्ठुर हों, उनका बोलना तत्त्वज्ञानी जनोंको छोड़ देना चाहिये ॥३४९॥ जो मनुष्य जिनशासनको पाकरके भी सत्य-वचन नहीं बोलता है, वह असत्यवादी मूढ़ मरकर किस गतिको जायगा, सो सर्वज्ञ ही जानें ॥३५०॥ सत्य वाक्य बोलनेसे सभी मनुष्य सभीके विश्वास भाजन होते हैं। देखो—गलीका जल भी क्षीरसागरके संगमसे उत्तम दूधके समान क्या प्रतीत नहीं होता है ॥३५१॥ सर्वप्राणियोंके हितकारक मधुर वचनोंका बोलना अपने अधीन होनेपर भी कौन उत्तम ज्ञानी जान-बूझकर कर्णकटु वचन बोलेगा ॥३५२॥ प्राणि-समूहकी रक्षाके लिये करुणावान् मनुष्य असत्यसे संयुक्त वाक्यको बोलता हुआ भी पापका भागी नहीं होता है ॥३५३॥ पापसे ठगाया गया जो मनुष्य दूसरेके आग्रहसे असत्य वचन बोलता है, वह वसु राजाके समान शीघ्र ही नरकभूमिको प्राप्त होता है ॥३५४॥ इसलिए आत्म-हितैषी मनुष्यको सत्य, हितकारक, अग्रामीण, प्रामाणिक, दया-गर्भित और उपकारक सत्य वाक्य ही बोलना चाहिये ॥३५५॥ देखो—धनदेवने तो सत्य त्यागनेके कारण महान् दुःख पाये और जिनदेवने सत्यसम्भव वचन बोलनेसे फलको प्राप्त किया। अतः असत्यभाषण छोड़कर सत्यवचन ही बोलना चाहिये ॥३५६॥ मार्गमें, वनमें (अथवा किसी भी स्थानमें) दूसरेके भूले हुए, गिरे हुए, नष्ट हुए अथवा रखे हुए पराये धनको जो पुरुष नहीं ग्रहण करते हैं, उनके यह तीसरा अचौर्याणुव्रत होता है ॥३५७॥ दासता, सेवकपना, दरिद्रता और दुर्भाग्यता आदि प्राप्त होनेको चोरीका फल जानकर विचारशील और मुक्तिके इच्छुक ज्ञानीजनको चोरीका त्याग करना चाहिये ॥३५८॥ जिस मनुष्यके

सशल्योऽपि जनः क्वापि काले सौख्यं समश्नुते । अदत्तादानदुर्ध्यानसाधितात्मा तु न क्वचित् ॥३६०
एनःसेनायुतः स्तेनः शिरःशेषोऽपि राहुवत् । कलावतामपि व्यक्तं सुवर्णं हरते कुधीः ॥३६१
चुराशीलं जनं सर्वे पीडयन्ति न संशयः । अपथ्यसेविनं व्याधिमन्तं रोगगणा इव ॥३६२
स्तेनस्य सङ्गतिर्नूनं महतां स्याद्विपत्तये । राहुणा सङ्गतः किं न चन्द्रो दुःखी पदे पदे ॥३६३
फलं चौर्यद्रुमस्येह वधच्छेदनताडनम् । अमुत्र च विचित्रोरुनरकस्तत्सङ्गसङ्गतिः ॥३६४
नियुक्तोऽपि महैश्वर्ये राज्ञा विक्रमशालिना । श्रीभूतिश्चौर्यतोऽनन्तभवभ्रमणमासदत् ॥३६५
वसुदत्तात्मजः पूतः सुमित्रस्तु वणिक्चरः । चुरात्यागेन सम्प्राप्तं महोन्नतपदं सताम् ॥३६६

यन्मैथुनं स्मरोद्रेकात्तदब्रह्मातिदुःखदम् । तदभावाद् व्रतं सम्यग् ब्रह्मचर्याख्यमीरितम् ॥३६७
कुरूपत्वं तथा लिङ्गच्छेदं पण्ढत्वमुत्तमः । दृष्ट्वाऽब्रह्मफलं मुक्त्वाऽन्यस्त्रीः स्वस्त्रीरतो भवेत् ३६८
पररामाञ्चिते चित्ते न धर्मस्थितिरङ्गिनाम् । हिमानीकलिते देशे पद्मोपत्तिः कुतस्तनी ॥३६९
परनारी नरीनर्ति चित्ते येषामहर्निशम् । तत्समीपे सरीसर्ति न क्वापि कमलामला ॥३७०
स्वेदो भ्रान्तिः श्रमो ग्लानिर्मूर्च्छा कम्पो बलक्षयः । मैथुनोत्था भवन्त्यन्यव्याधयोऽप्याधयस्तथा ३७१

मनमें यदि चोरीका भाव विद्यमान है, तो वह धैर्यसे विचलित है, धर्मको वृद्धिसे दूर भाग रहा है और परलोकमें सुखसे विलीन है ॥३५९॥ कभी किसी समय शल्ययुक्त पुरुष तो सुखको प्राप्त हो सकता है, किन्तु अदत्तादानके दुर्ध्यानसे संयुक्त आत्मा कहींपर भी कभी सुख नहीं पा सकता है ॥३६०॥ पापकी सेनासे युक्त कुबुद्धि चोर शिर शेष रहनेपर भी राहुके समान कलावालोंके भी सुवर्णको व्यक्तरूपसे हरण करता है। भावार्थ—जैसे केवल शिरवाला राहु पूर्णकलावाले पूर्णमासीके चन्द्रमाको ग्रसकर उसके सुवर्ण (उत्तम वर्ण) को भी विवर्ण (मलिन) कर देता है, उसी प्रकार अंग छिन्न-भिन्न हो जानेपर भी यदि चोरका केवल शिर भी शेष रह जाय, तो भी वह अच्छे-अच्छे कलावन्तोंके सुवर्णको हर कर उन्हें दीन विवर्ण बना देता है ॥३६१॥ चोरी करनेवाले मनुष्यको सभी मनुष्य पीड़ा देते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। जैसे कि अपथ्यसेवी रोगीको अनेक रोगोंके समूह पीड़ा देते हैं ॥३६२॥ चोरकी संगति नियमसे महापुरुषोंको भी विपत्तिका कारण होती है। देखो—राहुकी संगतिसे चन्द्र क्या पद-पदपर दुःखी नहीं होता है ॥३६३॥ चोरीरूप वृक्षके फल इस लोकमें तो प्राण-वध, अंगच्छेदन और ताड़न हैं, तथा परलोकमें नाना प्रकारके दुःखोंसे व्याप्त नरक हैं, जहाँपर उनके संगसे निरन्तर दुःख प्राप्त होते रहते हैं ॥३६४॥ देखो—पराक्रमशाली सिंहसेन राजाके द्वारा महा ऐश्वर्यवाले मन्त्री पदपर नियुक्त किया गया भी श्रीभूतिनामक सत्यघोष चोरीके पापसे अनन्त भव-भ्रमणको प्राप्त हुआ ॥३६५॥ और चोरीके त्यागके फलसे वसुदत्त सेठका पुत्र सुमित्र सज्जनोंके महान् उन्नत पदको प्राप्त हुआ। अतः चोरीका त्याग करना चाहिये ॥३६६॥ काम विकारकी अधिकतासे जो स्त्री-पुरुष विषय-सेवन करते हैं, उसे अब्रह्म कहते हैं, यह अति दुःखदायक है। इस मैथुन सेवनके अभावसे जो व्रत होता है, वह उत्तम ब्रह्मचर्य नामसे कहा गया है ॥३६७॥ कुरूपता, लिंगच्छेद, नपुंसकता आदि अब्रह्मसेवनके फलको देखकर उत्तम मनुष्यको अन्य स्त्रियोंका त्याग करके स्वस्त्री-सन्तोष धारण करना चाहिये ॥३६८॥ मनुष्योंके परस्त्रीमें आसक्त चित्तके भीतर धर्मकी स्थिति नहीं हो सकती है। हिमसे आच्छादित देशमें कमलोंकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ॥३६९॥ जिन पुरुषोंके चित्तमें रात-दिन परनारी नृत्य करती रहती है, उनके समीपमें निर्मल लक्ष्मी कभी भी नहीं आती है ॥३७०॥ मैथुन सेवनसे प्रस्वेद,

योनिरन्ध्रोद्भवाः सूक्ष्मा लिङ्गसङ्घट्टतः क्षणात् । म्रियन्ते जन्तवो यत्र मैथुनं तत्परित्यजेत् ॥३७२
तिलनाल्यां तिला यद्वत्-हिंस्यन्ते बहवस्तथा । जीवा योनौ च हिंस्यन्ते मैथुने निन्द्यकर्मणि ॥३७३
मैथुनेन स्मराग्नि यो विध्यापयितुमिच्छति । सर्पिषा स ज्वरं मूढः प्रौढं प्रतिचिकीर्षति ॥३७४
वरमालिङ्गिता वह्नितप्तायःशालभञ्जिका । न कामिनी पुनः क्वापि कामं नरकपद्धतिः ॥३७५
उदरान् खदिराङ्गारान् सेवमानः क्वचिन्नरः । सुखी स्यान्न पुनर्नारीजघनद्वारसेवनात् ॥३७६
आस्तां केलिपरीरम्भविलासपरिभाषणम् । स्त्रीणां स्मरणमप्येवं ध्रुवं स्यादापदाप्तये ॥३७७
वामभ्रुवो ध्रुवं पुत्रं पितरं भ्रातरं पतिम् । आरोपयन्ति सन्देहतुलायां दुष्टचेष्टिताः ॥३७८
आपदामास्पदं मूलं कलेः श्वभ्रस्य पद्धतिः । शोकस्य जन्मभू रामा कामं त्याज्या विचक्षणैः ॥३७९
दुर्भगत्वं दरिद्रत्वं तिर्यक्त्वं जननिन्द्यताम् । लभन्तेऽन्यनितम्बिन्यवलम्बनविलम्बिताः ॥३८०
परस्त्रीसङ्गकाङ्क्षाया रावणो दुःखभाजनम् । श्रेष्ठी सुदर्शनोऽकाङ्क्षातोऽभवत्सुखभाजनम् ॥३८१

धनधान्यादिकं ग्रन्थं परिमाय ततोऽधिके । यत्त्रिधा निःस्पृहत्वं तत्स्यादपरिग्रहव्रतम् ॥३८२
श्वभ्रपातमसन्तोषमारम्भं सत्सुखापहम् । ज्ञात्वा सङ्गफलं कुर्यात्परिग्रहनिवारणम् ॥३८३

भ्रम, श्रम, ग्लानि, मूर्च्छा, कम्प और वलक्षय आदि अनेक शारीरिक व्याधियाँ और आधियाँ (मानसिक पीड़ाएँ) उत्पन्न होती हैं ॥३७१॥ जिस मैथुन-सेवनमें स्त्रीकी योनिके छिद्रमें उत्पन्न हुए अनेक सूक्ष्म जन्तु पुरुषके लिंगके संघर्षणसे क्षणमात्रमें मर जाते हैं, ऐसे मैथुन सेवनका परित्याग ही करना चाहिये ॥३७२॥ जिस प्रकार तिलोंसे भरी हुई नालीमें उष्ण लोहशलाका प्रवेश करनेपर सभी तिल जल-भुन जाते हैं, उसी प्रकार निन्द्य मैथुन कर्मके समय योनिमें उत्पन्न होनेवाले प्रचुर जीव मारे जाते हैं ॥३७३॥ जो पुरुष मैथुन सेवनसे कामाग्निको शान्त करनेकी इच्छा करता है, वह मूढ़ घृत-सेवनसे बढ़े हुए ज्वरका प्रतीकार करना चाहता है ॥३७४॥ अग्निसे सन्तप्त लोहेकी पुतलीका आलिंगन करना उत्तम है, किन्तु कामिनी स्त्रीका आलिंगन करना कभी भी अच्छा नहीं है, क्योंकि वह स्पष्टरूपसे नरककी परम्परा है ॥३७५॥ खैरके बड़े-बड़े धँधकते अंगारोंका सेवन करनेवाला मनुष्य क्वचित् कदाचित् सुखी हो जाय, परन्तु स्त्रीके जघन-द्वारके सेवनसे मनुष्य कभी भी कहीं भी सुखी नहीं हो सकता ॥३७६॥ स्त्रियोंकी क्रीड़ा, आलिंगन, विलास और सम्भाषण तो दूर ही रहे, उनका स्मरणमात्र भी निश्चयसे आपत्तियोंकी प्राप्तिका कारण होता है ॥३७७॥ दुष्ट चेष्टावाली स्त्रियाँ नियमसे पुत्र पिता भाई और पतिको सन्देहकी तुलापर आरोपण करती हैं। भावार्थ—दुश्चरित्र मातासे पुत्र, दुश्चरित्र पुत्रीसे पिता, दुश्चरित्र बहिनसे भाई और दुश्चरित्र स्त्रीसे पति सदा सन्देहकी तराजूपर झूलता हुआ दुखी रहता है ॥३७८॥ स्त्री आपत्तिका घर है, कलहकी जड़ है, नरककी नसैनी है और शोककी जन्मभूमि है। अतएव विचक्षण जनोंको स्त्रियोंका सर्वथा त्याग ही कर देना चाहिये ॥३७९॥ परस्त्री-सेवनके अवलम्बनसे विडम्बित पुरुष परभवमें दुर्भाग्य, दारिद्र्य, पशुपना और जन-निन्दाको प्राप्त होते हैं ॥३८०॥ देखो—परस्त्रीके संगमकी वांछासे रावण दुःखोंका भाजन हुआ और सुदर्शन सेठ परस्त्रीकी आकांक्षा नहीं करनेसे सुखोंका भाजन हुआ। ऐसा ज़ानकर मनुष्यको परस्त्रीका त्याग कर स्वदारसन्तोष व्रत धारण करना चाहिये ॥३८१॥ धन-धान्यादिक परिग्रहका परिमाण करके उससे अधिकमें मन-वचन-कायसे जो निःस्पृहता रखना सो अपरिग्रहव्रत है ॥३८२॥ नरक-पात, असन्तोष, आरम्भ और सुखका अपहरण करना परिग्रहका फल है, ऐसा जानकरके परिग्रहका निवारण करना चाहिये ॥३८३॥ परिग्रहके

परिग्रहस्फुरद्-भारभारिता भवसागरे । निमज्जन्ति न सन्देहः पोतवत्प्राणिनोऽचिरात् ॥३८४
परिग्रहगुरुत्वेन भारितो भविताऽगुणः । रसातलं समभ्यास्ते यत्तदत्र किमद्भुतम् ॥३८५
परिग्रहग्रहग्रस्ते गुणो नाणुसमः क्वचित् । दूषणानि तु शैलेन्द्रमूलस्थानानि सर्वतः ॥३८६
नरे परिग्रहग्रस्ते न सन्तोषो मनागपि । वने दावसमाश्लिष्टे कुतः सस्तरुसम्भवः ॥३८७
परिग्रहाद् भयं प्राप्तं श्रेष्ठिपुत्रैः शतात्मकैः । पञ्चभिर्नृपपुत्रोऽपि त्यागादाप फलं शुभम् ॥३८८
अन्यान्मणिवतादींश्च प्राप्तदुःखपरम्परान् । ज्ञात्वा गृहरतः कुर्यादल्पमल्पं परिग्रहम् ॥३८९
इति मूर्च्छनभावं हि कर्मबन्धनिबन्धनम् । ममैतेऽहमथैतेषां चेति भावं विवर्जयेत् ॥३९०

परिखेव पुरीमेतद्व्रतपञ्चपालिका । शी भवेत्सेव्या सप्तभेदा सुखप्रदा ॥३९१
कृता यत्र समस्तासु दिक्षु सीमा न लङ्घ्यते । दिग्विरतिरिति प्रथमं तद्-गुणव्रतम् ॥३९२
अद्र्यब्धितटिनीदेशसरोयोजनभूमयः । दिग्भागप्रतिसंहारे प्रसिद्धाः सीमभूमयः ॥३९३
स्थावरेतरसत्त्वानां विमर्दननिवर्तनात् । महाव्रतफलं सूते गृहिणां व्रतमप्यदः ॥३९४
जगद्-ग्रसनदक्षस्य प्रसरल्लोभरक्षसः । विनाशो विहितस्तेन येन दिग्विरतिः कृता ॥३९५

दिग्व्रतेन मितस्यापि देशस्य दिवसादिषु । पुनः पणं यत्र देशावकाशिकम् ॥३९६
ग्रामापणक्षेत्रपुरां वनभूयोजनात्मनाम् । सीमानं समयज्ञाश्च प्राहुर्देशावकाशिके ॥३९७

बढ़ते हुए भारसे बोझिल प्राणी अत्यधिक भारवाली नावके समान संसार-सागरमें शीघ्र डूबते हैं, इसमें सन्देह नहीं करना चाहिये ॥३८४॥ परिग्रहकी गुरुतासे भारयुक्त पुरुष दोषवान् होकर यदि रसातलको प्राप्त होता है, तो इसमें क्या आश्चर्य है ॥३८५॥ परिग्रहरूप ग्रहसे ग्रस्त जीवमें गुण तो कभी भी कहीं अणु-समान भी नहीं होता, प्रत्युत दूषण शैलेन्द्र सुमेरुके समान बड़े-बड़े सर्वत्र होते हैं ॥३८६॥ परिग्रहसे ग्रसित पुरुषमें जरा-सा भी सन्तोष नहीं होता है। दावाग्निसे व्याप्त वनमें वृक्षकी उत्पत्ति कैसे सम्भव है ॥३८७॥ परिग्रहसे सेठोंके पाँच सौ पुत्र भयको प्राप्त हुए। और राजाका पुत्र परिग्रहके त्यागसे उत्तम फलको प्राप्त हुआ ॥३८८॥ परिग्रहसे दुःखोंकी परम्पराको प्राप्त हुए मणिवान् आदिक अन्य पुरुषोंके चरितको जानकर गृहस्थको उत्तरोत्तर अल्प-अल्प परिग्रह करना चाहिये (इन दोनों श्लोकोंसे सूचित मनुष्योंकी कथाएँ कथाकोशसे जानना चाहिये, ॥३८९॥ इस प्रकार परिग्रहमें मूर्च्छाभावको कर्म-बन्धका कारण जानकर 'ये बाह्यपदार्थ मेरे हैं, और मैं इनका स्वामी हूँ।' इस प्रकारका भाव छोड़ देना चाहिये ॥३९०॥ जैसे परिखा (खाई) पुरीकी रक्षा करती है, उसी प्रकार उक्त अहिंसादि पाँचों व्रतोंका पालन करनेवाली सुखदायिनी सप्तभेदरूप शीलमाताकी सेवा (आराधना) करनी चाहिये ॥३९१॥ समस्त दिशाओंमें गमनागमनकी सीमा करके उसका उल्लंघन नहीं करना सो दिग्विरति नामका प्रथम गुणव्रत जानना चाहिये ॥३९२॥ प्रसिद्ध पर्वत, समुद्र, नदी, देश, सरोवर और भूमि आदि दिशाओंके परिमाण करनेमें सीमा भूमि कहे गये हैं ॥३९३॥ दिग्व्रतकी सीमाके बाहर स्थावर और त्रसजीवोंकी हिंसाके दूर होनेसे गृहस्थोंके ये अणुव्रत भी महाव्रतोंके फलको देते हैं ॥३९४॥ जिस मनुष्यने दिग्विरतिको धारण किया है, मानो उसने सर्वजगत्को ग्रसन करनेमें दक्ष इस बढ़ते हुए लोभरूप राक्षसका विनाश कर दिया है ॥३९५॥ दिग्व्रतके द्वारा सीमित भी देशका दिन आदि कालकी मर्यादासे और भी संकुचित करना सो देशावकाशिक नामका दूसरा गुणव्रत है ॥३९६॥ आगमके ज्ञाताजन देशावकाशिक व्रतमें ग्राम, बाजार, खेत, नगर, वन भूमि और योजन स्वरूप सीमाको कहते हैं ॥३९७॥

देशावकाशि ग् ये दधते बुधाः । महाव्र लं तेषां बहुपापनिवृत्तितः ॥३९८
त्यागं पापोपदेशानामनर्थानां निरन्तरम् । र्थदण्डविरतिव्रतमाहुर्मुनीश्वराः ॥३९९
पापोपदेशोऽपध्यानं हिंसादानं च दुःश्रुतिः । प्रमादाचरजं पञ्च भेदाः संकीर्तिता बुधैः ॥४००
तुरङ्गान् षण्ढय क्षेत्रं कृत वाणिज्यमाचर । सेवस्व नृपतीन् पापोपदेशोऽयं न दीयते ॥४०१
वैरिघातपुरध्वंसपरस्त्रीगमनादिकम् । विपत्पदमपध्यानं चेदं दूराद्विवर्जयेत् ॥४०२
विषोदूखलयन्त्रासिमुसलज्वलनादिकम् । हिंसोपकारकं दानं न देयं करुणापरैः ॥४०३
रागवर्धनहेतूनामबोधप्रविधायिनाम् । शिक्षणश्रवणादीनि कुशास्त्राणां त्यजेत्सुधीः ॥४०४
तरूणां मोटनं भूमेः खननं चाम्बुसेचनम् । फलपुष्पोच्चयश्चेति प्रमादाचरणं त्यजेत् ॥४०५
केकिकुक्कुटमार्जारशारिकाशुकमण्डलाः । पोष्यन्ते न कृतप्राणिघाताः पारापता अपि ॥४०६
अङ्गारभ्राष्ट्रकरणमयःस्वर्णादिकारिता । इष्टकापाचनं चेति त्यक्तव्यं मुक्तिकाङ्क्षिभिः ॥४०७
तुरङ्गमलुलायोक्षखराणां भारवाहिनाम् । लाभार्थं च नखास्थित्वक्विक्रयं नैव संश्रयेत् ॥४०८
नवनीतवसामद्यमध्वादीनां च विक्रयः । द्विपाच्चतुष्पाद्विक्रेयो न हिताय मतः क्वचित् ॥४०९
खेटनं टादीनां घटादीनां च विक्रयम् । चित्रलेपादिकं कर्म दूरतः परिवर्जयेत् ॥४१०
शोधनीयन्त्रशस्त्राग्निमूसलोदुखलार्पणम् । न क्रियेत तिलादीनां संश्रयः सत्त्वशालिभिः ॥४११

जो ज्ञानीजन भले प्रकारसे देशावकाशिक व्रतको धारण करते हैं, उनके बहुत पापोंकी निवृत्तिसे महाव्रतोंका फल प्राप्त होता है ॥३९८॥

पापोपदेशादि अनर्थोंको निरन्तर त्याग करनेको मुनीश्वरोंने अनर्थदण्ड विरति कहा है ॥३९९॥ ज्ञानियोंने अनर्थदण्डके पाँच भेद कहे हैं—पापोपदेश, अपध्यान, हिंसादान, दुःश्रुति और प्रमादाचरण ॥४००॥ घोड़े बैल आदिको षण्ढ (नपुंसक, वधिया) करो, खेतको जोतो, व्यापार करो, और राजाओंकी सेवा करो, इत्यादि प्रकारका पापोपदेश नहीं देना चाहिये ॥४०१॥ शत्रुके घातका, नगरके विध्वंसका और परस्त्रीके यहाँ गमनादिका चिन्तवन करना अपध्यान कहलाता है, यह महान् विपदाओंका स्थान है, इसका दूरसे ही परित्याग करना चाहिये ॥४०२॥ करुणाशील जनोंको दूसरेके लिए विष, ओखली, यन्त्र, खड्ग, मूसल और अग्नि आदिक हिंसाके करनेवाले पदार्थ नहीं देना चाहिये ॥४०३॥ रागभावके बढ़ानेवाले और अज्ञान या खोटे ज्ञानके विधायक खोटे शास्त्रोंका शिक्षण, श्रवण आदि ज्ञानीजनको छोड़ देना चाहिये ॥४०४॥ वृक्षोंका तोड़ना-मोड़ना, भूमिका खोदना, जलका सींचना और फल-फूलोंका तोड़ना, संचय करना आदिक प्रमादरूप आचरणका त्याग करना चाहिये ॥४०५॥ ज्ञानीजन प्राणियोंके घात करनेवाले हिंसक मयूर, मुर्गा, विलाव, मैना, तोता, कुत्ता और कवूतर आदिको पालन नहीं करते हैं ॥४०६॥ अंगार कराना (कोयला वनवाना), भाड़ भुँजवाना, लोहार, सुनार आदिका काम करना और ईंटोंका पकाना आदि कार्य मुक्तिके इच्छुक जनोंको छोड़ देना चाहिये ॥४०७॥ लाभके लिए भार ढोनेवाले घोड़े, भैंसे, वैल और गधोंको नहीं रखना चाहिये। तथा नख, हड्डी और त्वचा (खाल) का विक्रय भी नहीं करना चाहिये ॥४०८॥ इसी प्रकार लोणी, मक्खन, चर्वी, मदिरा और मधु, भाँग, अफीम, गाँजा आदि वस्तुओंका भी विक्रय नहीं करना चाहिये। तथा द्विपद (दासी-दास आदि) और चतुष्पद (चार पैरवाले बैल आदि जानवरों) का विक्रय करना कहींपर भी हितके लिए नहीं माना गया है ॥४०९॥ श्रावकको गाड़ी आदिका चलाना, घट आदिका वेचना और चित्रलेप आदि कार्य भी दूरसे ही छोड़ देना चाहिये ॥४१०॥ इसी प्रकार वुहारी, पींजरे आदि यन्त्र, वन्दूक, तलवार

लाक्षामनःशिलानीलीशणलाङ्गलधातकीः । हरीतालं विषं चापि विक्रीणीत न शुद्धधीः ॥४१२
वापीकूपतडागादिशोषणं भूमिकर्षणम् । नित्यं वनस्पतेर्बाधां धर्मार्थी नैव पोषयेत् ॥४१३
टङ्कनं नासिकावेधो मुष्कच्छेदोऽङ्घ्रिभञ्जनम् । कर्णापनयनं नाम निर्लाञ्छनमुदीरितम् ॥४१४

अङ्कनं मङ्कनं लङ्कं घर्षणं रोधनं तथा । वन्धनं छेदनं चान्ये हेयाः स्युस्तत्र सर्वदा ॥४१५
रागद्वेषपरित्यागाद्धानात्सावद्यकर्मणाम् । समता या तदाम्नातं बुधैः सामायिकं म् ॥४१६
सामायिकविधौ क्षेत्रं कालश्च विनयासने । कायवाङ्मनसां शुद्धिः सप्तैतानि विदुर्बुधाः ॥४१७
एकान्ते वा वने शून्ये गृहे चैत्यालयेऽथवा । सामायिकं व्रतं शुद्धं चेतव्यं वीतमत्सरैः ॥४१८
लोकसङ्घट्टनिर्मुक्ते कोलाहलविवर्जिते । वीतदंशे विधातव्यं स्थाने सामायिकं म् ॥४१९
सत्पर्यङ्कासनासीनो रागाद्यकलुषीकृतः । विनयाढ्यो निवध्नीयान्मतिं सामायिकव्रते ॥४२०
पूर्वाह्णे किल मध्याह्नेऽपराह्णे दि ाशयाः । स यिकस्य यं सिद्धान्तज्ञा अथोचिरे ॥४२१

यिके स्थिरा यस्य वुद्धिः स भरतेशवत् । केवलज्ञानसम्प्राप्तिं द्रुतं स लभते नरः ॥४२२
चतुष्पर्व्यां चतुर्भेदाहारत्यागैकलक्षणम् । ववन्ति विदिताम्नायाः प्रोषधव्रतमुत्तमम् ॥४२३
कृत्वो स्य पूर्वदि दिवसे सुधीः । मध्याह्ने भोजनं शुद्धं यायाच्छ्रीमज्जिनालयम् ॥४२४

आदि शस्त्र, अग्नि, मूसल, ओखली आदिको दूसरोंके लिए नहीं देवे। तथा तिल, सरसों आदि जीवोत्पत्तिवाले धान्योंका भी संग्रह समर्थ लोगोंको नहीं करना चाहिए ॥४११॥ इसी प्रकार निर्मल वुद्धिवाले श्रावक लाख, मैनसिल, नील, सन, हल, धावड़ाके फूल, हरताल और विषको भी नहीं वेंचें ॥४१२॥ वावड़ी, कुँआ, तालाब आदि जलाशयोंका सुखाना, भूमिको जोतना और नित्य ही वनस्पतिका काटना-कटाना आदि कार्य भी धर्मार्थी पुरुषको नहीं करना चाहिये ॥४१३॥ टाँकना, शरीरको अग्निसे दागना, नाक छेदना, मुष्कें वाँधना, हाथोंको छेदना, चरणोंका भंजन करना, कान काटना, वैल आदिको नपुंसक करना, खाल और छाल आदि उदेरना, शरीरको गर्म लोहे आदिसे अंकित करना, व्यर्थ गमन करना कराना, दाग देना, जलाना, पशु आदिको घसीटना, उन्हें रोकना, वाँधना और छेदना आदि सभी जीव-पीड़ाकारण कार्य श्रावकोंके लिए हेय है, अतः ऐसे अनर्थदण्डोंको नहीं करना चाहिये ॥४१४–४१५॥ रागद्वेषके परित्याग करनेसे और सावद्य (पाप) कार्योंकी हानि (अभाव) से जो समताभाव उत्पन्न होता है, ज्ञानियोंने उसे सामायिक-व्रत कहा है ॥४१६॥ सामायिकको विधिमें ज्ञानियोंने सात प्रकारको शुद्धियाँ कही हैं—क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि, विनयशुद्धि, आसनशुद्धि, कायशुद्धि, वचनशुद्धि और मनशुद्धि ॥४१७॥ एकान्त स्थानमें, वनमें, सूने घरमें, अथवा चैत्यालयमें मत्सरभावसे रहित होकर शुद्धसामायिकव्रतका अभ्यास करे ॥४१८॥ जो स्थान लोगोंके संघट्टसे रहित हो, कोलाहलसे रहित हो और जहाँपर डाँस-मच्छर न हों, ऐसे स्थानपर सामायिक करना चाहिये ॥४१९॥ सामायिक करते समय उत्तम पर्यङ्क आसनसे वैठे, रागादिकी कलुषतासे रहित निर्मल चित्त हो और विनयसे संयुक्त होकर सामायिक व्रतमें वुद्धिको निवद्ध करे ॥४२०॥ निर्मल चित्तवाले सिद्धान्तके ज्ञाता लोग प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकालको सामायिकका समय कहते हैं ॥४२१॥ सामायिक करनेमें जिसकी वुद्धि स्थिर रहती है, वह मनुष्य भरतराजके समान शीघ्र ही केवलज्ञानकी प्राप्तिको पाता है ॥४२२॥ प्रत्येक मासकी चारों पर्वियोंमें चारों प्रकारके आहारके सर्वथा त्याग करनेको आम्नायके ज्ञाता लोग उत्तम प्रोषधव्रत कहते हैं ॥४२३॥ उपवास करनेके पूर्व दिन ज्ञानी पुरुष मध्याह्नकालमें शुद्ध भोजन करके

तत्र गत्वा जिनं नत्वा गुरूपान्ते विशुद्धधीः । आददीत हृषीकार्थविमुखः प्रोषधव्रतम् ॥४२५
विविक्त ति श्रित्वा हित्वा सावद्यकर्म तत् । विमुक्तविषयस्तिष्ठेन्मनोवाक्कायगुप्तिभिः ॥४२६
अति दिनं सर्वं कृत्वा सान्ध्यविधिं पुनः । त्रि गमयेच्छुद्धसंस्तरे स्वस्थमानसः ॥४२७
रुत्थाय संशुद्धकायस्तात्कालिकीं क्रियाम् । रचयेच्च जिनेन्द्रार्चां जलगन्धाक्षतादिभिः ॥४२८
उक्तेन विधिना नीत्वा द्वितीयं च दिनं निशाम् । तृतीयवासरस्यार्धं प्रयत्नादतिवाहयेत् ॥४२९
षोडश प्रहरानेवं गमयत्यागमेक्षणः । यः स हारायते भव्यश्चारुमुक्तिवधूरसि ॥४३०
स्नानगन्धवपुर्भूषानस्यनारीनिषेवणम् । वद्यकर्माणि प्रो स्थो विवर्जयेत् ॥४३१

यो निरारम्भमप्येकमुपवासमथाश्रयेत् । बहुकर्म कृत्वा सोऽक्षयं सुखमश्नुते ॥४३२
। क्रियते यत्र संख्या भोगोपभोगयोः । भोगोपभोगसंख्याख्यं ज्ञेयं शिक्षाव्रतं हि तत् ॥४३३
स्नानभोजनताम्बूलमूलो भोगो बुधैः स्मृतः । उपभोगस्तु वस्त्रस्त्रीभूषाशय्यासनादिकः ॥४३४
भोगोपभोगत्यागार्थं यमश्च नियमः स्मृतः । यमो निरवधिस्तत्र सावधिर्नियमः पुनः ॥४३५

त्रिशुद्धया कुरुते योऽत्र सं भोगोपभोगयोः । तस्मिन् प्रयतते नूनं रिरंसुर्मुक्तिकामिनीम् ॥४३६
स्वस्य वित्तस्य यो भागः कल्पतेऽतिथिहेतवे । अतिथेः संविभागं तं जगदुर्जगदुत्तमाः ॥४३७

श्री जिनालयको जावे ॥४२४॥ वहाँ जाकर श्री जिनदेवको नमस्कार कर गुरुके समीप विशुद्ध बुद्धिवाला श्रावक इन्द्रियोंके विषयोंसे विमुख होकर प्रोषधव्रतको ग्रहण करे ॥४२५॥ पुनः एकान्त स्थानका आश्रय लेकर, सावद्यकर्मको छोड़कर और सर्व विषयोंसे विमुक्त होकर मन-वचन-कायको वशमें रखते हुए ठहरे ॥४२६॥ इस प्रकार सम्पूर्ण दिन विताकर पुनः सन्ध्याकालीन विधि करके शुद्ध संस्तरपर स्वस्थ मन होकर रात्रिके तीन पहर वितावे ॥४२७॥ पुनः प्रातःकाल उठकर तात्कालिक क्रियाओंको करके शरीर-शुद्धि कर जल गन्ध अक्षतादि द्रव्योंसे जिनेन्द्रदेवकी पूजन करे ॥४२८॥ पुनः पूर्वोक्त विधिसे दूसरे दिनको और रात्रिको धर्मध्यानपूर्वक विताकर तीसरे दिनके अर्धभागको भी प्रयत्नके साथ वितावे ॥४२९॥ इस प्रकार आगम नेत्रवाला जो श्रावक सोलह पहर धर्मध्यानपूर्वक विताता है, वह भव्य सुन्दर मुक्तिवधूके हृदयका हार बनता है ॥४३०॥ प्रोषधोपवासमें स्थित श्रावक स्नान, गन्ध-विलेपन, शरीर-शृङ्गार, स्त्री सेवन और सर्व सावद्य कर्मोंका परित्याग करे ॥४३१॥ जो मनुष्य सर्व आरम्भसे रहित होकर एक भी उपवासका आश्रय करता है, वह बहुत कर्मोंका क्षय करके अक्षय सुखको प्राप्त होता है ॥४३२॥ स्वीकृत परिग्रह-परिमाणव्रतमें भी अपनी शक्तिके अनुसार भोग और उपभोगकी जो संख्या और भी सीमित की जाती है, वह भोगोपभोगसंख्यान नामका तीसरा शिक्षाव्रत जानना चाहिये ॥४३३॥

स्नान, भोजन और ताम्बूल-भक्षणको ज्ञानियोंने भोग कहा है। वस्त्र, स्त्री, आभूषण, शय्या और आसनादिको उपभोग कहा है ॥४३४॥ भोग और उपभोगके त्यागके लिए यम और नियम कहे गये हैं। कालकी मर्यादासे रहित यावज्जीवनके त्यागको यम कहते हैं और कालकी मर्यादाके साथ त्याग करनेको नियम कहते हैं ॥४३५॥ जो पुरुष इस शिक्षाव्रतमें भोग और उपभोगके पदार्थोंकी संख्याको त्रियोग शुद्धिसे करता है, और उसे पालन करनेका प्रयत्न करता है, वह नियमसे मुक्ति कामिनीका रमण करनेवाला होता है ॥४३६॥ जो पुरुष अपने धनका भाग अतिथिके लिए संकल्प करता है, उसे जगत्में उत्तम जिनेन्द्रदेवने अतिथि संविभाग व्रत कहा है

स्वयमेवातति व्यक्तव्रतोऽपि सदनं प्रति । भिक्षार्थं ज्ञानशब्दार्थैः सोऽतिथिः परिकथ्यते ॥४३८
नवपुण्यैर्विधातव्या प्रतिपत्तिस्तपस्विनाम् । सर्वारम्भविमुक्तानां दात्रा सप्तगुणैषिणा ॥४३९
संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रमाणं च । वाक्कायमनःशुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः ॥४४०

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वम् ।
अविषादत्वमुदित्वं निरहङ्कारत्वमिति सप्त दातृगुणाः ॥४४१

द्विधान्नदानमुद्दिष्टं पात्रापात्रादिभेदतः । तत्पात्रं त्रिविधं दानयोग्यं मुक्तिप्रदायकम् ॥४४२
मुनयोऽत्युत्तमं पात्रं मध्यमं दृगणुव्रताः । जघन्यं दृष्टियुक्ताश्च पात्रं त्रिविधमीरितम् ॥४४३

सम्यक्त्ववर्जितोऽनेकतपः कर्मणि कर्मठः । यः स रम्यतरोऽपि स्यात्कुपात्रं गदितं जिनैः ॥४४४
सम्यक्त्वरहितोऽशेषकषायकलुषीकृतः । यो विमुक्तव्रतोऽपात्रं स स्यान्मिथ्यात्वदूषितः ॥४४५

नाहरन्ति महासत्त्वाश्चित्तेनाप्यनुकम्पिताः । किन्तु ते दैन्यकारुण्यसङ्कल्पोज्झितवृत्तयः ॥४४६
अभक्तानां सदर्पाणां कारुण्योज्झितचेतसाम् । दीनानां च निवासेषु नाश्नन्ति मुनयः क्वचित् ॥४४७
पात्रदानेन संसारं तरन्ति त्वरितं नराः । वार्धिं वर्धिष्णुकल्लोलं पोतेनेव नियामकाः ॥४४८
एवं शीलमहामातरः सप्तसुखदायिकाः । पुत्रेण नैगमेनाशु सेव्याः प्रत्यहमुत्तमाः ॥४४९

॥४३७॥ व्यक्त हैं व्रत जिसके ऐसा जो साधु भिक्षाके लिए गृहस्थके घर स्वयमेव ही गमन करता है, वह अतिथि कहलाता है, ऐसा 'अतिथि' शब्दके अर्थके जानकार कहते हैं ॥४३८॥ सर्व आरम्भसे रहित तपस्वी साधुओंका सात गुणोंके धारक दाताको नौ प्रकारके पुण्योंसे अर्थात् नवधा भक्तिसे आदर-सत्कार करना चाहिये ॥४३९॥ गोचरीके लिए विहार करते हुए साधुको पडिगाहना, उच्चस्थान देना, चरण-प्रक्षालन करना, पूजन करना, नमस्कार करना, मन-वचन-काय शुद्ध रखना और शुद्ध भोजन देना, यह नवधा भक्ति है ॥४४०॥ इस लोकसम्बन्धी किसी भी प्रकारके फल पानेकी अपेक्षा नहीं रखना, क्षमा धारण करना, निष्कपट भाव रखना, ईर्ष्या न करना, विषाद नहीं करना, प्रमोद भाव रखना और अहंकार-रहित होना, ये दाताके सात गुण कहे गये हैं ॥४४१॥ पात्र और अपात्रके भेदसे अन्नदान दो प्रकारका कहा गया है। इनमेंसे दान देनेके योग्य और मुक्तिके देनेवाले पात्र तीन प्रकारके होते हैं ॥४४२॥ उत्तमपात्र मुनि हैं, सम्यग्दर्शन और अणुव्रतके धारक श्रावक मध्यम पात्र हैं और केवल सम्यग्दर्शनसे युक्त व्रत-रहित मनुष्य जघन्य पात्र हैं, ये तीन प्रकारके पात्र कहे गये हैं ॥४४३॥ जो अनेक प्रकारके तप करनेमें कर्मठ है, किन्तु सम्यक्त्वसे रहित है, वह अतिरम्य होते हुए भी जिन भगवान्‌के द्वारा कुपात्र कहा गया है ॥४४४॥ जो सम्यक्त्वसे रहित है, सभी कषायोंसे कलुषित चित्त है, व्रतोंसे रहित है और मिथ्यात्वसे दूषित है, वह अपात्र है ॥४४५॥ जो महाबलशाली हैं, षट्कायकी रक्षाके भावसे जिनका चित्त अनुकम्पित है, जो दैन्य, कारुण्य और आहारके संकल्पसे रहित प्रवृत्तिवाले हैं, ऐसे महामुनि तो आहार करते ही नहीं हैं। किन्तु जो अल्प बलशाली मुनि हैं, वे भी भक्ति-रहित, दर्प-सहित और करुणा-रहित चित्तवाले लोगोंके यहाँ, तथा दीन पुरुषोंके घरोंमें भी कभी आहार ग्रहण नहीं करते हैं ॥४४६-४४७॥ पात्रदानके द्वारा मनुष्य संसारको शीघ्र ही पार कर लेते हैं। जैसे कि नियामक कर्णधार बढ़ते हुए लहरोंवाले समुद्रको जहाजके द्वारा पार कर लेते हैं ॥४४८॥ इस प्रकार ये सात शीलरूप महामाताएँ महान् सुखोंको देनेवाली हैं, अतः नीतिवान् पुत्र जैसे अपनी माताकी सेवा करता है, उसी प्रकार उत्तम पुरुषोंको प्रतिदिन नियमसे इन सप्तशीलरूप माताओंकी सेवा आराधना करनी

दुर्भिक्षे दुस्तरे व्याधौ वृद्धत्वे दुःसहेऽथवा । महावैरकरे वैरिबले हन्तुं समुद्यते ॥४५०
तपोध्वंसविधौ मृत्युकाले वा समुपस्थिते । सल्लेखना विधातव्या संसारभयभीरुभिः ॥४५१
संन्यासमरणं दान-शीलभावतपःफलम् । निगदन्ति यतस्तस्मिन्नतो यत्नो विधीयताम् ॥४५२
पुत्रमित्रकलत्रादौ स्नेहं मोहं धनादिषु । द्वेषं द्विषत्समूहेषु हित्वा संन्यासमाश्रयेत् ॥४५३
कारितं यत्कृतं पापं तथानुमतमञ्जसा । तदालोच्य गुरूपान्ते निःशल्यः क्षपको भवेत् ॥४५४
यदकार्यमहं दुष्टमतिकष्टकरं त्रिधा । तत्सर्वं सर्वदा सद्भिः क्षम्यतां दुष्टताम् ॥४५५
इत्युक्त्वा मूलतश्छित्वा रागद्वेषमयं : । आददीत गुरूपान्ते क्षपको हि महाव्रतम् ॥४५६
कालुष्यमरतिं शोकं हित्वाऽऽलस्यं भयं पुनः । प्रसाद्यं चित्तमत्यन्तं ज्ञानशास्त्रामृताम्बुभिः ॥४५७
हित्वा निःशेषमाहारं क्रमात्तैस्तैस्तपोबलैः । तनुस्थिति ततः शुद्धदुग्धपानैः समाचरेत् ॥४५८
कियद्भिर्वासरैर्हित्वा स्निग्धपानमपि क्रमात् । खरपानं गृहीतव्यं केवलस्थितिसाधनम् ॥४५९
खरपानं विहायाथ शुद्धाम्भःपानमाचरेत् । अपहाय च तत्पानमुपवासमुपाश्रयेत् ॥४६०

दर्शनज्ञानचारित्रतपश्चरणलक्षणाम् । आराधनां प्रसन्नेन चेतसाऽऽराधयेत्सुधीः ॥४६१
स्मरन् पञ्चनमस्कारं चिदानन्दं च चिन्तयन् । दुःखशोकविमुक्तात्मा हर्षतस्तनुमुत्सृजेत् ॥४६२

चाहिए ॥४४९॥ भयंकर दुर्भिक्ष, व्याधि, असह्य बुढ़ापाके आनेपर, अथवा महावैर करनेवाले शत्रु-सेनाके मारनेके लिए समुद्यत होनेपर, तपके विध्वंसक कारण निकट आनेपर अथवा मरण-समय उपस्थित होनेपर संसारके भयसे डरनेवाले श्रावकोंको सल्लेखना धारण करना चाहिए ॥४५०-४५१॥ यतः ज्ञानीजन दान शीलभाव और तप धारण करनेका फल संन्यासमरण कहते हैं, अतः संन्यास मरणमें प्रयत्न करना चाहिए ॥४५२॥ पुत्र, मित्र और स्त्री आदिमें स्नेहको, धन-धान्यादिमें मोहको और शत्रु-समूहोंमें द्वेषको छोड़कर संन्यासका आश्रय लेना चाहिए ॥४५३॥ इस जीवनमें जो पाप स्वयं किये हों, दूसरोंसे कराये हों, अथवा पाप करनेवालोंकी अनुमोदना की हो, उन सबकी गुरुके समीप निश्चयसे आलोचना करके समाधिमरणके लिए उद्यत क्षपकको निःशल्य हो जाना चाहिए ॥४५४॥ मैंने जो दुष्ट और अतिकष्टकारी कार्य मन वचन कायसे आप लोगोंके साथ किये हैं, मेरी उस सब दुष्टताको आप सर्व सज्जन लोग सर्वदाके लिए क्षमा करें ॥४५५॥ इस प्रकार स्वजन, परिजन आदि सबसे कहकर और राग-द्वेषमयी अन्धकारको मूलसे छेदनकर गुरुके समीप महाव्रतको अंगीकार करे ॥४५६॥ तत्पश्चात् कलुषता, अरति, शोक, भय, और आलस्यको छोड़कर शास्त्रज्ञानामृतरूप जलसे चित्तको अत्यन्त प्रसन्न करे ॥४५७॥ पुनः क्रमसे उन-उन आगम-प्रतिपादित तपोबलोंसे सर्व आहारको छोड़कर तदनन्तर शरीरकी स्थितिके लिए शुद्ध दुग्ध पान करे ॥४५८॥ पुनः क्रमसे कितने ही दिनोंके द्वारा स्निग्ध दुग्धपानको भी छोड़कर शरीर-स्थितिका साधन केवल तक्र आदि खर पानको ग्रहण करे ॥४५९॥ तत्पश्चात् खर पानको भी त्यागकर केवल शुद्ध जलका पान करे। पुनः जलपानको भी छोड़कर उपवासका आश्रय स्वीकार करे ॥४६०॥

उस उपवासकी दशामें वह बुद्धिमान् क्षपक दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपश्चरण स्वरूप चार आराधनाका प्रसन्न मनसे आराधन करे ॥४६१॥ पुनः जब जीवनका अन्त समय प्रतीत हो, तब पंचनमस्कारमन्त्रका स्मरण और चिदानन्द आत्माका चिन्तवन करते हुए दुःख-शोकादिसे

इत्येवं कथिता सम्यक् कायसल्लेखना वरा । तया युक्ताः श्रावकाश्च लभन्ते परमां गतिम् ॥४६३

एवं व्रतं मया प्रोक्तं त्रयोदशविधियुतम् । निरतीचारकं पाल्यन्ते तेऽतीचारास्तु सप्ततिः ॥४६४
सूत्रे तु सप्तमेऽप्युक्ताः पृथग् नोक्तास्तदर्थतः । अवशिष्टः समाचारः सोऽत्र वै कथितो ध्रुवम् ॥४६५

दर्शनज्ञानचारित्रैः श्रावको हितमिच्छति । तदादौ व्यसनं त्याज्यं सप्तभेदं च गर्हितम् ॥४६६
द्यूतं मांसं सुरा वेश्याऽऽखेटचौर्येऽतिगर्हिते । पराङ्गना च सप्तेति व्यसनानि विवर्जयेत् ॥४६७
क्षणार्धमपि यच्चित्ते विधत्ते द्यूतमास्पदम् । युधिष्ठिर इवाप्नोति व्यापदं स दुराशयः ॥४६८
पलाद्बको वारुणीतो नष्टाश्च यदुनन्दनाः । चारुः कामुकया नष्टः पापद्धर्या ब्रह्मदत्तभाक् ॥४६९
चौर्यत्वाच्छिवभूतिश्च दशास्योऽन्यस्त्रिया हतः । एकैकव्यसनान्नष्टा एवं सर्वैर्न किं भवेत् ॥४७०
अन्यान्यपि च दुष्कर्माणि कुत्सितजनैः सह । सङ्गमादीनि सर्वाणि दूरतः परिवर्जयेत् ॥४७१

वृद्धसेवा विधातव्या ज्ञानं पाठ्यं निरन्तरम् । हितं कार्यमकार्यं चाहितं पुनरयोत्तमम् ॥४७२
जगत्ख्यातं विदन्नाशु किं प्रमाद्यति यो जनः । अथवानादिकालीनमोहतः किं करोति न ॥४७३
भक्ष्याभक्ष्येषु मूढो वा कृत्याकृत्येषु बालिशः । शास्त्रश्रवणतोऽप्यज्ञः कथं पापं करोति ना ॥४७४

रहित होकर हर्षके साथ शरीरका परित्याग करे ॥४६२॥ इस प्रकार उत्तम सम्यक्काय सल्लेखनाका कथन किया । इससे संयुक्त श्रावक परम गति मोक्षको प्राप्त करते हैं ॥४६३॥ इस प्रकार मैंने संन्यास और बारह व्रत इस तेरह प्रकारकी विधिसे युक्त श्रावकव्रतका वर्णन किया । जो अतिचाररहित इन व्रतोंका पालन करते हैं, वे स्वर्गके सुख भोगकर अन्तमें मोक्षको प्राप्त करते हैं । उक्त तेरह व्रत और सम्यग्दर्शन इनके एक-एक व्रतके पाँच-पाँच अतीचार होते हैं, जो सब मिलकर सत्तर हो जाते हैं । इनको तत्त्वार्थसूत्रके सातवें अध्यायमें कहा गया है, अतः यहाँपर पृथक्से नहीं कहा है । श्रावकका शेष समाचार यहाँपर निश्चयसे कहा गया है ॥४६४–४६५॥ जो श्रावक सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रके द्वारा आत्महित करना चाहता है, उसे सबके आदिमें लोक निन्द्य सात भेदरूप व्यसनोंका त्याग करना चाहिए ॥४६६॥ द्यूत, मांस, मदिरा, वेश्या, आखेट (शिकार), चोरी और परस्त्री सेवन ये सात अतिनिन्द्य व्यसन हैं, श्रावक इन्हें छोड़े ॥४६७॥ जो मनुष्य आधे क्षणके लिए भी अपने चित्तमें द्यूतको स्थान देता है, अर्थात् जुआ खेलनेका भाव करता है, वह दुष्ट-हृदय पुरुष युधिष्ठिरके समान आपत्तिको प्राप्त होता है ॥४६८॥ मांस खानेसे बकराजा नष्ट हुआ । मदिरापानसे यादव नष्ट हुए । वेश्या सेवनसे चारुदत्त और शिकार खेलनेसे ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती नष्ट हुआ ॥४६९॥ चोरीसे शिवभूति और परस्त्रीसे रावण मारा गया । ये सब एक एक व्यसनके सेवनसे नष्ट हुए । जो पुरुष सभी व्यसन करेंगे, उनकी क्या दुर्दशा न होगी ? अर्थात् सर्वव्यसनसेवी तो और भी महान् दुःखोंको पावेंगे ॥४७०॥ इन व्यसनोंके अतिरिक्त अन्य भी जितने दुष्कर्म हैं, और खोटे जनोंके साथ संगति आदि है उन सबका दूरसे ही परित्याग करना चाहिए ॥४७१॥ इसके अतिरिक्त श्रावकोंको सदा वृद्धजनोंकी सेवा करनी चाहिए, निरन्तर ज्ञानका अभ्यास करना चाहिए और हितकारी कार्य करना चाहिए । किन्तु अहितकारी उत्तम भी कार्य नहीं करना चाहिए ॥४७२॥ जो मनुष्य जगत्प्रसिद्ध हित-अहितको जानता है, वह क्या आत्महित करनेमें प्रमाद करेगा ? नहीं करेगा । अथवा अनादिकालीन मोहसे मोहित हुआ प्राणी क्या-क्या अनर्थ नहीं करता है ॥४७३॥ जो मनुष्य भक्ष्य-अभक्ष्यपदार्थोंमें मूढ़ है, कृत्य और अकृत्यमें

इत्येवं बोधितो भव्यः कियत्कालं दृषत्समः । भवतीह मृदुस्थूलो भाक् सुखसङ्गतः ॥४७५

इति हतदुरितौघं श्रावकाचारसारं गदितमतिसुबोधो स्वामिभिश्च ।
विनयभरनताङ्गाः गाकर्णयन्तु वि तिमवाप्य ज्ञानयुक्ता भवन्तु ॥४७६

इतिवृत्तं मयोद्दिष्टं संश्रये षष्ठकेऽरि म् । चान्यन्मया कृते ग्रन्थेऽन्यरि व्यमेव च ॥४७७

मूर्ख है, तथा शास्त्र-श्रवणसे भी अज्ञ है, वह मनुष्य पाप कैसे नहीं करेगा ? अवश्य ही करेगा ॥४७४॥ इस प्रकारसे सम्बोधित पाषाण-समान भी भव्य पुरुष कितने ही कालमें कोमल और उदार हो जाता है। पुनः वह भी धर्म-धारण करके सुखको प्राप्त होता है ॥४७५॥ इस प्रकार पाप-समूहका नाशक सर्व श्रावकाचारोंका सार अतिसुगम उपासकाचार स्वामीने कहा है। इसे विनय-भारसे नम्रीभूत अंगवाले भव्यजन भली-भाँतिसे श्रवण करें और निर्मल बुद्धिको प्राप्तकर ज्ञानयुक्त होवें ॥४७६॥ इस प्रकार यह सर्व वर्णन मैंने श्रावकके छठे आवश्यक कार्यके संश्रयमें किया। इस सम्बन्धमें अन्य जो बातें ज्ञातव्य हैं, वह मेरे द्वारा रचित अन्य ग्रन्थमें देखना चाहिए ॥४७७॥

इति उमास्वामिविरचित श्रावकाचार समाप्त ।

•

श्री पूज्यपाद-श्रावकाचार

श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रस्य सान्द्रवाक्-चन्द्रिकाऽङ्गिनाम् । हृषीष्टं दुष्टकर्माष्टवर्मसन्तापनश्रमम् ॥१
दुराचारचयाक्रान्तदुःखसन्तानहानये । ब्रवीम्युपासकाचारं चारुमुक्तिसुखप्रदम् ॥२

आप्तोऽष्टादशभिर्दोषैर्निर्मुक्तः शान्तरूपवान् । नैर्ग्रन्थ्येन भवेन्मोक्षो धर्मो हिंसादिवर्जितः ॥३
क्षुधा तृषा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम् । जरा रुजा च मृत्युश्च खेदः स्वेदो मदोऽरतिः ॥४
विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवम् । त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषाः साधारणा इमे ॥५
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः । विद्यन्ते येषु ते नित्यं तेऽत्र संसारिणः स्मृताः ॥६

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदम् । आसनं शयनं कुप्यं भाण्डं चेति वहिर्दश ॥७
मिथ्यात्ववेदरागाश्च द्वेषो हास्यादयस्तथा । क्रोधादयश्च विज्ञेया आभ्यन्तरपरिग्रहाः ॥८

एतेषु निश्चयो यस्य विद्यते स पुमानिह । सम्यग्दृष्टिरिति ज्ञेयो मिथ्यादृष्टिश्च संशयी ॥९
स्वतत्त्वपरतत्त्वेषु हेयोपादेयनिश्चयः । संशयेन विनिर्मुक्तः स सम्यग्दृष्टिरुच्यते ॥१०
अधिष्टानं भवेन्मूलं प्रासादानां यथा पुनः । तथा सर्वव्रतानां च सम्यक्त्वमुच्यते ॥११
नास्त्यर्हतः परो देवो धर्मो नास्ति दयां विना । तपःपरं च नैर्ग्रन्थ्यादेतत्सम्यक्त्वलक्षणम् ॥१२

श्रीमान् जिनेन्द्रचन्द्रकी सघन वचनरूप चन्द्रिका प्राणियोंके दुष्ट अष्ट कर्मरूप घामके सन्तापन-श्रमको हरण करनेवाली है, अतः वह सवको इष्ट है ॥१॥ दुराचारके संचयसे आक्रान्त जीवोंके दुःख सन्तानको दूर करनेके लिए सुन्दर मुक्ति-सुखके देनेवाले उपासकाचारको मैं कहता हूँ ॥२॥ जो वक्ष्यमाण अठारह दोषोंसे रहित है, शान्तरूपवाला है, वह आप्त है। निर्ग्रन्थतासे ही मोक्ष प्राप्त होता है और धर्म हिंसादिसे रहित अहिंसास्वरूप है ॥३॥ क्षुधा, तृषा, भय, द्वेष, राग, मोह, चिन्ता, जरा, रोग, मृत्यु, खेद, स्वेद, मद, अरति, विस्मय, जन्म, निन्दा और विषाद ये अठारह दोष निश्चयसे तीन लोकके सर्व प्राणियोंके साधारण हैं, अर्थात् समानरूपसे पाये जाते हैं ॥४-५॥ जो इन दोषोंसे विनिर्मुक्त है, वह निरंजन आप्त है और जिनमें ये दोष नित्य पाये जाते हैं, सब संसारी जीव माने गये हैं ॥६॥ क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, आसन, शयन, कुप्य और भाण्ड ये दश प्रकारके बाह्य परिग्रह हैं ॥७॥ मिथ्यात्व, वेद, राग, द्वेष, हास्यादिक छह नोकषाय और क्रोधादिक चार कषाय ये चौदह आभ्यन्तर परिग्रह जानना चाहिये ॥८॥ इस प्रकार सर्व दोष-रहित आप्त देवमें, सर्व परिग्रह-रहित निर्ग्रन्थ गुरुमें और अहिंसामय धर्ममें जिसका दृढ़ निश्चय (श्रद्धान) है, वह पुरुष सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये। जिसे उक्त तीनोंमें संशय है, वह मिथ्यादृष्टि है ॥९॥ जिसे स्वतत्त्व और परतत्त्वोंमें हेय-उपादेयका निश्चय है, और जो संशयसे रहित है, वह सम्यग्दृष्टि कहा जाता है ॥१०॥ जैसे सभी भवनोंका आधार उसका मूल (नींव) है, उसी प्रकार सर्व व्रतोंका मूल आधार सम्यक्त्व कहा गया है ॥११॥ अरहन्तसे श्रेष्ठ कोई देव नहीं, दयाके विना कोई धर्म नहीं और निर्ग्रन्थतासे परे कोई तप नहीं है, ऐसा दृढ़ श्रद्धान ही सम्यक्त्वका

अव्रता अपि सम्यक्त्वे ये दृढा न प्रयान्ति ते । स्त्रीनपुंसकतिर्यक्त्वं नारकत्वं दरिद्रताम् ॥१३

धुत्यागैः सहोदुम्बरप ः । गृहिणां प्राहुराचार्या अष्टौ मूलगुणानिति ॥१४

न वेत्ति पानाच्च स्मरणेन विकलीकृतः । तरं योगि या त्वमेव मन्यते ॥१५
विवेकबुद्धिहीनतां करोति देहिनां वधम् । ततो विवेकिभिर्जनैः सुरा निषिध्यते सदा ॥१६
रक्तमात्रप्रवाहेण स्त्री नि । जायते स्फुटम् । द्विधातुजं पुनर्मांसं पवित्रं जायते कथम् ॥१७
प्राणिनां देहजं तद्वि विना न तत् । प्राप्यते कारणात्तस्माद् वर्जयेन्मांसभक्षणम् ॥१८

माक्षि जन्तुसङ्कीर्णं मधुजालविघाततः । यज्जायतेऽङ्गिरक्षार्थं तस्मात्तत्त्यजते बुधैः ॥१९

स्थूलाः सूक्ष्मास्तथा जीवाः सन्त्युदुम्बरमध्यगाः । तन्निमित्तं जिनोद्दिष्टं पञ्चोदुम्बरवर्जनम् ॥२०

देवतामन्त्रसिद्धयर्थं पर्वण्यौषधकारणात् । न भवन्त्यङ्गिनो हिं : प्रथमं तदणुव्रतम् ॥२१
लाभलोभभयद्वेषैर्व्यलीकवचनं पुनः । सर्वथा वक्तव्यं द्वितीयं तदणुव्रतम् ॥२२
पतितं विस्मृतं नष्टमुत्पथे पथि कानने । वर्जनीयं परद्रव्यं तृतीयं तदणुव्रतम् ॥२३
परेषां योषितो दृष्ट्वा निजमातृसुतासमाः । कृत्वा रसन्तोषं चतुर्थं तदणुव्रतम् ॥२४
दासीदासरथान्येषां स्वर्णानां योषितां तथा । परिमाणव्रतं ग्राह्यं तदणुव्रतम् ॥२५

लक्षण है ॥१२॥ व्रत-रहित भी जो जीव सम्यक्त्वमें दृढ़ रहते हैं, वे स्त्री, नपुंसक, तिर्यंच और नारकपर्यायको तथा दरिद्रतावाली मनुष्य पर्यायको नहीं प्राप्त होते हैं ॥१३॥ मद्य मांस और मधु के त्यागके साथ पाँच उदुम्बर फलोंके त्यागको आचार्य गृहस्थोंके आठ मूल गुण कहते हैं ॥१४॥ मद्यपानसे मनुष्य भले-बुरेको नहीं जानता है, वह स्मरण शक्तिसे विकल होकर अपनी माताको स्त्रीके समान ही मानता है ॥१५॥ यह मद्यपान विवेक बुद्धिकी हीनताको और प्राणियोंके वधको करता है, अतः विवेकी मनुष्य मदिराका सदा निषेध करते हैं ॥१६॥ जब मासिक धर्मके समय केवल रक्तके प्रवाहसे स्त्री स्पष्टतः निन्द्य हो जाती है, तब द्विधातुज अर्थात् माता-पिताके रज और वीर्यरूप दो धातुओंसे उत्पन्न हुआ मांस कैसे पवित्र हो सकता है ॥१७॥ मांस प्राणियोंके देहसे उत्पन्न होता है, अतः वह प्राणि-घातके विना प्राप्त नहीं होता है । इस कारणसे मांस-भक्षण छोड़ना चाहिये ॥१८॥ माक्षिक (मधु) अनेक जन्तुओंसे व्याप्त है और मधुजालके विघातसे उत्पन्न होता है, इसलिए ज्ञानीजन प्राणियोंकी रक्षाके लिए उसका त्याग करते हैं ॥१९॥ उदुम्बर फलोंके भीतर अनेक स्थूल और सूक्ष्म जीव होते हैं, उनकी रक्षाके निमित्त जिनदेवने पाँचों उदुम्बरों का त्याग करना कहा है ॥२०॥ पर्व विशेषमें देवता और मंत्रकी सिद्धिके लिए, तथा औषधिके निमित्तसे भी प्राणियोंकी हिंसा नहीं करना चाहिये, यह प्रथम अणुव्रत है ॥२१॥ लाभ, लोभ, भय और द्वेषसे असत्य वचन सर्वथा नहीं कहना चाहिये, यह द्वितीय अणुव्रत है ॥२२॥ उन्मार्गमें, राजमार्गमें और वनमें गिरे, भूले या नष्ट हुए परद्रव्यका त्याग करना चाहिये, यह तृतीय अणुव्रत है ॥२३॥ दूसरोंकी स्त्रियोंको अपनी माता (बहिन) और पुत्रीके समान देखकर अपनी स्त्रीमें सन्तोष करना यह चतुर्थ अणुव्रत है ॥२४॥ दासी, दास, रथ, सुवर्ण, स्त्रियाँ, तथा अन्य क्षेत्र, वास्तु आदि परिग्रहका परिमाण व्रत ग्रहण करना चाहिये, यह पंचम अणुव्रत है ॥२५॥ अपने गुरुके

परिमाणव्रतं ग्राह्यं दिक्षु सर्वासु सर्वदा । स्वशक्त्याऽऽत्मगुरोः पार्श्वे तदाद्यं स्याद् गुणव्रतम् ॥२६
इयतीक्ष्मां गमिष्यामि कृतसंख्यादिमध्यतः । इत्युक्त्वा गम्यते यत्र द्वितीयं स्याद् गुणव्रतम् ॥२७
केकिमण्डलमार्जारविषशस्त्राग्निरज्जवः[1] । न दातव्या इमे नित्यं तृतीयं स्याद् गुणव्रतम् ॥२८

आर्त्तरौद्रं परित्यज्य त्रिषु कालेषु दा । वन्द्यो भवति सर्वज्ञस्तच्छिक्षाव्रतमादिगम् ॥२९
चतुर्दश्यामथाष्टम्यां प्रोषधः क्रियते सदा । शिक्षाव्रतं द्वितीयं स्यान्मुनिमार्गविधानतः ॥३०
यानभूषणमाल्यानां ताम्बूलाहारवाससाम् । परिमाणं भवेद्यत्तदाहुः शिक्षाव्रतं बुधाः ॥३१
संविभागोऽतिथीनां च व्यो निजशक्तितः । स्वेनोपार्जितवित्तेन तच्छिक्षाव्रतमन्तिमम् ॥३२
गुणव्रतं त्रिधा शिक्षाव्रतं स्याच्च चतुर्विधम् । शीलसप्तकमित्येतद् भाषितं मुनिपुङ्गवैः ॥३३
अणुव्रतानि यो धत्ते शीलसप्तकमप्यसौ । व्रतिकः प्रोच्यते सद्भिः सप्तव्यसनवर्जितः ॥३४

द्यूतं मांसं सुरा वेश्या परदाराभिलोभनम् । मृगया सह चौर्येण स्युः सप्त व्यसनानि वै ॥३५
शृङ्गवेरं तथानन्तकाया विल्वफलं सदा । पुष्पं शाकं च सन्धानं नवनीतं च वर्जयेत् ॥३६

मांसरक्ताऽऽर्द्रचर्मास्थिपूयदर्शनतस्त्यजेत् । मृताङ्गिवीक्षणादन्नं प्रत्याख्यातान्नसेवनात् ॥३७
मौनाद् भोजनवेलायां ज्ञानस्य विनयो भवेत् । रक्षणं चापमानस्य तद्वदन्ति मुनीश्वराः ॥३८

पास स्वशक्तिके अनुसार सर्व दिशाओंमें सर्वदाके लिए परिमाण व्रत ग्रहण करना चाहिये, यह प्रथम गुणव्रत है ॥२६॥ दिग्व्रतमें किये गये परिमाणके भी भीतर आज मैं इतनी भूमितक जाऊँगा, ऐसा कहकर स्वीकृत प्रदेशमें जाना तो द्वितीय अणुव्रत है ॥२७॥ मयूर, कुक्कुर, मार्जार आदि हिंसक प्राणियोंको नहीं पालना, तथा विष, शस्त्र, अग्नि और रस्सी आदिक दूसरोंको कभी नहीं देना चाहिये, यह तृतीय गुणव्रत है ॥२८॥ आर्त्त और रौद्रध्यान छोड़कर तीनों सन्ध्याकालोंमें सर्वज्ञदेवकी सदा वन्दना करना चाहिये, यह प्रथम शिक्षाव्रत है ॥२९॥ चतुर्दशी और अष्टमीको मुनि मार्गके विधानसे सदा प्रोषधोपवास करना चाहिये, यह द्वितीय शिक्षाव्रत है ॥३०॥ वाहन, भूषण, माला, ताम्बूल, आहार और वस्त्रोंका जो परिमाण किया जाता है, उसे ज्ञानिजन तीसरा शिक्षाव्रत कहते हैं ॥३१॥ अपने उपार्जित धनमेंसे अपनी शक्तिके अनुसार अतिथिजनोंका विभाग करना चाहिये, यह अन्तिम शिक्षाव्रत है ॥३२॥ तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतको श्रेष्ठ मुनियोंने 'शील सप्तक' इस नामसे कहा है ॥३३॥ जो गृहस्थ पाँच अणुव्रतोंको और शील सप्तकको भी धारण करता है और सप्त व्यसनोंसे रहित है, उसे सन्तजन व्रती श्रावक कहते हैं ॥३४॥ जूआ, मांस, मदिरा, वेश्या, परदारा अभिलोभन और चोरीके साथ शिकार खेलना, ये सात व्यसन होते हैं ॥३५॥ शृंगवेर (अदरक) तथा कन्दमूल आदि सभी अनन्तकाय वनस्पति, वेलफल, पुष्प, शाक, सन्धानक (अचार-मुरब्बा) और नवनीत, इनका सदा त्याग करे ॥३६॥ मांस, रक्त, गीला चमड़ा, हड्डी और पीव देखकर भोजनको छोड़े, भोजनमें मरे हुए प्राणीको देखकर अन्नका त्याग करे, तथा त्यागे हुए अन्नका भूलसे सेवन होनेपर भोजनका परित्याग करे ॥३७॥ भोजनके समय मौन रखनेसे ज्ञानका विनय होता है, तथा अपमानसे भी अपनी रक्षा होती है, ऐसा मुनीश्वर कहते

---

1. व शस्त्रकृशानवः ।

अक्षरैर्न विना शब्दास्तेऽपि ज्ञानप्रकाशकाः । तद्-रक्षार्थं च षट्स्थाने मौनं श्रीजिनभाषितम् ॥३९

धर्मं चतुर्विधं प्राहुर्दानपूजादिभेदतः । तत्रान्नाभयभैषज्यशास्त्रद भेदतः ॥४०
अन्नदानं द्विधा प्रोक्तं पात्रापात्रविभेदतः । त्रिधा भवति तत्पात्रमुत्तमादिप्रभेदतः[1] ॥४१
महाव्रतानि यः विभर्त्यत्र स संयमी । निष्कषायो जितानङ्गः स भवेत्पात्रमुत्तमम् ॥४२
यः : सर्वसत्त्वेषु ध्यायध्यानतत्परः । निर्मुक्तः सर्वसङ्गेभ्य ाहुः पात्रमुत्तमम् ॥४३

त्त्वव्रतसम्पन्नो जिनधर्मप्रकाशकः । मध्यमं पात्रमित्याहुर्विरताविरतं बुधाः ॥४४
केवलं यस्य सम्यक्त्वं विद्यते न पुनर्व्रतम् । तं जघन्यमिति प्राहुः पात्रं निर्मलबुद्धयः ॥४५
व्रतसम्यक्त्वनिर्मुक्तो रागद्वेष न्वितः । सोऽपात्रं भण्यते जैनैर्यो मिथ्यात्वपटावृतः ॥४६

उप्तं यथोपरे क्षेत्रे बीजं भवति निष्फलम् । तथाऽपात्राय यद्दत्तं निष्फलं तन्न संशयः ॥४७
आमपात्रगतं क्षीरं यथा नश्यति तत्समम् । तथा तदप्यपात्रेण नश्यति निश्चयः ॥४८
जायते दन्दशूकस्य दत्तं क्षीरं यथा वि । तथाऽपात्राय यद्दत्तं तद्वि भोजनं भवेत् ॥४९
एकमेव जलं यद्वदिक्षौ मधुरतां व्रजेत् । निम्बे कटुकतां तद्वत्पात्रापात्राय भोजनम् ॥५०

हैं ॥३८॥ अक्षरोंके विना पद-वाक्यादिरूप शब्द नहीं होते, अतः वे भी ज्ञानके प्रकाशक हैं। इसलिए ज्ञानकी रक्षाके लिए छह स्थानोंपर मौन रखना श्री जिन[2] भगवान्‌ने कहा है ॥३९॥ दान, पूजा आदि (शील और उपवास) के भेदसे श्रावक धर्म चार प्रकारका कहा गया है। उनमें आहार, अभय, भैषज्य और शास्त्र दानके भेदसे दान चार प्रकारका है ॥४०॥ पात्र और अपात्रके भेदसे अन्न दान दो प्रकारका कहा गया है। पात्र भी उत्तम, मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन प्रकारके होते हैं ॥४१॥ जो पंच महाव्रतोंको धारण करता है, संयमी है, कषाय-रहित है और काम-विजेता है, ऐसा साधु उत्तम पात्र है ॥४२॥ जो सर्व प्राणियोंपर समभावका धारक है, स्वाध्याय और ध्यान में तत्पर रहता है और सर्व प्रकारके परिग्रहसे निर्मुक्त है, उसे उत्तम पात्र कहते हैं ॥४३॥

जो सम्यक्त्व और श्रावकव्रतोंसे सम्पन्न है, जिनधर्मका प्रकाशक है, ऐसे विरताविरत गृहस्थको ज्ञानीजन मध्यम पात्र कहते हैं ॥४४॥ जिसके केवल सम्यक्त्व है, किन्तु व्रत नहीं हैं, ऐसे अव्रत सम्यग्दृष्टि जीवको निर्मल बुद्धिवाले आचार्य जघन्य पात्र कहते हैं ॥४५॥ जो व्रत और सम्यक्त्वसे रहित है, राग-द्वेषसे संयुक्त है और मिथ्यात्वरूप वस्त्रसे आवृत है, ऐसे मनुष्यको जैनोंने अपात्र कहा है ॥४६॥ जैसे ऊसर खेतमें बोया गया बीज निष्फल जाता है, उसी प्रकार अपात्रके लिए जो दान दिया जाता है, वह भी निष्फल जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है ॥४७॥ जिस प्रकार मिट्टीके कच्चे पात्रमें रखा गया दूध नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार अपात्रमें गया दान भी उसीके साथ नष्ट हो जाता है, यह निश्चित है ॥४८॥ जैसे सर्पको दिया गया दूध विष हो जाता है, उसी प्रकार अपात्रके लिए जो भोजन दिया जाता है, वह भी विष हो जाता है ॥४९॥ जिस प्रकार एक ही प्रकारका जल इक्षुमें मधुरताको और नीममें कटुकताको प्राप्त होता है, उसी

---

१. ब यह श्लोक नहीं है।

२. वे छह स्थान इस प्रकार हैं—भोजन, पूजन, मैथुन-सेवन, मलमूत्र-विसर्जन, गमन और आवश्यक क्रिया करते समय मौन रखे।

न्यग्रोधस्य यथा बीजं स्तोकं सुक्षेत्रमध्यगम् । बहुविस्तीर्णतां याति तद्वद्दानं सुपात्रगम् ॥५१
सौधर्मादिषु कल्पेषु भुज्यन्ते स्वेप्सितं सुखम् । मानवाः पात्रदानेन मनोवाक्काययोगतः ॥५२
दिव्यदेहप्रभावत्वात्सप्तधातुविवर्जितः । गर्भोत्पत्तिर्न तत्रास्ति दिव्यदेहस्ततो मतः ॥५३
हंसतूलिकयोर्मध्ये जीवः संक्रामति क्षणात् । कुमारोऽन्तर्मुहूर्तेन भूत्वा षोडशवार्षिकः ॥५४
मृद्वी च द्रव्यसम्पन्ना मातृयोनिसमानिका । सुखानां तु खनिः प्रोक्ता तत्पुण्यप्रेरिता स्फुटम् ॥५५
रत्ननिर्मितहर्म्येषु दिव्यशय्यासु सर्वदा । भुज्यन्ते दिव्यकन्याभिः समं स्वर्गेऽमराः सुखम् ॥५६
तस्मादत्रैत्य जायन्ते चक्रिणोवार्धचक्रिणः । इक्ष्वाकादिषु वंशेषु पात्रदानफलान्नराः ॥५७
सज्जातिः सद्-गृहस्थत्वं पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता । साम्राज्यं परमार्हत्वं निर्वाणं चेति सप्तधा ॥५८

मिथ्यादृशोऽपि दानं ते दत्वा पात्राय भुञ्जते । दशाङ्गकल्पवृक्षेभ्यः सत्सुखं भोगभूमिषु ॥५९
स्रग्वस्त्रपानतुर्याङ्गा भूषणाहारगेहदाः । ज्योतिर्भाजनदीपाङ्गा दशाङ्गा कल्पपादपाः ॥६०

केचित्कुपात्रदानेन कर्णप्रावरणादिषु । भोगभूमिषु कुत्सासु जायन्ते तासु मानवाः ॥६१
खर्जूरपिण्डखर्जूरकदलीशर्करोपमान् । मृदिक्ष्वादिकभोगांश्च भुञ्जते नात्र संशयः ॥६२
: कुत्सितदेवेषु जायन्ते पापपाकतः । ततः संसारगर्तेषु पञ्चधा भ्रमणं सदा ॥६३

प्रकार पात्रमें दिया दान अमरत्वको और अपात्रमें दिया दान विपत्वको प्राप्त होता है ॥५०॥ जैसे उत्तम क्षेत्रमें बोया गया छोटा सा भी वटका बीज बहुत विस्तारको प्राप्त होता है, उसी प्रकार सुपात्रमें गया अल्प भी दान पुण्यके महान् विस्तारको प्राप्त होता है ॥५१॥ मन वचन कायसे दिये गये पात्रदानके द्वारा मनुष्य सौधर्मादिक स्वर्गोमें मनोवांछित सुखको भोगते हैं ॥५२॥ दिव्य देहके प्रभावसे उन देवोंका शरीर सप्त धातुओंसे रहित होता है। वहाँपर गर्भसे उत्पत्ति नहीं होती है, इसलिए उनका दिव्य देह माना गया है ॥५३॥ देवोंमें उत्पन्न होनेवाला जीव हंसतूलिकाके मध्यमें क्षण भरमें उत्पन्न होकर और एक अन्तर्मुहूर्तसे सोलह वर्षका कुमार बनकर बाहिर निकलता है ॥५४॥ उनकी उपपादशय्या मातृयोनिके समान द्रव्यसे सम्पन्न, अतिकोमल और सुखोंकी खानि कही गयी है, जो स्पष्ट ही उनके पुण्यसे प्रेरित है ॥५५॥ स्वर्गमें देवगण रत्न-निर्मित भवनोंके भीतर दिव्यशय्याओंपर दिव्य कन्याओंके साथ यथेच्छ सुख भोगते हैं ॥५६॥ पुनः वे जीव स्वर्ग लोकसे यहींपर आकर पात्रदानके फलसे इक्ष्वाकु आदि उत्तम वंशोंमें चक्री या अर्धचक्री उत्पन्न होते हैं ॥५७॥ इस प्रकार सुपात्रदानके फलसे जीव सज्जातित्व, सद्-गृहस्थत्व, पारिव्राज्य, सुरेन्द्रत्व, साम्राज्य, परमार्हत्त्व और निर्वाण इन सात प्रकारके परम स्थानोंको क्रमसे प्राप्त होते हैं ॥५८॥

मिथ्यादृष्टि मनुष्य भी सुपात्रके लिए दान देकरके भोगभूमियोंमें दशाङ्ग कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुए उत्तम सुखको भोगते हैं ॥५९॥ वे दशाङ्ग कल्पवृक्ष माला, वस्त्र, पानक, वाद्य, आभूषण, आहार, गृह, ज्योति, भाजन और दीप प्रदान करते हैं ॥६०॥ कितने ही मनुष्य कुपात्रदानसे कर्ण-प्रावरणादिक कुभोगभूमियोंमें उत्पन्न होते हैं ॥६१॥ वहाँपर वे खजूरपिंड, केला और शक्करके समान मिष्टफलोंको, मृत्तिका और इक्षु आदिके भोगोंको भोगते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥६२॥ पुनः वे नीच जातिके देवोंमें उत्पन्न होते हैं। तदनन्तर पापके परिपाकसे संसार-गर्तोमें पड़कर सदा पंच प्रकारके परिवर्तन करते हुए दुःख भोगते हैं ॥६३॥ इसलिए खोटे पात्रको छोड़कर

विहाय कुत्सितं पात्रं तस्मात्पात्रेषु योजयेत् । आहारं भक्तिपूर्वेण श्रद्धादिगुणसंयुतः ॥६४
श्रद्धा भक्तिरलोभत्वं दया शक्तिः सदा । विनयश्चेति सप्तैते गुणाः दातुः प्रकीर्त्तिताः ॥६५
प्रतिग्राहोन्नतस्थानं पादप्रक्षालनार्चनम् । नमस्त्रिविधयुक्तेन एषणा नवपुण्ययुक् ॥६६

विधेयं दानमभयं देहिनाम् । यतोऽन्यत्र भवेज्जीवो निर्भयोऽभयदानतः ॥६७
रोगिभ्यो भेषजं देयं देहरोगविनाश । देहनाशे कुतो ज्ञानं ज्ञानाभावे न निर्वृतिः ॥६८
तस्मात्स्वशक्तितो दानं भैषज्यं मोक्षहेतवे । देयं स्वयं भवत्यस्मिन् भवे व्याधिविर्वा : ॥६९

लिरि लेखरि च साधुभ्यो दीयते श्रु । व्याख्यायतेऽथवा स्वेन शास्त्रदानं तदुच्यते ॥७०
ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः । अन्नदानात्सुखी नित्यं निर्व्याधिर्भेषजाद् भवेत् ॥७१
श्रुतिस्मृति देन तत्त्वज्ञानं प्रजायते । ततो ध्यानं ततो ज्ञानं बन्धमोक्षो भवेत्ततः ॥७२
अपरस्मिन् भवे जीवो विभर्त्ति सकलं श्रुतम् । मोक्षसौख्यमवाप्नोति शास्त्रदानफलान्नरः ॥७३

स्वर्णचन्दनपाषाणैश्चतुरङ्गुलमान । कारयित्वा जिनं भक्त्या प्रत्यहं पू न्ति ये ॥७४
येनाकारेण मुक्तात्मा शुक्लध्यानप्रभावतः । तेनायं श्रीजिनो देवो ि ाकारेण पूज्यते ॥७५
आप्तस्यासन्निधानेऽपि पुण्यायाकृतिपूजनम् । तार्क्ष्यमुद्रा न किं कुर्याद् विषसामर्थ्यसूदनम् ॥७६

सुपात्रोंमें श्रद्धादि गुणोंके साथ भक्तिपूर्वक आहार देना चाहिए ॥६४॥ श्रद्धा, भक्ति, अलोभत्व, दया, शक्ति, क्षमा और विनय ये सात गुण दातारके सदा प्रशंसनीय कहे गये हैं ॥६५॥ प्रतिग्राह, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, अर्चन, नमस्कार, मनःशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और एषणाशुद्धि ये नौ पुण्ययुक्त भक्ति कही गयी है ॥६६॥ सर्वप्राणियोंको सर्वदा अभयदान देना चाहिए, जिससे कि यह जीव उस अभयदानके फलसे परभवमें निर्भय होवे ॥६७॥ रोगियोंके लिए देहके रोगोंकी नाशक औषधि देना चाहिए, क्योंकि देहके विनाश होनेपर आत्माको ज्ञान कैसे प्राप्त होगा और ज्ञानके अभावमें फिर मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता है ॥६८॥ इसलिए अपनी शक्तिके अनुसार मोक्षके हेतु सदा औषधिदान देना चाहिए, जिससे कि यह स्वयं इस (और पर) भवमें व्याधिसे रहित रहे ॥६९॥ साधुओंके लिए शास्त्र स्वयं लिखकर और दूसरोंसे लिखाकर जो दिये जाते हैं, अथवा स्वयं जो शास्त्रका व्याख्यान किया जाता हैं, वह शास्त्र-(ज्ञान-) दान कहा जाता है ॥७०॥ ज्ञानदानसे मनुष्य ज्ञानवान् होता है, अभयदानसे निर्भय रहता है, अन्नदानसे नित्य सुखी और औषधिदानसे सदा नीरोग रहता है ॥७१॥ शास्त्रोंके सुनने और स्मरण करनेके प्रसादसे तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है। तत्त्वज्ञानसे ध्यान प्राप्त होता है। ध्यानके द्वारा कर्मबन्धसे मुक्ति मिलती है ॥७२॥ शास्त्रदानसे मूर्ख भी मनुष्य परभवमें सकल श्रुतज्ञानका धारी होता है और तत्पश्चात् मोक्षके सुखको प्राप्त होता है। (इसलिए सदा शास्त्रदान देना चाहिये।) ॥७३॥ जो मनुष्य स्वर्ण, चन्दन और पाषाणसे चार अंगुल-प्रमाण भी जिनबिम्बका निर्माण कराकर भक्तिके साथ प्रतिदिन पूजा करते हैं, वे उसके फलसे श्री जिनदेव होकर (उसी) प्रतिबिम्बके आकार द्वारा लोगोंसे पूजे जाते हैं। जिस प्रकार कि शुक्ल ध्यानके प्रभावसे जीव जिस आकारसे मुक्तात्मा होता है, वह सिद्ध लोकमें उसी आकारसे अवस्थित रहता है ॥७४–७५॥ साक्षात् जिनदेवके समीप न होनेपर भी उनकी आकृतिका पूजन पुण्य-प्राप्तिके लिए होता है। साक्षात् गरुड़के अभावमें गरुड़की मुद्रा क्या विषकी सामर्थ्यका विनाश नहीं करती है? करती ही है ॥७६॥ नाम

परलोकसुखं भुक्त्वा पश्चान्मन्दरपर्वते । सुरपूजां ।ो लब्ध्वा निर्वृति यान्ति ते नराः ॥७७
नामादिभिश्चतुर्भेदैर्जिनसंहितया पुनः । यन्त्रमन्त्रक्रमेणैव स्थापयित्वा जिनाकृतिम् ॥७८
जन्म जन्म यदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः । तस्यैवाभ्यासयोगेन तदेवाभ्यस्यते पुनः ॥७९

यद्-गृहीतं व्रतं पूर्वं साक्षीकृत्य जिनान् गुरुन् । तद्-व्रताखण्डनं शीलमिति प्राहुर्मुनीश्वराः ॥८०
यान्ति शीलवतां पुंसां वश्यतां दुष्टमानवाः । अत्युग्रा अपि तिर्यञ्चः क्षुद्रोपद्रवकारिणः ॥८१

उपवासो विधातव्यः पञ्चम्यादिषु पर्वसु । श्रेयोऽर्थं प्राणिभिर्भव्यैस्त्रिशुद्धया जिनभक्तितः ॥८२
उपवासो विधातव्यो गुरूणां स्वस्य साक्षिकः । उपवासो जिनैरुक्तो न च देहस्य दण्डनम् ॥८३
अष्टमी चाष्टकर्मघ्नी सिद्धिलाभा चतुर्दशी । पञ्चमी ज्ञानलाभाय तस्मात्त्रितयमाचरेत् ॥८४
तेन नश्यन्ति कर्माणि सञ्चितानि पुराऽऽत्मना । नष्टकर्मा : सिद्धिं प्रयात्यत्र न संशयः ॥८५
पिपीलिकादयो जीवा भक्ष्यन्ते दीपकैर्निशि ।

गिल्यन्ते भोक्तृभिः पुम्भिस्ते पुनः कवलैः स ॥८६
स्फुटितांह्रिकरा दीना ये काष्ठतृणवाहकाः । कुचेलाः दुःकुलाः सन्ति ते रात्र्याहारसेवनात् ॥८७
सुस्वरा निर्मलाङ्गाश्च दिव्यवस्त्रविभूषणाः । जायन्ते ते नराः पूर्वं त्यक्तं यैर्निशिभोजनम् ॥८८

आदि चार निक्षेपोंके द्वारा जिनसंहिताकी विधिसे और यंत्र-मंत्रके क्रमसे ही जिनेन्द्रकी आकृतिकी स्थापना करके जो जिनपूजन करते हैं, वे परलोकमें सुख भोगकर, तत्पश्चात् सुमेरु पर्वतपर देवोंके द्वारा जन्माभिषेक पूजाको प्राप्त कर पुनः मुक्तिको जाते हैं ॥७७–७८॥ मनुष्य जन्म-जन्ममें जिस दान, अध्ययन और तपका अभ्यास करता है, उसी अभ्यासके योगसे वह पुनः और भी उनका अभ्यास करता है। (और इस प्रकार उत्तरोत्तर अभ्याससे वह उन्नति करता हुआ अन्तमें परम पदको प्राप्त करता है) ॥७९॥ जो व्रत पहले जिनेन्द्रदेव और गुरुजनोंकी साक्षीपूर्वक ग्रहण किया है, उस व्रतके अखंडित पालन करनेको मुनीश्वर शील कहते हैं ॥८०॥ शीलवान् पुरुषोंके दुष्ट मनुष्य, अत्यन्त उग्र तिर्यञ्च और क्षुद्र उपद्रवकारी देव-दानव भी वशको प्राप्त होते हैं ॥८१॥

पंचमी आदि पर्वोमें भव्य पुरुषोंको आत्मकल्याणके लिए मन वचन कायकी शुद्धिसे जिन-भक्तिके साथ उपवास करना चाहिये। गुरुजनोंकी साक्षीपूर्वक अपने उद्धारार्थ उपवास करना चाहिये। जिनेन्द्रदेवोंने (विषय-कषायकी प्रवृत्तिको रोकनेके लिए आहारके त्यागको) उपवास कहा कहा है। केवल देहके सुखानेको उपवास नहीं कहा है। अष्टमी अष्टकर्म-विनाशिनी है, चतुर्दशी सिद्धि-प्रदायिनी है और पंचमी केवलज्ञानके लाभके लिए कही गयी है, इसलिए इन तीनों ही पर्वोंमें उपवास करना चाहिये ॥८२–८४॥ इस उपवाससे आत्माके द्वारा पूर्वकालमें संचित कर्म नष्ट होते हैं और कर्मोका नाश करनेवाला जीव सिद्धि (मुक्ति) को जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥८५॥ रात्रिमें दीपकोंके प्रकाशमें भी खानेवाले पुरुषोंके द्वारा कीड़ी आदि छोटे छोटे जन्तु ग्रासके साथ खा लिए जाते हैं ॥८६॥ अतः रात्रिमें आहार-सेवन करनेसे मनुष्य परभवमें जिनके हाथ-पैर फट रहे हैं, ऐसे दीन, काठ और घासके भार-वाहक, कुचीवर-धारी और दुष्कुलवाले होते हैं ॥८७॥ किन्तु जिन्होंने पूर्व भवमें रात्रि भोजनका त्याग किया है, वे मनुष्य उत्तम स्वर एवं

रात्रिभुक्तिफलान्मर्त्या जायन्ते व्याधिपीडिताः। दासभृत्याः परेषां च स्वबन्धुवर्जिताः ॥८९
आरूढा मत्तमातङ्गं वीज्यमानाः सुचामरैः। ये यान्ति स्वजनैः सार्धं ते निशाहारवर्जनात् ॥९०
याः परुषाङ्गदासाद्या याः पुत्रपतिर्वाजताः। या दौर्भाग्यग्रहग्रस्तास्ता निशाहारभुक्तितः ॥९१
लीलया योषितो यान्ति या यानगजवाजिषु। वसन्ति दिव्यहर्म्येषु ता रात्र्याहारवर्जनात् ॥९२
दृश्यन्ते मर्त्यलोकेऽस्मिन् ये सुन्दरनराधिपाः। रात्र्यभुक्तिफलं तच्चैव हि न संशयः ॥९३
दिवसस्याष्टमे भागे मन्दीभूते दिवाकरे। नक्तं तं प्राहुराचार्या न नक्तं रात्रिभोजनम् ॥९४
यथा चन्द्रं विना रात्रिर्वा कमलैर्विना सरः। तथा न शोभते जीवो विना धर्मेण सर्वदा ॥९५
अद्य श्वो वा परस्मिन् वा दिने धर्मं करोम्यहम्। चिन्तयन्ति जना एवं क्षणं न सहते यमः ॥९६
दावाग्निः शुष्कमार्द्रं वा काष्ठं न सहते ध्रुवम्। यथा तथा यमो लोके बालं वृद्धं च यौवनम् ॥९७
कालक्षेपो न कर्तव्य आयुः क्षीणं दिने दिने। यमस्य करुणा नास्ति धर्मस्य त्वरिता गतिः ॥९८
अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः। नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रह ॥९९
आत्मरूढतरोरपि मागच्छतो तं नवत्यग्नौ। वृक्षाग्रं वाग्निना लग्नं तत्सुखं कुरुते वनम् ॥१००

निर्मल अंगके धारक और दिव्य वस्त्राभूषण वाले होते हैं ॥८८॥ रात्रि भोजनके फलसे मनुष्य सदा व्याधियोंसे पीडित, दूसरोंके घर दास कर्म करनेवाले और स्ववन्धुजनोंसे रहित होते हैं ॥८९॥ मदोन्मत्त हाथियोंपर आरूढ़, श्वेत चामरोंसे वीज्यमान जो मनुष्य स्वजनोंके साथ आज जाते हुए दिखाई देते हैं, वे रात्रि-भोजनके त्यागसे ऐसी सम्पदाको प्राप्त हुए हैं ॥९०॥ लोकमें जो परुष (कठोर एवं रूक्ष) अंगवाली दासी आदि देखी जाती हैं, जो पुत्र और पतिसे रहित स्त्रियाँ हैं और जो दुर्भाग्यरूप ग्रहसे पीड़ित स्त्रियाँ देखनेमें आती हैं, वे सब रात्रि-भोजनके फलसे उत्पन्न हुई हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥९१॥ किन्तु जो स्त्रियाँ पालकी, मियाना आदि यानों पर, हाथी और घोड़ों पर सवार होकर लीलापूर्वक गमन करती हैं और दिव्य भवनोंमें निवास करती हैं, वे सब रात्रिमें आहारके त्यागसे उत्पन्न हुई हैं ॥९२॥ इसी प्रकार इस लोकमें जो सुन्दर मनुष्य और उनके स्वामी दिखाई देते हैं, वे सब रात्रिमें भोजन नहीं करनेके फलसे उत्पन्न हुए हैं, इसमें कोई संशय नहीं है ॥९३॥ दिनके आठवें भागमें सूर्यके मन्द प्रकाशके हो जानेपर अवशिष्ट कालको आचार्य-गण 'नक्त' (रात्रि) कहते हैं। केवल रात्रिमें भोजन करनेको ही नक्त भोजन नहीं कहते हैं। अपितु इस समयमें भोजन करना भी रात्रि-भोजन है ॥९४॥ जैसे चन्द्रके विना रात्रि, और कमलोंके विना सरोवर नहीं शोभित होता है उसी प्रकार धर्मके विना जीव कभी भी शोभा नहीं पाता है ॥९५॥ मनुष्य ऐसा चिन्तवन करते हैं कि मैं आज, कल या परसोंके दिन धर्म करूँगा। किन्तु यमराज एक क्षणका विलम्ब सहन नहीं करता है ॥९६॥ जैसे दावाग्नि सूखे या गीले काठको सहन नहीं करती, अर्थात् सबको विना किसी भेद-भावके भस्म कर देती है, यह ध्रुव सत्य है। इसी प्रकार यमराज भी लोकमें बाल, वृद्ध या यौवन अवस्थाको नहीं देखता है, अर्थात् सबको समानरूपसे मार डालता है ॥९७॥ आयु दिन दिन क्षीण होती है, इसलिए व्यर्थ काल व्यतीत नहीं करना चाहिये, क्योंकि यमराजके करुणा नहीं है और धर्मकी गति बहुत तेज है ॥९८॥ शरीर अनित्य हैं, विभव शाश्वत रहनेवाले नहीं हैं, और मृत्यु नित्य समीप आ रही है। अतएव धर्मका संग्रह शीघ्र करना चाहिये ॥९९॥ यह संसारी प्राणी अन्य पुरुषोंसे नित्य कहता है कि आजके दिन

अन्येभ्यो नित्यमाख्याति मृतोऽद्य दिवसेऽमुकः।
स्वनिःशङ्को न जानाति समायाति यमः क्वचित् ॥१०१

जीवन्तं मृतकं मन्ये देहिनं धर्मवर्जितम्। मृतोऽपि धर्मसंयुक्तो दीर्घजीवी भविष्यति ॥१०२
शरीरमण्डनं शीलं न सुवर्णवहं तनुः। रागो वक्त्रस्य ताम्बूलं सत्येनैवोज्ज्वलं मुखम् ॥१०३

इति श्रीपूज्यपादकृतः श्रावकाचारः समाप्तः।



अमुक पुरुष मर गया। किन्तु अपने विषयमें निःशंक होकर यह नहीं जानता है कि यमराज कब आ रहा है ॥१०१॥ ग्रन्थकार कहते हैं कि मैं धर्म-रहित मनुष्यको जीते हुए भी मरा मानता हूँ। किन्तु धर्म-संयुक्त मरा हुआ भी पुरुष दीर्घजीवी रहेगा ॥१०२॥ शरीरका मण्डन शील है, सुवर्णको धारण करना शरीरका मंडन नहीं है। ताम्बूल मुखका राग (मंडन) नहीं है, किन्तु मुख तो सत्य बोलनेसे ही उज्ज्वल होता है ॥१०३॥

इस प्रकार पूज्यपादकृत श्रावकाचार समाप्त हुआ।



श्री पद्मनन्दि-विरचित श्राव ाचार ा परिचय

इस श्रावकाचारका आद्योपान्त पारायण करनेके पश्चात् ऐसा ज्ञात होता है कि मानों उमास्वामि-श्रावकाचारके कर्त्ताने इसके बीच-बीचके बहुभाग श्लोक उठाकर अपनी रचना की हो। पद्मनन्दीने जहाँ अन्यके श्लोकोंको उक्तं च कहकर दिया है, वहाँ उन्हीं श्लोकोंको उमास्वामि ने 'उक्तं च' आदि कोई भी संकेत नहीं करके अपने द्वारा रचित जैसे रूपमें निबद्ध किया है। यह तो सुनिश्चित ही है कि तत्त्वार्थ सूत्रके कर्त्ता उमास्वामि-रचित उनका श्रावकाचार नहीं है, क्योंकि उन्होंने उसके प्रारम्भमें ही कहा है कि—

पूर्वाचार्यप्रणीतानि श्रावकाध्ययनान्य ।। दृष्ट्वाऽहं श्रावकाचारं करिष्ये मुक्तिहेतवे ॥२

अर्थात् मैं पूर्वाचार्योंसे रचित श्रावकाचारोंको भली-भाँतिसे देखकर इस श्रावकाचारको रचूंगा। और यह इतिहासज्ञ जानते हैं कि वर्तमानमें उपलब्ध जितने श्रावकाचार हैं, उनमेंसे किसी की भी रचना तत्त्वार्थ सूत्रके निर्माण समयतक नहीं हुई थी। सभी श्रावकाचार तत्त्वार्थसूत्रके रचे जानेके बाद ही रचे गये हैं।

इसके अतिरिक्त पद्मनन्दीने अपने श्रावकाचारके रचनेकी भूमिका ठीक उसी प्रकारसे बाँधी है, जिस प्रकारसे कि सभी पुराणकार बाँधते हैं, अर्थात् भ० महावीरका विपुलाचलपर आगमन सुनकर राजा श्रेणिकका वन्दनार्थ जाना और उनके द्वारा पूछे जानेपर गणधर द्वारा श्रावक धर्मका वर्णन करना आदि।

उमास्वामी श्रावकाचारके अन्तमें आये हुए श्लोकाङ्क ४६४ के 'सूत्रे तु सप्तमेऽप्युक्ताः **पृथङ्नोक्त थंतः'** इस पदसे, तथा श्लोकाङ्कः ४७३ के '**गदितमतिसुबोधापास्त्यकं स्वामिभिश्च**' इस पदसे लोग इस श्रावकाचारके कर्त्ताको सूत्रकार उमास्वामी मानते हैं, सो यह भ्रम है। इसका विस्तारसे निराकरण श्री जुगलकिशोर जी मुख्तारने अपनी ग्रन्थपरीक्षामें भली-भाँति किया है, अतः यहाँ देना अनावश्यक है। इतना यहाँ बता देना आवश्यक है कि 'स्वामिभिश्च' पदवाला श्लोक पद्मनन्दी श्रावकाचारके एक पदके स्थानमें परिवर्तन करके उसे ज्योंका त्यों अपना लिया है। तुलनाके लिए वे दोनों श्लोक यहाँ दिये जाते हैं—

इति हतदुरितौघं श्रावकाचारसारं गणितमतिसुबोधापास्त्यकं स्वामिभिश्च।
विनयभरनताङ्गाः सम्यगाकर्णयन्तु विशदमतिमवाप्य ज्ञानयुक्ता भवन्तु ॥४७३

(उमास्वामि श्रावकाचार)

इति हतदुरितौघं श्रावकाचारसारं गदितमवधिलीलाशालिना गौतमेन।
विनयभरनताङ्गः सम्यगाकर्ण्य हर्षं विशदमतिरवाप श्रेणिकः क्षोणिपालः ॥५०३

(पद्मनन्दि-श्रावकाचार)

पद्मनन्दिने अपनी उत्थानिकाके अनुसार जैसे श्रेणिकका निर्देश करते हुए गौतमके द्वारा श्रावकाचारका वर्णन प्रारम्भ किया है, उसी प्रकारसे उन्हीं श्रेणिकका उल्लेख करते हुए उसे समाप्त किया है, जो कि स्वाभाविक है।

इसके सिवाय उमास्वामि-श्रावकाचारमें अध्याय आदिका कोई विभाग नहीं दिया गया है जब कि पद्मनन्दी श्रावकाचारमें अध्याय विभाग उपलब्ध है। सूत्रकारने अपने तत्त्वार्थ सूत्रमें विषय-विभागके अनुसार अध्यायोंका विभाजन किया है।

उमास्वामि-श्रावकाचारमें कोई अन्तिम प्रशस्ति नहीं है, किन्तु अनिरूपित विषयको अपने द्वारा रचित किसी अन्य ग्रन्थमें देखनेका उल्लेख मात्र किया है। पर पद्मनन्दीने अपनी विस्तृत प्रशस्ति दी है, जो कि इस प्रकार है—

तीर्थंकरस्येव महिमा भुवनातिगः। रत्नकीर्त्तिर्यतिः स्तुत्यः स न केषामशेषवित् ॥१
अहंकारस्फारी भवदमितवेदान्तविबुधोल्लसद्-ध्वान्तश्रेणीक्षपणनिपुणोक्तिद्युतिभरः।
अधीती जैनेन्द्रेऽजनि रजनिनाथप्रतिनिधिः प्रभाचन्द्रः सान्द्रोदयशमि पव्यतिकरः ॥२

श्रीमत्प्रभेन्दुप्रभुपादसेवाहेवाकिचेताः प्रसरत्प्रभावः।
सच्छ्रावकाचारमुदारमेनं श्री पद्मनन्दी रचयांचकार ॥३
श्री लम्बकञ्चुककुले विततान्तरिक्षे कुर्वन् स्वबान्धवसरोजविकासलक्ष्मीम्।
लुम्पन् विपक्षकुमुदव्रजभूरिकान्ति गोकर्णहेलिरुदियाय लसत्प्रतापः ॥४

भुवि सूपकारसारं पु येन निर्ममे । भूम इव सोमदेवो गोकर्णात्सोऽभवत्पुत्रः ॥५
सती-मतल्लिका यशःकुसुमवल्लिका। पत्नी श्री सोमदेवस्य प्रेमा प्रेमपरायणा ॥६
विशुद्धयोः स्वभावेनं ज्ञानलक्ष्मीजिनेन्द्रयोः। नया इवाभवन् गम्भीरास्तनयास्तयोः ॥७
वासाधरहरिराजौ प्रह्लादः शुद्धधीश्च महराजः। भम्वराजो : त्यमी ॥८

वासाधरस्याद्भुतभाग्यराशेर्मिषात्तयो वेश्मनि कल्पवृक्षः।
अगण्यपुण्योदयतोऽवतीर्णो वितीर्णचेतोऽतिवितार्थ : ॥९
वासाधरेण सुधिया गाम्भीर्याद्यदि तृणीकृतो नाब्धिः।
कथमन्यथा स वडवाज्वलनस्तत्र स्थिति ज्वलति ॥१०
सान्द्रानन्दस्वरूपाद्भुतमहिमपरब्रह्मविद्याविनोदात्
स्वान्तं जैनेन्द्रपादार्चनविमलविधौ पात्रदानाच्च पाणिः।
वाणी सन्मन्त्रजापात् प्रवचनरचनाकर्णनात्कर्णयुग्मं
लोकालोकावलोकाश्च विरमति : साधुवासाधरस्य ॥११
शीतांशू राजहंसत्यमितकुवलयत्युल्लसत्तारकालि-
स्तिग्मांशुः स्मेररक्तोत्पलति जगदिदं चान्तरीयत्यशेषम्।
जम्बालत्यन्तरिक्षं कनकगिरिरयं चक्रवाकत्युदग्रः
साधोर्वासाधरोद्यद्गुणनिलययशोवारिपूरे त्वदीये ॥१२

द्वितीयोऽप्यद्वितीयोऽभूद्धैर्यौदार्यादिभिर्गुणैः। पुत्रः श्री सोमदेवस्य हरिराजाभिधः सुधीः ॥१३

गुणैः सदास्मत्प्रतिपक्षभूतैः सङ्गं करोत्येष विवेकचक्षुः।
इतीव सेर्ष्यैर्हरिराजसाधुर्दोषैरनालोकितशीलसिन्धुः ॥१४
सम्प्राप्य रत्नत्रितयैकपात्रं रत्नं सुतं मण्डनमुर्वरायाः।
श्री सोमदेवः स्वकुटुम्बभारनिर्वाहचिन्तारहितो ॥१५

हृष्टं शिष्ट ः सपत्नकमलैः कुत्रापि लीनं -
दर्थिप्रोद्धतनीलकण्ठनिवहैर्नृत्तं प्रमोदोद्गमात् ।
तृष्णाधूलिकणोत्करैर्विगलितस्थानैर्मुनीन्द्रैः स्थितं
वृष्टिं दानमयीं वितन्वति परां रत्नाकराम्भोधरे ॥१६

सान्त्यन्तीनाम्न्यां पत्न्यां जिनराजध्यानकृत्स हरिराजः । पुत्रं मनसुख धर्मादुत्प ॥१७

सति प्रभुत्वेऽपि मदो न रतिः परस्त्रीषु न यौवनेऽपि ।
परोपकारैकनिधिः स ःसुखः कस्य न माननीयः ॥१८

जैनेन्द्राङ्घ्रि रोजभ बुद्धिर्विवेका
लक्ष्मीर्दानसमन्विता सकरुणं चेतः सुधामुग्वचः ।
शीलयुतं परोपकरणव्यापारनिष्ठं वपुः
चापि ःसुखे मदं काले कलौ ॥१९

सङ्घभारधरो धीरा साधुर्वासाधरः सुधीः । सिद्धये श्र ाचारमचीकरममुं मुदः ॥२०

यावत्सागरमेखला वसुमती यावत्सुवर्णाचलः
स्वर्नारीकुलसङ्कुलः खममितं तत्त्वान्वितम् ।
सूर्याचन्द्रमसौ च यावदभितो लोकप्रकाशोद्यतौ
तावन्नन्दतु पुत्रपौत्रसहितो वासाधरः शुद्धधीः ॥२१

इति श्रीपद्मनन्दिमुनिविरचितः श्रावकाचारः समाप्तः ।

व्रतसार-श्रावकाचार

अधिष्ठानं भवेन्मूलं प्रासादानां यथा पुनः । तथा सर्वव्रतानां च मूलं सम्यक्त्वमुच्यते ॥१
हिंसा-रहिये धम्मे अट्ठारह-दोस-विवज्जिए देवे । णिग्गंथे पव्वयणे सम्मत्तं होइ सद्दहणं ॥२
छप्पंचणवविहाणं अट्ठाणं जिणवरोवदिट्ठाणं । आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥३
एतेषु निश्चयो यस्य विद्यते स पुमानिह । सम्यग्दृष्टिरिति ज्ञेयो मिथ्यादृष्टिस्तु संशयी ॥४
मद्यमांसमधुत्यागैः सहोदुम्बरपञ्चकैः । अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥५
दिनद्वयोषितं तक्रं दधि वीसारनालकम् । विरसं चान्नमप्युच्चैर्न सेव्यं मद्यवर्जिभिः ॥६
विद्धान्नं पुष्प-शाकं च नवनीतं च कन्दकम् । मूलकं चर्म-तोयादि वर्ज्यते मांसवर्जिभिः ॥७
अच्छिन्नं फल-पूगादि माषमुद्गादिकोशिकाः । अज्ञातनाम कीटाढ्यं फलं वा वर्जयेत्सुधीः ॥८
वस्त्रपूतं जलं पेयं हेयं तक्रादि दुर्दृशाम् । भण्डभाजनमप्युच्चैर्मकारत्रितयाशिनाम् ॥९
अगालितं जलं येन पीतमञ्जलिमात्रकम् । सप्तग्रामाग्निदग्धेन यत्पापं तद्व्रजत्यसौ ॥१०
करोति सर्वकर्माणि वस्त्रपूतेन वारिणा । स मुनिः स महासाधुः स योगी शिवमश्नुते ॥११
मधु त्याज्यं महासत्त्वैर्मक्षिकारक्तमिश्रितैः । औषधेऽपि न तद् ग्राह्यं सुस्वार्थं किं पुनः नृणाम् ॥१२

जैसे प्रासादों (भवनों) का मूल भाग (नींव) आधार होता है, उसी प्रकार सर्व व्रतोंका मूल सम्यक्त्व कहा जाता है ॥१॥ हिंसा-रहित धर्ममें, अठारह दोष-रहित देवमें और निर्ग्रन्थ प्रवचनमें श्रद्धान करना सम्यक्त्व है ॥२॥ जिनेन्द्रदेवके द्वारा उपदिष्ट छह द्रव्य, पंच अस्तिकाय और नौ प्रकारके पदार्थोंका आज्ञासे और अधिगमसे श्रद्धान करना सम्यक्त्व है ॥३॥ इन उपर्युक्त देव, धर्मादिकमें तथा तत्त्वोंमें जिसका दृढ़ निश्चय होता है, वह पुरुष सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये और जो उनमें संशय करता है, उसे मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये ॥४॥ मद्य, मांस और मधुके त्यागके साथ पाँच उदुम्बर फलोंके त्यागको उत्तम साधुओंने आठ मूलगुण कहा है ॥५॥ दो दिनका वासी तक्र (छांछ), दही, कमल-नाल, और विरस (चलित रस) अन्न मद्यत्यागियोंको सेवन नहीं करना चाहिये ॥६॥ इसी प्रकार वींधा (घुना) हुआ अन्न, पुष्प, (पत्र) शाक, नवनीत (मक्खन), कन्द, मूलक, और चमड़ेमें रखा या चमड़ेसे भरा गया जलादि भी मांसत्यागियोंको छोड़ना चाहिये ॥७॥ विना छिन्न-भिन्न किये फल, सुपारी आदि, उड़द, मूग आदि की कोशें, अज्ञात नामवाला फल, और कीड़े-युक्त फल भी वुद्धिमान् पुरुषको त्यागना चाहिये ॥८॥ वस्त्रसे गाला (छाना) हुआ जल पीना चाहिये । मिथ्यादृष्टियोंके यहाँका छांछ आदि त्यागना चाहिये । इसी प्रकार मद्य, मांस और मधु इन तीन मकारोंके खानेवाले लोगोंके भाँड पात्र (वर्तन) आदि भी उपयोगमें नहीं लेना चाहिये ॥९॥ जिस पुरुषने एक अंजली मात्र भी अगालित जल पिया है, वह पुरुष सात गाँवोंको अग्निसे जलानेके पापको धारण करता है ॥१०॥ जो पुरुष वस्त्रसे गाले हुए जलसे स्नान, खान-पानादि सर्व कार्योंको करता है, वह गृहस्थ मुनि है, महासाधु है और योगी है । वह शिव पदको प्राप्त होता है ॥११॥ महासत्त्वशाली पुरुषोंको मधु-मक्षिकाओंके रक्तसे मिश्रित मधुका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये, औषधिमें भी उसे नहीं ग्रहण करना चाहिये । फिर जो स्वस्थ पुरुष हैं,

अणुव्रतानि ैव त्रिप्रकारं गुणव्र । शिक्षाव्रतानि चत्वारि एते द्वादशध ॥१३
कन्दमूलकसन्धानं पुष्पशाकं च वर्जयेत् । नवनीतं निशाहारमा च तत्त्वतः ॥१४
अष्टम्यां च चतुर्दश्यां यथाशक्ति चरेत् । त्रिकालवन्दनं प्रतिमार्चनसंयुतम् ॥१५
दुष्टानां प्राणिनां पोषो न विधेयं कदाचन । गकुद्दालिकाद्यात्म-शस्त्रं नान्यस्य दीयते ॥१६
त्रिविधायापि पात्रस्य दानं देयं यथा विधि । दीनानाथगणं चापि स्व पोषयेत्सुधीः ॥१७
भयेन स्नेहलोभाभ्यां धर्मबुध्यापि वा परम् । सुदर्शनं श्रयेद्धीमान् न तद्घातुं गो यतः ॥१८
सुखे दुःखे भयस्थाने पथि दुर्गे रणेऽपि वा । श्री मन्त्रस्य पाठं कार्यं पदे पदे ॥१९
हिंसानृतपरद्रव्य-पररामाऽतिकाङ्क्षिता । ीया प्रयत्नेन धर्मध्यानं च चिन्तयेत् ॥२०
-प्रतिष्ठा-पूजादि-ि । कार्या यथावलम् । जीर्णचैत्यालयं विम्वं चापि प्रोद्धारयेन्मुदा ॥२१
व्रतसारमिदं शक्त्या यो नरः प्रतिपालयेत् । स स्वर्गराज्यसौख्यानि भुक्त्वाऽन्ते याति निर्वृतिम् ॥२२

इति व्रतसारश्रावकाचारः ।

उनका तो उससे स्वार्थ (प्रयोजन) ही क्या है ॥१२॥ पाँच अणुव्रत, तीन प्रकारसे गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये बारह श्रावकोंके व्रत कहे गये हैं ॥१३॥ श्रावकको वस्तुतः कन्दमूल, सन्धानक (आचार-मुरब्बा), पुष्प, पत्रशाक, नवनीत और आत्मघातक रात्रि भोजन छोड़ देना चाहिये ॥१४॥ अष्टमी और चतुर्दशीको शक्तिके अनुसार प्रोषधव्रतका पालन करना चाहिये और जिनप्रतिमाके पूजनके साथ त्रिकाल वन्दना करना चाहिये ॥१५॥ हिंसा करनेवाले कुत्ते, विल्ली आदि दुष्ट प्राणियोंका पालन-पोषण कभी भी नहीं करना चाहिये। तथा खड्ग, कुदाली आदि शस्त्र दूसरेको नहीं देना चाहिये ॥१६॥ तीनों ही प्रकारके सुपात्रोंको विधिपूर्वक दान देना चाहिये। इसी प्रकार वुद्धिमान् श्रावकको अपनी शक्तिके अनुसार दीन और अनाथजनोंका भी भरण-पोषण करना चाहिये ॥१७॥ भयसे, स्नेहसे, लोभसे, अथवा परम धर्मकी वुद्धिसे भी सम्यग्दर्शनका कभी घात नहीं करना चाहिये। किन्तु वुद्धिमान् श्रावकको उत्कृष्ट सम्यग्दर्शनका आश्रय ही लेना चाहिये ॥१८॥ सुखमें, दुःखमें, भयके स्थानमें, मार्गमें, दुर्ग (वन) में या रणमें सदा सर्वत्र ही पद-पदपर श्री पंचनमस्कार मंत्रका पाठ करना चाहिये ॥१९॥ हिंसा, झूठ, चोरी, पररामासेवन और अति तृष्णाका प्रयत्न पूर्वक त्याग करना चाहिये और धर्म ध्यानका चिन्तवन करना चाहिये ॥२०॥ अपने सामर्थ्यके अनुसार तीर्थ-यात्रा, प्रतिष्ठा और पूजनादि क्रियाएँ करते रहना चाहिये और प्रमोद-पूर्वक जीर्ण (पुराने) चैत्यालय और जिनप्रतिविम्वका उद्धार करना चाहिये ॥२१॥ जो मनुष्य अपनी शक्तिके अनुसार व्रतोंके इस उपर्युक्त सारका पालन करेगा, वह स्वर्ग-राज्यके सुखों को भोग कर अन्तमें मोक्षको जायगा ॥२२॥

श्री अभ्रदेव-विरचित

व्रतोद्योतन-श्रावकाचार

प्रणम्य परमब्रह्मातीन्द्रियज्ञानगोचरम् । वक्ष्येऽहं सर्वसामान्यं व्रतोद्योतनमुत्तमम् ॥१
भव्येन प्रातरुत्थाय जिनविम्वस्य दर्शनम् । विधाय स्वशरीरस्य क्रियते शुद्धिरुत्तमा ॥२
परिधाय धौतवस्त्राण्यादाय[1] सच्चन्दनानि पुष्पाणि । तेन युगान्तरदृष्टया द्रष्टव्या जीवसङ्घाताः ॥३
जिनभवनं तेन तदालो त्रिप्रदक्षिणं कृत्वा । आरम्या जिनपूजा श्रुतपूजा मुनीन्द्रपूजा च ॥४
व्रतसारः श्रोतव्यो जैनागमवेदकस्य मुखवचनात् । यमनिय मस्थितिरिहपरलोकार्थिना तेन ॥५
सागारमनागारं धर्मं धर्मोपदेशको वदति । सागारं भव्यानां दिगम्वराणामनागारम् ॥६
देवगुरुतत्त्वधर्मं यो मनुते जायते सिद्धिः । च मुक्तिर्भवति प्रकाशयति केवलज्ञानम् ॥७

त्रिकालसामायिकमुत्त ग्रैवेयकस्य स्थितिमातनोति ।
सामायिकोच्चारपदं न स उच्चरेत् नमस्कृतिं च ॥८

भव्येन स्तवनं वि नि संशोध्य सामायिकं
स्तुत्वा नमस्कृतिं स्वहृदये धृत्वा च चैत्यस्तुतिम् ।
कृत्वा गुरून् प्रणामर सिद्धस्य भक्तिस्तया
शास्त्रस्यापि गुरोश्च येन लभते सौख्याय मोक्षं पुनः ॥९

अतीन्द्रिय केवलज्ञानके विषयभूत परमब्रह्मको नमस्कारकर मैं सर्वलोगोंके लिए समानरूपसे आचरण करनेके योग्य उत्तम व्रतोद्योतनको कहूँगा ॥१॥ भव्यजीवको प्रातःकाल उठकर और जिनविम्वका दर्शन करके अपने शरीरकी उत्तम शुद्धि करनी चाहिए ॥२॥ पुनः धुले वस्त्रोंको पहिनकर और उत्तम चन्दन पुष्पादि लेकर चार हाथ भूमिको शोधते और जीव-समूहको देखते हुए जिनमन्दिरको जाना चाहिए ॥३॥ वहाँ जाकर और तीन प्रदक्षिणा देकर जिनपूजा, श्रुतपूजा और मुनिजनोंकी पूजा आरम्भ करनी चाहिए ॥४॥ तत्पश्चात् जैनसिद्धान्तके ज्ञाता पुरुषके मुखसे कहे गये वचनोंसे व्रतोंका सार सुनना चाहिए । तथा परलोकमें आत्म-हितके उस इच्छुक श्रावकको यम, नियम और संयमकी स्थिति (मर्यादा) स्वीकार करना चाहिए ॥५॥ धर्मके उपदेशक धर्म दो प्रकारका कहते हैं—सागारधर्म और अनगारधर्म । गृहस्थभव्योंके लिए सागारधर्मका उपदेश दिया गया है और दिगम्बर भव्यजीवोंके लिए अनगारधर्मका उपदेश है ॥६॥ जो पुरुष देव, गुरु, धर्म और तत्त्वका मनन करता है, उसके सिद्धि प्राप्त होती है, उसके केवलज्ञान प्रकाशित होता है और उसीके मुक्ति होती है ॥७॥ त्रिकाल सामायिक (मिथ्यादृष्टि जीवको भी) उत्तम ग्रैवेयककी स्थितिको प्राप्त कराती है । जिस पुरुषके सामायिक पाठका उच्चारण सम्भव न हो, वह पञ्च-नमस्कारमन्त्रका ही सामायिकके समय उच्चारण करे ॥८॥ जो भव्यजीव जिन-स्तवन करके, नियम ग्रहण करके, सामायिककी शुद्धि करके, पञ्चपरमेष्ठीकी स्तुति करके, पंचनमस्कारमन्त्रको हृदयमें धारण करके, चैत्यस्तुतिको करके, नमस्कार युक्त सिद्धभक्ति करके, तथा श्रुतकी भक्ति

१. उ वस्त्रे आदाय ।

यत्रत्यं विमलं गृहीतमुदकं तत्र क्षिपेन्नादराद्
या स्त्री जी न्विता गुणवती सञ्जायते सेदृशी।
दुर्गन्धा मलि कुटुम्वरहिता दारिद्रिणी रोगिणी
निःश्रीका वि क्षुधातुरवपुः त्मिका नामिका ॥१०
घृ तै स्य योगतो भवन्ति जीवाः किल चर्मसंस्थिताः।
रवीन्दुकान्तैरिव वह्नि-पुष्करे विदा केवलिनेमिभाषि ॥११
या देवार्चनमाचरेद् ऋतुमती गेहस्य वस्तु स्पृशेत्। कन्दर्पाभिमता चतुर्थदिवसे स्नानस्य शुद्धिं विना।
सा दुःखं सहते सुतं न लभते प्राप्नोति दौर्भाग्यतां वध्नाति प्रथितं नपुं दं वन्ध्या भवेन्नान्यथा १२
: शुद्धिर्नास्ति चि न नो भाषायां नैव गेहे न देहे।
सा चेद् पूजनं दे ः गर्भपातस्य दोषः ॥१३
सन्मार्जयित्वा क्रियते न खण्डनं क्षुधाकुलव्याकुलया तया स्त्रि ।
साऽनन्तसंसारमटत्यसारतां कुष्टेन देहावयवेषु कृत्यते ॥१४
गृहस्य सन्मार्जनमादधाना जीवेषु दृष्टिं न दधाति वामा।
या ृति विधां भ्रमित्वा सा दुर्गतेः प्राघुणिकी भवेच्च ॥१५
मनसि वपुषि वाचि जीवरक्षामकृतवती विदधाति पोषणं या।
शुनकमहिषसर्पशूकराणां भवमिह सा लभते सरासभा ॥१६

और गुरुकी भक्ति करता है, वह पहिले सांसारिक सुख पाता है और तत्पश्चात् मोक्षको प्राप्त करता है ॥९॥ जो स्त्री जीवदयासे युक्त और गुणवती है, उसे जहाँका जल ग्रहण किया हो उस निर्मल जल (जिवानी) को वहीं आदरसे छोड़ना चाहिए। जहाँ कहीं निरादरसे नहीं फेंकना चाहिए। जो जिवानीको निरादरसे फेंकती है वह भव-भवमें दुर्गन्ध, मलिन, कुटुम्व-रहित, दरिद्रिणी, रोगिणी, लक्ष्मी-रहित, विधवा, क्षुधातुर शरीरवाली, पापिनी इत्यादि नामोंको धारण करनेवाली होती है ॥१०॥ घीके, तेलके और जलके योगसे चमड़ेमें स्थित जीव उत्पन्न होते हैं। जैसे सूर्यकान्तमणिके संयोगसे अग्नि और चन्द्रकान्तमणिके संयोगसे जल प्रकट होता है, ऐसा सर्ववेत्ता केवली भगवान्ने कहा है ॥११॥

जो रजस्वला स्त्री देव-पूजन करे, घरकी वस्तुका स्पर्श करे और चौथे दिन स्नानकी शुद्धिके विना काम-वासनासे अभिभूत होती है अर्थात् रजस्वलाकी अवस्थामें ही पतिके साथ सहवास करती है, वह पुत्रको नहीं पाती हैं, प्रत्युत दुःख सहती है, दुर्भाग्यको पाती है और प्रथित (दीर्घ-कालतक भोगे जानेवाले) नपुंसकवेदको वाँधती है, अथवा वन्ध्या होती है, यह कथन अन्यथा नहीं हो सकता ॥१२॥ जिस स्त्रीके चित्तमें शुद्धि नहीं है, न वस्त्रोंमें शुद्धि है, न वचनमें शुद्धि है, न घरमें शुद्धि है और न देहमें शुद्धि है, वह स्त्री यदि देवादिके विषयमें पूजन करती है तो उस स्त्रीके गर्भपातका दोष प्राप्त होता है ॥१३॥ जो स्त्री भूखसे आकुल-व्याकुल हो सन्मार्जन करके धान्यादिका खण्डन (उखलीमें कूटना) नहीं करती है, वह स्त्री असारताको प्राप्त होकर अनन्त-कालतक संसारमें परिभ्रमण करती है और कुष्ट (कोढ़) रोगसे शरीरके अंगोंमें गलन पाती है अर्थात् कोढ़से उसके अंग गल-गलकर छिन्न-भिन्न होते हैं ॥१४॥ जो स्त्री घरका सन्मार्जन करती हुई जीवोंपर दृष्टि नहीं रखती है, वह पंचपरावर्तनरूप संसारमें परिभ्रमणकर दुर्गतिकी अतिथि होती है अर्थात् नारकी आदि होती है ॥१५॥ जो स्त्री मनमें, शरीरमें और वचनमें जीवरक्षाका

सित कुर्वाणा गृहस्य या नारी। घृतगुडलिप्तं हस्तं मुञ्चति तत्रैव कुत्रैव ॥१७
यत्रैव मक्षिकाद्या घ्राणेन्द्रियतः स्पृशन्ति ये जीवाः। तेषां मरणं विहितं तत्पापं कस्य सञ्ज ॥१८
तस्या नरके बूडनमितरनिगोतेऽथ वः सततम्। एकेन्द्रियत्वमनिशं संभवति जिनागमेनोक्तम् ॥१९

अधिकुरुते रविकास्थं (?)भाजनस्थमुदरस्थम्।
या नवनीतं : परिपाकं नयति न च वह्नौ ॥२०

तस्या बन्धनताडनमारणभेदादिदुःखमायाति। शूलारोपणकरणं यन्त्रेषु निपीलनं ॥२१
कन्दमूलानि हेयानि प्रहेयं शाकपत्रकम्। फलानि हेयानि न ग्राह्यं कुसुमपञ्चकम् ॥२२
श्रावकाणां कुले योग्यं यद्वस्तु प्रोच्यते बुधैः। तद्वस्तु श्र : ग्राह्यं वि च निरन्तरम् ॥२३
वर्षाकाले न गमनं क्रियते श्रावकोत्तमैः। आत्मशस्त्रं न दातव्यं वक्तव्यं कस्य मर्म न ॥२४
जीवाहारो न संग्राह्यो जीवो जीवस्य रक्षकैः। निन्दा न कर्त्त याथातथ्यं वदेद्बुधः ॥२५
धर्म शात् प्रोच्य त्यं च निरन्तरम्। साक्षिणस्तत्र कर्तव्या अ : श्रावकोत्तमैः ॥२६
धर्मकार्यवशान्मृत्युर्जायते देहपीडनम्। तेन योगेन कर्मणां निर्जरा भवेत् ॥२७

यस्याश्चित्ते नास्ति सर्वज्ञदेवो जैनं तत्त्वं सद्गुरुर्जीवरक्षा।
तस्याः पुष्टि मुञ्चति स्त्रीभवो नो पूर्वं द्धंमान्निद्यसायाः (?) ॥२८

भाव न रखकर अन्नादिको पीसती है, वह स्त्री इस संसारमें कूकर, भैंसा, साँप, सूकर और गर्दभोंकी सभी नीच योनियोंको प्राप्त करती है ॥१६॥ जो स्त्री पकवान बनानेके लिए मिश्री-पाकको या शर्करा पाकको (शक्कर गालकर बचे मैलको) या घी-गुड़से लिप्त हाथको घरके भीतर जहाँ कहीं भी छोड़ता है (धोती है), जहाँपर कि घ्राणेन्द्रियसे आकृष्ट होकर मक्षिका आदि जीव उसे स्पर्श करते हैं और उनका मरण होता है, उसका पाप किसे होता है ? अर्थात् उसका पाप भी उसी स्त्रीको लगता है ॥१७–१८॥ उस पापसे उस स्त्रीका नरकमें डूबना होता है, अथवा इतर निगोदमें निरन्तर जन्म होता है, अथवा निरन्तर एकेन्द्रियपना सम्भव है, यह जिनागममें कहा गया है ॥१९॥ जो स्त्री तक्र (छांछ) में स्थित, या कांसे (?) आदि किसी भाजनमें रखे हुए नवनीत (लोणी) को उदरस्थ करती है, किन्तु उसे तत्काल अग्निपर पकाती नहीं है, उसको बन्धन, ताड़न, मारण, छेदन-भेदन आदि दुःख प्राप्त होते हैं, उसे शूलीपर चढ़ाया जाता है और सदा कोल्हू आदि यन्त्रोंमें पेला जाता है ॥२०–२१॥ कन्दमूलोंको छोड़ना चाहिए, पत्तोंवाली शाक नहीं खानी चाहिए, पाँचों क्षीरीफल हेय हैं और केतकी, नीम आदि पाँच जातिके पुष्प ग्राह्य नहीं हैं ॥२२॥ जिस वस्तुको ज्ञानियोंने श्रावकोंके कुलमें ग्रहण करनेके योग्य कहा है, वही वस्तु सदा ग्राह्य और विक्रेय है अर्थात् खरीदना और बेंचना चाहिए ॥२३॥ उत्तम श्रावकोंको वर्षाकालमें गमन नहीं करना चाहिए, अपने अस्त्र-शस्त्र दूसरोंको नहीं देना चाहिए और किसीका मर्म (रहस्य या गुप्त बात) दूसरेसे नहीं कहना चाहिए ॥२४॥ जीवकी रक्षा करनेवाले श्रावकोंको किसी जीवका आहार और आहारके लिए कोई जीव नहीं ग्रहण करना चाहिए। किसीकी भी निन्दा नहीं करनी चाहिए और समझदार पुरुषको सदा यथातथ्य बोलना चाहिए ॥२५॥ धर्म-कार्यके वशसे निरन्तर असत्य बोलना चाहिए, किन्तु इस विषयमें उत्तम श्रावकोंको असत्य (?) साक्षी कर लेना चाहिए ॥२६॥ धर्मकार्यके वशसे यदि मृत्यु होती है, या शरीरको पीड़ा पहुँचती है तो उसके योगसे उसके कर्मोंकी निर्जरा होती है ॥२७॥ जिसके चित्तमें सर्वज्ञदेव नहीं हैं, जैनतत्त्व नहीं है, सद्-गुरु नहीं

पठतु शास्त्रसमूहमनेकधा जिनसमर्चनमर्चनतां ।
गुरुनतिं कुरुतां धरतां यदि शमो न वृथा लं ततः ॥२९

यद् यद् वस्तुनिषिद्धं जैनागमवेदनिपुणेन । तद् तद् वस्तु निवार्यं भव्येन ज्ञाततत्त्वेन ॥३०
वार्ता निष्ठीवनं श्लेष्मो जृम्भणं कोपकर्तृता । कृपणत्वं कदर्यत्वं क्लीबत्वं मलिनात्मता ॥३१
एते दोषा विधीयन्ते मुनिभुक्तिक्षणे । सा याति नरकं घोरं पुराऽमृतवती यथा ॥३२

या दालिवर्त्तनपदादिपदे न दक्षा या रन्धने न निपुणा परिपाक ।
या देहशौचमविधाय ति दानं या भाण्डभाजनशुचीकरणे न शुद्धा ॥३३
या पर्वणि क्षपति कङ्कः शिरोन्तं याऽनर्चिते सति जिने कुरुतेऽन्नपानम् ।
या भोगभुञ्जनकृते नियमं निहन्ति सा नायिका भवति कर्मकरी भवाब्धौ ॥३४

या परस्त्रीषु दूतत्वं विधत्ते लोभपूरिता । या हरेत्परवित्तानि या परन्यासहारिका ॥३५
पालयन्ती व्रतं तीव्रं सत्यव्रतसमन्विता । ब्रह्म समाधाय क्रियाकल्पपरायणा ॥३६
एवंविधापि या नारी कषायैर्वेष्टिता भवेत् । न त्यजेत्पुद्गलावर्तं सा संसारपति ॥३७
आत्मनाथं परित्यज्य परनाथाभिलाषिणी । असत्या जायते या स्त्री सा चाण्डालव्रजं भवेत् ॥३८

है और जीव-रक्षा नहीं है, स्त्री पर्याय उसका पीछा नहीं छोड़ती है, जैसे कि पूर्वकालमें वर्धमान निद्यसाका स्त्रीपर्यायने पीछा नहीं छोड़ा था।[1] (?) ॥२८॥

मनुष्य यदि अनेक प्रकारसे शास्त्रोंका समूह पढ़े, सदा जिनपूजन करे, गुरुजनोंको नमस्कार करे और व्रतोंको धारण भी करे, परन्तु यदि उसके शमभाव नहीं है, अर्थात् कषाय शान्त नहीं हैं, तो सभी वृथा है ॥२९॥ जो जो वस्तु जैनागमके ज्ञाता निपुण पुरुषोंने निषिद्ध कहा है वह तत्त्वज्ञ भव्यपुरुषको निवारण करना चाहिए ॥३०॥ जो स्त्री मुनिके भोजनके समय वार्तालाप, निष्ठीवन, श्लेष्म-क्षेपण करती है, (जंभाई लेती है) और क्रोध करती है, कृपणता, कदर्यता (कंजूसी), क्लीवता (हीनभावना) और मलिनता रखती है, वह घोर नरकको जाती है,जैसे कि पूर्वकालमें अमृतवती रानी मुनिसे घृणा करनेसे नरकमें गयी है ॥३१-३२॥ जो भोजन-पाकके समय दाल-भात आदिके राँधनेमें दक्ष नहीं है, नाना प्रकारके व्यंजन, पकवान आदिके बनानेमें निपुण नहीं है, जो देहकी शुद्धि किये विना दान देती है, जो भाँड वर्तनादिके संमार्जनमें कुशल नहीं है, जो चतुर्दशी आदि पर्वके दिन शिरपर कंकपत्र लगाती और चोटी संवारती है, जो जिन-पूजनको किये विना ही खान-पान करती है, जो भोगोंको भोगनेके लिए अपने व्रतोंके नियमको भंग करती है, वह स्त्री संसार-समुद्रमें कर्मकरी दासी होती है ॥३३-३४॥ जो स्त्री लोभसे परिपूरित (वशीभूत) होकर दूसरी स्त्रियोंमें दूतीपनेका काम करती है, जो दूसरेका धन हरण करती है और दूसरेकी धरोहरको हड़प जाती है वह स्त्री सत्यव्रतसे संयुक्त भी हो, उग्रव्रतको पालती हो, ब्रह्मचर्यको धारण कर क्रिया कलापमें परायण भी हो, इस प्रकारकी जो स्त्री यदि कषायोंसे वेष्टित है तो वह संसारमें पतिव्रता होकरके भी पुद्गलपरावर्तकालतक संसारसे नहीं छूटती है ॥३५-३७॥ जो स्त्री अपने स्वामीको छोड़कर परस्त्रीके स्वामीकी अभिलाषा करती है, वह असती होनेके पापसे चाण्डालके कुलको प्राप्त होती

---

१. इस कथानकका भाव समझमें नहीं आया है।—सम्पादक

योच्छिष्टेन घृतादिना सह सत्करोत्याकुला देवानामनिवेद्य या कदशनं शुद्ध भा । डिम्भानां न करोति छित्तमशुभं[1] या भोजनं कुर्वतां तस्या जन्मनि जन्मनि प्रभवति प्रायेण चेटीक्रमः ॥
मलिनवचो-मलिनमनोमलिनशरीरैश्च सङ्घवात्सल्यम् । यौ स्त्रीपुंसौ कुरुतस्तौ मालिन्यं कुलं : ४०
नयशास्त्रं जानन्नपि जैनागमवेदकोऽपि यः पुरुषः । व्यवहारं चोरयति प्रभवति गूथे कृमिः सोऽर्थी ४१
यः परधर्मं कथयति नात्मचित्ते ोधमुपनयति । ायते स पापी भवे भवे नीचकुलमयते ।।४२
परिलिप्तपङ्कहस्तो गोपचरोऽपूजयज्जिनेशादीन् । स च करकण्डनामा नृपतिरभूदित्युपाख्यानम् ॥४३
रूपवती पूर्वभवे चकार चित्ते मुनीश्वरावज्ञाम् । सा सीता ाता सत्यपि लिप्ता कलङ्केन ॥४४

मुनीश्वरं चित्रवती निनिन्द गर्वान्विता पूर्वभवान्तरे या ।
सा द्रौपदी प्राप पनोदं दुःशासनाद् भीमसमीपसंस्था ॥४५

मुनेः समाधियुक्तस्य या धत्ते खण्डनम् । राज्यातिखण्डनां सेति पुरा राजीमती यथा ॥४६

: षड्भिरुपात्तधर्मो महा : पञ्चभिरुत्तमश्च ।
एकादशाङ्गां प्रतिमां दधानो यः स्यान्मुनीन्द्रो भणितो बुधेन ॥४७

है ॥३८॥ जो स्त्री उच्छिष्ट (जूठे) घी आदिके साथ अच्छे घी आदिको मिलाती है, जो आकुल-व्याकुल होकर और देवोंको नैवेद्य निवेदन नहीं करके स्वयं भोजन करती है, जो कदन्न (खोटे एवं सदोष अन्न) को शुद्ध अन्न कहती है, जो अशुभ भोजन करनेवाले बालकोंकी शुद्धि नहीं करती है, उसके जन्म-जन्ममें प्रायः चेटी-क्रम अर्थात् दासी होनेकी परम्परा चलती रहती है ॥३९॥ जो स्त्री-पुरुष मलिन वचनोंसे मलिन मनसे, और मलिन शरीरसे संघका वात्सल्य करते हैं अर्थात् खोटे मन-वचनकायसे, संघ (साधर्मी बन्धुओं) को खिलाते-पिलाते हैं, वे दोनों ही स्त्री-पुरुष, मलिन (नीच) कुलको प्राप्त होते हैं ॥४०॥ न्याय-नीतिके, अथवा नय-विषय शास्त्रोंको जानता हुआ भी और जैनागमका वेत्ता होकरके भी जो पुरुष व्यवहारको चुराता है, अर्थात् अपने व्यवहार-सम्बन्धी कर्तव्यका पालन नहीं करता है, वह स्वार्थी विष्टामें कीड़ा पैदा होता है ॥४१॥ जो पुरुष पर (अन्य मत) के धर्मको, अथवा दूसरेके लिए धर्मको कहता है और स्वयं अपने चित्तमें प्रबोधको प्राप्त नहीं होता है, वह भव-भवमें नीचकुलको प्राप्त होता है ॥४२॥ पंक (कादा-कोचड़) से लिप्त हस्तवाले ग्वालेके जीवने जिनदेव आदिकी पूजा की थी, वह इस भवमें करकण्डु नामका राजा हुआ, जिसके हाथ खुजलीको खुजाते रहते थे, यह उसका कथानक प्रसिद्ध है ॥४३॥ सीताके जीवने पूर्वभवमें रूपवती होनेके कारण मुनीश्वरकी अवज्ञा की थी, इस कारण इस भवमें सभी होते हुए भी वह कलङ्कसे लिप्त हुई, अर्थात् उसका लोकमें अपवाद फैला ॥४४॥

द्रौपदीके पूर्व भवके जीव चित्रवतीने पूर्व भवान्तरमें गर्वसे अन्धी होकर मुनिराजकी निन्दा की थी उसके फलसे वह द्रौपदी इस भवमें भीमके समीपमें स्थित होनेपर भी दुःशासनसे केशोंके अपकर्षणको प्राप्त हुई, अर्थात् दुःशासनने उसे चोटी पकड़ कर खींचा ॥४५॥ जो स्त्री समाधि-युक्त मुनिके चारित्रका खण्डन करती है, वह पूर्व भवमें राजीमतीके समान राज्यके भंगको प्राप्त होती है ॥४६॥ जो छहों आवश्यकोंके और पाँचों महाव्रतोंके साथ उत्तम धर्मका पालन करता है, और ग्यारह अंगवाली प्रतिमाको धारण करता है, वह ज्ञानी जनोंके द्वारा मुनीन्द्र कहा जाता

१. उ पवित्रताम् ।

अण्डजवुण्डजरोमजचर्मजवल्कलजपञ्चचेलानि । परिहृत्य तृणजचेलं यो गृह्णीयाद् भवेत्स यतिः ॥४८
यो वचःकार्यचित्तेन स्यादिन्द्रियनिरोधकः । यविषयातीतः स ऋषिः परिकथ्यते ॥४९
न व्याप्यते महात्मा यो मोहनीयेन कर्मणा । कायक्लेशपरो नित्यमनगारः स उच्यते ॥५०
संसारः धा त्यक्तो येन भावेन सर्वथा । यो रक्षति सदाऽऽत्मानं योगीन्द्रः स च कथ्यते ॥५१

तपोधननानां तपसा सदृक्षं स्पर्धां दधानो कुरुते तपो यः ।
स चेत्कषायं मनसो न मुञ्चेत्ततो भवेदन्यभवे हि वेश्या ॥५२

या वातञ्जयभूपतिप्रिय जाताऽञ्जना सुन्दरी या लावण्यविशेषभावसहिता रूपं वभार म् ।
पूर्वोत्थव्यतिकर्मणो जिनपतिस्थानान्तरोत्थापनान्निस्त्रिशोद्भवकोपतः कतिदिनैस्तत्याज तां वल्लभः ५३
येनामरसमक्षेण मारितो रावणो रणे । पूर्वनिदानवन्धेन स हरिर्नरकं गतः ॥५४

सौवीराहारवस्तुप्रमितरसपरित्यागितैकान्नभुक्तिः
प्रत्येकस्योपवासव्रतविहितविधिच्छेदनार्थं करोति ।
यः कौटिल्यं व्रतस्थो नियमितकरणो ज्ञातधर्माक्षरागो
मिथ्यात्वं पृष्ठि त्यजति न सहसा भव्यसेनस्य यद्वत् ॥५५

मरुदेवी पूर्वभवे पूर्वविदेहेऽमरालके नगरे । वसुधारो वरवणिकस्तद्भार्या वसुमती चाभूत् ॥५६

है ॥४७॥ जो *अण्डज, वोण्डज, रोमज, चर्मज और वल्कलज इन पाँचों प्रकारके वस्त्रोंका परिहार करके तृणोंके चेलको ग्रहण करता है, वह यति कहा जाता है ॥४८॥ जो मन, वचन और कायसे इन्द्रियोंका निरोध करता है, और विषय-कषायसे रहित होता है, वह ऋषि कहा जाता है ॥४९॥ जो महात्मा मोहनीय कर्मसे व्याप्त नहीं होता और नित्य ही कायक्लेश सहन करनेमें तत्पर रहता है, वह अनगार कहा जाता है ॥५०॥ जिसने भावसे पाँच प्रकारका संसार छोड़ दिया है और जो सदा अपने आत्माकी रक्षा करता है, वह योगीन्द्र कहा जाता है ॥५१॥ जो साधु स्पर्धाको धारण करता हुआ महातपस्वीजनोंके तपके सदृश तपको करता है और अपने मनसे कषायको नहीं छोड़ता है तो वह अन्य भवमें वेश्या होता है ॥५२॥ जो पवनंजय राजाकी प्रियतमा अंजना सुन्दरी थी और जो स्वयं लावण्यविशेषतासे युक्त रूपको धारण करती थी, पूर्वभवमें जिनदेवकी प्रतिमाको स्थानान्तर करनेके पापकर्मसे उसी अंजनाको उसके पतिने निष्ठुरतासे उत्पन्न हुए क्रोधसे कुछ दिनों तक छोड़ दिया था ॥५३॥ देवोंके सदृश जिस लक्ष्मणके द्वारा युद्धमें रावण मारा गया, वह लक्ष्मण हरि (नारायण) पूर्वभवमें बाँधे गये निदानसे नरकमें गया ॥५४॥ जो सौवीर (कांजी) का आहार करता है, वस्तु मात्रका त्यागी (निर्ग्रन्थ) है, जिसके सर्वरसोंका त्याग है, जो प्रतिदिन एक अन्नका भोजन करता है, और जो कर्मोंके छेदन करनेके लिए प्रत्येक पर्वमें उपवास व्रत विधान करता है, जिसने अपनी इन्द्रियोंका नियमन किया है और जो व्रतमें स्थित होकर, धर्म तथा इन्द्रियोंके विषय रागका ज्ञाता होकर भी कुटिलताको करता है, उसकी पीठको मिथ्यात्व भव्यसेनके समान सहसा नहीं छोड़ता ॥५५॥ मरुदेवीका जीव पूर्वभवमें पूर्वविदेहके अमरालक नगरमें वसुधार नामक श्रेष्ठ वणिक्की वसुमती नामकी स्त्री थी। उसने एक बार

---

* अण्डज—रेशम, कोशा आदिसे उत्पन्न। वोंडीसे उत्पन्न रुईके वस्त्र। रोमज—ऊनी वस्त्र। चर्मज—चमड़ेसे वने वस्त्र। वल्कलज—सन, पाट आदिसे वने वस्त्र।

सा चैकदा मुनीनां दानमदाच्छिथिलभावेन । दानाददिजिनाम्बा शिथिलायुगलं समोत्पन्ना ॥५७

अज्ञातभाजन-कुतक्र-जलार्द्रपात्रं प्रातःक्षणेऽगलितनीरमयोग्यपुष्पम् ।
दिनद्वयगतं दधि चारनालमेते भवन्ति नितरां किल मद्यदोषाः ॥५८

अज्ञातकं फलमशोधितशाकपत्रं पूगीफलानि सकलानि च हट्टचूर्णम् ।
मालिन्यसर्पिरपरीक्षितमानुषाणामेते भवन्ति नितरां किल मांसदोषाः ॥५९

लालाभिः कृमिकीटकैर्मधुकरीश्रेणीभिरावर्जितं विण्मूत्रैर्मधुपोरकं (?) पलरसैर्यत्प्रोच्यते तन्मधु ।
तत्पापं मधुविन्दुवत्तदशने प्रायेण सञ्जायते भग्ने द्वादशपत्तने सति महद्यत्पापमुत्पद्यते ॥६०

रात्रिभोजनमिच्छन्ति सेवते दिनमैथुनम् । कुर्वन्ति ये मषीभेदं भाषते कूटसाक्षिणम् ॥६१

प्रस्थकूटं तुलाकूटं करकूटं वदन्ति ये । मया कृतमिदं काव्यमिति जल्पन्ति येऽधमाः ॥६२

स्वकीयं वर्णनं कृत्वा परं निन्दन्ति ये नराः । चारित्रेण विना सद्यस्तेषां शुद्धिर्न दृश्यते ॥६३

जीवोऽध्वगपदे भग्नः कर्मप्रकृतिकण्टकः । न निःसरति चारित्रनखापहरणं विना ॥६४

निद्राहास्यवचोगतिस्खलनता मूर्च्छा महाजल्पना व्यामोहप्रमदप्रमादकलहस्नेहप्रणाशभ्रमाः ।
घूर्म्मामौनविचारहानिविकला प्रासङ्गकामातुरा भृङ्गी शप्रदोषजननी कैः पण्डितैः सेव्यते ॥६५

शिथिल भावोंसे मुनियोंको दान दिया, उस दानके फलसे वह आदि जिन ऋषभदेवकी माता होकरके भी शिथिल होती हुई युगलियोंके साथ उत्पन्न हुई ॥५६–५७॥ अज्ञात-भाजन, कुतक्र (दुर्गन्धित छांछ), अज्ञात पुरुषके जलादिके पात्रसे जलपान करना, अगालित जल पीना, अयोग्य (त्रसजीव युक्त और साधारण) पुष्प-भक्षण, दो दिनका छाँछ और दही खाना, तथा आरनाल (काँजी) खाना, ये सब नितरां (अतिभारी) मद्य-पान जैसे दोष हैं अर्थात् मद्यत्यागके अतिचार हैं ॥५८॥ अजान फल, विना शोधे हुए शाकपत्र, सभी पुंगीफल (सुपारी आदि), वाजारके बने हुए चूर्ण आदि, मलिन, दुर्गन्धयुक्त और अपरीक्षित मनुष्योंका घी, इनका खाना मांस त्यागके वहुत बड़े अतिचार हैं ॥५९॥ मधुको उत्पन्न करनेवाली मधु-भक्षिकाओंकी वमन की गई लारसे उत्पन्न किया गया, कृमि-कीटकोंसे, और उनके विष्टा-मूत्रसे युक्त, मधुपान करनेवाली मक्खियोंके अंडोंके मांसके रससे जो पैदा किया जाता है, वह मधु कहलाता है। भावार्थ—मधुमक्खियाँ नानापुष्पोंके रसको तो लाती हैं, किन्तु विष्टा, मांस और सड़ी-गली वस्तुपर भी वैठकर उसका भी रस ग्रहण करती हैं और फिर उसे ही अपने छत्तेमें आकर वमन करती हैं, वह संचित वमन ही मधु है। उसकी एक विन्दुके खानेपर प्रायः इतना अधिक पाप उत्पन्न होता है, जितना कि वारह नगर विनाश करनेपर महान् पाप उत्पन्न होता है ॥६०॥

जो अधम पुरुष रात्रिमें भोजनकी इच्छा करते हैं, दिनमें मैथुन करते हैं, मषी-भेद करते हैं, अर्थात् स्याही-कलमसे झूठे दस्तावेज आदिको लिखते हैं, झूठी साक्षी (गवाही) देते हैं, नापनेके पात्र और तौलनेके वाँट आदि हीनाधिक रखते हैं, कर-कूट वोलते हैं, अर्थात् तौलते समय हाथकी कुशलतासे हीनाधिक तौलकर उसकी संख्याको कुछ की कुछ वोलते हैं। जो दूसरेके द्वारा रचे और लिखे गये काव्यको 'यह मैंने रचा है, या मैंने किया' इस प्रकार बोलते हैं और जो मनुष्य अपनी प्रशंसा या महत्ताका वर्णन कर दूसरेकी निन्दा करते हैं, ऐसे पुरुषोंकी शुद्धि चारित्रके विना सद्यः सम्भव नहीं दिखाई देती है, अर्थात् चारित्र-पालन करनेपर ही उनकी उक्त-पापोंसे मुक्ति सम्भव है, अन्यथा नहीं ॥६१–६३॥ मार्गपर चलते हुए जीवको लगा हुआ कर्मप्रकृतिरूप काँटा चारित्ररूपी नखापहरण (नखोंको काटनेवाली नाहनी) के विना नहीं निकलता है ॥६४॥ निद्रा,

तनुजन्तुजातिसंभवपञ्चोदुम्बरफलानि चित्ताढ्यः ।
यो भक्षयति स गच्छति नरकं सकडालिमन्त्रीव ॥६६

इन्द्रियसुखं विषयरसं यो भुञ्जानो न धर्ममनुभवति । स च भवति नरकवासी भारद्वाजो यथा भट्टः ६७
काष्ठोदुम्बरिकाश्वत्थवटोदुम्बरपिप्पली । एतेषां न फलाहारः कर्त्तव्यो मांससादृशः ॥६८
मांसत्यागेऽपि चैतेषां भक्षयन्ति फलानि ये । तेषां निःसरणं नास्ति विकलत्रययोनितः ॥६९
क्रोधाद् व्याघ्रो भवति मनुजो मानतो रासभश्च मायायाः स्त्री धनविरहिता लोभतः सर्पयोनिः ।
कामात्पारापतभवसमुत्पत्तिसम्बन्धभावो मोहान्मोही परिजनसुतस्त्रीसुताबान्धवेषु ॥७०
मत्तो हस्ती भवति मदतोऽहंकृतो निन्दितात्मा मन्त्राकृष्टैर्गदपरिवृतो हीनसत्त्वोऽपवृत्तैः ।
श्रुत्वा दुःखं गुरुपरिजने दण्डकान् मत्सरान् वा भस्मी ॅ विबुधगतिना दण्डकारण्यभूमिः ॥७१

नाशं पाण्डवराज्यमाप कितवान्मांसाद् वको राक्षसो
द ञ्चयो गणिकया श्रीचारुदत्तो वणिक् ।
पापर्द्ध्या निधनं गतो दशरथश्चौरोद्यमात्खर्परो
लङ्केशः परदारया व्यसनता त्याज्या यतो धार्मिकैः ॥७२

हास्य वचन, गति-स्खलनता, मूर्च्छा, महाजल्पना (व्यर्थ अधिक बोलना), व्यामोह, प्रमद, प्रमाद, कलह, स्नेह, विनाश, भ्रम, घूर्म (घूमना, चक्कर आना), अमौनता (बकवाद करना), विचार-हानि, विकलता और स्त्री-प्रसंगमें कामातुरता, इन सत्रह दोषोंको उत्पन्न करनेवाली भाँग किन पंडितोंके द्वारा सेवन की जाती है ? अर्थात् इतने दोषोंको पैदा करनेवाली भाँगका पंडितजन सेवन नहीं करते हैं ॥६५॥ जो सचेतन पुरुष सूक्ष्म जन्तु-समूहसे भरे हुए पंच उदुम्बर फलोंको खाता है, वह शकडाल मन्त्रीके समान नरक जाता है ॥६६॥ जो इन्द्रियोंके सुख और विषयोंके सुखको भोगता हुआ भी धर्मका अनुभव (पालन) नहीं करता है, वह भारद्वाज भट्टके समान नरकका वासी होता है ॥६७॥ काष्ठोदुम्बरी (कठूमर), अश्वत्थ (पीपल), वट (वरगद), ऊमर और पीपली (काले दानेवाली औषधिका वृक्ष) इतने वृक्षोंके फलोंका आहार मांसके सदृश है, अतएव नहीं करना चाहिए ॥६८॥ जो लोग मांसका त्याग करनेपर भी उक्त पंचक्षीरी वृक्षोंके फलोंको खाते हैं, उनका विकलत्रय जीवोंकी योनिसे निकलना नहीं होता है ॥६९॥ क्रोध करनेसे मनुष्य व्याघ्र होता है, अभिमानसे रासभ (गर्दभ), मायाचारसे धन-रहित स्त्री, लोभसे सर्पयोनि, कामवासनासे कबूतरोंके भवमें उत्पत्तिकी परम्परा और मोहसे परिजन पुत्र, स्त्री, पुत्री और बन्धुजनोंमें मोहित रहनेवाला उत्पन्न होता है ॥७०॥ मद करनेसे मनुष्य मदोन्मत्त हाथी होता है, अहंकार करनेसे निन्दितात्मा (निन्दायोग्य) होता है, मंत्रोंसे आकर्षण-वशीकरण प्रयोग करने-वाला रोगोंसे ग्रस्त और अपवृत्तों (कदाचारों) से सत्त्वहीन पुरुष होता है। देखो—अपने गुरु-परिजनोंके दुःखको सुनकर विबुधगति मुनिने दंडक राजाको और दण्डक देशवासी सभी मत्सर करनेवालोंको भस्म कर उस स्थानको दण्डकारण्यभूमि बना दिया ॥७१॥ जुआ खेलनेसे पांडवोंका राज्य नाशको प्राप्त हुआ, मांस-भक्षणसे बक राक्षस विनष्ट हुआ, मदिरा-पानसे यादवोंका समूह जला, वेश्या-सेवनसे श्रीचारुदत्त सेठने दुःखोंको भोगा, शिकार खेलनेसे दशरथ मरणको प्राप्त हुआ, चोरी करनेके उद्यमसे खर्पर विनाशको प्राप्त हुआ और परदाराकी वांछासे लंकेश रावण मारा गया। इसलिए ये व्यसन धार्मिकजनोंके द्वारा त्यागने योग्य हैं ॥७२॥ नय चक्रके ज्ञाता

यैर्देवदर्शनमकारि नयै : यैर्व्यालिकं च दिवसाष्टमभागयुक्त्या ।
यैः प्रासुकं गलितमम्बु परं न पीतं मिथ्यादृशोऽपि भवका[1] न पतन्ति किं ते ॥७३

भैरवे पतनं येषां स्नानं भवति सागरे । ये षडायतने भावात्पूजां[2] कुर्वन्ति मानवाः ॥७४
मिश्रभावेन येऽयन्तो मन्यन्ते च जिनागमम् । तेऽनन्तानन्तसंसारं भ्रमन्ति च न संशयः ॥७५
साष्टाङ्गं दर्शनं हित्वा ज्ञानमष्टाङ्गसंयुतम् । त्रयोदशविधं वृत्तमपरं[3] पूजयन्ति ये ॥७६
विकलत्रयमासाद्य प्राप्य दुःखमनेकधा । ते स्वर्गेऽनन्तसौख्येऽपि जायन्ते देववाहनाः ॥७७

आराध्यो न विराध्यो मान्यो येषां भवति नामान्यः ।
येषां पूज्यः पूज्यो वन्द्यो येषां च वन्दनीयोऽस्ति ॥७८

इह लोके परलोके तेषां सौख्यं प्रजायते विविधम् । मरणं समाधिमरणं तेषां सञ्जायते सिद्धिः ॥७९

पात्रं परित्यज्य कुपात्रदानं कुर्वन्ति ये दृष्टिकुदृष्टिशास्त्रम् ।
कुभोगभूमौ वसतिं लभन्ते ते कुत्सिताङ्गावयवा कुभोगाः ॥८०
काष्ठलेपवसनाश्म-भित्तिगानानकादिषु करोति भञ्जनम् ।
यः प्रमादवशगो मतिभ्रमाद् रौरवे पतति सोऽत्र नानृतम् ॥८१

जिन पुरुषोंने देव-दर्शन भी किया और दिनके अष्टम भागकी युक्तिसे अर्थात् प्रातः-सायंकाल एक-एक मुहूर्त्तके परिमाणसे व्यालु (प्रातः सायंकालीन भोजन) भी की, किन्तु जिन्होंने प्रासुक या गालित (छना हुआ) जल नहीं पिया, वे मिथ्यादृष्टि भी जीव क्या भव-काननमें नहीं गिरते हैं ॥७३॥ जिन मनुष्योंका भैरव-पतन है, अर्थात् ऊँचे स्थानसे नीचे गिरते हैं, समुद्रमें जिनका स्नान होता है और जो मानव छह आयतनों (धर्मस्थानों) में भावसे पूजा करते हैं और सम्यक्त्व-मिथ्यात्वरूप मिश्रभावसे वर्तन करते हुए जिनागमको मानते हैं, वे जीव अनन्तानन्त संसारमें परि-भ्रमण करते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥७४–७५॥ जो अष्टाङ्ग सम्यग्दर्शनको, आठ अंगोंसे युक्त ज्ञानको और तेरह प्रकारके चारित्रको छोड़कर अन्य (मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र) को पूजते हैं, वे विकलत्रय योनिको प्राप्त होकर अनेक प्रकारके दुःख पाते हैं । वे यदि (भाग्यवशात्) अपरिमित सुखवाले स्वर्गमें भी उत्पन्न हों, तो वहाँपर भी देवोंके वाहन बनते हैं अर्थात् आभियोग्य जातिके देव होते हैं जो अश्व, गज, विमान आदिका रूप धारण कर देवोंकी सवारीके काममें आते हैं ॥७६–७७॥

जिन मनुष्योंके आराध्यदेव आराध्य ही रहता है, विराधनाके योग्य नहीं होता, जिनके मान्य पुरुष मान्य ही रहता है, अमान्य नहीं होता, जिनके पूज्य पुरुष पूज्य ही रहता है, अपूज्य नहीं होता और जिनके वन्दनीय पुरुष वन्दनाके योग्य ही रहता है, अवन्दनीय नहीं होता, उन लोगोंके इस लोकमें और परलोकमें नाना प्रकारके सुख प्राप्त होते हैं, उनका समाधिमरण भी होता है और सिद्धि भी प्राप्त होती है ॥७८–७९॥ जो पात्रको छोड़कर कुपात्रको दान देते हैं (और) जिनके दृष्टि (सम्यक्त्व) और कुदृष्टि (मिथ्यात्व) समान है, वे कुभोगभूमिमें निवास प्राप्त करते हैं, जहाँपर उनके शरीरके अवयव कुत्सित (हीनाधिक परिमाणवाले) होते हैं और जहाँपर भोग भी खोटे ही होते हैं ॥८०॥ जो पुरुष काष्ठ, लेप, वस्त्र, पाषाण, और भित्तिगत चित्रोंको और वाद्य आदिपर चित्रित आकारोंको प्रमादके वशीभूत होकर बुद्धिके भ्रमसे भंजन करता है,

१. श्रावकाः । २. उ पूतोम् । ३. उ चित्रं ।

पूजा जिनेश्वरे योग्या सुपात्रे दानमुत्त । स्थापनं पुरुषे भ्रष्टे श्रावकाणामयं विधिः ॥८२
येषां रागा न ते देवा येषां भार्या न ते : । येषां हिंसा न तेऽग्रन्थाः कथयन्तीति योगिनः ॥८३
चारुचारित्रसम्पन्नो मुनीन्द्रः शीलभूषणः । आत्मनस्तारको जातो भव्यानां तारकस्तथा ॥८४
कृत्वा दिनत्रयं यावत्परीक्षां मुनिपुङ्गवे । यो नमस्कारमाधत्ते सम्यग्दृष्टिः स उच्यते ॥८५

य: श्रावको भावभरो धनाढ्यः परीक्ष्य पात्रं न दानम् ।
स्तव्धो भवेत् स कृपणोऽज्ञदृष्टः सोऽधोगतिं गच्छति को न दोषः ॥८६

* भ्रष्टेऽतिदुर्जनेऽसत्ये क्षुद्रके गुरुतल्पके[1] । हीनसत्त्वे दुराचारे तस्मै शिक्षा न दीयते ॥८७
शान्ते शुद्धे सदाचारे गुरुभक्तिपरायणे । तत्त्वादुभयलोकज्ञे शिक्षा प्रदीयते ॥८८
यद्वित्तोपार्जने चित्तं यच्चित्तं स्त्रीनिरीक्षणे । तच्चित्तं यदि धर्मे स्यात्ततः सिद्धिः करस्ि ॥८९

कायेन मनसापि यत्र जीवेषु हिंसां न करोति भव्यः ।
यद्यप्रमादी न ततोऽस्ति पापं बुधैरहिंस मुच्यते तत् ॥९०
पुंसो विशुद्धमनसो विकाररहितस्य कीदृशी हिंसा ।
उद्दिष्टीयकमनसि हिनैनो वधू व (?) रजम् ॥९१

वह रौरव नरकमें पड़ता है, इसमें कुछ भी असत्य नहीं है ॥८१॥ जिनेश्वरकी पूजा करना योग्य है, सुपात्रमें दान देना उत्तम है और पुरुषके भ्रष्ट होनेपर उसे धर्ममें स्थापन करना यह श्रावकोंकी विधि है ॥८२॥ जिनके राग है व देव नहीं हैं, जिनके स्त्री हैं वे ऋषि नहीं हैं और जिनके हिंसा है, वे निर्ग्रन्थ नहीं हैं। ऐसा योगिजन कहते हैं ॥८३॥ जो सुन्दर चारित्रसे सम्पन्न है, शील जिसका भूषण है, ऐसा मुनीश्वर ही अपनी आत्माका तारक है, तथा अन्य भव्य जीवोंका भी वह तारक है ॥८४॥ जो उत्तम मुनिके विषयमें भी तीन दिन तक परीक्षा करके पीछे नमस्कार करता है, वह सम्यग्दृष्टि कहा जाता है ॥८५॥ जो भाव-प्रधान, धनाढ्य श्रावक पात्रकी परीक्षा करके उसे दान नहीं देता है, वह स्तव्ध (मानी) है, कृपण (कंजूस) है, अज्ञानी है, ऐसा पुरुष अधोगतिको जाता है, इसमें कोई दोष नहीं है ॥८६॥ जो पुरुष धर्मसे भ्रष्ट है, अति दुर्जन है, असत्यभाषी है, क्षुद्र है, गुरुका निन्दक है, हीनशक्ति है और दुराचारी है, उस व्यक्तिको शिक्षा नहीं देनी चाहिए ॥८७॥ किन्तु जो शान्त है, शुद्ध है, सदाचारी है, गुरुकी भक्तिमें परायण (तत्पर) है, और तत्त्व-ज्ञानसे उभयलोकका ज्ञाता है, उसे शिक्षा देनी चाहिए ॥८८॥ जो चित्त धनके उपार्जनमें जैसा संलग्न रहता है और स्त्रियोंके अंगोपांग देखनेमें लगा रहता है, वैसा ही चित्त यदि धर्ममें संलग्न हो जाय तो सिद्धि (मुक्ति) उसके हाथमें स्थित है ॥८९॥ जो भव्य पुरुष जीवोंकी मन-वचन-कायसे हिंसा नहीं करता है, यदि वह अप्रमादी है, तो उसके हिंसा पाप नहीं है, इसे ही ज्ञानियोंने अहिंसाव्रत कहा है ॥९०॥ विकार-रहित विशुद्ध चित्तवाले पुरुषके हिंसा कैसे सम्भव है? उदासीन मनमें पाप नहीं ठहरता, जैसे कि·········रज नहीं लगता ॥९१॥ यह हिंसारूपी नारी निरन्तर

---

* अहं न श्रावको जैनो जैने पात्रे गृहागते ।
इत्थं यो भाषते वाक्यं मिथ्यादृष्टिः स उच्यते ॥८६
उज्जैन भवनकी प्रतिमें यह श्लोक अधिक पाया जाता है ।

१. उ गुरु निन्दके ।

हिंसाकलत्रमनिशं व्रजदङ्गिचित्ते छिद्राटिनीयमुपसंहरते न किं माम् ।
इत्थं विचार्य मुमुचे परमेश्वरेण हिंसेतरा सुजगृहे जिननायकेन ॥९२
न प्रोच्यते [1]मर्मवचः परस्य हिक्कारतो[2] यत्र गुणाभिघातम् ।
विचार्यते वस्तु विवेकबुद्धया सत्यव्रतं तं कवयो वदन्ति ॥९३
यत्र कृतेऽलं ि ेन कार्यं तस्य कृते नानुमतं न दीयते ।
न शिक्ष्यते तस्करमन्त्रसङ्गतिर्व्रतं तदस्तेयमुशन्ति पण्डिताः ॥९४
रे मानव किं क्रन्दसि सुताड्यमानोऽसि दुर्जनैः सततम् ।
पाश्चात्यमिति विलोकय परधनहरणं मया चक्रे ॥९५
वेश्या परस्त्री विधवा कुमारी लेपादिका स्वीक्रियते न यत्र ।
स्वकीयभार्यागमनप्रवृत्तिः चतुर्थं मुनयस्तदाहुः ॥९६
उपार्ज्यते वित्तमनेकवारं तदेव वित्तं क्रियते प्रमाणम् ।
सन्तिष्ठमानं ध्रियते सुधर्मे यत्रावधिस्तस्य परिग्रहस्य ॥९७
तृष्णामूलमनर्थानां तृष्णा संसारकारिणी । तृष्णा नरकमार्गस्या त्तृष्णां परित्यजेत् ॥९८
या काष्ठा व्यवहारकर्मकुशला देशः स छायो भवेद् योग्यं चारुतया प्रवृत्तिकरणं भव्यस्य कार्योत्सवात् ।
शेषं सर्वनिवृत्तिकारणपदं धर्मोपदेशे स्थितं सर्वज्ञेन समीरितं सुखमयं लोकद्वयस्यास्पदम् ॥९९

प्राणियोंके चित्तमें जाकर उसके छिद्रों (दोषों) को देखा करती है। क्या यह मेरे समीप नहीं आयगी ? अवश्य आयगी। मानों यह विचार करके ही परमेश्वर जिननायकके द्वारा हिंसारूपी राक्षसी छोड़ दी गई और अहिंसारूपी भगवती अंगीकार कर ली गई है ॥९२॥

जो दूसरेके प्रति मर्म-घातक वचन नहीं बोलता है, तिरस्कार-पूर्वक दूसरेके गुणोंका घात नहीं करता है, और विवेकबुद्धिसे वस्तुका विचार करता है, उसे ही कविजन पण्डित कहते हैं ॥९३॥ जिसके लिए कोई भी कार्य भली भाँतिसे नहीं किया जाता है, उसके लिए दूसरेकी अनुमतिके विना उसकी कोई भी वस्तु नहीं देनी चाहिए। जहाँपर चोरोंका मन्त्र और संगम नहीं सीखा जाय, अर्थात् चोरोंसे दूर रहा जाय, वहाँपर ही विद्वज्जन अस्तेयव्रत कहते हैं ॥९४॥ अरे मानव, दुर्जनोंके द्वारा निरन्तर ताड़ा जाता हुआ तू क्यों चिल्लाता है ? करुण विलाप करता है ? अपने पिछले कार्यको देख, कि मैंने दूसरेका धन हरण किया है ॥९५॥ जहाँपर वेश्या, परस्त्री, विधवा, कुमारी और लेप-चित्रादिगत स्त्री स्वीकार नहीं की जाती है और अपनी भार्यामें प्रति गमनकी प्रवृत्ति रहती है, उसे ही मुनिजन चौथा ब्रह्मचर्याणुव्रत कहते हैं ॥९६॥ जो धन न्याय-पूर्वक अनेक वार उपार्जन किया जाता है, वही धन प्रमाण किया जाता है और वहीं सुधर्ममें लगाया गया ठहरता है। जहाँ परिग्रहकी सीमा की जाती है, वही परिग्रह-परिमाणव्रत है ॥९७॥ तृष्णा अनर्थोंका मूल है, तृष्णा संसारको बढ़ानेवाली है और तृष्णा नरकके मार्गपर चलानेवाली है, इसलिए तृष्णाका परिहार करना चाहिए ॥९८॥ जो दिशा व्यवहार कार्य करानेमें कुशल हो, अर्थात् जिस दिशामें जाने-आनेपर धनादिका लाभ हो, अथवा जिस देशमें जाने-आनेपर धनकी आय (आमदनी) हो, उस दिशामें और उस देशमें भव्य पुरुषको कार्यके उत्सवसे प्रवृत्ति करना योग्य है, सुन्दर है, उनके अतिरिक्त सभी दिशाओंमें और देशोंमें गमनागमनकी निवृत्ति करना

---

१. उ घर्म। २. हंकारतो।

अगोप्यताऽसत्करणं जनानामनर्थदण्डं निगदन्ति देवाः ।
ग्रन्सन्ततं तस्य निषेधनं स्यात् साऽनर्थदण्डाद्-विरतिः प्रसिद्धा ॥१००

कलत्रपरिवारार्थं देशराज्यविचिन्तनम् । इत्थं प्रवर्तते यत्र ध्यानमुच्यते ॥१०१
मारयामि न रक्षामि क्व त्वं यास्यसि मेऽग्रतः । इत्थं प्रवर्तते यत्र तद् रौद्रध्यानमुच्यते ॥१०२
शास्त्राभ्यासो भवेन्नित्यं देवार्चा गुरुवन्दनम् । इत्थं ने यत्र धर्मध्यानं तदुच्यते ॥१०३
कदा मोक्षं गमिष्यामि कर्मोन्मूल्य निरन्तरम् । इत्थं प्रवर्तते यत्र शुक्लध्यानं तदुच्यते ॥१०४
आर्त्तध्यानं परित्यज्य रौद्रध्यानं तथैव च । शुक्लध्यानस्य कार्याय ध्यानं चरेत् ॥१०५
जिनस्याग्रे पूर्वोत्तरदिशि च सामायिकविधिर्विधातव्यो भव्यैर्नियमविहितैः मधरैः ।
कृपापात्रैर्ध्यानद्वयहननकार्योद्यमयुतैस्त्रिकालज्ञैर्ग्रैवेयकपदफलैर्भावसहितैः ॥१०६
उपोषधविधिः कृतो नियमपूर्वकैर्भावकैर्जिनेन्द्रभुवि षोडशप्रहरबद्धसीमो ः ।
असंख्यबुधकामिनीविहितमङ्गलायां क्षपामिव विकर्तनो हरति वन्धं ः ॥१०७
जीवेन यानि पापानि समुपात्तानि संसृतौ । संहरेत् प्रोषधस्तानि हिमवत्पद्म ॥१०८

भुक्तिं मुनीन्द्रे विधिवद्-गृहीते विधीयते भक्तिरुपासकेन ।
स्थित्वा निजद्वारि निरीक्षणार्थं प्रभण्यते सोऽतिथिसंविभागः ॥१०९

और धर्मोपदेशमें स्थित रहना ही क्रमशः दिग्व्रत और देशव्रत है । इनको सर्वज्ञदेवने दोनों लोकोंमें आश्रयभूत और सुखमयी कहा है ॥९९॥ मनुष्योंके गुप्तकार्योंको गुप्त न रखनेको और सत्कार योग्य व्यक्तिका असत्कार करनेको गणधरदेव अनर्थदण्ड कहते हैं। ऐसे अनर्थदण्डका जहाँ निरन्तर त्याग हो, वह अनर्थदण्डविरति प्रसिद्ध है ॥१००॥ जहाँ स्त्री और कुटुम्ब-परिवारके लिए नाना देशों और राज्योंका चिन्तवन किया जाय और तदनुसार प्रवर्तन किया जाय, वह आर्त्तध्यान कहा गया है ॥१०१॥ मैं तुझे मारूँगा, तेरी रक्षा नहीं करूँगा, तू मेरे आगेसे भागकर कहाँ जायगा, इस प्रकारकी प्रवृत्ति जहाँ हो, वह रौद्र ध्यान कहा गया है ॥१०२॥ जहाँपर नित्य शास्त्रोंका अभ्यास हो, देव-पूजन और गुरु-वन्दन किया जाय, ऐसी प्रवृत्ति जहाँपर हो वह धर्म-ध्यान कहा गया है ॥१०३॥ मैं कर्मोंका उन्मूलन करके मोक्ष जाऊँगा, इस प्रकारके विचारोंका जहाँ निरन्तर प्रवर्तन हो वह शुक्ल ध्यान कहा गया है ॥१०४॥ मनुष्यको आर्त्तध्यान और तथैव रौद्रध्यान छोड़कर शुक्लध्यानकी प्राप्तिके लिए धर्मध्यानका आचरण करना चाहिए ॥१०५॥ जिनदेवके आगे (सम्मुख) अथवा पूर्व या उत्तर दिशामें मुख करके नियम विधायक और संयम-धारक भव्य पुरुषोंको आर्त्त और रौद्र इन दो ध्यानोंके हननकार्यके लिए उद्यम-युक्त, दयापात्र और भाव-सहित होकर सामायिक विधि करना चाहिए। यह सामायिक अभव्य पुरुषोंतकको ग्रैवेयकपदका फल प्राप्त कराती है, ऐसा त्रिकालज्ञाता सर्वज्ञोंने कहा है ॥१०६॥ जिनेन्द्रभूमि (सिद्धक्षेत्र, जिनालय आदि पवित्र स्थान) पर सोलह पहरकी सीमा बाँधकर नियमपूर्वक भव्य जीवोंके द्वारा की गयी प्रोषधविधि कर्मोंके वन्धको इस प्रकार हरण करती है, जैसे कि असंख्य, देवाङ्गनाओं (ताराओं) के द्वारा जिसकी मंगल आरती की जाती है, ऐसा चन्द्रमा रात्रिका अन्धकार नष्ट कर देता है ॥१०७॥ जीवने संसारमें परिभ्रमण करते हुए जो पाप उपार्जन किये हैं प्रोषधव्रत उन सवको इस प्रकार नष्ट कर देता है जैसे कि हिमपात कमलोंके समूहको नष्ट कर देता है ॥१०८॥ विधिपूर्वक पड़िगाहकर ग्रहण किये गये मुनीश्वरको उपासक (श्रावक) के द्वारा जो

प्रतिग्रहोच्चासनपादशौचवदर्चनं तत्प्रणतिस्त्रिशुद्धिः ।
आहारदानं मुनिपुङ्गवाय नवप्रकारो विधिरेष उक्तः ॥११०
सत्त्वं क्षमा भक्तिरलोभकत्वं विज्ञानता तुष्टिरतीवभावः ।
एते गुणा यस्य वसन्ति चित्ते तं श्रावकं तीर्थकरा वदन्ति ॥१११
दत्ते न दत्ते स्वयमेव दत्तं मुदाऽऽलये पात्रविचारवुद्धचा ।
कुपात्रयोग्यं व्यसनं प्रवृत्तेस्त्रयो गुणा दातरि* संवसन्ति ॥११२

अन्नं चतुष्पथाऽऽयातं दानशालासमुद्भवम् । देवतायतनानीतं लिङ्गिभिर्दत्तमात्मनः ॥११३
पुराणं क्वथितं[1] कच्चं सटितं पतितं तथा । अशुचिकरसंश्लिष्टं वालकोच्छिष्टमिश्रितम् ॥११४
शिल्पिविज्ञानिभिर्दत्तं दत्तं पाखण्डिभिस्तथा । संवलोपायनग्राममन्त्राकृष्टं च डङ्कितम् ॥११५
मिथ्यानकैर्गाढमप्रासुकमनादरम् । वेलातीतं कृपाहीनं दृष्टिपक्वं मुनेः कृतम्[2] ॥११६
वर्षासु दलितं नैशं दासीकृतमशोधितम् । अविनीतस्त्रिया पक्वं न दातव्यमुपासकैः ॥११७
पण्डितोऽहं गुणज्ञोऽहमिन्द्रोऽहमिति जल्पयन् । शास्त्रं प्रविष्य[3] वित्तं यो गृह्णाति श्रावको न सः ११८

भोजन प्रदान किया जाता है, उनकी भक्ति की जाती है और अपने घरके द्वारपर खड़े होकर उनके आगमनकी प्रतीक्षा की जाती है, वह अतिथिसंविभागव्रत कहा गया है ॥१०९॥ श्रेष्ठ साधुको आता हुआ देखकर प्रतिग्रह करना (पड़िगाहना), ऊँचे आसनपर वैठाना, चरणोंका प्रक्षालन करना, उनका पूजन करना, उन्हें नमस्कार करना, मनवचनकायकी शुद्धि रखना और आहारदान करना यह नौ प्रकारकी विधि कही गई है ॥११०॥ सत्त्व, क्षमा, भक्ति, अलोभता, विज्ञानता, सन्तोष, और अतीव गाढ़श्रद्धा ये सात गुण जिसके चित्तमें रहते हैं, तीर्थंकरोंने उसे श्रावक कहा है ॥१११॥ देनेपर ही नहीं देता है, अपितु स्वयमेव ही देता है, घरपर आये हुए मनुष्यको पात्रके समान समझकर हर्षसे देता है, कुपात्रके योग्य देना जिसकी प्रवृत्तिका व्यसन है, ये तीन गुण दातारमें रहते हैं ॥११२॥ जो अन्न चतुष्पथ (चौराहा, वाजार) से आया हो, दानशालामें वनाया गया हो, देवताके स्थानसे लाया गया हो, अन्य लिंगी (मतावलम्वी) पुरुषोंके द्वारा अपने लिए दिया गया हो, गला हो, कच्चा हो, सड़ा हो, कहींपर पड़ा हो, तथा अशुचिहस्तसे संश्लिष्ट हो, वालकोंकी जूठनसे मिश्रित हो, शिल्पी (वढ़ई, लुहार) आदि कलाविज्ञानी जनोंके द्वारा दिया गया हो, मिथ्यात्वी पाखंडियोंके द्वारा दिया गया हो, संवल (मार्ग पाथेय), उपायन (भेंट) और अन्य ग्रामसे आया हो, मन्त्रसे आकर्षणकर मँगाया गया हो, डंकित (डंक लगा-घुना) हो, मिथ्यात्वी जनोंके द्वारा पकाया गया हो, अप्रासुक हो, अनादरपूर्वक दिया गया हो, समय विताकर दिया गया हो, अथवा जिसकी कालमर्यादा वीत गयी है, दयासे हीन हो, दृष्टि पक्व हो, मुनिके लिए वनाया गया हो, वर्षामें दला गया हो, रात्रिमें वनाया गया हो, दासी द्वारा पकाया गया हो, अशोधित हो, विनय-रहित स्त्रीके द्वारा पकाया गया हो, ऐसा आहार श्रावकको मुनियोंके लिए नहीं देना चाहिए ॥११३–११७॥

'मैं पंडित हूँ, मैं गुणज्ञ हूँ, मैं इन्द्र हूँ' इस प्रकार कहता हुआ जो पुरुष शास्त्रको वाँचकर

---

* उ प्रतौ दातुरिमे भवन्ति ।

१. उ कुत्सितं । २. उ मुनिश्रिने । ३. उ टि० प्रपठ्य ।

जिह्वारसस्वादनलम्पटत्वादन्योन्यसौख्यं वहते यतिर्यः ।
अब्रह्मचर्यं धरति स्वचित्ते मायां विधत्ते तपसो मिषेण ॥११९
ज्योतिष्कलावैद्यकमन्त्रवादैः रसायनैर्धातुविवादयोगैः ।
गीतैश्च चूडामणिभिः कषायैरहर्निशं यो गमयेत् वृथैव ॥१२०
तपोधनो नो न महातपस्वी न संयमी नैव विशुद्धवृत्तिः ।
नो चागमज्ञो न विबोधवेत्ता प्रभण्यते तीर्थकरैः स पापी ॥१२१
शाकपिण्डप्रदानेन यो भव्यो दानमाचरेत् । भावशुद्धया मुनीन्द्राणां स प्रोक्तोऽमरनायकः ॥१२२
ये गच्छन्ति मुनीश्वरेण सदृशा भुक्तैकचिन्तातुरा-
स्ते वार्या न कदापि केन सहसा प्रोक्तोऽपि मायात भोः ।
को दाताऽत्र न तिष्ठते क्व वलिता व्यावृत्तियाताऽन्यतो
मौलिक्यां प्रतिमां समर्च्य खलु किं प्रार्च्या न यक्षादयः ॥१२३
मित्रे कलत्रे विभवे तनूजे सौख्ये गृहे यत्र विहाय मोहम् ।
संस्मर्यते पञ्चपदं स्वचित्ते सल्लेखना सा विहिता मुनीन्द्रैः ॥१२४
स्थूलव्रतवदणुव्रतमनुपालयति स्वभावतो यो वै ।
स्वर्गापवर्गफलभुग् भवति स मनुजो जिनप्रतिमः ॥१२५
इभ्यास्पर्शवशान्मृतो गजपतिर्गीतात्कुरङ्गो मृतो
जिह्वास्वादवशान्मृतो जलचरो रूपात्पतङ्गो मृतः ।
लक्ष्मीस्थानविशेषभू लिनीगन्धाद् द्विरेफो मृत-
एकैकेन्द्रियसौख्यभोगवशगैः प्रायेण दुःखं यतः ॥१२६

या बेंच करके धनको ग्रहण करता है वह श्रावक नहीं है ॥११८॥ जो साधु जिह्वारसके आस्वादनमें लम्पट होनेसे परस्पर सुखको धारण करता है, अब्रह्मका सेवन करता है, तपके मिषसे अपने चित्तमें मायाको रखता है, ज्योतिष, कला, वैद्यक, मंत्रवाद, रसायन; धातुवाद, विवादयोग, गीत, चूड़ामणि-प्रयोग और कषायोंके द्वारा जो रात-दिन व्यर्थ गँवाता है, वह न तपोधन है, न महातपस्वी है, न संयमी है, न विशुद्धवृत्तिवाला है, न आगमज्ञ और न विशिष्ट ज्ञानका धारक है ऐसा व्यक्ति तो तीर्थंकरोंके द्वारा पापी कहा गया है ॥११९-१२१॥ जो भव्य पुरुष भक्तिके साथ मुनीन्द्रोंको शाकपिण्डमात्र देकर दानका आचरण करता हैं, वह देवोंका स्वामी कहा गया है ॥१२२॥ खानेकी एकमात्र चिन्तासे पीड़ित जो पुरुष मुनि-सदृश वेष धारणकर मुनीश्वरके साथ भिक्षा प्राप्त करनेके लिए जाते हैं, उन्हें कदापि निवारण नहीं करना चाहिए। गोचरीके समय किसी पुरुषके द्वारा सहसा कहा जाय कि भोः साधु, इधर आओ, तब यह नहीं कहना चाहिए, कि यहाँ कोई दाता नहीं है, क्यों खड़े हो, अन्यत्र दूसरी ओर जाओ। मूल नायककी प्रतिमाकी पूजा करके क्या उनके यक्षादिक नहीं पूज्य होते हैं? अर्थात् पूजे ही जाते हैं। सारांश यह कि यदि मुनिके साथ कोई वेषधारी भी आ जावे तो उसे भी भोजन करा देना चाहिए ॥१२३॥ मित्र, स्त्री, वैभव, पुत्र, सौख्य और गृहमें मोहको छोड़कर अपने चित्तमें जो पंच परमपद स्मरण किये जाते हैं, मुनीन्द्रोंने उसे सल्लेखना कहा है ॥१२४॥ जो पुरुष स्थूल (महा-) व्रतोंके समान अणुव्रतोंका स्वभावसे पालन करता है, जिनदेवके तुल्य वह पुरुष स्वर्ग और मोक्षके फलको भोगनेवाला होता है ॥१२५॥ हथिनीके स्पर्शके वश गजराज मारा गया, गीतसे हरिण मारा गया,

स्थूलं दीर्घसरोवरं गुरूदकं वारिभ्रमो वर्त्तका
स्वच्छव्यञ्जनता तरङ्गरचना भक्तं पयोजस्थितिः ।
दालिः पुष्करिकाघृतं परिमलश्चैतत्समास्वादयन्
प्रापद्दैववशाद्यशोधरनृपो भृङ्गावसानक्रियाम् ॥१२७

एकेन्द्रियत्वे तरुजातिजीवा द्वीन्द्रियत्वे कृमिजातयश्च ।
पिपीलिकास्त्रीन्द्रियजीवजात्या द्विरेफकाद्याश्चतुरिन्द्रियत्वे ॥१२८
ेन्द्रियत्वे मनुजा भवन्ति प्राणैर्यथायोग्यतयेन्द्रियैश्च ।
इलाजलं तै वायुवृक्षा एते स्थिताः स्थावरपञ्चकत्वे ॥१२९
पञ्चेन्द्रियस्थावरपञ्चकत्वं यत्तद्विचार्यं दशसंयमत्वम् ।
चित्ते निषिद्धे सकलं निषिद्धं तस्मान्मनोरक्षणमाचरन्तु ॥१३०

लेश्यात्रयं परित्यज्य शुभलेश्यास्त्रयात्मिका । गद्यपद्यमयी वाणी सा स्तुतिः प्रोच्यते बुधैः ॥१३१
सर्वेषु सत्त्वेषु रागद्वेषनिराकृतिः । आत्मनोपशमं यत्र सा समतोच्यते बुधैः ॥१३२
देवतावसरं कृत्वा यत्र षोडश भावनाः । पञ्चाङ्गस्य नमस्कारो वन्दना सैव कथ्यते ॥१३३
कृतदोषनिराकारश्चतुर्ि चिन्तनम् । यत्र रत्नत्रयाख्यानं सा प्रतिक्रमणस्थितिः ॥१३४

जिह्वाके स्वादवश मीन मारा गया, रूपसे पतंगा मारा गया और लक्ष्मीकी स्थान विशेपभूमिवाली कमलिनीकी गन्धसे भौंरा मारा गया। ये सभी जीव प्रायः एक-एक इन्द्रियके सुख भोगनेके वशंगत होकर दुःखको प्राप्त हुए हैं ॥१२६॥ सरोवर विशाल (लम्बा-चौड़ा) है, जल भी अगाध है, जलमें भँवर उठ रही है, जल, पक्षी हंस आदिसे युक्त है, स्वच्छ व्यंजनता रूप तरंगोंकी रचना हो रही है, भातरूप कमल पर स्थिति है, दालरूप कमलिनी है, घृतरूप सुगन्वित पराग है, इस सबका आस्वाद लेता हुआ भ्रमर जैसे कमलमें वन्द होकर अवसान क्रिया (मरण) को प्राप्त होता है, उसी प्रकार सर्व प्रकारके भोगोंसे सम्पन्न यशोधर महाराज उन भोगोंमें आसक्त होकर दैववशात् मरणको प्राप्त हुआ ॥१२७॥ कर्मोंके वश हो करके ये जीव एकेन्द्रिय पर्यायमें वृक्षजातीय अनेक प्रकारके जीवोंमें उत्पन्न होते हैं, द्वीन्द्रियपर्यायमें कृमिजातीय, त्रीन्द्रिय पर्यायमें पिपीलिकादि जातीय और चतुरिन्द्रिय पर्यायमें भ्रमरादि जातीय जीवोंमें उत्पन्न होते हैं। पञ्चेन्द्रिय पर्यायमें मनुष्यादिमें उत्पन्न होते हैं। उक्त पर्यायोंमें यथायोग्य अपनी जातिके अनुसार इन्द्रियादि प्राणोंसे युक्त होते हैं। स्थावर-पंचकमें ये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वृक्ष अवस्थित हैं ॥१२८-१२९॥ पञ्चेन्द्रिय और पञ्च स्थावरकायकी रक्षा करनेरूप दश प्रकारके संयमकी रक्षाका विचार करना चाहिए। मनके निरोध कर लेनेपर सर्व विषयोंकी प्रवृत्ति रुक जाती है, इसलिए विवेकी जनोंको अपने मनका संरक्षण करना चाहिए ॥१३०॥ कृष्ण, नील और कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओं-का परित्याग कर पीत, पद्म और शुक्ल इन तीन शुभ लेश्या रूप गद्य-पद्यमयी वाणी जो भगवद्-गुणगान करती है, ज्ञानियोंने उसे स्तुति कहा है ॥१३१॥ जहाँ सर्वप्राणियों पर क्षमा-भाव है, राग-द्वेषका निराकरण और आत्मामें उपशम भाव है, ज्ञानीजन उसे समता या सामायिक कहते हैं ॥१३२॥ देव-पूजनके अवसर पर पंचांग नमस्कार करना वन्दना कही जाती है। सोलह कारण भावनाओंका चिन्तन करना भी वन्दना है ॥१३३॥ किये हुए दोषोंका निराकरण करना, आज्ञा-विचय आदि चारों धर्मध्यानोंका चिन्तन करना प्रतिक्रमण है और जहाँपर रत्नत्रयधर्मका

अनाचारोऽन्तरायाणां स्वदोषपरिजल्पनम् । नियमः शक्तितो प्रत्याख्यानं तदुच्यते ॥१३५
यत्र ध्यानचतुष्कस्य चिन्तनं लोकसंस्थितिः । चतुर्दशगुणस्थानं कायोत्सर्गः स उच्यते ॥१३६
एते यस्य तंन्ते स भवेन्मोक्षभाजनम् । एतेषां यस्य न श्रद्धा सोऽस्ति पापी भवे भवे ॥१३७
अष्टमूलगुणोपेतो हतव्यसनसप्तकः । रत्नत्रयपवित्रो[1] यो दर्शनप्रतिमाविधिः ॥१३८
द्वादशव्रतसम्पत्तिगृहीतः प्रतिपालकः । सम्यग्दर्शनशुद्धात्मा स्याद् तिमाविधिः ॥१३९

सन्ध्यात्रये द्वयघटीपरिसंख्यया ये सामायिकं दशपरीषहदोषमुक्तम् ।
कुर्वन्ति जैनवदनं परिहृत्य कोणे सर्वार्थसिद्धिपदवीं ननु ते लभन्ते ॥१४०

स प्रोषधो : ो धत्ते निश्चलं मनः । स निचयं हन्ति यो मोक्षसुखकारणम् ॥१४१
सचित्तसर्ववस्तूनां ध्वंसनं न करोति यः । सचित्तविरतः स स्याद्दयामूर्त्तिरनेकधा ॥१४२
परस्त्रीविमुखो यः स्याद्दिवामैथुनर्वाजतः । स्वदारसुखसन्तुष्टो रात्रिभक्तः स उच्यते ॥१४३

नितरि ामैथुनरागसन्ततीर्दिवानिशं यो न करोति निश्चयात् ।
स ब्रह्मचारी कथितो ि गमे जिनागमज्ञैः परमात्मवेदकः ॥१४४

अष्टोत्तरशतहिंसाभेदविकाराणि नैव यस्तनुते । सारम्भः प्रारम्भः समारम्भः कुतो भवति ॥१४५

व्याख्यान किया जाय, वह भी प्रतिक्रमण है ॥१३४॥ अन्तरायोंका आचरण नहीं करना, अपने दोषोंको कहना प्रत्याख्यान है और जहाँपर शक्तिके अनुसार नियम ग्रहण किया जाता है, वह भी प्रत्याख्यान कहा जाता है ॥१३५॥ जहाँपर लोकके संस्थानसे खड़े होकर चारों धर्मध्यानोंका चिन्तवन किया जाय, और चौदह गुणस्थानोंका विचार किया जाय, वहाँ कायोत्सर्ग कहा जाता है ॥१३६॥ ये समता, वन्दनादि छह आवश्यक जिसके प्रवर्तमान रहते हैं, वह मोक्षका पात्र होता है। जिसके इनकी श्रद्धा नहीं है, वह पापी भव-भवमें दुःख पाता है ॥१३७॥

जो आठ मूलगुणोंसे संयुक्त है, सातों व्यसनोंका त्यागी है और जो रत्नत्रयकी भावना रखते हुए सम्यग्दर्शनसे पवित्र है, वह दर्शनिक श्रावक है, यह पहिली दर्शन प्रतिमाकी विधि है ॥१३८॥ सम्यग्दर्शनसे जिसकी आत्मा शुद्ध है, ऐसा श्रावक बारह व्रतरूप सम्पत्तिको ग्रहण करता है और उसका प्रतिपालक होता है यह दूसरी व्रतप्रतिमाकी विधि है ॥१३९॥ जो तीनों सन्ध्याओंमें दो-दो घड़ी कालके परिमाणसे परीषह-सम्बन्धी दश दोषोंसे रहित और जिनदेवके मुखका सामना छोड़कर एक कोनेमें बैठकर सामायिक करते हैं, वे निश्चयसे सर्वार्थसिद्धिकी पदवीको पाते हैं ॥१४०॥ जो पर्वके दिन मनको निश्चल रखता है, वह प्रोषधोपवास नामक चौथी प्रतिमाका धारक है। यह प्रोषधोपवास कर्मोंके समूहका नाश करता है और मोक्ष सुखका कारण है ॥१४१॥ जो सर्वप्रकारकी सचित्त वस्तुओंका विनाश नहीं करता है और अनेक प्रकारसे उनकी रक्षा करता है वह दयामूर्त्ति पुरुष पाँचवीं सचित्त-विरत प्रतिमाका धारक है ॥१४२॥ जो पर-स्त्रियोंसे सर्वथा पराङ्मुख है और अपनी स्त्रीमें भी दिनको मैथुन-सेवनसे रहित है, ऐसा स्वदार-सन्तोषी मनुष्य छठी रात्रि-भक्त प्रतिमाका धारक कहा जाता है ॥१४३॥ जो दृढ़निश्चयी होकर अपनी स्त्रीके साथ भी दिन और रात्रिमें मैथुन-रागकी कोई भी क्रिया नहीं करता है, उसे जिनागममें जिनागमके ज्ञाता पुरुषोंने परमात्मस्वरूपका वेत्ता ब्रह्मचारी कहा है ॥१४४॥ जो श्रावक गृहारम्भ-सम्बन्धी हिंसाके एक सौ आठ भेदवाले विकारोंको नहीं करता है, उसके संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ कैसे हो सकता है। यह आठवाँ आरम्भ त्याग प्रतिमा है ॥१४५॥ जो

---

१. उ पवित्राय ।

बाह्यं चाभ्यन्तरं हन्ति यः परिग्रहलक्षणम् । स श्रीधर्मप्रभावेण कथ्यते निःपरिग्रहः ॥१४६
कृतकारितानुमतिना नाहारो येन गृह्यते पुंसा । भव्यः स एवं विदितो मुनिरिव विज्ञाततत्त्वेन ॥१४७
एकादशो नैष्ठिको ब्रह्मचारी यो विज्ञातो भावतत्त्वेन शुद्धैः ।
तेनात्मीयं मोहजालं हीनं कृत्वा वर्धमानं स्वरूपम् ॥१४८
एकादशप्रतिमया चरन्तो भव्या विशुद्धमनसो नितरां लभन्ते ।
सिद्धिं समस्तकलुषाकृतिभावभिन्नं शुद्धावबोधसकलाष्टगुणैरुपात्ताम् ॥१४९
तारुण्यं तरलं श्रियोऽपि चटुला रूपं गत्वरं
मानुष्यं चपलं च जीवितमिदं नैति स्थिरत्वं कदा ।
सार्द्धं मित्रकलत्रबान्धवजनैः पुत्रास्ततोऽशाश्वताः
ः शाश्वत एव तिष्ठति विचिन्त्यैवं स्मरानित्यताम् ॥१५०
नो भार्या न सुता न बान्धवजना नो सज्जना नो रिपु-
र्नो । न पिता न भूपतिरयं नो चातुरङ्गं ।
नो न सुरा न गविभुर्नो मन्त्र-यन्त्रादिकाः
कालो संहरति प्रजासु यं रक्षाविधाने स्थितः ॥१५१
येनार्जितं पूर्वभवान्तरे योपतिष्ठेदखिलं तदेव ।
क्षेत्रे यदुप्तं खलु तदुपार्जितं वस्तु न नाशमेति ॥१५२
इत्थं न हि कोऽपि लोके जीवस्य कर्मवशतो भ्रमतो भवाब्धौ ।
विहाय सदयं स दशप्रकारं ज्ञवक्त्रविहितं परलोकमार्गम् ॥१५३

मूर्च्छा लक्षणवाले सभी बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहोंका त्याग करता है वह श्री धर्मके प्रभावसे अपरिग्रही कहा जाता है। यह नवीं प्रतिमा है ॥१४६॥ जिस पुरुषके द्वारा कृत, कारित और अनुमोदित आहार नहीं ग्रहण किया जाता है, वह भव्य पुरुष तत्त्वज्ञानी केवलीके द्वारा मुनिके समान कहा गया है। यह दशवीं अनुमति त्याग प्रतिमा है ॥१४७॥ जो ब्रह्मचारी भावस्वरूपसे उद्दिष्ट भोजनादिका त्यागी है, वह शुद्ध पुरुषोंके द्वारा नैष्ठिक श्रावक संज्ञावाला ग्यारहवीं प्रतिमाका धारी है। उसीके द्वारा मोहजाल हीन करके अपना वर्धमान आत्मस्वरूप देखा जाता है ॥१४८॥ उपर्युक्त ग्यारह प्रतिमाओंके द्वारा श्रावक-व्रतोंका आचरण करते हुए विशुद्ध चित्त भव्यपुरुष समस्त कलुषित भावोंको दूर करके शुद्धज्ञान आदि अष्टगुणोंसे सम्पन्न सिद्धि (मुक्ति) को निश्चयसे प्राप्त करते हैं ॥१४९॥ यह तरुणाई तरल है, लक्ष्मी भी चटुल है, रूप भी विनश्वर है, मनुष्यपना भी चपल है और यह जीवन कभी स्थिरताको प्राप्त नहीं होता है। मित्र, कलत्र और बन्धुजनोंके साथ पुत्र भी अशाश्वत हैं, कभी साथ नहीं रहनेवाले हैं। एकमात्र धर्म ही शाश्वत नित्य रहता है, ऐसा विचार करके हे भव्य, तू अनित्य भावना स्मरण कर ॥१५०॥ जब काल इस जीवको लेकर चलने लगता है तब उसकी रक्षा करनेके लिए न भार्या समर्थ है, न पुत्र, न बान्धवजन, न सज्जन, न शत्रु, न माता, न पिता, न राजा, न चतुरंगिणी सेना, न इन्द्र, न देव, न शेषनाग समर्थ है और न मन्त्र-यंत्रादिक ही उसे बचानेमें समर्थ हैं ॥१५१॥ जिस जीवने पूर्व-भवान्तरमें जो कुछ उपार्जन किया है, वही सब इस जन्ममें उसके उपस्थित होता है। खेतमें जो कुछ बोया जाता है, वही निश्चयसे काटा जाता है। उपार्जित वस्तु नाशको नहीं प्राप्त होती है ॥१५२॥ कर्मके वशसे भव-सागरमें परिभ्रमण करते हुए जीवका सर्वज्ञदेवके मुख-कमलसे प्रकट

भार्या मृत्वा ते किन्न माता माता मृत्वा जायते किन्न भग्नी (?) ।
राजा मृत्वा जायते िं दासो दासो मृत्वा जायते किन्न राजा ॥१५४

वप्रो[1] पुत्रः पुत्रो वप्रो माता भार्या भार्या माता ।
भग्नी पुत्री पुत्री भग्नी स्वामी दासो : स्वामी ॥१५५

वन्धुर्वैरी वैरी बन्धुर्मित्रं द्रोही द्रोही मित्रम् । युक्ति चैतां संसारस्य ज्ञाता भो को ना पारस्य ॥१५६

असारः संसारः क्षणिक इव दृष्टो ननु मया
स्वरूपं यद्-दृष्टं विलसदधुना तन्न सुचिरम् ।
अनित्ये[2] सत्येवं कुत इह विषादं च कुरुषे
विचार्यैतद्वाक्यं कुरु कुरु सदा धर्ममनघम् ॥१५७

एको हि गच्छति चतुर्गतिषु प्रसङ्गमेकोऽपि सर्वभुवनं स्थितिबन्धमेति ।
एकोऽपि जन्म तनुजे लभतेऽवसानमेकोऽपि दुःखसुखमाचरतेऽथ जीवः ॥१५८

एकोऽपि जीवो विदधाति राज्यमेकोऽपि रङ्कस्य गतिं तनोति ।
एकोऽपि सिद्धि लभते स्वभावादेकत्वचिन्तां स्मर भव्यराशेः ॥१५९

एक एव जिनो देव एकमेव श्रुतं तथा । एक एव गुरुः प्रोक्तः सिद्धिरेकैव नान्यथा ॥१६०

अन्याऽक्षिकाऽन्या रसनाऽन्यनासा न्यङ्गान्यकर्णान्यवचोऽन्यरूपम् ।
भावोऽन्यपिताऽन्यमाता भवे भवेऽन्यत्वमुपैति जीवः ॥१६१

हुए दश प्रकारके दयामयी धर्मको छोड़कर परलोकके मार्गमें अन्य कोई शरण नहीं है, ऐसा विचार करके अशरण भावना भानी चाहिए ॥१५३॥ इस संसारमें स्त्री मरकर क्या माता नहीं हो जाती है, माता मरकर क्या भगिनी नहीं हो जाती है, राजा मरकर क्या दास नहीं हो जाता है, और दास मरकर क्या राजा नहीं बन जाता है ॥१५४॥

पिता मरकर पुत्र बन जाता है, पुत्र मरकर पिता बन जाता है। इसी प्रकार माता स्त्री और स्त्री माता हो जाती है। भगिनी पुत्री और पुत्री भगिनी हो जाती है। स्वामी दास और दास स्वामी बन जाता है ॥१५५॥ बन्धु वैरी हो जाता है और वैरी बन्धु हो जाता है, मित्र द्रोही (शत्रु) और द्रोही मित्र बन जाता है। इस प्रकारकी युक्तिका हे भव्य, तू विचार कर। संसारके पारका जाननेवाला कोई नहीं है ॥१५६॥ यह संसार असार है, निश्चयसे मैंने इसे क्षणिकके समान ही देखा है। अभी जिस वस्तुका जो स्वरूप विलास करता हुआ देखा, वह चिरकाल तक स्थायी नहीं दिखा। संसारके इस प्रकार अनित्य होनेपर हे भव्य, तू यहाँ किस कारणसे विषाद करता है। मेरे इस वाक्यको विचार करके सदा ही निर्दोष धर्मका पालन कर। यह संसार-भावना है ॥१५७॥ अकेला ही यह जीव चतुर्गतियोंमें जाता है, और अकेला ही सर्वभूतलकी स्थितिके बन्ध-प्रसंगको प्राप्त होता है। अकेला ही पुत्ररूपसे जन्म लेता है और अकेला ही मरणको प्राप्त होता है। यह जीव सदा अकेला ही सुख और दुःखका आचरण करता है, अर्थात् उन्हें भोगता है ॥१५८॥ यह जीव अकेला ही राज्यको धारण करता है और अकेला ही दरिद्रकी दशाको प्राप्त होता है। यह जीव अपनी भव्यराशिके स्वभावसे अकेला ही सिद्धिको प्राप्त करता है। इस प्रकार एकत्वभावनाका चिन्तवन कर ॥१५९॥ जिनदेव एक ही हैं और श्रुत भी एक ही है। गुरु भी एक ही कहा गया है और सिद्धि भी एक ही है, यह बात अन्यथा नहीं है ॥१६०॥ मेरे आत्मासे भिन्न इस शरीरमें

---

१. वप्रस्ताते इति विश्वः । २. उ 'अनित्या तत्त्वं' पाठः ।

पक्वान्नादिषु भोजनेन नो गृह्यते यद्वपुः
कर्पूरादिसुगन्धिभिः परिमलैर्नो वासमायाति यत् ।
हं हो चित्त कथं रतिं वितनुषे तत्राशुचौ भाजने
यद्-यद्-वस्तु शरीरसम्भवकृते तद्-तद् भवेत् कुत्सितम् ॥१६२

अन्नं कुरुते गूथं सलिलं मूत्रं च यद्वपुः प्रसभम् । तस्य कृते को हर्षो विधीयते को विषादश्च ॥१६३

मनोवचःकायमतेन यत्र शुभाशुभं कर्म तनोति पाशम् ।
जीवे यथा वागुरिके समस्ते तमास्रवं केवलिनो वदन्ति ॥१६४
मिथ्यात्वाविरतिप्रमादसहितैर्योगैः कषायान्वितै-
र्यो बन्धो नितरां बभूव सकले जीवे तथा पुद्गले ।
सर्वज्ञेन विना चतुर्गतिकरं तं कोऽपि जेतुं क्षमः
साध्यं देयसमस्तवस्तुपटुना पुण्येन पापं यतः ॥१६५

आस्रवाणां समस्तानां निरोधो यत्र भाव्यते । स बुधैः संवरः प्रोक्तो द्रव्य-भावप्रभेदतः ॥१६६
अनुप्रेक्षातपोवृत्तैर्गुप्तिधर्मपरीषहैः । युक्तैः समितिभिः प्रोक्ता निर्जरा मुनिनायकैः ॥१६७
निर्जरा कर्मणां नाशः सविपाकाविपाकतः । यया निर्जरया सिद्धिरनायासेन लभ्यते ॥१६८

आँख अन्य है, रसना अन्य है, नासिका अन्य है, शरीर और कान अन्य हैं। वचन भी अन्यरूप हैं। पिता अन्य स्वभाववाले हैं और माता भी अन्य हैं। इस प्रकार यह जीव भव-भवमें अन्यत्वको प्राप्त होता है। इस प्रकारसे अन्यत्व भावनाका विचार कर ॥१६१॥

पकवान आदिमें भोजनके साथ कर्पूर आदि सुगन्धित वस्तुओंको हमारा जो यह शरीर निरन्तर ग्रहण करता है, फिर भी वह उन सुगन्धियोंसे सुगन्धको प्राप्त नहीं होता है (किन्तु सदा दुर्गन्धित ही रहता है।) फिर भी हा हाय, रे चित्त तू इस अशुचिके भाजन शरीरमें रति कैसे करता है? जो-जो उत्तम वस्तु इस शरीरके लिए सम्भव की जाती है, वह वह सब इसके सम्पर्कसे ग्लानिके योग्य हो जाती है ॥१६२॥ यह शरीर शीघ्र ही पवित्र अन्नको विष्टा बना देता है और स्वच्छ जलको मूत्र बना देता है, उस शरीरके लिए क्या हर्ष किया जाय और क्या विषाद किया जाय? ऐसी अशुचिभावनाका विचार कर ॥१६३॥ मन, वचन और कायकी चंचलताके द्वारा आनेवाला शुभ-अशुभकर्म समस्त जीवोंमें पाश (जाल) को विस्तारता है। जैसे हरिणादिकको पकड़नेके लिए शिकारी जालको फैलाता है। इसी कर्मागमनको केवली भगवन्त आस्रव कहते हैं ॥१६४॥ मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद-सहित तथा कषायोंसे युक्त योगोंके द्वारा समस्त जीव और पुद्गलमें जो अत्यन्त सघन बन्ध होता है, उस चतुर्गतिमें परिभ्रमण करानेवाले कर्म-बन्धको सर्वज्ञदेवके बिना कौन दूसरा जीतनेके लिए समर्थ है! क्योंकि देने योग्य समस्त वस्तुओंको मिलानेमें कुशल पुण्यके द्वारा पाप साध्य है। भावार्थ—ऐसा कोई भी पुण्य कर्म नहीं हैं कि जिसके उदयसे प्राप्त भोगोंके सेवनसे पापका उपार्जन न होता हो ॥१६५॥ जहाँपर समस्त आस्रव द्वारोंका निरोध किया जाता है, वहीं विद्वानोंने द्रव्य और भावके भेदसे दो भेदरूप संवर कहा है। यह संवर भावना है ॥१६६॥ समितियोंसे युक्त अनुप्रेक्षा, तप, चारित्र, गुप्ति, धर्म और परीषह जयके द्वारा मुनि-नायकोंने कर्म-निर्जरा कही है ॥१६७॥ सविपाक और अविपाकरूपसे कर्मोंका नाश होना निर्जरा है। इस निर्जराके द्वारा बिना प्रयासके ही सिद्धि प्राप्त होती है। यह निर्जरा भावना

गुरूपदे   ो लोकस्थितिं जानाति यः पुमान् । तस्य दुर्लभबोधिः स्यात्सर्ववस्तुप्रक   : ॥१६९
उत्तमक्षमया क्षमावान्मार्दवे सदयो भवेत् । आर्जवे सरलत्वं स्यात्सत्ये सत्त्वाधिको मतः ॥१७०
शौचे शुचित्वमतां प्राप्तः संयमे संयमावृतः ।   त   सिद्धिस्त्यागाद्दानस्य शक्तिता ॥१७१
अकिञ्चनस्य संसिद्धौ निरहङ्कारलक्षणम् । ब्रह्मव्रते परिप्राप्ते भव्यो लौकान्तिको भवेत् ॥१७२

इति दशविधधर्मं ये नरा पालयन्ति स्वहितपरमबुद्धचा धारयन्तो   ानि ।
गरिमगुणनिधानं प्राप्य धात्रीपतीनां त्रिभुवनशिखराग्रं शाश्वतं ते लभन्ते ॥१७३

अन्यानि यानि कानीह व्रतानि जिनशासने । भवन्ति तानि भव्येन पालितव्यानि सिद्धये ॥१७४
इति द्वादशभेदेनानुप्रेक्षां चिन्तयन्ति ये । ते लभन्ते परं सौख्यं परमानन्दकारकम् ॥१७५
ये चारित्रं समादाय त्यजन्ति विषयात्मकाः । न च व्यावृत्य गृह्णन्ति ते गूथे सन्ति कीटकाः ॥१७६
तेभ्यो दानं न दातव्यमुत्तमं श्रावकोत्तमैः । हुतभस्मनि होतव्यं जायते हि निरर्थं   ॥१७७
न प्रणम्या न सत्कार्या न ते पूज्याः कदा   । तेषां मुखं न द्रष्टव्यं चाण्डालेभ्यः पतन्ति यत् ॥१७८

आहारौषधजीवरक्षणपरिज्ञानानि ये श्रावकाः
पात्रेभ्यो वितरन्ति भावसहिताः स्वीकृत्य जैनं   म् ।
ते विद्याधरचक्रवर्तिपदवीं भुक्त्वा सुराणां श्रियं
भुञ्जानाः परमार्थसौख्यमतुलं गच्छन्ति धर्माङ्किताः ॥१७९

है ॥१६८॥ जो पुरुष गुरुके उपदेशसे लोककी स्थितिको जानता है उसके सर्व वस्तुओंकी प्रकाशक दुर्लभबोधि प्राप्त होती है। यह लोक और बोधिदुर्लभ भावना है ॥१६९॥ उत्तम क्षमासे मनुष्य क्षमावान् होता है, मार्दवधर्म होनेपर मनुष्य दयालु होता है, आर्जवधर्म होनेपर सरलता होती है, सत्यधर्म होनेपर अधिक सत्त्वशाली माना जाता है। शौचधर्म होनेपर पवित्रता प्राप्त होती है, संयमधर्म होनेपर संयमसे आवृत (सुरक्षित) होता है, तपसे तपोंकी सिद्धि होती है, त्याग धर्मसे दानकी शक्ति प्राप्त होती है, आकिंचन्यधर्मकी सिद्धि होनेपर निरहंकारता आती है और ब्रह्मचर्यके प्राप्त होनेपर भव्यपुरुष लोकवेत्ता अन्तको प्राप्त होनेवाला लौकान्तिक देव होता है ॥१७०-१७२॥ जो मनुष्य आत्महितकी उत्तम बुद्धिसे व्रतोंको धारण करते हुए इस दश प्रकारके धर्मका पालन करते हैं; वे राजाओंके गरिमायुक्त गुणोंके निधानभूत चक्रवर्ती तीर्थंकरादिके पदको पाकर शाश्वत स्थायी त्रिभुवनके शिखरके अग्रभागको प्राप्त करते हैं ॥१७३॥ इस जिनशासनमें और कोई भी जितने व्रत कहे गये हैं, उन्हें सिद्धि प्राप्त करनेके लिए भव्यजीवको पालना चाहिए ॥१७४॥ इस प्रकार जो भव्यजीव बारह भेदरूपसे भावनाओंका चिन्तन करते हैं, वे परम आनन्द करनेवाले सुखको प्राप्त करते हैं ॥१७५॥ जो पुरुष चारित्रको धारणकर विषयोंमें आसक्त होकर उसे छोड़ देते हैं और लौटकर फिर धारण नहीं करते हैं, वे जीव विष्टाके कीड़े होते हैं ॥१७६॥ ऐसे चारित्र-भ्रष्ट लोगोंके लिए उत्तम श्रावकोंको दान नहीं देना चाहिए, क्योंकि अग्निके भस्म हो जानेपर अर्थात् बुझकर राख हो जानेपर उसमें हवन करना निरर्थक होता है ॥१७७॥ ऐसे चारित्र-भ्रष्ट लोग न प्रणामके योग्य हैं और कभी पूजाके योग्य हैं। उनका मुख भी नहीं देखना चाहिए, क्योंकि वे चाण्डालोंसे भी अधिक पतित हैं ॥१७८॥

जो श्रावक जैनव्रतोंको स्वीकार करके भाव-सहित आहारदान, औषधिदान, जीव-रक्षाके रूप अभयदान और ज्ञानदान पात्रोंके लिए देते हैं वे धर्मात्मा या पुरुष विद्याधर और चक्रवर्तीकी पदवी भोगकर और देवोंकी लक्ष्मीको भोगते हुए अतुल (उपमा-रहित) परमार्थ सौख्यको (मोक्षको)

अमलसलिलैः सुश्रीखण्डैः शुचिकलमाक्षतैः
सुरभिकुसुमैः सन्नैवेद्यैः प्रकाशकदीपकैः ।
परिमलधूपैः ः फलैः कुसुमाञ्जलीन्
जिनश्रुतगुरुभ्यो यच ः प्रयान्ति जनाः शिवम् ॥१८०
पूजां वितन्वन्ति जिनेश्वराणां सदाष्टधा भावविशुद्धचित्ताः ।
ये श्रावकाः तापविनाशनार्थं ते यान्ति मोक्षं विहितात्मसौख्यम् ॥१८१

[1]एकद्वित्रिचतुःपञ्चरससप्तगजग्रहाः । आशाशङ्करसंक्रान्तित्रयोदशमलान्विताः ॥१८२
प्रमादभावनोपेता एते त्याज्या मुमुक्षुभिः । इतरे पालनीयाः स्युर्निर्ग्रन्थैः धा स्मृतेः ॥१८३
बहुना जल्पितेनात्र किं प्रयोजनमुच्यते । श्रावकाणामुभौ मार्गौ दानपूजाप्रवर्तिनौ ॥१८४

प्राप्त होते हैं ॥१७९॥ जो भव्य निर्मलजलसे, उत्तम श्रीखण्डसे, पवित्र शालि-तन्दुलोंसे, सुगन्धित पुष्पोंसे, उत्तम नैवेद्योंसे, प्रकाशवाले दीपकोंसे, परिमल धूपसे, पके हुए फलोंसे जिनदेव, शास्त्र और गुरुको पुष्पांजलि अर्पण करते हुए पूजा करते हैं, वे मोक्षको जाते हैं ॥१८०॥ जो भाव विशुद्ध चित्तवाले श्रावक अपने पापोंके विनाशके लिए जिनेश्वरोंकी सदा आठ प्रकारसे पूजा करते हैं, वे आत्मसुख-विधायक मोक्षको जाते हैं ॥१८१॥ एक, दो, तीन, चार, पाँच, रस (छह), सात, गज (आठ), ग्रह (नौ), आशा (दश दिशा), शंकर (ग्यारह), संक्रान्ति (बारह), तेरह, मल (चौदह) से युक्त, तथा प्रमाद (पन्द्रह) और भावना (सोलह) की संख्यासे समन्वित दोष मुमुक्षुजनोंको छोड़ना चाहिए। शेष पाँच प्रकार गुण निर्ग्रन्थजनोंको पालन करना चाहिए ॥१८२–१८३॥ विशेषार्थ—इन दो श्लोकोंमें जिन एक, दो आदि संख्यावाले दोषोंको छोड़नेकी सूचना की गई है, उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—एक संसार ही त्याज्य है, अथवा सर्वपापोंमें मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है, अतः मुक्ति पानेके इच्छुक जन सर्वप्रथम एक मिथ्यात्वको छोड़ें। तत्पश्चात् राग और द्वेष इन दो का त्याग करें, पुनः माया, मिथ्या, निदान इन तीन शल्योंका त्याग करें, पुनः चार विकथाओंका अथवा अनन्तानुबन्धी आदि चार कषायोंका और प्रकृतिबन्ध आदि चार बन्धोंका त्याग करें, पुनः पाँचों मिथ्यात्वोंका अथवा कर्मबन्धके कारण हिंसादि पाँच पापोंका और मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पाँचका त्याग करें। छह अनायतनों (अधर्म स्थानोंका) तथा छह रसोंका त्याग करें, सात व्यसनोंका त्याग करें, सम्यक्त्वके शंका, कांक्षा आदि आठ दोषोंका और आठ मदका त्याग करें, नौ नोकषायोंका त्याग करें, दश प्रकारके बाह्य परिग्रहका त्याग करें, ग्यारह रुद्रों जैसी रौद्र परिणतिवाली खोटी प्रतिमाओंका त्याग करें, बारह प्रकारके असंयमका त्याग करें, राग, द्वेष, परिणतिरूप तेरह काठियोंका[1] त्याग करें, चौदह प्रकारके अन्तरंग परिग्रहका त्याग करें, पन्द्रह प्रकारके प्रमादका त्याग करें और अनन्तानुबन्धी आदि

---

१. उ प्रतौ टिप्पणी—१. संसारः, २. रागद्वेषौ, ३. अनर्थदण्डानि, ४. विकथा, ५. मिथ्यात्व, ६. अनायतनानि, ७. व्यसनानि, ८. मदानि, ९. नोकषायानि, १०. दशधा परिग्रहः, ११. कुप्रतिमा, १२. अव्रतानि, १३. काठिया, १४. मलकारणानि, १५. प्रमादानि ।

१. जे वट मारै बाँट में करहिं उपद्रव जोर । तिन्हें देश गुजरात में कहहिं काठिया चोर ॥१॥
जूआ आलस शोक भय, कुकथा कौतुक मोह । कृपण बुद्धि अज्ञानता भ्रम निद्रा मद मोह ॥२॥
(बनारसी विलास)

मुनेरप्यथवा मार्ग एक एव प्रदर्शितः । स्वाध्यायालोचनायुक्तं एव सुखस्थितः ॥१८५
भावोऽपि सर्वथा साध्यो भावो लोकद्वयस्थितः । भावो मोक्षस्य जनकस्तस्माद् भावं समाचरेत् ॥१८६
शास्त्राभ्यासेन दानेन पूजया जीवरक्षया । यस्य गच्छत्यहोरात्रं तस्य जन्मैव सार्थकम् ॥१८७
चर्मशोणितमांसास्थिमद्यतेरे (?) स्वजन्तवः । एते सप्तान्तरायाश्च भव्यानां मोक्षहेतवे ॥१८८
दर्शने स्पर्शने तेषां पाते निःसरणे तथा । पालयत्यन्तरायान् ये ते यान्ति परमं पदम् ॥१८९
अस्थानकसन्धानकयुग्मं भक्षयति यो नरः स्वादात् । उत्पद्यते सदा सो भवे भवे नीचकुलयोनौ ॥१९०
पेयं निद्रा प्रारम्भो मैथुनं कषायाश्च । एते यस्य स्तोकास्तेषां स्तोको हि संसारः ॥१९१
प्रहरत्रयस्य मध्ये जीवेऽनन्तानुबन्धिबन्धः स्यात् । अप्रत्याख्यानेऽह्नि पक्षे मासे द्वयोर्द्विधा[1] ॥१९२
सुधौततन्दुलैः पूजां यो वि जिनाग्रतः । मन्दिरे स्वर्गपालस्य जायते स भवान्तरे ॥१९३
अधौतपत्रपूगानि यो ददाति जिनेश्वरे । दासीसुतः स शून्यस्य गृहे सञ्जायते तराम् ॥१९४
यः पूजयति सर्वज्ञं पुष्पाणां खण्डमालया । स मृत्वा निर्धने नीचे जायते म्लेच्छमन्दिरे ॥१९५

सोलह प्रकारकी कषायोंका त्याग करें। पाँच महाव्रतोंका, पाँच समितियोंका और पाँच आचारोंका पालन करना चाहिए, मति, श्रुत आदि पाँचों ज्ञानोंके प्राप्त करनेकी भावना करनी चाहिए और पुलाक आदि पाँचों निर्ग्रन्थोंका स्वरूप तथा अहिंसादि प्रत्येक व्रतकी पाँच-पाँच भावनाओंका चिन्तन करना चाहिए। अथवा बहुत कहनेसे यहाँपर क्या प्रयोजन है? श्रावकोंके ये दो ही मार्ग (कार्य) मुख्य माने गये हैं—दान देना और पूजा-पाठ करना ॥१८४॥ अथवा मुनिका भी स्वाध्याय और आलोचनायुक्त एक ही मार्ग बतलाया गया है। क्योंकि, इससे ही सुखमें स्थिति प्राप्त होती है ॥१८५॥ मनुष्यको अपना भाव सर्वप्रकारसे सिद्ध करना चाहिए, क्योंकि भाव ही दोनों लोकोंको स्वस्थ रखनेवाला है और भाव ही मोक्षका उत्पादक है, इसलिए शुद्ध भावका ही सदा आचरण करना चाहिए ॥१८६॥ जिस मनुष्यके दिन-रात शास्त्रोंके अभ्यास करनेसे, दान देनेसे, पूजा करनेसे और जीवोंकी रक्षा करनेसे व्यतीत होते हैं, उसका ही जन्म सार्थक है ॥१८७॥ चर्म, रक्त, मांस, हड्डी, मेदा, मद्य और अन्नादि भोज्य पदार्थोंमें पड़े हुए जन्तु, इन सात अन्तरायोंका भोजनके समय पालन करना भव्य जीवोंके मोक्ष-प्राप्तिके लिए होता है ॥१८८॥ ऊपर कहे गये उन अन्तरायोंमें से कुछके देखनेपर, कुछके स्पर्श होनेपर, कुछके पतन होनेपर और जीवादिके भोज्य वस्तुमें निकलनेपर जो मनुष्य उन अन्तरायोंका पालन करते हैं, वे परम पदको जाते हैं ॥१८९॥ जो पुरुष अथाना और सन्धानक (मुरब्बा अवलेह आदि) स्वादसे खाता है, वह सदा भव-भवमें नीच-कुलकी योनिमें उत्पन्न होता है ॥१९०॥ खाद्य (भोजन), पेय (जल-पानादि), निद्रा, आरम्भ, मैथुन और कषाय ये जिस पुरुषके अल्प होते हैं, उनका संसार भी अल्प ही होता है ॥१९१॥ तीन पहरके मध्यमें जीवके अनन्तानुबन्धी कषायका बन्ध होता है; एक दिनमें अप्रत्याख्यान कषायका बन्ध होता है। शेष दोमें से प्रत्याख्यान कषायका एक पक्षमें और संज्वलन कषायका एक मासमें बन्ध होता है* (?) ॥१९२॥ जो उत्तम प्रकारसे धोये चांवलोंसे जिनदेवके आगे पूजा करता है, वह दूसरे भवमें स्वर्गपालक इन्द्रके मन्दिरमें उत्पन्न होता है ॥१९३॥ जो जिनेश्वरके आगे विना धोये हुए पत्र-सुपारी आदि चढ़ाता है, वह अत्यन्त दरिद्रके घरमें दासी पुत्र उत्पन्न होता है ॥१९४॥ जो फूलोंकी खंडित मालासे सर्वज्ञकी पूजा करता है, वह मरकर निर्धन, नीच और म्लेच्छके घरमें

---

१. यह श्लोक विचारणीय है?

* यह अर्थ विचारणीय है।—सम्पादक

जिनपूजाप्रभावेण भावसंग्रहणेन च । मालिन्यभावनिर्मुक्तास्ते जायन्ते नरेश्वराः ॥१९६
इति ज्ञात्वा जिनेन्द्राणां शुद्धद्रव्येन पूजनम् । क्रियते भव्यलोकेन भव्ये भव्यं मले मलम् ॥१९७
स्नपनं यो जिनेन्द्रस्य कुरुते भावपूर्वकम् । स प्राप्नोति परं सौख्यं सिद्धिनारीनिकेतनम् ॥१९८
जालान्तरगते सूर्ये यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः । तस्य त्रिंशत्तमो भागः परमाणु प्रचक्ष्यते ॥१९९
तदेकपरमाणोर्यत्तद्द्वयांशोणुरीरितः । अणोर्विघटनं कालः समयः स उदाहृतः ॥२००
षष्टिभिः समयैरुक्तं परिणामो जिनेश्वरैः । तेनैव परिणामेन संसाध्या गतिरुत्तमा ॥२०१

त्वमर्हंस्त्वं सिद्धस्त्वमभव उपाध्यायतिलक-
स्त्वमाचार्यः साधुस्त्वमवगणिताशेषविषयः ।
त्वमेव पञ्चानां परमपुरुषाणां पदमिदं
प्रभुञ्जानो नित्यमनघ नय मामात्मपदवीम् ॥२०२
राज्यं राजीवपुष्पैः कुलमपि वकुलैश्चम्पकैश्चारुविद्यां
जातैर्जातिं सुजातिं विचकिलकुसुमैश्चाधिपत्यं जनानाम् ।
कल्याणं पत्रिकाभिस्त्रिभुवनकमलां श्वेतपत्रप्रसूनै-
र्भव्या भावाल्लभन्ते जिनवचनगुरून् पात्रपूजात्रिकाले ॥२०३
योऽपक्वतक्रं द्विदलान्नमिश्रं भुक्ति विवत्ते मुखवाष्पसङ्गे ।
तस्याऽऽस्यमध्ये मरणं प्रपन्नाः सम्मूर्च्छका जीवगणा भवन्ति ॥२०४

उत्पन्न होता है ॥१९५॥ जिन पूजनके प्रभावसे और उत्तम भावोंके संग्रह करनेसे जीव मलिन भावोंसे रहित होकर नरेश्वर होते हैं ॥१९६॥ ऐसा जानकर भव्य लोगोंको शुद्ध द्रव्यसे जिनेन्द्रोंका पूजन करना चाहिए। क्योंकि उत्तम भाव या वस्तुका फल उत्तम होता है और मलिन भाव या मलिन वस्तुका फल मलिन होता है ॥१९७॥ जो पुरुष जिनेन्द्रदेवका भावपूर्वक स्नपन (अभिषेक) करता है, वह सिद्धिनारीके गृहपर उत्पन्न होनेवाले परम सुखको प्राप्त होता है ॥१९८॥ गवाक्ष-जालके अन्तर्गत सूर्यकी किरणोंमें जो सूक्ष्म रज दिखाई देता है, उसका तीसवाँ भाग (?) परमाणु कहा जाता है ॥१९९॥ उस एक परमाणुका जो अर्ध भाग है, वह अणु कहा गया है*। अणुके विघटनका जो काल है, वह समय कहा गया है ॥२००॥ जिनेश्वरोंने साठ समय प्रमाण कालको 'परिमाण' कहा है। उस ही परिमाणके द्वारा उत्तम गति सिद्ध करना चाहिए ॥२०१॥

हे भगवन्, तुम ही अर्हन् हो, तुम ही सिद्ध हो, तुम ही उपाध्याय-तिलक हो, तुम ही आचार्य हो, तुम ही सर्व विषयोंका तिरस्कार करनेवाले साधु हो, तुम ही पाँचों परम पुरुषोंके आस्पद हो। अतएव हे अनघ भगवन्, मुझे अपनी निर्दोष नित्य पदवी प्रदान करो ॥२०२॥ तीनों कालोंमें जिन-देव, शास्त्र और गुरु पात्रोंकी भाव पूर्वक कमल पुष्पोंसे पूजा करनेसे भव्य पुरुष राज्यको, वकुल-पुष्पोंसे उत्तम कुलको, चम्पक पुष्पोंसे सुन्दर विद्याको, जाति पुष्पोंसे उत्तम जातिको, विचकिल-कुसुमोंसे मनुष्योंके आधिपत्यको, पत्रिका (जायपत्री) से कल्याणको और श्वेतपत्रवाले पुष्पोंसे त्रिभुवनकी लक्ष्मीको प्राप्त करते हैं ॥२०३॥ जो पुरुष द्विदल अन्न-मिश्रित अपक्व (कच्चे) छांछको खाते हैं उनके मुखके भीतर सम्मूर्च्छन जीव समूह उत्पन्न होते हैं और मुखकी भापके संग होनेपर

---

*. श्लोक १९९ और २०० ये दोनों श्लोक आगम-परम्पराके प्रतिकूल अर्थवाले हैं।—सम्पादक

शास्त्रावज्ञा वाहनं क्षार-वाक्यं सर्वज्ञोक्तं निन्दितं येन ।
वायोः प्राप्तिर्विस्मृतिर्मूकभावो ग्राहो जाड्यं जायते तस्य चित्ते ॥२०५

[1]वातला प्रकृतिर्यस्य तस्य कुण्ठा मतिर्भवेत् । पित्तला प्रकृतिर्यस्य तस्य तीव्रा मतिर्भवेत् ॥२०६

अशुद्धचित्तेन करोति पूजां जिनेश्वराणां गुणसागराणाम् ।
अशौचदेहेन ददाति दानं मुनीश्वराणां परमार्थहेतोः ॥२०७

त्रिंशत्कोट्याः कोटी वारिनिधीनां स्थितिः समाख्याता ।
जीवस्य तस्य महती ज्ञानावरणीयकर्मणोऽभ्युदये ॥२०८

मनोवाक्कायचित्तेन स्वशरीरस्फुरणानि च । आहारो यत्र नीहारो जीवद्रव्यं तदुच्यते ॥२०९
पञ्चेन्द्रियमनोवृत्तिनिः सोच्छ्वासवाचना । एते तिष्ठन्ति नो यत्राजीवद्रव्यं तदुच्यते ॥२१०
लोकाग्रशिखरे याति पापपुण्यविवर्जितः । जीवो यस्य सहायेन धर्मद्रव्यं तदुच्यते ॥२११
लोकाग्रशिखरं हित्वाऽलोकाकाशं न गच्छति । जीवो यस्य सहायेनाधर्मद्रव्यं तदुच्यते ॥२१२
[2]जीवपुद्गलयोर्योग्यमवकाशं ददाति यत् । शाश्वतानुपमं तत्त्वं तदाकाशत्वमुच्यते ॥२१३
तद्वस्तु प्रेक्ष्यते नव्यं तच्च जीर्णं प्रजायते । यस्य प्रभावतो लोके कालद्रव्यं तदुच्यते ॥२१४
पुलाकः सर्वशास्त्रज्ञो वकुशो भव्यबोधकः । कुशीलः स्तोकचारित्रो निर्ग्रन्थो ग्रन्थिहारकः ॥२१५
स्नातकः केवलज्ञानी यः पश्यति चराचरम् । निर्ग्रन्थाः भेदाः स्युः परं तपोधनाः ॥२१६
षड्द्रव्यचिन्तनं पञ्चनिर्ग्रन्थानां च वन्दना । येषां नि स्फुरन्त्येते ते यान्ति परमं पदम् ॥२१७

वे मरणको प्राप्त हो जाते हैं ॥२०४॥ जो पुरुष शास्त्रोंकी अवज्ञा, सवारी पर चढ़ना, अथवा दूसरोंसे बोझा ढुवाना, तीखे वचन और सर्वज्ञ-भाषित वाक्यकी निन्दा करता है, उसके वायु रोगकी प्राप्ति, विस्मृति, मूकता, ग्रह-ग्रहणता, और चित्तमें जड़ता होती है ॥२०५॥ जिस पुरुषकी वायु प्रधान प्रकृति होती है, उसकी बुद्धि कुण्ठित होती है। तथा जिस पुरुषकी प्रकृति पित्त प्रधान होती है, उसकी बुद्धि तीव्र होती है ॥२०६॥ जो गुणोंके सागर ऐसे जिनेश्वरोंकी अशुद्ध चित्तसे पूजा करता है और अशुचि देहसे मुनीश्वरोंको परमार्थके निमित्त दान देता है उस जीवके ज्ञानावरणीय कर्मकी तीस कोड़ा कोड़ी सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति कही गई है, ऐसे तीव्र कर्मका उसके उदय होनेपर मनुष्य अत्यन्त मन्द बुद्धिवाला मूर्ख होता है ॥२०७–२०८॥ जिसके मन, वचन, कायके निमित्तसे शरीरमें स्फुरण होते हैं, आहार और नीहार होता है, वह जीव द्रव्य कहा जाता है ॥२०९॥ जिसमें पाँच इन्द्रियाँ, मनोवृत्ति, उच्छ्वास-निःश्वास, और वचन ये प्राण नहीं होते हैं, वह अजीवद्रव्य कहा जाता है ॥२१०॥ जिसकी सहायतासे पुण्य-पापसे मुक्त हुआ जीव लोकाग्रके शिखर पर जाता है, वह धर्म द्रव्य कहलाता है ॥२११॥ जिसकी सहायतासे जीव लोकाग्रके शिखरको छोड़कर अलोकाकाशमें नहीं जाता है, वह अधर्मद्रव्य कहलाता है ॥२१२॥ जो जीव और पुद्गलके ठहरने योग्य अवकाश देता है, जो शाश्वत और अनुपम तत्त्व है, वह आकाश कहलाता है ॥२१३॥ जिसके प्रभावसे लोकमें नवीन दिखाई देनेवाली वस्तु जीर्ण (पुरानी) हो जाती है, वह कालद्रव्य कहा जाता है ॥२१४। सर्व शास्त्रोंके जानकार साधुको पुलाक कहते हैं, भव्य जीवोंको बोध देनेवाला वकुश कहलाता है, अल्प चारित्र वाला कुशील कहलाता है, और परिग्रहकी गांठको दूर करनेवाला साधु निर्ग्रन्थ कहलाता है ॥२१५॥ केवलज्ञानी स्नातक कहलाते है, जो कि इस चराचर जगत्को देखते हैं। इस प्रकार निर्ग्रन्थके पाँच भेद होते हैं। इनके अतिरिक्त शेष सभी सामान्य

१. श्लोकोऽयं 'उ' प्रतौ नास्ति । २. श्लोकोऽयं 'उ' प्रतौ नास्ति ।

षडधिकचत्वारिंशत्सञ्जाताऽर्हतां सुगुणाः । शुभ्राश्च सिद्धाष्टगुणा आचार्याणां षट्त्रिंशत् ॥२१८
पञ्चाधिकविंशगुणा भवन्ति विद्याभृतामुपाध्यायाः । अष्टविंशतिगुणाढ्या जायन्ते साधवः शुद्धाः २१९
चतुस्त्रिंशातिशयिकाः प्रातिहार्याष्टकान्विता । ज्ञानिनामर्हतां श्रेणी वन्देऽनन्तचतुष्टयाः ॥२२०
ज्ञानं दर्शनसम्यक्त्वे सूक्ष्मवीर्यावगाहकाः । अव्याबाधोऽगुरुलघू सिद्धाष्टगुणा इति ॥२२१
यत्याचारः श्रुताधारः प्रायश्चित्तागमान्वितः । योगो लोचनिको युक्तः स्व-परप्रतिबोधकः ॥२२२
जिनेश्वरपथ-भ्रष्टस्थापकस्तत्प्रभावकः । इत्याचाराष्टकं प्रोक्तं सर्वज्ञैः सर्ववेदिभिः ॥२२३
दीक्षाप्रभृतिलघ्वीयप्रतिक्रमणकारकः । सविकारेन्द्रियातीतो जनन्याद्या नमस्कृतिः ॥२२४
` `बृहत्पाठः प्रतिक्रमणसाधकम् । मासे द्वये द्वयेऽतीते वन्दते च निषिद्धिकाम् ॥२२५
अन्यग्रामे विहारश्च चातुर्मासादनन्तरम् । इति वक्ति गणाधीशो दशधास्थितिकल्पकम् ॥२२६
षडावश्यकसम्पत्तिर्बाह्यं चाभ्यन्तरं तपः । षट्त्रिंशति गुणा एतेऽभूवन्नाचार्यदेहजाः ॥२२७
द्वादशाङ्गश्रुतोपेतान् दशधर्मसमन्वितान् । उपाध्यायानहं वन्दे सतपःसंयमानिमान् ॥२२८
त्याज्यमिन्द्रियजं सौख्यं धार्यं पञ्चमहाव्रतम् । लोचैकभक्तभूशय्या गुणैरेतैश्च साधवः ॥२२९

साधु तपोधन कहे जाते हैं ॥२१६॥ छह द्रव्योंका चिन्तवन और पाँचों निर्ग्रन्थोंकी वन्दना ये दोनों कार्य जिनके चित्तमें स्फुरायमान रहते हैं, वे परम पदको प्राप्त होते हैं ॥२१७॥ अरहन्तोंके छयालीस सुगुण होते हैं, सिद्धोंके निर्मल आठ गुण होते हैं, आचार्योंके छत्तीस गुण होते हैं, विद्यावन्त उपाध्यायोंके पच्चीस गुण होते हैं, और शुद्ध साधु अट्ठाईस गुणोंसे युक्त होते हैं ॥२१८–२१९॥ अरहन्तोंके चौंतीस अतिशय, आठ प्रातिहार्य और अनन्तचतुष्टय ये छ्यालीस गुण होते हैं, ऐसे ज्ञानी अरहन्तोंकी श्रेणीको मैं नमस्कार करता हूँ ॥२२०॥ अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, सूक्ष्मत्व, अनन्तवीर्य, अवगाहनत्व, अव्याबाधत्व और अगुरुलघुत्व ये आठ सिद्धोंके गुण हैं ॥२२१॥ आचाराष्टक, षडावश्यक, दश प्रकारका स्थितिकल्प और बारह तप ये छत्तीस गुण-धारक आचार्य होते हैं। उनमें आचाराष्टक इस प्रकार हैं—१. यतियोंके आचारका धारक होना, २. श्रुतका आधारवाला होना, ३. प्रायश्चित्तशास्त्रका ज्ञाता होना, ४. त्रिकाल योगका धारक होना, ५. केशलोंच करनेवाला (दीक्षा-दाता) होना, ६. स्व-परका प्रतिबोधक होना ७. भ्रष्ट साधुको जिनेश्वरके मार्गमें स्थापन करना, और ८. जिनमार्गकी प्रभावना करना। सर्ववेदी सर्वज्ञोंने ये आचाराष्टक कहे हैं ॥२२२–२२३॥ ये आचार्य दीक्षा आदिके लघु प्रतिक्रमणोंको कराते हैं, इन्द्रियोंके विकारोंसे रहित होते हैं, आदि जननी (जिनवाणी) को सदा नमस्कार करते हैं, पक्ष-पक्षमें (प्रत्येक पक्षमें) बृहत्प्रतिक्रमणपाठके साधक अर्थात् शिष्योंसे कराते हुए स्वयं करते हैं, दो-दो मासके व्यतीत होनेपर निषिद्धिका (तीर्थ, सिद्धक्षेत्र आदि) की वन्दना करते हैं, चातुर्मासके पश्चात् अन्य ग्राममें विहार करते हैं, वे गणके स्वामी आचार्य आचेलक्य आदि दश प्रकारके स्थितिकल्पको अन्य मुनियोंके लिए प्रतिपादन करते हैं। सामायिक, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक जिनकी सम्पत्ति है, और छह प्रकारके बाह्य और छह प्रकारके अन्तरंग तपको करते हैं। आचार्योंके ये छत्तीस गुण होते हैं ॥२२४–२२७॥ द्वादशाङ्गश्रुतसे संयुक्त, दश प्रकारके धर्मसे समन्वित, तप, संयम और यम (पंच महाव्रत) से युक्त ऐसे उपाध्यायोंकी मैं वन्दना करता हूँ ॥२२८॥ जिनके इन्द्रियज सुख त्याज्य है और पंच महाव्रत धारण करने योग्य हैं, केशलोंच करते हैं, दिनमें एक बार ही आहार करते हैं और भूमिपर शयन करते हैं, इन गुणोंसे युक्त साधु होते हैं ॥२२९॥ उन साधुओंको अदन्तधावन, अस्नान,

अदन्त नोऽस्नानः स्थितिभुक्तिरचेलता । प्रपाल्याः पञ्चसमितिषडावश्यकसंयुताः ॥२३०
वामहस्तं न्यसेन्मध्ये दक्षिणं चोपरि स्थितम् । मस्तकं जानुसंयुक्तं पञ्चाङ्गनतिरुच्यते ॥२३१
मलमूत्रपरित्यागे भो ` मैथुने तथा । सर्वज्ञपदपूजायां पञ्चजोषाः प्रकीर्त्तिताः ॥२३२
प्राणिनां सुख-दुःखानि संभवन्ति भवे भवे । अष्टौ कष्टेन लभ्यन्ते दश[1] वार्तापि दुर्लभा ॥२३३
पट्टकं निश्चलं कृत्वा मनःकृत्वाऽतिनिश्चलम् । अर्हद्देवं नमस्कृत्य ततः सामायि ी क्रिया ॥२३४
पूर्वं देवार्चनं कृत्वा ततः संशृणुते वृषम् । मुनेर्वचनमाकर्ण्य श्रावकोऽणुव्रतस्थितिः ॥२३५
नवनीतापक्वपयोभृङ्गीसन्धानकान्यच्छिन्नान्नम् । अप्रासुकजलपानं मधुदोषाः सम्भवन्तीमे ॥२३६
करीरं कोमलं विल्वं कलिंगं तुम्बिनीफलम् । बदरीफलजं चूर्णं सन्त्याज्यं पञ्चकम् ॥२३७
करीरचिंचिनीपुष्पमरणीवरुणोद्भवम् । पुष्पं सुखिजनोत्पन्नं प्रहेयं पुष्पपञ्चकम् ॥२३८
नालीसौवर्चलिकालुनीयकरडगुल्मकोत्पन्नम् । यः पञ्चविधं शाकं परिहरति भवति सः स्वर्गी ॥२३९

रक्तालुकशङ्खालुकपिण्डालुकसूरणोत्थकन्दानि ।
कच्चालुकेन च सार्द्धं समुज्झति श्रावको नियमात् ॥२४०

स्थितिभुक्ति (खड़े-खड़े भोजन करना) और अचेलता (दिगम्बरता) ये गुण पालन करना चाहिए। ये साधु पाँच समिति, और छह आवश्यकोंसे संयुक्त होते हैं ॥२३०॥

वामहस्तको नीचे रखकर उसके ऊपर दक्षिणहस्तको रखकर दोनों जंघाओंके साथ मस्तकको झुकाना पञ्चाङ्ग नमस्कार कहा जाता है ॥२३१॥ मल और मूत्रके परित्याग करते समय, भोजन-कालमें, मैथुन-सेवनके समय और सर्वज्ञदेवके चरणोंकी पूजा करते समय मौन धारण करना चाहिए। ये पाँच जोष अर्थात् मौन कहलाते हैं ॥२३२॥ सुख-दुःख तो प्राणियोंको भव-भवमें सम्भव हैं, किन्तु आठ बातें कष्टसे प्राप्त होती हैं और दशकी वार्ता भी दुर्लभ है ॥२३३॥ विशेषार्थ—इस संसारमें इन दशका पाना अत्यन्त कठिन है—१. त्रसपना, १. संज्ञिपना, ३. मनुष्यता, ४. आर्यपना, ५. सुगोत्र, ६. सद्-गात्र (उत्तम शरीर), ७. विभूति, ८. स्वस्थता, ९. सुबुद्धि और १०. सुधर्म। इनमें प्रारम्भके आठकी प्राप्ति तो कष्टसे होती है। किन्तु दशोंकी प्राप्तिकी वात तो अति दुर्लभ है। वैठनेके पाटेको निश्चल करके और मनको और भी अधिक निश्चल करके, तथा अर्हन्तदेवको नमस्कार करके फिर सामायिक-सम्बन्धी क्रिया करनी चाहिए ॥२३४॥ श्रावक पहिले देव-पूजन करके, तत्पश्चात् मुनिके वचन सुनकर धर्मका उपदेश सुनता है और अणुव्रतोंको धारण करता है ॥२३५॥ नवनीत (मक्खन, लोनी), अपक्व दूध, भाँग, काटे हुए फलोंका सन्धानक (अचार), अच्छिन्न, (साबूत) अन्न और (अप्रासुक जल-पान) ये पाँच मधुत्यागके दोष होते हैं ॥२३६॥ करीर (कैर), कोमल वेलफल, कलिंग (तरबूज), तुम्बिनीफल (तूम्बा), वदरीफलों (वेरों) का चूर्ण, इन पाँच फलोंको त्यागना चाहिए ॥२३७॥ करीर, चिंचिनी-(इमली-) पुष्प, भरणी-(घियातरोई) पुष्प, वरुण (वृक्षविशेष-) पुष्प और सहजनाके पुष्प, इन पाँच प्रकारके पुष्पोंका त्याग करना चाहिए ॥२३८॥ नाली (कमल-नाल) सौवर्चलिका (सूवापालक) लुनीय (पुष्पित शाक), करण्ड (स्वयं उत्पन्न तिलविशेष) और गुल्मक (चौलाई) इनसे उत्पन्न हुए पाँच प्रकारके शाकोंका जो परिहार करता है, वह स्वर्गका देव होता है ॥२३९॥ रतालू,

---

१. जगत्यनन्तैकहृषीकसङ्कुले त्रसत्व[1]-संज्ञित्व[2]-[3]मनुष्यताऽऽर्यता[4] ।
सुगोत्र[5]-सद्-[6]गात्र-विभूति[7]-वार्तता[8]-सुधी[9]-[10]सुधर्माश्च यथाग्रदुर्लभाः ॥ (अनगारधर्मामृते)

गुग्गलकं चवकधरं गज्जरकं मूलकं गिलोटं च।
यो भक्षयति स पापी कथितो जिनशासनाभिज्ञैः ॥२४१

मद्यं परिहरणीयं मांसदोषेण संयुतं मधुना। एषामष्टाविंशति मूलगुणानां विचारिता युक्तिः ॥२४२

विभावसौ ज्वलति निकिलष्टदर्शने सकर्कशे-वचसि रजस्वलास्पृशि।
सविड्वरे जनपथि राजवर्चसि त्यजेयुरापणधरासु भोजनम् ॥२४३

अनस्तमितशुद्धाम्बु पञ्चाक्षरजिनेक्षणम्। दया जीवस्य यस्यास्ति सोऽपि श्रावक उच्यते ॥२४४
न श्रुता यैर्व्रताचारविचारनियमस्थितिः। जिनश्रुतिगुरुत्पन्नास्ते स्थिता नामधारकाः ॥२४५
ये गृहीत्वा व्रतादीनां संयमनियमस्थितिम्। पालयन्ति न भोगान्धास्ते स्थिताः स्थापनाधराः ॥२४६
श्रावकाचारसंयुक्ता आगमज्ञा गुणार्थिनः। दानपूजापरा ये स्युस्ते स्थिता द्रव्यधारकाः ॥२४७
भावतो भावसम्पन्ना द्रव्यतो द्रव्यतत्पराः। येऽभीष्टा द्रव्यभावाभ्यां ते स्थिता भावधारकाः ॥२४८
एवं चतुर्विधाः प्रोक्ताः श्रावका जिनशासने। द्वयोर्न दृश्यते सिद्धिर्द्वयोः सम्यक्त्वकारणम् ॥२४९
उपासकाश्च सद्-दृष्टिः श्रेष्ठी साधुर्गृही वणिक्। दाता च श्रावको जैनो भव्यो भावक उच्यते ॥२५०
धर्मोपासनया युक्तो रत्नत्रयसमन्वितः। कथोपाख्यानसद्बुद्धिः शत्रु-मित्रसमप्रभा ॥२५१
द्वादशव्रतसम्पूर्णो निश्चयव्यवहारभाक्। जिनमार्गसमुद्धर्त्ता जैनशास्त्रविचक्षणः ॥२५२

शंखालू, पिडालू, सूरणकन्द और कचालू इन पाँच प्रकारके कन्दोंका श्रावक नियमसे त्याग करता है ॥२४०॥ गुग्गुलक (गूगल) चवकधर (कांदा, प्याज) गाजर, मूली और गिलोट (गिलोय) इन पाँचको जो खाता है उसे जिनशासनके ज्ञाताओंने पापी कहा है ॥२४१॥ मांस दोषसे संयुक्त मधुके साथ मद्यका परिहार करना चाहिए। इन अट्ठाईस मूलगुणोंकी यह युक्ति विचार की गई है ॥२४२॥ अग्निके जलनेपर, निकृष्ट वस्तु या व्यक्तिके देखनेपर, कर्कश वचनके सुननेपर, रजस्वला स्त्रीके स्पर्श करनेपर, जनमार्गके कोहरासे युक्त होनेपर, राजवर्चस्वके होनेपर और अप्रमार्जित और हाट-दुकानकी भूमिपर श्रावक भोजनको नहीं करे ॥२४३॥ अनस्तमितभोजन, (सूर्यास्तके पूर्वका भोजन), शुद्ध (वस्त्र-गालित) जल, पंच परमेष्ठियोंका दर्शन और जीवकी दया ये कार्य जिसके होते हैं, वह भी श्रावक कहा जाता है ॥२४४॥ जिन पुरुषोंने व्रतोंका आचार-विचार और नियम-की स्थिति जिनशास्त्रोंसे और गुरुजनोंके मुखसे नहीं सुनी है, वे नाम-धारक श्रावक हैं ॥२४५॥ जो व्रतादिकोंके संयम और नियमको स्थितिको ग्रहण करके पीछे भोगान्ध होकर उसका पालन नहीं करते हैं, वे स्थापनाधारी श्रावक हैं ॥२४६॥ जो श्रावकके आचरणसे संयुक्त हैं, आगमके ज्ञाता हैं, गुणोंके इच्छुक हैं और दान-पूजनमें तत्पर हैं, वे द्रव्यनिक्षेप धारी श्रावक हैं ॥२४७॥ जो भावकी अपेक्षा भाव-सम्पन्न हैं और द्रव्यकी अपेक्षा द्रव्यमें तत्पर हैं, जो द्रव्य और भावसे अभीष्ट हैं, अर्थात् दोनोंसे सम्पन्न हैं, वे भाव-धारक श्रावक हैं ॥२४८॥ इस प्रकार जिनशासनमें चार प्रकारके श्रावक कहे गये हैं। इनमेंसे आदिके दो श्रावकोंके सिद्धि नहीं दिखाई देती है और अन्तिम दो श्रावकोंकी सिद्धि सम्यक्त्वकारणक हैं ॥२४९॥ श्रावकको उपासक, सद्-दृष्टि, श्रेष्ठी, साधु, गृही, वणिक्, दाता, जैन, भव्य और श्रावक भी कहते हैं ॥२५०॥ जो धर्मकी उपासनासे युक्त है, रत्नत्रय धर्मसे समन्वित है, कथा और उपाख्यान सुननेसे सद्-बुद्धिवाला है, शत्रु और मित्रमें समान बुद्धि रखता है, श्रावकके सम्पूर्ण बारह व्रतोंको पालन करता है, निश्चय और व्यवहारका धारक या ज्ञाता है, जिनमार्गका उद्धारक है, जैनशास्त्रोंमें कुशल है, अर्हन्तदेवको नमस्कार करनेके

अर्हद्देवं नमस्कृत्य नान्यदेवे नमस्कृतिः। संघवात्सल्यसंयुक्तो भावनाङ्गप्रभावकः ॥२५३
नाम्नामेकदशानां यो नामैकमपि पालयेत्। उत्तमश्रावको भूत्वा लभते सोऽव्ययं पदम् ॥२५४
मूले स्कन्धे च शाखायां डालके ग्लौञ्छके ` । यादृशी जायते लेश्या तादृशी सिद्धिरुच्यते ॥२५५

रौद्रध्यानप्रवृत्तेर्मधुपलरसनाज्जीवहिंसानुषङ्गाद्
दुष्टात्मा दुष्टभावो नरकबिलगतिं यिते कृष्णलेश्यः।
आर्त्तध्यानप्रबन्धात्पररमणिवशान्न्यासलोपात्परस्य
क्रूराङ्गः क्रूरचेताः पशुभवरसिको जायते नीललेश्यः ॥२५६

मायाभ्यासप्रसङ्गादगणितवचनात्साधुदोषप्रकाशा-
न्मिथ्यान्धश्चण्डकर्मा जगति हि मनुजोऽत्येति कापोतलेश्यः।
धर्मिष्ठो धर्ममूर्त्तिः स्वजन-परजनस्योपकारप्रकर्ता
विद्याभ्यासाङ्गसाङ्गी भवनपतिरसौ जायते पीतलेश्यः ॥२५७

सच्चारित्रोपचारादनुगततपसः षोडशोपात्तभावाद्
ध्यानोपयोगात्सकलजिनपतिर्जायते पद्मलेश्यः।
शुक्लध्यानप्रयोगात् कलुषितकरणात् पुण्यपापक्षताङ्गो
दृष्टिज्ञानप्रगल्भ्यात्परमशिवपदं जायते शुक्ललेश्यः ॥२५८

सिवाय अन्य देवको नमस्कार नहीं करता है, संघके वात्सल्यभावसे संयुक्त है, सम्यक्त्वके प्रभावना अंगका प्रभावक है तथा जो श्रावकके ग्यारह प्रतिमारूप नामोंमेंसे एक भी नामका पालन करता है, वह उत्तम श्रावक हो करके अविनाशी पदको प्राप्त करता है ॥२५१-२५४॥ किसी फलवाले वृक्षके मूल, स्कन्ध, शाखा, डाली, फलोंका गुच्छा और फलको प्राप्त करनेमें जिसकी जैसी लेश्या होती है, उसके उसी प्रकार सिद्धि कही गई है। भावार्थ—इस श्लोकमें कृष्णादि छहों लेश्यावालोंके भावोंकी ओर संकेत करके उनका उसी लेश्याके अनुसार कुफल और सुफलको पानेकी सूचना दी गई है॥२५५॥ मधु और मांसके रसास्वाद से होने वाली जीव हिंसाके अनुसंगसे रौद्रध्यानकी प्रवृत्ति होती है और उससे कृष्ण लेश्यावाला होकर दुष्ट भावों वाला दुष्ट जीव नरकके बिलोंमें जाकर उत्पन्न होता है। आर्तध्यान के सम्बन्धसे, परस्त्री सेवनके वससे परकी धरोहरके लोप (हड़प) करनेसे क्रूर शरीर और क्रूर चित्तवाला नील लेश्याका धारक जीव पशुभवका रसिक होता है अर्थात् आर्तध्यानी नील लेश्या वाला जीव पशु योनिमें उत्पन्न होता है ॥२५६॥ मायाके अभ्यास (आविक्य) के प्रसंगसे, व्यर्थके अगणित वचनोंके उच्चारणसे, साधुओंके दोष प्रकाशित करनेसे, जीव मिथ्यात्वसे अन्धा और चण्ड कर्म वाला जो मनुष्य होता है वह कपोत लेश्याका धारक है। जो धर्ममें स्थित है, धर्ममूर्ति है, स्वजन और परजनका उपकार करने वाला है, विद्याओंके अभ्यासको करने वाला है, वह पीतसे श्यामल जीव भुवन-पति (इन्द्र चक्रवर्ती आदि) होता है ॥२५७॥ उत्तम चारित्रके आचरणसे, तपश्चरण करनेसे, षोड़श कारण भावनाओंके चिन्तवनसे, और धर्मध्यानके उपयोगसे पद्मलेश्यावाला जीव जिनपति (तीर्थंकर) होता है। शुक्ल ध्यानके प्रयोगसे, रसोंके परित्यागके द्वारा इन्द्रियोंको क्षीण करनेसे, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी प्रवलतासे पुण्य-पापका क्षय करने वाला शुक्ल लेश्याका धारक परम शिवपदको प्राप्त करता है ॥२५८॥ जो आत्म कल्याणके लिए प्रतिमास प्रत्येक पर्वके

ये कुर्वन्ति श्रेयसे संयमादि क्षोणीशय्याब्रह्मचर्योपवासान् ।
मासे मासे पर्वपर्वक्रमेण प्रख्यायन्ते पाक्षिका श्रावकास्ते ॥२५९
यावज्जीवं ये व्रता सन्ति साक्षीकृत्योपात्तास्ते सदा पालनीयाः ।
इत्थं प्रोक्ता सन्ति ये निष्ठितात्मा प्रख्यायन्ते नैष्ठिकाः श्रावकास्ते ॥२६०
कायोत्सर्गे धर्मशास्त्रागमे वा ध्याने जाप्ये वीतरागार्चने वा ।
ये जायन्ते तत्परा वाङ्मनोऽङ्गैः प्रख्यायन्ते साधकाः श्रावकास्ते ॥२६१
एवं त्रिभेदाः कथिता मुनीन्द्रैस्ते श्रावकाः क्षायिकहेतुभूताः ।
दैवं सुखं पार्थसुखं च भुक्त्वा व्रजन्ति मोक्षं चरणप्रसङ्गात् ॥२६२
हृषीकलेश्यामदगर्वदोषैर्मिथ्याकषायव्यसनप्रमादैः ।
मिथ्यात्वकर्मास्रवशल्यरागैः प्रजायते जन्तुषु पापमुच्चैः ॥२६३
ये तिष्ठन्ति दशप्रकारमुनयश्लेषामुपास्तिक्रमाद् वैयावृत्यदशप्रकारविधिना तत्पापमेति क्षयम् ।
रोगग्लानतपोधनेशसकलाचारोपदेशप्रदस्याचार्यस्य जिनेन्द्रपाठमहिमोपाध्यायशिष्याङ्गयोः ॥२६४
संघस्यापि चतुर्विधस्य परमाराध्यस्य साधोर्यतेः पञ्चाचारतपस्विनो गणभृतः शुद्धा मनोज्ञस्य च ।
भव्यश्रेणिकुलक्रमागतमुनेर्ये सेवनां कुर्वते ते सौख्याश्रयमावहन्ति वसुना सर्वोपकाराः प्रभुम् ॥२६५
तत्त्वार्थचिन्ता परलोकचिन्तनं सुपात्रदानं स्वजनोपकारता ।
सर्वज्ञपूजा-मुनिपादवन्दनैस्तेभ्यो भवेज्जन्तुषु धर्मसंगमः ॥२६६

क्रमसे यथायोग्य संयमादिका पालन करते हैं, पृथ्वी पर सोते हैं, ब्रह्मचर्य पालते हैं और उपवास करते हैं वे पाक्षिक श्रावक कहे जाते हैं ॥२५९॥ जो गुरुओंकी साक्षीसे व्रतोंको ग्रहण किया ग्रहण किये हैं वे यावज्जीवन पालना चाहिए। इस प्रकारसे जो निष्ठावन्त आत्मा हैं वे नैष्ठिक श्रावक कहलाते हैं। उन नैष्ठिक श्रावकोंके भेदोंका वर्णन ऊपर किया गया है ॥२६०॥ जो कायोत्सर्ग करनेमें, धर्मशास्त्रके अभ्यासमें, ध्यान करनेमें, मंत्रोंका जाप करनेमें, और वीतरागके पूजनमें मन वचन कायसे तत्पर रहते हैं, वे साधक श्रावक कहलाते हैं ॥२६१॥ इस प्रकार मुनीन्द्रोंने कर्मक्षयके कारणभूत तीन भेदवाले श्रावक कहे हैं। वे चारित्रके प्रसंगसे देवलोक-सम्बन्धी सुखको और भूलोक-सम्बन्धी सुखको भोगकर मोक्षमें जाते हैं ॥२६२॥ इन्द्रिय, लेश्या, मद, गर्व, इन दोषोंसे, मिथ्या भाषण, कषाय, व्यसन और प्रमादसे, तथा मिथ्यात्वसे, कर्मोंके आस्रवोंसे, शल्योंसे और रागभावोंसे प्राणियोंमें उच्च पापका उपार्जन होता है ॥२६३॥ जो आचार्य, उपाध्याय आदि दश प्रकारके मुनि होते हैं उनकी उपासनाके क्रमसे वैयावृत्यके भी दश प्रकार (भेद) हो जाते हैं। इस दश प्रकारकी वैयावृत्यके करनेसे उपर्युक्त करणोंसे उपार्जित पाप अक्षयको प्राप्त हो जाता है वे दश प्रकारके मुनि ये हैं—१ रोगसे ग्लान (पीड़ित) २ तपोधन (तपस्वी) ३ सकल चारित्रके उपदेश देने वाले आचार्य, ४ जिनेन्द्रोक्त श्रुतके पाठक उपाध्याय, ५ उनके शैक्ष्य शिष्य, ६ चतुर्विध संघ, ७ परम आराध्य साधु, ८ पंच आचारके धारक तपस्वी, ९ गण धारक, और १० मनोज्ञ इन दश प्रकारके भव्य श्रेणीरूप कुल क्रमागत मुनियोंकी जो सेवा-वैयावृत्य करते हैं, वे धनसे सर्वजीवोंके उपकार करनेमें समर्थ होकर सौख्यके आश्रय-भूत मोक्षको प्राप्त करते हैं ॥२६४-२६५॥

तत्त्वार्थका चिन्तन, परलोकका चिन्तन, सुपात्र दान, स्वजनोंका उपकार, सर्वज्ञ-पूजन और मुनिचरण-वन्दना, इतने कार्योंसे प्राणियोंमें धर्मका सचंयरूप संगम होता है। ॥२६६॥ क्षुधा

। नरं कारयति प्रवेशनं गृहस्य चाण्डालकलत्रवासिनः ।
अपेयपानं कुरुते पिपासया :स्तृषातप्तमनःकलेवरः ॥२६७

शीतं जनानां तनुते प्रभञ्जनं वर्षातुषारप्रभविष्णु शीतलम् ।
घर्मेण सन्तापमुपैति मानवो निदा लोद्भवधूपभाविना ॥२६८

मशकयुगलेन ताडितो तां नयति नो मनो मुनिः ।
जन्मरूपमभिगम्य नग्नता साधु (?) भवति नियमेन नारतिः ॥२६९

स्त्रीनाम-मन्त्रस्मरणं न कुर्यात्परं स्वकीयं कलमप्यनन्तम् ।
व्याख्यानकालेऽमरवन्दनायां शास्त्रार्थचिन्ताकरणे तपस्वी ॥२७०

निषिद्धिका-तीर्थंकरगृहाणि प्रति प्रगच्छन्निगमेऽह्निचारी ।
न संस्मरेद्वाहनकर्मयोग्यं शय्यादिकं वा शयने मुनीन्द्रः ॥२७१

ोशं क्षमते वधं विषहते बध्नाति नो याचनं स्वालाभं पतितं न कस्य पुरतो धर्मात्मनो भाषते ।
रोगे भैषजमातनोति न मुनिः कर्मप्रभाप्रेरिते लग्नेभ्योऽपि कलेवरे तृणमलेभ्यो न व्यथां जल्पति ॥२७२

सत्कारेण समं पुरस्करणतां नो वीक्ष्यते कस्यचित् प्रज्ञावाणि-विदूषणं न वदति प्रज्ञावतां संसदि ।
न ज्ञानं न सुदर्शनं त्वयि मुने मूर्खोऽस्ति चेति क्रमाद् वाक्यं संयमधारको गदति नो व्यावृत्य दुष्टं प्रति॥२७३

मनुष्यको चाण्डाल-स्त्री-वासी घरका प्रवेश कराती है, पिपासासे तृषित सन्तप्त चित्त शरीर वाला मनुष्य नहीं पीने योग्य भी पानीको पीता है ॥२६७॥ वर्षा, और तुषारसे पैदा हुआ शीतल पवन मनुष्यों के शीतवेदनाको विस्तारता है, ग्रीष्मकालमें उत्पन्न होने वाली धूपसे—घामसे मनुष्य गर्मीके सन्तापको प्राप्त होता है (फिर भी साधुजन इन परीषहोंको शान्तिसे सहन करते हैं) ॥२६८॥ डांस-मच्छरकी युगलसे पीड़ित मुनि चित्तकी वक्रताको नहीं प्राप्त होता है। यथाजात रूपको धारणकर साधुके नग्नता होती है, फिर भी नियमसे उनके इससे अरति नहीं होती ॥२६९॥ साधु कभी भी स्वकीय और परस्त्रियोंके नाम रूप मंत्रका स्मरण नहीं करता है, किन्तु कल अर्थात् वीर्यकी रक्षा करता हुआ अनन्त (अखण्ड) ब्रह्मचर्यको पालता है। शास्त्रके व्याख्यान कालमें, देववन्दनामें और शास्त्रोंके अर्थ चिन्तन करनेमें वह तपस्वी संलग्न रहता है ॥२७०॥ निषिद्धिका (निर्वाण भूमि) और तीर्थंकरोंके भवनों (जिनालयों)के प्रति जाता हुआ दिनमें विचरण करने वाला साधु चलनेके कष्टोंको नहीं गिनता और न सवारीके योग्य वाहनादिका स्मरण ही करता है। वह मुनीन्द्र शयनकालमें शय्यादिका भी स्मरण नहीं करता है ॥२७१॥ दूसरोंके आक्रोशको सहन करता है, वध-वन्धनको भी सहता है, कभी किसी वस्तुकी याचना नहीं करता और गोचरीके समय अपने आहारमें आये हुए अलाभको भी कभी किसी धर्मात्माके आगे नहीं कहता है, कर्मोंके प्रभावसे प्रेरित रोगके होनेपर भी मुनि औषधिको नहीं माँगता अर्थात् स्वयं अपनी चिकित्सा नहीं करता है। शरीरमें तृण, मल आदि लगनेपर भी अपनी पीड़ाको नहीं कहता है ॥२७२॥ साधु किसीके सत्कारके साथ किये गये पुरस्कारको भी नहीं देखता है, बुद्धिमानोंकी सभामें प्रज्ञाकी वाणीसे दूषित वचनको नहीं बोलता है। हे मुनिराज, तुममें न अपने ज्ञानका अहंकार है, न सुदर्शन (सम्यक्त्व)का अहंकार है और न मैं मूर्ख हूँ, इस प्रकारका ही विचार है, इस प्रकार क्रमसे प्रज्ञा, अदर्शन और अज्ञान परीषहको सहते हैं। संयम-धारक साधु दुष्टके प्रति लौटकर कभी दुष्ट वाक्य नहीं बोलता है ॥२७३॥ इस

इत्थं परीषहसहा मुनयो भवन्ति तेषां पदद्वयनमस्करणाय योऽभूत् ।
तस्यापि संभवति चेतसि धर्मवृद्धिः सौख्यास्पदा निखिलसाधुजनस्य कर्त्ता ॥२७४

अकृपासत्यस्तेयाब्रह्ममहार्थेषु या भवेद्विरतिः । सा भवति यस्य पुंसो महाव्रती कथ्यते सद्भिः ॥२७५
हस्तचतुष्टयसीमामार्गं शोधयति चक्षुषा यश्च । तस्येर्यापथशुद्धिर्भवति मुनेर्निर्विकारस्य ॥२७६

हृदयानन्दं जनयति कटुकं परिहरति निष्ठुरं त्यजति ।
श्रवणसुखं यो जल्पति भाषासमितिर्भवेत्तस्य ॥२७७

यो याचते न भुक्तिं दातारं गच्छमानमावासम् । अभिलषति सत्समाधिं तस्य भवेदेषणाशुद्धिः ॥२७८
आदाने निक्षेपे वस्तु प्रतिलेखं यो ऋषिस्तनुते । तस्य तनुजीवरक्षामागमशुद्धिर्यतित्वं स्यात् ॥२७९
कायोत्सर्गं विधानं यो धत्ते शीलसंयमाधारम् । उपचरति मोक्षमार्गं तस्य तपो निर्मलं जातम् ॥२८०

भवनिधना यस्य मनोवचनतनूनां च संभवेद् गुप्तिः ।
तस्याव्ययपदपन्था अर्पयति निरञ्जनं स्थानम् ॥२८१

सप्तघटीमध्यगतं भव्यावासे प्रकल्पितं चान्नम् ।
यो गृह्णाति विशुद्धं सोऽनशनी चारणैः कथितम् ॥२८२

जिह्वास्वादविमुक्तं निर्दोषं निर्मलं यथोत्पन्नम् । यो भोजनं विधत्ते लघ्वाहारी स मन्तव्यः ॥२८३

एकद्वित्रिचतुर्थावासानाक्रम्य पञ्चमे भुक्तिम् ।
यः कुरुते तस्य मतं स्ववृत्तिसंख्या तपश्चरणम् ॥२८४

प्रकारसे बाईस परीषहोंको सहन करने वाले जो मुनिजन होते हैं, उनके दोनों चरणोंमें नमस्कार करनेके लिए जो तत्पर रहता है, उसके मनमें सुखका स्थान रूप धर्म वृद्धि होती है, और ऐसा श्रावक समस्त साधुजनका कर्ता अर्थात् साधु-मार्गका बढ़ाने वाला है ॥२७४॥ अदया (हिंसा), असत्य, स्तेय (चोरी), अब्रह्म और महापरिग्रह इन पाँचों पापोंमें जिसके विरती होती है, वह पुरुष सज्जनोंके द्वारा महाव्रती कहा जाता है ॥२७५॥ जो गमन करते समय आँखसे चार हाथकी सीमारूप मार्गको शोधता है, उस निर्विकार मुनिके ईर्यापथ शुद्धि होती है ॥२७६॥ जो कटुक वचनका परिहार करता है और निष्ठुर वचनका भी त्याग करता है, तथा हृदयको आनन्दकारी और कानोंको सुखकारी वचन बोलता है, उसके भाषासमिति होती है ॥२७७॥ जो दाताके घर जानेपर भी उससे भोजनकी याचना नहीं करता है, किन्तु सत्समाधिकी अभिलाषा करता है, उसके एषणा शुद्धि होती है ॥२७८॥ जो ऋषि ग्रहण करते समय या रखते समय वस्तुका प्रतिलेखन करता है, उसके शरीर और जीव-रक्षा करने वाली आगम शुद्धि और साधुता होती है ॥२७९॥ जो शील और संयमका आधारभूत कायोत्सर्गको करता है, वह मोक्षके मार्गपर चलता है उसके ही निर्मल तप होता है ॥२८०॥ जिसके भवका अन्त करनेवाली मन वचन कायकी गुप्ति होती है, उसके ही अव्ययपदका पन्थ (मोक्षमार्ग) निरंजन स्थान (शिवपद) को अर्पण करता है ॥२८१॥ जो भव्य पुरुषके घरमें सात घड़ीके भीतर बनाया गया विशुद्ध अन्न ग्रहण करता है, उसे चारण ऋद्धिधारियोंने अनशन व्रती कहा है ॥२८२॥ जो जिह्वाके स्वादसे रहित, निर्दोष निर्मल और अपने लिए नहीं बनाये गये भोजनको करता है, वह लघुआहारी मानना चाहिए ॥२८३॥ जो एक, दो, तीन और चार गृहोंका उल्लंघन करके पाँचवें घरमें भोजन करता है, उसके वृत्ति परिसंख्या नामक तपश्चरण माना गया है ॥२८४॥ (जो साधु दुग्ध, घृत, लवण आदि सर्व

....तस्य ति रस परित्यागः ॥२८५

....विविक्तशय्यासनं तस्य ॥२८६

ध्यानोपवासनियमैः शमदमसंयमैः श्रुताभ्यासैः। व्रतनियमतपश्चरणैः कायक्लेशो यतेर्भवति ॥२८७

वशतो तपोहानिः प्रजायते। गुरूपदेशतस्तस्य प्रायश्चित्तं प्रवर्तते ॥२८८

तपोदर्शनचारित्रज्ञानेषु विनतिर्भवेत्। नित्यं संयमिनो यस्य विनयस्तस्य प्रवर्तते ॥२८९

वैयावृत्त्यं दशधा यस्तनुते मिमुनीन्द्राणाम्। संभवति वैयावृत्त्यं तत्तपोयोगिनः सकलम् ॥२९०

स्वाध्यायं विधं वेलामालोक्य यो ऋषिः कुरुते।
ोत्सर्गेण समं फलति विधानं तदा ॥२९१

एवं द्वादशधा तपः प्रतिदिनं कुर्वन्ति ये योगिनस्तेषामङ्घ्रिषु सेवनविधिं श्रद्धापरा ये जनाः।
तेषां नास्ति भवार्णवे प्रपतनं प्रसंगादहो धर्मो लोकहितो महार्थसुखदो मोक्षप्रदोऽभीष्टदः ॥२९२

विस्तीर्णा श्रु रेण मुनिना बुद्धेः समृद्धिः कृता
नानाकोष्ठगतान्नभेदसहिता शब्दार्थभावाङ्किता।
चारित्रेण समृद्धिवृद्धिरनघा विद्युच्चरस्यास्थिता
जाता वैक्रियिकी समृद्धिरतुला विष्णोः कुमारस्य च ॥२९३

देहस्था पिहितास्रवस्य मलजोत्पन्नौषधर्द्धिर्यतेः सम्प रसर्द्धिरात्ततपसो विष्वाणनाम्नो मुनेः।
श्रीषेणेन वलर्धिरङ्गजनिता प्राये गतिं कुर्वता जातोऽक्षीणमहानससमृद्धेर्भोजनं श्रीधरः ॥२९४

रसोंका त्याग करता है, अथवा एक, दो आदि रसोंका प्रतिदिन त्याग करता है, उसके रस परित्याग तप होता है ॥२८५॥ जो साधु एकान्त मठ, मन्दिर, वन और गिरि-कन्दराओंमें शयन-आसन करता है उसके विविक्त शय्यासन नामका तप होता है ॥२८६॥[1]

ध्यान, उपवास, नियम, शम, दम, संयम, शास्त्राभ्यास, व्रत-नियम, और तपश्चरणके द्वारा साधुके कायक्लेश तप होता है ॥२८७॥ जिसके प्रमादके वशसे तपकी हानि हो जाती है, उसके गुरुके उपदेशसे प्रायश्चित्ततप होता है ॥२८८॥ जिस संयमी मुनिके तप, दर्शन, चारित्र और ज्ञानमें विनय होती है, उसके विनयतप होता है ॥२८९॥ जो दश प्रकारके संयमी मुनीन्द्रोंकी वैयावृत्त्य करता है, उस तपोयोगीके पूर्ण वैयावृत्त्य संभव होता है ॥२९०॥ जो ऋषि स्वाध्याय कालको देखकर पाँच प्रकारके स्वाध्यायको कायोत्सर्गके साथ करता है, तब उसका सर्वविधान सफल होता है ॥२९१॥ इस प्रकार जो योगिजन प्रतिदिन बारह प्रकारके तपको करते हैं, उन चरणोंमें उपासना-सेवा आदिको जो श्रद्धा-परायण श्रावक जन करते हैं अहो, उनका धर्मके प्रभावसे भव-समुद्रमें पतन नहीं होता है। क्योंकि धर्म लोक-हितकारी है, महान् अर्थ और सुखदायक है, और अन्तमें अभीष्ट मोक्षको देता है ॥२९२॥

जिन ऋद्धियोंका श्रुतसागरमुनिने तत्त्वार्थसूत्रकी टीकामें विस्तारसे वर्णन किया है, उनमें वुद्धि ऋद्धिके कोष्ठगत अन्न आदिके समान अनेक भेद शब्द, अर्थ और भावसे अंकित किये हैं, उनकी निर्दोष समृद्धि-वृद्धि चारित्रके द्वारा होती है। देखो-विद्युच्चरके आकाशगामिनी ऋद्धि प्राप्त हुई, और विष्णुकुमारके वैक्रियक ऋद्धि प्राप्त हुई ॥२९३॥ पिहितास्रवमुनिके शरीरस्थ मलसे औषध ऋद्धि प्राप्त हुई, विष्वाणनामक मुनिके तपके प्रभावके रसऋद्धि प्राप्त हुई, श्री षेण मुनिके अंग-जनित बलऋद्धि प्राप्त हुई और श्रीधरमुनि अक्षीणमहानस ऋद्धिके

---

१. मूल में दो श्लोक प्रतियोंमें उपलब्ध नहीं हैं, शास्त्रानुसार दोनोंका अर्थ लिखा गया है। —सम्पादक

एवं मुनीनां प्रभवन्ति येषां सप्तर्द्धयस्तेऽखिलभव्यलोकान् ।
आशीर्वचोभिः प्रभुतां नयन्ति ते श्रावका ये हि नता गुरूणाम् ॥२९५
जैनं विहाय मतमस्ति गुणप्रकाशो नान्येषु संभवति निश्चय एष यत्र ।
सम्यक्त्वशुद्धिरतुला भवति स्म तत्र दृष्ट्या विना न खलु सिद्ध्यति मोक्षमार्गः ॥२९६
संघस्य यथायोग्यो विनयो भावेन येन करणीयः ।
तं भावमाचरन्तो मुनयो गच्छन्ति परमपदम् ॥२९७
तच्छीलं प्रतिपालयन्तु यतिनो नाप्तातिचारक्रियं
यद्देवाः प्रणमन्ति यच्च कुरुते दूरं न सिद्धास्पदम् ।
येनादायि विवेकबुद्धिरणये[1] येन स्मरो जीयते
येनोपात्तजिनप्रभावविधिना लोकस्थितिर्वीक्ष्यते ॥२९८
अर्हद्दर्शनतो धर्मो धर्मादागमचिन्तनम् । आगमाज्ज्ञानसंप्राप्तिर्ज्ञानात्कर्मक्षयो भवेत् ॥२९९
राज्यं परीवार इलादिभोगश्चित्तं शरीरं विभवः कलत्रम् ।
एतानि वस्तूनि चलन्ति सर्वाण्यर्हद्भुवः शाश्वत एव धर्मः ॥३००
इति स्थिता चेतसि यस्य चिन्ता संवेगभावो भवतिस्म तस्य ।
अर्हत्पदे यस्य रुचिर्भवेद्वा संवेगचिन्तामणिरस्ति तस्य ॥३०१
कर्पूरपुष्पागुरुचन्दनाद्या नितम्बिनी कामरसानुविद्धा ।
यमीकृता ये च शरीरभोगास्तेषां परित्यागविधिर्विधेयः ॥३०२

पात्र (वारक) हुए ॥२९४॥ इस प्रकार जिन मुनियोंके तपके प्रभावसे सप्त ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं वे अपने आशीर्वादरूप वचनोंसे समस्त भव्य लोगोंको प्रभुता प्राप्त कराते हैं। जो ऐसे गुरुजनोंको नमस्कार करते हैं, वे ही श्रावक कहे जाते हैं ॥२९५॥

'जैन मतको छोड़कर दूसरा कोई मत श्रेष्ठ नहीं है, अन्य मतोंमें यथार्थ गुणोंका प्रकाश ही संभव नहीं है,' ऐसा जिसके दृढ़ निश्चय है, उसके ही सम्यक्त्वकी अनुपम शुद्धि होती है। सम्यग्दर्शनके विना निश्चयसे मोक्षमार्ग सिद्ध नहीं होता है ॥२९६॥ हमें 'भाव-पूर्वक संघका यथायोग्य विनय करना चाहिए' इस प्रकारके विनयभावका आचरण करनेवाले मुनि परमपदको प्राप्त करते हैं ॥२९७॥ साधुलोग उस शीलका भली-भाँतिसे पालन करते हैं, जिसमें कि अतिचार क्रियारूप दोष अल्पमात्र भी नहीं लगता है। ऐसे निरतिचार शीलव्रतोंके पालन करनेवाले पुरुषोंको देव प्रणाम करते हैं, उन शीलव्रतके पालन करनेवालोंको सिद्धालय दूर नहीं है। जिसने व्रत मर्यादाके लिए विवेक बुद्धि ग्रहण की है, और जिन्होंने कामदेवको जीता है जिन धर्मके प्रभाव-द्वारा लोकस्थितिको देखते हैं ॥२९८॥ अर्हन्तदेवके दर्शनसे धर्म होता है, धर्मसे आगमका चिन्तन होता है, आगम-चिन्तनसे ज्ञानावरणीय कर्मका नाश होकर ज्ञानकी प्राप्ति होती है और ज्ञानसे सर्वकार्योंका क्षय होता है ॥२९९॥ राज्य, कुटुम्ब-परिवार, पृथ्वी आदि सम्पत्ति इन्द्रियोंके भोग, चित्त, शरीर, वैभव और स्त्री ये सभी वस्तुएँ चल (अस्थिर) हैं, कि अर्हन्मुखोद्भूत धर्म ही शाश्वत (नित्य) है ॥३००॥ इस प्रकारकी चिन्ता जिसके चित्तमें स्थित है, उसके संवेगभाव होता है अथवा अर्हन्तदेवके चरणोंमें जिसकी रुचि होती है उसके संवेगरूपी चिन्तामणिरत्न होता है ॥३०१॥ कर्पूर, पुष्प, अगुरु, चन्दन आदि, काम-रससे भरी हुई स्त्री और जो संयमित शरीर-

1. अणिराणिवदक्षाग्रकीलसीमास्त्रिपु द्वयोः । इति विश्वः ।

याप्योपवासनियमव्रतशास्त्रपाठशीतोष्णचारिसहनादितपांसि नित्यम् ।
कार्याणि संयमधरेण निजात्मशक्त्या कष्टान्यतीव विदधाति हि शक्तिलोपः ॥३०३

भोजने चोपकरणे च ने चासने तथा । पादचारे चोपसर्गे भवितव्यं समाधिना ॥३०४
अथ सर्वास्ववस्थासु समाधिर्गुरुरेव वा । वैयावृत्त्यं यथायोग्यं दशधा तन्यते बुधैः ॥३०५
त्रिधा सेवा विधातव्या जिनशास्त्रमहात्मनाम् । षडावश्यकमादाय पालनीयं जितेन्द्रियैः ॥३०६
क्वचिद्गीतं वाद्यं क्वचिदपि च नृत्यं क्वचिदपि क्वचिद् ग्रन्थारम्भः क्वचिदपि च दण्डया रसगतिः ।
क्वचित्पूजा स्नानं क्वचिदपि च रासः क्वचिदपि प्रभावश्चेत्येवं भवति जिनमार्गे बहुविधः ॥३०७

कुर्वन्ति धर्मश्रवणं यतात्मानो ये श्रावकास्ते न भ्रमन्ति संसृतौ ।
इति स्वरूपं यदिह प्रवर्तते प्रपूर्वकं तद्वचनं समीह्यते ॥३०८

यः सु नमस्कारी यो रत्नत्रयपूजकः । सत्त्वानुकम्पी यो वात्सल्यं तन्यते ॥३०९

इति स्थिता षोडशभावनायां ये साधवश्चारुचरित्रभाजः ।
बध्नन्ति ते तीर्थंकरस्य गोत्रमायुस्तथा नाम च मुक्तिपन्थाः ॥३१०

सम्बन्धी भोग हैं, उनके परित्यागकी विधि करना चाहिए ॥३०२॥ एकाशन, उपवास, नियम, व्रत, शास्त्र पठन, शीत, उष्ण और चर्या आदि परिषह सहन करना आदि तप संयम-धारक पुरुषको अपनी आत्मशक्तिके अनुसार नित्य ही करना चाहिए। क्योंकि जो पुरुष अपनी शक्तिका लोप करता है अर्थात् उपवास, व्रत-धारण और तपश्चरण करनेमें शक्तिको छिपाता है, उनके करनेमें झूठी असमर्थता बतलाता है, वह भविष्यमें अतीव कष्टोंको प्राप्त होता है ॥३०३॥ ज्ञानी पुरुषको भोजनमें, उपकरणमें, शयनमें, आसनमें, पादचार अर्थात् पैदल चलनेमें और उपसर्ग आनेपर समाधिसे युक्त होना चाहिए ॥३०४॥ अथवा सभी अवस्थाओंमें समाधि गुरु ही है अर्थात् गुरुके समान सन्मार्ग दिखानेवाली है, इसलिए ज्ञानीजनोंको दश प्रकारकी वैयावृत्त्य यथायोग्य करना चाहिए ॥३०५॥ जितेन्द्रिय पुरुषोंको जिनदेव, शास्त्र और गुरुमहात्माओंकी त्रियोगसे सेवा करनी चाहिए। तथा छह आवश्यकोंको ग्रहण करके उसका पालन करना चाहिए ॥३०६॥ कहींपर गीत-गायन हो, कहींपर वाद्य-वादन हो, कहींपर नृत्य-नर्तन हो, कहींपर शास्त्रोंका पठन-पाठन हो, कहींपर रसोंका त्याग किया जा रहा हो, कहींपर पूजा की जा रही हो, कहींपर जिन-स्नान (अभिषेक किया जा रहा हो) और कहींपर रास (धार्मिक नाटक) किया जा रहा हो, इस प्रकारसे जिन मार्गमें बहुविध प्रभावना होती है ॥३०७॥ जिनकी आत्मा संयत है ऐसे जो श्रावक धर्म-वचनोंका श्रवण करनेमें प्रयत्न करते हैं, वे संसारमें परिभ्रमण नहीं करते हैं। इस प्रकार उपसर्ग पूर्वक अर्थात् प्रकृष्ट वचन 'प्रवचन' कहे जाते हैं, यह प्रवचनका स्वरूप है। जो ऐसे प्रवचनमें प्रवर्तन करते हैं, उनके प्रवचन भक्ति कही जाती है ॥३०८॥ जो पंचपरमेष्ठियोंके चरणोंमें नित्य नमस्कार करता है, जो रत्नत्रयधर्मकी पूजा करता है और जो सर्व प्राणियोंपर अनुकम्पाभाव रखता है, उसके वात्सल्यभाव विस्तारको प्राप्त होता है ॥३०९॥ इस प्रकार सोलह भावनाओंमें सुन्दर (निरतिचार) चारित्रके धारक साधुजन स्थित होते हैं, वे तीर्थंकर नामकर्म, तीर्थंकरका गोत्र और तीर्थंकरकी आयुको बाँधते हैं। ऐसे जीव ही मुक्ति-पथके पथिक हैं और इस प्रकारका आचरण करना ही मोक्षमार्ग है ॥३१०॥ जो सर्वज्ञदेवका दर्शन नहीं करते हैं, न गुरुकी वन्दना करते हैं, न पात्र-दान देते है, न पंचनमस्कार मंत्ररूप अक्षरोंका साधन (जाप, ध्यान) करते हैं, न कोई सुकृत (पुण्य कार्य) करते हैं, न इष्ट शास्त्रोंका श्रवण करते हैं, न तत्त्वोंका अधिगम

सर्वज्ञानवलोकनं न च गुरुं नो पात्रदानस्थिति
र्नो पञ्चाक्षरसाधनं न सुकृतं शास्त्रेष्टनाकर्णनम् ।
नो भावाधिगमो न हर्षपदवी नो सज्जनाभ्यागति-
श्चेष्टा स्यादिति यस्य बालमरणं तद्वेदितव्यं बुधैः ॥३११
पुत्रा मित्रकलत्रबान्धवजना धान्यं धनं सम्पदा
क्षेत्रोद्यानतडागमन्दिरपुरं भोगोपभोगक्रिया ।
एतत्कस्य भविष्यतीति कथयन्मूर्च्छां प्रपन्नो भवेद्
यो ना तस्य तु बालबालमरणं सम्पद्यते नान्यथा ॥३१२
मिथ्यात्वाभिमतं कषायपटलं मोहानुरागेरितं
हित्वा भोगकलत्रसम्पदमितं पञ्चा ौख्यं तथा ।
सम्यक्त्वं विदधाति दोषरहितं यो मानसे शर्मदं
तस्यागच्छति पण्डितोत्थमरणं सर्वज्ञसेवाङ्कितम् ॥३१३
संसारव्यवहारभञ्जनकरं मोक्षस्वरूपप्रदं
तुर्यध्यानविलीनचित्तगमनं पापेभपञ्चाननम् ।
लब्ध्वाऽनन्तचतुष्टयं शिवपदं निभं शाश्वतं
नित्यं पण्डितपण्डितोत्थमरणं पुंसो हि सम्पद्यते ॥३१४
देवो दोषविनिर्मुक्तस्तद्वाक्यं हिंसनोज्झितम् । निर्ग्रन्था यत्र गुरवस्तत्र सम्यक्त्वलक्षणम् ॥३१५
नैसर्गिकं स्वभावोत्थमपरं चोपदेशनम् । द्वयोर्नाम न यस्यास्ति मिथ्यात्वं तत्र संभवेत् ॥३१६

(परिज्ञान) करते हैं, न हर्ष-पदवी धारण करते हैं, न सज्जनोंका आदर-सत्कार करते हैं, ऐसी चेष्टा जिस जीवकी होती है ज्ञानीजनोंको उसका बालमरण जानना चाहिए ॥३११॥ मेरे ये पुत्र, मित्र, स्त्री, बान्धवजन, धन, धान्य, सम्पदा, खेत, उद्यान, तालाब, मन्दिर, नगर और भोग-उपभोग क्रियाके साधन; ये सब कल किसके हो जावेंगे ? ऐसा कहता हुआ जो पुरुष मूर्च्छाको प्राप्त होता है, उसके बाल-बालमरण प्राप्त होता है, यह बात अन्यथा नहीं है ॥३१२॥ जो मिथ्यात्वसे संयुक्त, मोह और अनुरागसे प्रेरित कषाय-पटलको छोड़कर तथा भोगोपभोगरूप स्त्री-सम्पत्ति और पाँचों इन्द्रियोंके सुखका त्यागकर अपने मानसमें शाश्वत सुखदायी दोष-रहित निर्मल सम्यक्त्वको धारण करता है, उसको सर्वज्ञसेवासे युक्त पंडितमरण प्राप्त होता है ॥३१३॥ संसारके व्यवहारका भंजन करनेवाला, मोक्षके स्वरूपको देनेवाला, पापरूपी हाथीका मर्दन करनेके लिए पंचानन (सिंह)के सदृश, चौथे शुक्लध्यानके द्वारा चित्तके गमनरूप चंचलताको विलीन करनेवाला, अनन्त-चतुष्टयका लाभ कराके शाश्वत नित्य शिवपदको प्राप्त करानेवाला पंडितपंडितमरण केवलज्ञानी पुरुषको प्राप्त होता है। भावार्थ—बालबालमरण महामिथ्यात्वी पुरुषोंके, बालमरण भद्रप्रकृतिके और अविरतसम्यक्त्वी जीवोंके, बाल-पंडितमरण देशव्रती गृहस्थोंके, पंडितमरण संयमी मुनिजनोंके और पंडितपंडितमरण केवलज्ञानियोंके होता है ॥३१४॥ जो सर्व दोषोंसे रहित देव होते हैं, उनके वाक्य ही हिंसासे रहित होते हैं और सर्वपरिग्रहसे रहित ही सच्चे गुरु हैं, जिस पुरुषमें ऐसा दृढ़ श्रद्धान है, वहींपर सम्यक्त्वका लक्षण समझना चाहिए ॥३१५॥ जिसके स्वभावसे उत्पन्न होने-वाला नैसर्गिक और गुरु आदिके उपदेशसे प्राप्त होनेवाला दूसरा अधिगमजसम्यक्त्व, ये दोनों ही नहीं हैं, वहाँपर मिथ्यात्व ही सम्भव होगा ॥३१६॥ अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्टय और तीन प्रकार

चतुष्टयं कषायस्य मिथ्यात्वस्य त्रयं तथा । एषां प्रशमनं यत्र तत्रौपशमिकं भवेत् ॥३१७
सप्तप्रकृतिसंस्थाने निर्णाशो यत्र दृश्यते । क्षायिकं तत्र वि` ´ सम्यक्त्वं जिननायकैः ॥३१८
रसप्रकृतिनिर्णाशे तिष्ठते यत्र केवलम् । क्षायोपशमिकं प्रोक्तं सम्यक्त्वं व्रतधार्मिकैः ॥३१९
जिनाज्ञा जिनमार्गो जिनसूत्रं जैनशास्त्रविस्तारः । जैनागमसकलार्थो जैननमस्कारबीजानि ॥३२०
गुरुपादमूलसंभवमवगाढं जायते तरां पुंसि । जिनचरणमूलसन्निधिजातं परमावगाढं च ॥३२१
समस्तकर्मनिर्णाशः संक्षेपः कथितो जिनैः । लोकसम्बोधनायासोज्जिनधर्मोपदेशना ॥३२२
इत्थं षोडशभेदेन सम्यक्त्वं यस्य वर्तते । चित्ते विचारसंयुक्तो तस्य मोक्षपदं भवेत् ॥३२३
तस्मै निःशङ्किताङ्गाय नमस्कारोऽस्तु नित्यशः । येन स्वर्णाचलं नीतो मन्त्रादञ्जनतस्करः ॥३२४
तस्मै निःकांक्षिताङ्गाय नमस्कारोऽस्तु नित्यशः । येनानन्तमती चक्रे शीलव्रतविभूषिता ॥३२५
तस्मै निर्विचिकित्सायै नमस्कारोऽस्तु नित्यशः । ययोद्दायनभूपालः प्रसिद्धो भुवने कृतः ॥३२६
तस्मै चामूढनेत्राय नमस्कारोऽस्तु नित्यशः । यस्मान्नैव परित्यक्ता रेवत्या निश्चया रुचिः ॥३२७
दोषोपगूहनाङ्गाय नमस्कारोऽस्तु नित्यशः । जिनेन्द्रभक्तवद्ये न नान्यगुह्यं प्रकाशितम् ॥३२८
स्वस्थितीकरणाङ्गाय नमस्कारोऽस्तु नित्यशः । स्वस्थाः प्राणिगणा येन संजाता वारिषेणवत् ॥३२९

का मिथ्यात्व (दर्शनमोह) इन सातका उपशमन हो, वहाँ औपशमिक सम्यक्त्व होता है ॥३१७॥ उक्त सातों प्रकृतियोंका आत्यन्तिक विनाश (क्षय) दृष्टिगोचर हो, वहाँपर जिन-नायकोंसे कहा गया क्षायिकसम्यक्त्व जानना चाहिए ॥३१८॥ रस अर्थात् छह प्रकृतियोंके (अनन्तानुबन्धि, कषाय चतुष्क, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वके) विनाश हो जानेपर (और एक सम्यक्त्वप्रकृतिके उदय रहनेपर) जो सम्यक्त्व रहता है, उसे व्रती धार्मिकजनोंने क्षायोपशमिक सम्यक्त्व[1] कहा है ॥३१९॥ जिनदेवकी आज्ञाका श्रद्धान (आज्ञासम्यक्त्व) जिनमार्गपर चलना (मार्गसम्यक्त्व) जिनसूत्र (सूत्र-सम्यक्त्व) जैनशास्त्रोंका विस्तार (विस्तारसम्यक्त्व) जैनागमसकलार्थ (अर्थसम्यक्त्व) जैननमस्कार (संक्षेपसम्यक्त्व) बीजपदरूप (बीजसम्यक्त्व) गुरुके पादमूलमें उत्पन्न (समुद्भव या सम्भवसम्यक्त्व) अत्यन्त गाढ़ श्रद्धान (अवगाढ़सम्यक्त्व) और जिनेन्द्रके चरण-कमलोंके समीप होनेवाला परमाव-गाढ़सम्यक्त्व पुरुषमें उत्पन्न होता है ॥३२०-३२१॥ समस्त कर्मोंके विनाशरूप संक्षेप सम्यक्त्व जिनभगवान्ने कहा है। लोगोंके सम्बोधनके लिए जिनधर्मका उपदेश करना उपदेशसम्यक्त्व है। इस प्रकार सोलह भेदरूप सम्यक्त्व जिसके चित्तमें रहता है, वह सद्-विचारसे युक्त जीव है और उसको मोक्षपद प्राप्त होता है ॥३२२-३२३॥ उस निःशङ्कित अंगको मेरा नित्य नमस्कार हो, जिसके द्वारा अंजनचोर मंत्रजापसे सुमेरु पर्वतपर ले जाया गया ॥३२४॥ उस निःकांक्षित अंगको मेरा नित्य नमस्कार हो, जिसके द्वारा शीलव्रतसे विभूषित अनन्तमती जगत्में प्रसिद्ध हुई ॥३२५॥ उस निर्विचिकित्सा अंगके लिए मेरा नित्य नमस्कार हो जिसके द्वारा उद्दायन राजा संसारमें प्रसिद्ध हुआ ॥३२६॥ उस अमूढ़दृष्टि अंगको मेरा नित्य नमस्कार हो, जिससे रेवती रानीके द्वारा निश्चय रुचि (श्रद्धा) नहीं छोड़ी गई ॥३२७॥ दोषोंके उपगूहन करनेवाले अंगको मेरा नित्य नमस्कार हो, जिसके द्वारा जिनेन्द्रभक्त सेठके समान अन्यकी गुप्त बात नहीं प्रकाशित की जाती है ॥३२८॥ उस स्वस्थितीकरण अंगको मेरा नित्य नमस्कार हो, जिसके द्वारा प्राणिगण वारिषेणके समान

१. वस्तुतः यह लक्षण कृतकृत्य वेदक सम्यक्त्व का है।—अनुवादक

तस्मै वात्सल्यकाङ्गाय नमस्कारोऽस्तु नित्यशः । येनोपकरणं दध्रे लोके विष्णुकुमारवत् ॥३३०
प्रभावनाङ्गाय नमस्कारोऽस्तु नित्यशः । येन प्रभावना नीता जैनी वज्रकुमारवत् ॥३३१
एवमष्टाङ्गसम्यक्त्वं पूजयन्ति त्रिधापि ये । तेषां निरञ्जनस्थानं जायते नात्र संशयः ॥३३२

यस्याक्षरज्ञानमथार्थलक्षं द्वयं तदेवास्ति मतिप्रगल्भा ।
अनालसो वाऽध्ययनं च काले गुरोरलोपो नियमप्रसंगः ॥३३३
इत्यष्टकं तस्य फलप्रदं स्यात्सम्यक् प्रबोधस्य शिवप्रदस्य ।
सम्यक् प्रवृत्तं हृदि यस्य वृत्तं मोक्षायनं तस्य भवेद्विशेषतः ॥३३४

ङ्गदर्शनं सम्यग् यस्य चित्ते न विद्यते । ज्ञानं चारित्रसंयुक्तं जातं तस्य निरर्थकम् ॥३३५
पञ्चमहाव्रतयुक्तं त्रिगुप्तिगुप्तं च समिति म्पन्नम् । सम्यग्दर्शनरहितं निरर्थकं जायते वृत्तम् ॥३३६
यथा राज्ञा विनाऽऽदेशो न राजति धरातले । तथा श्रद्धाविनिर्मुक्तो न व्रती भाति शासने ॥३३७
आहारौषधताम्बूलपानीयपरिवर्जनम् । चतुर्विधं हि संन्यासं यो स व्रजेद्दिवम् ॥३३८

तत्रस्थो मुनिनायकस्य वचनैर्जानाति लोकत्रयीं
पाताले नरकस्य दुःखमतुलं स्वर्गेऽमराणां सुखम् ।
द्वीपेऽर्धत्रितये जनाभिगमने पाथोधियुग्माङ्किते
जीवानां दशपञ्चकर्मवसुधा-धर्मक्रियामक्रियाम् ॥३३९

धर्माधर्मविवक्षामवगच्छति पापपुण्यसन्नीताम् । सुखदुः विभागां शुभाशुभप्रेरणप्रथिताम् ॥३४०

स्वधर्ममें स्थित कराये जाते हैं ॥३२९॥ उस वात्सल्य अंगको मेरा नित्य नमस्कार हो, जिसके द्वारा विष्णुकुमार मुनिके समान लोकमें उपकार किया जाता है ॥३३०॥ उस प्रभावना अंगके लिए मेरा नित्य नमस्कार हो, जिसके द्वारा वज्रकुमार मुनिके समान जैनधर्मकी प्रभावना की गई ॥३३१॥ इस प्रकार अष्टाङ्ग सम्यक्त्वको जो मनुष्य त्रियोगसे पूजते हैं, वे निरंजन स्थानको प्राप्त होते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥३३२॥ जिसके आगमके अक्षरोंका ज्ञान है, जिसके अक्षर और अर्थ दोनोंका ज्ञान है, जिसके बुद्धिकी अधिकता है, जिनके शास्त्रोंके पठन-पाठनमें आलस नहीं है, जो स्वाध्यायके कालमें अध्ययन करता है, गुरुके नामका लोप नहीं करता और जो निह्नवसे रहित है। ये आठ ज्ञानाचार जिसके हृदयमें नित्य शिवपद-दाता सम्यग्ज्ञान प्रकाशित है, उसको सुफल दाता हैं। इसी प्रकार जिसके हृदयमें सम्यक् प्रकारसे प्रवृत्त (आचारित) चारित्र है, उसका विशेष रूपसे मोक्ष-गमन होता है ॥३३३-३३४॥ जिसके चित्तमें अष्टाङ्ग सम्यग्दर्शन विद्यमान नहीं है, उसका चारित्र-संयुक्त उत्पन्न हुआ ज्ञान निरर्थक है ॥३३५॥ चारित्र पाँच महाव्रतोंसे संयुक्त हो, तीन गुप्तियोंसे सुगुप्त भी हो और पांच समितियोंसे सम्पन्न भी हो, फिर भी यदि वह सम्यग्दर्शनसे रहित है तो वह निरर्थक होता है ॥३३६॥ जैसे महीतलपर राजाके विना उसका आदेश शोभा नहीं पाता है, उसी प्रकार जिनशासनमें श्रद्धानसे रहित व्रती पुरुष भी शोभा नहीं पाता है॥३३७॥ जो पुरुष आहार, औषध, ताम्बूल और पानीके त्याग रूप चार प्रकारका संन्यास धारण करता है, वह स्वर्ग जाता है ॥३३८॥ उस स्वर्गमें रहता हुआ वह जिनेन्द्रदेवके वचनोंसे तीनों लोकोंको जानता है, पाताल लोकमें नरकके अतुल दुःखको और स्वर्ग-लोकमें देवोंके सुखको जानता है, तथा मनुष्योंके गमन योग्य दो समुद्रोंसे युक्त अढ़ाई द्वीपमें, रहने वाले पन्द्रह कर्मभूमियोंके जीवोंकी धार्मिक क्रिया और अक्रियाकी, धर्म-अधर्मकी विवक्षाको, पाप-पुण्यकी क्रियाओंको, सुख-दुःखके संविभागको और शुभ-अशुभकी प्रेरणासे की जाने वाली क्रियाको जानता है ॥३३९-३४०॥

धर्मेण राज्यं विभवः कलत्रं धर्मेण सौख्यं न्यवृद्धिः।
धर्मेण पुत्राः सुहृदश्च मित्रा धर्मेण विद्यागमनं न विघ्नः ॥३४१
ण सप्तक्षणसौधभूमिर्धर्मेण जननी समोहा।
धर्मेण विभु चातुरङ्गं ध ाङ्गहरी प्रिया च ॥३४२
धर्मेण विज्ञानकला ग्रा धर्मेण भोगो वि च गोत्रम्।
ण भृत्या बलपूरिताङ्गा ण वस्त्राणि मनोहराणि ॥३४३
धर्मेण गेहं वनराजिपूर्णं धर्मेण शय्यासनकामलीला।
धर्मेण विद्वज्जनसाधुगोष्ठी ण कीर्त्तिः दा जगत्सु ॥३४४
धर्मेण रत्नानि सुवर्णवन्ति ण नीरोगमयं वपुश्च।
धर्मेण पात्रोपरि चिन्ता धर्मेण शीलव्रतसत्यशौ ॥३४५
ण देवेन्द्रपदं गरिष्ठं धर्मेण कन्दर्पसमं च रूपम्।
धर्मेण पूजा गुणगौरवं स्याद् धर्मेण लोकत्रितये विशुद्धिः ॥३४६

यानि यानि मनोज्ञानि वस्तूनि भुवनत्रये। दृश्यन्ते तानि तानीह सम्पद्यन्ते सुधर्मतः ॥३४७

पापेन गेहं बहुः जर्जरं पापेन रोगालपितं कलेवरम्।
पापेन पुत्राश्चिरजन्मवैरिणो भवन्ति पापेन तथा म्बिनः ॥३४८

नित्यं दुःखसमाश्रयो न च सुखं चित्तक्षयो नेन्दिरा भार्या दो तान्विता कटुकवाग्वेश्येव दुश्चारिणी
पुत्री त्यक्तपरा रिपोः परिभवो दैन्यं च दौर्भाग्यता दारिद्रयं मलसंचयो व्यसनिता संपद्यते पापतः॥३४९

धर्मसे राज्य-वैभव और सुन्दर स्त्री प्राप्त होती है, धर्मसे सौख्य, धन और धान्यकी वृद्धि होती है, धर्मसे पुत्र, सुहृद् और मित्र प्राप्त होते हैं, धर्मसे विद्याओंका ज्ञान प्राप्त होता है और किसी भी कार्यमें विघ्न नहीं आता है ॥३४१॥ धर्मसे सात खण्ड वाले राजमहलोंमें निवास प्राप्त होता है। धर्मसे रक्षक पिता और ममतामयी जननी प्राप्त होती है। धर्मसे चतुरंग विशाल सेना मिलती है और धर्मसे पाँचों अंगोंको आनन्द देनेवाली प्रिया प्राप्त होती है ॥३४२॥ धर्मसे सम्पूर्ण विज्ञान कथाएँ प्राप्त होती हैं, धर्मसे उत्तम भोग और विशाल एवं निर्मल गोत्र प्राप्त होता है। धर्मसे बल-वीर्यसे भर-पूर अंग वाले नौकर मिलते हैं, और धर्मसे मनोहर वस्त्र प्राप्त होते हैं ॥३४३॥ धर्मसे वनराजिसे परिपूर्ण गृह प्राप्त होता है, धर्मसे शय्या और आसन और उनपर काम लीला प्राप्त होती है। धर्मसे विद्वज्जनों और साधुओंकी गोष्ठी मिलती है, धर्मसे संसारमें निर्मल कीर्त्ति फैलती है ॥३४४॥ धर्मसे उत्तम वर्ण वाले रत्न प्राप्त होते हैं और धर्मसे रोग रहित नीरोग शरीर प्राप्त होता है। धर्मसे पात्रोंको दान देनेका विचार आता है, धर्मसे शील, व्रत, सत्य और शौच प्राप्त होते हैं॥३४५॥ धर्मसे गरिमामय देवेन्द्र पद प्राप्त होता है, धर्मसे कामदेवके समान सुन्दर रूप मिलता है, धर्मसे संसारमें पूजा प्राप्त होती है और गुणोंका गौरव होता है, तथा धर्मसे तीनों लोकोंमें विशुद्धि प्राप्त होती है ॥३४६॥ तीनों लोकोंमें जो जो मनोज्ञ वस्तुएँ दिखाई देती हैं, वे सब इस लोकमें सुधर्मसे प्राप्त होती हैं ॥३४७॥

पापसे अनेक छिद्रोंसे जर्जरित गृह प्राप्त होता है, पापसे रोगग्रसित शरीर मिलता है, पापसे चिरकाल तक वैर रखनेवाले पुत्र होते हैं और पापसे कुटुम्बी वैरी होते हैं ॥३४८॥ पापके उदयसे सदा ही दुःख आते रहते हैं, क्षणभर भी सुख नहीं मिलता, चित्तका क्षय हो जाता है, लक्ष्मी नहीं मिलती है, स्त्री सैकड़ों दोषोंसे युक्त, कटुभाषिणी, और वेश्याके समान दुराचारिणी मिलती है, पुत्री पतिको छोड़नेवाली पैदा होती है, दीनता, दुर्भाग्यता, दरिद्रता, व्यसनिता

दौर्जन्यं सह सज्जनेन कलहो विद्वज्जनैः स्यात्समं
वस्त्रं जीर्णमलं कलङ्कमलिनं चित्तं कुविद्यामयम्।
नो हर्षो न च भोजनं न च गुणो भोगो न शय्या न च
स्नानं नो न कला न तोषवचनं पुंसो हि पापस्थितेः ॥३५०

कीर्त्तिर्नाम गुणा यशः परिजना लक्ष्मीर्धनं धान्यता शास्त्रं सज्जनता परोपकरणं देवार्चनं सत्क्रिया।
प्रीतिर्भोगसुखं गुरुप्रणमनं दानं कृपा संयमः एते तत्र न सम्भवन्ति रचिता पापेन यत्र स्थितिः ॥३५१
दुष्टत्वाद्विबुधापवादवचनैः स्त्रीबालगोहिंसनैरन्यन्यासविलोपनैरशमनैर्द्यूतादिसंसेवनैः।
दोषाणामतिजल्पनैः परिजनैः सत्यव्रतध्वंसनैर्मन्त्रोच्चाटनकल्पनैरनुदिनं पापं हि संजायते ॥३५२
यद्यद्वस्तु विरुद्धं तत्तत्सर्वं च पापतो भवति। इति विज्ञाय जिनेन्द्र-प्रोक्तो धर्मोऽत्र संसेव्यः ॥३५३

धर्मो न मिथ्यात्वसमुद्भवेन धर्मो न पञ्चोम्बरभक्षणेन।
धर्मो न तीर्थाम्बुधिगाहनेन धर्मो न पञ्चाग्निसुसाधनेन ॥३५४
धर्मो न गोपश्चिमभागनत्या धर्मो मकारत्रयतो न भाति।
न सागरस्नानजलेन धर्मो धर्मो न दृष्टो मधुपानतोऽत्र ॥३५५
धर्मो न मोहक्रियया हुताशाद् धर्मो न वीरस्य कथाप्रबन्धैः।
कुपात्रदानेन कदा न धर्मो धर्मो न रात्रौ कृतभोजनेन ॥३५६

और मलमूत्रकी अधिकता भी पापसे ही होती है ॥३४९॥ पापकी स्थितिमें दुर्जनता, सज्जनोंके साथ कलह, विद्वज्जनोंके साथ विद्रोह, जीर्णमलिन वस्त्र और कुविद्यायुक्त चित्त, प्राप्त होता है। पापके उदयसे न मनमें हर्ष होता है, न भोजन मिलता है, न गुण प्राप्त होते हैं, न भोग मिलते हैं, न सोनेको शय्या मिलती है, न स्नान करना ही सुलभ होता है, न कलायें प्राप्त होती हैं और न सन्तोषकारक वचन श्रवण ही प्राप्त होता है ॥३५०॥ जहाँ पापरचित स्थिति होती है, वहाँ कीर्त्ति, नाम-प्रसिद्धि, सद्-गुण, यश, परिजन, लक्ष्मी, धन-धान्य, शास्त्र-ज्ञान, सज्जनता, परोपकार करना, देव-पूजन करना, अन्य सत्-क्रियायें करना, प्रीति, भोग-सुख, गुरु-वन्दना, दान, दया और संयम, ये सब कुछ वहाँ संभव नहीं हैं ॥३५१॥ स्वभावकी दुष्टतासे, विद्वानोंके अपवाद-कारक वचन बोलनेसे, स्त्री, बालक और गौकी हत्या करनेसे, दूसरोंकी धरोहरोंको विलोप करनेसे, शम-भाव नहीं रखनेसे, अर्थात् क्रोधादि कषायरूप प्रवृत्तिसे, द्यूत आदि व्यसनोंके सेवनसे, दूसरोंके दोषोंको अधिक बोलनेसे, परिजनोंके साथ सत्यव्रतका विध्वंस करनेसे, और मंत्रोंके द्वारा दूसरोंका उच्चाटन करनेसे प्रतिदिन पापका संचय होता है ॥३५२॥ संसार में जो जो वस्तु अपनेको प्रतिकूल प्राप्त होती है, वह सब पापसे होती है, ऐसा जानकर इस लोकमें जिनेन्द्रभाषित धर्मका सेवन करना चाहिए ॥३५३॥

मिथ्यात्वके बढ़ानेसे धर्म नहीं होता, पंच उदुम्बर फलोंके भक्षण करनेसे भी धर्म नहीं होता, तीर्थों (गंगादिके घाटों) पर तथा समुद्रमें अवगाहन करनेसे धर्म नहीं होता, पंचाग्नि तप करनेसे भी धर्म नहीं होता, गायके पिछले भागको नमस्कार करनेसे धर्म नहीं होता, मद्य, मांस और मधु इन तीन मकारोंके सेवनसे धर्म नहीं होता, सागरके जलसे स्नान करनेपर धर्म नहीं होता और न इस लोकमें मधु-पानसे धर्म देखा जाता है ॥३५४-३५५॥ मोहवाली क्रिया करनेसे धर्म नहीं होता, अग्निमें हवन करनेसे धर्म नहीं होता, वीर पुरुषोंकी कथायें कहनेसे धर्म नहीं होता, कुपात्रोंको दान देनेसे कदापि धर्म नहीं होता और रात्रिमें भोजन करनेसे धर्म नहीं होता ॥३५६॥

धर्मो न यज्ञे हतजीववृन्दे कुशासने धर्मपदं न दृष्टम् ।
श्राद्धे ग ां न च धर्मभावो धर्मो न दि त्रदानात् ॥३५७
गो- पाणिग्रहणे न धर्मो युक्तो न तीर्थास्थिनिपातनेन ।
गुडघृतोपस्कृतधेनुदानैरनेकधा पिप्पलपूजनैश्च ॥३५८
अनेन मिथ्यात्वपरिग्रहेण धर्मेण जीवो लभते न सिद्धिम् ।
धर्मो भवेज्जैन ैकबुद्धया धर्मो भवेद् द्वन्द्वविनाशनेन ।
रत्नत्रयाराधनतोऽस्ति धर्मो धर्मो भवेद्दानचतुर्विधाङ्गैः ॥३६०
धर्मो भवेत्पञ्चमहाव्रतेन ः षडावश्यकपालनेन ।
धर्मो भवेल्लक्षितसप्ततत्त्वाद र्मो भवेत्सिद्धगुणाष्टकेन ॥३६१
नवप्रकारस्मररोधनेन धर्मो भवेद् धर्मदशाङ्गभावात् ।
एकादशाभिः प्रतिमाभियोगैर्धर्मो भवेद् द्वादशभिस्तपोभिः ॥३६२
चारित्रभेदात्त्रिद ाराद् धर्मो भवेत्पूर्वचतुर्दशाङ्गात् ।
धर्मो भवेत्पञ्चदशप्रमाद-प्रध्वंसनात्षोडशभावनातः ॥३६३
धर्मो भवेज्जीवदयागमेन धर्मो भवेत्संयमधारणेन ।
धर्मो भवेद्दोषनिवारणेन धर्मो भवेत्संज्जनसेवनेन ॥३६४
जिनस्य शास्त्रस्य गुरोः सदैव पूजासमभ्यासपदप्रणामैः ।
शुश्रूषया साधुजनस्य नित्यं धर्मो भवेच्चारुविशुद्धभावैः ॥३६५

यज्ञमें जीव-समूहके हवन करनेसे धर्म नहीं होता, कुशासन (मिथ्यामत) में धर्मका एक पद भी नहीं देखा जाता, गयामें श्राद्ध करनेपर धर्म-भाव नहीं है और न मांस आदिके तथा स्त्रीके दानसे ही धर्म होता है ॥३५७॥ गाय और साँड़का विवाह करानेसे धर्म नहीं होता, हरिद्वार आदि तीर्थोंपर अस्थि-विसर्जनसे धर्म नहीं होता गुड़-घृतसे सम्पन्न पकवानोंसे और गौदानसे धर्म नहीं होता, और अनेक प्रकारोंसे पीपल-पूजनके द्वारा धर्म नहीं होता है ॥३५८॥ इस प्रकार ऊपर कहे गये मिथ्यात्वके ग्रहण-रूप धर्मसे जीव सिद्धिको नहीं प्राप्त करता है। किन्तु जो मानव दश प्रकारके उज्ज्वल धर्मको धारण करते हैं वे मोक्षपद पाते हैं ॥३५९॥ एकमात्र जैनमत ही आत्म-कल्याणकारी है। ऐसी दृढ़ बुद्धिसे धर्म होता है, द्वन्द्व (कलह) का विनाश करनेसे धर्म होता है, रत्नत्रयकी आराधनासे धर्म होता है और चार प्रकारके दानोंको देनेसे धर्म होता है ॥३६०॥ पाँचों महाव्रतोंके पालनसे धर्म होता है, छह आवश्यकोंके पालनेसे धर्म होता है, सप्त तत्त्वोंके चिन्तन-मनन और श्रद्धानसे धर्म होता है, तथा सिद्धोंके आठ गुणोंका चिन्तन करनेसे धर्म होता है ॥३६१॥ नौ प्रकारके काम-वेगोंके निरोधसे और नौ शील-वाड़ोंके पालनसे धर्म होता है, धर्मके दशों अंगोंके धारणसे धर्म होता है, ग्यारह प्रतिमाओंके पालनसे धर्म होता है और बारह प्रकारके तपोंके आचरणसे धर्म होता है ॥३६२॥ तेरह प्रकारके चारित्रको पालन करनेसे धर्म होता है, चौदह पूर्वोका अभ्यास करनेसे धर्म होता है, पन्द्रह प्रमादोंका विध्वंस करनेसे धर्म होता है और सोलह कारण भावनाओंको भानेसे धर्म होता है ॥३६३॥ जीवदयाके करनेसे धर्म होता है, संयमके धारण करनेसे धर्म होता है, अपने दोषोंके निवारण करनेसे धर्म होता है और सज्जनोंकी सेवा करनेसे धर्म होता है ॥३६४॥ सदैव जिनेन्द्र देवकी पूजा करनेसे, शास्त्रका अभ्यास करनेसे और गुरुके चरणोंमें प्रणाम करनेसे धर्म होता है। साधुजनोंकी नित्य शुश्रूषा करनेसे और सुन्दर विशुद्ध

भवेद्दर्शनशुद्धिवृद्धया निशागमे भोजनवर्जनेन ।
सदाष्टधामूलगुणस्य भेदैर्निषिद्धयोगान्नवनीतलेह्यात् ॥३६६
धर्मोऽन्यनारी-धनवारणेन शिक्षागुणाणुव्रतपोषणेन ।
वै सत्यवाक्यप्रतिभाषणेन पात्रत्रयस्वीकरणान्नदानात् ॥३६७
यो जीवभक्षं न विभर्त्ति जीवं निजायुधं यो न ददाति कस्य ।
वर्षागमे यो गमनं न कुर्याद् धर्मो भवेत्तस्य दशप्रकारात् ॥३६८
निन्दाऽऽक्रोशो मर्मगालिश्चपेटपादाक्षेपो दुर्वचो दोषवादः ।
एतद्दुःखं सह्यते येन पुंसा तेन प्राप्तं चोत्तमं सत्क्षमाङ्गम् ॥३६९
कठोरं कष्टदं क्रूरं दुष्टं प्राणहरं वचः । यो न वदति धर्मिष्ठो मृदुता तस्य जायते ॥३७०
सरलमनाः सरलमतिः सरलो वचनेषु सरलपरिणामः ।
सकलं सरलं पश्यति तस्य भवेदार्जवो धर्मः ॥३७१
सत्येन वाक्यं वितनोति लोके सत्येन कार्याणि करोति नित्यम् ।
सत्यप्रभां यो विदधाति चित्ते सत्यव्रतं तस्य भवेत्सदैव ॥३७२
मनःशौचं वचःशौचं कायशौचं विभर्त्ति यः । तस्य शौचमयो धर्मो भवेज्जन्मनि जन्मनि ॥३७३
अथ निर्लोभता शौचं यस्य चित्ते   ति । श्लाघ्यस्त्रैलोक्यजीवानां स सुखी जायते तराम् ॥३७४
यः प्राणिषु दयां धत्ते संकोचयति यो मनः । यः पालयति नैर्मल्यं देवता स प्रजायते ॥३७५
तपो द्वादशभेदेन बाह्याभ्यन्तरदर्शनम् । विकारेन्द्रियनिर्मुक्तः संयमस्तस्य संभवेत् ॥३७६

भावोंसे धर्म होता है ॥३६५॥ सम्यग्दर्शनकी शुद्धि करनेसे, रात्रिके समय भोजन त्यागसे, सदा आठ मूल गुणोंके धारण करनेसे, तथा नवनीत आदि निषिद्ध लेह्य पदार्थोंके नहीं खानेसे धर्म होता है ॥३६६॥ पर-स्त्री और पर-धनके निवारणसे, अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंके पोषणसे, दूसरोंके प्रति सत्य भाषणसे और तीनों प्रकारके पात्रोंको पडिगाहन करके अन्नदान करनेसे धर्म होता है ॥३६७॥ जो जीवभक्षी बिल्ली आदि जीवको नहीं पालता है, अपने अस्त्र-शस्त्र आदि आयुध दूसरोंको नहीं देता है, वर्षाकालमें जो गमन नहीं करता है, उसके धर्म होता है और आगे वर्णन किये जानेवाले दश प्रकारोंसे धर्म होता है ॥३६८॥

जो पुरुष निन्दा, आक्रोश, मर्म-भेदी गाली, चपेटा (चपत, थप्पड़), पादाक्षेप (पैरोंकी ठोकर), दुर्वचन और दोषवाद इतने दुःखोंको सहन करता है वह उत्तम क्षमा रूप धर्मके प्रथम अंगको प्राप्त करता है ॥३६९॥ जो धर्म-निष्ठ व्यक्ति कठोर, कष्ट-दायक, क्रूर, दुष्ट, और प्राण-हारक वचन नहीं बोलता है उसके मृदुता अर्थात् मार्दवधर्म होता है ॥३७०॥ जो सरल चित्त है, सरल बुद्धि है, सरल (मायाचारसे रहित) है, जिसके वचनोंमें सरल परिणाम है और जो सबको सरल देखता है, उसके आर्जव धर्म होता है ॥३७१॥ जो लोकमें सत्य वाक्य बोलता है, जो नित्य ही सर्व कार्योंको सचाईसे करता है, जो अपने हृदयमें सत्यकी प्रभाको धारण करता है, उसके ही सदा सत्य व्रत होता है ॥३७२॥ जो मनकी शुचिता (पवित्रता), वचनकी शुचिता रखता है, उसके जन्म-जन्ममें शौचमयी धर्म होता है ॥३७३॥ तथा जिसके चित्तमें निर्लोभता रूप शौचधर्म प्रवर्तता है, वह त्रैलोक्यके जीवोंका प्रशंसापात्र होकर अत्यन्त सुखी होता है ॥३७४॥ जो सर्वप्राणियोंपर दया रखता है, जो अपने मनको संकुचित रखता है अर्थात् इधर-उधर भटकने नहीं देता है और जो निर्मलताको पालन करता है, वह देवता होता है ॥३७५॥ जो बाह्य आभ्यन्तर रूप बारह प्रकारके

द्रव्यानुसारेण ददाति दानं पात्रेषु शीलस्थितमानसेषु ।
यो भावतो जैनमतानुरागी स त्यागधर्मा कथितो जिनेन्द्रैः ॥३७७

मनोवाञ्छि नां सर्वथा त्यागमाश्रयेत् । यः को नियमयुक्तानां तस्य त्यागव्रतं भवेत् ॥३ ८
किं करिष्याम्यहं कस्य कोऽहं कीटकमात्रतः । इति भावयतः पुंसोऽकिञ्चनत्वं विधीयते ॥३७९

ीययोषेङ्गितचित्तवृत्ति कृत्वा परस्त्रीषु च सन्निवृत्तिम् ।
योऽहर्निशं वाञ्छति जैनसूत्रं स्याद् ब्रह्मचर्यं ननु तस्य धर्मः ॥३८

जीवो नास्तीति मन्यन्ते चार्वाकमतवेदिनः । स चेदस्ति ततो लोके प्रत्यक्षः किं न दृश्यते ॥३८१
जीवो न वीक्ष्यते क्वापि पुण्यपापक्रिया कुतः । नास्ति ग्रामः कुतो मेरुर्नास्ति क्षेत्रं कुतोऽन्नता ॥३८२
धूमाकारं जगत्सर्वमधोमध्योर्ध्वता कुतः । पापं न स्फुरणं चेदं गते तत्र कुतो जनः ॥३८३
जीवोऽस्तीति प्रभाषन्ते नैयायि ताश्रिताः । गर्भादिमरणान्तेनास्तित्वं जीवे निरूपितम् ॥३८४
पिष्टोदकगुडैर्धातक्यैः शक्तिर्मद्यस्य जायते । यथा तथा सहोद्भूतमेतेभ्यो जीवजन्मता ॥३८५
गतेषु तेष्वभिन्नत्वाज्जीवाभावो निरीक्ष्यते । इन्धने क्षीयमाणे हि न तिष्ठति हु नः ॥३८६
जीवपुद्गलयोरैक्यं ि त्वं नैव कल्प्यते । यथा पुष्पे सुगन्धत्वं पृथग् न च ॥३८७

तपको पालता है, उसके तपोधर्म होता है । जो इन्द्रियोंके विकारसे विनिर्मुक्त है, उसके संयमधर्म होता है ॥३७६॥ जिनके मनमें शीलधर्म स्थित है, ऐसे पात्रोंमें जो अपने द्रव्यके अनुसार दान देता है, और जो भावोंसे जैनमतका अनुरागी है, उसे जिनेन्द्रदेवोंने त्याग धर्म वाला कहा है ॥३७७॥ जो कोई मनुष्य नियमयुक्त मनोवांछित वस्तुओंका सर्वथा त्याग करता है, उसके त्यागधर्म होता है । ॥३७८॥ 'मैं किसका क्या करूँगा, कीटकमात्रसे अधिक मैं कौन हूँ', इस प्रकारकी भावना करनेवाले पुरुषके आकिंचन्य धर्म पालन किया जाता है ॥३७९॥ अपनी स्त्रीमें अपनी मनोवृत्तिको सीमित करके और परस्त्रियोंमें सत्य निवृत्तिको करके जो रात-दिन जैनसूत्रके पठन-पाठनकी इच्छा करता है निश्चयसे उसके ब्रह्मचर्य धर्म होता है ॥३८०॥

जीव नहीं है, ऐसा चार्वाक मतके जानकार मानते हैं। वे कहते हैं कि यदि जीव है तो लोक में प्रत्यक्ष क्यों नहीं दिखाई देता है ॥३८१॥ जब कहींपर भी जीव दिखाई नहीं देता है, तब फिर पुण्य-पापकी क्रिया ही कहाँ संभव है ? जब ग्राम ही नहीं है, तब मेरु कहाँ संभव है । जब खेती ही नहीं है, तब अन्न कहाँसे पैदा हो सकता है ॥३८२॥ यह सर्वजगत् धूमके आकार है, फिर इसमें अधस्ता, मध्यता और ऊर्ध्वता कहाँसे हो सकती है । यहाँ पाप नामक कोई वस्तु नहीं है, यह सब स्फुरण (कम्पन या हलन-चलन) मात्र है, उस स्फुरणके विलीन हो जानेपर जीव कहाँ रहता है । ॥३८३॥ नैयायिक मतावलम्बी लोग 'जीव है' ऐसा कहते हैं, उन लोगोंने गर्भसे आदि लेकर मरण तक जीवका अस्तित्व निरूपण किया है ॥३८४॥ उन लोगोंका कहना है कि जैसे पीठी, जल, गुड़ और धातकी-पुष्पोंके संयोगमें मद्यकी शक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार इन पृथिवी आदि भूतोंसे जीवका जन्म हो जाता है ॥३८५॥ उन भूतोंके विनाश हो जानेपर उनसे अभिन्न होनेके कारण जीवका अभाव देखा जाता है अर्थात् भूतोंके विनाश होनेपर जीवका सद्भाव नहीं दिखाई देता । जैसे कि इन्धनके समाप्त हो जानेपर अग्निका कोई सद्भाव नहीं रहता है ॥३८६॥ जीव और पुद्गलमें एकता ही है, भिन्नता नहीं कल्पना की जा सकती है, जैसे कि पुष्पमें जो सुगन्धपना है, वह उनसे कभी भी पृथक् नहीं माना जा सकता ॥३८७॥ ईश्वरसे प्रेरित हुआ यह आत्मा तीनों

ईश्वरप्रेरितो ह्यात्मा त्रिलोकेषु प्रवर्तते । एकोऽपि नैकतां याति राजेव सरसि स्थितः ॥३८८
पापं पुण्यं सुखं दुःखं सिद्धस्थानं पुनर्भवः । पुनर्मोक्षं पुनर्जन्म सांखिनो मतमीदृशम् ॥३८९
क्षणिकत्वं जगद्विश्वं सर्वे भावा तथैव च । सन्तानमालिकां वत्ते सैवात्मा सौगते मते ॥३९०
कर्मप्रकृतिहेतुत्वाज्जीवो भुङ्क्ते निरन्तरम् । शुभाशुभमयं वस्तु स्वर्गे मोक्षे भवे स्थितः ॥३९१
आत्मप्रकृतिमापन्नो वैकुण्ठे गच्छति ध्रुवम् । जीवस्य कारणं कर्मकृतिर्जीवं न मुञ्चति ॥ ३९२
इयं च वैष्णवी माया भुवनत्रितये स्थिता । तस्याः कर्तृत्वहर्तृत्वं भट्टैरुक्तमिदं वचः ॥३९३
जैनेन्द्रवादिना प्रोक्तं यदि जीवो न विद्यते । ततस्त्वयाऽत्र जीवस्य नामोच्चारं कृतं कुतः ॥३९४
विद्यमानपदार्थानां केन नामानि लुप्यते । अविद्यमानवस्तूनां केन नामानि दीयते ॥३९५
जीवोऽस्त्यनादिसंशुद्धो दर्शनज्ञानसंयुतः । सकर्मा भवभावाढ्यो मुक्तकर्मा निरञ्जनः ॥३९६
तानि कर्माणि नश्यन्ति जैनव्रतनिरूपणात् । मन्त्रप्रभावतो याति सकलं हि विषद्वयम् ॥३९७
यदि जीवस्य नास्तित्वं त्रैलोक्ये सचराचरे । वादं कः कुरुतेऽस्माभिः सार्धं पापमते : ॥३९८
यथा धनेश्वरो गेहं परित्यज्य गृहान्तरम् । संगच्छति तथा जीवो देहाद्देहान्तरं व्रजेत् ॥३९९
यथा रथात्पृथग्भूतं तुरङ्गयुगलं भुवि । यथा चम्पकसौरभ्यं भिन्नं तैलेषु वीक्ष्यते ॥४००

लोकोंमें प्रवर्तता है, जैसे कि सरोवरमें प्रतिविम्ब रूपसे स्थित चन्द्रमा एक ही है, वह अनेकताको प्राप्त नहीं होता ॥३८८॥ पापके पश्चात् दुःख और उसके पश्चात् सुख, सिद्धस्थानके अनन्तर पुनर्भव और पुनर्भवके पश्चात् मोक्ष तथा मोक्षके पश्चात् पुनः जन्म, इस प्रकारसे सबका सदा चक्र चलता रहता है, ऐसा सांख्यका मत है ॥३८९॥ समस्त जगत् क्षणिक है, इसी प्रकार सभी पदार्थ क्षणिक हैं, वही सौगत (बौद्ध) मतमें, आत्मा है, उस क्षणसन्तानसे भिन्न कोई आत्मा नहीं है। ॥३९०॥ कर्म प्रकृतिके निमित्तसे जीव निरन्तर शुभ-अशुभ रूप वस्तुको स्वर्गमें, मोक्षमें और संसार में स्थित रहता हुआ भोगता है ॥३९१॥ यह जीव अपनी स्वाभाविक प्रकृतिको प्राप्त होकर निश्चयसे वैकुण्ठमें जाता है। जीवके परिभ्रमणका कारण यह कर्मप्रकृति है, वह कभी भी जीवको नहीं छोड़ती है ॥३९२॥ यह विष्णुकी माया तीन भुवनमें स्थित है, उसके ही जगत्का कर्तापना और संहारपना है, यह भट्टोंके द्वारा कहा गया वचन है ॥३९३॥ किन्तु जिनेन्द्रदेवके मतको माननेवाले जैनोंने कहा—यदि संसारमें जीव नहीं है, तो फिर तुमने यहाँ जीवके नामका उच्चारण कैसे किया ? ॥३९४॥ क्योंकि संसारमें विद्यमान पदार्थोंके नामोंका कौन लोप कर सकता है और अविद्यमान वस्तुओंके नाम कौन दे सकता है ॥३९५॥ दर्शन-ज्ञान-संयुक्त जीव अनादि-सिद्ध है, वह जब तक कर्मोंसे संयुक्त है, तब तक सांसारिक भावोंसे युक्त रहता है, और जब कर्मोंसे विमुक्त हो जाता है, तब निरंजन बन जाता है ॥३९६॥ वे कर्म जैनव्रतोंके आचरणसे विनष्ट हो जाते हैं, जैसे कि मंत्रके प्रभावसे वहिरंग सर्पादिका विष एवं अन्तरंग कर्मरूप विष नष्ट हो जाते हैं ॥३९७॥

जो लोग जीवका अस्तित्व नहीं मानते हैं उनको ललकारते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—हे पाप-बुद्धिशालिन्, यदि इस चराचर त्रैलोक्यमें तेरे मतानुसार जीवका अस्तित्व नहीं है तो फिर हमारे साथ वाद (शास्त्रार्थ) कौन करता है ॥३९८॥ देख, मैं जीवका अस्तित्व सिद्ध करता हूँ—जैसे कोई धनवान् पुरुष अपने एक घरको छोड़कर दूसरे घरमें जाता है, उसी प्रकार जीव भी एक देहसे दूसरी देहमें जाकर वहाँ निवास करने लगता है ॥३९९॥ अथवा जैसे रथको खींचने वाले अश्व-युगल संसारमें रथसे पृथक्भूत होते हैं और जैसे चम्पक पुष्पोंकी सुगन्धि तेलमें भिन्न देखी जाती है, तथा जैसे अंगिशलक (?) पक्षी स्थानका आश्रय करके चला जाता

यथाङ्गिशलके पक्षी स्थानमाश्रित्य गच्छति । तथात्मा पुद्गले धत्ते गमनागमनक्रियाम् ॥४०१
एतेन भूतसंयोगो भिन्नोऽभिन्नः प्रकल्पितः । जीवपुद्गलयोरैक्यं घटते न कदाचन ॥४०२
जीवो जिनागमे चान्यः पुद्गलोऽन्यः प्रकीर्त्तितः । तं पुद्गलं परं हित्वा जीवो मोक्षं प्रति व्रजेत् ॥४०३
यद्येक एव जीवः स्यात्समस्तभुवने ततः । एके दारिद्रमापन्ना अपरे सुखिनः कथम् ॥४०४
एके तिष्ठन्ति सन्मार्गे सेवन्तेऽन्ये कुमार्गकम् । एके स्त्रियोऽपरे षण्ढाः पुमांसोऽन्ये कुवादिनः ॥४०५
तस्माच्च बहवो जीवा जैनमार्गे निरूपिताः । त्रैलोक्यं जीवसम्पूर्णं मेरुकाण्डेन तद्गतिः ॥४०६
यदि स्यात्क्षणिको जीवो बौद्धमिथ्यात्वमोहिते । ततश्चिरन्तनां वार्तामवगच्छत्यसौ कथम् ॥४०७
वासना यदि जानाति ततः सा न विलीयते । भ्रान्तिर्यदि जगत्सर्वं ततो मद्यपचेष्टितम् ॥४०८
सौगता नावगच्छन्ति हेयाहेयं गुणागुणम् । धर्मान्तरमते लग्ना दुष्टा पापेन मोहिताः ॥४०९
सर्वसङ्गपरित्यागाद् ये तं पश्यन्ति योगिनः । जीवस्वरूपतां कल्पं ते जानन्ति निरन्तरम् ॥४१०
अहो मूर्खा न जानीयुर्जीवतत्त्वस्य लक्षणम् । भक्ष्याभक्ष्यं गमागम्यं कृत्याकृत्यं परापरम् ॥४११
उपयोगमयो जीवो भुक्तकर्मा तदर्जकः । स्यादमूर्तश्च पुमान् मुक्तकर्मा निरञ्जनः ॥४१२
जिनेश्वरमुखोत्पन्नं वाक्यं स्वर्गापवर्गदम् । मिथ्यात्वकन्ददलनं श्रूयतां भो कुवादिनः ॥४१३

है, उसी प्रकार यह आत्मा भी पुद्गलरूप शरीरमें गमन-आगमनरूप क्रियाको करता रहता है। ॥४००-४०१॥ इस विवेचनसे सिद्ध हो जाता है कि भूतोंका संयोग भिन्न है और उनसे आत्मा भिन्न है, जीव और पुद्गलकी एकता कभी भी घटित नहीं होती है ॥४०२॥ जैन आगममें जीव अन्य और पुद्गल अन्य कहा गया है। जीव इसपर पुद्गलको छोड़कर मोक्षके प्रति चला जाता है। ॥४०३॥ यदि समस्त संसारमें एक ही जीव होता, तो फिर कितने ही लोग दरिद्रताको प्राप्त और कितने ही दूसरे लोग सुखी कैसे दृष्टिगोचर होते हैं ॥४०४॥ कितने ही लोग सन्मार्गमें स्थित हैं और कितने ही दूसरे कुमार्गका सेवन करते हैं, कितने ही जीव स्त्रीके रूपमें दिखते हैं और कितने ही नपुंसकके रूपमें तथा कितने ही पुंवेदी दिखाई देते हैं, तथा कितने ही मिथ्यावादी दिखते हैं सो यह सब विभिन्नता क्यों दिखाई देती है ॥४०५॥ इस कारण जैनमार्गमें अनेक जीव निरूपण किये गये हैं। यह सारा ही त्रैलोक्य जीवोंसे भरा हुआ है और सुमेरुके मूलकांडसे उसकी गति मानी गई है ॥४०६॥ बौद्धोंके मिथ्यात्व-मोहित मतके अनुसार जीव क्षणिक (क्षण-विनश्वर) होता, तो फिर वह चिरकाल पुरानी बातको कैसे जान सकता है ॥४०७॥ यदि आप बौद्ध कहें कि पुरानी बातोंको वासना जानती है, तो फिर वह विलीन नहीं हो सकती। यदि आप कहें कि यह सारा जगत् भ्रान्तिरूप है, वास्तविक नहीं है, तो यह उनका कथन मद्य-पायी पुरुषकी चेष्टाके समान है ॥४०८॥ बौद्ध लोग हेय-आदेय और गुण-दोषको नहीं जानते हैं, धर्मान्तरके मतमें संलग्न लोग दुष्ट हैं और पापसे मोहित हैं ॥४०९॥ जो योगी-लोग हैं, वे सर्व संगके परित्यागसे उस जीवको देखते हैं, वे जीवसे यथार्थ स्वरूपको निरन्तर जानते हैं ॥४१०॥ अहो, ये अन्य मतावलम्बी मूर्ख लोग जीवतत्त्वके लक्षणको नहीं जानते हैं और न वे भक्ष्य-अभक्ष्यको, गम्य-अगम्यको, कर्तव्य-अकर्तव्य और भले-बुरे को ही जानते हैं ॥४११॥ जीवका स्वरूप—जीवज्ञान-दर्शन इन दो उपयोगमयी है, कर्मोंका उपार्जन करने वाला है और उनके फलको भी भोगनेवाला है, अमूर्त है और कर्मोंसे मुक्त होकर निरंजन अवस्थाको प्राप्त हो जाता है ॥४१२॥

हे कुवादियो, सुनो—जिनेश्वरके मुखसे उत्पन्न हुआ वाक्य स्वर्ग और मोक्षका देनेवाला है,

सकलो निःकलोऽतन्द्रो निश्चलो निरुपद्रवः : निरञ्जनो निरापेक्षो निरीहो निखिलप्रभुः ॥४१४
निर्व्यापारो निरास्वादो निष्कषायो निराश्रयः । निरालम्बो निराकारो निःशल्यो निर्भयात्मकः ॥४१५
निर्मोहो निर्मदो योगनिर्दोषो निर्मलस्थितिः । निर्द्वन्द्वो निर्गताभावो नीरागो निर्गुणाश्रयः ॥४१६
सिद्धो बुद्धो विचारज्ञो वीतरागो जिनेश्वरः । सम्यग्दर्शनशुद्धात्मा मुक्तिवध्वाऽभिगम्यते ॥४१७
एवं मिथ्यात्वसंस्थानं जितं येन महात्मना । तस्य पादद्वयं नत्वा जीवतत्त्वं निरूप्यते ॥४१८

शुभाशुभं कर्ममयं शरीरं विभुज्यते येन सचेतनेन ।
अनाद्यनन्तेन भवस्थितेन तज्जीवतत्त्वं कथितं जिनेन्द्रैः ॥४१९

शब्दादि विषया प्रपञ्चभावो न संस्थिता यत्र । तदजीवतत्त्वमाहुस्तत्त्वज्ञाश्चेतनारहितम् ॥४२०

कस्येयं रमणी गजेन्द्रगमिनी सौन्दर्यमुद्राङ्किनी मह्यं यच्छति मैथुनं यदि ततो मे संसृतिः सार्थिका ।
द्रव्यं तस्करभावतो यदि भवेद्भोगास्ततो वन्धुरा एवं कायवचोमनोनुकरणात्कर्मास्त्रवो जायते ॥४२१
दुर्ध्यानैः परनर्ममर्मकथनैः पापाङ्गिसंसेवनैश्चारित्रत्यजनैर्व्रतोप नैर्ब्रह्मव्रतध्वंसनैः ।
मिथ्यात्वाविरतिप्रमादविषयैर्योगैः कषायेन्द्रियैर्दोषैर्वन्धचतुष्टयेन सहितैर्वन्धो भवेत्कर्मणाम् ॥४२२

तथा मिथ्यात्वके मूलको दलन करने वाला है ॥४१३॥ जिनेश्वरदेव कैसे हैं ? सुनो—अरहन्त भगवान् सकल (शरीर-सहित) हैं और सिद्ध भगवन्त निःकल (शरीर-रहित) हैं, तद्रा-रहित हैं, निश्चल हैं, उपद्रव-रहित हैं, निरंजन हैं, निरापेक्ष हैं, निरीह (इच्छा-रहित) हैं, सर्वप्राणियोंके प्रभु हैं, व्यापार-रहित हैं, आस्वाद-रहित हैं, कषाय-रहित हैं, आश्रय-रहित हैं, आलम्बन-रहित हैं, आकार-रहित हैं, शल्य-रहित हैं, निर्भय-स्वरूप हैं, मोह-रहित हैं, मद-रहित हैं, योगोंके दोषसे रहित हैं, निर्मल स्थिति वाले हैं, द्वन्द्व-रहित हैं, अभाव-रहित हैं, राग-रहित हैं, निर्गुण आश्रय वाले हैं, सिद्ध हैं, वुद्ध हैं, विचारज्ञ हैं, वीतराग हैं, उनकीं आत्मा सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है और वे मुक्तिरूपी वधूके द्वारा अभिगम्य हैं। जिस महात्माने उक्त प्रकारके मिथ्यात्व-संस्थानको जीत लिया है, उसके दोनों चरणोंको नमस्कार करके अब जीवतत्त्व (आदि तत्त्वों) का निरूपण किया जाता है ॥४१४-४१८॥

जिस अनादि-अनन्त और भवस्थित सचेतन तत्त्वके द्वारा यह शुभ-अशुभ कर्ममयी शरीर भोगा जाता है, उसे ही जिनेन्द्र देवोंने जीवतत्त्व कहा है ॥४१९॥ जिसमें शब्द आदि पाँचों इन्द्रियों-के विषय नाना प्रकारके प्रपंच रूपसे अवस्थित हैं अर्थात् जिसमें शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श रूप पर्यायें पाई जाती हैं ऐसे चेतना-रहित मूर्त तत्त्वको तत्त्वोंके ज्ञाता पुरुष उसे अजीव-तत्त्व कहते हैं ॥४२०॥ यह गजेन्द्रगामिनी और सौन्दर्य-मुद्रासे अंकित रमणी किसकी है ? यदि यह मुझे मैथुन-सेवन करने दे तो मेरा संसार सार्थक हो जाय ? यदि धनादि द्रव्य कहीं चोरी करनेसे मुझे प्राप्त हो जाय तो सुन्दर भोगोंकी प्राप्ति सुलभ हो जाय ? इस प्रकारके मन वचन कायकी प्रवृत्ति करनेसे कर्मोंका आस्रव होता है। यह आस्रव तत्त्व है ॥४२१॥ आर्त्त-रौद्ररूप दुर्ध्यानोंसे, दूसरोंके कोमल मर्मस्थानोंके छेदन-भेदन करनेवाले वचनोंके बोलनेसे, पापी प्राणियोंके पालन-पोषणसे, अथवा पापके कारणोंका सेवन करनेसे, धारण किये हुए चारित्रको त्याग करनेसे, व्रतोंको उपशान्त (समाप्त) करनेसे, ब्रह्मचर्य व्रतका विध्वंस करनेसे, मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद-विषयक योग और कषायपरिणत इन्द्रियोंके विषय इन चार वन्धके कारणोंसे सहित नाना प्रकारके दोषोंसे कर्मोंका वन्ध होता है। (यह वन्धतत्त्व है) ॥४२२॥ जहाँ उपार्जित कर्म वृद्धिको प्राप्त न

उपार्जितं कर्म न वृद्धिमेति प्रदेशमन्यं कुरुते च कर्म ।
यत्रास्रवाणां क्रियते निरोधस्तं संवरं प्राहुर्जिनागमज्ञाः ॥४२३
गुप्तिव्रतसमितिभिरिन्द्रियरोधैः कषायनिग्रहणैः । यमसंयमनियमाङ्गैः संजातं कर्मनिर्जरणम् ॥४२४
अनुप्रेक्षातपोधर्मैः परीषहजयैस्तथा । सविपाकाविपाकाभ्यां जायते निर्जरा द्विधा ॥४२५
समस्तकर्मनिर्मुक्तं रत्नत्रयविभूषितम् । अहं मोक्षं समिच्छामि त्रैलोक्यशिखरस्थितम् ॥४२६
इति जीवादितत्त्वानां चिन्तनं यः करोत्यरम् । शङ्कादिभिरतीचारैस्त्यक्तः स्यात्तस्य दर्शनम् ॥४२७
शास्त्रप्रत्यूहनं यत्र वाचना तत्र जायते । सन्देहभञ्जनं यत्र पृच्छना तत्र संभवेत् ॥४२८
वैराग्यकारणं यत्रानुप्रेक्षा सा प्रकीर्त्तिता । यत्रागमप्रमाणानि स चाम्नायः प्रकल्पते ॥४२९
श्लाघ्यं धर्मद्वयं यत्र सैव धर्मोपदेशना । स्वाध्यायः धा प्रोक्तः सम्यग्दर्शनहेतवे ॥४३०
मायामिथ्यानिदानैर्व्रतनियमयमध्वंसनैः संयमानां पातैश्चारित्रघातैर्गतविनयनयैर्मुक्तसद्ब्रह्मचर्यैः ।
दौर्जन्यैः साधुवादैः परहतगुरुभिर्देवद्रव्यापहारैरार्यातारुण्यसङ्गैरवगणितकृपैर्देहिनां दुर्गतिः स्यात् ४३१
रागद्वेषकषायबन्धविषयप्रीतिस्वकीयप्रियाऽत्यन्तासक्तिपराङ्गनापहरणाद् ध्यानद्वयाभ्यासनैः ।
कामोद्रेकतपोविनाशकलहानर्थप्रमादेन्द्रियव्यापारव्यसनार्तिजोवहननैस्तिर्यग्गतिर्जायते ॥४३२

हो, (पाप) कर्मका अन्य (पुण्य प्रकृति रूप) प्रदेश संक्रमण किया जावे, और जहाँ आनेवाले कर्मोंका निरोध किया जावे, उसे जिनागमके ज्ञाता पुरुष संवरतत्त्व कहते हैं ॥४२३॥ गुप्ति, व्रत, समिति, इन्द्रिय-निरोध, कषाय-निग्रह, यम, नियम और संयमके अंगोंके द्वारा कर्मोंकी निर्जरा होती है। ॥४२४॥ तथा बारह अनुप्रेक्षा, बारह तप, दश धर्म और बाईस परीषहोंका विजय, इनके द्वारा सविपाक और अविपाक इन दो प्रकारोंसे कर्मोंकी निर्जरा होती है। यह निर्जरा तत्त्व है॥ ४२५॥ समस्त कर्मोंसे विमुक्त होनेको मोक्ष तत्त्व कहते हैं। मैं रत्नत्रय-विभूषित और त्रैलोक्यके शिखरपर स्थित ऐसे इस मोक्षकी मन वचन कायसे इच्छा करता हूँ ॥४२६॥

इस प्रकारसे जीवादि सप्त तत्त्वोंका जो भलीभाँतिसे निरन्तर चिन्तन करता है और शंका-कांक्षा आदि अतिचारोंसे विमुक्त रहता है, उसके सम्यग्दर्शन होता है ॥४२७॥ जहाँपर शास्त्रोंका ऊहापोह होता है, वहाँपर वाचना नामक स्वाध्याय होता है। जहाँपर गुरुजनोंसे पूछकर सन्देहको दूर किया जाता है, वहाँपर पृच्छना नामका स्वाध्याय होता है ॥४२८॥ जहाँपर वैराग्यकी कारणभूत भावनाओंका चिन्तन किया जाता है, वह अनुप्रेक्षा नामका स्वाध्याय कहा गया है। जहाँपर तत्त्वसिद्धिके लिए आगम-प्रमाण उपस्थित किये जाते है, वह आम्नाय नामका स्वाध्याय कहा जाता है ॥४२९॥ जहाँपर प्रशंसनीय मुनिधर्म और श्रावकधर्म इन दो प्रकारके धर्मका उपदेश दिया जाता है, वह धर्मोपदेश नामका स्वाध्याय है। सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिए यह पाँच प्रकारका स्वाध्याय कारण रूप कहा गया है ॥४३०॥

माया, मिथ्या, निदान इन तीन शल्योंसे, व्रत, नियम और यमके विनाशसे, संयमके त्यागसे, चारित्रके घातसे, विनय और नय-नीतिके परित्यागसे, उत्तम ब्रह्मचर्यके छोड़नेसे, दुर्जनोंके द्वारा किये गये कार्योंको साधुवाद देनेसे, गुरुजनोंके पराभव करनेसे, देव-द्रव्य (निर्माल्य) के अपहरणसे, आर्या-तारुण्य-संगसे अर्थात् तरुण आर्यिकाओं और अन्य परस्त्रियोंके साथ संगम करने, और दया-भावका तिरस्कार करनेसे अर्थात् निर्दय-व्यवहार करनेसे प्राणियोंको दुर्गति अर्थात् नरकगति प्राप्त होती है ॥४३१॥ राग, द्वेष, कषाय-बन्ध, इन्द्रिय-विषयोंसे प्रीति, अपनी प्रियामें अत्यन्त आसक्ति, पर-महिलाका अपहरण करनेसे, आर्त्त-रौद्र इन दो अशुभ ध्यानोंके अभ्यास—(निरन्तर चिन्तन)

अणुव्रतगुणव्रतप्रथितचारुशिक्षाव्रतैर्जिनेश्वर-सरस्वती-यतिपतिप्रणतेस्तथा ।
सुकृतभावना-त्रिविधपात्रदानैर्भवेन्मनुष्यगतिरुत्तमा परमतत्त्वचिन्तार्जनैः ॥४३३
सदा धर्मध्यानस्वपरहितकारुण्यवचनैस्तपःकायक्लेशाच्चरणचरणाराधनपरैः ।
परानिन्दाऽऽरम्भप्रतिहतषडावश्यकरणैर्मुनीन्द्रैर्देवेन्द्रं पदमखिलमाप्यस्तकरणैः ॥४३४

यः क्रूरो दुष्टबुद्धिर्विनिहतकरुणो हीनचेष्टः कृतघ्नो
दुष्टश्चाण्डालवृत्तिः परधनरमणीहर्तुकामो जडात्मा ।
ो मन्त्रभेदी प्रहतगुरुजनो रातिवादो हताशो
दोषज्ञो मर्मघाती व्यसनभरयुतो दुर्गतेरागतोऽसौ ॥४३५
यो रोषी रोगपूर्णो मलभृद्वसनः श्लेषिताङ्गो वराको
हाहाकारेण युक्तः परिजनरहितो निन्दितात्मा क्षुधार्तः ।
निःसत्यो दूरकर्मा कलुषितवदनो नित्यमुच्छिष्टसेवी
मायारूपः प्रकल्पी भवदशुभं तस्य तैरश्चजन्म ॥४३६

दानं सत्यमना परोपकरणं वर्गत्रये भावना श्रीसङ्गो निरहङ्कृतिर्गतमदो जीवावनं साधुता ।
सर्वप्रीतिरनाकुलत्ववचनं रत्नत्रयालङ्कृतिर्यस्योदारगुणो मनुष्यभवतोऽसावागतो धार्मिकः ॥४३७

से, काम वासनाकी अधिकतासे, तपके विनाशसे, कलह, अनर्थ, प्रमाद और इन्द्रिय-व्यापारसे, व्यसन-सेवन करनेसे, तथा जोवोंके घातसे तिर्यग्गति प्राप्त होती है ॥४३२॥ अणुव्रत, गुणव्रत, और प्रसिद्ध सुन्दर शिक्षाव्रतोंके पालन करनेसे, जिनेश्वर देव, सरस्वती और मुनिजनोंको प्रणाम करनेसे, सत्कार्योंकी भावना करनेसे, तीन प्रकारके पात्रोंको दान देनेसे और परमतत्त्वोंका-चिन्तन करनेसे उत्तम मनुष्य गति प्राप्त होती है ॥४३३॥ सदा धर्मध्यान करनेसे, स्व-परका हित करनेसे, करुणामय वचन वोलनेसे, तपश्चरण, काय-क्लेश-सहन, और चारित्र-आराधनमें तत्पर रहनेसे, पर-निन्दा नहीं करनेसे, आरम्भके परित्यागसे, समता-वन्दनादि छह आवश्यकोंके परिपालनसे, इन्द्रिय-विषयोंका विनाश करनेवाले मुनिराजोंके द्वारा समस्त देवेन्द्र-पद प्राप्त किये जाते हैं। भावार्थ—उक्त कार्योंके करनेसे उत्तम देवगति प्राप्त होती है ॥४३४॥

जो वक्र (कुटिलस्वभावी) है, दुष्टवुद्धि है, करुणा-रहित है, हीन चेष्टाएँ करनेवाला है, कृतघ्नी है, दुष्ट कार्य करनेवाला है, चाण्डाल वृत्ति है, पर-धन और पर-रमणीको हरण करनेकी इच्छा रखता है, जड़स्वभावो (महामूर्ख) है, सावद्य (पाप) कार्य करने वाला है, पर-मंत्रका भेदन करता है, गुरुजनोंका घातक है, कलह और वाद-विवाद करने वाला है, हताश है, दोषज्ञ अर्थात्-पर दोषोंका अन्वेषक या दोषग्राही है, मर्मघाती है, और व्यसनोंके भारसे लदा हुआ है, वह मनुष्य दुर्गति अर्थात् नरकगतिसे आया है, ऐसा जानना चाहिए ॥४३५॥ जो रोषी (रोष-युक्त) है, जिसका शरीर रोगोंसे परिपूर्ण है, मलसे भरे हुए वस्त्रोंको धारण करता है, हीन-अधिक और चिपटे हुए अंग वाला है, दीन है. हाहाकारसे युक्त है, स्वजन-परिजनोंसे रहित है, जिसका आत्मा निन्दाको प्राप्त हो रही है, भूखसे सदा पीड़ित रहता है, असत्यवादी है, कर्त्तव्य करनेसे दूर रहता है, कलुषित मुखवाला है, नित्य दूसरोंको जूठन खाता है, मायाचारके अनेक रूपोंका धारक है, और अशुभ कार्यको करता है उसका जन्म तिर्यंच योनिसे हुआ है, ऐसा जानना चाहिए ॥४३६॥ जो दान देता है, सत्य हृदय है, परोपकार करता है, धर्म, अर्थ और काम इन तीन वर्गोंमें भावना रखता है, लक्ष्मीसे या शोभासे सम्पन्न है, अहंकारसे रहित है, जाति-कुलादिके मदोंसे रहित है, जीवोंकी

कायक्लेशो मधुरवचनो जैनधर्मोपदेशी ध्यानी मौनी परिगतिर्मोक्षवर्मानुभावी।
पात्राभ्यर्थी विषयपदवीत्यक्तबुद्धिर्विचारी यो रुच्याङ्गो भवति स नरो ह्यागतो देवयोनेः ॥४३८
रणलीला प्रातिहार्यप्रभावातिशयविहितलक्ष्मीविस्तरैः सेव्यमानः।
सकलविमलमूर्त्तिः केवलज्ञानदृष्टिस्त्रिभुवनपतिपूज्यो राजतेऽसौ जिनेन्द्रः ॥४३९
स्तभव्यलोकानां भाषते दिव्यया गिरा। व्रतातिचारसम्बन्धं पुण्याय जिनपुङ्गवः ॥४४०
जीवस्य ताडनं बन्धच्छेदौ भारातिरोपणम्। अ ाननिरोधश्च प्रथमव्रतदूषणम् ॥४४१
मिथ्योपदेशनैकान्तव्याख्यानं कूटलेखनम्। न्यासमन्त्रप्रभेदौ च द्वितीयव्रतदूषणम् ॥४४२
स्तेनवस्तु तदानीतं राज्ञोऽनाज्ञान्यनिरूप । तुलामानाधिकेनैव तृतो दूषणम् ॥४४३
.... चतु तद्दूषणम् ॥४४४
.... पञ्चमव्रतदूषणम् ॥४४५

रक्षा करने वाला है, साधु-स्वभाववाला है। सबसे प्रीति रखता है, आकुलता-रहित वचनवाला है, रत्नत्रयसे अलंकृत है, उदार गुणवाला है और धार्मिक है, वह मनुष्यभवसे आया है, ऐसा समझना चाहिए ॥४३७॥ जो कायक्लेश तप करनेवाला है, मधुर वचन बोलता है, जैन धर्मका उपदेश देता है, ध्यान करता है, मौन रखता है, समान परिणति वाला है, मोक्षमार्गपर चलनेवाला है, पात्रोंकी अभ्यर्थना करता है, इन्द्रियोंके विषयोंकी पदवीमें त्यक्त बुद्धि है, विचारक है, और जो मनमें धर्मके प्रति रुचि, अर्थात् श्रद्धा रखता है, वह देवयोनिसे आया है, ऐसा समझना चाहिए ॥४३८॥ जिनकी समवशरणकी शोभा, प्रातिहार्योंके प्रभाव, जन्मादिके अतिशयोंसे प्राप्त लक्ष्मीके विस्तारसे सेवा की जा रही है, शरीर-सहित होते हुए भी जो विमलमूर्ति और केवलज्ञान दृष्टिवाले हैं, तीनों लोकोंके स्वामी शत इन्द्रोंसे पूज्य हैं, ऐसे जिनेन्द्रदेव शोभायमान हैं ॥४३९॥ जो समस्त भव्य जीवोंके कल्याणके लिए दिव्य वाणीसे उपदेश देते हैं, उन जिनेन्द्रदेवने जीवोंके पुण्यके सम्पादनार्थ व्रतोंके अतिचारोंका सम्बन्ध इस प्रकार कहा है ॥४४०॥

जीवको ताड़ना, बाँधना, अंग छेदना, अधिक भार लादना और अन्न-पानका निरोध करना ये प्रथम अहिंसाव्रतके दूषण (अतिचार) हैं ॥४४१॥ मिथ्या उपदेश देना, एकान्तकी बातको कहना, कूटलेख लिखना, न्यास (धरोहर) का अपहरण करना और दूसरेके मंत्रका भेद करना ये दूसरे सत्याणुव्रतके दूषण हैं ॥४४२॥ चोरीको भेजना, चोरीसे लायो वस्तु लेना, राजाकी आज्ञाका अतिक्रम करना, प्रतिरूपक व्यवहार करना और नाप-तौलके बाँट आदि हीनाधिक रखना ये तीसरे अचौर्याणुव्रतके दूषण हैं ॥४४३॥ परविवाह करना, इत्वरिकाके यहाँ जाना, अनंगक्रीडा करना, विट-चेष्टा करना और काम-सेवनकी तीव्र अभिलाषा रखना ये चौथे ब्रह्मचर्याणुव्रतके दूषण हैं ॥४४४॥

विशेषार्थ—प्राप्त प्रतियोंमें ब्रह्मचर्याणुव्रतके और परिग्रह परिमाणव्रतके अतीचार बतानेवाले दो श्लोक उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु श्लोक ४४६ में 'इत्थंपञ्चाणुव्रतमनतिचारं' वाक्यको देखते हुए दोनोंके अतीचारोंका होना आवश्यक है, यह समझकर श्लोक ४४४ वेंके अर्थके पूर्व कोष्टकमें ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतीचारोंको लिख दिया गया है।

(परिग्रहपरिमाणव्रतके अतीचार श्रावकाचारोंमें दो प्रकारसे पाये जाते हैं। रत्नकरण्डकके अनुसार—१. अतिवाहन, २. अतिसंग्रह, ३. विस्मय ४. अतिलोभ और ५. अतिभार-वहन ये पाँच अतीचार हैं। तथा सागारधर्मामृतके अनुसार—१. वास्तु-क्षेत्र-योग, २. धन-धान्य-बन्धन, ३. कनक-

इत्थं पञ्चाणुव्रतमनतीचारं यः समाचरति । सः स्वर्गे सुरनाथः स्यादितरः सप्तमे नरके ॥४४६
ऊर्ध्वोऽधस्तिर्यगाक्रान्तिक्षेत्रस्मृतिविलोपनम् । पञ्च दिग्विरतेर्ज्ञेया अतीचारमलोद्धताः ॥४४७
आनयनं शब्दरूपपुद्गलसङ्गतिः । देशस्य विरतेः पञ्च प्राज्ञैर्दोषा उदाहृताः ॥४४८
कायकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्षाः प्रतिजल्पनम् । भोगोपभोगसंचर्याऽनर्थदण्डस्य कारणम् ॥४४९
अथवा कुर्कुटकुक्कुरपारापतशुकीराणाम् । पशुनीलीमयणानां भृङ्गीपानादिकानां च ॥४५०
लशुनसनशस्त्रलाक्षाकृषिवाणिज्यप्रणष्टचर्याणाम् । अतिमोहलोभलाभादनर्थदण्डाश्च जायन्ते ॥४५१
इत्यखिलं यः कुर्यादनतीचारं गुणव्रतं त्रिविधम् । सो वैमानिक[1]नाथस्तिर्यग्योनौ भवेदितरः ॥४५२
योगत्रयस्य दुर्ध्यानं स्मृतिलोपोऽप्यनादरः । एतत्सामायिकस्योक्तं तीचारदूषणम् ॥४५३
प्रमार्जनविनिर्मुक्तोत्सर्गादानञ्च संस्तरे । आहारं स्मृतिशङ्काभ्यामुपवासस्य दूषणम् ॥४५४
सचित्तमिश्रसम्बन्धं दुःपक्वान्नारनालता । भोगोपभोगसंख्याया अतीचारान् विदुर्बुधाः ॥४५५

रूप्यदान, ४. कुप्य-भाव और ५. गवादि-गर्भ ये पाँच अतीचार हैं। इनका विशेष अर्थ यथास्थान देखना चाहिए ॥४४५॥)

इस प्रकार जो पाँचों अणुव्रतोंका अतिचार-रहित पालन करता है वह स्वर्गमें देवोंका स्वामी होता है, और जो उक्त व्रतोंका पालन नहीं करता, प्रत्युत पापोंका सेवन करता है, वह सप्तम (?) नरकमें जाता है ॥४४६॥

ऊर्ध्व दिशा व्यतिक्रम, अधोदिशा व्यतिक्रम, तिर्यग्दिशा व्यतिक्रम, क्षेत्र वृद्धि और सीमा-विस्मरण ये पाँच दिग्विरतिव्रतके अतिचार जानना चाहिए ॥४४७॥ देशव्रतकी सीमासे बाहिर भेजना, सीमाके बाहिरसे बुलाना या मँगवाना, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गल प्रक्षेप ये पाँच देशविरतिव्रतके दोष प्राज्ञ पुरुषोंने कहे हैं ॥४४८॥ कायकी कुचेष्टा करना, मुखरता करना, समीक्षण किये बिना उठाना-रखना, प्रतिजल्पन (उत्तरपर उत्तर देना) और भोगोपभोगका अनर्थक संचय करना ये पाँच अनर्थदण्डके कारण हैं, अर्थात् अनर्थदण्ड विरतिव्रतके अतिचार हैं ॥४४९॥ अथवा मुर्गा, कुत्ता, कबूतर, तोता, पशु, मोर, मैना और भृंगी (भौंरी) आदिको पालना, उनको पींजरा आदिमें बन्द रखना, लशुन, सन, शस्त्र, लाख आदिका व्यापार करना, कृषिका धंधा करना, पशुओंका व्यापार करना, तथा इस प्रकारके अन्य खोटे कार्योंको अतिमोहसे, लोभसे या अर्थ-लाभसे करनेपर अनर्थदण्ड होते हैं ॥४५०-४५१॥ इसी प्रकार इन सर्वत्रिविध गुणव्रतोंका जो अतिचार-रहित पालन करता है, वह विमानवासी देवोंका स्वामी होता है। किन्तु जो इन्हें पालन नहीं करता है, वह तिर्यंचयोनिमें जन्म लेता है ॥४५२॥

मन वचन कायका खोटा उपयोग रखना, सामायिक करनेका स्मरण नहीं रखना, और सामायिक करनेमें अनादर करना ये सामायिक शिक्षा व्रतके पाँच अतिचार दूषण हैं ॥४५३॥ प्रमार्जनके विना किसी वस्तुका रखना, ग्रहण करना, विस्तर बिछाना, आहारका स्मरण करना अथवा पर्वके दिन भूलसे आहार कर लेना और उपवास करनेमें शंका रखना ये पाँच उपवास शिक्षाव्रतके दूषण हैं ॥४५४॥ सचित्त, सचित्त मिश्र, सचित्त संबद्ध वस्तुका सेवन करना, दुःपक्व अन्नका आहार करना और कांजी सेवन करना, ये भोगोपभोग-संख्यान शिक्षाव्रतके पाँच अतिचार ज्ञानियों-

१. उ प्रतौ 'ग्रैवेयक०' पाठः ।

परोपदेशना क्रोधः कालक्षेपोऽविधानता। सचित्तवस्तुनिक्षेपोऽतिथीनां दूषणम् ॥४५६
जीवितमरणाशंसे मित्रस्नेहो निदानभावश्च । सुखसंस्मरणस्थानान्येते सल्लेखनादोषाः ॥४५७
इति शिक्षाव्रतदूषणमुक्तं भव्येषु परमदेवेन। ये परिहरन्ति तं चटन्ति सर्वार्थसिद्धि ते ॥४५८
अनुभूय दुःखकारणमितरो गच्छेत्कुयोनिसंसर्गम्। मिथ्यात्ववृक्षपुष्पैर्वासितचि ो रुचौ विमुखः ॥४५९
एते षष्टिरतीचारा द्वादशव्रतदूषकाः । अतोऽतीचारनिर्मुक्तं व्रतं मोक्षोपदेशकम् ॥४६०
मिथ्यादृष्टेः प्रशंसा च संस्तवश्च विशेषतः । त्रयं शङ्कादिदोषाणां सम्यग्दृष्टेश्च दूषणम् ॥४६१
वाष्पकासातुरश्वासश्लेष्मालसविजृम्भणैः । अशुद्धदेहवस्त्राभ्यां जिनार्चादूषणं भवेत् ॥४६२
पादसङ्कोचनाधिक ोधभ्रकुटितर्जनैः । मन्दामन्दस्वराधारैर्जिनस्नपनदूषणम् ॥४६३
मुखहस्ताङ्गुली रस्थालवादनैः । नन्दवद्धाक्षरालापैर्जायते मौनदूषणम् ॥४६४
चित्तं दोलायते यस्य शरीरं दोषपूरितम् । न षडा तस्य विद्यते सिद्धिभाजनम् ॥४६५
महाव्रतस्य वक्तव्याः पञ्चविंशतिभावनाः । यतिभिर्जितेन्द्रियैर्नित्यो मो ार्गोऽभिगम्यते ॥४६६
मनोगुप्तिर्वचोगुप्तिरीर्यापथविशोधिनी । वस्तुग्रहणनिक्षेपसमितिव्रतपालनम् ॥४६७
मध्याह्नसमयारम्भे भोजनाम्बुनिरीक्षणम् । एतेषां संग्रहो यस्य तस्याहिंसाव्रतं भवेत् ॥४६८

ने कहे हैं ॥४५५॥ दूसरेसे आहार दिलाना, दान देनेके समय क्रोध करना, दान कालमें विलम्ब करना, भोज्य वस्तुको सचित्त पत्रादिसे ढकना और सचित्त वस्तुपर देयपदार्थको रखना, ये अतिथि-संविभागव्रतके पाँच दूषण हैं ॥४५६॥ संन्यास ग्रहण करनेके पश्चात् जीनेकी इच्छा करना, मरनेकी इच्छा करना, मित्रोंसे स्नेह रखना, निदानभाव रखना और पूर्वके सुखोंका संस्मरण करना ये पाँच सल्लेखनाके दोष हैं ॥४५७॥ इस प्रकार परम जिनदेवने शिक्षाव्रतोंके दूषण भव्य जीवोंमें कहे। जो इनका सदा परिहार करते हैं वे सर्व अर्थकी सिद्धिको प्राप्त करते हैं ॥४५८॥ किन्तु जो इनका पालन नहीं करता है, मिथ्यात्वरूपी वृक्षके पुष्पोंसे वासित जिसका चित्त है, सम्यग्दर्शनसे विमुख है वह दुःखके कारणोंका अनुभव करके कुयोनिके संसर्गको प्राप्त होता है ॥४५९॥ ये उपर्युक्त साठ अतिचार बारह व्रतोंमें दूषण लगाते हैं। इन अतिचारोंसे रहित व्रत मोक्षके उपदेशक या दाता हैं ॥४६०॥ मिथ्यादृष्टिकी प्रशंसा करना, विशेषरूपसे उनकी स्तुति करना, और शंका, कांक्षा विचिकित्सा करना ये तीन इस प्रकार सम्यग्दृष्टिके ये पाँच दूषण हैं ॥४६१॥

वाष्प, काससे आतुर (पीड़ित) हो श्वास श्लेष्मा करते हुए आलस, जंभाई लेते हुए, अशुद्ध देह और अशुद्ध वस्त्रसे जिन-पूजन करना ये पूजनके दूषण है ॥४६२॥ पाद-संकोचना, या फैलाना, क्रोध करना, भृकुटि चढ़ाना, दूसरेको तर्जन करना, मन्द या अमन्द (तीव्र) स्वर और वेगके साथ जल-धारा करना, ये जिनाभिषेकके दूषण हैं ॥४६३॥ मुख, हाथ, अंगुलीसे संकेत करना, खंखारना, थाली बजाना, मेंढकके समान अक्षरोंका बोलना (टर्र-टर्र करना) ये मौन व्रतके दूषण हैं ॥४६४॥ वन्दना आदिके करते समय जिसका चित्त डाँवाडोल रहता है, और जिसका चित्त दोषोंसे पूरित है, उसके छह आवश्यक सिद्धिके भाजन नहीं हैं ॥४६५॥

अब पाँच महाव्रतोंकी भावनाएँ कहनी चाहिए, जिनसे जितेन्द्रिय साधुओंके द्वारा नित्य मोक्ष-मार्ग प्राप्त किया जाता है ॥४६६॥ मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, ईर्यापथ-विशोधिनी समिति वस्तु-आदान-निक्षेपण समितिव्रतका पालन करना और मध्याह्नकालके आरम्भमें आहार-पानका निरीक्षण करना, इन पाँच भावनाओंका संग्रह जिसके होता है, उसके अहिंसाव्रत होता है ॥४६७-४६८॥

कोपो लोभो भयं हास्यमन्तरे प्रतिजल्पितम् । एषां निष्कासनं यस्य तस्य सत्यव्रतात्फ ॥४६९
शून्यागारनिर्वृत्तिविमोचितावाससङ्गतिस्त्यजनम् । परोपरोधाकरणं भिक्षाशुद्धिः क्रि चयः ॥४७०
सहधार्मिकेण सन्ततमविसंवादस्वभावसम्बन्धः । एते विचारभावाः प्रतिपाल्याः स्तेयनाशाय ॥४७१
स्त्रीरागकथाश्रवणं तदङ्गरूपावलोकनोत्कण्ठम् । पूर्वरतानुस्मरणं वृष्येष्टरसः स्वदेहसंस्कारः ॥४७२
इदमिति यः परिहरते व्रतं चतुर्थं भवेत्तस्य । ब्रह्मव्रतोपचाराद् व्रतमपरं नास्ति यद्भुवने ॥४७३
रागद्वेषौ विहायौ(?)इन्द्रियसौख्यममनोज्ञमनोज्ञम् । एते प्रकाराः परिहरणीयाः सदाचारैः ॥४७४
एते महाव्रतपरिपाटीपञ्चविंशतिर्भेदाः । येषां चित्ते याता असंशयं ते भवन्ति तीर्थेशाः ॥४७५
सामायिकस्य दोषाः प्रभवन्ति महीतले । तानहं व्यक्तितो वक्ष्ये शृणु भव्य नरोत्तम ॥४७६
मनोवाक्कायवस्त्राणामशुद्धिः[1] क्रोधपूरितः । ईर्यापथस्यासंशुद्धिः समदो रागसंयुतः ॥४७७
करमर्दी वपुःस्पर्शी केशसम्मार्जनोद्यमी । ईक्षमाणोऽपि सर्वत्र दोलिताङ्गो निरन्तरम् ॥४७८
उन्नतिं विनतिं कृत्वा कस्य मुहुर्मुहुः । निजस्थानं परित्यज्य परस्थाने प्रवर्त्तितः ॥४७९
मन्दतारस्वर वर्तोऽन्यहस्ताद् द्वयोर्हतिः । पूज्यस्योल्लङ्घनं कृत्वा कुरुते जिनवन्दनम् ॥४८०
सालस्यो भयभीताङ्गो गृहचिन्तातुराङ्कितः । लज्जितोऽनादरारम्भो गात्रसङ्कोचनस्थितः ॥४८१

क्रोध, लोभ, भय, हास्य और दोके अन्तर (मध्य) में बोलना, इन दोषोंका जिसके निष्कासन (निवारण) है, उसके सत्यव्रतसे फल प्राप्त होता है ॥४६९॥ शून्यागार निवृत्ति, विमोचितावास, संगति परिहार, परोपरोधाकरण, भिक्षाशुद्धिकी क्रियाओंका करना, तथा साधर्मिकके साथ निरन्तर अविसंवादी स्वभावका सम्बन्ध रखना, ये विचारभाव चोरी दोषके नाश करनेके लिए प्रतिपालन करना चाहिए ॥४७०-४७१॥ स्त्री-रागकथा सुनना, उनके अंग और रूपके अवलोकनकी उत्कण्ठा होना, पूर्वकालीन भोगोंका स्मरण करना, वृष्य इष्ट रसका सेवन करना, और अपने देहका संस्कार करना जो इन पाँचोंका परिहार करता है, उसके चौथा ब्रह्मचर्यव्रत होता है। इस ब्रह्मचर्य व्रतके आचरणसे बड़ा दूसरा व्रत सारे भुवनमें नहीं है ॥४७२-४७३॥ पाँचों इन्द्रियोंके मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयोंमें राग और द्वेषका परिहार करना सो परिग्रहत्यागव्रतकी पाँच प्रकारकी भावना है। सदाचारी पुरुषोंको पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंका सदा ही परिहार करना चाहिए ॥४७४॥

इस प्रकार ये पाँचों महाव्रतोंकी क्रम-परिपाटीसे पच्चीस भेदरूप भावनाएँ जिनके हृदयमें रहती हैं वे निःसन्देह तीर्थङ्कर होते हैं ॥४७५॥

हे नरोत्तम, भव्य सामायिकके जो दोष महीतलपर होते हैं उनको मैं व्यक्तिशः कहता हूँ सो तुम सुनो—मनकी अशुद्धि, वचनकी अशुद्धि, कायकी अशुद्धि, वस्त्रकी अशुद्धि, क्रोधसे भरा होना; ईर्यापथकी अशुद्धि, मद-युक्त होना, रागसंयुक्त होना, हाथसे हाथका मर्दन करना, शरीरका स्पर्श करना, केशोंका सम्मार्जन करना, देखना, शरीरके अंगोंका झुलाना, शरीरको ऊँचा-नीचा करना, मस्तकको वार-वार हिलाना, जिस स्थानपर सामायिक करनेको बैठे, उसे छोड़कर दूसरे स्थानपर जाना, कभी पाठको मन्द स्वरसे बोलना और कभी तारस्वरसे बोलना, एक हाथसे दूसरे हाथको ताड़न करना, पूज्य पुरुषका उल्लंघन करके जिनदेवकी वन्दना करना, आलस्य-युक्त होकर वन्दना करना, भयभीत शरीर होकर वन्दना करना, घरकी चिन्तासे आकुल-व्याकुल होना, लज्जित होना, अनादर-पूर्वक सामायिकको आरम्भ करना, शरीरको संकुचित करके स्थित होना,

1. उ प्रती 'भावनां' पाठः ।

येन केन सह द्वेषो न तेन क्षमि तो भवेत् । ध्ये परं ब्रूते यत्र मनः क्षिपेत् ॥४८२
व्याख्यानं सहितं हास्यं बिभ्राणो देव ुखः । त्यक्त्वा जिनेन्द्रस्तवनं शृणोत्यपरजल्पनम् ॥४८३
देवस्तुतिं विधायाऽऽशु[1] पश्चाद्वार्तां करोम्यहम् । इति कोपातुरो वेगात्कम्पितो भ्रामि ङ्गुलिः ॥४८४
गुरोरग्रे स्थितिं कृत्वा निकटो देवसन्निधौ । लाभप्रभावनाख्यातिकारणाद्देववन्दकः ॥४८५
हुंहुंकारी करोत्यर्थं हीनाधिकपदस्थितिः । यः सदैवासदाचारस्तस्य सामायिकं कुतः ॥४८६
व्याख्यानं स्नपनं स्तोत्रं वन्दना देवदक्षिणात् । स्वकर्णश्रवणादेव क्रियते देववन्दनात् ॥४८७
एतेऽर्हद्वन्दनादोषा द्वात्रिंशत्समुदाहृताः । निर्दोषा वन्दना यस्य तस्य मोक्षस्य संभवः ॥४८८
ध्यानस्थितस्य ये दोषा प्रोच्यन्ते ते मयाऽधुना । विद्यमानेषु यत्तेषु न हि सिद्धपदं ॥४८९
कम्पनं बद्धमुष्टिश्च जङ्घाश्लेषकरद्वयः । भित्तिस्तम्भाद्यवष्टम्भः खञ्जपादैकसंस्थितिः ॥४९०
वेदिकाद्युपरि स्थानं मस्तकाधारसंयुतः । विकटांह्रिकृतध्यानं कराभ्यां गुह्यगोपनम् ॥४९१
बालके स्तनदानार्थी धात्रीव हृदयोन्नतिः । पार्श्वादिलोकनासक्तः काकवच्चपलाक्षिकः ॥४९२
कुरुते तिर्यगूर्ध्वाध उत्तमाङ्गस्य दोलनम् । भ्रूक्षेपश्च मनोऽस्थैर्यमधरस्फुरणं तथा ॥४९३
ध्यानं हीनाधिकं धत्ते कायस्योल्लङ्घने सति । देहं कण्डूयते द्वेषः कुर्यान्निष्ठीवनादिकम् ॥४९४

जिस किसीके साथ द्वेषभाव हो तो उसके द्वारा क्षमा प्राप्त किये विना सामायिक करना, पाठके मध्यमें दूसरेसे बोलना, इधर-उधर मनको ले जाना, व्याख्यान देते हुए सामायिक करना, देवके सम्मुख हास्यको धारण करना, जिनेन्द्र-स्तवनको छोड़कर दूसरे वार्तालाप सुनना, देवकी स्तुति शीघ्र करके मैं पीछे तुमसे बात करता हूँ, ऐसा अन्यसे कहना, कोपसे आतुर होकर वेगसे कँपना, अँगुलियोंको घुमाना, गुरुके आगे बैठकर सामायिक करना, देवके अति निकट बैठकर सामायिक करना, लाभ, प्रभावना और ख्याति आदिके कारणसे देवकी वन्दना करना, बार-बार हुंकार करना, हीनाधिक पदसे स्थित होना, ये सब सामायिकके दोष हैं। जो सदा ही असदाचारी है, उसके सामायिक कैसे संभव हो सकती है ॥४७६-४८६॥ देवके दाहिनी ओर बैठकर, व्याख्यान, अभिषेक, स्तोत्र और वन्दना करनी चाहिए। देव-वन्दन इस प्रकार करे कि अपने उच्चारण किये हुए शब्द अपने ही कानोंसे सुने जावें। ये पूर्व कहे गये वन्दनाके बत्तीस दोष शास्त्रोंमें कहे गये हैं, जिसकी वन्दना निर्दोष होती है, उसके ही मोक्ष संभव है ॥४८७-४८८॥

ध्यानमें स्थित अर्थात् कायोत्सर्गके जो बत्तीस दोष होते हैं, अब मैं उन्हें कहता हूँ। क्योंकि उनके रहते हुए सिद्धपद नहीं प्राप्त हो सकता है ॥४८९॥ कायोत्सर्ग करते समय कंपना, मुट्ठी बाँधना, जंघाओंको दोनों हाथोंसे आश्लिष्ट करना, भीत, खम्भा आदिका सहारा लेना, खंजन पक्षीके समान एक पैरसे खड़ा होना, वेदिका आदिके ऊपर स्थित होना, मस्तकके आधारसे स्थित होना, पैरोंको विकट करके ध्यान करना, दोनों हाथोंसे अपने गुह्य अंगको ढककर खड़ा होना, बालकको स्तनसे दूध पिलानेवाली धायके समान छातीको ऊँचा करके खड़ा होना, पार्श्व भाग आदिको देखना, काकके समान चंचल नेत्रसे इधर-उधर देखना, तिरछे, ऊपर अथवा नीचे मस्तकको हिलाना-डुलाना, भ्रुकुटि-विक्षेप करना, मनको अस्थिर रखना, ओठोंका स्फुरण करना, कायका उल्लंघन होनेपर हीनाधिक ध्यान करना, शरीरको खुजलाना, द्वेष करना, निष्ठीवन

---

१. उ 'देवस्तवनविधिं दीप्सु' पाठः ।

कालस्यातिक्रमे ध्यानं वितनोति प्रपञ्चकम् । अङ्गुलीगणने व्याप्तिर्लोभात्कुटिलमानसः ॥४९५
चेतोमध्ये प्रियारूपं धृत्वा लिङ्गविकारता । जनावलोकने ध्यानं विधत्ते रोषपूरितः ॥४९६
नेत्रप्रकाशने ध्यानं नासाविन्यस्तलोचनः । प्रमादाकुलितो ध्याने ध्यानं तत्र नियोजयेत् ॥४९७
अधुनैव कृतं ध्यानमित्यसत्यं च भाषते । अविधाय क्षमां लोके ध्यानमाचरति ध्रुवम् ॥ ४९८
आलस्योऽनादरो भोगी मन्दो रोगापराधवत् । क्षुधातुरो नरो यः स्यात्तस्य ध्यानं न सिद्धयति ४९९
इति द्वात्रिंशभिर्दोषा यैर्मुच्यन्ते नरोत्तमैः । तैर्न किं प्राप्यते सिद्धिः सर्वेषां कर्मणां क्षये ॥५००
सामायिकेऽस्मिन् योग्योऽहमित्याभ्यन्तरवाह्ययोः । शुद्धिं विधाय यस्तिष्ठेत्स योग्यः प्रोच्यते बुधैः॥५०१
यः करोति न कालस्योल्लङ्घनामर्हतां स्तवे । कायचित्तवचःशुद्धया तस्य स्यात्कालसाधनम् ॥५०२
आसने निश्चले शुद्धे स्थाने च प्रासुके परे । यो भव्यः कुरुते मुद्रां तेनावर्तो विधीयते ॥५०३
विनयेन युक्त्या यो विभर्त्ति शिरोन्नतिम् । यथोत्पन्नस्तथा भूत्वा कुर्यात्सामायिकं स च ॥५०४
भयमशुभकर्मगारवविरुद्धलेश्याः अनर्थदण्डानि । परधनपररामाहृतिपरापवादश्च रौद्रार्ते ॥५०५

आदि करना, कालका उल्लंघनकर ध्यान करना, प्रपंच करना, अंगुलियोंको गिनना, लोभसे कुटिल मन रखना, हृदयके मध्य अपनी प्रियाके रूपको रखकर लिंगमें विकार पैदा करना, मनुष्यके द्वारा देखे जानेपर रोषसे भरकर ध्यान करना, नेत्रोंको पूरा खुला रखकर ध्यान करना, प्रमादसे आकुलित होना, ये सब कार्योत्सर्गके दोष हैं। ध्यानके समय नासापर दृष्टि रखकर उसके अग्रभाग पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिये ॥४९०-४९७॥ ध्यान नहीं करके भी जो मैंने अभी ध्यान किया है, इस प्रकारसे असत्य बोलता है, जो अपराधी होनेपर लोगोंसे क्षमा नहीं माँग करके ध्यानका आचरण करता है, जो कार्योत्सर्ग करनेमें आलस्य और अनादर भाव रखता है, भोगोंमें लगा रहता है, मन्दबुद्धि है, रोगी है, अपराधवाला है, और जो मनुष्य भूखसे पीड़ित है, उसके ध्यान सिद्ध नहीं होता है ॥४९८-४९९॥ इस प्रकार कार्योत्सर्गके बत्तीस दोषोंसे जो विमुक्त रहते हैं उन श्रेष्ठ पुरुषोंको ध्यानके बलसे सर्वकर्मोंका क्षय हो जानेपर क्या सिद्धि नहीं प्राप्त होती है ? अर्थात् अवश्य ही मुक्ति प्राप्त होती है ॥५००॥

सामायिकके समय योग्य व्यक्ति, योग्य काल, योग्य आसन, योग्य स्थान, योग्य मुद्रा, आवर्त और शिरोनति इन सात परिकर्मोंका करना आवश्यक है। ग्रन्थकार अब इनका क्रमसे वर्णन करते हैं—जो व्यक्ति अभ्यन्तर और बाह्य शुद्धि करके 'मैं सामायिक करने योग्य हूँ' ऐसा विचार करके सामायिकमें बैठता है वह ज्ञानी जनोंके द्वारा सामायिकके योग्य कहा गया है ॥५०१॥ सामायिकका काल प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल है, जो अर्हन्तोंके भावस्तवरूप सामायिक करनेमें इस कालका उल्लंघन नहीं करता है, किन्तु मन, वचन, कायकी शुद्धिसे यथासमय सामायिक करता है, उसके कालका साधन होता है ॥५०२॥ सामायिकमें पद्मासन, खड्गासन आदि निश्चल होना चाहिए। स्थान शुद्ध और प्रासुक होना चाहिए। मुद्राएँ चार प्रकारकी कही गई हैं—जिनमुद्रा, योगमुद्रा, वन्दनामुद्रा, और मुक्ताशुद्धि मुद्रा। इनमेंसे सामायिकके समय यथासंभव जिनमुद्रा आदिको धारण करना चाहिए। सामायिकके समय बारह आवर्त कहे गये हैं और चार शिरोनति कही गई हैं। इन आवर्तोंको तथा शिरोनतियोंको जो भव्य यथाजात रूप धारण करके विनयके साथ आगमोक्त युक्तिसे करता है उसकी सामायिक यथार्थ समझना चाहिए ॥५०३-५०४॥

जो व्यक्ति भय, अशुभ कर्म (कार्य) गारव और अशुभ लेश्यावाला है, अनर्थदण्डोंको

शीलव्रतपरिहरणं कुमार्गचलनं कुमित्रविश्वासः। कुत्सितनारीसेवा सरोषवचनं परव्यसनम् ॥५०६
व्यसनप्रमादवि : : पञ्चेन्द्रियाणि शल्यानि।
मोहो रागद्वेषावविरतिमिथ्याविकाराणि ॥५०७
अ मनियमकरणं गुरुनिन्दा दूषणं परद्रोहः। हिंसा तपःप्रसङ्गश्चारित्रध्वंसनं महापापम् ॥५०८
एतैः कलङ्कभावैर्जीवः संसारसागरे भ्रमति। लभते दुःखं घोरं प्राप्नोति च पुद्गलावर्तम् ॥५०९
एतेऽपि दोषनिवहाः प्रतिपाल्यन्ते यदीहविपरीताः। भव्येन शुद्धमनसा ततो भवेन्ना म्प्राप्तिः॥५१०
सङ्गत्यागस्तपो वृत्तं परीषह स्तथा। त्रिगुप्तिः पञ्चसमितिरनुप्रेक्षाविचारणा ॥५११
धर्मो दशप्रकारो वा चित्तशुद्धिर्गुणग्रहः। रत्नत्रयस्य सम्पत्तिः कायक्लेशश्च भावना ॥५१२
चारित्रं पञ्चधा ख्यातं : संयमधारणम्। सम्यक्त्वं सर्वसावद्यनिवृत्तिर्देववन्दना ॥५१३
रागद्वेषपरित्यागो ब्रह्मचर्यं महाव्रतम्। जिनप्रभावना नित्यं विधानं व्रतलक्षणम् ॥५१४
शुक्लध्यानं सदाचारो योगत्रयनिरोधनम्। एतेषां यस्य संयोगो मुक्तिस्तस्यैव जायते ॥५१५
सर्वेषामपि दोषाणां मध्ये क्षोभ[1] उदाहृतः। सर्वे पि धर्माणां मध्ये शम उदाहृतः ॥५१६
अध ऊर्ध्वगतिं जीवमनीत्वा न निवर्तते। लक्षणं कोपसद्धर्मौ द्वयमेतन्निरङ्कुशम् ॥५१७

करता है, पर-धन और पर-रमणीका अपहरण, तथा दूसरोंका अपवाद करता है, आर्त्त और रौद्र ध्यानसे युक्त है, शीलव्रतका परिहार करता है, कुमार्गपर चलता है, खोटे मित्रोंका विश्वास करता है, खोटी दुराचारिणी स्त्रीका सेवन करता है, रोष-युक्त वचन बोलता है, दूसरेको दुःख देता है, सात व्यसन, पन्द्रह प्रमाद और इन्द्रियोंके पाँचों विषयोंका सेवन करता है, जिसके कषाय प्रबल है, तीनों शल्य हैं, मोह, राग, द्वेष, अविरति, मिथ्यात्व और नाना प्रकारके विकार जिसके विद्यमान हैं, जिसके व्रत नहीं, जो कोई नियम पालन नहीं करता, गुरुकी निन्दा करता है, उन्हें दोष लगाता है, परद्रोही है, हिंसा प्रधान तप करता है, चारित्रका विध्वंस करता है और महापापी है। इन कलंकित भावोंसे जीव संसारसागरमें परिभ्रमण करता है, वह घोर दुःख पाता है और पुद्गलपरावर्तनको प्राप्त होता है, अर्थात् दीर्घकाल तक संसारमें परिभ्रमण करता रहेगा। किन्तु जो उपर्युक्त दोष समूहसे विपरीत व्रतादिको पालता है, और पापादिका परित्याग करता है, वह शुद्ध चित्त भव्य पुरुष उसके फलसे स्वर्गको प्राप्त करता है ॥५०५-५१०॥

जिसके सर्व संग (परिग्रह) का परित्याग है, तपश्चरण है, चारित्र है, परीषहोंको जीतता है, तथा तीन गुप्ति, पांच समिति, बारह अनुप्रेक्षाओंकी विचारणा है, दश प्रकारका धर्म-धारण है, चित्त शुद्धि है, गुण-ग्राहकता है, रत्नत्रयकी सम्पत्ति है, कायक्लेश है, षोड़शकारणोंकी भावना है, पाँच प्रकारका चारित्र है, शमभाव है, संयमका धारण है, सम्यक्त्व है, सर्व पाप योगोंकी निवृत्ति है, देव वन्दना करता है, रागद्वेषका परित्याग है, ब्रह्मचर्य महाव्रत है, जिनप्रभावना करता है, नित्य व्रत स्वरूप नये-नये नियम ग्रहण करता है, शुक्लध्यान है, सदाचार है, और तीनों योगोंका निरोध करना इन उपर्युक्त बातोंका जिसके संयोग है उसकी मुक्ति होती है ॥५११-५१५॥

सभी दोषोंके मध्यमें कोप सबसे बड़ा दोष कहा गया है और सभी धर्मोंके मध्यमें शमभाव सबसे बड़ा धर्म कहा गया है ॥५१६॥ कोप जीवको दुर्गतिमें ले जाये विना निवृत्त नहीं होता। और धर्म जीवको दुर्गतिसे छुड़ाकर अधोगतिसे ऊर्ध्वगति करके मोक्षमें ले जाये विना नहीं रहता।

---

१. उ 'कोप' पाठः।

अतः कारणतो भव्यैः सम्यक्त्वाधार इष्यते । जीवो यस्य बलाधानान्मोक्षसौख्यं समेति च ॥५१८

श्रद्धानं यस्य चित्तं वहति निरुपमं सर्वथा भावशुद्धया
तस्य श्री निष्कलङ्का निवसति भवनेऽनेकचित्रामरम्ये ।
विद्वद्गोष्ठी-विचित्रे गजतुरगरथासंख्यपादातिवर्गे
दासीदासप्रकीर्णे प्रमुदितस्वजने ध्वस्तदोषारिचक्रे ॥५१९
विद्या तेजः कीर्त्तिरोजः प्रतापो लक्ष्मी सौख्यं नीतिमार्गो यशश्च ।
राज्यं वीर्यं बुद्धिगे (?) स्था भा पूजा वृद्धिर्जायते दर्शनाच्च ॥५२०
स्थितिः ।वो वलमातपत्रमावासराजो विजयो ज ।
चक्रेश्वरत्वं सुरराजलीला संजायते दर्शनसंस्थितस्य ॥५२१
सम्यक्त्वमेव कुरुते जगदाधिपत्यं दुःखं निषेधयति नीचकुलेन म् ।
स्त्रीजन्म नारकभवं च नपुंसकत्वं तिर्यंग्गतिं वपुरनुत्तममल्पमायुः ॥५२२
यस्य प्रभा कर्मकलङ्कमुक्तं भव्यं विधत्ते जगदेकपूज्यम् ।
कल्याणकेऽर्च्यं समवसृतिस्थं गुणाष्टकाभीष्टतमं जिनेन्द्रम् ॥५२३

द्वस्तु समस्तं जगत्त्रये संस्थितं महद्द्रव्यम् । तत्तद्वस्तुविशेषं लभते श्रद्धापरो भव्यः ॥५२४

तथाहि—इह खलु द्वीपे भरतक्षेत्रे च मागधे देशे ।
ललितपुरे ललितगिरौ तत्राभूत्कलगिरिकुम्भी ॥५२५

कोप और सद्धर्म ये दोनों अपने-अपने कार्य करनेमें अंकुश-रहित अर्थात् स्वतंत्र हैं ॥५१७॥ इसी कारणसे भव्य पुरुषोंने धर्मको सम्यक्त्वके आधारपर आश्रित कहा है, जिसके कि बलके आश्रयसे जीव मोक्षके सुखको प्राप्त करता है ॥५१८॥

जिसका चित्त सर्व प्रकारसे भाव-शुद्धिके साथ अनुपम श्रद्धानको धारणा करता है, उसके अनेक चित्रामोंसे रमणीय भवनमें निष्कलंक लक्ष्मी निवास करती है । वह भवन ऐसा प्राप्त होता है कि जहाँपर अनेक विषयोंके विद्वानोंकी गोष्ठी हो रही है, जो हाथी, घोड़े, रथ और असंख्य पदातिवर्ग (पैदल चलनेवाले सैनिक) से परिपूर्ण है, दासी-दासोंसे व्याप्त है, दोषरूप शत्रु-समूहसे रहित है और जहाँ सभी स्वजन प्रमोदको प्राप्त हैं अर्थात् सभीको प्रमोदका जनक है ॥५१९॥ सम्यग्दर्शनके माहात्म्यसे विद्या, तेज, कीर्त्ति, ओज, प्रताप, लक्ष्मी, सुख, नीति-मार्ग, सम्मान, यश, राज्य, वीर्य, वुद्धिमत्ता, स्थानलाभ, आभा, पूजा और वृद्धि प्राप्त होती है ॥५२०॥ सम्यग्दर्शनमें सम्यक् प्रकारसे स्थित पुरुषके स्थिति(दीर्घायु), प्रभाव, वल, एकछत्र राज्य, प्रासाद-श्रेणी, जय-विजय, चक्रेश्वरता (चक्रवर्तीपना) और देवेन्द्रोंकी विलासलीला प्राप्त होती है ॥५२१॥ सम्यक्त्व ही जीव को संसारका आधिपत्य (स्वामित्व) प्राप्त कराता है, और नीच कुलके साथ स्त्रियोंमें जन्म, नारकभव, नपुंसकता, तिर्यंचगति, कुत्सित शरीर और अल्पायु-जनित दुःखोंका निषेध करता है। ॥५२२॥ जिस सम्यक्त्वकी प्रभा भव्य जीवको कर्म-कलंकसे विमुक्त कर देती है, जगत्में एक मात्र पूज्य वना देती है, पंच कल्याणकोंका पात्र करती है, समवशरणमें विराजमान अरहन्त जिनेन्द्र वनाती है और अत्यन्त अभीष्ट सिद्धोंके आठ गुण प्राप्त कराती है ॥५२३॥ अधिक क्या कहें—तीन जगत्में जो-जो महान् वस्तुएँ हैं और जो-जो महान् द्रव्य हैं, उन-उन समस्त वस्तुविशेषोंको श्रद्धामें तत्पर भव्य जीव प्राप्त करता है ॥५२४॥ यथा—

इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रके मागधदेशके ललितपुरके समीपवर्ती ललितगिरिपर एक

` गजेन । जीवा विध्वंसि न्धेन । पञ्चाननेन स करी विनाशितो वैरभावेन ॥५२६
हस्ती म दुःसह विपाकेन पञ्चमं नरकम् । दशसागरोपमायुर्भुक्तं तत्रैव तेनाथ ॥५२७
स च निःसरितस्तस्माज्जातस्तत्रैव नाहले गोत्रे । धनविरहितोऽतिदुःखी त्यक्तकुटुम्बोऽकलत्रश्च ॥५२८
तेनैकदा पुलिन्देन परिभ्रम्य महीतलम् । खानपानादिकं वस्त्रं न प्राप्तं पापभागिना ॥५२९
यावत्प्रचलितो गेहं तावद्वासावकानने । लोकसम्बोधनाभिज्ञं स ददर्श मुनीश्वरम् ॥५३०
ां प्रविश्य शीघ्रेण स तं नत्वा तपोधनम् । पप्रच्छ दुःखहननं वाक्यं सौख्यमनोरमम् ॥५३१
स प्रोवाच रहस्यं ि ानलोचनः । अहो भिल्ल त्वमष्टाङ्गं सम्यक्त्वं परिपालय ॥५३२

निःशङ्कितनिःकांक्षितनिर्विचिकित्सा विमूढदृष्टिश्च ।
संवरणस्थितिकरणप्रतिपत्तिविभावनाङ्गानि ॥५३३

एतैरष्टभिरङ्गैर्युक्तं सम्यक्त्वमेति यः पुरुषः । स च दुःखी न कदाचित्तस्य स्वर्गापवर्गौ च ॥५३४
यत्किञ्चित्तन्मुनिप्रोक्तं व्रतं सम्यक्त्वपूर्वकम् । तत्सर्वं तेन भिल्लेन गृहीतं निश्चयात्मना ॥५३५

सम्यक्त्वं तेन चक्रे निजहृदयगतं शुद्धमष्टाङ्गयुक्तं
ात्लक्ष्मीं प्रपेदे जिनचरणयुगं ध्यायता तत्र शैले ।
मृत्यौ पञ्चाक्षराणां पदमनुसरता कालयोगेन लब्धे
दध्रे देवेन्द्रसम्पद्विहितसुर-वधूभोगभावोऽच्युते च ॥५३६

तत्रायुस्तेन बुभुजे द्वाविंशत्सागरोपमम् । पश्चात्कालेन च्युत्वाऽसौ साकेतां नगरीं प्रति ॥५३७

कलगिरि नामका हाथी था ॥५२५॥ उस मदान्ध हाथीने उस पर्वतपर रहनेवाले समस्त जीवोंका विनाश कर दिया । पश्चात् वैरभावसे पंचानन सिंहने उस हाथीको मार दिया ॥५२६॥ वह हाथी मरकर दुःसह कर्म-विपाकसे पांचवें नरक गया और वहाँपर उसने दश सागरोपमकी आयु भोगी ॥५२७॥ तदनन्तर वह हाथीका जीव नरकसे निकल कर उसी ललितपुर नगरमें नाहल गोत्रमें धनसे रहित, कुटुम्बसे परित्यक्त, स्त्री-रहित, अत्यन्त दुःखी भील हुआ ॥५२८॥ उस पाप-भागी भीलने एक बार सर्व महीतलपर परिभ्रमण करके भी वस्त्र और खान-पानादिक कुछ भी नहीं पाया ॥५२९॥ जब वह भील घरको लौट रहा था, तब उसने वनमें संसारको सम्बोधन करनेमें कुशल एक मुनीश्वरको देखा ॥५३०॥ उसने मुनीश्वरकी सभामें शीघ्र ही प्रवेश करके, उन तपोधनको नमस्कार करके दुःखोंका विनाशक और मनोहर सुखोंका करने वाला वाक्य पूछा ॥५३१॥ तब अवधिज्ञानरूप नेत्रके धारक मुनिराजने धर्मका रहस्य उससे कहा—अहो भिल्ल, तुम अष्टाङ्ग सम्यग्दर्शनका पालन करो ॥५३२॥ उस सम्यक्त्वके आठ अंग ये हैं—निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, संवरण (उपगूहन), स्थितिकरण, प्रतिपत्ति (वात्सल्य) और प्रभावना ॥५३३॥ इन आठ अंगोंसे युक्त सम्यक्त्वको जो पुरुष प्राप्त होता है वह कभी भी दुःखी नहीं होता है और स्वर्ग-मोक्षको प्राप्त करता है ॥५३४॥ इस प्रकार उन मुनिराजने सम्यक्त्वके साथ जिस किसी भी व्रतको कहा, उस भीलने निश्चय स्वरूपसे उस सबको ग्रहण कर लिया ॥५३५॥ तब उस भीलने आठ अंगोंसे युक्त शुद्ध सम्यक्त्वको अपने हृदयमें धारण किया और जिनदेवके चरण-युगलका ध्यान करते हुए उसी पर्वतपर उसके प्रभावसे लक्ष्मीको प्राप्त किया । पुनः पंच परमेष्ठीके वाचक अक्षरोंका स्मरण करते हुए काल योगसे मरण होनेपर उसने अच्युत स्वर्गमें देवेन्द्रकी सम्पदासे भर-पूर, देवाङ्गनाओंके भोग करानेवाला इन्द्रपद धारण किया ॥५३६॥ वहाँपर उसने बाईस सागरोपमकी आयु भोगी । पश्चात् काल करके वहाँसे च्युत होकर वह उस साकेता

तत्र श्रीयुगादिनाथो बभूव । तस्य पुत्रोऽनन्तवीर्य आसीत् । तेन च पितुः प्रसादतो वहुकालं राज्यमकारि । पश्चाद् वाहुवलिभरतयुद्धमालोक्य स राजा मेदिनीं तत्याज । नाभेयसमीपे दीक्षां गृहीत्वा वाह्याभ्यन्तरतपश्चरणं कुर्वीत । त्रयोदशप्रकारचारित्रं प्रतिपाल्य ध्यानेन कर्म कृत्वा मुक्तिकान्तां समालिलिङ्गे । तत्र च सम्यक्त्वकारणम् ।

इत्यूचे भव्यलोकानां धर्मं धर्मोपदेशनम् । जिनेश्वरो जिनस्वामी कमल स्थितः ॥५३८
सिद्धिकान्तागुणग्राही शुद्धोऽनन्तचतुष्टयी । निःकलः प्रोच्यते सिद्धो रत्नत्रयविराजितः ॥५३९
सकलो निःकलो देवो वीतरागो जिनेश्वरः । स भव्यदुरितं हन्ति मुक्तिकान्तासमृद्धये ॥५४०
दुः क्षयवोधिसमाधिस्वभावमरणानि । अस्माकं सो वितरतु जिनपदपङ्केरुहालीनम् ॥५४१
कारापितं प्रवरसेनमुनीश्वरेण ग्रन्थं चकार जिनभक्तवुधाभ्रदेवः ।
श्रृणोति स्वहितप्रतिमैकवुद्धचा प्राप्नोति सोऽक्षयपदं परमं पवित्रम् ॥५४२

इति श्री अभ्रदेव-विरचितव्रतोद्योतनश्रावकाचारः सम्पूर्णः ।

●

(अयोध्या) नगरीमें जन्म लिया ॥५३७॥

उस समय वहाँ इस युगके आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव राज्य कर रहे थे, वह स्वर्गका देव उनके अनन्तवीर्य नामका पुत्र हुआ । अपने पिताके प्रसादसे उसने वहुत कालतक राज्य किया । पश्चात् वाहुवलि और भरतका युद्ध देखकर राजा अनन्तवीर्यने पृथ्वीका राज्य छोड़ दिया और नाभिनन्दन श्री ऋषभदेवके समीप जाकर और दीक्षा ग्रहण कर वाह्य और आभ्यन्तर तपश्चरण करने लगा । तेरह प्रकारके चारित्रका पालन कर और ध्यानके वलसे कर्मोंका क्षय करके मुक्ति कान्ताका आलिंगन किया अर्थात् मोक्ष प्राप्त किया । इसमें सम्यक्त्व ही मूल कारण था ।

इस प्रकार समवसरणके मध्य कमलासनपर विराजमान जिनस्वामी जिनेश्वर देवने भव्य लोगोंका धर्म और धर्मोपदेश कहा ॥५३८॥ वे जिनेश्वरदेव सिद्धिकान्ताके गुणोंके ग्राहक हैं, शुद्ध हैं, और अनन्त चतुष्टयके दारक हैं। जो रत्नत्रयसे विराजमान शरीर-रहित हैं, वे सिद्ध परमात्मा कहे जाते हैं ॥५३९॥ ये वीतराग सकल परमात्मा जिनेश्वरदेव और निःकल परमात्मा सिद्ध भगवान् मुक्ति कान्ताकी समृद्धिके लिए भव्य जीवोंके पापका विनाश करते हैं ॥५४०॥ वे जिनेश्वरदेव जिन-चरण-कमलोंके भ्रमररूप हम लोगोंका दुःख-क्षय करें, कर्म-विनाश करें, वोधि प्रदान करें और समाधि-स्वभाव युक्त मरण वितरण करें ॥५४१॥

यह ग्रन्थ श्री प्रवरसेन मुनीश्वरने कराया और जिनदेवके भक्त विद्वान् अभ्रदेवने वनाया । जो भव्य जीव अपने हितके प्रति प्रेरित होकर एकाग्र वुद्धिसे इसे सुनता है, वह परम पवित्र अक्षय पदको प्राप्त करता है ॥५४२॥

इस प्रकार श्री अभ्रदेव-विरचित व्रतोद्योतन श्रावकाचार सम्पूर्ण हुआ ।

○

श्रीपद्मनन्दि-विरचितः

श्रावकाचारसारोद्धारः

सुसंवेदन-सुव्यक्त-महिमानमनश्वरम् । परमात्मानमाद्यन्तविमुक्तं चिन्मयं नुमः ॥१
श्रीनाभेयो जिनो भूयाद् भूयसे श्रेयसे स वः । जगज्ज्ञानजले यस्य दधाति कमलाकृतिम् ॥२
वन्दारुत्रिदशाधीशशिरोमणिविभार्चितम् । यदङ्घ्रिद्वितयं सोऽस्तु सम्पदे शशिलाञ्छनः ॥३
दुर्जयो येन निर्जिज्ये विनाऽप्यस्त्रेण मन्मथः । शान्तिनाथः स नः पायादपायाज्ज्ञानलोचनः ॥४
यद्वाक्यकेलयो देहि-सन्देहध्वान्तहेलयः । स नेमिस्त्रिजगत्त्राणनिष्णः पुष्णातु वो मुदम् ॥५
अनेकान्तमयं यस्य मतं मतिमतां मतम् । सन्मतिः सन्मतिं कुर्यात्सन्मतिर्वो जिनेश्वरः ॥६
यत्प्रसादान्न मोमूर्त्ति मर्त्यस्तत्त्वार्थविस्तरे । तोष्टवीमि गणेशानं तमहं गौतमं मुनिम् ॥७
जिनराजमुखाम्भोजराजहंसी सरस्वती । कुन्देन्दुविशदा नित्यं मानसे रमतां मम ॥८
क्षीणकर्माणमद्राक्षीद्यः स्वयं केवलेक्षणम् । नमस्यामि प्रशस्यं तं कुन्दकुन्दाभिधं मुनिम् ॥९
वज्रपातायितं वाक्यैः यभूधरमूर्द्धनि । यस्य शस्यो न केषां स्यादकलङ्काभिधो मुनिः ॥१०
निःप्रभाः पुरतो यस्य खद्योता इव वादिनः । स श्रीसमन्तभद्रोऽस्तु मुदे वो रविसन्निभः ११

उत्तम ज्ञानके द्वारा जिसकी महिमा उत्कृष्ट रूपसे प्रकट है, जो अविनश्वर है, आदि-अन्तसे रहित है ऐसे चिद्-स्वरूप परमात्माको नमस्कार करते हैं ॥१॥ श्री नाभिनन्दन ऋषभदेव जिन, तुम सबके भर-पूर कल्याणके लिए होवें, जिनके ज्ञानरूप जलमें यह जगत् कमलकी आकृतिको धारण करता है, अर्थात् प्रतिविम्बित होता है ॥२॥ वन्दना करनेवाले देवलोकके स्वामियोंके शिरोंके मुकुटोंमें लगी हुई मणियोंकी प्रभासे जिनके चरण-युगल अर्चित हैं, ऐसे चन्द्र-चिन्ह विभूपित श्री चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र सबकी सम्पदाके लिए होवें ॥३॥ जिन्होंने अस्त्र-शस्त्रके विना ही दुर्जय कामदेवको जीत लिया है ऐसे वे ज्ञानलोचन श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्र हमारी अपायोंसे रक्षा करें ॥४॥ जिनकी वाक्यावली जीवोंके सन्देहरूप अन्धकारको विनष्ट करती है और जो जगत्के संरक्षणमें निष्णात हैं ऐसे वे श्री नेमिजिनेश्वर तुम्हारे हर्षको पुष्ट करें ॥५॥ जिनका अनेकान्तमय सिद्धान्त वुद्धिमानोंको परममान्य है ऐसे वे सन्मति जिनेश्वर तुम्हारी सन्मति (सुवुद्धि) को और भी अधिक सन्मति रूप करें ॥६॥ जिनके प्रसादसे मनुष्य तत्त्वार्थके विस्तार करनेमें मूच्छित नहीं होता है, अर्थात और अधिक तीक्ष्ण वुद्धिवाला हो जाता है ऐसे उन गणके स्वामी गौतम मुनिकी मैं स्तुति करता हूँ ॥७॥ श्री जिनराजके मुखकमलकी राजहंसी सरस्वती देवी जो कुन्द पुष्प और चन्द्रसे भी विशद स्वरूपवाली है, वह मेरे हृदयमें सदा काल रमण करे ॥८॥ जिन्होंने (इस कलिकाल में भी) घातिकर्म-विनाशक और केवलज्ञान नेत्रके धारक श्री सीमन्धर स्वामीको स्वयं साक्षात् देखा, उन प्रशंसनीय कुन्दकुन्द नामक मुनिराजको मैं नमस्कार करता हूँ ॥९॥ जिनके वाक्यों द्वारा शाक्य (वौद्ध) रूप पर्वतके शिखर पर वज्रपात किया गया, वे अकलंक नामके मुनिराज किनके प्रशंसनीय नहीं हैं ? अर्थात् सभीके प्रशंसनीय हैं ॥१०॥ जिनके आगे खद्योतके समान भी वादिजन निष्प्रभ हो जाते थे, वे सूर्य-सदृश तेजस्वी श्रीसमन्तभद्रस्वामी तुम

अनेकान्तमताकाशे येन चन्द्रायितं क्रमात् । वीरसेनो हतैना नो मानसे रमतां सदा ॥१२
गम्भीरमधुरोद्गारा यद्गिरास्पूतयः सताम् । शं समुत्पादयन्त्यत्र देवनन्दी स वन्द्यते ॥१३
पूर्वाचार्यप्रणीतानि श्रावकाध्ययनान्यलम् । दृष्ट्वाऽहं श्रावकाचारं करिष्ये मुक्तिहेतवे ॥१४
जम्बूद्वीपे प्रसिद्धेऽस्मिन् जम्बूवृक्षोपलक्षिते । अस्ति तद्भारतं नाम क्षेत्रं पात्रं सुखश्रि ॥१५
सुधाभुजोऽपि यत्र स्युर्जन्मने स्पृहयालयः । सच्छ्रियामास्पदं तत्र देशोऽस्ति मगधाभिधः ॥१६
सालयः शालयो यत्र नमन्ति फलभारतः । पयः पातुमिवाम्भोजकिञ्जल्कोत्करवासितम् ॥१७
राजीवं राजते यस्मिन्नन्तःस्थितमधुव्रतम् । मन्ये तद्देशपद्मायाः पात्रं कज्जलभस्मनः ॥१८
भोगीन्द्रैरुपभुक्तापि सती मातङ्गसङ्गता । पवित्रापि पयोजाक्षी यत्र भाति सरित्तती ॥१९
यत्र सत्रेषु सद्-भोज्यं भुक्त्वा पीत्वाऽम्बु शीतलम् । वेश्मानीवाध्वनि ध्वस्तश्रमः शेतेऽध्वगः सु ॥२०
गोपालबालिकागानश्रवणालसमानसाः । लसद्रङ्गा मृगा भान्ति यत्र चित्रगता इव ॥२१
अस्ति तत्र मरुद्रङ्गलक्ष्मी-लुण्टाकवैभवम् । राजद्राजगृहाकीर्णं पुरं राजगृहं परम् ॥२२
सदम्बरस्फुरच्छ्रीकः पयोधरकृतस्थितिः । कान्तोरःस्थलसादृश्यं शालो दधात्यलम् ॥२३
धर्म्यकर्मविनिर्माणध्वस्तव्याधिसमुच्चयाः । यस्मिन्नशेषसंसारसारसौख्यभुजः : ॥२४

सबके आनन्दके लिए होवें ॥११॥ अनेकान्त सिद्धान्तरूप आकाशमें जिसने क्रमसे वृद्धिगत होते हुए चन्द्रके समान आचरण किया, वे पाप-विनाशक श्री वीरसेनाचार्य हमारे मनमें सदा रमे रहें ॥१२॥ जिनकी गम्भीर, मधुर उद्गारवाली पवित्रवाणी इस संसारमें सज्जनको सुख उत्पन्न करती है, उन देवनन्दीकी मैं वन्दना करता हूँ ॥१३॥

पूर्वाचार्य-प्रणीत श्रावकाचार-सम्बन्धी शास्त्रोंको भलभाँतिसे देखकर मैं मुक्ति-प्राप्तिके लिए श्रावकाचारकी रचना करूँगा ॥१४॥ जम्बू वृक्षसे उपलक्षित इस प्रसिद्ध जम्बूद्वीपमें सुख-समृद्धिका पात्र भारतवर्ष नामका क्षेत्र है ॥१५॥ अमृत-भोजी देवगण भी जहाँ पर जन्म लेनेके लिए लालायित रहते हैं, ऐसे उस क्षेत्रमें सत्-लक्ष्मीका स्थान एक मगध नामका देश है ॥१६॥ जहाँ पर कमलके केशर-परागके समूहसे सुवासित जलको मानों पीनेके लिए ही भ्रमर-युक्त शालिधान्य फलके भारसे नम्रीभूत हो रहा है ॥१७॥ मधुव्रती भ्रमर जिसके अन्तः स्थित है, ऐसा कमल जहाँपर शोभायमान है, उसे मैं ऐसा मानता हूँ मानों वह उस देशकी लक्ष्मीके कज्जल-भस्मका पात्र ही है ॥१८॥ जहाँ पर नदियोंकी पंक्ति भोगीन्द्रों (सर्पों और भोगीजनों) से उपभुक्त होनेपर भी सती, मातंग (हाथी और चण्डाल) से संगत होनेपर भी पवित्र और कमलरूप नेत्रवाली सुशोभित है ॥१९॥ जहाँके अन्नक्षेत्रोंमें उत्तम भोजन करके और शीतल जल पी करके यात्रीजन मार्गमें भी अपने घरके समान श्रमरहित होकर सुखसे सोते हैं ॥२०॥ जिस देशमें गौ-पालकोंकी बालिकाओंके गानोंको सुननेसे आलसयुक्त मनवाले अनेक वर्णके हरिण चित्र-लिखितके समान शोभाको प्राप्त हो रहे हैं ॥२१॥

उस मगध देशमें देव-लक्ष्मीके वैभवको लूटनेवाला, शोभा-सम्पन्न राज-भवनोंसे व्याप्त राजगृह नामका नगर है ॥२२॥ जिस नगरका कोट उत्तम वस्त्रसे स्फुरायमान शोभासे युक्त, पयोधर (मेघ और स्तन) कृत स्थितिवाला, कान्ताके वक्षस्थलकी सदृशताको अच्छी रीतिसे धारण करता है ॥२३॥ जिस नगरकी प्रजा धर्मकार्योंके करनेसे, व्याधियोंके समूहका विनाश करनेसे नीरोग और समस्त संसारके सारभूत सुखोंको भोगनेवाली है ॥२४॥ कृष्णागुरुसे युक्त

कृष्णागुरुस्फुरद्-धूपैर्व्याप्तं वा नभस्तलम् । ाकाण्डेऽपि जायन्ते केकिनो मेघशङ्किनः ॥२५
अधःकृतं मया भोगिपुरमप्यात्मशोभया । मरुच्चलध्वजव्याजसत्करैर्नृत्यतीव यत् ॥२६
हरिन्मणिमये गेहप्राङ्गणे प्रतिबिम्बितैः । नक्षत्रैर्यत्र पुष्पाणां भ्रान्तिमापुर्निशि ि : ॥२७
यत्राभ्रंलिहगेहाग्रस्थितानां योषितां मुखैः । जनैरुद्वदनैर्नक्तं सृष्टिश्चन्द्रमयीक्ष्यते ॥२८
यत्र स्फटिकभूमीषु प्रतिबिम्बानि योषिताम् । नागलोकवधूभ्रान्तिं तन्वन्ति पुरवारि ाम् ॥२९
यत्रारुणाश्मभित्तीनां कान्त्या प्रत्यूषशङ्कया । मोदन्ते कोककामिन्यो दीर्घिकासु निशास्वपि ॥३०
तमालश्यामला गर्ज्जतर्जिताशेषजन्तवः । चारुगन्धवहा भान्ति मेघाश्वमतङ्गजाः ॥३१
कलिकोपक्रमो यत्र श्रूयते वनशाखिषु । बन्धुजीवविघातश्च ग्रीष्मावसरकेलिषु ॥३२
प्रामाणिके जातिदोषाश्च छलभाषणम् । कलिवने गुणच्छेदो मुक्ताहारे न नागरे ॥३३
सरोगा राजहंसाः स्युर्मदान्धा यत्र हस्तिनः । कलावद्वैरिणः कोका न तु लोकाः कदाचन ॥३४
वियोगो वृक्षेषु मिथुनेषु न कामिनाम् । कठिनत्वं कुचेष्वेव मानसेषु न योषिताम् ॥३५
नमन्नृपशिरोरत्नकरस्फारपदद्युतिः । जितारिश्रेणिकः सोऽत्र श्रेणिकोऽभून्महीपतिः ॥३६

धूप-धूम्रोंसे व्याप्त गगनतलको देखकर जहाँपर असमयमें भी मयूर मेघकी शङ्कावाले हो जाते हैं ॥२५॥ मैंने अपनी शोभासे भोगिपुर (नागराजके नगर) को भी अधःकृत कर दिया है, मानों इसी कारण वह नगर पवनसे चंचल ध्वजाओंके बहाने उत्तम हाथोंके द्वारा नृत्य सा करता हुआ प्रतीत होता है ॥२६॥ जहाँपर रात्रिके समय स्त्रियाँ हरिन्मणिमयी घरके आँगनमें प्रतिबिम्बित नक्षत्रोंके द्वारा पुष्पोंकी भ्रान्तिको प्राप्त होती हैं ॥२७॥ जहाँपर रात्रिके समय गगनचुम्बी भवनोंके अग्रभागपर बैठी हुई स्त्रियोंके मुखोंसे भूमिपर खड़े ऊपरकी ओर मुख किये लोगोंको सारी सृष्टि चन्द्रमयी-सी दिखाई देती है ॥२८॥ जहाँपर स्फटिकमयी भूमियोंपर स्त्रियोंके प्रतिबिम्ब नगर-निवासियोंको नागलोककी स्त्रियोंका भ्रम उत्पन्न करते हैं ॥२९॥ जहाँपर अरुणवर्णके पाषाणसे निर्मित भित्तियोंकी कान्तिसे उषाकालकी शंकासे रात्रिमें भी वापिकाओंमें बैठी कोक-कामिनियाँ (चकवियाँ) पति-मिलनकी आशासे हर्षित होने लगती हैं ॥३०॥ तमालपत्रके समान श्यामवर्णवाली अपनी गर्जनासे समस्त जन्तुओंको तर्जना देनेवाली सुन्दर गन्धवह (वायु) मेघ, अश्व और हाथीके समान शोभाको प्राप्त होती है ॥३१॥ जहाँपर कलि (कलह) और कोपका क्रम और अर्थान्तरमें कलिकाओंका उपक्रम केवल वनवृक्षोंमें सुना जाता है। बन्धुजीव (नामक पुष्प) का विघात केवल ग्रीष्मकालीन क्रीड़ाओंमें ही सुना जाता है अन्यथा कोई भी अपने बन्धुओंका एवं जीवोंका विघात नहीं करता था ॥३२॥ जहाँपर प्रमाणवादी लोगोंमें ही जाति-दोष और छलका भाषण सुना जाता है, अन्यथा न किसी व्यक्तिमें जाति-दोष था, और न छलपूर्ण कथन ही था। कांदलके वनमें ही गुणों (सूत्रों-रेशों) का उच्छेद देखा जाता था, या मुक्ताहारमें। नगर-निवासियोंमें गुणोंका उच्छेद नहीं था ॥३३॥ जहाँपर राजहंस ही सरोग (सरोवर-गत) थे, अन्य कोई रोग-युक्त नहीं था, जहाँपर हाथी ही मदान्ध थे और कोई मदान्ध नहीं था। जहाँपर कोकपक्षी ही कलावान् (चन्द्र) के वैरी थे, और कोई लोग कभी भी कलावालोंके वैरी नहीं थे ॥३४॥ वियोग (वि = पक्षियोंका योग) जहाँ केवल वृक्षोंमें था, कामी जनोंके युगलोंमें इष्ट-वियोग नहीं था, काठिन्य केवल स्त्रियोंके स्तनोंमें ही था, स्त्रियोंके हृदयोंमें कठोरपना नहीं था ॥३५॥

इस राजगृह नगरमें श्रेणिक राजा था, जिसने शत्रुओंकी श्रेणियोंको जीत लिया था और जिसके चरण नमस्कार करते हुए राजाओंके सिरपरके मुकुटोंके रत्नोंकी किरणोंसे स्फुरायमान

पृथिव्यां शरणं शेषो यथाऽभूद्भारधारणात् । तयोर्जस्विवलोपेतो यद्वाहुरपि रक्षणात् ॥३७
यस्माद्विस्मापितोऽन्त्रिद्रकल्पद्रोर्दानमञ्जसा । मनोरथाधिकं लब्ध्वा नार्थिनः पुनरर्थिनः ॥३८
गम्भीरोऽपि सदाचारुमणीनामाकरोऽपि सन् । जडाधारितया धत्ते न साम्यं यस्य सागरः ॥३९
यः शङ्करोऽपि नो जिह्मद्विजिह्वपरिवारितः । यो राजापि क्वचिन्नैव कलङ्काकुलविग्रहः ॥४०
मन्थाचलेन दुग्धाब्धौ पद्मेषु रविरश्मिभिः । पीडिता कमला मन्ये यद्भुजे स्थिरतामगात् ॥४१
शृङ्गाररसारसर्वस्वसरसीसारसेक्षणा । सतीमतल्लिका तस्य चेलना समभूद्वधूः ॥४२
इमामेतादृशीं चक्रे जराकम्प्रः कथं विधिः । इत्याश्चर्यादिवाभूवन्निर्निमेषाः सुराङ्गनाः ॥४३
वाणीपाणिविपञ्चिश्रीगर्वसर्वस्वहारिणीम् । यद्वाणीं कोकिलाऽऽकर्ण्य शङ्के कार्ष्ण्यं ह्रियाऽगमत् ॥४४
कृष्णकेशचयव्याजादायातः स विधुन्तुदः । यदीयप्रस्फुरद्वक्त्रविधुग्रसनलीलया ॥४५
भवत्वा भङ्क्त्वाऽऽत्मनो बिम्बं सृजत्वविरतं शशी । तथाप्येति न सादृश्यं यदीयवदनेन्दुना ॥४६
लसद्भालं महीपालमन्यदा तं सदःस्थितम् । पुष्पहस्तः समागत्य वनपालो व्यजिज्ञपत् ॥४७
वसुन्धराभराधारस्तम्भभूतभुजद्वय । मार्त्तण्डमण्डलोद्दण्डप्रताप शृणु भूपते ॥४८

रहते थे ॥३६॥ जैसे पृथ्वीका भार धारण करनेसे शेषनाग पृथ्वीका शरण माना जाता है, उसी प्रकार इस राजाकी भुजा भी प्रजाकी रक्षा करनेसे ऊर्जस्व बलसे युक्त थी ॥३७॥ आश्चर्यचकित किया है कल्पवृक्षको जिसने, ऐसे राजा श्रेणिकके द्वारा मनोरथसे भी अधिक दान पा करके याचक जन फिर किसी भी वस्तुके लिए किसीसे भी याचना करनेवाले नहीं रहे ॥३८॥ अति गम्भीर और सदा ही सुन्दर मणियोंका भण्डार भी सागर (रत्नाकर) जड (ड-लके श्लेषसे जल) को धारण करनेसे जिसकी समताको धारण नहीं करता है ॥३९॥ जो शंकर (शंभु-सुख करनेवाला) होकर के भी कुटिल दो जिह्वावाले सर्पों (साँपों और दुर्जनजनों) से घिरा हुआ नहीं था। और जो प्रजाको शान्ति देनेवाला चन्द्र होकरके भी कहींपर भी कलंकसे कलंकित शरीरवाला नहीं था ॥४०॥ क्षीर-सागरमें रहते समय मन्थाचलसे (किंवदन्तीके अनुसार सुमेरुसे मथे जानेके कारण) पीड़ित और कमलोंमें निवास करते समय सूर्यकी तीक्ष्ण किरणोंसे पीड़ाको प्राप्त हुई लक्ष्मी जिस श्रेणिककी भुजामें आकर स्थिरताको प्राप्त हो गई थी, ऐसा मैं मानता हूँ ॥४१॥

सारभूत सर्वश्रेष्ठ शृंगारवाली, कमल-सदृश नेत्रवाली और सतियोंमें शिरोमणि ऐसी चेलना उसकी प्रिय रानी थी ॥४२॥ वृद्धावस्थासे कम्पित शरीरवाले विधाताने इस चेलनाको ऐसी परमसुन्दरी कैसे बना दिया? मानों इस प्रकारके आश्चर्यसे ही देवाङ्गनायें निर्निमेष हो गई हैं। अर्थात् अपलक दृष्टिसे उसे देखते रह गई हैं ॥४३॥ वीणाको हाथमें लेकर सुन्दरगान करती हुई सरस्वतीके भी गर्व सर्वस्वको अपहरण करनेवाली जिस चेलनाको मधुर-वाणीको सुनकर कोयल लज्जासे काली हो गई है, ऐसी मैं शंका करता हूँ ॥४४॥ जिसके विकसित मुख चन्द्रको ग्रसन करनेकी लीलासे आया हुआ वह राहु मानों काले केशपाशके व्याजसे शिरपर स्थिर हो गया है ॥४५॥ यदि चन्द्रमा अपने भीतरके कलंकको वार-बार छिन्न-भिन्न करके भी निरन्तर अपना सुन्दर बिम्ब बनावे, तो भी जिस चेलनाके मुखचन्द्रके साथ सादृश्यको प्राप्त नहीं हो सकता है ॥४६॥

किसी एक दिन सभामें विराजमान सुन्दर भाल (मस्तक) वाले महीपाल श्रेणिकसे पुष्पोंको हाथमें धारण किये हुए वनपालने आकर यह कहा—॥४७॥ हे पृथ्वी-भारके आधार-भूत दो स्तम्भ-स्वरूप भुजा युगलके धारक, हे सूर्य-मण्डलसे भी प्रचण्ड प्रतापशालिन् राजन्, सुनिये ॥४८॥

जगज्जनमनोजाड्यध्वान्तध्वंसविशारदः । स्त्यानध्यानानले कर्मकाष्ठं यो हुतवान् प्रभुः ॥४९
संसारसागरोत्तारपोतत्रारित्रमुत्तमम् । यं जिनेन्द्रं पुराणज्ञाः पुराणपुरुषं विदुः ॥५०
कुवादिव्रातनक्षत्रप्रभावं हरता सता । विभाकरेण येनाऽऽशु चक्रे-भव्याब्जभासनम् ॥५१
रत्नत्रयमयस्फारतारहारातिशायिने । यस्मै सन्मतये मुक्तिः स्पृहयामास रागतः ॥५२
धर्मोपदेशमासाद्य यस्माद्विस्मयकारिणः । परस्परं त्यजन्ति स्म तिर्यञ्चोऽपि विरोधताम् ॥५३
जडराशिसमुत्पन्ना गरलेन सनाभिताम् । दधतीव सुधा यस्य गिरा साम्यमुपेयुषी ॥५४
सच्चारित्रतनुत्रान्तर्वर्तिगात्रे गतस्मये । तस्मिन् रतिपतेर्बाणा निशिताः कुण्ठितामगुः ॥५५
वर्धमानो जिनेशानो लसद्-ध्यानो दयाधनः । हतमानः समायातः स भूप विपुलाचलम् ॥५६
निशम्य वनपालस्य भारतीमिति भूपतिः । आसीदानन्दरोमाञ्चकवचाञ्चितविग्रहः ॥५७
ततः पीठात्समुत्थाय प्रमोदमदमेदुरः । गत्वा सप्त पदान्येष तां दिशं भक्तितोऽनमत् ॥५८
स्वाङ्गसङ्गपवित्राणि वस्त्राण्याभरणानि च । वनपालाय भूपालस्ततो हर्षाद् व्यशिश्रणत् ॥५९
यात्राभिसूचिनीं भेरीमुररीकृतसद्गुणः । दापयित्वा महीपालश्चचाल सपरिच्छदः ॥६०
अप्सरोभिः समाकीर्णं मरुल्लीलाविराजितम् । अद्राक्षीत्स पुरोगच्छन्नचलं स्वर्गसन्निभम् ॥६१
तत्र मुक्त्वाऽऽतपत्राद्यं राज्यालङ्कारमूर्जितम् । स विवेश सभां भूपः सुरोरगनरार्चिताम् ॥६२

जगज्जनोंके मनकी जड़ता रूप अन्धकारके विध्वंस करनेमें विशारद हैं, प्रज्वलित ध्यानरूप अग्निमें कर्मरूप काष्ठको जिन्होंने भस्म कर दिया है, संसार-सागरसे पार उतारनेमें जहाजके समान उत्तम चारित्रके धारक जिसको पुराणोंके ज्ञाता लोग पुराण-पुरुष कहते हैं, कुवादियोंके समुदायरूप नक्षत्रोंके प्रभावको हरण करते हुए जिस प्रभाकरने अति शीघ्र ही भव्यजीवरूपी कमलोंको विकसित कर दिया है, रत्नत्रयमयी प्रकाशमान विशाल सुन्दर हारके धारण करनेसे अतिशयशाली जिस सन्मतिवाले भी वर्धमान स्वामीको वरण करनेके लिए परम अनुरागसे मुक्ति रूपी वनिताने इच्छा की है, आश्चर्यकारी जिस प्रभुसे धर्मका उपदेश प्राप्त करके तिर्यंचोंने भी परस्परके वैरविरोधको छोड़ दिया है, जड़ (जल-) राशिवाले समुद्रसे उत्पन्न हुई और विषके साथ सहोदरी (भगिनी) पनको धारण करनेवाली भी सुधा जिनकी वाणीके साथ समानताको धारण नहीं करती है, अर्थात् जो अमृतसे भी अधिक मधुर वाणीको बोलते हैं, सम्यक् चारित्ररूप तनुत्र (शरीर-रक्षक कवच) से सुरक्षित शरीरवाले और गर्व-रहित जिस प्रभुके ऊपर रति-पति कामदेवके तीक्ष्ण बाण भी कुण्ठित हो गये हैं, ऐसे मान-विनाशक, होकरके भी दयाके धनी और ध्यानसे शोभायमान जिनेशान श्री वर्धमान स्वामी विपुलाचल पर्वतपर पधारे हैं ॥४९-५६॥

वनपालकी यह सुन्दर वाणी सुनकर श्रेणिक महाराज आनन्दसे रोमाञ्च रूप कवचसे संयुक्त शरीर वाला हो गया अर्थात् परम हर्षसे विभोर हो गया ॥५७॥ तब प्रमोद रूप परम हर्षसे व्याप्त होकर और सिंहासनसे उठकर सात पग आगे जाकर उस दिशाको भक्तिसे श्रेणिकने नमस्कार किया ॥५८॥ तत्पश्चात् अपने शरीरके संगसे पवित्र हुए समस्त वस्त्र और आभूषण राजाने परम हर्षसे वनपालके लिए दे दिये ॥५९॥ पुनः वन्दना-यात्राको सूचित करनेवाली भेरीको बजवा करके सद्गुणोंको स्वीकार करनेवाला वह श्रेणिक महाराज राज्य-परिकरके साथ प्रभुकी वन्दनाको चला ॥६०॥ तब आगे जाते हुए उस श्रेणिकने देवाङ्गनाओंसे व्याप्त, और देवलीलासे शोभित स्वर्गके सदृश विपुलाचलको देखा ॥६१॥ वहाँपर समवशरणके बाहिर ही छत्र-चामर आदि

महामोहव्यपोहेन सुभगं भावुकोदयम् । त्रिःपरीत्य तमीशानमिति स्तोतुं प्रचक्रमे ॥६३
वाचामगोचरं नाथ स्तुतिगोचरतामहम् । यन्निनीषुस्त्वयि स्फारभक्तिस्तत्र कारणम् ॥६४
अस्मिन्नपारसंसारपारावारे निमज्जताम् । त्वमेवालम्बनं नाथ प्राणिनां करुणाचणः ॥६५
यो रिरंसति भव्यात्मा दुर्लभां मुक्तिवल्लभाम् । पवित्रं नाम मन्त्रं ते स जपत्वनिशं प्रभो ॥६६
विहाय हिमशीतां ये त्वद्वाक्यामृतदीर्घिकाम् । रमन्ते कूपदेशेषु ते मूढा दैववञ्चिताः ॥६७
देव त्वद्दर्शनादेव भावोऽप्येति विनाशिताम् । उदिते हि सहस्रांशौ तिष्ठतीह कियत्तमः ॥६८
चतुर्गतिभवं दुःखं को निराकर्त्तुमीश्वरः । त्वां विना किमु दृष्टोऽब्धिमगस्त्यादपरः पिबन् ॥६९
गणनां त्वद्गुणौघस्य यश्चिकीर्षति मूढधीः । नभः कत्यङ्गुलानीति पुराभ्यासं करोतु सः ॥७०
भूर्भुवःस्वस्त्रयीनाथशिरोमालार्चिताङ्घ्रये । केवलज्ञाननेत्राय तुभ्यं सुमतये नमः ॥७१
लोकप्रीणगुणाधारं गौतमं जगदुत्तमम् । ततो नत्वा निविष्टोऽसौ विशिष्टे नरकोष्ठके ॥७२
तत्पाणिपद्मसङ्कोचं कुर्वन् स मुनिचन्द्रमाः । आशीःसुधारसेनाशु प्रीणाति स्म महीपतिम् ॥७३
महीपतिरपि प्राह भक्तिप्रह्वशिरा मुनिम् । धर्मजिज्ञासमानं मां पुनीहि परया गिरा ॥७४

सभी उत्कृष्ट राज्य-चिन्होंको छोड़कर श्रेणिक राजाने देव, नाग और मनुष्योंसे पूजित सभा (समवशरण) में प्रवेश किया ॥६२॥

महान् मोहके विनाश कर देनेसे सौभाग्यशाली और परम पुण्योदयको प्राप्त उन त्रिजगत्स्वामी भगवान्की तीन प्रदक्षिणा देकरके उस श्रेणिकने इस प्रकार स्तुति करना प्रारम्भ किया-- हे नाथ, आप वचनोंके अगोचर हैं, फिर भी मैं जो आपको स्तुतिका विषय बनानेके लिए उत्सुक हो रहा हूँ, इसमें मेरी आपमें बढ़ती हुई भक्ति ही कारण है ॥६३-६४॥ हे नाथ, इस अपार संसार-सागरमें डूबनेवाले प्राणियोंके करुणा-कुशल आप ही आलम्बन हैं ॥६५॥ हे प्रभो, जो भव्यजीव मुक्तिवल्लभाके साथ रमण करनेकी इच्छा करता है, उसे आपका पवित्र नाम ही निरन्तर जपना चाहिए ॥६६॥ सूर्यके प्रचण्ड तापसे सन्तप्त जो लोग तुम्हारे वचनामृतरूपी हिम (बर्फ) सदृश अतिशीतल वापिकाको छोड़ कर कूप-सदृश अन्य मतोंके वचनप्रदेशोंमें रमते हैं, वे मूढजन दैवसे ठगाये गये हैं ॥६७॥ हे देव, तुम्हारे दर्शनसे ही जन्म-मरणरूप संसार विनाशको प्राप्त होता है। सूर्यके उदय होनेपर अन्धकार क्या इस लोकमें ठहर सकता है? नहीं ठहर सकता ॥६८॥ हे भगवान्, चतुर्गति-जनित दुःखको निराकरण करनेके लिए तुम्हारे विना और कौन समर्थ है? क्या अगस्त्य ऋषिको छोड़कर दूसरा कोई समुद्रको पीता हुआ देखा गया है? अर्थात् नहीं देखा गया ॥६९॥ जो मूढ़ बुद्धिवाला आपके गुण-समूहकी गणना करनेकी इच्छा करता है, वह 'आकाश कितने अंगुल प्रमाण है' इस प्रकारसे आकाशको नापनेका मानों पूर्वाभ्यास करता है ॥७०॥ भूर्भुवःस्वस्त्रयीनाथोंके (अधो, मध्य और स्वर्गलोकके स्वामियोंके) शिरोंपर धारण की गई मालाओंसे पूजित चरणवाले, केवलज्ञान रूप नेत्रके धारक और परम सुमति रूप भगवन्, आपके लिए मेरा नमस्कार है ॥७१॥ तदनन्तर लोकको प्रीणित करनेवाले गुणोंके धारक और जगत्में उत्तम ऐसे गौतम स्वामीको नमस्कार करके वह श्रेणिक राजा मनुष्योंके विशिष्ट कोष्ठक (कक्ष) में बैठ गया ॥७२॥

तब राजा श्रेणिकके अपने हस्तकमलको संकुचित करनेपर मुनियोंमें चन्द्रके समान शोभित होनेवाले उन गौतम स्वामीने आशीर्वादरूप अमृतरससे तुरन्त राजाको प्रसन्न किया, अर्थात् श्रेणिकको शुभ आशीर्वाद दिया ॥७३॥ तब परम भक्तिसे नम्रीभूत है शिर जिसका ऐसे राजाने

धर्मं धर्मं प्रजल्पन्ति जल्पकाः केचिदुद्धताः। न विदन्ति परं तत्त्वं सत्त्वहितङ्करम् ॥७५
त्वत्तोऽधिगन्तुमिच्छामि ततस्तल्लक्षणं गुरो। गुर्वादेशाद्यतः प्रत्यक्षमिव लक्ष्यते ॥७६
भ्रान्तिनाशोऽत्र नो तावद्यावन्न त्वादृशः श्रु । न हि सूर्यादृते दृष्टं नश्यन्नैशं : क्वचित् ॥७७
श्रुत्वेति दृक्प्रसादेन सम्मुखीं भ दम्। कुर्वन्नुर्वीपतिं भ तं यतिरवोचत ॥७८
धरत्यपारसंसारदुःखादुद्धृत्य यो नरान्। मोक्षेऽक्षयसुखे भूप तं धर्मं विद्धि तत्त्वतः ॥७९
यस्मादभ्युदयः पुंसां निश्रेयसफलाश्रयः। वदन्ति विदिताम्नायास्तं धर्मं धर्मसूरयः ॥८०
सम्यग्दृग्बोध नि विविक्तानि विमुक्तये। धर्मं सागारिणामाहुर्धर्मकर्मपरायणाः ॥८१

सम्यग्दर्शनस्वरूपं –

देवे देवमतिर्धर्मे धर्मधीर्मलवर्जिता। या गुरौ गुरुता बुद्धिः सम्यक्त्वं तन्निगद्यते ॥८२
अदेवे देवताबुद्धिरधर्मे वत धर्मधीः। अगुरौ गुरुताबुद्धिस्तन्मिथ्यात्वं विपर्ययात् ॥८३
भूर्भुवःस्वस्त्रयीनाथपूजितो जितमन्मथः। रागद्वेषविनिर्मुक्तो देवोऽत्र स निगद्यते ॥८४
देवः स एव स ब्रह्मा स विष्णुः स महेश्वरः। बुद्धः स एव यो दोषैरष्टादशभिरुज्झितः ॥८५
क्षुत्पिपासा भयं द्वेषो रागो मोहो जरा रुजा। चिन्ता मृत्युर्मदः खेदो रतिः स्वेदश्च विस्मयः ॥८६
विषादो जननं निद्रा दोषा एते सुदुस्तराः। सन्ति यस्य न सोऽवश्यं देवस्त्रिभुवनेश्वरः ॥८७

कहा—हे स्वामिन्, धर्मकी जिज्ञासावाले मुझे आप अपनी परम मधुर वाणीसे पवित्र कीजिए ॥७४॥ इस संसारमें कितने ही उद्धत जल्पाक (बहुत बोलनेवाले वावदूक) लोग 'धर्म-धर्म' शब्दको बोलते हैं, परन्तु वे धर्मके सर्व प्राणियोंके हितकारक तत्त्वको नहीं जानते हैं ॥७५॥ इसलिए हे गुरुवर, मैं आपसे धर्मका लक्षण जानना चाहता हूँ, क्योंकि गुरुके आदेशसे सर्वतत्त्व प्रत्यक्षके समान प्रतिभासित होता है ॥७६॥ जबतक आप जैसोंसे धर्मका रहस्य नहीं सुना है, तब तक धर्म-विषयक भ्रान्तिका नाश नहीं हो सकता है। क्या कहीं भी रात्रिका अन्धकार सूर्यके विना नष्ट होता हुआ देखा गया है? ॥७७॥

राजा श्रेणिकके ऐसे वचन सुनकर अपनी दृष्टिके प्रसादसे भव्यजीवोंकी सभाको सम्मुख करते हुए भक्तिसे नम्रीभूत राजासे गौतमस्वामी बोले—हे राजन्, इस अपार संसार-सागरके दुःखोंसे निकालकर मनुष्योंको अक्षय सुखवाले मोक्षमें धरता है, उसे ही परमार्थसे धर्म जानना चाहिए ॥७८-७९॥ जिससे पुरुषोंका निश्रेयसरूप फलका आश्रय ऐसा अभ्युदय फलित (सिद्ध) होता है, उसे आम्नायके जाननेवाले धर्माचार्य धर्म कहते हैं ॥८०॥ धर्म-कार्यमें परम कुशल लोग मुक्ति-प्राप्तिके लिए पृथक्-पृथक् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको गृहस्थोंका धर्म कहते हैं ॥८१॥ इनमेंसे सम्यग्दर्शनका स्वरूप इस प्रकार है —देवमें निर्मल देव-बुद्धि होना, धर्ममें निर्दोष धर्म-बुद्धि होना और गुरुमें मल-रहित गुरुबुद्धि होना, इसे ही सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन कहा जाता है ॥८२॥ इसके विपरीत अदेवमें देव-बुद्धि होना, अधर्ममें धर्म-बुद्धि होना और अगुरुमें गुरु-बुद्धि होना यह मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन है। (जो कि संसार सागरमें डुबाता है) ॥८३॥ जो इस लोकमें भूर्भुवः-स्वस्त्रयीनाथोंसे पूजित, और काम-विजेता है तथा राग-द्वेषसे सर्वथा रहित है, वही सच्चा देव कहा जाता है ॥८४॥ वही देव सच्चा ब्रह्मा है, वही सच्चा विष्णु है, वही सच्चा महेश्वर है और वही सच्चा बुद्ध है जो इन वक्ष्यमाण अठारह दोषोंसे रहित होता है ॥८५॥ वे अठारह दोष ये हैं—क्षुधा, पिपासा, भय, द्वेष, राग, मोह, जरा, रोग, चिन्ता, मृत्यु, मद, खेद, रति, स्वेद, विस्मय, विषाद, जन्म, और निद्रा ये अति दुस्तर अठारह दोष जिसके नहीं होते हैं, वही अवश्य त्रिभुवनका

निर्मलः सर्ववित् सार्वः परमः परमेश्वरः । परंज्योतिर्जगद्भर्ता शास्ताऽऽप्तः परिगीयते ॥८८
उक्तं च—अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम् ।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ॥८९
ध्यातव्योऽयं सदा चित्ते पूजनीयोऽयमेव च । निषेव्योऽयं महाभक्त्या संसारभयभीरुभिः ॥९०
ये कलत्राक्षसूत्रास्त्ररागद्वेषविसंस्थुलाः । क्रोधाविष्कृतचेतस्काः न ते [वत] देवापहाः ॥९१
अपारासारसंसारसागरे पततां नृणाम् । धारणाद् धर्म इत्युक्तो व्यक्तं मुक्तिसुखप्रदः ॥९२
क्षमादिदशभेदेन भिन्नात्मा भुक्तिमुक्तिदः । जिनोक्तः पालनीयोऽयं धर्मश्चेदस्ति चेतना ॥९३
उक्तंच—धर्मः सेव्यः क्षान्तिर्मृदुत्वमृजुतात्र शौचमथ सत्यम् ।
आकिञ्चन्यं ब्रह्मत्यागश्च तपश्च संयमश्चेति ॥९४
मुक्तिं कन्दलयन् भवं विदलयन् ज्ञानं समुल्लासयन् पावित्र्यं जनयन् गुणान् प्रगुणयन्पापं समुन्मूलयन्
सौख्यं पल्लवयन् श्रियं किशलयन्नानन्दमुत्पादयन् केषां नैष हितङ्करस्त्रिभुवने धर्मो दयालिङ्गितः॥९५
मनुष्यत्वमिदं सारं भवेषु निखिलेष्वपि । पुमर्थस्तत्र तत्रापि धर्मस्तत्र दयापरः ॥९६
दिनं दिनकरच्युतं सरसिजं सरोवर्जितं सुतेन रहितं कुलं धरणिमन्तरेणाङ्घ्रिपः ।
नरेश्वरमृते क्वचिद्भवति राज्यमूर्जस्वलं विना न करुणां पुनः सुकृतमत्र संभाव्यते ॥९७

ईश्वर देव है ॥८६-८७॥ वही सर्वदोष विमुक्त वीतरागी देव निर्मल, सर्ववित् (सर्वज्ञ) सार्व (सर्व-हितकारी, परम, परमेश्वर, परंज्योति, जगद्-भर्त्ता, शास्ता और आप्त कहा जाता है ॥८८॥

कहा भी है—वह वीतरागी शास्ता रागके विना ही दूसरोंके लिए सच्चे धर्मका हितकारी उपदेश देता है । बजानेवालेके हाथके स्पर्शसे बजता हुआ मृदंग क्या अपेक्षा करता है ॥८९॥ इसलिए संसारके भयसे डरनेवाले भव्यजीवोंको सदा ही अपने मनमें उक्त स्वरूपवाले परमात्माका ध्यान करना चाहिए, उसे ही पूजना चाहिये और महाभक्तिसे उसीकी सेवा करनी चाहिए ॥९०॥ जो स्त्री, अक्षसूत्र, अस्त्र-शस्त्र, राग और द्वेषोंसे संयुक्त है और जिनका चित्त क्रोधसे व्याप्त है, वे सत्यार्थदेव नहीं हैं, प्रत्युत देवत्व-रहित कुदेव हैं ॥९१॥

इस अपार असार संसार-सागरमें पड़े हुए प्राणियोंको धारण करता है, उनकी रक्षा करता है, वही धर्म कहा गया है और व्यक्तरूपसे वही मोक्षके सुखका देने वाला है ॥९२॥ वह धर्म उत्तम क्षमा आदि दश भेदसे भिन्न-भिन्न स्वरूप वाला है, स्वर्ग और मोक्षको देने वाला है, यदि मनुष्यमें चेतना है तो उसे जिन-भाषित यह धर्म पालना चाहिए ॥९३॥

कहा भी है—क्षमा, मृदुता, ऋजुता, शौच, सत्य, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य, त्याग, तप और संयम यह दश प्रकारका धर्म इस लोकमें सेवन करनेके योग्य हैं ॥९४॥

मुक्तिको प्राप्त करनेवाला, संसारका विनाशक, ज्ञानको उल्लसित करनेवाला, पवित्रताको पैदा करनेवाला गुणोंको प्रगुणित करनेवाला, पापको समुन्मीलित करनेवाला, सुखको पल्लवित करनेवाला, लक्ष्मीको विकसित करनेवाला, और आनन्दको उत्पन्न करनेवाला दयासे आलिंगित यह धर्म इस त्रिभुवनमें किनका हित करनेवाला नहीं है । अर्थात् सभीका हितकारी है ॥९५॥ समस्त ही भवों (पर्यायों) में यह मनुष्यत्व ही सार है, मनुष्यभवमें भी पुरुषार्थ ही प्रधान है और पुरुषार्थमें भी दयामयी धर्म परम प्रधान है ॥९६॥ सूर्यके विना दिन संभव नहीं, सरोवरके विना सरोज संभव नहीं, पुत्रसे रहित कुल संभव नहीं, भूमिके विना वृक्ष संभव नहीं, राजाके विना

दानध्यानाध्ययनस्नानतपोजाप्यदेवपूजादि ।
भस्मनि हुतमिव सकलं निर्दयहृदयस्य विफलं स्यात् ॥९८

नयनविहीनं वदनं देहं जीवेन वर्जितं यद्वत् । करुणारहितं तद्वन्न शोभते धर्म-कर्मापि ॥९९

मौनदानक्षमाशीलपरीषहजयादिकम् । तमोनृत्यमिव व्यर्थमदयालोर्न संशयः ॥१००

न्यायकुलस्थितिपालनगुरुसेवनसद्यशोर्ज्जनगुणाद्याः ।
तुषखण्डनमिव निखिला निर्दयमनसः प्रजायन्ते ॥१०१

पङ्गुस्तुङ्गे [शिखरि] शिखरे धावमानेऽपि गृह्णन् वृक्षस्योच्चैः फलमविकलं वामनश्चारुगानम् ।
शृण्वन्नेडो विसृमररसं नृत्यमन्धोऽपि पश्यन् दृष्टो लोके न पुनरदयालिङ्गिनः क्वापि धर्मः ॥१०२

जन्मी च्युतश्चेतनया तपोधनः क्षमामृते नीति विवर्जितो नृपः ।
श्रिया विहीनो न यथा गृहस्थितो विभाति धर्मो न तथा दयां विना ॥१०३

सुखं वा दुःखं वा विदधति परे यत्तनुभृतस्तदेव स्यात्तेषामधिकमिह वाऽमुत्र जनने ।
इति ज्ञात्वेच्छन्तः स्वहितमहितोत्पादकमलं वितन्वत्यन्येषां क्वचिदपि न किञ्चित् कृतधियः ॥१०४

आत्मनः प्रतिकूलं यत्परेषां न समाचरेत् । तद्धर्मस्येति धर्मज्ञाः प्रथमं लिङ्गमभ्यधुः ॥१०५

ऊर्जस्वल राज्य संभव नहीं, उसी प्रकार करुणाके विना इस संसारमें सुकृत (धर्म) संभव नहीं है ॥९७॥ दया-रहित हृदयवाले पुरुषका दान, ध्यान, अध्ययन, स्नान, तप, जाप, और देवपूजनादि सभी कुछ उसी प्रकार फलसे रहित है, जैसे कि भस्ममें हवन करना व्यर्थ होता है ॥९८॥ जैसे नेत्रोंके विना मुख, जीवसे रहित शरीर शोभा नहीं पाता है, उसी प्रकार करुणासे रहित धर्म-कर्म भी शोभा नहीं पाता है ॥९९॥ दयासे रहित पुरुषके मौन, दान, क्षमा, शील, और परीषहोंको जीतना आदि सभी धर्मकार्य अन्धकारमें नृत्य करनेके समान व्यर्थ होते हैं इसमें कोई संशय नहीं है ॥१००॥ दया-रहित मनुष्यके न्याय, कुल स्थितिका पालन, गुरु-सेवा, प्रशस्त यशोऽर्जन, आदि जितने सद्-गुण हैं, वे सभी तुषके कूटनेके समान व्यर्थ (फल-रहित) होते हैं ॥१०१॥ लोकमें पङ्गु मनुष्य कदाचित् अति उन्नत पर्वतके शिखरपर दौड़ता हुआ देखा जा सकता है, वामन पुरुष बहुत ऊँचे वृक्षके फलको विना किसी कठिनाईके ग्रहण करता हुआ देखा जा सकता है, बधिर पुरुष सुन्दर गानको सुनता हुआ देखा जा सकता है, और अन्ध पुरुष रस-प्रसारवाले नृत्यको देखता हुआ देखा जा सकता है, किन्तु अदयासे आलिङ्गित अर्थात् दया-रहित धर्म कभी भी नहीं देखा गया है। भावार्थ—भले ही उक्त असम्भव कार्य संभव हो जावें पर दया-रहित धर्म हो ही नहीं सकता ॥१०२॥ जैसे प्राणी चेतनाके विना शोभा नहीं पाता है, क्षमाके विना तपस्वी साधु शोभा नहीं पाता है, नीति-रहित राजा शोभा नहीं पाता है, और धन-लक्ष्मीके विना गृहस्थ जैसे शोभा नहीं पाता है, उसी प्रकार दयाके विना धर्म शोभा नहीं पाता है ॥१०३॥

जो प्राणी इस लोकमें दूसरोंको सुख या दुःख देते हैं, वही सुख या दुःख इस लोक या पर-लोकमें उनको कई गुणा अधिक प्राप्त होता है। ऐसा जानकर अपने हितको चाहने वाले बुद्धिमान् मनुष्य दूसरोंको अहित-उपादक कुछ भी कार्य कभी भी कहीं नहीं करते हैं ॥१०४॥ जो कार्य अपने लिए प्रतिकूल हो, वह दूसरोंके लिए नहीं आचरण करना चाहिए, यह धर्मका प्रथम लिङ्ग (चिह्न) धर्मके ज्ञाता पुरुषोंने कहा है ॥१०५॥ जिसके दयासे युक्त चित्तमें प्रतिदिन अद्भुत श्रेष्ठ धर्म

जीव त्वं नन्द प्रकटजलनिधिप्रस्फुरन्मेखलायाः
स्वामी राजन्निलाया भव गुरुभवनाभोगविस्तारिकीर्त्तिः ।
इत्थं तोष्टूयमानः कृतविततरवैश्चारणैर्गीयमानो
गन्धर्वैर्धर्मयुक्तस्त्यजति दिनमुखे चारुनिद्रां मनुष्यः ॥१२२

कुष्टिन्नुत्तिष्ठ यामप्रमितमितभभूद्वासरं दुष्टचेष्टः
स्फूर्जत्क्षुत्क्षामगात्रस्तव सुतनिचयो रारटीति प्रकामम् ।
इत्थं वाक्यानि हालाहलकणनिचितान्युच्चकैः स्वप्रियायाः
शृण्वन् पालालक्लृप्तं शयनमशरणो मुञ्चते पुण्यहीनः ॥१२३

सकलकुलाचलकलितां धरणीमभ्युद्धरन्ति कृतपुण्याः ।
तृणमपि कुब्जीकर्तुं न परे प्रभवः स्वसामर्थ्यात् ॥१२४

यच्चक्री लघुनापि बाहुबलिना संग्रामभूमौ जितो
यच्छ्रीपालनरेश्वरेण नियतं तीर्णो विशालो निधिः ।
कैलाशः स्वभुजाद्वयेन विभुना यद्रावणेनेद्धृत-
स्तज्जन्मान्तरसंभवस्य निखिलं पुण्यस्य विस्फूर्जितम् ॥१२५

येषामालोक्य यच्छोभां विमाना द्यु गृहाः । बभूवुस्तेषु सौधेषु पुण्यवन्तः समासते ॥१२६

उच्चगोत्रमें जन्मे हुए लोगोंके द्वारा (मैं पहिले सेवा करूँ—मैं पहिले सेवा करूँ) इस प्रकारकी अहं-अहमिकासे जिनकी सेवा की जाती है, बालकालमें जो स्त्रियोंके केवल हाथोंके द्वारा एकसे दूसरेके हाथोंमें संचार किये जाते हैं, यौवनकालमें असमान (अनुपम) लक्ष्मीके द्वारा निश्चितरूपसे आलिंगन किये जाते हैं, और वृद्धावस्थामें जो जीव जिनदीक्षाको धारण करते हुए मोक्षको प्राप्त होते है, सो यह सब धर्मका सामर्थ्य है, अर्थात् धर्मके प्रतापसे ही उक्त सभी प्रकारके सुख सभी अवस्थाओंमें प्राप्त होते हैं ॥१२१॥ 'हे राजन्, तुम चिरकाल तक जिओ, आनन्दको प्राप्त होओ, सर्व ओर उत्ताल तरंगोंवाला समुद्र जिसकी मेखला है, ऐसी इस वसुधाके तुम स्वामी बनो और इस विशाल संसारके मध्य सर्वत्र तुम्हारी कीर्तिका विस्तार होवे, इस प्रकार चारणजनोंसे स्तुति किये जाते हुए एवं उच्चस्वरसे गन्धर्वोंके द्वारा गुण-गान किये जाते हुए धर्मयुक्त मनुष्य प्रभात-कालके समय अपनी मीठी सुन्दर निद्राको छोड़ते हैं। भावार्थ—जिसने पूर्वजन्ममें धर्म किया है, वह मनुष्य प्रातःकालके समय चारणों और गन्धर्वोंके द्वारा उक्त प्रकारसे गुण-गानपूर्वक जगाया जाता है ॥१२२॥ हे कुष्टिन्, उठ, एक पहर प्रमाण दिन चढ़ गया और दुष्टचेष्टावाला तू अभी तक सो रहा है। और अति क्षुधासे कृश शरीरवाले ये तेरे पुत्रोंका समुदाय भूखसे बिलख रहा है। इस प्रकार हालाहल विषके कणोंसे व्याप्त और उच्चस्वरसे कहे गये अपनी स्त्रीके वाक्योंको सुनता हुआ पुण्यहीन मनुष्य अशरण होता हुआ पलालसे बने अपने शयनको छोड़ता है ॥१२३॥ जिन्होंने पूर्व जन्ममें पुण्य किया है वे मनुष्य समस्त कुलाचलोंसे संयुक्त इस पृथिवीका अपनी सामर्थ्यसे उद्धार करते हैं। किन्तु पुण्यहीन मनुष्य एक तिनकेको भी टेढ़ा करनेमें समर्थ नहीं होते हैं ॥१२४॥

जो चक्रवर्ती भी भरत अपने लघुभ्राता बाहुबलीके द्वारा संग्रामभूमिमें जीत लिया गया, श्रीपाल नरेश्वरने विशाल समुद्रको अपनी भुजाओंके द्वारा नियमसे पार कर लिया और त्रिखण्डेश रावणने अपनी दोनों भुजाओंके द्वारा कैलाश पर्वतको उठा लिया, सो यह सब जन्मान्तरमें उपार्जित किये गये, पुण्यका प्रभाव है ॥१२५॥ जिनकी शोभाको देखकर देवोंके विमान भी साधारण 'गृह'

पिण्याकस्य न खण्डमप्यु ... व्रीडप्रसर्पत्क्षुधाक्षामाङ्गा नितरां त्वदीयतनयाः किं ... यिष्यन्ति रे।
गेहिन्या इति ... कूटकठिना ... : समाकर्ण्यन् पापी जीर्णकुटीरके च ... जनो जीवति॥१२७

बुभुक्षितेभ्यो हृदयङ्गमं परे वितीर्य भोज्यं स्वय ... भुञ्जते।
स्वकुक्षिमन्ये ... भर्तुमर्थनापरम्पराभिः प्रभवो न पापिनः ॥१२८

स्वाद्यविशेषरम्यममृतश्रीगर्व ... कर्ष भोज्यं काञ्चनभाजनेषु निहितं स्त्रीपुत्रमि ... दिभिः।
साकं पुण्यधियश्च पापमलिना मृत्कुण्डखण्डे स्थितं भिक्षाऽऽप्तं विरसं ... विचलितस्वादं ... भुञ्जते॥१२९

कङ्कोलक्रमुकादि ... र्णनिचितकर्पूरपूरस्फुरत्-प्राज्यामोदविमोदितालिनिवहं माधुर्यलीलास्प ...।
ताम्बूलं भुवि भोगमूलमबलाहस्तार्पितं धार्मिकाः खादन्ति प्रति ... सरं तदितरे नामापि नो ... ॥१३०

सौघे रत्नमयप्रदीपकलिकाध्वस्तान्धकार
पल्यङ्के परमोप ... रि ... रम्याङ्गनाभिः स ...।
सुप्ताः पुण्यभृतो नयन्ति निधनं रात्रिं तु पापान्विता
कर्दमदुस्तरे विपतिताः कन्थाभिरप्युज्झिताः ॥१३१

सौधेऽगाधपयोनिधाविव पुराजन्मार्जितश्च
रत्नानि स्थितिमादराद्विदधति द्विः ... सङ्ख्यान्यलम्।
पापाधीनधियां तु सन्ततमहो खद्राङ्कवन्नग्नता
वाङ्गोरुकपर्दकामितलसद्भूतिद्विजिह्वोत्करा ॥१३२

बन गये, ऐसे उन सौधों (राजप्रासादों) में पुण्यवन्त लोग रहते हैं ॥१२६॥ रे पापिन्, आज मांगने पर भी कहींसे खलीका एक टुकड़ा तक भी नहीं मिला है, अत्यन्त बढ़ती हुई भूखसे जिनके शरीर अत्यन्त कृश हो गये हैं, ऐसे ये तेरे लड़के आज क्या खावेंगे? इस प्रकार घरवालीके कालकूटसे भी कठोर वचनोंको सुनता हुआ पापी मनुष्य अपनी जीर्ण-शीर्ण कुटीमें निवास करता हुआ कष्ट-पूर्वक जीवन बिताता है ॥१२७॥

कितने ही पुण्यशाली मनुष्य भूखसे पीड़ित जनोंको मन-पसन्द भोजन वितरण करके फिर स्वयं भोजन करते हैं। किन्तु अन्य पापी लोग लगातार भीख मांगनेपर भी अपना पेट भरनेके लिए समर्थ नहीं होते हैं ॥१२८॥ पुण्यशाली लोग सुवर्णके पात्रोंमें रखे हुए स्वाद्य-स्वाद्य विशेषसे रमणीय, अमृतकी श्रीके गर्वको भी खर्व करने वाले, अर्थात् अमृतसे भी अधिक मिष्ट ऐसे भोज्य पदार्थोंको अपनी स्त्री पुत्र और मित्रादिके साथ खाते हैं। किन्तु पापसे मलिन मनुष्य मिट्टीके कूंडेके टुकड़ेमें रखे हुए, भीखसे प्राप्त, नीरस एवं विकृत-चलित स्वादवाले टुकड़ोंको खाते हैं ॥१२९॥ कंकोल, सुपारी आदिके चूर्णसे भरे हुए, कपूरकी सुगन्धसे सुगन्धित, अपनी उत्तम गन्धसे भ्रमर-समूहको प्रमुदित करनेवाले, माधुर्य लीलाके स्थानभूत, सुन्दर बालाओंके द्वारा समर्पण किये गये भोगके मूलकारण ऐसे ताम्बूलको संसारमें धार्मिक जन प्रतिदिन खाते हैं। किन्तु पुण्य हीन जन उनका नाम भी नहीं जानते हैं ॥१३०॥

पुण्यवन्त पुरुष रत्नमयी प्रदीपोंके प्रकाशसे जहाँका अन्धकारपुंज नष्ट कर दिया गया है, ऐसे भवनोंमें उत्तम गद्दी-तकियोंसे सजे हुए पलंगपर रमणीक रमणियोंके साथ सोते हुए रात्रिको बिताते हैं। किन्तु पापसे संयुक्त मनुष्य कीचड़से भरे हुए मार्गमें कंथा (गूदड़ी) से भी रहित होते हुए पड़े रहकर रात बिताते हैं ॥१३१॥ पूर्वजन्ममें उपार्जन किये गये पुण्यसे उनके महलोंमें अगाध समुद्रके समान चौदह रत्न आदरसे अवस्थान करते हैं। किन्तु पापके अधीन बुद्धिवाले पुण्य-हीन

पञ्चास्यो हरिणायते जलनिधिः क्रीडातडागायते
सप्तार्चिस्तु जलायते भुजगराट् सत्पुष्पदामायते।
क्ष्वेडस्तस्य सुधायते गजपतिः सद्यस्तुरङ्गायते
चित्ते यस्य दयान्विते प्रतिदिनं धर्मो लसत्यद्भुतः ॥१०६

धर्मः पिता गुरुर्धर्मो माता धर्मश्च बान्धवः। अकारणसुहृद्धर्मो धर्मो जीवस्य जीवितम् ॥१०७

कलङ्कविकलं कुलं द्विरदगामिनी कामिनी गुणाश्च विनयोल्वणाः कृतमुदः सदा सम्पदः।
शरीरमतिसुन्दरं बहुयशोभरो भासुरः कले भुजयुगे बलं सुकृतशाखिनः सत्फलम् ॥१०८

सरङ्गा मातङ्गा जितपवनवेगाश्च तुरगाः विभासत्रं छत्रं सततममला राज्यकमला।
गुणोदारा दारा विहितविनयाश्चारुतनयाः प्रजायन्ते लोके कृतसुकृतपाकात्तनुभृताम् ॥१०९

प्रख्यापयन् स्वविभुतां दुरितं विधुन्वन् सम्पादयन्नभिमतं सकलस्य जन्तोः।
निर्लोठयन्मतमिदं किल नास्तिकानां प्रद्योतितोऽमितविभो भुवि धर्मराजः ॥११०

धर्मेणामरपादपप्रभृतयः सान्निध्यभाजो नृणां जायन्ते यदि तैरमा कथमसावुच्चैः प्रयातूपमाम्।
किं भास्वानवनामितोदरलसत्सर्वार्थविद्योतकः खद्योतैः स्वतनुप्रकाशनपरैरत्रोपमेयो भवेत् ॥१११

न धर्मेण विना शर्म चेतोऽभिलषितं नृणाम्। न हि बीजं विना दृष्टः फलिनः पादपः क्वचित् ॥११२

परिवर्त्तिसुखे वाञ्छा यस्यास्मिन् पृथिवीतले। तेन कर्महरो धर्मो विधातव्यः प्रयत्नतः ॥११३

उल्लासको प्राप्त होता रहता है, उसके आगे पञ्चानन सिंह हरिणके समान आचरण करता है, समुद्र जल-क्रीडाके तालावके सदृश हो जाता है, प्रज्वलित अग्नि जलके समान हो जाती है, भुजंग-राज उत्तम फूलोंकी माला बन जाता है, विष अमृतरूपसे परिणत हो जाता है और गजराज घोड़ेके समान आचरण करने लगता है ॥१०६॥ संसारमें धर्म ही पिता है, धर्म ही गुरु है, धर्म ही माता है, धर्म ही बान्धव है, धर्म ही अकारण मित्र है। अधिक क्या कहा जाय, धर्म ही जीवका जीवन है ॥१०७॥ कलङ्कसे रहित निष्कलङ्क कुलमें जन्म होना, गज-गामिनी स्त्री मिलना, विनय-से युक्त सद्-गुण प्राप्त होना, प्रमोद-वर्धक सम्पदा सदा रहना, अति सुन्दर शरीर मिलना, प्रकाश-मान भारी यशकी प्राप्ति होना और सुन्दर पुष्ट दोनों भुजाओंमें बल होना, ये सर्व कार्य सुकृत अर्थात् पुण्यरूपी वृक्षके उत्तम फल हैं ॥१०८॥ पूर्व जन्ममें किये गये सुकृतके परिपाक (उदय) से इस लोकमें जीवोंको उत्तम मदमाते हाथी और पवनके वेगको जीतने वाले घोड़े, प्राप्त होते हैं, प्रकाशमान श्वेत छत्र मिलता है, सदा रहनेवाली निर्मल राज्यलक्ष्मी प्राप्त होती है, उदार गुण-वाली स्त्रियाँ मिलती हैं और विनय करनेवाले सुन्दर पुत्र उत्पन्न होते हैं ॥१०९॥ अपनी प्रभुताको प्रख्यात करनेवाला, पापोंका विनाश करनेवाला, सर्व प्राणियोंको अभीष्ट वस्तु देने वाला, और नास्तिकोंके मतका उन्मूलन करनेवाला यह धर्मराज अर्थात् सर्वधर्मोंमें श्रेष्ठ अहिंसामयी धर्म लोकमें अपरिमित प्रभावाले जिनराजने प्रकाशित किया है ॥११०॥ यदि धर्मसे कल्पवृक्ष, कामधेनु आदि सुखदायी पदार्थ मनुष्योंको समीपताको धारण करते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं, तो उनके साथ धर्मकी उपमा कैसे दी जा सकती है। नहीं दी जा सकती। संसारके उदर-वर्ती सर्व पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला सूर्य क्या अपने शरीरमात्रको प्रकाशित करनेवाले खद्योतोंके साथ उपमेय हो सकता है। कभी नहीं हो सकता ॥१११॥ धर्मके विना मनोवांछित सुख मनुष्योंको कभी नहीं मिल सकता है। बीजके विना फल देनेवाला वृक्ष क्या कहीं उत्पन्न होता हुआ देखा गया है। कभी नहीं ॥११२॥ इस पृथ्वीतलमें जिस पुरुषकी सदा रहनेवाले यदि सुखमें वांछा हो तो उसे

दत्ते स्वर्नगरी श्रियं सुरगणाभिष्टुत्यमानोदयां
भूमीपालवि भालविनुतं सूते पदं चक्रिणः ।
भक्तिब्रह्मसरीसृपैः कृतलसत्सेवावितीर्णोत्सवं
साम्राज्यं भुजगाधि तनुते : सदा सेवितः ॥११४
सुरासुरनराधीशवर्ण्यमानगुणोदयाम् । जिनेन्द्रपदवीं धर्मः सम्यगुपासितः ॥११५
स्याद् द्वात्रिंशत्सहस्रप्रमितनरवराधीशकोटीरकोटि-
न्माणिक्यमालाप्रसमरकिरणस्मेरपादारविन्दः ।
प्राणी द्विः रत्नोदधिरखिलनिधिप्रेङ्खदुच्चैर्विभूति-
र्भूम्ना धाम्ना परीतो भव-भवविहिताद्ध वर्ती ॥११६
तुल्येऽपि हस्तपादादौ यदेके सुखिनः परे । दुःखिनस्तत्र क् स्याद्धर्माधर्मविजृम्भितम् ॥११७
समे ऽपि यच्चैके लभन्ते विपुलं । अतिदुष्टं परे तत्तयोरपि चेष्टितम् ॥११८
अनिपित्सुरपि ध्रुवं जनो दुस्तपमेति पापतः ।
प्रसरत्सुखसञ्चयान्वितं लभते स्वर्गं यपुण्यतः ॥११९
गर्भे बाल्येऽपि वृद्धत्वे यौवने यच्छरीरिणाम् । वाचामगोचरं दुःखं तत्पापस्य विजृम्भि ॥१२०
लोकैर्गोत्रप्रसूतैरहमहमिका । गर्भवासे स्थिता यत्
सेव्यन्ते सञ्चरन्ते तिजनकरैः कोमलैर्यच्छिशुत्वे ।
आलिङ्ग्यन्ते च ल निय या यौवने वार्द्धके य-
ज्जीवा मोक्षं सदीक्षा विदधति निरि धर्मसामर्थ्यमेतत् ॥१२१

प्रयत्नपूर्वक कर्मोंका हरण करनेवाला धर्म करना चाहिए ॥११३॥ सदा सेवन किया गया धर्म देवगणोंसे स्तूयमान उदयशालिनी देवनगरीकी लक्ष्मीको देता है, भूमिपालोंके विशाल भालोंसे नमस्कृत चक्रवर्तीके पदको देता है, और भक्ति-भरित नागोंके द्वारा की जानेवाली उल्लासमयी सेवासे किया जा रहा है आनन्द-उत्सव जिसमें ऐसे नागराज धरणेन्द्रके साम्राज्यको देता है ।११४। सम्यक् प्रकारसे उपासना किया गया धर्म सुर-असुर और मनुष्योंके स्वामी इन्द्र, असुरेन्द्र और नरेन्द्रोंके द्वारा वर्ण्यमान गुणोदयवाली जिनेन्द्रपदवीको अर्थात् तीर्थंकरपदको देता है ॥११५॥ धर्मकी आराधनासे मनुष्य ऐसा सार्वभौम चक्रवर्ती होता है, जिसके चरणारविन्द बत्तीस हजार श्रेष्ठ राजाओंके मुकुटोंमें लगे हुए प्रकाशमान मणि-माणिक्योंकी मालाओंकी किरणोंसे प्रकाशमान हो रही है, जो सात सचेतन रत्नों और सात अचेतन रत्नोंका स्वामी है, समस्त (नौ) निधियोंसे जिसकी विभूति अति उच्चताको प्राप्त हो रही है और जो भारी कान्ति और तेजसे व्याप्त हो रहा है। ऐसा महान् चक्रवर्तीका पद भी भव-भवमें किये गये धर्मसे प्राप्त होता है ॥११६॥

(हे राजन्, और भी देखो—) हाथ-पैर समान होनेपर भी कुछ लोग तो सुखी दिखाई देते हैं और अन्य कुछ लोग दुःख भोगते हैं, सो यह सब भले प्रकारसे किये गये धर्म और अधर्मका विस्ताररूप फल है ॥११७॥ समान प्रयत्न करनेपर भी कितने ही लोग विपुल धनादिकी प्राप्ति-रूप फलको प्राप्त करते हैं और कितने ही लोग अति दुःखदायी कष्टोंको प्राप्त होते हैं सो यह भी उन्हीं धर्म और अधर्मकी चेष्टा है ॥११८॥ पापके फलसे नहीं चाहते हुए भी कोई मनुष्य निश्चित रूपसे दुस्तर नरकको जाता है और कोई अगण्य पुण्यसे निरन्तर बढ़ते हुए सुख-संचयसे युक्त स्वर्गको प्राप्त करता है ॥११९॥ गर्भावस्थामें, बालकालमें, और जवानीके समय जो प्राणियोंको वचन-अगोचर दुःख प्राप्त होते हैं, वह सब पापका विस्तार है ॥१२०॥ गर्भवासमें रहते समय

प्रशस्येनाश्वेन व्रजति भटकोटीभिरभितः
परीतः सच्छत्रक्षपिततततापोऽत्र सुकृती ।
तथाग्रे स्वेदाम्भःस्नपितवदनो धावति जनो
विहीना पुण्येन प्रसृमररजःपुञ्जमलिनः ॥१३३

हृत्कोष्ठोद्यद्गण्डमालाशिरोर्त्तिश्लेष्मश्वासस्फारकुष्टादिरोगाः ।
मुक्त्वा नूनं धर्मकर्मप्रवीणान् पापव्यापत्सङ्गतान् संभजन्ते ॥१३४

यद्द्रव्यार्जनशक्तिरद्भुतभुजे सामर्थ्यमूर्जस्वलं
यद्रूपं मदनानुकारि वदनं यत्पर्णपूर्णं ।
यद्गेहे तरुणी सती स्मितमुखी सूक्ष्माणि वस्त्राणि यद्-
देहं रोगविवर्जितं तदखिलं पुण्यस्य विस्फूर्जितम् ॥१३५

यत्सत्यामृतविन्दुशालिवचनं चित्तत्त्वचिन्ताचितं
चेतो यद्यदसीमशीलललितं रूपं दया प्राणिषु ।
यत्सन्तोषसुखं मतिः श्रितनया मानोज्झितं यच्छ्रुतं
यच्छ्रीमज्जिनसेवनं तदखिलं धर्मस्य विस्फूर्जितम् ॥१३६

सिन्धुश्रेणिरिवाम्बुधिं वुधजनं विद्येव पुष्पाकरं
माद्यत्षट्पदमालिकेव हरिणालीव वनम् ।
माकन्दं पिककामिनीव च सरःस्वच्छाम्बु हंसावलि-
हर्षोत्कर्षतया श्रयत्यविरतं लक्ष्मीर्नरं धार्मिकम् ॥१३७

जनोंके घरोंमें तो निरन्तर रुद्रके शरीरके समान नग्नता, खट्वाङ्ग (टूटी खाटका एक भाग), कौड़ियोंसे परिमित विभूति और सांपोंका समूह रहता है ॥१३२॥ सुकृतशाली मनुष्य इस लोकमें सैकड़ों सुभटोंके द्वारा सर्व ओरसे घिरा हुआ, और जिसके द्वारा सूर्य-सन्ताप दूर किया जा रहा है, ऐसे लोगोंके द्वारा उठाये गये उत्तम छत्रको धारण करता हुए प्रशंसनीय अश्वपर आरोहण करके जाता है। किन्तु पुण्यसे विहीन मनुष्य जिसका कि शरीर पसीनेके जलसे नहा रहा है और उड़ती हुई धूलिके पुंजसे मलिन हो रहा है ऐसा होकर उनके आगे दौड़ता है ॥१३३॥ हृदय-रोग, उदर-रोग, उठती हुई गण्डमाला, मस्तक-पीड़ा, कफ, श्वांसकी प्रवलता और कोढ़ आदि अनेक रोग धर्म-कार्यमें प्रवीण लोगोंको छोड़कर पापरूप आपत्तिसे ग्रसित लोगोंको पीड़ित करते हैं ॥१३४॥

मनुष्यको जो द्रव्य उपार्जन करनेकी शक्ति प्राप्त होती है, अद्भुत भुजाओंमें जो ओजस्वी सामर्थ्य, कामदेवके समान सुन्दर रूप, ताम्बूलसे सदा परिपूर्ण मुख, घरमें तरुणी प्रसन्नमुखी सती स्त्री, सूक्ष्म सुन्दर वस्त्र और रोग-रहित शरीर प्राप्त होता है, वह सव पुण्यका ही प्रभाव है। ॥१३५॥ जो सत्य और अमृत विन्दुके सदृश मिष्ट वचन, जो आत्म तत्त्वकी विचारणासे युक्त चित्त, जो असीम शीलसे संयुक्त रूप, जो प्राणियोंपर दयाभाव, जो सन्तोषसुख, जो नयविवक्षासे आश्रित विवेक वुद्धि, जो गर्व-रहित शास्त्रज्ञान, और जो श्रीमान् जिनदेवके सेवनका भाव प्राप्त होता है, वह सव धर्मका ही प्रभाव है ॥१३६॥ जैसे नदियोंकी श्रेणि-परम्परा समुद्रको प्राप्त होती है, विद्या वुद्धिमान्को प्राप्त होती है, मत्त भ्रमरोंकी पंक्ति पुष्पोंके आकार उद्यानको प्राप्त होती है, हरिणोंकी पंक्ति प्रशस्त वनको, कोकिल-कामिनी आम्रवृक्षको और हंसावली स्वच्छ जलवाले सरोवरको प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार धर्म करनेवाले पुरुषको लक्ष्मी भी हर्षके उत्कर्षसे युक्त होती हुई निरन्तर आश्रय करती है ॥१३७॥

उक्तं च—

सुखितस्य दुःखितस्य च संसारे एव :।
सुखितस्य भिवृद्धयै दुःखभुजस्तदुप ॥१३८
हिंसादिकलितो मिथ्यादृष्टिभिः प्रतिपादितः।
धर्मो भवेदिति प्राणी विन्दन्नपि हि भाक् ॥१३९

महाव्रतान्वितास्तत्त्वज्ञानाधिष्ठितमानसाः। धर्मोपदेशकाः पाणिपात्रास्ते गुरवो : ॥१४०
पञ्चाचारविचारज्ञाः शान्ता जितपरीषहाः। त एव गुरवो ग्रन्थैर्मु बाह्यैरिवान्तरैः ॥१४१

च—

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुःपदम्। आसनं कुप्यं भाण्डं चेति बहिर्दश ॥१४२
मिथ्यात्ववेदरागाश्च द्वेषो हास्यादयस्तथा। क्रोधादयश्च विज्ञेया ग्रन्तरपरिग्रहाः ॥१४३
यथेष्टभोजनाभोगला : पीडिताः। मिथ्योपदेशदातारो न ते स्युर्गुरवः सताम् ॥१४४
संसारापारपाथोधौ ये : सपरिग्रहाः। स्वयमेव तेऽन्यतारणेऽलंभविष्णवः ॥१४५

च—

सरागोऽपि हि देवश्चेद् गुरुरब्रह्मचार्यपि। कृपाहीनोऽपि : स्यात्कष्टं नष्टं हहा जगत् ॥१४६
एतेषु निश्चयो विद्यते स पुमानिह। सम्यग्दृष्टिरिति ो मिथ्यादृष्टिश्च संशयी ॥१४७

कहा भी है—सुखी और दुःखी दोनों ही प्रकारके मनुष्योंको संसारमें धर्म ही करना चाहिए। सुखीको सुखकी वृद्धिके लिए और दुःख भोगनेवालेको दुःखके विनाशके लिए धर्म करना आवश्यक है ॥१३८॥

मिथ्या दृष्टियोंके द्वारा प्रतिपादित और हिंसादिसे संयुक्त धर्म होता है, ऐसा जाननेवाला भी प्राणी पापका सेवन करता है ॥१३९॥ जो पंच महाव्रतोंसे युक्त हैं, जिनका मन तत्त्वज्ञानसे अधिष्ठित है, जो अहिंसामयी धर्मके उपदेशक हैं और पाणिपात्र-भोजी हैं, वे ही सच्चे गुरु माने गये हैं ॥१४०॥ जो दर्शनाचार आदि पांचों आचारोंके विचारज्ञ हैं, जिनकी कषाय शान्त है, परीषहोंके जीतने वाले हैं, और बाहिरी तथा भीतरी सभी प्रकारके परिग्रहोंसे विमुक्त हैं, वे ही सच्चे गुरु हैं ॥१४१॥

कहा भी है—क्षेत्र, वस्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, आसन, शय्या, कुप्य और भाण्ड ये दश प्रकारके बाहिरी परिग्रह हैं ॥१४२॥ मिथ्यात्व, वेद, राग, द्वेष हास्यादि छह नोकषाय, और क्रोधादि चार कषाय ये चौदह प्रकारका आभ्यन्तर परिग्रह है ॥१४३॥

जो इच्छानुसार इष्ट भोजन भोगनेकी लालसा रखते हैं, काम-विकारसे पीड़ित हैं और मिथ्या उपदेशको देते हैं, वे सत्पुरुषोंके गुरु नहीं हैं ॥१४४॥ जो स्वयं ही अपार संसार-सागरमें निमग्न हैं और परिग्रहसे युक्त हैं, वे कुगुरु दूसरोंको तारनेमें कैसे समर्थ हो सकते हैं ॥१४५।

कहा भी है—यदि रोग-युक्त भी पुरुष देव हो, ब्रह्मचर्यसे रहित भी पुरुष गुरु हो और दयासे रहित भी धर्म हो, तब तो हाय-हाय बड़ा कष्ट है—यह सारा जगत् ही नष्ट हो जायगा ॥१४६॥

उक्त प्रकारके सच्चे देव, गुरु और धर्ममें जिसका निश्चय है, वह पुरुष सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए। और जिसके इन तीनोंमें संशय है अर्थात् निश्चय या विश्वास नहीं है, वह पुरुष मिथ्या

जीवाजीवादितत्त्वानां श्रद्धानं दर्शनं मतम् । निश्चयात्स्वस्वरूपे वाऽवस्थानं मलवर्जितम् ॥१४८
पञ्चाक्षे पूर्णपर्याप्ते लब्धकालादिलब्धिके । निसर्गाज्जायते भव्येऽधिगमाद्वा सुदर्शनम् ॥१४९

उक्तं च—

आ भव्यताकर्महानिसंज्ञित्वशुद्धपरिणामाः । सम्यक्त्वहेतुरन्तर्बाह्योऽप्युपदेशकादिश्च ॥१५०
उद्यद्वोधैर्बुधैस्तस्य त्रयो भेदा बभाषिरे । प्रागेवोपशमो मिश्रः क्षायिकं च ततः परम् ॥१५१
सप्तानामुपशमतः प्रकृतीनामुपशमो हि सम्यक्त्वम् । क्षयतः क्षायिकमुक्तं केवलिमूले मनुष्यस्य ॥१५२

उक्तं च—

पढमं पढमं नियदं पढमं विदियं च सव्वकालेसु । खाइयसम्मत्तं पुण जत्थ जिणा केवलीकाले ॥१५३
सदुपशमतो हि षण्णामुदयक्षयतो मुनीश्वराः प्राहुः । सम्यक्त्वस्योदयतो मिश्राख्यं चारुसम्यक्त्वम्॥१५४

उक्तं च—

अणउदयादो छण्हं सजाइरूवेण उदयमाणाणं । सम्मत्तकम्म उदये खउवसम्मं हवे सम्मं॥ १५५
चतुर्थतो गुणेषु स्यात्क्षायिकं निखिलेष्वपि । मिश्राख्यं सप्तमं यावत्सम्यक्त्वं मुक्तिकारणम् ॥१५६
तुर्यादारभ्य भव्यात्मवाञ्छितार्थप्रदाय । उपशान्तकषायान्तं सम्यक्त्वं प्रथमं मतम् ॥१५७
साध्यसाधनभेदेन द्विधा सम मीरितम् । साधनं द्वितयं साध्यं क्षायिकं मुक्तिदायकम् ॥१५८

दृष्टि जानना चाहिए ॥१४७॥ जीव, अजीव आदि सात तत्त्वोंके निर्मल श्रद्धान करनेको व्यवहारसे सम्यग्दर्शन माना गया है और निश्चयसे अपने आत्म-स्वरूपमें अवस्थान करना सम्यग्दर्शन कहा गया है ॥१४८॥ पंचेन्द्रिय, सर्व पर्याप्तियोंसे परिपूर्ण, और काललब्धि आदिको प्राप्त भव्य जीवमें निसर्गसे अथवा अधिगमसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है ॥१४९॥

कहा भी है—निकट भव्यपना, कर्मोंकी हानि, संज्ञिपना और शुद्ध परिणाम, ये सम्यक्त्व प्राप्तिमें अन्तरंग कारण हैं और गुरुका उपदेश आदि बाह्य कारण हैं ॥१५०॥

उदित हुआ है सम्यक् ज्ञान जिनको ऐसे ज्ञानियोंने सम्यक्त्वके तीन भेद कहे हैं—औपशम सम्यक्त्व, मिश्र (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व ॥१५१॥ अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृति इन सात कार्य-प्रकृतियोंके उपशमसे औपशमिक सम्यक्त्व होता है और केवलीके पादमूलमें उक्त सातों प्रकृतियोंके क्षयसे मनुष्यके क्षायिक सम्यक्त्व होता है ॥१५२॥

कहा भी है—सर्व प्रथम औपशमिक सम्यक्त्व नियमसे होता है, औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व सर्व कालोंमें उत्पन्न होता है। किन्तु क्षायिक सम्यक्त्व जहाँपर जिनदेव विराजते हैं, उसी केवलिकालमें उत्पन्न होता है ।।१५३।। प्रारम्भकी छः प्रकृतियोंके वर्तमानमें सदुपशमसे और आगामी कालमें उदय आनेवालोंके उदयाभावी क्षयसे, तथा सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे मिश्र नामका सुन्दर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है, ऐसा मुनीश्वरोंने कहा है ॥१५४॥

कहा भी है—स्वजातिरूपसे उदयमान छः प्रकृतियोंके उदयाभावसे और सम्यक्त्वकर्मके उदयसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है ।।१५५।।

चौथे गुणस्थानसे लेकर ऊपरके सभी गुणस्थानोंमें क्षायिकसम्यक्त्व चौथेसे सातवें गुणस्थान तक पाया जाता है। यह भी मुक्तिका कारण है ॥१५६॥ भव्य आत्माओंको मनोवांछित अर्थका देनेवाला प्रथम औपशमिक सम्यक्त्व चौथे गुणस्थानसे लगाकर उपशान्तमोह गुणस्थान तक माना गया है ॥१५७॥ साध्य और साधनके भेदसे सम्यक्त्व दो प्रकारका कहा गया है। इनमें प्रथमके

पुद्‌गलार्धपरावर्त्तादूर्ध्वं मोक्षं प्रपित्सुना । भव्येन लभ्यते पूर्वं सुदर्श ॥१५९
भूरिसंसारसन्तापविध्वंसनपटीयसः । आन्तर्मौहूर्त्तिकीमन्यां प्रथमस्य स्थितिं विदुः ॥१६०
वेदकस्य स्थितिगुर्वी षट्षष्टिजलराशयः । अन्तर्मुहूर्त्तमात्रान्या प्रोक्ता सम्यक्त्ववेदिभिः ॥१६१
पूर्वकोटीद्वयोपेता त्रयस्त्रिंशत्पयोधयः । किञ्चिन्न्यूना स्थितिः प्रोक्ता क्षायिकस्य परा बुधैः ॥१६२
सम्यक्त्वत्रितयं श्वभ्रे प्रथमेऽन्येषु विदुर्जिनाः । सम्यक्त्वद्वितयं मुक्त्वा क्षायिकं मुक्तिदायकम् ॥१६३

तिर्यग्मनुजसुमनसां सम्यक्त्वत्रयमुशन्ति :।
न पुनः क्षायिकममलं सुरयुवतीनां तिरश्चीनाम् ॥१६४

सम्यक्त्वद्वितयं ज्ञेयं सरागं सुखकारणम् । वीतरागं तु पुनः क्षायिकं भववारणम् ॥१६५
संसारभोगनिर्विण्णैर्भव्यैर्मुक्ति यियासुभिः । सम्यक्त्वं द भूयो व्यं परमागमात् ॥१६६

च—

समुद्भवमुपदेशात्सूत्रबी पात् । विस्तारार्थाभ्यां गाढपरमावगाढे च ॥१६७

अस्यार्थः—भगवदर्हत्प्रणीतागमानुज्ञा आज्ञा १ । रत्नत्रयविचारसङ्गो मार्गः २ । पुराणपुरुषचरितपुराणश्रवणाभिनिवेश उपदेशः ३ । यतिजनाचरणनिरूपणपात्रं सूत्रम् ४ । सकलसमयदलसूचनाव्याजं बी । आप्तश्रु तपदार्थसमासालापोपक्षेपः सं : ६ । द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्व-

---

दोनों सम्यक्त्व साधन हैं और मुक्तिको देनेवाला क्षायिकसम्यक्त्व साध्य है ॥१५८॥ जो जीव अर्ध-पुद्‌गल परावर्तन मोक्षको प्राप्त होने वाला है ऐसे भव्य पुरुषको पहिले प्रशम नामका औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है ॥१५९॥ संसारके भारी (अनन्त) सन्तापके विध्वंस करनेमें समर्थ इस प्रथम सम्यक्त्वकी स्थिति अन्तर्मुहूर्तमात्र कही गई है ॥१६०॥ सम्यक्त्वके ज्ञाताओंने वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति छयासठ सागरोपम और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तमात्र कही है ॥१६१॥ ज्ञानियोंने क्षायिक सम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ कम दो पूर्वकोटि वर्षसे युक्त तेतीस सागरोपम कही है ॥१६२॥ जिनदेवने प्रथम नरकमें तीनों सम्यक्त्व कहे हैं और शेष छह नरकोंमें मुक्तिदायक क्षायिकको छोड़कर शेष दोनों सम्यक्त्व कहे हैं ॥१६३॥ तिर्यंच, मनुष्य और देवोंके सद्‌ज्ञानिजन तीनों ही तीनों सम्यक्त्व कहते हैं। किन्तु निर्मल क्षायिक सम्यक्त्व देवियों और तिर्यंचनी स्त्रियोंके नहीं होता है ॥१६४॥ औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दोनों सम्यक्त्व सराग कहे जाते हैं और सुखके कारण हैं। किन्तु क्षायिकसम्यक्त्व वीतराग कहलाता है और भव-निवारण करनेवाला है ॥१६५॥ जो भव्य पुरुष संसार और शारीरिक भोगोंसे विरक्त हैं और मुक्तिको जानेके लिए उत्सुक हैं, उन्हें परमागमसे और भी सम्यक्त्वके दश भेद जानना चाहिए ॥१६६॥

कहा भी है—आज्ञा, मार्गसमुद्भव, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार, अर्थ-जनित, अवगाढ़ और परमावगाढ़ ये सम्यक्त्वके दश भेद होते हैं ॥१६७॥

इनका अर्थ इस प्रकार है—भगवान् अर्हन्त-प्रणीत आगमकी आज्ञाको दृढ़रूपसे स्वीकार करना आज्ञासम्यक्त्व है। (१) रत्नत्रयके विचारका अनुसरण करना मार्गसम्यक्त्व है। (२) पुरातन पुरुषोंके चरित, पुराण श्रवण करनेका अभिप्राय रखना उपदेश सम्यक्त्व है। (३) साधुजनोंके आचरणके निरूपणका पात्र होना सूत्रसम्यक्त्व है। (४) समस्त सिद्धान्तके विभागोंकी सूचना करनेवाले पदोंसे उत्पन्न होने वाला बीजसम्यक्त्व है। (५) आप्त, श्रुत, व्रत, पदार्थके संक्षिप्त

प्रकीर्णकभेदविस्तीर्णश्रुतार्थनप्रस्तारो विस्तारः ७। प्रवचनविषये स्वप्रत्ययसमर्थोऽर्थः ८। त्रिविधस्याऽऽगमस्य निःशेषतोऽन्यतमदेशावगाहावलीढमवगाढम् ९। अवधि-मनःपर्यय-केवलाधिकपुरुषप्रत्ययप्ररूढं परमावग १०। अन्ये भेदाः परमागमाज्ज्ञातव्याः।

कृपाप्रशमसंवेगनिर्वेदास्तिक्यलक्षणैः। सम्यक्त्वं भूष्यते व्यक्तममीभिः पञ्चभिर्गुणैः ॥१६८

शङ्का काङ्क्षा विचिकित्सा मिथ्यादृष्टिप्रशंसनम्। तत्संस्तवश्च पञ्चामी सम्यक्त्वस्यैव दूषकाः॥१६९

उक्ता प्रशमाद्याः—

यद्रागादिषु दोषेषु चित्तवृत्तिनिवर्हणम्। तं प्राहुः प्रशमं प्राज्ञाः समस्तव्रतभूषणाम् ॥१७०

शारीरमानसागन्तुवेदनाप्रभवाद्भयात्। स्वप्नेन्द्रजालसङ्कल्पाद्भीतिः संवेग उच्यते ॥१७१

सत्त्वे सर्वत्र चित्तस्य दयार्द्रत्वं दयालवः। धर्मस्य परमं मूलमनुकम्पां प्रचक्षते ॥१७२

आप्ते श्रुते व्रते तत्त्वे चित्तमस्तित्वसंस्तुतम्। आस्तिक्यमास्तिकैरुक्तं मुक्तियुक्तिधरे नरे ॥१७३

उक्तं च—

नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम्। न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम् ॥१७४

अतोऽङ्गान्येव पालनीयानि। तद्यथा—

अनेकान्तात्मकं वस्तुजातं यद्गदितं जिनैः। तन्नान्यथेति मन्वानो जनो निःशङ्कितो भवेत् ॥१७५

कथनसे उत्पन्न होने वाला संक्षेप सम्यक्त्व है। (६) बारह अंग और चौदह पूर्व, तथा प्रकीर्णकोंके भेदोंसे विस्तीर्ण श्रुतके अर्थके विस्तारसे होनेवाला विस्तारसम्यक्त्व है। (७) प्रवचनके विषयमें अपना निश्चय करानेमें समर्थ अर्थसम्यक्त्व है। (८) अंग, पूर्व और प्रकीकर्णरूप तीनों प्रकारके श्रुतरूप आगमका निःशेषरूपसे किसी एकदेशमें अवगाहन करनेवाला अवगाढ़सम्यक्त्व है। (९) अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी पुरुषोंके आत्म-प्रत्ययसे उत्पन्न होनेवाला परमावगाढ़ सम्यक्त्व है। (१०) सम्यक्त्वके अन्य भेद परमागमसे जानना चाहिए।

करुणा, प्रशम, संवेग, निर्वेद और आस्तिक्य लक्षणवाले इन पांच गुणोंसे सम्यक्त्व व्यक्तरूपसे भूषित होता है ॥१६८॥ शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि प्रशंसा और मिथ्या दृष्टि संस्तव ये पांचों ही सम्यक्त्वको दोष लगाने वाले अतीचार हैं ॥१६९॥ प्रशम आदि भावोंका स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—रागादि दोषोंमें चित्तवृत्तिका जो शान्त होना, उसे प्राज्ञपुरुषोंने प्रशम भाव कहा है। यह समस्तव्रतोंका भूषण है ॥१७०॥ शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक वेदनाओंसे उत्पन्न होनेवाले भयसे, तथा स्वप्न और इन्द्रजालके सदृश संसारकी कल्पना करके उससे डरना संवेग कहा जाता है ॥१७१॥ सभी प्राणियोंपर चित्तका दयासे आर्द्र रहना, इसे दयालु जनोंने धर्मका मूलरूप अनुकम्पा या करुणाभाव कहा है ॥१७२॥ आप्तमें, श्रुतमें, व्रतमें और तत्त्वमें चित्तको 'अस्ति'—'ये हैं' ऐसे भावसे युक्त रखना इसे आस्तिक पुरुषोंने आस्तिक्यभाव कहा है। ये उक्त सर्व गुण मुक्तिकी युक्तिके धारक मनुष्यमें होते हैं ॥१७३॥

और भी कहा है—आठ अंगोंमेंसे किसी एक भी अंगसे हीन सम्यग्दर्शन संसारकी परम्पराको छेदनेमें समर्थ नहीं होता है। जैसे कि एक भी अक्षरसे हीन मंत्र विषकी वेदनाको नष्ट नहीं करता है ॥१७४॥

इसलिए भव्य जीवोंको सम्यक्त्वके सभी अंग पालन करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—'सर्व वस्तु समूह अनेकधर्मात्मक हैं,' ऐसा जो जिनराजोंने कहा है, वह वैसा ही है, अन्य प्रकारसे नहीं हो सकता, ऐसा दृढ़रूपसे माननेवाला मनुष्य निःशंकित अर्थात् शंका दोषसे रहित होता

पूर्वापरविरोधादिर्वर्जितेऽपि हि वस्तुनि । यस्य दोलायितं चित्तं स कथं न दुराशयः ॥१७६
जिन एव भवेद्देवस्तत्त्वं तेनोक्तमेव च । यस्येति निश्चयः स स्यान्निःशङ्कितशिरोमणिः ॥१७७

उक्तं च—

इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा । इत्यकम्पाऽऽयसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः ॥१७८
हृषीकराक्षसाक्रान्तोऽप्यन्तरिक्षगतिं क्षणात् । निःशङ्कितया प्राप तस्करोऽञ्जनसंज्ञकः ॥१७९

अस्य कथा—

उद्दामारामसङ्कीर्णो देशः स मगधाभिधः । अलञ्चकार यं राजगृहं नाम पुरं परम् ॥१८०
उदारश्रावकाचारविचारणपटिष्ठधीः । गुणश्रेष्ठोऽभवच्छ्रेष्ठी जिनदत्ताभिधः सुधीः ॥१८१
सोपवासश्चतुर्दश्यामन्यदा स निशागमे । जगाम विलसद्धामश्मशानं भूरिभीतिदम् ॥१८२
रभोगनिर्विण्णः सम्यक्त्वव्रतभूषितः । कायोत्सर्गविधिं चक्रे ध्यायन् स परमं महः ॥१८३
कायकान्तिहतध्वान्तौ महान्तौ त्रिदशेश्वरौ । भ्रमन्तौ स्वेच्छया दत्तध्यानमेनमपश्यताम् ॥१८४
प्रसरत्वरतमस्तोमजित्वरैः किरणोत्करैः । अथ प्रकाशयन् लोकमुदियाय वरद्युतिः ॥१८५
वणिक्पतिरपि प्रातः प्रतिज्ञामात्मनोऽत्यजन् । अपश्यच्च पुरः स्वैरं रम्याकारधरामरौ ॥१८६
उवाच कौ युवां कस्मादागतौ किं प्रयोजनम् । दीयतां वा ममादेशः किङ्करः किं करोम्यहम् ॥१८७

है ॥१७५॥ वस्तु-स्वरूपके पूर्वापर विरोध आदि दोषोंसे रहित होनेपर भी जिसका चित्त उसे स्वीकार करनेमें दोलायित रहता है, अर्थात् 'यह ऐसा है, कि नहीं है' इस प्रकारसे शंकित रहता है, वह दुराशयवाला कैसे नहीं है ॥१७६॥ जिनदेव ही सच्चेदेव हैं और उनके द्वारा कहा गया तत्त्व ही सच्चा तत्त्व है, जिसके ऐसा दृढ़ निश्चय होता है, वह मनुष्य निःशंकितोंमें शिरोमणि है ॥१७७॥

कहा भी है—तत्त्वका स्वरूप जैसा जिनराजाने कहा है, वह यही है, ऐसा ही है, अन्य नहीं है और न वह अन्य प्रकारसे हो सकता है, इस प्रकार तलवारकी धारपर चढ़े हुए पानीके सदृश सन्मार्गमें संशय-रहित श्रद्धान होना सो निःशंकित अंग है ॥१७८॥

पांचों इन्द्रियोंके विषयरूप राक्षसोंसे व्याप्त भी अंजन नामका चोर निःशंकित गुणके द्वारा क्षण भरमें आकाशगामिनी विद्याको प्राप्त हो गया ॥१७९॥ इसकी कथा इस प्रकार है—इसी भारत क्षेत्रमें विशाल उद्यानोंसे व्याप्त मगध नामक देश है, जिसमें राजगृह नामक श्रेष्ठ नगर अलंकृत था ॥१८०॥ वहाँपर उदार श्रावकाचारके विचारमें कुशल बुद्धिवाला, गुणोंमें श्रेष्ठ और सद बुद्धिवाला एक जिनदत्त नामका सेठ रहता था ॥१८१॥ किसी एक समय चतुर्दशीके दिन उपवास धारण करके रात्रिके होनेपर भारी भयको देने वाले और जहाँ मृतक जलते थे, ऐसे श्मशानमें ध्यान करनेके लिए गया ॥१८२॥ वह सेठ सांसारिक भोगोंसे विरक्त और सम्यक्त्व एवं व्रतसे विभूषित था। श्मशानमें जाकर परम ज्योतिका ध्यान करता हुआ वह कायोत्सर्गमें स्थित हो गया ॥१८३॥ वहाँपर परिभ्रमण करते हुए और अपने शरीरकी कान्तिसे अन्धकारका विनाश करते हुए दो बड़े देव आये और उन्होंने ध्यानमें मग्न इसे देखा ॥१८४॥ इतनेमें ही फैलते हुए अन्धकार समूहको जीतने वाली किरणोंके समूहसे लोकको प्रकाशित करता हुआ उत्कृष्ट कान्तिका धारक सूर्य उदयको प्राप्त हो गया ॥१८५॥ उस वणिक पति सेठने भी प्रभात हुआ देखकर अपने कायोत्सर्गकी प्रतिज्ञाको पूरा किया और सामने उपस्थित स्वेच्छानुसार रम्य आकारोंके धारक उन दोनों देवोंको देखा ॥१८६॥ सेठने पूछा—आप दोनों कौन है, कहाँसे आये हैं और आपका क्या प्रयोजन

उवाच त्रिदशः श्रेष्ठिन्नावां सुरपुराधिपौ । नाम्नाऽमितगतिश्चायमहं विद्युत्प्रभस्तया ॥१८८
अस्मिन्नपारे संसारे सारं धर्मं जिनोदितम् । मुक्त्वाऽन्यो भवभीरूणां न नृणामपवर्गदः ॥१८९
एकदेति प्रशंसन्तमुक्तवानमितप्रभः । असत्यदर्शनस्यैव मास्म कार्षीः स्तवं वृथा ॥१९०
वेदमार्गोद्भवो धर्मो भुक्तिमुक्तिप्रदो नृणाम् । गुणौघगुरवो नित्यं तापसा गुरवो मताः ॥१९१
मामुवाच पुनर्देवः किमत्र बहुजल्पितैः । परीक्षासु क्षमो योऽत्र गुरुर्धर्मः स शस्यते ॥१९२
ततो धर्मपरीक्षार्थं भ्रमद्भ्यां धरणीतले । चालितस्तापसो मायी यामदग्निस्तपोधनः ॥१९३
आगताभ्यामिह त्वं च कायोत्सर्गैकतत्परः । दृष्टो जिनमताम्भोधिपारीणधिषणो निशि ॥१९४
मामुवाच ततो जैनसुरः सम्यक्त्वभासुरः । पश्यैनं श्रावकं चारुश्रावकाचारकोविदम् ॥१९५
तिष्ठन्तु दूरतो भूरि गुणाधारा यतीश्वराः । शक्तिश्चेच्चालय ध्यानादेनं गृहयतिं सखे ॥१९६
ततः परं शताविघ्नाश्चक्रिरे मायया मया । परं ते मेरुधीरस्य न चित्तं चलितं क्वचित् ॥१९७
देवं जिनं दयायुक्तं धर्मं नीरागतामिदम् । गुरुं ये नात्र मन्यन्ते ते दैवेनैव वञ्चिताः ॥१९८
निविडं या कृता पीडा मयाऽज्ञानतया तव । क्षमितव्यं त्वया दुष्टं मामकं तद्विचेष्टितम् ॥१९९
त्वमगाधो गुणाम्भोधिस्त्वमकारणवान्धवः । सम्यक्त्वरत्नसम्प्राप्तिर्जाता मे ते प्रसादतः ॥२००
तस्मै सत्पुण्यसम्भारभाविताय यतात्मने । आकाशगामिनीं विद्यां विततार सुरेश्वरः ॥२०१

है ? मुझे आदेश दीजिये कि मैं क्या करूँ ? मैं आपका किंकर हूँ ॥१८७॥ यह सुनकर देव बोला, हे श्रेष्ठिन्, हम दोनों सुर-पुरके स्वामी देव हैं। इसका नाम अमितगति है, और मैं विद्युत्प्रभ हूँ ॥१८८॥ इस अपार संसारमें जिनोपदिष्ट धर्मको छोड़कर अन्य कोई धर्म भव-भयभीरु जनोंको मोक्षका देने वाला नहीं है इस प्रकारसे जैनधर्मकी प्रशंसा करते हुए मुझसे यह अमित प्रभाका धारक विद्युत्प्रभ बोला—असत्य दर्शन वाले जैनधर्मकी व्यर्थ प्रशंसा मत करो ॥१८९-१९०॥ वेदोंके द्वारा प्रकट हुआ धर्म ही मनुष्योंको मुक्तिका देनेवाला है और गुण-समूहसे नित्य गौरवशाली तापस ही गुरु माने गये हैं ॥१९१॥ पुनः वह देव मुझसे बोला—इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ है ? जो परीक्षामें समर्थ सिद्ध हो, वही धर्म प्रशंसनीय माना जायगा ॥१८२॥ तब धर्मकी परीक्षा करनेके लिए इस भूतलपर हम दोनों परिभ्रमण करने लगे और मायाचारी यामदग्नि तपोवनवाला तापस हमारे द्वारा चला दिया गया ॥१९३॥ फिर वहाँसे घूमते हम दोनोंको रात्रिके समय कार्योत्सर्गमें एकाग्रतासे तत्पर और जिनमतरूप सागरमें कुशल बुद्धिवाले तुम दिखाई दिये ॥१९४॥ तब सम्यक्त्व रत्नसे प्रकाशमान यह जैन देव मुझसे बोला—सुन्दर श्रावक धर्मके आचरण करनेमें कुशल विद्वान् इस श्रावकको देखो ॥१९५॥ अनेक गुणोंके आधार जैन यतीश्वर तो दूर ही रहें, यदि तुममें शक्ति हो तो इस गृहस्थ मुनिको हे सखे, तुम ध्यानसे चलायमान करो ॥१९६॥ यह सुनकर मैंने अपनी मायासे रात्रिमें सैकड़ों विघ्न किये। परन्तु सुमेरुके समान स्थिर तुम्हारा चित्त कुछ भी चलायमान नहीं हुआ ॥१९७॥ जो लोग वीतरागी जिन देवको, दयायुक्त धर्मको और वीतरागताको प्राप्त गुरुको नहीं मानते हैं, वे लोग इस संसारमें दैवसे ही ठगाये गये हैं ॥१९८॥ मैंने अज्ञानतासे तुम्हारे ऊपर सघन उपद्रव करके दुष्ट अपराध किया है, सो मेरा वह सभी दुष्ट चेष्टा वाला अपराध तुम्हें क्षमा करना चाहिए ॥१९९॥ हे श्रेष्ठिन्, तुम गुणोंके अगाध समुद्र हो, अकारण बान्धव हो। तुम्हारे प्रसादसे आज मुझे सम्यक्त्वरूप रत्नकी प्राप्ति हुई है ॥२००॥ इस प्रकार स्तुति करके उस सुरेश्वरने सत्पुण्यके भारसे भावित आत्मावाले उस सेठके लिए आकाशगामिनी विद्या प्रदान की ॥२०१॥ तुम्हारे आदेशसे सारभूत पंच नमस्कार मंत्रके पदों-द्वारा यह आकाश-

सारपञ्चनमस्कारपदैः सेत्स्यति निश्चितम् । अन्यस्यापि तवादेशाद्विद्या चाकाशगामिनी ॥२०२
इत्युक्त्वा तं स्तवैः स्तुत्वा नत्वा च गुरुभक्तितः । जगाम त्रिदिवं देवः मित्रेण सत्वरम् ॥२०३
स्वच्छन्दोल्लसदानन्दमेदुरो निजमन्दिरम् । आप पञ्चनमस्कारस्मरणप्रवणो वणिक् ॥२०४
प्रत्यहं प्रातरुत्थाय भवता कुत्र गम्यते । अथापृच्छद्वणिक्नाथं सोमदत्तः पटुर्वटुः ॥२०५
धीर मेरौ जिनेन्द्राणां प्रतिमा या अकृत्रिमाः । अर्चितुं ताः स्फुरद्रूपा गच्छामीति निवेदितम् ॥२०६
स्वच्छमते मह्यमुपदेशं यतो मम । चित्तेऽस्ति मेरुचैत्यानां पर्युपासने ॥२०७
ः पञ्चपदं मन्त्रं तस्मै साधुर्व्यशिश्रणत् । परोपकारवैमुख्यं न हि सन्तो वितन्वते ॥२०८
उपदेशं साद्य ज्ञात्वा च सकलं विधिम् । गत्वा श्मशा क्षीत्सच्छायं वटपादपम् ॥२०९
अधस्तादूर्ध्ववक्त्राणि शस्त्राण्यारोप्य सर्वतः । दर्भस्याष्टोत्तरैः ः शतपादैरलङ्कृतम् ॥२१४
दिने कृष्णचतुर्दश्यां बबन्ध दृढबन्धनैः । पूर्वदिग्भागवर्तिन्यां शाखायां वटशाखिनः ॥२११
षष्ठोपवासकृत्पूर्वं पूजां कृत्वातिभक्तितः । उच्चारयन्मुखे मन्त्रं शिक्यमध्ये प्रविष्टवान् ॥२१२
एकैकं छिन्दता पादं मन्त्रं च पठता मुखे । दृष्ट्वा तिग्मानि शस्त्राणि चित्ते तेनेति चिन्तितम् ॥२१३
दैवाद्वणिक्पतेर्वाक्यं यद्यसत्यत्वमाश्रयेत् । शस्त्रेषु पततो नूनं तदा मे मरणं भवेत् ॥२१४
इति निश्चयमासाद्य चटनोत्तरणं कुधीः । करोति नाथवा सिद्धिरनिश्चं नृणाम् ॥२१५
येषामाप्तप्रणीतेऽपि युक्तियुक्ते न निश्चः । सं ध्वस्तबुद्धीनां तेषां सिद्धिः कुतस्तनी ॥२१६

गामिनी विद्या अन्य पुरुषको भी निश्चितरूपसे सिद्ध होगी । ऐसा कहकर और स्तोत्रोंसे उसकी स्तुति कर और गुरु भक्तिसे नमस्कार करके वह देव अपने मित्रके साथ स्वर्ग चला गया ॥२०२-२०३॥ तत्पश्चात् स्वच्छन्द आनन्दके उल्लाससे हर्षित होता हुआ और पंच नमस्कार मंत्रके स्मरणमें कुशल वह सेठ अपने मन्दिरको प्राप्त हुआ ॥२०४॥

किसी दिन सोमदत्त नामके एक कुशल बालकने सेठसे पूछा— आप प्रतिदिन प्रातःकाल उठ करके कहाँ जाते हैं ॥२०५॥ सेठने कहा—हे, धीर सुमेरु पर्वतपर जो जिनराजोंकी स्फुरायमान रूपवाली अकृमित्र प्रतिमाएँ हैं, उनकी पूजा करनेके लिए जाता हूँ ॥२०६॥ बालकने कहा—हे निर्मल बुद्धिशालिन्, मुझे भी उस मंत्रका उपदेश दो, क्योंकि मेरे भी चित्तमें मेरुकी प्रतिमाओंकी उपासना करनेकी भावना है ॥२०७॥ तब उस सेठने उसे पंचपदरूप नमस्कार मंत्रको दिया। क्योंकि सन्त पुरुष परोपकारसे पराङ्मुख नहीं होते हैं ॥२०८॥ सेठसे उपदेश पाकर और आकाशगामिनी विद्याके सिद्ध करनेकी सर्व विधिको जानकर वह श्मशान गया और वहाँपर एक सघन छाया वाला वट वृक्ष देखा ॥२०९॥ कृष्णा चतुर्दशीके दिन उस वट वृक्षके नीचे जिनके मुख (अग्रभाग) ऊपरकी ओर हैं ऐसे शस्त्रोंको भूमिमें सर्व ओर गाड़ करके डाभके एक सौ आठ तिनकोंसे अलंकृत सींका बनाकर और उसे वट वृक्षकी पूर्व दिशावाली डालीमें दृढ़ बन्धनोंसे बाँध दिया ॥२१०-२११॥ सर्व प्रथम षष्ठोपवास (वेला) की प्रतिज्ञाकर और फिर अति भक्तिसे पंचपरमेष्ठीकी पूजा करके मुखसे मंत्रका उच्चारण करता हुआ वह सींकेके भीतर प्रविष्ट हुआ ॥२१२॥ मुखसे मंत्रको पढ़ते हुए और सींकेके एक एक तृणरूप पादको काटते हुए नीचे गड़े तीक्ष्ण शस्त्रोंको देखकर वह विचारने लगा—यदि दैव वश सेठके वाक्य असत्य सिद्ध हुए तो शस्त्रोंपर गिरते हुए मेरा मरण निश्चयसे हो जायगा ॥२१३-२१४॥ ऐसा विचारकर वह कुबुद्धि उस सींकेपर चढ़ने और उतरने लगा। अथवा अनिश्चयवाले मनुष्योंको कोई सिद्धि प्राप्त नहीं होती है ॥२१५॥ जिनके हृदयमें आप्त-प्रणीत और युक्ति-युक्त तत्त्वमें भी निश्चय नहीं, और संशयसे जिनकी बुद्धि विध्वस्त हो गई है, ऐसे पुरुषोंको सिद्धि कहाँसे हो सकती है ॥२१६॥

तस्मिन्नेव क्षणे रात्रौ चोरमञ्जनसंज्ञितम् । उवाच परया प्रीत्या गणिकाऽञ्जनसुन्दरी ॥२१७
प्रजापालस्य या राज्ञी विशुद्धा कनकामिधा । तत्कण्ठस्थं महोदारं हारमानीय दीयताम् ॥२१८
अन्यथा जीवितव्यस्य क्षतिः स्यान्नात्र संशयः । इष्टार्थालाभतः को वा ना भवेन्मृत्युगोचरः ॥२१९
ततो गत्वा प्रजापालपत्न्या हारं मनोहरम् । गृहीत्वा तस्करो यावद्भिया संचरतेऽध्वना ॥२२०
तावज्जागरिभिर्दक्षैरङ्गरक्षैर्निरीक्षितः । ध्रियमाणः परित्यक्त्वा हारं शवपदं गतः ॥२२१
तस्मिन् वटतले विद्यां साधयन्तं नरं परम् । आलोक्याऽऽपृच्छ्य सम्बन्धं तस्मान्मन्त्रं मुदाऽग्रहीत्॥२२२
शिक्यारूढः स इत्युक्त्वा प्रमाणं श्रेष्ठिनो वचः । चिच्छेद सकलान् पादानेकवारमुदारधीः ॥२२३
यावन्न गतशङ्कोऽयं शास्त्रेषु पतति ध्रुवम् । आदेशं यच्छ यच्छेति वि तावद्वचोऽवदत् ॥२२४
यत्र मेरौ जिनेन्द्राणां प्रतिमाः प्रस्फुरत्प्रभाः । पूजयंस्तिष्ठति श्रेष्ठी तत्र मां नय सोऽवदत् ॥२२५
तया नीतो विनीतोऽसौ नत्वा त्वेवं व्यजिज्ञपत् । आकाशगामिनी विद्या सिद्धा मे ते प्रसादतः ॥२२६
ततः प्रसीद मे मन्त्रं देहि मुक्तिप्रदं विभो । शिवीभवामि येनाशु हत्वा दुष्कर्मसन्ततिम् ॥ २२७
विज्ञाय ज्ञायचित्तस्य काललब्धिं वणिक्पतिः । निनाय सत्वरं चौरं चारणश्रमणान्तिकम् ॥२२८
आदाय यतिनो दीक्षामञ्जनः स निरञ्जनः । त्कैवल्यमुत्पाद्य जग्मिवान्मोक्षमक्षयम् ॥२२९

उसी ही समय रात्रिमें अंजन सुन्दरी वेश्याने अपने पास आते हुए अंजन नामक चोरसे परम प्रीति-पूर्वक कहा—प्रजापाल राजाकी कनकमती नामकी जो परम सुन्दरी विशुद्ध बुद्धिवाली रानी है उसके गलेमें जो महामूल्यवान् विशाल उदार हार है, उसे लाकरके मुझे दो ॥२१७-२१८॥ अन्यथा मेरे जीवनका विनाश हो जायगा, इसमें संशय नहीं है। अथवा इष्ट अर्थका लाभ न होनेसे कौन मृत्युका विषय नहीं हो जाता ॥२१९॥ यह सुनकर वह अंजनचोर वहाँ गया, और प्रजापालकी रानीका मनोहर हार लेकर 'कोई देख न लेवे' इस भयसे मार्गमें भागकर जाने लगा, तभी जागने वाले कुशल अंगरक्षकोंने देख लिया। वे जैसे ही उसे पकड़नेके लिए दौड़े कि अपना वचना असंभव देख वह हारको मार्गमें छोड़कर (भागता हुआ) श्मशानमें पहुँचा ॥२२०-२२१॥ वहाँपर उस वट वृक्षके नीचे विद्याको सिद्ध करते हुए मनुष्यको देखकर उसके सींकेपर चढ़ने-उतरनेके सम्बन्धमें पूछा और उससे उसने उस मंत्रको सहर्ष ग्रहण कर लिया ॥२२२॥ 'सेठके वचन प्रमाण है' ऐसा कहकर वह सींकेपर चढ़ गया और उस उदार दृढ़ बुद्धिवाले चोरने समस्त पादों (तिनकोंको) एक वार ही शस्त्रसे काट दिया ॥२२३॥ शंका-रहित यह चोर सींकसे नीचे गिरता हुआ जब तक शस्त्रोंपर नहीं गिरा कि तभी आकाशगामिनी विद्याने उसे अधरमें ही झेल लिया और उससे यह वचन बोली कि मुझे आज्ञा दो, आज्ञा दो कि मैं क्या सेवा करूँ ॥२२४॥ तब उस अंजन चोरने कहा—जहाँ सुमेरु पर्वतपर जिनराजोंकी स्फुरायमान प्रभावाली प्रतिमाएँ हैं और जहाँपर सेठ पूजा करता हुआ बैठा है, वहाँ मुझे ले चलो ॥२२५॥ उस आकाशगामिनी विद्याके द्वारा वह वहाँ ले जाया गया। उस विनीत अंजन चोरने सेठको नमस्कार कर इस प्रकार कहा—हे महाभाग, आपके प्रसादसे मुझे आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हुई है ॥२२६॥ इसलिए हे प्रभो, मुझपर प्रसन्न होओ और मुक्तिको देने वाला मंत्र मुझे प्रदान करो। जिजसे कि मैं दुष्कर्मोंकी सन्ततिको शीघ्र नाश करके शिवको प्राप्त होऊँ ॥२२७॥ सेठ उसकी प्रार्थना सुनकर और उसकी प्राप्त हुई काल-लब्धिको जानकर वह शीघ्र ही चारण ऋद्धिधारी श्रमणके समीप ले गया ॥२२८॥ उन महाश्रमण से जिन दीक्षाको लेकर, तपश्चरण करते हुए क्रमसे कैवल्यको उत्पन्नकर और अक्षय मोक्षको प्राप्त-कर वह अंजन सदाके लिए निरंजन हो गया ॥२२९॥

इति निःशङ्कितकथा ॥१

तपः सुदुस्सहं तन्वन् दानं वा स्वर्गसम्भवम् । सुखं नाकाङ्क्षति त्रेधा यः स निःकाङ्क्षिताग्रणीः ॥१३०
सुखे वैषयिके सान्ते तपोदानं वितन्वतः । नरस्य स्पृहयालुत्वं यत्सा काङ्क्षा बुधैर्मता ॥२३१

इह भवे विभवादिकमक्षयं परभवे च सुरासुरनाथताम् ।
अभिलषेन्न च चक्रिपदं सुधीः धिगम्य सुदर्शनमद्भुतम् ॥२३२

उक्तं च—

हस्ते चिन्तामणिर्यस्य गृहे यस्य सुरद्रुमः । कामधेनुर्धने यस्य तस्य कः प्रार्थनाक्रमः ॥२३३
इन्द्रत्वं च फणीन्द्रत्वं नरेन्द्रत्वं किलाढकैः । विक्रीणीते स सम्यक्त्वाद्वाङ्क्षेद्योऽक्षजं सुखम् ॥२३४
यः कामितसुखे तन्वन् वैमुख्यं दर्शनं त्रिधा । पालयत्यखिला लक्ष्म्यो वृणुते तं स्वयंवराः ॥२३५

उक्तं च—

हासात्पितुश्चतुर्थेऽस्मिन् व्रतेऽनन्तमती स्थिता । कृत्वा तपश्च निःकाङ्क्षा कल्पं द्वादशमाविशत् ॥२३६

अस्य कथा—

अङ्गदेशाभिवर्त्तिन्यां चम्पायां प्रभुरद्भुतः । वर्धमानगुणग्रामो भूपोऽभूद्वसुवर्धनः ॥२३७
प्रियदत्तोऽभवच्छ्रेष्ठी सोऽत्र सत्त्वप्रियङ्करः । भाग्यसौभाग्यसम्पन्ना यद्भार्याऽङ्गवती सती ॥२३८

यह निःशङ्कित अङ्गकी कथा है जो अति दुःसह तपको करता हुआ और स्वर्गको देनेवाला दान देता हुआ भी मन वचन कायसे संसारिक सुखकी आकांक्षा नहीं करता है, वह निःकांक्षित पुरुषोंमें अग्रणी कहलाता है ॥२३०॥ तप, दान आदिको करते हुए मनुष्यकी जो अन्त करके सहित भी इस विषय-जनित सुखमें अभिलाषा होती है, उसे ही ज्ञानियोंने कांक्षा कहा है ॥२३१॥ इस अद्भुत सम्यग्दर्शनको पाकरके सद्-बुद्धि मनुष्यको चाहिए कि वह धर्म-सेवनके फलस्वरूप इस भवमें धन-वैभव आदि मेरे अक्षय रहें, इस प्रकारकी, तथा परभवमें सुरेन्द्र-असुरेन्द्र पदकी और चक्रवर्ती आदिके उत्कृष्ट पदकी कभी अभिलाषा न करे ॥२३२॥

कहा भी है—जिसके साथमें चिन्तामणि रत्न है, जिसके घरमें कल्पवृक्ष है और जिसके गोधनमें कामधेनु विद्यमान है, उसका परसे याचना करनेका क्रम कैसा । भावार्थ—जिसके हृदयमें चिन्तामणि, कल्पवृक्ष और कामधेनुसे भी उत्कृष्ट सम्यक्त्वरत्न प्रकाशमान है, उसे किसीसे कुछ भी याचना करनेकी आवश्यकता नहीं है । उसे तो सांसारिक-सुख स्वयमेव प्राप्त होंगे ॥ २३३॥

जो मनुष्य सम्यक्त्वरत्न पाकरके उससे इन्द्रपना, धरणेन्द्रपना या नरेन्द्रपनाकी, या किसी भी प्रकारके इन्द्रिय-जनित सुखको आकांक्षा करता है, समझो वह उस रत्नको आढक-प्रमाण (अढ़ैया भर) अन्नके बदलेमें बेचता है ॥२३४॥ जो अभिलषित सुखमें विमुखता रखता हुआ सम्यग्दर्शनका त्रियोगसे पालन करता है, उसे संसारकी सभी प्रकारकी लक्ष्मियाँ स्वयं ही वरण करती है ॥२३५॥ पिताके हास्यसे लिये गये इस चतुर्थ ब्रह्मचर्यव्रतमें अनन्तमती स्थिर रही । अन्तमें तप धारण करके सांसारिक भोगोंसे आकांक्षा-रहित होती हुई वह मरण करके बारहवें स्वर्गमें गई ॥२३६॥

इस निःकांक्षित अंगमें प्रसिद्ध होनेवालेकी कथा इस प्रकार है—अंगदेशके भीतर वर्तमान चम्पानगरीमें अद्भुत सामर्थ्य वाला और वर्धमान गुणसमूहका धारक वसुवर्धन नामक राजा था ॥२३७॥ उस नगरीमें प्राणियोंके लिए प्रिय कार्य करनेवाला प्रियदत्त नामका सेठ रहता था।

औदार्यधैर्यसौन्दर्यभाग्यसौभाग्यशालिनी । अनन्तमतिसंयुक्ता सुताऽनन्तमती तयोः ॥२३९
अथ नन्दीश्वराष्टम्यां धर्मकीर्त्तिमुनेः पुरः । गृहीतं श्रेष्ठिना ब्रह्मव्रतं च ग्राहिता सुता ॥२४०
सम्प्रदानस्यकाले सा चैवं जनकमूचुषी । किमर्थं क्रियते तात वृथैवायं परिश्रमः ॥२४१
त्वयैव दापितं ब्रह्मचर्यं मे गुरुसन्निधौ । तत्किमत्र विवाहार्थं खिद्यते तात साम्प्रतम् ॥२४२
व्रतमर्हति कस्त्यक्तुं गृहीतं गुरुसन्निधौ । अन्ने वान्ते स्वयं धत्ते को जिघित्सां बुधोत्तमः ॥२४३
तनूजेऽष्टदिनान्येव विनोदेन मया तदा । दापितं ब्रह्मचर्यं ते तत्पितेत्युदचीचरत् ॥२४४
व्रते धर्मे विधातव्यो विनोदो न क्वचित्पितः । भट्टारकैरपि स्पष्टं तथा नैवं विचक्षितम् ॥२४५
संसारे जन्मिनामत्र केवलं मरणं वरम् । न पुनर्देशकालेऽपि गृहीतव्रतखण्डनम् ॥२४६
शृणु त्वं तात शृण्वन्तु सर्वे व्योम्नि सुरासुराः । एतस्मिन् जन्मनि स्पष्टं विवाहनियमो मम ॥२४७
श्रुतस्कन्धवने साथ विकटं चित्तमर्कटम् । विनोदयति सिद्धान्तपारीणधिषणा सती ॥२४८
वैताढ्यदक्षिणश्रेण्यां स किन्नरपुरेश्वरः । वर्धिष्णुप्रतिभोऽथाभून्नाम्ना कुण्डलसण्डनः ॥२४९
एकदाऽसौ सुकेश्यामा गच्छन्नभसि दृष्टवान् । दोलाकेलिवर्ती गेहोद्यानेतां श्रेष्ठिनः सुताम् ॥२५०
पञ्चवाणस्फुरद्वाणव्रातघातनिपीडितः । तद्रूपालोकनादेष खगेशः समभाषत ॥२५१
यस्येदृग्युवती स्नेहवती रूपवती सती । नास्ति गेहे वृथा तस्य जीवितं भुवनस्थले ॥२५२

उसकी भाग्य-सौभाग्यसे सम्पन्न अंगवती नामकी सती स्त्री थी ॥२३८॥ इन दोनोंके उदारता, धीरता, सुन्दरता, भाग्य और सौभाग्यवाली तथा अनन्त बुद्धिसे संयुक्त अनन्तमती नामकी पुत्री थी ॥२३९॥ एक समय नन्दीश्वर पर्वकी अष्टमीके दिन धर्मकीर्ति मुनिके आगे उस प्रियदत्त सेठने स्वयं ब्रह्मचर्यव्रत (आठ दिनके लिए) ग्रहण किया और (कुतूहल वश) लड़कीको भी ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण करा दिया ॥२४०॥ जब पुत्रीके विवाहका समय आया तब सम्प्रदान (वाग्दान-सगाई) के समय उसने अपने पितासे कहा—हे तात, यह व्यर्थ परिश्रम आप क्यों कर रहे हैं ॥२४१॥ आपने ही गुरुके समीप मुझे ब्रह्मचर्यव्रत दिलाया है, तब हे तात, आप इस समय विवाह करनेके लिए क्यों खेद-खिन्न हो रहे हैं ॥२४२॥ गुरुके समीप ग्रहण किये हुए व्रतको छोड़नेके लिए कौन योग्य हो सकता है। कौन ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ मनुष्य स्वयं वमन किये गये अन्नको खानेकी इच्छा करता है। अर्थात् कोई भी नहीं ॥२४३॥ तब उसके पिताने कहा—हे पुत्रि, उस समय मैंने विनोदसे ही तुझे आठ दिनके लिए ब्रह्मचर्यव्रत दिलाया था ॥२४४॥ अनन्तमतीने कहा—हे पितः, व्रत और धर्मके विषयमें कभी विनोद नहीं करना चाहिए। और उस समय भट्टारक (गुरु) महाराजने भी तो यह बात स्पष्ट नहीं कही थी ॥२४५॥ इस संसारमें प्राणियोंका केवल मर जाना अच्छा है, किन्तु किसी भी देश और कालमें ग्रहण किये गये व्रतका खंडन करना अच्छा नहीं है ॥२४६॥ हे तात, आप सुनिये और आकाशमें स्थित सभी सुर और असुर सुनें—इस जन्ममें मेरे स्पष्टरूपसे विवाहका त्याग है ॥३४७॥ इसके पश्चात् वह अनन्तमती सिद्धान्त शास्त्रोंमें पारंगत होनेकी बुद्धिसे अपने मनरूपी चंचल वानरको श्रुतस्कन्धरूप वनमें विनोद कराने लगी ॥२४८॥

विजयार्ध पर्वतकी दक्षिणश्रेणीमें जिसकी प्रतिभा उत्तरोत्तर बढ़ रही है, ऐसा कुण्डल मण्डल नामक विद्याधर किन्नरपुरका स्वामी था ॥२४९॥ एक बार वह अपनी सुकेशी नामकी रानीके साथ जब आकाशमार्गसे जा रहा था, तब उसने घरके उद्यानमें दोलाकेलि करती हुई सेठकी पुत्री इस अनन्तमतीको देखा ॥२५०॥ उसके सुन्दर रूपके देखनेसे कामदेवके बाण-समूहके घातसे पीड़ित होता हुआ यह विद्याधरेश बोला—(मनमें विचारने लगा) जिस पुरुषके घरमें ऐसी

तन्वेचिदियति गेहेऽसौ निधाय वनितां निजाम् । खगो वेगात्समागत्य जहार श्रेष्ठिनः सुताम् ॥२५३
दृष्ट्वा सन्मुखमायान्तीं स्वभार्यां भयकातरः । विद्यया खाच्छनैरेनां खगेशो धृतवान् वने ॥२५४
तात तातेति जल्पन्तीं वाष्पाविलविलोचनाम् । भीमो भीमाह्वयो भिल्लपालोऽपश्यत्सविस्मयम् ॥२५५
तल्लावण्यामिषग्रासलालसः स वनेचरः । तां रूपवल्लिकां बालामनैषीन्निजपल्लिकाम् ॥ २५६
मामिच्छातुच्छलावण्यवार्धिवेले निजेच्छया । यथा हर्षात्करोमि त्वां सर्वराज्ञीशिरोमणिम् ॥२५७
अनिच्छन्ती ततस्तेन पापिना शबरेशिना । बलेन भोक्तुमारब्धा बाला ब्रह्मव्रताञ्चिता ॥२५८
विघ्नैः परःशतैर्भिल्लं निवार्य वनदेवता । तस्या व्यधत्त साहाय्यं शीलात् किं वा न जायते ॥२५९
कुल्यायते समुद्रोऽपि प्रत्यूहोऽप्युत्सवायते । अरिर्मित्रायते नूनं सत्त्वानां शीलशालिनाम् ॥२६०
काचिद्देवीति विज्ञाय पल्ल्यभ्यर्णनिवासिने । तामसौ सार्थवाहाय पुष्पनाम्नेऽसमर्पयत् ॥२६१
तद्रूपालोकनात्सार्थवाहः स्मरकरालितः । उवाच परया प्रीत्या कामिनीं गजगामिनीम् ॥२६२
गृहाणाभरणान्येतान्यम्बराणि च भामिनि । सर्वदा तव दासोऽस्मि कटाक्षेण पुनीहि माम् ॥२६३

सा उवाच—प्रियदत्तः पिता यादृक् तादृक्त्वमपि मे पिता ।
अतः पापपरं वाक्यं मास्म वादीर्वणिक्पते ॥२६४

अथायोध्यां समासाद्य नगरीं स गरीयसीम् । कुटिन्यै कामसेनायै ददिवान् श्रेष्ठिनः सुताम् ॥२६५

युवती स्नेहवती रूपवती सती नहीं है, उसका इस संसारमें जीना वृथा है ॥२५१-२५२॥ ऐसा विचारकर वह विद्याधरेश अपने साथ विमानमें बैठी हुई अपनी स्त्रीको घरपर छोड़कर वेगसे वापिस आया और सेठकी पुत्रीका अपहरण कर आकाशमार्गसे चल दिया ॥२५३॥ इतनेमें सन्मुख आती हुई अपनी भार्याको देखकर भय-भीत हो उस खगेशने विद्याके द्वारा इस अनन्तमतीको धीरेसे वनमें उतार दिया ॥२५४॥ तब हे तात, हे तात, पुकारती-चिल्लाती रोती और आँसूसे व्याप्त नेत्र-वाली इस अनन्तमतीको भीम नामक एक भयंकर भीलोंके राजाने आश्चर्यके साथ देखा ॥२५५॥ उसके लावण्यरूप आमिष (मांस) को ग्रास बनानेकी लालसा वाला वह भीलराज रूपवल्ली इस बालाको अपनी पल्लीमें ले गया और उससे बोला—हे अनुपम सौन्दर्य सागरकी वेला, तू मुझे पतिरूपसे स्वीकार कर, जिससे कि हर्षित होकर मैं तुझे अपनी सब रानियोंमें शिरोमणि बना दूँ ॥२५६-२५७॥ जब अनन्तमतीने उसे पतिरूपसे स्वीकार नहीं किया, तब उस पापी भिल्लराजने ब्रह्मचर्यव्रतसे युक्त उस बालाको बलपूर्वक भोगनेका प्रयत्न प्रारम्भ किया ॥२५८॥

तब उसके शीलके प्रभावसे वनदेवताने आकर सैकड़ों उपद्रव करके उस भीलका निवारण कर उस अनन्तमतीकी सहायता की, अर्थात् बचाया। सच है—शीलसे क्या नहीं हो सकता है ।२५९। शील-धारक प्राणियोंके लिए समुद्र छोटी नदी या नालीके समान आचरण करता है, विघ्न भी उत्सव बन जाते हैं और शत्रु भी मित्रके समान आचरण करने लगता है ॥२६०॥ अनन्तमतीकी ऐसी दशा जानकर किसी देवीने उसे भील-पल्लीके समीप निवास करनेवाले पुष्पनामक सार्थवाहको सौंप दिया ॥२६१॥ उसके रूप-अवलोकनसे काम-पीड़ित होता हुआ वह सार्थवाह परम प्रीतिके साथ उस गजगामिनी कामिनी अनन्तमतीसे बोला—हे भामिनि, इन वस्त्रों और आभूषणोंको ग्रहण कर और अपने कटाक्ष-विक्षेपसे मुझे पवित्र कर, मैं तेरा दास हूँ ॥२६२-२६३। तब वह अनन्त-मती बोली—जैसा प्रियदत्त मेरा पिता है, उसी प्रकार तुम भी मेरे पिता हो। अतः हे वणिक्-पते, ऐसे पाप-पूर्ण वचन मत कहो ॥२६४॥ तब उस सार्थवाहने विशाल अयोध्या नगरी जाकर सेठकी

कुट्टिनी उवाच—अस्मिन्नसारे संसारे सारमिन्द्रियजं सुखम् । तद्वेश्यानां मते तन्वि सातिरेकं प्रवर्तते ॥२६६
मनोऽभिलषितान् भोगानतः कुरु मदुक्तिभिः । शोकं रूप-परावर्तकारणं च परित्यज ॥२६७
इति वेश्योदितैरेषा न च्युता शीलशैलतः । चलत्यचलमालेयं किं वा वातैः कदाचन २६८
ततः श्रीसिंहराजाय कुट्टिन्या सा समर्पिता । हठाद् भोक्तुं समारब्धा तेन रात्रौ दुरात्मना ॥२६९
ततस्तद्ब्रह्म माहात्म्यात्क्षुभिता पुरदेवता । उपसर्गशतैरेनं पीडयामास पापिनम् ॥२७०
स्फीतभीतिर्गृहादेनां निरास्थन्निजकिङ्करैः । सापि पञ्चनमस्कारान् स्मरन्ती तस्थुषी क्वचित् ॥२७१
निविष्टां कुत्रचिद्देशे शोकशोषितमानसाम् । पद्मश्रीः क्षान्तिका बालामद्राक्षीद्दययाञ्चिता ॥२७२
विज्ञाततच्चरित्रासौ कृत्वा शोकापनोदनम् । स्वान्तिके स्थापयामास कान्तिकान्तां कृशोदरीम् ॥२७३
पुत्रीहरणसम्भूतशोकसन्तापशान्तये । अथ निर्गतवानेष प्रियदत्तः स्ववासतः ॥२७४
तीर्थपूजोद्भवैः पुण्यैः स्वात्मानं स पवित्रयन् । अयोध्यां नगरीं प्राप्तो भूरिभूतिगरीयसीम् ॥२७५
श्रेष्ठिनो जनदत्तस्य शालकस्य निशागमे । प्राविशत्सदनं साधुः स्वसेवकसमन्वितः ॥२७६
ससंभ्रममथोत्थाय कृत्वा प्राघूर्णकक्रियाम् । आसने जिनदत्तोऽसौ प्रियदत्तं न्यवीविशत् ॥२७७
जिनदत्तेन तेनाशु पृष्ठः श्रेष्ठी विशिष्टधीः । किञ्चिद्गद्गदकण्ठोऽसौ सर्वं वृत्तं न्यवेदयत् ॥२७८
ततः प्रातः कृतस्नानो जिनध्यानो दयाधनः । अगारात्स जिनागारमगान्मारसमाकृतिः ॥२७९

वह अनन्तमती पुत्री कामसेना नामकी वेश्याको दे दी ॥२६५॥ वेश्या बोली—इस असार संसारमें इन्द्रिय-जनित सुख ही सार है, हे सुन्दरी, वह सुख वेश्याओंके मतमें सर्वाधिक प्राप्त होता है ॥२६६॥ इसलिए मेरे कहनेसे तू मनोवांछित भोगोंको भोग और रूपके बिगाड़नेवाले इस शोकका परित्याग कर ॥२६७॥ वेश्याके द्वारा ऐसा कहे जानेपर भी यह अनन्तमती अपने शीलरूपी शैल (पर्वत) से च्युत नहीं हुई । क्या कभी वायुके वेगोंसे अचल पर्वतोंकी पंक्ति चलायमान होती है । कभी नहीं ॥२६८॥ तब उस वेश्याने उसे श्री सिंहराजको सौंप दिया । उस पापीने रात्रिमें हठात् उसे भोगनेका प्रयत्न प्रारम्भ किया ॥२६९॥ तब उस अनन्तमतीके ब्रह्मचर्यके माहात्म्यसे क्षोभको प्राप्त हुई पुर-देवताने उस पापीको सैकड़ों उपसर्गोंसे पीड़ित किया ॥२७०॥ तब अत्यन्त भय-भीत होकर उसने अपने नौकरोंके द्वारा इसे घरसे निकाल दिया । वह अनन्तमती भी पंचनम-स्कारमंत्रको स्मरण करती हुई कहीं पर जाकर बैठ गई ॥२७१॥ तब किसी अज्ञात-निर्जन प्रदेशमें बैठी और शोक सन्तप्त-चित्तवाली इस बालाको दयासे भरपूर पद्मश्री नामकी आर्यिकाने देखा ॥२७२॥ इसके सभी पूर्व वृत्तान्तको जानकर और उसका शोक दूरकर उस सुन्दर कान्तिवाली कृशोदरीको अपने समीप रख लिया ॥२७३॥

इधर पुत्रीके हरे जानेके शोकसे सन्तप्त चित्तकी शान्ति के लिए यह प्रियदत्त सेठ भी अपने घरसे निकला और विभिन्न तीर्थों की पूजा करनेसे उत्पन्न हुए पुण्यसे अपनी आत्माको पवित्र करता हुआ भारी विभूतिसे गौरवशालिनी अयोध्या नगरीको प्राप्त हुआ ॥२७४-२७५॥ वहाँ रात्रिके समय वह साहू प्रियदत्त सेठ अपने साले जिनदत्तके घर अपने सेवकोंके साथ प्रविष्ट हुआ ॥२७६॥ अपने बहनोईको आया हुआ जानकर हर्षसे रोमांचित हुए उठकर पाहुनगति करके उस जिनदत्तने प्रियदत्तको आसन पर बैठाया ॥२७७॥ जिनदत्तने विशिष्ट बुद्धिवाले अपने बहनोई सेठसे शीघ्र घरकी सब कुशल-क्षेम पूछी । तब उसने दुःखसे कुछ गद्गद कण्ठ होते हुए सर्ववृत्तांत कहा ॥२७८॥ तत्पश्चात् प्रातःकाल स्नानकर जिन भगवान्‌का ध्यान करता हुआ दयाका धनी और कामदेवके समान सुन्दर आकृतिवाला वह प्रियदत्त घरसे जिन-मन्दिर गया ॥२७९॥

विधातुं सरसं भोज्यं चतुष्कं दातुमङ्गणे । श्रेष्ठिनो भार्ययाऽऽहूता क्षान्तिकाभ्यर्णवर्त्तिनी ॥२८०
ततः पीयूषसर्वस्वभिदेलिमरसोदयम् । कृ भोज्यं चतुष्कं च दत्वा सा वसतिं ौ ॥२८१
सुरासुरनराधीशवन्द्यमानपदद्वयाः । अर्चयित्वा जिनेन्द्रार्चाः श्रेष्ठी गेहं समासदत् ॥२८२
चतुष्कदर्शनादेष स्मृत्वाऽनन्तमतीं सुताम् । पर्यश्रुलोचनः श्रेष्ठी न्यगादीद्गद्गदस्वनः ॥२८३
यया चतुष्कमापूर्णं तूर्णं नीरजलोचना । सेयमानीयतां बाला मच्चित्तानन्दकन्दली ॥२८४
ततस्तैः सा ानीता बाला साश्रुविलोचना । शोकसन्तप्तगात्रस्य ननाम चरणौ पितुः ॥२८५
समुत्थाप्य प्रमृज्याश्रु रोमाञ्चकञ्चचाञ्चितः । प्रियदत्तः शुचा वान्तचिन्तां पुत्रीमवोचत ॥२८६
आबालपालितस्फारशीलायास्ते तनूरहे । यानि वात्सल्यशून्यानि तुन्दन्त्यहानि तानि माम् ॥२८७
कथं केन हृता बाले केनानीतात्र पत्तने । इति पृष्टा सुता सर्वमुदन्तं तमबूबुधत् ॥२८८
तयोः समागमे हृष्टो जिनदेवो वणिक्पतिः । कारयामास सर्वस्यां पुर्यतुच्छं महोत्सवम् ॥२८९
तदेहि वत्से गच्छाव आवामात्मनिकेतनम् । इत्यूचिवान् समाचष्टे श्रेष्ठिनं पितरं सुता ॥२९०
दृष्टं संसारवैचित्र्यमेकस्मिन्नपि जन्मनि । अतस्तात मम स्वान्तं जिनदीक्षां चिकीर्षति ॥२९१
क्व तावकं वपुर्वत्से कदलीगर्भकोमलम् । क्व च जैनेश्वरी दीक्षा दुःसाध्यापि मनस्विनाम् ॥२९२
प्रौढिमानमतो यावल्लभन्तेऽङ्गानि ते सुते । स्थित्वा तावन्निजागारे तपः कुरु सुदुस्सहम् ॥२९३

इधर जिनदत्त सेठकी स्त्रीने सरस भोज्य-पदार्थ बनानेके लिए तथा आंगणमें चौक पूरनेके लिए आर्यिकाके समीप रहनेवाली उस बालाको बुलाया ॥२८०॥ तब वह अनन्तमती बाला अमृतसे भी अधिक रससे भरे हुए उत्तम भोज्य-पदार्थोंको बनाकर और आंगणमें चौक पूरकर अपने स्थानको चली गई ॥२८१॥ प्रियदत्त सेठ सुर-असुर और मनुष्योंके स्वामियोंसे पूजित है चरणयुगल जिनके ऐसी जिनेन्द्र-प्रतिमाओंका पूजन करके घर आया ॥२८२॥ पूरे गये चौकके दर्शनसे अपनी अनन्तमती पुत्रीका स्मरण करके अश्रुपूरित नेत्रवाला होता हुआ वह प्रियदत्त सेठ गद्गद स्वरसे बोला— मेरे चित्तको आनन्द करनेवाली जिस कमलनयनी बालाने यह चौक पूरा है, उसे शीघ्र बुलाइये ॥२८३-२८४॥ तब जिनदत्तके द्वारा लायी गयी अश्रु-पूरित नेत्रवाली उस बालाने शोक-सन्तप्त शरीरवाले अपने पिताके चरणोंको नमस्कार किया ॥२८५॥ तब हर्षसे रोमांचित होते हुए प्रियदत्तने उसको उठाकर और आँसू पोंछकर शोकसे वमन की है चिन्ताको जिसने ऐसी अपनी पुत्रीसे बोला ॥२८६॥ हे प्रिय पुत्रि, बाल्यकालसे उत्तम शीलको पालनेवाली पुत्रीके वात्सल्यसे शून्य मेरे जितने दिन व्यतीत हुए हैं, वे मुझे भारी पीड़ा दे रहे हैं ॥२८७॥ हे बाले, तुझे किसने हरा, और किसके द्वारा तू इस नगरमें लायी गयी ? इस प्रकार प्रियदत्तके द्वारा पूछे जानेपर उस बालाने सारा वृत्तांत कह सुनाया ॥२८८॥

उन पिता-पुत्रीके समागमसे हर्षित हुए जिनदत्त सेठने सारी नगरीमें भारी महोत्सव कराया ॥२८९॥ तदनन्तर प्रियदत्त सेठने कहा—हे बाले, आओ, अपन दोनों अपने घरको चलें। यह सुनकर पुत्रीने अपने पिता प्रियदत्त सेठसे कहा—इस एक ही जन्ममें मैंने संसारकी विचित्रताको देख लिया है, अतः हे तात, मेरा चित्त अब जिनदीक्षाको लेना चाहता है ॥२९०-२९१॥ यह सुनकर प्रियदत्त बोला—हे वत्से, कहाँ तो तेरा यह केलेके गर्भ (मध्यभाग) से भी अतिकोमल शरीर, और कहाँ बड़े-बड़े मनस्वी जनोंको भी दुःसाध्य यह जैनेश्वरी दीक्षा ? इसलिए हे सुते, जब तक ये सुकोमल अंग प्रौढताको प्राप्त नहीं हो जाते हैं, तबतक अपने ही घरमें रहकर कठिन दुःसह

इति साध्वी निषिद्धापि पद्मश्रीक्षान्तिकान्तिके । प्राव्राजीदथवा धर्मे नालस्यं कुरुते कृती ॥२९४
रागद्वेषादिकान् शत्रून् हत्वा ध्यानासिना भृशम् । पक्षमासोपवासादिव्रतं हर्षाद्चीकरत् ॥२९५
यथा यथा तनोः पीडा क्षुद्बाधाभिः प्रजायते । तथा तथा गलत्याशु पूर्वकर्माणि देहिनाम् २९६
अप्रशस्तानि कर्माणि हत्वा सा तपसो बलात् । सहस्रारे सुरो जातो व्रतात् किं वा न लभ्यते ॥२९७

सच्छीलाः कति सन्ति नात्र कति वा नार्यो भविष्यन्ति नो
नाभूवन् कति वा तथापि कुरुते सैषाधिकं विस्मयम् ।
लुब्धे व्योमचरे विकारकलिते भिल्ले तया पुष्पकेऽ-
त्यासक्ते क्षितिपे च कामविकले शीलं यया पालितम् ॥२९८

इति निष्काङ्क्षिते अनन्तमतीकथा ॥२॥

च—

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते । निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता ॥२९९

घनकर्मवशादुपागतैर्मुनिमालोक्य कलङ्कितं गदैः ।
विचिकित्सति तस्य मानसं स नरः स्तात्सकलापदां पदम् ॥३००

ऊर्ध्वत्वभुक्तितो नाग्न्यात्स्नानाचमनवर्जनात् । अनिन्द्यमपि निन्दन्ति दुर्दृशो जिनशासनम् ॥३०१

तपोंको कर ॥२९२-२९३॥ इस प्रकार पिताके द्वारा भली भाँतिसे रोके जानेपर भी उस अनन्तमतीने पद्मश्री आर्यिकाके समीप दीक्षा ग्रहण कर ली । बुद्धिमान् व्यक्ति धर्म-कार्यमें आलस्य नहीं करते हैं ॥२९४॥

दीक्षा लेनेके पश्चात् ध्यानरूपी खङ्गसे राग-द्वेषादिके शत्रुओंका नाश करके वह पक्षोपवास-मासोपवास आदि व्रत-तपोंको हर्षसे करने लगे ॥२९५॥ आचार्य कहते हैं कि जैसे-जैसे भूख-प्यास आदिसे शरीरको पीड़ा उत्पन्न होती है, वैसे-वैसे ही प्राणियोंके पूर्वार्जित कर्म शीघ्र गलने लगते हैं ॥२९६॥ तपके बलसे वह अनन्तमती अशुभ कर्मोंका विनाश करके (स्त्रीलिंगको छेद कर) सहस्रार स्वर्गमें देव रूपसे उत्पन्न हुई । आचार्य कहते हैं कि व्रत और तपसे क्या नहीं प्राप्त होता है ॥२९७॥

इस संसारमें उत्तम शीलवाली कितनी स्त्रियाँ नहीं हैं, और भविष्यमें कितनी नहीं होंगी ? तथा भूतकालमें कितनी नहीं हुई हैं ? परन्तु यह अनन्तमतीकी कथा सबसे अधिक आश्चर्य पैदा करती है । देखो—पहिले तो काम-विकारसे युक्त रूप-लोभी विद्याधरके द्वारा हरी गई, फिर कामासक्त भीलसे पीड़ित हुई, पुनः पुष्पक सार्थवाह आसक्त हुआ, पुनः वेश्यासे और पुनः कामासक्त राजासे पीड़ित किये जानेपर भी जिसने अपने निर्मल शीलका पालन किया ॥२९८॥

इस प्रकार यह निःकांक्षित अंगमें अनन्तमतीकी कथा है । अब सम्यग्दर्शनके तीसरे निर्विचिकित्सा अंगका वर्णन किया जाता है—कहा भी है—स्वभावसे अपवित्र किन्तु रत्नत्रय धारण करनेसे पवित्र ऐसे साधुजनोंके मलिन शरीरमें ग्लानि नहीं करना, पर उनके गुणोंमें प्रीति करना निर्विचिकित्सा अंग माना गया है ॥२९९॥

पूर्वोपार्जित सघन कर्मोंके उदयके वशसे प्राप्त हुए रोगोंसे कलंकित मुनिको देखकर जिसका मन ग्लानिको प्राप्त होता है वह मनुष्य समस्त आपत्तियोंका आस्पद होता है ॥३००॥ जैन साधुओंके खड़े होकर भोजन करनेसे, नग्न रहनेसे, स्नान और आचमन नहीं करनेसे मिथ्यादृष्टि

ते तदर्थमजानाना मिथ्यात्वोदयदूषिताः । वृथैव विचिकित्सन्ति स्वभावकुटिलाः खलाः ॥३०२
स्वस्यान्यस्य च कायोऽयं वहिःशोभामनोहरः । अन्तर्विचार्यमाणः स्यादौदुम्बरफलोपमः ॥३०३

देहदूषणकरावलोकनाद्यः सुतत्त्वमतये जुगुप्सते ।
कालिकाभयवशात्स मुग्धधीः काञ्चनं त्यजति हस्तसङ्गतम् ॥३०४

शुद्धात्मध्याननिष्ठानां यतीनां ब्रह्मचारिणाम् । व्रतमन्त्रपवित्राणामस्नानं नात्र दूष्यते ॥३०५

अथवा उक्तं च—

यदेवाङ्गमशुद्धं स्यादद्भिः शोध्यं तदेव हि । अङ्गुलौ सर्पदष्टायां न हि नासा निकृन्त्यते ॥३०६

अथ क्वापि दोषे विधिर्ज्ञेया—

सङ्गे कापालिकात्रेयीचाण्डालशबरादिभिः । आप्लुत्य दण्डवत्सम्यक् जपेन्मन्त्रमुपोषितः ॥३०७
एकरात्रात्त्रिरात्रं वा कृत्वा स्नात्वा चतुर्थके । दिने शुध्यन्त्यसन्देहमृतौ व्रतगताः स्त्रियः ॥३०८

नग्नत्वमेतत्सहजं जगत्यां वस्त्रादिभूषाग्रहणं विकारः ।
ततः सदाचारविचारचञ्चुर्विद्वेषमस्मिन् खलु को विदध्यात् ॥३०९

विकारवति युक्तं स्याद्वस्त्रस्यावेष्टनं किल । अविकाराङ्किते पुंसि न प्रशंसास्पदं हि तत् ॥३१०
परिग्रहं विमुञ्चद्भिरुररीक्रियते सदा । परिग्रहग्रहग्रस्तैर्नग्नत्वं विनिन्द्यते ॥३११

मनुष्य निन्दाके अयोग्य निर्दोष भी जिनशासनकी निन्दा करते हैं ॥३०१॥ 'जैन साधुओंके उक्त कार्योंके रहस्यभूत अर्थको नहीं जानते हुए मिथ्यात्व कर्मके उदयसे दूषित बुद्धिवाले वे स्वभावसे कुटिल दुर्जन लोग वृथा ही जिनशासन और उसके धारक साधुओंसे ग्लानि करते हैं ॥३०२॥ अपना अथवा दूसरेका यह शरीर वाहिरी शोभासे ही मनोहर दिखता है। किन्तु भीतरी स्वरूपसे विचार किया गया यही शरीर उदुम्बर फलके समान बीभत्स दिखाई देगा ॥३०३॥ शरीरके दूषणोंको अवलोकन करके जो पुरुष सुन्दर तत्त्वज्ञानी साधुसे घृणा करता है, वह मूढ़बुद्धि मानों कालिमाके भयसे हाथमें आये हुए सुवर्णको छोड़ता है ॥३०४॥ जो शुद्ध आत्माके ध्यानमें संलग्न हैं, ब्रह्मचारी हैं और व्रत एवं मंत्रसे पवित्र हैं, ऐसे साधुओंका स्नान नहीं करना दोषको प्राप्त नहीं होता है ॥३०५॥

अथवा कहा भी है—शरीरका जो अंग अशुद्ध हो, वही जलसे शुद्ध करनेके योग्य है। (सारे शरीरको जलसे शुद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है।) अंगुलीके सर्प-द्वारा काट लिये जानेपर (अंगुली ही काटी जाती है) नासिका नहीं काटी जाती है ॥३०६॥ यदि कभी कहीं शरीरमें अशुचित्व जनित कोई दोष हो जाय, तो उसमें यह विधि जाननेके योग्य है—कापालिका, आत्रेयी (रजस्वला स्त्री) चाण्डाल भील आदि नीच पुरुषसे स्पर्श हो जानेपर शिरसे दण्डवत्, एक जलधारामें स्नान कर उस दिन उपवास करता हुआ मंत्रका जाप करे ॥३०७॥ जो व्रत-संयुक्त आर्यिका आदि व्रती स्त्रियाँ हैं, वे एक रातसे लेकर तीन रात तक ऋतु कालमें निःसन्देह उपोषित रहती हुई चौथे दिन स्नान करके शुद्ध हो जाती हैं ॥३०८॥

नग्नपना यह प्रत्येक प्राणीका जन्मजात सहज स्वरूप है, वस्त्र और आभूषणादिका ग्रहण करना तो विकार है। इसलिए सदाचारके विचार करनेमें कुशल कौन वुद्धिमान् पुरुष इस सहजात नग्नत्वमें द्वेष करेगा ॥३०९॥ विकार वाली वस्तुपर वस्त्रका आवरण करना योग्य है। किन्तु निर्विकारसे युक्त पुरुषपर आवरणका होना प्रशंसास्पद नहीं है ॥३१०॥ परिग्रहको छोड़नेवालों (वीतरागताकी ओर बढ़नेवालों) के द्वारा नग्नता सदा स्वीकार की जाती है। किन्तु परिग्रहरूपी

न श्वभ्रायास्थितेर्भुक्तिः स्थितिर्नापि विमुक्तये । किन्तु संयमिनामेषा प्रतिज्ञा ज्ञानचक्षुषाम् ॥३१२

यावन्मिलत्येव करद्वयं मे सामर्थ्यमास्ते स्थितिभोजने च।
भुजिक्रियां तावदहं करिष्ये मुञ्चेऽन्यथा तां परलोकसिद्धयै ॥३१३
अदैन्यवैराग्यपरीषहादिकृतोऽयं खलु केशलोचः ।
प्रसिद्धवीरव्रतनिर्ममत्वप्रकाशनार्थं च यतीश्वराणाम् ॥३१४

उक्तं च—

वालवृद्धगदग्लानान्मुनीनौदायनः स्वयम् । भजन्निर्विचिकित्सात्मा स्तुतिं प्राप पुरन्दरात् ॥३१५

अस्य कथा—

रम्ये वत्साभिधे देशे पुरे रोरकनामनि । उद्दायनो महीपालो लसद्भालो व्यराजत ॥३१६
प्रभावत्या समं सौख्यं भुञ्जानस्य विभोर्गृहे । मध्यंदिनेऽथ भिक्षार्थं मुनिरेकः समागतः ॥३१७
तिष्ठ तिष्ठेति सम्भाव्य संस्थाप्य च मुनीश्वरम् । ततः प्रासुकमाहारं ढौकयामास भूपतिः ॥३१८
दुष्टकुष्ठव्रणापूतभक्षिकाजालसङ्कुलम् । दुर्गन्धं बिभ्रतं देहं मुनिमैक्षिष्ट पार्थिवः ॥३१९
तेन सप्तगुणाढ्येन स्वयं दत्तं महीभृता । स्वादं स्वादं चखादासौ सर्वं भोज्यं मुनीश्वरः ॥३२०
ततश्छर्दिः कृता तेन मायया मुनिना तथा । यथा दुर्गन्धतो भीताः पलायाञ्चक्रिरे जनाः ॥३२१
प्रतीच्छन् स महीपालः पुरो यावद् व्यवस्थितः । अचच्छर्दत्पुनस्तावत्तत्पत्न्या उपरि व्रती ॥३२२

ग्रहसे ग्रसित सरागियोंके द्वारा नग्नताकी निन्दा की जाती है ॥३११॥ खड़े होकर भोजन करना नरकके लिए कारण नहीं है और बैठकरके भोजन करना मुक्तिके लिए भी कारण नहीं है। किन्तु ज्ञान-नेत्रवाले संयमी जनोंकी यह प्रतिज्ञा होती है कि जब तक मेरेमें दोनों हाथ परस्पर मिले हुए हैं और जब तक खड़े होकर भोजन करनेकी सामर्थ्य है, तब तक ही मैं भोजनकी क्रियाको करूँगा अन्यथा सामर्थ्यके अभावमें परलोककी सिद्धिके लिए मैं भोजनकी क्रियाको छोड़ दूँगा ॥३१२-३१३॥ यतीश्वर लोग जो यह केशोंका लोंच करते हैं, वह अदीनता और वैरागताकी रक्षाके लिए, परीषहादिको सहन करनेके लिए और अपनी प्रसिद्ध वीरचर्याके प्रकट करने तथा शरीरसे निर्ममत्व प्रकाशित करनेके लिए करते हैं ॥३१४॥

कहा भी है—वाल, वृद्ध और रोग-ग्रस्त मुनियोंकी ग्लानि-रहित होकर स्वयं सेवा करनेवाला निर्विचिकित्सित आत्मावाला उद्दायनराज इन्द्रसे प्रशंसाको प्राप्त हुआ ॥३१५॥ इसकी कथा इस प्रकार है—वत्सनामके रमणीय देशके रोरक नामक नगरमें विशाल भालवाला उद्दायन नामका राजा राज्य करता था ॥३१६॥ अपनी प्रभावती रानीके साथ सुख भोगते हुए उस राजाके भवनमें मध्याह्नके समय एक मुनि भिक्षाके लिए आये ॥३१७॥ राजाने उन मुनीश्वरको 'तिष्ठ-तिष्ठ' कहकर ठहराया और यथाविधि प्रासुक आहार दिया ॥३१८॥ दुष्ट कुष्टके घावसे बुलाई गई मक्खियोंके जालसे व्याप्त दुर्गन्ध वाले देहके धारक मुनिको राजाने देखा ॥३१९॥ तब दातारके सप्त गुणोंसे युक्त उस राजाने स्वयं ही अपने हाथोंसे स्वाद-युक्त सुन्दर-सुन्दर भोजन मुनिको दिया और मुनीश्वर उस सर्व भोजनको खा गये ॥३२०॥ भोजन करनेके पश्चात् ही उस मायाचारी मुनिने अपनी मायासे ऐसा भयंकर दुर्गन्ध मय वमन किया कि जिसकी दुर्गन्धसे पीड़ित होकर लोग इधर-उधर भाग गये ॥३२१॥ राजा जब उस मुनिके वमनको दूर कर रहा था कि तभी उस साधूने राजाकी रानीके ऊपर पुनः वमन कर दिया ॥३२२॥ तब 'मैंने साधुके लिए

यतयेऽसमंजसं भोज्यं मया दत्तमिति प्रभुः । पश्चात्तापाभितप्तोऽयं स्वं निनिन्द मुहुर्मुहुः ॥३२३
मूलं मोक्षतरोर्बीजं कीर्तेः सत्सम्पदां पदम् । अगण्यैर्न विना पुण्यैः पात्रदानं हि लभ्यते ॥३२४
ततः पानीयमानीय शरीराभिधवं मुनेः । चिकीर्षुर्दुःखसन्तप्तो यावदुत्तिष्ठते नृपः ॥३२५
तद्-व्यक्तभक्तिसम्भारभावितात्मा सुरेश्वरः । तावन्मायामपाकृत्य देवदेवषमदीदृशन् ॥३२६
दृशा पीयूषवर्षिण्या सिञ्चंस्तं श्रीसरोरुहम् । त्रिदिवेशोऽष्टमीचन्द्रभालं भूपालमभ्यधात् ॥३२७
सौधर्मेन्द्रः सुधर्मायां सम्यक्त्वाङ्गानि वर्णयन् । अङ्गे निर्विचिकित्साख्ये त्वां दृष्टान्तमचीकरत् ॥३२८
तच्छ्रुत्वा वासवाख्योऽहं सुरः सम्यक्त्वभासुरः । यतिनो रूपमादाय त्वत्परोक्षार्थमागतः ॥३२९
ततो जिह्वाग्रलास्वादसम्पादनरसोदयम् । भुक्त्वान्नं मायया " वमथुं कृतवानहम् ॥३३०
मुनेः क्वथितरूपस्य छर्दि दुर्गन्धिपूरिताम् । प्रतीच्छति कराभ्यां कस्त्वमिवात्रापरो नरः ३३१
अतो निर्विचिकित्साङ्गप्रतिपालनकोविदः । त्वमेवासि सुराधीशवर्ण्यमानगुणोदयः ॥३३२
इत्यभिष्टुत्य भूपालं तद्-वृत्तान्तं निवेद्य च । तिरोभवत्सुराधीशः प्रस्फुरत्पुलकाङ्कुरः ॥३३३
नमन्नृपशिरोहीरकरभासुरपद्युगः । अन्यदा स महीपालो निर्वेदपदवीमितः ॥३३४

दाराः पापभराः स्वबान्धवगणो निःसीममायाचणो
लोला शारदनीरदावलिचला मृत्य्वङ्कितं जीवितम् ।
राज्यं विघ्ननिकाय्यमेतदखिलं देहं च गेहं रुजां
ज्ञात्वेत्थं भवशान्तये भवभयाच्छ्रान्ता यतन्ते बुधाः ॥३३५

प्रकृति-विरुद्ध भोजन दिया। इस प्रकार कहता हुआ राजा पश्चात्तापसे संतप्त होकर अपनी वार-वार निन्दा करने लगा ॥३२३॥ मोक्षरूपी वृक्षका मूल कीर्तिका वीज और उत्तम सम्पत्तिका स्थान पात्रदान अगण्य पुण्यके विना प्राप्त नहीं होता है ॥३२४॥ तव पानीको लाकर मुनिका शरीर धोनेकी इच्छासे दुःख-सन्तप्त राजा ज्योंही उठा त्योंही राजाकी स्पष्ट रूपसे व्यक्त की गई भक्तिके भारसे प्रसन्न हुए उस सुरेश्वरने अपनी उस मायाको दूर करके देवका वेष दिखाया ॥३२५-३२६॥ उस देवेशने अपनी अमृत-वर्षिणी दृष्टिसे उस लक्ष्मी-कमल स्वरूप और अष्टमीके चन्द्र-समान ललाटके धारक राजासे कहा ॥३२७॥ सौधर्मेन्द्रने अपनी सुधर्मा नामकी सभामें सम्यक्त्वके अंगोंका वर्णन करते हुए निर्विचिकित्सा अंगमें तुम्हें दृष्टान्तके रूपमें कहा था ॥३२८॥ यह सुनकर सम्यक्त्वसे प्रकाशवान् वासव नामका देव साधुका रूप धारण करके तुम्हारी परीक्षाके लिए यहाँ आया ॥३२९॥ और जीभके अग्रभागके आस्वादको सम्पादन करनेवाले रसोंसे व्याप्त सर्व अन्नको खाकर मैंने मायासे उसका वमन किया है ॥३३०॥ सड़े-गले विकृत रूपवाले मुनिके दुर्गन्धि-पूरित वमनको तुम्हारे सिवाय और कौन इस लोकमें ऐसा है जो अपने दोनों हाथोंसे साफ करे ॥३३१॥ इसलिए निर्विचिकित्सा अंगके परिपालनमें चतुर और देवेन्द्रके द्वारा वर्ण्यमान गुणोदयवाले तुम ही हो ॥३३२॥ इस प्रकार राजाकी स्तुति करके और उक्त सर्ववृत्तान्त निवेदन करके वह देवोंका स्वामी हर्षसे पुलकित शरीर होता हुआ तिरोहित हो गया ॥३३३॥

नमस्कार करते हुए राजाओंके शिरोंपर लगे मणियोंकी किरणोंसे प्रकाशमान चरण युगल-वाला वह उद्दायन राजा किसी समय निर्वेदकी पदवीको प्राप्त हुआ ॥३३४॥ वह विचारने लगा—ये दाराएँ पापोंसे भरी हुई हैं। यह अपने वान्धवगण असीम माया करनेमें प्रवीण हैं, यह लक्ष्मी शरद् ऋतुके मेघोंकी मालाके समान चंचल है, यह जीवन मृत्युसे आलिङ्गित है, यह समस्त राज्य विघ्नोंका घर है, और यह देह रोगोंका गेह है, ऐसा जानकर भव-भयसे श्रान्त ज्ञानी जन संसारकी

स्वपुत्राय विचित्राय दत्त्वा राज्यं प्रजापतिः। वर्धमानजिनेशानपादमूले तपोऽग्रहीत् ॥३३६
ध्यानानले सजिह्वाले निखिलं वृजिनेन्धनम्। हुत्वा तत्त्वार्थविद् भूपो जग्मिवान्मोक्षमक्षयम् ॥३३७
स्त्रीलिङ्गं त्रिजगन्निन्द्यं तपसा सा महीयसा। हत्वा प्रभावती देवी ब्रह्मस्वर्गे सुखेऽभवत् ॥३३८

इति निर्विचिकित्साङ्गे उद्दायनराजकथा ॥३॥

देवाभासे तथा शास्त्राभासेऽप्याश्चर्यकारिणि। यन्न सङ्गमनं त्रेधा सा मताऽमूढदृष्टिता ॥३३९
स्वधर्मसमये शुद्धे यस्य चित्ते न खलति। मूढता मूढदृष्टित्वं तस्य न स्यादसंशयम् ॥३४०
विद्वत्तास्नानमौनादिशालिनामपि दुर्दृशाम्। प्रशंसासंस्तवौ कुर्युर्न क्वचिच्छुद्धदृष्टयः ॥३४१

उक्तं च—

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम्। प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥३४२
अन्तर्दुरन्तसञ्चारं बहिराकारसुन्दरम्। न श्रद्दध्यात्कुदृष्टीनां मतं किम्पाकसन्निभम् ॥३४३
कादम्बताक्ष्यंगोसिंहपीठाधिपतिषु स्वयम्। आगतेष्वपि नैवाभूद् रेवती मूढतावती ॥३४४

अस्य कथा—

समृद्धे विजयार्धेऽस्मिन् मेघकूटे श्रियोद्भटे। जितचन्द्रप्रभश्चन्द्रप्रभः समभवत्प्रभुः ॥३४५

शान्तिके लिए प्रयत्न करते हैं ॥३३५॥ ऐसा विचार कर उद्दायनराजाने विचित्र नामके अपने पुत्रके लिए राज्य देकर श्रीवर्धमान जिनेन्द्रके पादमूलमें जाकर तपको ग्रहण कर लिया। ३३६॥ पुनः वे तत्त्वार्थवेत्ता उद्दायन प्रज्वलित ध्यानरूप अग्निमें सर्व पापरूप ईंधनको हवन करके अक्षय मोक्षको प्राप्त हुए ॥३३७॥ उनकी प्रभावती रानी भी त्रिजगत्-निन्द्य स्त्रीलिंगको महान् तपश्चरणसे विनष्ट करके ब्रह्मस्वर्गमें देवरूप उत्पन्न हुई ॥३३८॥

यह निर्विचिकित्सा अंगमें उद्दायन राजाकी कथा है ॥३॥

आश्चर्य-कारक देवताभासमें और शास्त्राभासमें त्रियोगसे उनका संगम नहीं करना सो अमूढ़दृष्टिता मानी गयी है ॥३३९॥ जिसके चित्तमें अपने शुद्ध धर्ममें और शुद्ध सिद्धान्तमें मूढ़ता प्रवेश नहीं करती है उसके ही निःसन्देह अमूढ़दृष्टिता होती है ॥३४०॥ शुद्ध दृष्टिवाले सम्यग्दृष्टि जीवोंको चाहिए कि विद्वत्ता, स्नान, मौन आदि विशिष्ट गुण-शाली भी मिथ्यादृष्टियोंकी प्रशंसा और संस्तव कभी नहीं करें ॥३४१॥

कहा भी है—शुद्धदृष्टि जीवोंको भय, आशा, स्नेह और लोभसे कुदेव, कुशास्त्र और कुलिङ्गियोंको नमस्कार और विनय आदि नहीं करना चाहिए ॥३४२॥

मिथ्यादृष्टियोंका मत किंपाकफलके सदृश होता है, जैसे किंपाकफल भीतरसे खाने पर दुःखदायी फलको देता है और बाहिरी आकार सुन्दर दिखाई देता है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टियोंका मत ऊपरसे आकर्षक और मनोहर दिखता है किन्तु भीतरसे परिपाक-समय दुःखदायी होता है, अतः उनके मतका श्रद्धान नहीं करना चाहिए ॥३४३॥ देखो—कमलासनपर विराजमान ब्रह्माके, गरुड़पर विराजमान विष्णुके, बैलपर विराजमान महेश्वरके और सिंहासनपर विराजमान पच्चीसवें तीर्थंकरके स्वयं आनेपर भी (मायाके द्वारा दिखाये जाने पर भी) रेवतीरानी मूढ़तावाली नहीं हुई ॥३४४॥

इसकी कथा इस प्रकार है—इस समृद्धिशाली विजयार्ध पर्वतपर लक्ष्मीसे शोभित मेघकूट नगरमें चन्द्रकी प्रभाको जीतनेवाला चन्द्रप्रभ नामका राजा था। वह अपने प्रतापसे उद्दण्ड,

प्रतापन्यक्कृतोद्दण्डमार्तण्डाखण्डमण्डलम् । भूमण्डलमसावेकछत्रं साम्राज्यमन्वभूत् ॥३४६
अथ प्राज्ये प्रभू राज्ये तनुजं चन्द्रशेखरम् । निवेश्य रचयाञ्चक्रे तीर्थानामभिवन्दनाम् ॥३४७
एकदा दक्षिणस्थायां मथुरायां मुनीश्वरम् । गुप्ताचार्यं खगाधीशो ववन्दे भक्तिनिर्भरः ॥३४८
तास्ता धर्मकथास्तथ्याः श्रुत्वा श्रोत्रप्रियङ्कराः । गुप्ताचार्यान्तिके भक्त्या क्षुल्लकः स खगोऽभवत् ॥३४९
परोपकारः पुण्याय स्मृत्वेति वचनं व्रती । परोपकारसिद्धयर्थं विद्यारक्षामशिश्रियत् ॥३५०
अथोत्तरमथुरायां स यियासुरणुव्रती । अपृच्छदिति किं कस्य वक्तव्यं गुप्तकं मुनिम् ॥३५१
त्रिः पृष्टेनैव तेनेति प्रोक्तं सुव्रतसन्मुनेः । नतिः सुरेवतीराज्ञ्या धर्मवृद्धिर्निवेद्यताम् ॥३५२
एकादशाङ्गयुक्तस्य भव्यसेनस्य सन्मुनेः । नावादि गुरुणा किञ्चिद्यत्तत्स्यात्कारणं परम् ३५३
गत्वा व्रती तत्र वन्दनां स्वगुरोः पराम् । तस्मै सुव्रतयुक्ताय सुव्रताय न्यवेदयत् ॥३५४
अतुच्छैस्तस्य वात्सल्यैर्जहर्षासावणुव्रती । समुद्र इव चन्द्रस्य कृतोल्लासः करोत्करैः ॥३५५
अथोत्थाय श्रुताम्भोधिपारीणस्य महामुनेः । जगाम भव्यसेनस्य परीक्षार्थं स सद्-व्रती ॥३५६
गर्वपर्वतमारूढो विद्यामूढः कृतानतिम् । महात्मा धर्मवृद्धयापि क्षुल्लकं नाभ्यनन्दयत् ॥३५७
वचनस्यापि सन्देहो यत्र संजायते तराम् । भोजनस्य मनुष्याणां तत्र वाञ्छा कुतस्तनी ॥३५८

मार्तण्डके समान प्रचण्ड राजाओंके समूहको तिरस्कृत करके सारे भूमण्डलका एकछत्र साम्राज्य भोगता था ॥३४५-३४६॥ किसी समय वह अपने विशाल साम्राज्य पर चन्द्रशेखर नामके पुत्रको बैठाकर तीर्थस्थानोंकी वन्दनाके लिए चला ॥३४७॥ एक बार दक्षिण देशमें स्थित मथुरा नगरीमें गुप्ताचार्य नामके मुनीश्वरकी उस विद्याधरेशने भक्तिसे निर्भर होकरके वन्दना की ॥३४८॥ कानोंको प्रिय लगनेवाली उन उन सच्ची अनेकों धर्मकथाओंको सुनकर भक्तिसे प्रेरित हो वह विद्याधर उन गुप्ताचार्यके समीपमें क्षुल्लक व्रतधारी हो गया ॥३४९॥ परोपकर पुण्यके लिए होता है । इस वचनका स्मरण करके उस व्रती क्षुल्लकने परोपकारकी सिद्धिके लिए विद्यारक्षाका आश्रय रखा, अर्थात् क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण करते समय अपनी जन्मजात विद्याका परित्याग नहीं किया ॥३५०॥

इसके पश्चात् किसी समय उत्तर मथुराको जानेके इच्छुक उस अणुव्रती क्षुल्लकने अपने गुप्ताचार्य मुनिसे पूछा कि वहाँ क्या किसीसे कुछ कहना है ॥३५१॥ तीन वार पूछे जानेपर गुरुने कहा—वहाँ जो सुव्रत नामके श्रेष्ठ मुनि हैं, उन्हें मेरा नमस्कार कहना और जो वहाँ रेवती रानी है उसे धर्म वृद्धि कहना ॥३५२॥ किन्तु उस समय उसी उत्तर मथुरामें ग्यारह अंगश्रुतसे युक्त जो भव्यसेन नामके एक और सन्मुनिरूपसे प्रसिद्ध मुनि थे, उनके लिए गुरुने कुछ भी नहीं कहा। तब उस क्षुल्लकने सोचा कि इसमें कुछ कारण विशेष होना चाहिए ॥३५३॥ तदनन्तर उस क्षुल्लक व्रतीने वहाँ जाकर उत्तम व्रतोंसे युक्त उन सुव्रत मुनिराजके लिए अपनी गुरुकी परम वन्दनाको निवेदन किया ॥३५४॥ उनके भारी वात्सल्यसे वह अणुव्रती क्षुल्लक अति हर्षित हुआ। जैसे कि चन्द्रमाकी किरणोंके समूहसे समुद्र हर्षोल्लाससे उद्वेलित हो जाता है। अर्थात् उमड़ आता है ॥३५५॥ इसके पश्चात् वह सद्-व्रती क्षुल्लक श्रुतसागरके पारंगत उस भव्यसेन नामक महामुनिके पास उनकी परीक्षा करनेके लिए गया ॥३५६॥ इस क्षुल्लकके नमस्कार करनेपर भी गर्व-पर्वतपर आरूढ, विद्यामदसे उन्मत्त उस महात्मा भव्यसेनने 'धर्मवृद्धि' शब्दसे भी उसका अभिनन्दन नहीं किया ॥३५७॥ जहाँपर वचन प्रदान करनेमें भी सन्देह हो, वहाँपर मनुष्योंके भोजनकी वांछा भी कैसे संभव हो सकती है ॥३५८॥

अथ प्रातर्बहिर्भूमिं भव्यसेनस्य गच्छतः। पृष्ठेऽसौ कुण्डिकां हस्ते गृहीत्वा क्षुल्लकोऽगमत् ॥३५९
सर्वतः प्रस्फुरद्बालतृणप्रचयनिर्भरम्। मायया वसुधाचक्रं क्षुल्लकोऽयमदीदृशत् ॥३६०
एत एकेन्द्रिया जीवाः कथिताः श्रीजिनागमे। इत्युक्त्वा केवलं तेषामुपरिष्टाद् व्रती गतः ॥३६१
धर्ममार्गोपदेष्टारः कियन्तः सन्ति नो भुवि। वितन्वते स्वयं ये तु विरलास्ते महीतले ॥३६२
प्रकाशयति यो धर्मं केवलं न स्वयं पुनः। वितनोति जनस्तस्य नैरर्थक्यं समश्नुते ॥३६३
ततः शौचक्षणे ब्रह्मनिष्ठोऽसौ क्षुल्लकः खगः। कुण्डिकास्थं जलं सर्वं शोषयामास मायया ॥३६४
उवाच स जलं स्वामिन् कुण्डिकायां न विद्यते। अतः स्वच्छे सरस्यस्मिन् शौचं कुरु गुरो मृदा ॥३६५
एवमस्तु भणित्वेति शौचं चक्रे महाव्रती। किं वा न कुरुतेऽकृत्यं मिथ्यात्वविषमोहितः ॥३६६
अभव्यस्त्यक्तवस्त्रोऽपि नाकृतिं मुञ्चते मुनिः। किं वा दृष्टः क्वचित्सर्पश्च्युतक्ष्वेडोऽपि निर्विषः ॥३६७
पठन्नपि वचो जैनमकृत्यं कुरुते कुधीः। किमुद्गिलति पीयूषं सर्पो दुग्धं पिबन्नपि ॥३६८
गृहस्थोऽपि सदाचाररतः स्यान्मुक्तिभाजनम्। महात्मापि दुराचारनिष्ठो दुर्गतिभाजनम् ॥३६९
तैस्तैः स्वैरं दुराचारैरुदारैर्भव्यसेनकम्। मिथ्यादृष्टिं स सद्‌दृष्टिरज्ञासीज्जिनसूत्रवित् ॥३७०
ततोऽसौ भव्यसेनाख्यं निराकृत्य सुतत्त्ववित्। अभव्यसेनस्तस्येति नाम चक्रे क्रियानुगम् ॥३७१

अथानन्तर दूसरे दिन प्रातःकाल जब भव्यसेन (शौचके लिए) बहिर्भूमिको जाने लगा, तब वह क्षुल्लक उनके पीछे कमण्डलुको हाथमें लेकर चला ॥३५९॥ तब उस क्षुल्लकने विद्याकी मायासे सारे वसुधाचक्रको उगते हुए बालतृण-समूहसे व्याप्त करके दिखाया ॥३६०॥ तब वह भव्यसेन श्री जिनागममें ये एकेन्द्रिय जीव कहे गये हैं केवल इतना कहकर उनके ऊपरसे चला गया ॥३६१॥ ग्रन्थकार कहते हैं कि इस संसारमें धर्म-मार्गके उपदेश देनेवाले कितने लोग नहीं हैं? अर्थात् बहुत हैं। किन्तु जो स्वयं वैसा आचरण करते हैं, वे लोग इस महीतल पर विरले ही हैं ॥३६२॥ जो मनुष्य केवल दूसरोंके लिए धर्मको प्रकाशित करता है, किन्तु स्वयं आचरण नहीं करता, उसका वह उपदेश व्यर्थताको प्राप्त होता है ॥३६३॥

तत्पश्चात् शौच करते समय ब्रह्मनिष्ठ क्षुल्लक विद्याधरने अपनी मायासे कमण्डलुमें रखे हुए सारे जलको सुखा दिया ॥३६४॥ पुनः वह बोला—हे स्वामिन्, कमण्डलुमें तो जल नहीं है। इस लिए हे गुरो, इस स्वच्छ सरोवरमें जल-मिट्टीसे शौच कर लीजिए ॥३६५॥ ऐसा ही ठीक है, ऐसा कहकर उस नामधारी महाव्रतीने सरोवरके जलसे शौच-शुद्धि कर ली। अथवा मिथ्यात्व-विषसे मोहित मनुष्य क्या कौन सा अकृत्य नहीं करता है। सभी अकृत्य करता है ॥३६६॥ वस्त्र-त्यागी अभव्य मुनि भी अपनी आकृति (प्रकृति) को नहीं छोड़ता है। क्या कहींपर विषको त्यागकर निर्विष हुआ सर्प देखा गया है। नहीं देखा गया ॥३६७॥ जैन वचनको पढ़ता हुआ भी दुर्बुद्धि मनुष्य अकृत्यको करता है। दूध पीता हुआ भी सर्प क्या कभी अमृतको उगल सकता है। कभी नहीं ॥३६८॥ सदाचारमें तत्पर गृहस्थ भी मुक्तिका पात्र होता है, किन्तु दुराचारमें संलग्न महाव्रती महात्मा भी दुर्गतिका पात्र होता है ॥३६९॥ तब उस सम्यग्दृष्टि और जिनसूत्रके जानकार क्षुल्लकने उक्त उन-उन बड़े भारी स्वच्छन्द दुराचरणोंसे भव्यसेनको मिथ्यादृष्टि जान लिया ॥३७०॥ तब उस तत्त्ववेत्ता क्षुल्लकने 'भव्यसेन' इस नामका निराकरण करके क्रियाके अनुसार 'अभव्यसेन' ऐसा उसका नाम रख दिया ॥३७१॥

अन्यस्मिन् दिवसे सोऽथ पूर्वस्यां दिशि मायया। व्यूढपद्मासनारूढं चतुर्वक्त्रं मनोहरम् ॥३७२
यज्ञोपवीतसंयुक्तं धर्मतत्त्वोपदेशकम्। वन्दारुत्रिदशाधीशवन्द्यमानपदाम्बुजम् ॥३७३
जगन्निर्माणसामग्रीकोविदं बुधवन्दितम्। वेद-ध्वनिसमाकीर्णककुब्-चक्रं महोदयम् ॥३७४
ब्रह्मणो रूपमादाय ब्रह्मचारी खगेश्वरः। स्थितः सुरेवतीराज्ञी-परीक्षणकृतोद्यमः ॥३७५
चतुर्भिः कुलकम्।
ब्रह्माऽऽगमनमाकर्ण्य कर्णाकर्णिकया नृपः। वरुणाख्यः समं पौरैः भक्तिनिघ्नतयाऽगमत् ॥३७६
नृपेण प्रेर्यमाणापि शुद्धसम्यक्त्वशालिनी। कोऽयं ब्रह्मा निगद्येति न गता रेवती सती ॥३७७
अन्येद्युर्दक्षिणस्यां स दिशि विद्यामहेश्वरः। वैनतेयसमारूढं चतुर्भुज न्वितम् ॥३७८
शङ्खचक्रगदोपेतं जगद्-रक्षाविचक्षणम्। मायया वैष्णवं रूपं दर्शयामास क्षुल्लकः ॥३७९
पश्चिमायां दिशि स्फूर्जज्जटाजूटाद्यमस्तकम्। पार्वतीवदनालोकप्रमोदमदमेदुरम् ॥३८०
बलीवर्दसमारूढं नन्दिप्रभृतिसंयुतम्। रूपं माहेश्वरं लोके दर्शितं तेन मायया ॥३८१
उत्तरस्यां दिशि प्रौढप्रातिहार्यविराजितम्। समवसृतिमध्यस्थं गुणग्रामसमन्वितम् ॥ ३८२
सुरासुरनराधीशवन्द्यमानपदद्वयम्। प्रसृत्वरतमस्तोमध्वंसनैकदिवाकरम् ॥३८३
योजनव्यापिगम्भीरस्वरं भूरिविभावरम्। भक्तिप्रह्वमुनीशानसंस्तुतं जगदर्चितम् ॥३८४
अन्यस्मिन् वासरे जैनं रूपमेवमदीदृशत्। निरवद्यो लसद्विद्यापारीणोऽयमणुव्रती ॥३८५

इसके पश्चात् दूसरे दिन वह क्षुल्लक अपनी मायासे पद्मासनपर विराजमान, चार मुखवाले, मनोहर आकारवाले, यज्ञोपवीतसे संयुक्त, धर्मतत्त्वका उपदेश करनेवाले, वन्दना करते हुए देवेन्द्रोंसे वन्द्यमान चरण-कमलवाले, जगत्के निर्माण करनेवाली सामग्रीके विद्वान्, ज्ञानियोंसे वन्दित, वेद-ध्वनिसे सर्व दिक्-चक्रको व्याप्त करनेवाले, महान् उदय स्वरूप ब्रह्माका रूप धारण करके रेवतीरानीकी परीक्षा करनेके लिए उद्यम कर पूर्व दिशामें अवस्थित हो गया ॥३७२-३७५॥ कानों-कान फैलती हुई वार्तासे ब्रह्माका आगमन सुनकर वहाँका वरुण नामका राजा पुरवासी लोगोंके साथ अतिभक्तिसे वहाँ गया ॥३७६॥ किन्तु राजाके द्वारा प्रेरणा किये जानेपर भी वह शुद्ध सम्यक्त्वको धारण करनेवाली सती रेवतीरानी 'यह कौन सा ब्रह्मा है' ऐसा कहकर वहाँ नहीं गई ॥३७७॥

दूसरे दिन उस विद्यामहेश्वर क्षुल्लकने दक्षिण दिशामें गरुड़पर आरूढ़, चार भुजाओंसे संयुक्त, शंख, चक्र और गदाको धारण किये हुए, जगत्की रक्षा करनेमें कुशल, ऐसा विष्णुका रूप दिखाया ॥३७८-३७९॥ (सभी लोग वन्दनाको गये, पर रेवतीरानी नहीं गई।) तीसरे दिन उस क्षुल्लकने अपनी मायासे पश्चिम दिशामें स्फुरायमान जटाजूट आदिसे युक्त मस्तकवाले, पार्वतीके मुखको अवलोकन करनेसे उत्पन्न हुए प्रमोद-मदसे व्याप्त, वृषभपर समारूढ़ और नन्दि आदि गणोंसे संयुक्त ऐसे महदेवके रूपको लोकमें दिखाया ॥३८०-३८१॥ (सभी लोग वन्दनार्थ गये, पर रेवतीरानी नहीं गई।) चौथे दिन रूप-परावर्तकी विद्यामें पारंगत उस निर्दोष अणुव्रती क्षुल्लकने उत्तर दिशामें प्रौढ आठ प्रातिहार्योंसे विराजमान, समवशरणके मध्यमें स्थित, गुण-गणोंसे संयुक्त, सुर-असुर और मनुष्योंके स्वामियोंसे वन्द्यमान चरण-युगलवाले, फैलते हुए अन्धकार-पुंजको विध्वंस करनेमें अद्वितीय दिवाकर, एक योजन तक व्याप्त होनेवाली गंभीर वाणीके स्वर-धारक, भारी प्रभाके धारक, भक्तिसे विनम्र मुनिराजोंसे संस्तुत, जगत्-पूजित, ऐसा जिनेन्द्रदेवका रूप दिखाया ॥३८२-३८५॥

वन्दनार्थं ततः सार्कं वरुणेन महीभृता । भव्यसेनादयः सर्वे समवसृतिमाययुः ॥३८६
श्रद्धालुभिर्नरैः पौरैः प्रेर्यमाणापि सादरम् । नागमद् रेवती राज्ञी सम्यक्त्वव्रतभूषिता ॥३८७
चतुर्विंशतिरेवात्र सूत्रे तीर्थङ्कराः स्मृताः । तत्कुतस्त्योऽयमायातः पञ्चविंशतिमो जिनः ॥३८८
अतः प्रचण्डपाखण्डमण्डितः पापखण्डितः । प्रतारयितुमायातः कश्चिल्लोकान् प्रतारकः ॥३८९
जिनागमहतस्वान्तसंशयध्वान्तसन्ततिः । लोकैः सा प्रेर्यमाणापि नो मूढत्वमुपागमत् ॥३९०
पाखण्डमण्डितैर्मूढैर्बुद्धिमान् न प्रतार्यते । प्रसृत्वरतमस्तोमैः किं रविर्विगतप्रभः ॥३९१
अन्यस्मिन् दिवसे चर्यावेलायां रेवतीगृहे । जगाम क्षुल्लको व्याधिबाध्यमानकलेवरः ॥३९२
मायया प्रोच्छलन्मूर्च्छामूर्च्छितो न्यपतद् द्रुतम् । रेवतीसदनस्फारप्राङ्गणेऽसावणुव्रती ॥३९३
दृष्ट्वाऽथ भूपतेः पत्न्या यत्नेनोत्थापितः स्वयम् । जलार्द्रपवनैस्तैस्तैः कृतश्चायं सचेतनः ॥३९४
ततः पथ्यासनं तस्मै सा कृपालुरदापयत् । आकण्ठं भक्षयित्वाऽसावचच्छर्ददणुव्रती ॥३९५
अपथ्यमन्नमेतस्मै मया दत्तमिति स्वकम् । निन्दती रेवती राज्ञी पश्चात्तापमुपागमत् ॥३९६
अपनीयातिदुर्गन्धं वान्तमन्नं ततः सती । कवोष्णं जलमानीय तद्देहाभिषवं दधे ॥३९७
तदादरोदयात्यन्तविकासितहृदम्बुजः । अपहृत्य व्रती मायां रेवतीमित्यवोचत ॥३९८
विध्वस्तमोहनिद्रस्य गुप्ताचार्यस्य मे गुरोः । धर्मवृद्धयादिना स्वैरं शुभंयुर्भव वत्सले ॥३९९

तब वन्दना करनेके लिए वरुणराजाके साथ सभी भव्यसेन आदिक समवशरणमें आये। उस समय श्रद्धा-युक्त पुरवासी जनोंके द्वारा सादर प्रेरणा किये जाने पर भी सम्यक्त्व और श्रावकव्रतोंसे युक्त अकेली रेवतीरानी नहीं गई ॥३८६-३८७॥ वह बोली—जैनसूत्रोंमें ही इस भरत क्षेत्रमें चौवीस ही तीर्थंकर कहे गये हैं, फिर यह पचीसवां तीर्थंकर कहाँसे आ गया। इसलिए ऐसा ज्ञात होता है कि लोगोंको ठगनेके लिए प्रचण्ड पाखंडसे मंडित कोई पाखंडी आया है ॥३८८-३८९॥ जिनागमके अभ्याससे जिसके हृदयकी संशय रूप अन्धकारकी सन्तत्ति नष्ट हो गई है ऐसी वह रेवती रानी लोगोंके द्वारा वार-वार प्रेरित किये जानेपर भी मूढ़ताको प्राप्त नहीं हुई ॥३९०॥ पाखंडसे मंडित मूढजनोंके द्वारा बुद्धिमान मनुष्य नहीं ठगाया जा सकता है। फैलते हुए अन्धकार-पुंजसे भी क्या कभी सूर्य हतप्रभ हुआ है ? नहीं हुआ ॥३९१॥

दूसरे दिन भिक्षा-चर्याके समय वह क्षुल्लक व्याधियोंसे बाधित शरीरवाला होकरके रेवतीके घर गया ॥३९२॥ मायासे बढ़ती हुई मूर्च्छाके द्वारा मूर्च्छित होकर वह क्षुल्लक रेवती रानीके भवनके विशाल आंगनमें तेजीसे जा गिरा ॥३९३॥ यह देखकर राजाकी रानी रेवतीने यत्नके साथ उसे स्वयं उठाया और जलसे गीली पवनके द्वारा एवं अन्य शीतलोपचारोंसे उसे सचेतन किया ॥३९४॥ तत्पश्चात् उस दयामूर्ति रेवतीने उसे पथ्य भोजन कराया। उस अणुव्रती क्षुल्लकने कण्ठ-पर्यन्त भोजन करके पीछेसे वमन कर दिया ॥३९५॥ मैंने 'अपथ्य अन्न इसके लिए दिया है' इस प्रकार अपनी निन्दा करती हुई रेवती रानी पश्चात्ताप करने लगी ॥३९६॥ तदनन्तर उसके द्वारा वमन किये गये उस दुर्गन्धित अन्नको उस सतीने कुछ गर्मजल लाकरके उसके शरीरको स्वच्छ किया ॥३९७॥ तब रानीके द्वारा किये गये इस आदर पूर्ण व्यवहारसे अत्यन्त विकसित हृदय कमलवाले उस व्रतीने अपनी मायाको दूर करके रेवतीसे इस प्रकार कहा—मोहनिद्राको विध्वस्त करनेवाले मेरे गुरु श्रीगुप्ताचार्यने धर्मवृद्धि तुम्हारे लिए कही है उससे हे धर्मवत्सले, तुम्हारा भरपूर कल्याण होवे ॥३९८-३९९॥ तेरे नामसे मैंने जो मार्गमें आते हुए जिनेन्द्रोंका पूजन किया

पूजनं यज्जिनेन्द्राणां त्वन्नाम्ना विहितं मया। तेन ते भवताद्देवि घनवृजिनसंक्षयः ॥४००
सतीमतल्लिका देवि त्वमेवात्र महीतले। तवैवामूढदृष्टित्वं श्लाघनीयं महात्मनाम् ॥४०१
इत्थं वरुणभूपालभार्यामौदार्यशालिनीम्। संश्लाघ्य विविधैर्वाक्यैः क्षुल्लकः स्वपदं ययौ ॥४०२
अथ राज्ये लसत्कीर्तिं शिवकीर्तिं न्यवीविशत्। वरुणाख्यो महीपालो निर्वेदपदवीमितः ॥४०३
हुत्वा कल्मषकर्माणि सुतपोजातवेदसि। देवोऽभूद्वरुणो भूपः स्वर्गे माहेन्द्रसंज्ञिते ॥४०४
वैराग्यवासनावीतस्वान्तशान्ता महासती। रेवत्यपि तपः कृत्वा ब्रह्मस्वर्गे सुरोऽभवत् ॥४०५

इति अमूढदृष्टिरेवतीराज्ञीकथा ॥४॥

धर्मकर्मरतेर्दैवात्प्राप्तदोषस्य जन्मिनः। वाच्यतागोपनं प्राहुरार्याः सदुपगूहनम् ॥४०६
धर्मोऽभिवर्धनीयोऽयं भावैस्तैर्मार्दवादिभिः। परस्य गोपनीयं च दूषणं स्वहितैषिणा ॥४०७
निगूहति ध्रुवं दोषान् परस्याप्यात्मनो गुणान्। प्रकाशयति न क्वापि स स्यात्सदुपगूहकः ॥४०८
जातं कथञ्चिदिह संयमिनामशेषं दोषं निगूहति न यः शमसंयमाद्यैः।
धर्मं न बृंहयति तेन मनुष्यजन्म लब्ध्वापि दुर्लभमिदं किमसाधि साधु ॥४०९

नैर्मल्यं नभसोऽभितो नहि रजःपूरान्न दूरीकृतं
पाथोधेः खलु नक्रचक्रमरणाद् दुर्गन्धिता नो यथा।
तैस्तैः कर्ममलिम्लुचैर्मलिनिमा सिद्धस्य नो जायते
म्लानत्वं जिनशासनस्य न तथा नीचापराधैः क्वचित् ॥४१०

है, उससे हे देवि, तेरे सघन पापोंका क्षय होवे ॥४००॥ हे देवि, इस महीतलमें तू ही सतियोंमें शिरोमणि है और तेरा ही अमूढ़दृष्टिपना महात्माजनोंके भी प्रशंसनीय है ॥४०१॥ इस प्रकार वरुणमहीपालकी रानी और उदार गुणशालिनी उस रेवतीकी नाना प्रकारके उत्तम वाक्योंके द्वारा प्रशंसा करके वह क्षुल्लक अपने स्थानको चला गया ॥४०२॥

अथानन्तर वरुणराजाने राज्यपर उत्तम कीर्त्तिवाले शिवकीर्त्तिको बिठाया और स्वयं वैराग्यकी पदवीको प्राप्त हुआ ॥४०३॥ तत्पश्चात् उत्तम तपरूप अग्निमें अपने पाप कर्मोंका हवन करके वरुण राजा माहेन्द्र नामके स्वर्गमें देव हुआ ॥४०४॥ वैराग्यवासनासे वासित शान्त चित्तवाली वह महासती रेवती भी तप करके ब्रह्मस्वर्गमें देवरूपसे उत्पन्न हुई ॥४०५॥

यह अमूढ़ दृष्टिवाली रेवती रानीकी कथा है ॥४॥

धर्म-कार्यमें संलग्न होनेपर भी दैववश दोषको प्राप्त हुए मनुष्यकी निन्दाके गोपन करनेको आर्य पुरुष उत्तम-उपगूहन अंग कहते हैं ॥४०६॥ आत्म-हितैषी मनुष्यको उन-उन मार्दव सत्यादि धर्मोंके द्वारा अपना धर्म बढ़ाना चाहिए और परका दूषण ढँकना चाहिए ॥४०७॥ जो मनुष्य दूसरोंके दोषोंको ढँकता है और अपने गुणोंको कहींपर भी प्रकाशित नहीं करता है, वह निश्चयसे श्रेष्ठ उपगूहक कहा जाता है ॥४०८॥ यदि इस लोकमें कथंचित् कर्मोदयसे संयमी पुरुषोंके कोई दोष हो जाय तो उसे जो गोपन नहीं करता है, तथा शमभाव और संयम आदिके द्वारा उनके धर्मको बढ़ाता नहीं है तो उसने इस दुर्लभ मनुष्य जन्मको पाकरके भी अपना क्या आत्म-हित साधन किया ? अर्थात् कुछ भी नहीं किया ॥४०९॥ जैसे परिमित रजः पूरसे आकाशकी निर्मलता दूर नहीं हो जाती है, जैसे मगर-मच्छ आदिके मरनेसे समुद्रके दुर्गन्धपना नहीं होता है और जैसे (सिद्ध लोकमें भरी हुई भी) कर्ममल वाली उन-उन कार्मण वर्गणाओंके द्वारा सिद्ध जीवोंके मलि-

उक्तं च—मायासंयमिनः सूर्पनाम्नो रत्नापहारिणः । श्रेष्ठी जिनेन्द्रभक्तोऽसौ कृतवानुपगूहनम् ॥४११
अस्य कथा—सुराष्ट्रमण्डले रम्ये पाटलीपुत्रनामनि ।
पुरे भूरि यशोव्याप्तदिग्मुखोऽभूद् यशोधरः ॥४१२
सुसीमाकुक्षिसम्भूतः सुवीरस्तत्तनूरुहः । सप्तव्यसनसन्तप्तस्तस्करोत्करसेवितः ॥४१३
ताम्बूलतुन्दिलस्फारकपोलं पापपङ्किलम् । सुवीरमन्यदा घीरं कश्चिदेवं व्यजिज्ञपत् ॥४१४
गौडदेशे प्रसिद्धेऽस्मिन् लक्ष्मीलीलाविराजिते । ताम्रलिप्ता समाख्याता पुरी स्वर्गपुरीनिभा ॥४१५
उदारश्रावकाचारविचारणविशिष्टधीः । श्रेष्ठी जिनेन्द्रभक्तोऽस्ति जिनभक्तिपरायणः ॥४१६
सप्तक्षणे स्फुरच्छोभे प्रासादेऽस्य वाणिक्पतेः । अस्ति श्रीपार्श्वनाथस्य प्रतिमा मणिनिर्मिता ॥४१७
आकर्ण्य लोभसम्पूर्णस्तूर्णमेवमवोचत । किं कस्याप्यस्ति सामर्थ्यं तामानेतुं लसत्प्रभाम् ॥४१८
आत्मानं स्फोरयंश्चौरः स्वर्पो दर्पभराननः । सुवीरं निर्जितारातिमेवं हर्षादवोचत ॥४१९
शक्रस्य निर्जितारातिचक्रस्यापि शिरःस्थितम् । कोटीरं हीरसङ्कीर्णमानयामि प्रभो क्षणात् ॥४२०
व्रज साधि वरं कृत्यं पन्थानः सन्तु ते शिवाः । इत्यादेशं प्रभोः प्राप्य सूर्पको निरगात्पुरात् ॥४२१
कपटेन शठो वेषं क्षुल्लकस्य स तस्करः । धृत्वा बभ्राम सर्वत्र दुश्चरित्रकलङ्कितः ॥४२२
अत्यन्ततनुशोषेण वेषेण ब्रह्मचारिणः । क्षोभयामास मायावी नगरग्राममण्डलम् ॥४२३

नता प्राप्त नहीं होती है, उसी प्रकार नीचजनोंके अपराधोंसे कहींपर भी कभी जिनशासनके मलिनता नहीं प्राप्त हो सकती है ॥४१०॥

कहा भी है—रत्नमयी प्रतिमाका अपहरण करनेवाले सूर्य नामके मायावी संयमीका उपगूहन उस जिनेन्द्र भक्त सेठने किया ॥४११॥

इसकी कथा इस प्रकार है—सुराष्ट्र प्रान्तके रमणीय पाटलीपुत्र नामके नगरमें अपने भारी यशसे दिशामुखोंको व्याप्त करनेवाला यशोधर नामका एक व्यक्ति था ॥४१२॥ उसकी सुसीमा नामकी स्त्रीकी कूँखसे सुवीर नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह सातों ही व्यसनोंका सेवन करनेवाला था और चोरोंके समूहसे सेवित था, अर्थात् चोरोंका सरदार था ॥४१३॥ किसी एक दिन किसी व्यक्तिने ताम्बूलसे जिसका मुख भरा हुआ था, जिसके कपोल विशाल थे और जो पापपंकसे युक्त था, ऐसे उस सुवीरसे कहा—लक्ष्मीकी लीलासे विराजित इस प्रसिद्ध गौडदेशमें स्वर्गपुरीके सदृश ताम्रलिप्ता नामकी नगरी है ॥४१४-४१५॥ वहाँपर उदार श्रावकके आचार-विचार करनेमें विशिष्ट बुद्धिका धारक और जिनभक्तिमें परायण एक जिनेन्द्र भक्त सेठ रहता है ॥४१६॥ इस सेठके प्रकाशमान शोभावाले सात खण्डके प्रासादमें श्री पार्श्वनाथकी मणि-निर्मित प्रतिमा है ॥४१७॥ उस प्रतिमाकी महिमाको सुनकर लोभसे सम्पन्न सुवीर इस प्रकार बोला—क्या उस कान्तियुक्त प्रतिमाको लानेके लिए किसीकी सामर्थ्य है ॥४१८॥ तब दर्पके भारसे भरा हुआ है मुख जिसका ऐसा स्वर्प नामका चोर अपनी शक्तिको प्रकट करता हुआ शत्रुओंको जीतनेवाले सुवीरसे हर्षित होकर इस प्रकार बोला ॥४१९॥ हे प्रभो, मैं शत्रु-चक्रके जीतनेवाले शक्रके शिरपर स्थित मणि-जड़ित मुकुटको भी क्षणभरमें ला सकता हूँ ॥४२०॥ तब सुवीरने कहा—अच्छा, तो जाओ और अपने कर्तव्यको सिद्ध करो। मार्ग तेरा कल्याणकारी हो। इस प्रकारसे अपने स्वामीके आदेशको पाकरके वह सूर्पक चोर नगरसे निकला ॥४२१॥ तब वह शठ चोर कपटसे क्षुल्लकका वेष धारण करके दुश्चरित्रसे कलङ्कित हो सर्वत्र भ्रमण करने लगा ॥४२२॥

उस मायाचारी चोरने ब्रह्मचारीके वेषसे तपश्चरण करते हुए शरीरको अत्यन्त सुखाकर

क्रमेण पर्यटन् प्राप्तस्ताम्रलिप्ताभिधां पुरीम् । अमितप्रस्फुरद्ब्रह्मव्रतोद्भूतप्रसिद्धिभाक् ॥४२४
कर्णाकर्णिकयाऽऽकर्ण्य जिनभक्तोऽपि भक्तिभाक् । गत्वा नत्वा च तं शीघ्रं निनाय निजमन्दिरम् ॥४२५
कायकान्तिविनिर्धूततमस्तोमं महोत्तमम् । बिम्बं पार्श्वजिनेन्द्रस्य क्षुल्लकस्तत्र दृष्टवान् ॥४२६
ममैकं वाञ्छितं सिद्धमित्यसौ चिन्तयन् व्रती । मानसे न ममौ हर्षादुद्वेल इव वारिधिः ॥४२७
कायक्लेशैर्वणिक् तस्य भक्तिनिष्ठोऽभवत्तरम् । पाखण्डिभिर्न के चात्र पण्डिता अपि खण्डिताः ॥४२८
बिम्बस्य रत्नवैडूर्यक्लृप्तस्य कुरु रक्षणम् । इत्थमभ्यर्थितो भावी कथञ्चित्प्रतिपन्नवान् ॥४२९
देशान्तरं वणिग्-नाथः यियासुरयमन्यदा । पुराद्बहिर्विनिर्गत्य तस्थौ सेवकसंवृतः ॥४३०
समस्तं तत्परीवारं कार्यव्यग्रं विचिन्त्य सः । अर्धरात्रे गृहीत्वाऽऽशु रत्नबिम्बं विनिर्गतः ॥४३१
तेजसा निशामध्ये कोट्टपालैर्निरीक्षितः । गृहीतुं च समारब्धः स व्रती कपटाञ्चितः ॥४३२
तेभ्यः पलायितुं भीरुरसमर्थत्वमुद्वहन् । श्रेष्ठिनं शरणं जातो रक्ष रक्षेति मां वदन् ॥४३३
ततः सम्यक्त्वशुद्धात्मा जिनदत्ताभिधो वणिक् । एनं चौरं दुराचारतत्परं ज्ञातवान् ध्रुवम् ॥४३४
ततः स दर्शनस्फारकलङ्कध्वंसहेतवे । कृतकोलाहलान् कोट्टपालानित्थमवोचत ॥४३५

नगर-ग्राम-देश, प्रान्तको क्षोभित (आश्चर्य-चकित) करने लगा ॥४२३॥ इस प्रकार क्रम-क्रमसे अनेक स्थानोंपर परिभ्रमण करता और असीम स्फुरायमान ब्रह्मचर्यव्रत-जनित प्रसिद्धिको धारण करता हुआ वह चोर ताम्रलिप्त नामकी नगरीको प्राप्त हुआ ॥४२४॥ कानों-कान उसकी प्रसिद्धिको सुन करके भक्तिवाला वह जिनभक्त सेठ उसके पास जाकर और नमस्कार करके उसे अपने मन्दिरमें ले आया ॥४२५॥ शरीरकी कान्तिसे अन्धकारके समूहको दूर करनेवाले महान् श्रेष्ठ श्री पार्श्वजिनेन्द्रके बिम्बको उस क्षुल्लकने वहाँ पर देखा ॥४२६॥ प्रतिबिम्बको देखकर वह मायाचारी व्रती 'मेरा एकमात्र मनोरथ सिद्ध हो गया' यह विचारता हुआ मनमें हर्षसे फूला नहीं समाया। जैसे कि समुद्र चन्द्रको देखकर हर्षसे उद्वेलित हो जाता है ॥४२७॥ जिनेन्द्रभक्त सेठ उसके कायक्लेशवाले तपोंके आचरणसे उसकी भक्तिमें और भी अधिक तत्पर हो गया। ग्रन्थकार कहते हैं कि पाखण्डियोंके द्वारा इस लोकमें कौन-कौनसे पण्डित खण्डित नहीं हुए? अर्थात् सभी ठगाये गये हैं ॥४२८॥ जिनेन्द्रभक्त सेठने कहा—वैडूर्यरत्नसे निर्मित इस जिनप्रतिबिम्बकी तुम रक्षा करो। इस प्रकार प्रार्थना किये जानेपर उस मायाचारी क्षुल्लकने किसी प्रकार बहुत आग्रह करनेपर उसकी प्रार्थनाको स्वीकार कर लिया ॥४२९॥

किसी एक दिन वह वैश्यनाथ जिनेन्द्रभक्त देशान्तरको जानेकी इच्छासे सेवकोंसे घिरा हुआ नगरसे बाहिर निकलकर ठहर गया ॥४३०॥ वह मायाचारी क्षुल्लक समस्त परिवारको जानेकी तैयारीमें व्यग्र (लगा हुआ) देखकर अर्धरात्रिके समय उस रत्नबिम्बको लेकर सेठके घरसे शीघ्र निकला ॥४३१॥ मध्य रात्रिके समय उस रत्नबिम्बके तेजसे उसे भागते हुए कोटपालोंने देख लिया और उस कपटी व्रतीको पकड़नेके लिए वे लोग दौड़े ॥४३२॥ भागनेमें अपनी असमर्थताको देखकर और उन कोटपालोंसे बचनेके लिए 'मेरी रक्षा कीजिए, मेरी रक्षा कीजिए', यह कहता हुआ वह सेठकी शरणमें पहुँचा ॥४३३॥ तब सम्यक्त्वसे शुद्ध आत्मावाले उस जिनदत्त सेठने दुराचारमें तत्पर इसे निश्चितरूपसे चोर जान लिया ॥४३४॥ तब जैन दर्शन पर आते हुए भारी कलंकके विध्वंसके लिए वह सेठ कोलाहल करते (और उस क्षुल्लकका पीछा करके आते हुए) कोटपालोंसे इस प्रकार बोला—उदार गुणशाली यह ब्रह्मचारी मेरे आदेशसे ही अपनी

मदादेशादयं ब्रह्मचार्योदार्यविशारदः । आनीतवान् लसत्कान्तिक्रान्तदिङ्मण्डलं मणिम् ॥४३६
न स्फारसुतपोभारनिष्ठचौर्यरतो भवेत् । न हि न्यायविदा (?) नाथ क्वाप्यनीतित्वमाश्रयेत् ॥४३७
इत्थं वणिक्पतेर्वाक्यं श्रुत्वा श्रवणपेशलम् । जग्मुस्ते नगरस्फाररक्षादक्षा निजं पदम् ॥४३८
ततः कपटवेषाढ्यादेतस्माद्बिम्बमद्भुतम् । गृहीत्वा सत्त्वसन्तानरक्षादक्षो ॥ऽब्रवदत् ॥४३९
मायामादृत्य येनायं जनः शुद्धः प्रतार्यते । स गत्वा नरके घोरे दुःखमाप्नोति सन्ततम् ॥४४०
यो लोकं तापयत्यत्र दुश्चरित्रकलङ्कितः । स भास्कर इवाभ्येति पापखानिरधोगतिम् ॥४४१
स्वकृतेनैव पापेन त्वं क्षयं यास्यसि ध्रुवम् । इत्युक्त्वाऽसौ निजावासात्तस्करं निरवासयत् ॥४४२

इत्युपगूहनाङ्गे जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठीकथा ॥५॥

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयाद् भ्रष्टस्य जन्मिनः । प्रत्यवस्थापनं तज्ज्ञाः स्थि ीकरणमूचिरे ॥४४३
क ोधमदोन्मादप्रमादेषु विहारिणः । आत्मनोऽन्यस्य वा कार्यं सुस्थितीकरणं बुधैः ॥४४४

रागोन्मादमदप्रमादमदनक्रोधादिभिः शत्रुभि-
र्वारं वारमपारशीलशिखरात्संचाल्यमानं परम् ।
आत्मानं न करोति नो यदि नरः स्थेयां शावशः
संसारं बहुदुः टिलं दूरं तदा वर्धयेत् ॥४४५

ज्येष्ठां गर्भवतीमार्यामु सुचेलना । अतिष्ठिपत् पुनः शुद्धे व्रते सम्यक्त्वलोचना ॥४४६

प्रकाशमान कान्तिसे दिग्मंडलको व्याप्त करनेवाले इस मणि विम्बको लाया है ॥४३५-४३६॥ परम उज्ज्वल तपश्चरण करनेमें कुशल यह चोरी करनेमें संलग्न नहीं है। हे नाथ, न्यायका वेत्ता मनुष्य कहीं पर भी अनीतिका आश्रय नहीं करते हैं ॥४३७॥ इस प्रकार कर्ण-सुखदायी सेठके वचन सुनकर नगरकी अच्छी रीतिसे रक्षा करनेमें दक्ष वे लोग अपने स्थानको चले गये ॥४३८॥

तदनन्तर उस कपटवेषी क्षुल्लकसे इस अद्भुत रत्नविम्बको लेकर प्राणियोंकी सन्तानकी रक्षा करनेमें दक्ष सेठ उससे यह वचन वोला—मायाचार करके जिसके द्वारा शुद्धजन ठगाये जाते हैं, अर्थात् जो सीधे-साधे लोगोंको ठगता है, वह नरकमें जाकर चिरकाल तक घोर दुःखोंको भोगता है ॥४३९-४४०॥ जो दुश्चरित्रसे कलंकित मनुष्य इस लोकमें दूसरे लोगोंको सन्तापित करता है, पापोंकी खानिवाला वह मनुष्य सूर्यके समान अधोगतिको प्राप्त होता है ॥४४१॥ 'अपने द्वारा किये पापसे तुम निश्चयसे विनाशको प्राप्त होओग', ऐसा कहकर उस सेठने अपने आवाससे उस चोरको निकाल दिया ॥४४२॥

यह उपगूहन अंगमें निनेन्द्रभक्त सेठकी कथा है ॥५॥

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रसे भ्रष्ट हुए मनुष्यको उनमें पुनः अवस्थित करनेको ज्ञानीजन स्थितीकरण कहते हैं ॥४४३॥ काम, क्रोध, मद, उन्माद और प्रमादमें विचरण करनेवाले अपने आपका, अथवा दूसरेका उत्तम प्रकारसे स्थितीकरण ज्ञानियोंको करना चाहिए ॥४४४॥ राग, उन्माद, मद, प्रमाद, काम-विकार और क्रोधादि शत्रुओंके द्वारा अपार उन्नत शीलके शिखरसे वार-वार चलायमान होनेवाले दूसरेको, या अपने आपको जो मनुष्य किसी आशाके वश होकर स्थिर नहीं करता है, वह भारी दुःख जालसे जटिल इस संसारको वहुत दूर तक वढ़ाता है, अर्थात् दीर्घसंसारी वनता है ॥४४५॥ देखो—गर्भवती ज्येष्ठा नामकी आर्यिकाका उपचार करके सम्यक्त्व लोचनवाली चेलना रानीने उसे पुनः शुद्धव्रतमें प्रतिष्ठापित किया ॥४४६॥ उन-उन

तत्तन्नास्तिकवादने दुरदुराचारप्रवीणाशयैः
संभिन्नादिकुमन्त्रिभिस्त्रिभिरमुं लयमानं वलात् ।
भूपालं सचलं महावलमलङ्कारं कुलस्य स्वयं-
वुद्धः शुद्धविबोधवन्धुरमतिः सत्संयमेऽतिष्ठिपत् ॥४४७

उक्तं च—सुदतीसङ्गमासक्तं पुष्पडालं तपोधनम् । वारिषेणः कृतत्राणः स्थापयामास संयमे ॥४४८

अस्य कथा— देशेऽस्ति मगधाख्येऽस्मिन् पुरं राजगृहं परम् ।
जेतारिश्रेणिकस्तत्र श्रेणिको धरणीपतिः ॥४४९

वारिषेणः सुतस्तस्य चेलना कुक्षिमौक्तिकम् । स भवत्सत्त्वसन्तानदयाधीनैकमानसः ॥४५०
एकदाऽसौ चतुर्दश्या रात्रौ भूरिभयप्रदे । श्मशाने कृतवान् कायोत्सर्गं सन्मार्गसक्तधीः ॥४५१
तस्मिन्नेव दिने धन्ये कानने गतया तया । दृष्टो मगधसुन्दर्या हारः श्रीकीर्त्तिसद्गले ॥४५२
मण्डनेन विना तेन जीवितव्यं वृथा मम । इति सञ्चिन्त्य शय्यायां निपत्य गणिका स्थिता ॥४५३
निशायामागतेनाथ विद्युच्चोरेण लञ्जिका । दृष्टा दुःखहिमव्रातपातम्लानाननाम्बुजा ॥४५४
जगाद तस्करः कान्ते दुःखितेवाद्य दृश्यसे । मानभङ्गः कृतः क्वापि किमन्यायतया मया ॥४५५
सापि स्नेहरसोद्गारप्रसारितविलोचना । विद्युच्चौरमिति प्रोचे वेश्या मगधसुन्दरी ॥४५६
श्रीकीर्त्तिश्रेष्ठिनो नूनं मण्डनं चण्डतेज ‌ । दत्से हारं समानीय तदा जीवामि नान्यथा ॥४५७
यद्यानयसि तं रतेजसाक्रान्तदिग्मुखम् । तदा त्वमपि मे भर्त्ता तावकीना त्वहं प्रिया ॥४५८

नास्तिक मतोंके कथन करनेपर अत्यन्त दुराचारमें प्रवीण अभिप्रायवाले संभिन्नमति आदि तीनों कुमंत्रियोंके द्वारा वलात् चलायमान किये गये कुलके अलङ्कारभूत महावल राजाको शुद्धवोधसे सुन्दर वुद्धिवाले स्वयंवुद्ध मंत्रीने उत्तम संयममें प्रतिष्ठापित किया था। (इसमें भ० ऋषभदेवके महावलके भवकी ओर संकेत किया गया है) ॥४४७॥

कहा भी है—अपनी स्त्री में आसक्त चित्त पुष्पडाल साधुकी वारिषेणने रक्षा करके उसे संयममें स्थापित्त किया ॥४४८॥

इसकी कथा इस प्रकार है—इसी मगध नामक देशमें राजगृह नामका एक सुन्दर नगर है। वहाँपर शत्रुओंकी श्रेणियोंको जीतनेवाला श्रेणिकराजा राज्य करता था। उसकी चेलना रानीकी कुक्षिका मौक्तिक स्वरूप वारिषेण नामका पुत्र था। वह सभी प्राणियोंकी सन्तान पर दयालु हृदय था ॥४४९-४५०॥ एक वार सन्मार्गमें निमग्न वुद्धि उस वारिषेणने चतुर्दशीकी रात्रिमें भारी भयंकर श्मशानमें जाकर कायोत्सर्ग स्वीकार करके ध्यान लगाया ॥४५१॥ उस ही दिन सुन्दर वनमें गई हुई मगधसुन्दरी वेश्याने श्रीकीर्तिके गलेमें एक सुन्दर हार देखा ॥४५२॥ उस हारके पहिने विना मेरा जीवित रहता वृथा है ऐसा विचारकर वह वेश्या शय्या पर जाकर पड़ गई ॥४५३॥ रात्रिके समय आये हुए विद्युच्चोरने दुःखरूप हिम-समूहके पातसे म्लानमुख कमलवाली उस वेश्याको देखा ॥४५४॥ तव वह चोर वोला—हे प्रिये, आज दुःखी-सी दिखती हो। क्या मैंने अन्यायरूपसे तुम्हारा कहीं कुछ मान-भंग किया है ॥४५५॥ तव स्नेह रसके उद्गारसे युक्त नेत्रोंको विस्तृत करती हुई वह मगधसुन्दरी वेश्या भी विद्युच्चोरसे इस प्रकार वोली—श्रीकीर्ति सेठके गलेके मण्डनभूत प्रचण्ड तेजवाले हारको लाकरके यदि दोगे, तो मैं जीवित रह सकूँगी, अन्यथा नहीं ॥४५६-४५७॥ यदि तुम उस स्फुरायमान तेजसे दिशाओंके मुखोंको आक्रान्त करनेवाले हारको

मा गाः कान्ते निजस्वान्ते कातरत्वं विलासिनि । अधुनैव विधास्यामि तवाभिप्रेतमद्भुतम् ॥४५९
जने निद्राग्रहग्रस्ते समस्ते सोऽथ तस्करः । निशीथे श्रेष्ठिनः कण्ठाद्धारमादाय निर्गतः ॥४६०
हारस्फारप्रभाभारैरेनं विज्ञाय तस्करम् । गेहरक्षामहौजस्का दधावुस्ते समन्ततः ॥४६१
तेभ्यः पलायितुं दस्युरसमर्थत्वमुद्वहन् । धृत्वा तं वारिषेणस्य पुरोऽदृश्योऽभवद्द्रुतम् ॥४६२
अग्रभागे लसत्तारहारं ध्यानावलम्बिनम् । तमालोक्य नृपालाय ते वृत्तान्तमचीकथत् ॥४६३
यस्योत्सङ्गे शिरः स्वैरं क्षिप्यते सोऽपि चेत्स्वयम् । छिनत्ति पुरतः कस्य तदा पूत्क्रियते प्रभो ॥४६४
वायुना यत्र चाल्यन्ते भूधरा अपि सत्वरम् । तृणानां गतसाराणां तत्र कैव कथा भवेत् ॥४६५
वारिषेणोऽपि यत्रेत्थं चुराशीलो महीप्रभो । का वार्ताऽस्मादृशां तत्र दरिद्रोन्निद्रचेतसाम् ॥४६६
श्रीकीर्तिश्रेष्ठिनो गेहरक्षकाणामिदं वचः । श्रुत्वा जज्वाल भूपालो घृतसिक्त इवानिलः ॥४६७
क्व ध्यानरचना घोरे श्मशाने क्व च चौर्यता । अहो दम्भमहो दम्भं पापिनो मेऽङ्गजन्मनः ॥४६८
इत्युक्त्वाऽसौ महीपालश्चण्डालांश्चण्डमानसान् । वारिषेणशिरश्छेदकृते प्रेरयति स्म वै ॥४६९
इत्थं प्राप्य नृपादेशं मातङ्गा रङ्गसङ्गताः । जग्मुर्गृहीतकौक्षेयाः श्मशानं भूरिभीतिदम् ॥४७०
ततः पश्यत्सु लोकेषु तेष्वेकेनातिपापिना । तच्छिरोधौ विनिक्षिप्तः करालकरवालकः ॥४७१

लाओगे तो तुम मेरे भर्ता हो और मैं भी तुम्हारी प्रिया हूँ ॥४५८॥ तब विद्युच्चोर बोला—हे कान्ते, तू अपने मतमें कातरताको मत प्राप्त हो, हे विलासिनि, मैं अभी हाल ही तेरे अद्भुत अभीष्टको सम्पादित करता हूँ ॥४५९॥

इसके बाद वह विद्युच्चोर रात्रिमें समस्त जनोंके निद्रारूप ग्रहसे ग्रस्त होनेपर सेठके कण्ठसे हारको लेकर निकला ॥४६०॥ हारकी स्फुरायमान प्रभाभारसे इसे चोर जानकर घरकी रक्षा करनेमें कुशल तेजस्वी रक्षक उसको पकड़नेके लिए चारों ओरसे दौड़े ॥४६१॥ उनसे बचनेके लिए भागनेमें असमर्थताको धारण करता हुआ वह चोर वारिषेणके आगे हारको रखकर शीघ्र अदृश्य हो गया ॥४६२॥ जिसके आगे कान्तियुक्त प्रकाशमान हार रखा हुआ है ऐसे ध्यानावस्थित वारिषेणको देखकर उन गृह-रक्षकोंने राजा श्रेणिकके पास जाकर सर्व वृत्तान्त कहा ॥४६३॥ हे प्रभो, जिसकी गोदमें स्वेच्छासे शिर रखते हैं, वही पुरुष यदि स्वयं शिरको काटता है, तो फिर किसके आगे जाकरके पुकार की जावे ॥४६४॥ जहाँपर वायुके द्वारा पर्वत भी शीघ्र चलायमान कर दिये जाते हैं वहाँपर सार-रहित तृणोंको क्या कथा है ॥४६५॥ हे महीपाल, जहाँपर वारिषेण राजकुमार ही इस प्रकारसे चोरी करनेवाला हो, तो वहाँपर हम सरीखे दरिद्रतासे पीड़ित पुरुषोंकी क्या बात है ॥४६६॥ श्रीकीर्तिसेठके गृह-रक्षकोंके ये वचन सुनकर राजा श्रेणिक घीसे सींची गई अग्निके समान क्रोधसे प्रज्वलित हो उठा ॥४६७॥ और बोला—कहाँ तो घोर श्मशानमें यह ध्यान रचना, और कहाँ यह चोरी करना। अहो मेरे अंगज इस पापीका यह बड़ा भारी दम्भ है, भारी दम्भ (छल) है ॥४६८॥ ऐसा कहकर उस महीपाल श्रेणिकने प्रचण्ड चित्तवाले चाण्डालोंको वारिषेणका शिरच्छेदन करनेके लिए आज्ञा दे दी ॥४६९॥

राजासे इस प्रकारका आदेश पाकर हर्षित होते हुए वे मातंग लोग भारी भयावने श्मशानमें तलवारें ले-ले करके पहुँचे ॥४७०॥ तब सर्व लोगोंके देखते-देखते उन चाण्डालोंमेंसे एक अति पापी चाण्डालने वारिषेणके गलेपर विकराल तलवारका प्रहार किया ॥४७१॥ तीक्ष्ण धारवाली वह

धारालः करवालोऽभूत् पुष्पमाला पतन्नपि । अगण्यपुण्यतः किं वा न स्याल्लोकोत्तरं नृणाम् ॥४७२
पुष्पमालायते सर्पः पञ्चास्यो हरिणायते । अरिर्मित्रायते नूनं धर्मात्सद्धर्मशालिनाम् ॥४७३
अहो पुण्यमहो पुण्यमुच्चरन्तः सुरासुराः । अस्योपरि स्फुरद्धर्षात्पुष्पवर्षं वितेनिरे ॥४७४
साधु साधु जिनेशानचरणाम्भोजषट्पदः । साधु प्रविलसच्छीलजलस्नपितभूतलः ॥४७५
इत्थमानन्दथुस्फारपूरपूरितमानसाः । सर्वतो वारिषेणस्य वितेनुः स्तवनं जनाः ॥४७६
सेवकेभ्यः आकर्ण्य तद्-वृत्तान्तमथादितः । श्रेणिकोऽपि महीपालः पश्चात्तापमुपागमत् ॥४७७
अविचार्यैव कुर्वन्ति येऽनार्याः कार्यमञ्जसा । पश्चात्तापहता हन्त तेऽत्र शोचन्ति सन्ततम् ॥४७८
भूपालो विलसद्-भालो गत्वा शवपदं क्षणात् । तितिक्षां लम्भयामास तनयं विनयाञ्चितम् ॥४७९
ततः स विद्युच्चौरोऽपि धरालुलितमस्तकः । नमस्कृत्य महीपालं जगाद निजचेष्टितम् ॥४८०
इदं मे चेष्टितं देव गणिकासक्तचेतसः । वारिषेणस्तु शुद्धात्मा ध्यानलीलावशंवदः ॥४८१
ततो नृपतिना वारिषेणोऽभाणि विशुद्धधीः । आगच्छ वत्स गच्छावः स्वगेहं विलसद्धनम् ॥४८२
क्षमहमद्यैव प्रातिकूल्यं स्वकर्मणः । अतस्तात जिनेशानचरणौ शरणं ॥४८३
इत्थं संसारसम्भोगसुखनिर्विण्णमानसः । सूरसेनान्तिके भक्त्या वारिषेणस्तपोऽग्रहीत् ॥४८४
चिद्रूपध्यानसम्भूतप्रमोदमदमेदुरम् । स्वान्तं वहन् मुनिः शान्तो विजहार महीतलम् ॥४८५

विकराल तलवार गलेपर गिरते ही फूलोंकी माला हो गई। ग्रन्थकार कहते हैं कि अगण्य पुण्यसे मनुष्योंके क्या लोकोत्तर कार्य नहीं हो जाता है, अर्थात् सभी कुछ हो जाता है ॥४७२॥ सद्धर्मशाली जीवोंके धर्म-प्रभावसे साँप फूलमाला बन जाता है, सिंह हरिण जैसा हो जाता है, और शत्रु भी मित्रके समान आचरण करने लगता है ॥४७३॥ उसी समय "अहो-आश्चर्यकारी पुण्य है, आश्चर्य जनक पुण्य है" इस प्रकारसे उच्चारण करते हुए सुर-असुरोंने इस वारिषेणके ऊपर हर्षसे स्फुरायमान होकर फूलोंकी वर्षा की ॥४७४॥ जिनेन्द्रदेवके चरण-कमलोंका चंचरीक (भ्रमर) साधुवाद, साधुवाद है, अत्यन्त विलसमान सत् शीलरूप जलसे भूतलको स्नापित करनेवाला यह वारिषेण साधुवादका पात्र है ॥४७५॥ इस प्रकार स्फुरायमान आनन्दके पूरसे पूरित हैं मुख जिनके ऐसे वहाँ उपस्थित सभी लोग वारिषेणकी सर्व ओरसे स्तुति करने लगे ॥४७६॥ तब सेवकोंके द्वारा आदिसे लेकर यह सब वृत्तान्त सुनकर राजा श्रेणिक भी पश्चात्तापको प्राप्त हुआ ॥४७७॥ जो अनार्य पुरुष बिना विचार किये ही इस प्रकारसे शीघ्र कार्य करते हैं वे पश्चात्तापसे पीड़ित होते हुए सदा ही शोक करते रहते है ॥४७८॥

तब शोभायमान भालवाला वह भूपाल भी शीघ्र ही एक क्षणके भीतर श्मशान भूमिमें जाकर विनय-युक्त वारिषेण पुत्रसे क्षमा-याचना करने लगा ॥४७९॥ तभी उस विद्युच्चोरने भी आकर पृथ्वीपर अपना मस्तक रगड़ते हुए राजा श्रेणिकको नमस्कार करके अपनी सारी चेष्टा कही ॥४८०॥ और यह भी कहा कि यह शुद्ध आत्मा वारिषेण तो ध्यान करनेमें ही एकाग्र चित्त इसी-प्रकारसे अवस्थित है। तब राजाने उस निर्मल बुद्धिवाले वारिषेणसे कहा—हे वत्स, आओ, अपन दोनों अपने धनादिसे परिपूर्ण राजभवनको चलें ॥४८१-४८२॥ तब वारिषेण बोला—हे तात! मैंने अपने कर्मोंकी प्रतिकूलता आज स्वयं ही देख ली है, अतः अब तो जिनेश्वरके चरण ही मेरे शरण हैं ॥४८३॥ इस प्रकार कहकर संसार, शरीर, भोगोंके सुखसे विरक्त चित्तवाले उस वारिषेणने सूर-सेन आचार्यके समीप जाकर भक्तिपूर्वक तपको ग्रहण कर लिया ॥४८४॥

दीक्षा ग्रहण करनेके पश्चात् चिद्-रूपसे ध्यान करनेसे उत्पन्न हुए आनन्दसे आनन्दित

ग्रामे पलाशकूटाख्ये श्रीश्रेणिकमहीपतेः। अग्निभूत्यभिधो मन्त्री नीतिशास्त्रविशारदः ॥४८६
तत्सूनुः पुष्पडालाख्यो वारिषेणं मुनीश्वरम्। चर्यार्थमन्यदाऽऽयातं स्थापयामास सादरः ४८७
ततः कालोचितं शुद्धं दत्तं तेन मुदा स्वयम्। भोज्यं शरीररक्षार्थं भुक्तवान् स मुनीश्वरः ॥४८८
अथाऽऽपृच्छ्य निजां भार्यां गच्छता मुनिना समम्। चचाल पुष्पडालाख्यो धृत्वा हस्ते च कुण्डिकाम्॥४८९
यत्राऽऽवाभ्यां पुरा स्वामिन् लीलया रन्तुमागतम्। तं वनं निकटं पश्य पक्षिलक्षसमाकुलम् ॥४९०
प्रीणितप्राणिसङ्घातः पचेलिमफलोत्करैः। माकन्दतरुराभाति पुरः साधुरिव स्फुरन् ॥४९१
तडागं कमलाकीर्णं हंसलीलापदं स्थिरम्। भवच्चित्तमिव स्वच्छं लालसीति पुरस्सरः ॥४९२
इत्थं व्याघुटनार्थं स तरुत्करविराजितम्। प्रदेशं दर्शयामास वह्निभूतितनूरुहः ॥४९३॥
विदन्नपि मुनीशानस्तं गेहगमनोत्सुकम्। गृहीत्वा स्वकरे बालं नीतवान्निजमाश्रयम् ॥४९४॥
तैस्तैः स वचनैर्नीत्वा तं वैराग्यं द्विजोत्तमम्। दीक्षां च ग्राहयामास श्रीमज्जिनमतोदिताम् ॥४९५॥
पठन्नपि श्रुतं रम्यं भाव पि संयमम्। मास्मार्षीत्स सोमिल्लामक्ष्णा काणां स्वभामिनीम् ॥४९६
हीनो गृहीतदीक्षोऽपि विषयाशां न मुञ्चति। कृपणः प्राप्तलक्ष्मीकः किं वा दैन्यं परित्यजेत् ॥४९७
स्यात्सरागस्य दीक्षापि भवभ्रमणकारणम्। गृहस्थतापि नीरागचेतसो मुक्तिपद्धतिः ॥४९८

चित्तको धारण करते हुए वे शान्त वारिषेण मुनिराज महीतलपर विहार करने लगे ॥४८५॥ पलाशकूट नामके ग्राममें श्री श्रेणिक महाराजका अग्निभूति नामक नीतिशास्त्र-विशारद मंत्री रहता था ॥४८६॥ उसके पुष्पडाल नामक पुत्रने किसी एक दिन चर्याके लिए आये हुए वारिषेण मुनीश्वर को सादर पडिगाहा ॥४८७॥ तत्पश्चात उसने हर्षसे स्वयं ही कालके अनुसार योग्य शुद्ध भोजन उन्हें दिया और उन मुनीश्वरने शरीरकी रक्षाके लिए उसे खाया ॥४८८॥ इसके पश्चात् वह पुष्पडाल अपनी स्त्रीसे पूछकर जाते हुए मुनिके साथ उनके कमण्डलुको हाथमें लेकर चल पड़ा ॥४८९॥ मार्गमें उसने कहा—हे स्वामिन्, जहाँपर पहिले अपन दोनों लीलासे क्रीड़ा करनेके लिए आते थे, वह लाखों पक्षियोंसे व्याप्त वन यह निकटमें है, इसे देखिये ॥४९०॥ अपने पके हुए फलोंके समूहसे प्राणियोंके समुदायको प्रसन्न करनेवाला यह सामने खड़ा हुआ आमका वृक्ष साधुके समान स्फुरायमान होता हुआ शोभित हो रहा है ॥४९१॥ कमलोंसे व्याप्त, हंसोंकी लीलावाला आपके चित्तके समान स्वच्छ और स्थिर यह सरोवर सामने कैसा शोभायमान हो रहा है ॥४९२॥ इस प्रकारसे लौटनेके लिए उस वह्निभूतिके पुत्र पुष्पडालने वृक्षोंके समूहसे शोभायमान अनेक प्रदेश वारिषेण मुनिराजको दिखाये ॥४९३॥ परन्तु अपने घरको जानेके लिए उत्सुक उसे जानते हुए भी वे मुनिराज वारिषेण उस पुष्पडालको अपने हाथसे पकड़कर अपने आश्रय-स्थानको लिवा ले गये ॥४९४॥ तत्पश्चात् उन-उन वैराग्य-वर्धक नाना प्रकारके वचनोंसे उस द्विजोत्तम पुष्पडालको संवोधित कर उसे श्रीमज्जिनेन्द्र प्ररूपित जिनदीक्षा ग्रहण करा दी ॥४९५॥

वह पुष्पडाल मुनि रमणीय शास्त्रको पढ़ते हुए भी और संयमकी भावना भाते हुए भी सोमिल्ला नामकी अपनी कानी स्त्रीको भूल नहीं सका ॥४९६॥ दीक्षाको ग्रहण करनेपर भी हीन पुरुष विषयोंकी आशाको नहीं छोड़ता है। लक्ष्मीको प्राप्त करनेवाला कृपण क्या अपनी दीनताको छोड़ देगा? कभी नहीं ॥४९७॥ राग-युक्त पुरुषकी दीक्षा भी संसार-परिभ्रमणका कारण होती है और राग-रहित पुरुषका गृहस्थपना भी मोक्षका कारण होता है ॥४९८॥

ततो द्वादश वर्षाणि वारिषेणस्तपोनिधिः । तस्य निर्वाहमाधातुं तीर्थयात्रामचीकरत् ॥४९९
अन्यदा वर्धमानस्य जिनस्य समवसृतिम् । जग्मिवान् गुरुणा चारुगुणौघगुरुणा समम् ॥५००
क्वचित्तत्र सुरेन्द्रस्य गन्धर्वैर्गर्वसम्भृतैः । गीयमानमिदं ौषीन्नौतनो मुनिः ॥५०१
मइलकुचेली दुम्माणी णाहें पवसियएण । कहं जीवेसइ घणियघर डज्झंती विरहेण ॥५०२
ततस्तच्छ्रवणोद्भूतविरहानलशान्तये । ववाञ्छ स मुनिर्भार्यादर्शनाम्भसि मज्जनम् ॥५०३
गुरुर्ज्ञात्वा ततः शिष्यं कामानलकरालि । चचाल स्वपुरं तस्य स्थिरीकरणहेतवे ॥५०४
वारिषेणमथाऽऽयान्तं दृष्ट्वा राज्ञी विचक्षणा । हृदीति चिन्तयामास किमयं चलितो व्रतात् ॥५०५
वीतराग-सरागे द्वे आसने चेलना सती । अदत्त भूपतेः पत्नी परीक्षणकृते मुनेः ॥५०६
विष्टरे वीतरागेऽसौ निविष्टः शिष्टमानसः । सत्क्रियाचरणे किं वा क्वचिन्मुह्यन्ति साधवः ॥५०७
वाणीभिरमृतोद्गारलुण्टाकीभिर्मुनीश्वरः । मातरं पो स व्यक्तभक्तिभरानताम् ॥५०८
मद्दारान् सद्गुणोदारान् सशृङ्गारान् नय । आ निति जननीं विनयाञ्चिताम्॥५०९
अङ्गचङ्गिमनिर्द्धूतस्फीतदेवाङ्गनामदाः । प्रमदाः सम्मदोपेताः समानीतास्तया द्रुतम् ॥५१०
कृत्वा नतिं ततस्तासु सुनिविष्टासु यथायथम् । उवाच्च वाचमित्युच्चैः गुरुः शिष्यं दिनम् ॥५११
राज्यं प्राज्यमिदं चैताः कामिनीर्गजगामिनीः । एतानि सदनान्युच्चैर्गृहाण मदनुज्ञया ॥५१२

तत्पश्चात् उन तपोनिधि वारिषेणने उसे पुष्पडालके संयम-निर्वाहके लिए बारह वर्ष तक अपने साथ रखकर तीर्थयात्रा कराई ॥४९९॥ किसी समय वह सुन्दर गुण-समूहसे गौरवशाली अपने वारिषेण गुरुके साथ श्री वर्धमान जिनेन्द्रके समवशरणमें गया ॥५००॥ वहाँ कहींपर देवेन्द्रके गर्व-संभृत गन्धर्वोंसे गाये जानेवाले इस पद्यको उस पुष्पडाल मुनिने सुना॥५०१॥

पतिके प्रवासमें जानेसे विरहानलसे जलती हुई मलिन वस्त्रवाली वह मानिनी नायिका धनीके घरमें कैसे जीवित रहेगी । अर्थात् जीवित नहीं रह सकेगी ॥५०२॥

इस पद्यको सुननेके पश्चात्, उससे उत्पन्न हुए विरहानलको शान्त करनेके लिए उस पुष्पडाल मुनिने अपनी भार्याके दर्शनरूपी जलमें स्नान करनेकी इच्छा की ॥५०३॥ तब वारिषेण गुरु कामाग्निसे प्रज्वलित अपने पुष्पडाल शिष्यको जानकर उसके स्थिरीकरणके लिए अपने नगरको चले ॥५०४॥ अपने घरकी ओर आते हुए वारिषेण मुनिको देखकर बुद्धिमती रानी चेलनाने अपने हृदयमें विचार किया कि क्या यह व्रतसे चलायमान हो गये हैं ॥५०५॥ तब राजाकी रानी उस चेलना सतीने उन मुनिकी परीक्षा करनेके लिए एक वीतराग और एक सराग ऐसे दो आसन बैठनेके लिए उन्हें दिये ॥५०६॥ तब वे शिष्ट-मानस वारिषेण मुनिराज वीतराग आसनपर बैठ गये । ग्रन्थकार कहते हैं कि सच्चे साधु अपनी सत्-क्रियाओंके आचरण करनेमें क्या कभी कहीं पर मोहित होते हैं ? अर्थात् नहीं होते ॥५०७॥ तब अमृतके उद्गारको भी हरण करने वाली अपनी प्रियवाणीसे वारिषेण मुनीश्वरने प्रकट भक्तिभारसे अवनत अपनी मातासे कहा ॥५०८॥ सद्-गुणोंसे उदार मेरी सभी स्त्रियोंको शृंगार-युक्त करके यहाँ लाओ । इस प्रकार विनयसे युक्त अपनी माताको आदेश दिया ॥५०९॥ तब वह चेलना शरीरकी सौष्ठवतासे सुन्दर देवाङ्गनाओंके मदको चूर-चूर करनेवाली, हर्षसे युक्त उसकी सभी नवीन यौवन वाली बहुओंको जल्दीसे ले आयी ॥५१०॥ तत्पश्चात् नमस्कार करके उनके यथाक्रमसे बैठ जानेपर वारिषेण गुरुने अपने प्रमादको प्राप्त पुष्पडाल शिष्यसे उच्चस्वरमें इस प्रकार वचन कहे—॥५११॥ हे पुष्पडाल, इन गजगामिनी कामिनियोंको, इन विशाल उन्नत राजभवनोंको और इस विशाल राज्यको मेरी आज्ञासे तुम ग्रहण करो

श्रुत्वेति निबिड़व्रीडाजटिलः स लघुर्मुनिः । अभ्युत्थाय गुरोः स्वस्य ननाम चरणद्वयम् ॥५१३
ईदृशीं सम्पदं त्यक्त्वा ये कुर्वन्त्यमलं तपः । त्वादृशास्तेऽत्र संसारे द्वित्राः स्युर्यदि पञ्चषाः ॥५१४
त्वया द्वादश वर्षाणि कुर्वता निर्मलं तपः । विहिता निर्जरा नूनं कर्मणां ध्वस्तशर्मणाम् ॥५१५
मया द्वादश वर्षाणि चक्षुकाणां स्ववल्लभाम् । ध्यायता निबिडं पापमर्जितं भवकारणम् ॥५१६
एकत्रापि पदे तिष्ठन् वीतरागो विमुच्यते । दुःसाध्यैः कर्मसङ्घातै रागयुक्तो हि वेष्ट्यते ॥५१७
सिद्धान्तसूचितं प्रायश्चित्तं चित्तस्य शोधनम् । अथ दत्त्वा मुनीशानः शिष्यमित्यमवोचत ॥५१८
अनादिवासनालीनकर्मणां पारवश्यतः । क्वचिद् विज्ञाततत्त्वोऽपि विक्रियां तनुते मुनिः ॥५१९
मया द्वादश वर्षाणि विहितं समलं तपः । इत्यार्तध्यानमत्यन्तं मास्म कार्षीः कृपापर ॥५२०

इत्थं स्थिरीकरणमस्य जिनेन्द्रदीक्षात्यागोद्यतस्य यतिनो विधिना विधाय ।
चिद्रूपचिन्तनचणो मुनिवारिषेणो निःसीमवृक्षगहनं स वनं जगाम ॥५२१

इति स्थितीकरणाङ्गे वारिषेणकथा ॥६॥

साधूनां साधुवृत्तीनां सागाराणां सधर्मिणाम् । प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं तज्ज्ञैर्वात्सल्यमुच्यते ॥५२२
सधर्मिषु सदा भक्तो विरक्तो भववासतः । सुधास्यन्दिवचो जल्पन् भव्यो वात्सल्यभाग् भवेत् ॥५२३
आदरो व्यावृतिर्भक्तिश्चाटूक्तिः सत्कृतिस्तथा । साधुषूपकृतिः श्रेयोऽर्थिभिर्वात्सल्यमुच्यते ॥५२४

॥५१२॥ अपने गुरुके ये वचन सुनकर उस लघु मुनि पुष्पडालने उठकर और अति लज्जासे युक्त होकर अपने गुरुके दोनों चरणोंमें नमस्कार किया ॥५१३॥ वह कहने लगा—ऐसी सम्पदाको छोड़-कर जो वनमें जाकर निर्मल तप करते हैं, वे इस सारे संसारमें दो-तीन या पाँच-छह व्यक्ति ही होंगे ॥५१४॥ हे स्वामिन्, आपने बारह वर्ष तक निर्मल तप करते हुए सुखके विनाशक कर्मोंकी निश्चयसे भरपूर निर्जरा की है ॥५१५॥ किन्तु मैंने बारह वर्ष तक अपनी आँखसे कानी प्राण-वल्लभाका चिन्तवन करते हुए संसारका कारणभूत सघन पापकर्म उपार्जन किया है ॥५१६॥ एक ही पदपर रहते हुए वीतरागी पुरुष दुःसाध्य कर्मोंके समूहसे विमुक्त हो जाता है और रागयुक्त जीव दुःसाध्य कर्मसमूहसे वेष्टित हो जाता है ॥५१७॥

इसके पश्चात् वारिषेण मुनिराजने आगममें कहे गये पापके शोधन करनेवाले प्रायश्चित्त-को देकर अपने शिष्यसे इस प्रकार कहा—॥५१८॥ अनादि कालिक वासनासे संचित कर्मोंकी पर-वशतासे तत्त्वोंका ज्ञाता भी मुनि कहीं पर विकारको प्राप्त हो जाता है ॥५१९॥ 'मैंने बारह वर्ष तक मलिन तपको किया है' इस प्रकारका अति दुःख-दायी आर्तध्यान हे दया-तत्पर साधो, अपने मनमें मत कर ॥५२०॥

इस प्रकार जिनेन्द्र दीक्षाको छोड़नेके लिए उद्यत पुष्पडाल मुनिका विधिपूर्वक स्थिरीकरण करके आत्माके चैतन्य स्वरूपके चिन्तन करनेमें प्रवीण वे वारिषेण मुनि असीम वृक्षोंसे गहन वनमें चले गये ॥५२१॥

यह स्थितीकरण अंगमें वारिषेण मुनिकी कथा है ॥६॥

साधुओं और उत्तम आचरण करनेवाले साधर्मी गृहस्थोंके यथा योग्य आदर-सत्कार करने को ज्ञानी पुरुषोंने वात्सल्य कहा है ॥५२२॥ जो साधर्मी भाइयों पर सदा भक्ति रखता है, संसार-वाससे विरक्त है और अमृत बहाने वाले वचन बोलता है, वह भव्य पुरुष वात्सल्य गुणका धारक है ॥५२३॥ कल्याणके अभिलाषी जनोंने आदर करनेको, वैयावृत्य करनेको, भक्ति करनेको, चाटु (प्रिय) वचन बोलनेको, सत्कार करनेको, तथा साधुजनोंके उपकार करनेको वात्सल्य कहा है

दर्शनज्ञानचारित्रसक्तचित्तेषु साधुषु । व्याजवर्जितबुद्धया यो विनयः स्यादिहादरः ॥५२५

आचार्यपाठकादिषु दशप्रकारेषु रोगहरणादि ।
सुविशुद्धकर्मणा यो विधिरमला व्यावृतिः सोक्ता ॥५२६

देवे दोषविनिर्मुक्ते विरोधरहिते श्रुते । गुरौ नैर्ग्रन्थ्यमापन्नेऽनुरागो भक्तिरिष्यते ॥५२७

भक्तिप्रह्वतया पञ्चपरमेष्ठिगुणावलेः । श्रुतिः शश्वत्सुधागर्भा चाटूक्तिर्गदिता बुधैः ॥५२८

पुलाकादिस्फुरद्भेदभिन्ने दिग्वाससां गणे । सद्धर्मदेशके पूजा सत्कृतिः कृतिभिर्मता ॥५२९

ज्ञाने तपसि पूजायां यतीनां यस्त्वसूयति । स्वर्गापवर्गभूर्लक्ष्मी नूनं तस्याप्यसूयति ॥५३०

विद्याभिर्द्रविणैः स्वेन परेणापररक्षणम् । यत्सा चोपकृतिः प्रोक्ता परोपकरणार्थिभिः ॥५३१

एवमन्येऽपि वहवो भेदा ज्ञेयाः ।

उक्तं च— महापद्मसुतो विष्णुर्मुनीनां हास्तिने पुरे ।
वलिद्विजकृतं विघ्नं शमयामास वत्सलम् ॥५३२

अस्य कथा— उज्जयिन्यां महीपालो वैरिकालो महावलः ।
श्रीवर्मा प्रोल्लसच्छर्मसत्क्रियः श्रीमतीप्रियः ॥५३३

चत्वारो मन्त्रिणस्तस्य नीतिरीतिविदो वलिः । वृहस्पतिश्च नमुचिः प्रह्लाद इति विश्रुताः ॥५३४

संयतैः संयमोपेतैरथ सप्तशतप्रमैः । सहितोऽकम्पनाचार्यस्तत्पुरोद्यानमागतः ॥५३५

वक्तव्यं नात्र केनापि समायाते महीपतौ । गुरुस्तं निरघं संघमिति वारयति स्म सः ॥५३६

॥५२४॥ सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्रमें संलग्न चित्तवाले साधु जनोंमें छल-रहित वुद्धिसे जो विनय किया जाता है, उसे आदर कहते हैं ॥५२५॥ आचार्य, उपाध्याय आदि दश प्रकारके साधुओंमें उत्तम विशुद्ध भावनाके साथ रोगको दूर करने रूप निर्मल सेवा विधि की जाती है, वह व्यावृत्ति या वैयावृत्ति कही जाती है ॥५२६॥ दोषोंसे रहित देवमें, पूर्वापरविरोध रहित शास्त्रमें और निर्ग्रन्थ-ताको प्राप्त गुरुमें जो अनुराग किया जाता है, वह भक्ति कहलाती है ॥५२७॥ भक्तिसे युक्त होकर पंच-परमेष्ठीकी गुणावलीका निरन्तर अमृतगर्भा वाणीसे उच्चारण करनेको ज्ञानी जनोंने चाटूक्ति कहा है ॥५२८॥ पुलाक, वकुश आदि अनेक भेद वाले दिगम्वर सद्-धर्मके उपदेशक साधुओंके समुदायमें जो पूजा की जाती है, उसे सत्कृति या सत्कार कृति जनोंने कहा हैं ॥५२९॥ जो पुरुष साधुजनकी पूजामें, ज्ञानमें और तपमें ईर्ष्या करता है, उसके प्रति नियमसे स्वर्ग लक्ष्मी और मुक्ति लक्ष्मी भी ईर्ष्या करती है ॥५३०॥ विद्यासे, धनसे स्वयं और दूसरेके द्वारा जो दूसरेका संरक्षण किया जाता है उसे परोपकार करनेके इच्छुक जनोंने उपकृति या उपकार कहा है ॥५३१॥ ये और इसी प्रकारके अन्य भी वहुतसे भेद वात्सल्यके जानना चाहिए ।

कहा भी है—महापद्म राजाके पुत्र विष्णु कुमार मुनिने हस्तिनापुरमें वलि ब्राह्मण-द्वारा किये गये मुनियोंके विघ्न-रूपउपसर्गको शान्त किया था, वह उनका वात्सल्य था ॥५३२॥

इसकी कथा इस प्रकार है—उज्जयिनी नगरीमें वैरियोंके लिए कालस्वरूप, उल्लास पूर्वक सद्-धर्म और सुखकी सत्-क्रियाओंका करने वाला महावली श्रीवर्मा नामक राजा था, उसकी रानीका नाम श्रीमती था ॥५३३॥ उसके नीतिशास्त्रके वेत्ता वली, वृहस्पति, नमुचि और प्रह्लाद इन नामोंसे प्रसिद्ध चार मंत्री थे ॥५३४॥ किसी समय संयमके धारक सात साधुओंके साथ श्री अकम्पनाचार्य उस नगरी के वाहिरी उद्यानमें आये ॥५३५॥ आचार्यने सर्वनिष्पाप संघको यह आज्ञा दी कि 'राजाके यहाँ आनेपर कोई भी कुछ नहीं वोले'। इस प्रकारसे सवको वोलनेसे

उत्तुंगसौधमारूढो मन्त्रिणोऽथ परिवृढः । पप्रच्छ स्वच्छवस्त्रोऽयं जनः क्वैति सचन्दनः ।।५३७
विहिताडम्बरा देव समायाता दिगम्बराः । तान्नन्तुमथमत्रत्यो लोको याति कुतूहली ।।५३८
वयं तत्रैव गच्छाम उदस्थादिति भूपतिः । ततो निवेधयामासुस्ते चत्वारोऽपि मन्त्रिणः ।।५३९
वेदमार्गविदां नृणां चक्षुषोरान्ध्यमुत्तमम् । ननु श्रुतिविमुक्तानां क्वचिद् वक्त्रावलोकनम् ।।५४०
इत्थं राजा निषिद्धोऽपि जगाम यतिसन्निधौ । .... ।।५४१
.... निषिद्धो गुरुणा मुनिः ।।५४२
स्त्यानध्यानघनाधीनमानसा मुनिसत्तमाः । तिष्ठन्तीति धराधीशो व्याघुटय चलितो गृहम् ।।५४३
व्यक्तं वक्तुमपि ो नामी वृषभरूपिणः । जानन्तीति हसं कृत्वा साकं भूपेन तेऽप्यगुः ।।५४४
चर्यां कृत्वातिसौन्दर्यसागरं श्रुतसागरम् । मार्गे सन्मुखमायान्तं दृष्ट्वेति जहसुर्द्विजाः ।।५४५
जडत्वाम्भोनिधौ मग्नो नग्नः सोद्विग्नमानसः । वादैरुच्चाटनीयोऽयं वलीवर्दसमाकृतिः ।।५४६
ततो वादोद्यतः सोऽपि वभूव श्रुतसागरः । तेजस्विनः कृतामन्यैः सहन्ते नापमानताम् ।।५४७
नृपाध्यक्षं कुपक्षैकप्रवणाः श्रमणेन ते । अनेकान्तमयैर्वादैर्जिताः स्याद्वादवादिना ।।५४८
ततो गत्वा गुरोरग्रे तद्-वृत्तान्तमचीकथत् । हतो हन्त स्वहस्तेन संघः सोऽपीति चावदत् ।।५४९
वादस्थाने निशि ध्यानं दत्से शुद्धिस्तदा तव । संघस्य जीवितव्यं स्यादन्यथा तु परिक्षतिः ।।५५०

रोक दिया ।।५३६।। उस समय ऊँचे राजमहलके ऊपर वैठे हुए राजाने मंत्रियोंसे पूछा कि स्वच्छ वस्त्र पहिने हुए और चन्दनादि द्रव्य लिये हुए ये लोग कहाँ जा रहे हैं ।।५३७।। तव उन मंत्रियोंने कहा – हे देव, आडम्वर करनेवाले दिगम्वर साधु यहाँ आये हैं, उनकी वन्दना करनेके लिए ये कुतूहली लोग वहाँ जा रहे हैं ।।५३८।। राजाने कहा—हम भी वहीं चलते हैं। तव उन चारों ही मंत्रियोंने निषेध करते हुए कहा—वेदमार्गके जाननेवाले मनुष्योंके नेत्रोंका अन्धा होना उत्तम है किन्तु वेदज्ञान-रहित पुरुषोंके मुखोंका देखना कभी अच्छा नहीं है ।।५३९-५४०।। इस प्रकार मंत्रियोंके द्वारा रोके जानेपर भी राजा मुनियोंके समीप गया। (सभी मुनियोंकी वन्दना करनेपर भी किसी साधुने राजाको आशीर्वादात्मक एक भी वचन नहीं कहा) क्योंकि सभी मुनिजन गुरुके द्वारा वोलनेसे रोक दिये गये थे ।।५४१-५४२।। 'ये सव श्रेष्ठ मुनिजन उत्कृष्ट वृद्धिगत ध्यानरूप धनमें संलग्न चित्त विराजमान हैं' ऐसा विचार करके राजा लौटकर अपने घरको चला ।।५४३।। तव वे मंत्री भी 'ये वैल-सदृश रूपके धारक प्रायः व्यक्तरूपसे वोलना भी नहीं जानते हैं' इस प्रकार हँसी करके राजाके साथ चल पड़े ।।५४४।। अत्यन्त सौन्दर्यके सागर श्रुतसागर मुनिको चर्या करके मार्गमें सन्मुख आते हुए देखकर वे ब्राह्मण मंत्री हँसी करते हुए वोले—जड़ता-(मूर्खता) रूप समुद्रमें निमग्न, उद्विग्न चित्त, वैलके समान आकृतिवाला यह नग्न साधु वादके द्वारा उच्चाटन करनेके योग्य है ।।५४५-५४६।। तव (मंत्रियोंका यह कथन सुनकर) वे श्रुतसागर मुनि भी उनके साथ वाद करनेके लिए उद्यत हो गये। तेजस्वी पुरुष अन्य पुरुषोंके द्वारा किये गये अपमानको सहन नहीं करते हैं ।।५४७।। राजाको अध्यक्ष वना करके उनका वाद प्रारम्भ हुआ और स्याद्वाद-वादी उन मुनिराजने अनेकान्तमय वचन-युक्तियोंसे कुपक्षमें एकमात्र प्रवीण उन मंत्रियोंको वादमें जीत लिया ।।५४८।।

तत्पश्चात् उन मुनिराजने गुरुके आगे जाकर यह सव वृत्तान्त कहा। तव गुरुने कहा—वड़े दुःखकी वात है कि तुमने अपने हाथसे इस संघका विघात कर दिया ।।५४९।। जव तुम वाद-स्थान पर जा करके ध्यान धारण करोगे, तव तुम्हारी शुद्धि होगी और संघका जीवन रहेगा।

संघस्य रक्षणार्थं स गुर्वादेशवशंवदः । गत्वा तत्र तथा तस्थौ मुनीशः श्रुतसागरः ॥५५१
सन्मार्गप्रवणः शिष्यस्तनयो वा नयाञ्चितः । स्वप्नेऽपि न क्वचिद्धत्ते गुर्वादेशविलङ्घनम् ॥५५२
लज्जाशुष्यन्मुखाब्जास्ते मन्त्रिणः पापतापिताः । तान् शास्त्रेण गतत्राणान् हन्मश्चेलुरिति द्रुतम् ॥५५३
रात्रौ ध्यानस्थितं दृष्ट्वा जजल्पुस्ते परस्परम् । वैरी पुरस्सरः सोऽयं यो व्यधत्त पराभवम् ॥५५४
अतोऽयमेव हिंस्यः स्यादिति ते कृतनिश्चयाः । खड्गानुत्थापयामासुस्तद्वधार्थमपत्रपाः ॥५५५
अथ तद्-व्रतमाहात्म्यात्क्षुभिता पुरदेवता । मन्त्रिणः स्तम्भयामास दुराशामोहिताशयान् ॥५५६
ततः प्रातर्नृपो दृष्ट्वा तान् जिघांसून् स्वमन्त्रिणः । निनिन्द निन्दिताचारागारानरुणलोचनान् ॥५५७
वधं निरपराधानां दुर्बोधा येऽत्र कुर्वते । भुक्त्वाऽतिदुष्करं दुःखं नरकं प्रविशन्ति ते ॥५५८
सामान्यजन्तुघातोत्थैः पापैः सन्तापितात्मनाम् । न मुखालोकनं युक्तं किं पुनर्यतिघातिनाम् ॥५५९
गर्दभारोहणं कोपात्कारयित्वा ततो नृपः । पुरान्निःसारयामास मन्त्रिणो यतिघातकान् ॥५६०
अथ नागपुरे चक्री वैरिचक्रविजित्वरः । महापद्मोऽभवत्तस्य भार्या लक्ष्मीमती सती ॥५६१
वैरिभूभृच्छिरोन्यस्तपादौ तेजस्वितोद्धतौ । पुष्पदन्ताविवाभूतां पद्म-विष्णू नृपात्मजौ ॥५६२
राज्ये निधाय पद्माख्यं लघुना विष्णुना समम् । श्रुतसागरमानम्य प्रव्रज्यामासदन्नृपः ॥५६३

अन्यथा महान् विनाश उपस्थित है ॥५५०॥ तब संघकी रक्षा करनेके लिए गुरुके आदेशके वशंगत श्रुतसागर मुनिराज उस वादस्थान पर जाकर ध्यान-स्थित हो गये ॥५५१॥ ग्रन्थकार कहते हैं कि सन्मार्गमें प्रवीण शिष्य और नयमार्गसे युक्त पुत्र स्वप्नमें भी गुरुजनोंके आदेशका उल्लंघन कभी भी कहीं पर नहीं करते हैं ॥५५२॥ इधर लज्जासे जिनके मुख-कमल सूख रहे हैं ऐसे वे पापसे सन्तप्तचित्त मंत्री 'रक्षासे रहित उन मुनियोंको शस्त्रसे मारेंगे' ऐसा विचार करके घरसे रात्रिके समय शीघ्र चल दिये ॥५५३॥ जाते हुए उन्होंने रात्रिमें ध्यानस्थित मुनिको देखकर परस्परमें कहा—'जिसने अपना पराभव किया है वह वैरी यह सामने खड़ा है ॥५५४॥ इसलिए यही मारनेके योग्य है' ऐसा निश्चय करके उन निर्लज्ज निर्दयोंने उनके घातके लिए खड्गों को ऊपर उठाया ॥५५५॥ तभी उस साधुके व्रत-माहात्म्यसे क्षोभको प्राप्त हुए नगरदेवताने खोटी आशासे मोहित दुराशयवाले उन मंत्रियोंको कीलित कर दिया ॥५५६॥ तदनन्तर प्रातःकाल साधुको मारनेकी इच्छावाले, निन्दनीय आचारके आगार (घर) और लालनेत्रवाले उन क्रूर अपने मंत्रियोंको देखकर राजाने उनकी भारी निन्दा की ॥५५७॥ जो अज्ञानी पुरुष इस लोकमें निरपराध जीवोंका घात करते हैं, वे इसी जन्ममें अति दुष्कर दुःख भोग करके महादुःखोंसे भरे हुए नरकमें प्रवेश करते हैं ॥५५८॥ साधारण जीवोंके घातसे उत्पन्न पापोंसे जिनकी आत्माएँ सन्तप्त हैं, उनका ही मुख देखना जब योग्य नहीं है, तब मुनि-घातकोंका तो कहना ही क्या है ? अर्थात् वे तो सर्वथा ही देखने योग्य नहीं हैं ॥५५९॥ तब राजाने क्रोधित होकर उन मुनि-घातक मंत्रियोंको गधे पर चढ़वा कर नगरसे निकलवा दिया ॥५६०॥

हस्तिनापुर नामके नगरमें शत्रु-चक्रको जीतनेवाला महापद्म नामका चक्रवर्ती था। उसकी लक्ष्मीमती नामकी सती पट्टरानी थी ॥५६१॥ उनके सूर्य और चन्द्रके समान पद्म और विष्णु नामके दो पुत्र थे, जो वैरिरूपी पर्वतके शिखर पर अपने चरणोंको रखनेवाले और तेजस्वितासे भरपूर थे ॥५६२॥ वह महापद्म चक्रवर्ती पद्म नामक ज्येष्ठ पुत्रको राज्यपर अभिषिक्त करके विष्णु नामक छोटे पुत्रके साथ श्रुतसागर मुनिराजके समीप जाकर उन्हें नमस्कार

ततो विष्णुकुमारोऽसौ दुष्करं सुतपस्तपन् । निधिर्बभूव लब्धीनां कलानामिव चन्द्रमाः ॥५६४
नवराज्योल्लसल्लक्ष्मीलीलागारं मनोहरम् । आगत्य पद्मभूपालं मन्त्रिणस्ते सिषेविरे ॥५६५
मन्त्रिणो देशकालादिविचारविधिकोविदान् । विज्ञाय स्थापयामास योग्ये मन्त्रिपदे नृपः ॥५६६
अन्यदा क्षीणमालोक्य बलिर्भूपमवोचत । दौर्बल्यकारणं देव किमेतत् प्रतिपाद्यताम् ॥५६७
दुर्गे कुम्भपुराख्येऽस्मिन् बली सिंहबलो वसन् । मद्देशोपद्रवेनालं मां दुनोति दुरासदः ॥५६८
श्रुत्वेति पार्थिवादेशाद्गत्वा दुर्गं बलाद्बलिः । भङ्क्त्वा सिंहबलं बद्ध्वा श्रीपद्माय व्यशिश्रणत् ॥५६९
प्रहृष्टः स प्रभुः प्राह गृहाणेष्टं वरं बले । याचे यदा तदा देव दीयतामिति सोऽवदत् ॥५७०
धर्माम्बुसिञ्चनैर्भव्यशस्यौघानथ वर्धयन् । ससंघोऽकम्पनाचार्यस्तस्थौ नागपुरान्तिके ॥५७१
श्रमणागममाकर्ण्य मन्त्रिणो भयकातराः । तन्निराकरणोपायचिन्तामातेनिरे भृशम् ॥५७२
ततोऽब्रवीद्बलिर्मन्त्री स्मृत्वा पूर्ववरं विभो । दीयतामद्य मे राज्यं प्राज्यं सप्तदिनावधिम् ॥५७३
अदत्त मन्त्रिणे राज्यं मुदा भूप्रमदापतिः । विस्मरन्ति न कालेऽपि प्रतिपन्नं हि सज्जनाः ॥५७४
अन्तःपुरे नृपालोऽपि प्रविश्यादृश्यवान् स्थितः । पापकेलिर्बलिर्भिक्षुपीडायै समचेष्टत ॥५७५
यतीनभ्यन्तरीकृत्य बाह्ये वृत्तिमकारयत् । तार्णं च मण्डपं कृत्वा चण्डकर्मोद्यतो बलिः ॥५७६

करके दीक्षित हो गया ॥५६३॥ तत्पश्चात् वे विष्णुकुमार मुनिराज दुष्कर तपको तपते हुए लब्धियों (ऋद्धियों) के निधान हो गये। जैसे चन्द्रमा वृद्धिगत होता हुआ समस्त कलाओंका निधान हो जाता है ॥५६४॥

इधर जब यह मनोहर पद्मराजा नवीन राज्यकी प्राप्तिसे उल्लासको प्राप्त राज्य लक्ष्मीकी लीलाका आगार हो रहा था, तभी वे निकाले गये चारों मंत्री आकरके इसकी सेवा करने लगे ॥५६५॥ देश-काल आदिकी विचार-विधिमें कुशल इन मंत्रियोंको जानकर राजा पद्मने योग्य मंत्रि-पदपर उन्हें स्थापित कर दिया ॥५६६॥ इसके पश्चात् किसी समय राजाको दुर्बल होता हुआ देख कर बलि मंत्रीने पूछा—हे देव, आपकी दुर्बलताका क्या कारण है? मुझसे कहिये ॥५६७॥ राजाने कहा—कुम्भपुर नामके इस अमुक दुर्गमें सिंहबल नामका एक बली राजा रहता है। वह दुष्ट मेरे देशमें भारी उपद्रव करके मुझे दुःखी कर रहा है ॥५६८॥ यह सुनकर राजाके आदेशसे बलिने जाकर अपने प्रचण्ड बलसे दुर्गको भग्न कर और सिंहबलको बाँधकर श्री पद्मराजाको सौंप दिया ॥५६९॥ इससे प्रसन्न होकर राजाने कहा—हे बलिमंत्रिन्, मैं तुमपर प्रसन्न हूँ, तुम अभीष्ट वरको माँगो। तब उस बलिने कहा—हे देव, (वरको सुरक्षित रखिये) आगे जब मैं मांगू, तब मुझे देवें ॥५७०॥

अथानन्तर भव्यरूप धान्योंके समूहोंको धर्मरूप जलसे सिंचन करके उसे संवर्धन करते हुए श्री अकम्पनाचार्य हस्तिनापुरके समीप संघ-सहित आकरके विराजमान हुए ॥५७१॥ जैन श्रमणों-का आगमन सुनकर भयसे डरते हुए वे चारों मंत्री शीघ्र उसके निराकरणका उपाय चिन्तवन करने लगे ॥५७२॥ तब बलिमंत्री पूर्वमें राजाके द्वारा दिये गये वरका स्मरण कर राजाके पास जाकर बोला—हे प्रभो, आज सात दिनकी अवधिवाला अपना विशाल राज्य मुझे दीजिये ॥५७३॥ तब राजाने हर्षपूर्वक उसे सात दिनके लिए राज्य दे दिया। सज्जन पुरुष स्वीकृत बातको समय बीत जानेपर भी विस्मरण नहीं करते हैं ॥५७४॥ तत्पश्चात् राजा अन्तःपुरमें जाकर अदृश्य रूपसे स्थित हो गया। और वह पाप क्रीड़ा करनेवाला बलि मंत्री साधुओंको पीड़ा देनेके लिए चेष्टा करने लगा ॥५७५॥ उस बलिने मुनिजनोंको भीतर करके बाहिरसे बाढ़ लगवा दी और

एकतः कर्तुमारब्धो यज्ञो वेदोद्भवैः पदैः । अन्यतस्तु मुनीन्द्राणामुपसर्गं सुदारुणम् ॥५७७
पानरतोच्छिष्टशरावोत्सर्जनादिभिः । तृणपत्रभवैर्धूमैः पीडिता मुनयो भृशम् ॥५७८
तदा सालम्बमालम्ब्य प्रत्याख्यानं मुनीश्वराः । उप हास्तस्थुः कायोत्सर्ग दाः ॥५७९
मिथिलायामथ ज्ञानी श्रुतसागरचन्द्रभाक् । श्रवणं श्रमणं दृष्ट्वा कम्पमानं नभस्तले ॥५८०
हा हा क्वापि मुनीन्द्राणामुपसर्गोऽतिदारुणः । वर्ततेऽवृत्तपूर्वोऽयं जगादेति दयार्द्रधीः ॥५८१
क्षुल्लकः पुष्पदन्ताख्यः पप्रच्छासौ ससंभ्रमः । क्व नाथेति गुरुः प्राह स हास्तिनपुरे पुरे ॥५८२
कुतोऽपवर्तते तेषामुपसर्गो जगौ गुरुः । विक्रियालब्धि र्थ्याद्विष्णोर्मच्छिष्यतः स्फुटम् ॥५८३
मुनीन्द्रं विष्णुनामानं भूमिभूषणप ते । वसन्तं क्षुल्लको गत्वा तमुदन्तम वत् ॥५८४
किमस्ति विक्रियालब्धिर्ममेति स मुनीश्वरः । बाहुं रय स परीक्षणकृते ॥५८५
विभिद्य भूधरं दूरं निरुद्धप्रसरः करः । तथा गतो यथा सिन्धोर्लब्धवान् जलमज्जनम् ॥५८६
वि ः लब्धिसद्भावमिति विज्ञाय तत्त्वतः । गत्वा नृपं प्राह विष्णुर्मुनि ल्लिका ॥५८७
किमारब्धमिदं भ्रातः राज्यं पालयता त्वया । कुरूणां जितशत्रूणां यन्न क्वापि कुलेऽभवत् ॥५८८
दु ां निग्रहं शिष्टजनानां परिपाल । यः करोति स एव न्नरपालो ि लधीः ॥५८९
मुनीनामपि शिष्टानां कारयेत् त्वमिवात्र यः । उपसर्गं स द्धिः कुतस्त्यो हि नराधिपः ॥५९०

तृणोंका एक मण्डप वहां बनवाकर क्रूर कर्म करनेमें उद्यत उस बलिने एक ओर तो वेदोक्त मंत्र-पदोंसे यज्ञ कराना प्रारम्भ किया और दूसरी ओर मुनियोंके ऊपर अति दारुण उपसर्ग करना प्रारम्भ किया ॥५७६-५७७॥ मदिरा पान करनेवालोंके जूठे सिकोरे ऊपर फेंकने आदिसे और तृण-पत्रोंसे उठे हुए धुँएसे मुनियोंको उसने अति पीड़ित किया ॥५७८॥ तब सब मुनिवर सावधि प्रत्याख्यान स्वीकार करके उपसर्गको सहन करते हुए कायोत्सर्ग धारण करके स्थित हो गये ॥५७९॥

मिथिला नगरीमें महाज्ञानी सागरचन्द्र नामके प्रसिद्ध आचार्यने आकाशतलमें श्रवण नक्षत्रको कंपता हुआ देख कर कहा—हाय, हाय, कहींपर मुनियोंके ऊपर अतिदारुण उपसर्ग हो रहा है? ऐसा घोर उपसर्ग इससे पूर्व कभी नहीं हुआ। इस प्रकार उन दयार्द्र बुद्धिवाले आचार्यने कहा ॥५८०-५८१॥ तब उसके समीपस्थ पुष्पदन्त नामक क्षुल्लकने आश्चर्य चकित होकर पूछा—हे नाथ, कहाँपर वह हो रहा है? गुरुने कहा—हस्तिनापुर नगरमें वह उपसर्ग हो रहा है ॥५८२॥ क्षुल्लकने पूछा—उनका उपसर्ग कैसे दूर होगा? गुरुने कहा—मेरे शिष्य विष्णु मुनिराजकी विक्रियालब्धिकी सामर्थ्यसे दूर होगा ॥५८३॥ तब भूमिभूषण पर्वतपर विराजमान विष्णु नामवाले मुनीन्द्रके पास जाकर उस क्षुल्लकने यह सब वृत्तान्त कहा ॥५८४॥ तब उन मुनीश्वरने 'क्या मुझे विक्रियालब्धि प्राप्त है? इस बातकी परीक्षा करनेके लिए अपने हाथको पसारा ॥५८५॥ तब उनका हाथ पर्वतको भेदकर अन्यके प्रसारको रोकता हुआ इतनी दूर चला गया कि उसने समुद्रके जल-मज्जनको प्राप्त कर लिया ॥५८६॥ तब 'मुझे वास्तवमें विक्रियालब्धि प्राप्त हुई है' यह जानकर मुनियोंमें श्रेष्ठ विष्णु मुनिराजने जाकर पद्मराजासे कहा—हे भाई, राज्यको पालन करते हुए तूने यह क्या अनर्थ प्रारम्भ कर रक्खा है? ऐसा तो शत्रुओंको जीतनेवाले कुरुवंशियोंके कुलमें कभी भी कहीं नहीं हुआ है ॥५८७-५८८॥ जो दुष्टोंका निग्रह और शिष्टजनोंका परिपालन करता है वह विशाल बुद्धिवाला नर-पालक राजा कहलाता है ॥५८९॥ किन्तु जो इस लोकमें तेरे समान शिष्ट मुनिजनोंके ऊपर भी ऐसा उपसर्ग कराता है, वह दुर्बुद्धि मनुष्योंका स्वामी राजा कैसे कहा जा सकता है ॥५९०॥ राजाको तो सन्तजनोंपर पीड़ा-उपद्रव करनेवाले

सत्सु पीडां वितन्वतं दुर्जनं वारयेत्प्रभुः । स चेत्स्वयं केन सुधियापि निवार्यते ॥५९१
ज्वलनः प्रज्वलन्नेष पयसा सुमिषिच्यते । तच्चेत्स्वयं तदा शान्तिः केन विधीयते ॥५९२
अथवादः परित्यज्य कुरु कृत्यं ममोदितम् । यावन्नायाति तेऽवश्यमपायः पद्मभूपते ॥५९३
शीतलभावानां तापनं न सुखप्रदम् । गाढतप्तं न किं तोयं दहत्यङ्गं शरीरिणाम् ॥५९४
तन्निवारय सन्तापं कुर्वन्तं यतिनां बलिम् । अन्यथा तु विनाशस्ते भविष्यति न संशयः ॥५९५
ततो नत्वा नृपः प्राह यतीन्द्र बलिमन्त्रिणे । राज्यं सप्ताहपर्यन्तमदीत किं करोम्यहम् ॥५९६
यतो जानासि यद्देव तत्स्वमेव द्रुतं कुरु । प्रस्फुरन्महसे दीपो भास्वते किमु दीयते ॥५९७
शत्रुजिष्णुस्ततो विष्णुर्गत्वा वामनवेषभृत् । यागस्थाने महोत्साहो वेदोच्चारमचीकरत् ॥५९८
अथ तत्पाठसंहृष्टो दृष्ट्वा बलिरवोचत । यत्तुभ्यं रोचते विप्र वस्व निजेच्छया ॥५९९
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञस्त्वरितं वामनो जगौ । यच्छ स्वच्छमते पृथ्वीं मह्यं पादत्रयं मुदा ॥६००
ततोऽसौ भणितो लोकैः प्रार्थ विकं बुध । तावदेव पुनः सोऽपि न हि लोभो महात्मनाम् ॥६०१
दत्तं गृहाण ते भूमेर्मया पादत्रयं मुदा । हस्तोदकविधानेन कौटिल्यात्स समाददौ ॥६०२
पापस्यास्य भुङ्क्ष्व पापिन्नित्यमुदीरयन् । विक्रियालब्धिसामर्थ्याद् व्यजृम्भत स व : ॥६०३
दत्तो देवगिरौ पूर्वो द्वितीयो मानुषोत्तरे । अवकाशं विनाऽऽकाशे तृतीयश्चाभ्रमत्क्रमः ॥६०४

दुर्जनका निवारण करना चाहिए। वह यदि स्वयं ही उपद्रव करने लगे तो कौन बुद्धिमान् उसे रोकेगा ? प्रज्वलित यह अग्नि जलसे बुझ जाती है। वह यदि जलसे और भी प्रज्वलित होने लगे तब उसकी शान्ति किससे की जायगी ॥५९१-५९२॥

हे पद्मभूपाल, अब मेरे कथनानुसार और सब छोड़कर वैसा कार्य कर, जिससे कि तेरे यह अपवादरूप अपाय प्राप्त न हो ॥५९३॥ शीतल स्वभाववाले सन्त जनोंको दुःख-सन्ताप पहुँचाना सुखप्रद नहीं है। अत्यन्त तपाया गया जल क्या देहधारियोंके देहको नहीं जलाता है ? अवश्य ही जलाता है ॥५९४॥ इसलिए मुनियोंको सन्ताप करनेवाले बलिको रोक। अन्यथा तेरा अवश्य विनाश होगा, इसमें कोई संशय नहीं है ॥५९५॥

तब पद्मराजा विष्णु मुनिराजको नमस्कार करके बोला—हे यतीन्द्र, मैंने बलि मंत्रीको सात दिन तकके लिए राज्य दिया हुआ है। अब मैं क्या कर सकता हूँ ॥५९६॥ इसलिए हे देव, तुम जैसा उचित समझो, वैसा ही उपाय शीघ्र करो। प्रकाशमान सूर्यके लिए दीपक क्या दिखाया जाता है ॥५९७॥ तब शत्रुओंके जीतने वाले विष्णु मुनिराजने वामनका वेष धारण कर और यज्ञ-स्थानपर जाकर महान् उत्साहसे वेद-मंत्रोंका उच्चारण किया ॥५९८॥ तब उनके मंत्र-पाठसे अति हर्षित हुआ बलि उन्हें देखकर बोला—हे विप्र, तुझे जो रुचिकर लगता हो, वह अपनी इच्छासे मांग ॥५९९॥ तब वेद-वेदाङ्गका रहस्यज्ञाता वामन शीघ्र बोला—हे स्वच्छमते, मुझे हर्षसे तीन पद प्रमाण पृथ्वी दो ॥६००॥ तब लोगोंने वामनसे कहा—हे विद्वन्, कुछ अधिक मांग। वामनने कहा—बस मुझे उतनी ही भूमि पर्याप्त है। महात्माओंको लोभ नहीं होता है ॥६०१॥ बलिने कहा—मैंने तुझे हर्षसे तीन पद प्रमाण भूमि दी, तू उसे ग्रहण कर। तब हस्तमें जल ग्रहण कर कुटिलतासे उसने उसे ग्रहण कर लिया ॥६०२॥ 'हे पापिन्, तू इस पापका फल भोग' इस प्रकार कहते हुए उस वामन वेष धारक विष्णु मुनिराजने विक्रियालब्धिकी सामर्थ्यसे अपने पैरको फैलाया और पहिला पद तो देवगिरि (मेरु) पर रखा, दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर रखा और तीसरे

गङ्गा प्रक्षीणरङ्गास्तपन-शशि ... ता विमानाः
दिङ्नागाः कम्पिताङ्गा भयभरचलिता पर्वताः ... तोऽमी।
लेखा एतत्किमित्यारवमुखरमुखास्त्यक्तमुद्राः समुद्राः
इत्थं भू-स्वर्गलोकौ मुनिचरणवशात्क्षोभमाप्तौ तदानीम् ॥६०५

तदा सुराः समागत्य किञ्चिच्चकितमानसाः। बद्ध्वा बलिं मुनेर्विष्णोः पादद्वयमपूपुजन् ॥६०६
इत्थं शासनवात्सल्यकरणप्रवणो मुनिः। यतीनां जितकामानामु ... न्यवारयत् ॥६०७
चत्वारो मन्त्रिणस्तेऽपि नत्वा विष्णुं मुनीश्वरम्। जगृहुस्त्यक्तकौटिल्याः श्रावकव्रतमादरात् ॥६०८
विष्णुर्मुनिर्गुरोरन्ते जिनशासनवत्सलः। आगत्य विक्रियाशल्यमुज्जहौ जनितादरः ॥६०९
तपसा दुःकरेणासौ विघातं घाति ... णाम्। कृत्वा केवलमुत्पाद्य प्रपेदे पदमुत्तमम् ॥६१०

स सप्तशतयोगिनां परमयोगशुद्धात्मना-
मकम्पनतपस्विनां द्विजवरैः कृतपीडनम्।
निवार्य परमर्द्धितो निखिलकर्मसर्वङ्कषो
जगाम पदमव्ययं य इह सोऽस्तु विष्णुर्मुदे ॥६११

इति वात्सल्याङ्गे विष्णुकुमारकथा ॥७॥

उक्तं च— आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयते ... व।
दानतपो जिनपूजा विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥६१२

पैरको मनुष्य लोकमें अवकाश न पानेसे आकाशमें घुमाना प्रारम्भ किया ॥६०३-६०४॥ उस समय गंगानदीकी धारा प्रक्षीण हो गई, सूर्य-चन्द्रके विमान अपना अभिमान छोड़कर कांपने लगे, दिग्गज कम्पित शरीर वाले हो गये, भयके भारसे ये सभी पर्वत चलायमान हो गये, देवगण 'यह क्या हो रहा है' इस प्रकार मुखसे शब्दोच्चारण करने लगे और समुद्रोंने अपनी मुद्रा (मर्यादा) तोड़ दी अर्थात् उनका पानी द्वीपके भीतर आने लगा। इस प्रकारसे यह भूलोक और स्वर्गलोक मुनिके चरण-परिभ्रमणके वशसे उस समय महाक्षोभको प्राप्त हुए ॥६०५॥ तब कुछ चकित चित्त होते हुए देवोंने आकर और बलिको बांधकर विष्णु मुनिराजके दोनों चरणोंकी पूजा की ॥६०६॥ इस प्रकार जैन शासनके वात्सल्य करनेमें प्रवीण विष्णु मुनिने कामनाओंके जीतनेवाले मुनिराजोंके उपसर्गको निवारण किया ॥६०७॥

उस समय उन चारों मंत्रियोंने विष्णु मुनिराजको नमस्कार कर और अपनी कुटिलता छोड़कर आदरसे श्रावकके व्रतोंको ग्रहण किया ॥६०८॥ तत्पश्चात् जिन-शासन-वत्सल विष्णु मुनिने अपने गुरुके समीप आकर और लोगोंसे आदर पाकर विक्रियाशल्यका परित्याग किया, अर्थात् प्रायश्चित्त लिया ॥६०९॥ पश्चात् दुष्कर तपश्चरण करके घातिकर्मोंका विनाश कर और केवलज्ञानको उत्पन्न कर अन्तमें उत्तम मोक्ष पदको प्राप्त किया ॥६१०॥

परमयोगसे जिनकी आत्माएँ शुद्ध हैं, ऐसे अकम्पनाचार्यके सात सौ मुनियोंके बलि आदि ब्राह्मणोंके द्वारा किये गये उपसर्गको अपनी परम ऋद्धिसे निवारण कर पुनः सर्व कर्मोंका क्षय करके जो अव्यय पदको प्राप्त हुए, वे विष्णु भगवान् इस लोकमें सर्वजनोंके प्रमोदके लिए होवें ॥६११॥

यह वात्सल्य अंगमें विष्णु कुमार मुनिकी कथा है ॥७॥ अब प्रभावना अंगका वर्णन करते हैं। इसके विषयमें कहा गया है—रत्नत्रयके तेजसे सदा ही अपनी आत्माको प्रभावयुक्त करना चाहिए।

शास्त्र व्याख्या—विद्यानवद्यविज्ञानदानपूजाभिः । ऐहिकफलानपेक्षः शासनसद्भासनं कुर्यात् ॥६१३
भरतेन रतेन शासने जिनपूजादिभिरात्ततेजसा ।
धारणीप्रभुना प्रभावना वहुधाख्यत रावणेन च ॥६१४
उक्तं च— उर्मिलाया महादेव्याः पूति महीभुजः ।
स्यन्दनं भ्रामयामास मुनिर्वज्रकुमारकः ॥६१५
अस्य कथा— वलिनो वलराजस्य हस्तिनागपुरेशितुः ।
अभूत्पुरोधसामाद्यः पुरोधा गरुडाभिधः ॥६१६
तत्सुतः सोमवत्सौम्यः सोमदत्तः श्रियां निधिः । पपौ स वाङ्मयं वार्धिमगस्तिरिव दुस्तरम् ॥६१७
अहिच्छत्राभिधे गत्वा पुरे सोऽथ स्वमातुलम् । शिवभूर्ति लसद्भूर्ति प्रणम्येति व्यजिज्ञपत् ॥६१८
दुर्मुखस्य नृपस्यास्य दिदृक्षा मातुल । अतुलप्रतिभावार्धिमितो मां नय तत्सभाम् ॥६१९
गर्वपर्वतमारूढो मूढोऽयं भगिनीसुतः । गदित्वेति न भूपालदर्शनं रयत् ॥६२०
ततोऽसौ ग्रहिलो भूत्वा सभायां स्वयमागतः । वैरिका हीपालमाशिषा तोषमानयत् ॥६२१
नानाशास्त्रामृतैरेनं रञ्जयित्वा धराधवम् । स्वच्छन्दो लसदानन्दः प्राप मन्त्रिपदं द्विजः ॥६२२
तादृशं सम्पदं प्राप्य शास्त्राम्भोनिधिपारगः । तृणवद्गणयामास मातुलादीन् समन्ततः ॥६२३
शिवभूतेस्ततः पुण्यप्रसूतेर्मातुलस्य सः । यज्ञदत्तां सुतां सौम्ये मुहूर्त्ते परिणीतवान् ॥६२४

और दान, तप, पूजा एवं विद्याओंके अतिशयोंसे जिनधर्मकी प्रभावना करनी चाहिए ॥६१२॥

शास्त्रोंका अर्थ व्याख्यान करके, विद्या दान देकर, निर्दोष विशिष्ट ज्ञान उपार्जन कर, दान देकर और पूजा-प्रतिष्ठादिके द्वारा इस लोक सम्बन्धी फलकी अपेक्षा नहीं करता हुआ जैन शासनका सत्-प्रकाशन करे ॥६१३॥ जैन शासनमें निरत भरत चक्रवर्तीने चक्रका तेज प्राप्त कर पृथ्वीका स्वामी वनकर जिनपूजादिके द्वारा जैन शासनकी अनेक प्रकारसे प्रभावना की । इसी प्रकार रावणने भी अनेक प्रकारसे जैन शासनकी प्रभावना की ॥६१४॥

कहा भी है—श्री वज्रकुमार मुनिने पूतिक राजाकी महादेवी उर्मिलाका जैन रथ नगरमें घुमाया ॥६१५॥

इसकी कथा इस प्रकार है—हस्तिनापुरके वलशाली राजा वलराजके गरुड़ नामका एक पुरोहित था, जो कि सभी पुरोहितोंमें अग्रणी था ॥६१६॥ उसका पुत्र सोम (चन्द्र)के समान सौम्य, और लक्ष्मीका निधान सोमदत्त था । उसने अगस्त्य ऋषिके समान वाङ्मय रूप दुस्तर समुद्रको पी लिया था, अर्थात् वह शास्त्र-समुद्रका पारगामी था ॥६१७॥ वह किसी समय अहिछत्र नामके नगरमें गया और वहाँ विभूतिसे सुशोभित शिवभूति नामके अपने मामाको प्रणाम कर उनसे उसने यह प्रार्थना की ॥६१८॥ हे मामा, यहाँके दुर्मुख नामके राजाके दर्शन करनेकी मेरी इच्छा है इसलिए अनुपम प्रतिभाके सागरभूत मुझे उनकी राजसभामें ले चलो ॥६१९॥ यह मेरी वहिनका पुत्र गर्वके पर्वत पर आरूढ़ है, मूढ़ है, ऐसा कहकर उसने उसे राजाके दर्शन नहीं कराये ॥६२०॥ तव वह ग्रहिल होकर अर्थात् किसी उपाय विशेषसे स्वयं ही राज-सभामें जा पहुँचा और वैरियोंके लिए काल-स्वरूप राजाको उसने अपने आशीर्वादसे सन्तुष्ट किया ॥६२१॥ उसने अनेक शास्त्रोंके वचनामृतोंसे इस राजाका मन अनुरंजित करके उस स्वच्छन्द आनन्दको प्राप्त द्विजने मंत्रीका पद प्राप्त कर लिया ॥६२२॥ इस प्रकारकी सम्पदाको पाकर शास्त्र-समुद्रका पारगामी वह सोमदत्त अपने

यज्ञदत्ताभि सोमदत्तस्य मन्त्रिणः। ततस्तस्य पुमर्थेषु : प्रियोऽभवत् ॥६२५
वर्षाकालेऽन्यदा यज्ञदत्ताया गर्भसम्भवे। सहकारफले पक्वे समासीद्दोहदोदयः ॥६२६
तदान्वेष तेन सोमदत्तेन तः। न क्वाप्या लब्धं निर्भाग्येनेव काञ्चनम् ॥६२७
अन्यदा प्रस्फुरच्चिन्ता चान्तश्चेताः क्वचिद्वने। पचेलिमफलाकीर्णं सहकारं स दृष्टवान् ॥६२८
अधस्तात्तस्य योगस्थं सुमित्राख्यं मुनीश्वरम्। प्रभावोऽयमित्यज्ञासीद् द्विजोत्तमः ॥६२९
ततस्तानि समादाय नि सफलक्रियः। स्वसेवककरे मन्त्री प्रेषय स सत्वरम् ॥६३०
प्रेरितः काललब्ध्याऽथ सोमदत्तो द्विजोत्तमः। भक्तिप्रह्व नत्वा व्याजहार मुनीश्वरम् ॥६३१
अस्मिन्नसारे संसारे सारं किं मुनिसत्तम। मुनिरूचे दयाचिह्नं धर्मं श्रीजिनभाषितम् ॥६३२
स कथं क्रियते नाथ धर्मः कर्मनिवर्हणः। मह दिभेदेन मुनीन्द्रोऽप्युदचीचरत् ॥६३३
ततो वैराग्यमापन्नो भवभ्रमणशङ्कि । सुमित्रयतिनोऽभ्यर्णे जैनीं दीक्षामशिश्रियत् ॥६३४
सिद्धान्तागाधपाथोधिं निपीय गुरुसेवया। अ प्रस्फुरच्छृङ्गं प्रपेदे नाभिपर्वतम् ॥६३५
अनादिवासनालीनकर्मसन्तानशान्तये। तत्रातापनयोगेन स्थितवान्नौतनो मुनिः ॥६३६
तस्यातपवशाद्देहे निःसृताः स्वेदविन्दवः। निर्यातकर्मणां मन्ये रुदतामश्रुविप्रुषः ॥६३७
अथ रम्ये दिने स्वस्वस्थानस्थेषु ग्रहेषु च। यज्ञदत्ता लसत्कान्तिं तनयं सुषुवे सु ॥६३८

मामा आदिको सर्व प्रकारसे तृणके समान गिनने लगा ॥६२३॥ तव पुण्यके उदयसे उसने अपने शिवमूर्ति मामाकी लड़की यज्ञदत्ताको सौम्य मुहूर्तमें विवाहा ॥६२४॥ उस यज्ञदत्तामें आसक्त सोम-दत्त मंत्रीको सभी पुरुषार्थोंमें काम पुरुषार्थ अधिक प्रिय हुआ ॥६२५॥

यज्ञदत्ताके गर्भवती हो जानेपर किसी समय वर्षाकालमें उसे पक्व आम्रफल खानेका दोहला हुआ ॥६२६॥ तव उस सोमदत्तने सर्वत्र आम्रफलका अन्वेषण किया, परन्तु कहींपर भी आम्रफल नहीं मिला। जैसे कि अभागी मनुष्यको स्वर्ण नहीं मिलता है ॥६२७॥ जिसके मनमें चिन्ता बढ़ रही है, ऐसे उस सोमदत्तने किसी समय किसी वनमें पके हुए फलोंसे व्याप्त आमके वृक्षको देखा ॥६२८॥ उसके नीचे ध्यानस्थ सुमित्र नामके मुनीश्वरको देखकर उस द्विजोत्तमने जान लिया कि यह इनका प्रभाव है ॥६२९॥ तव सफल हो गया है प्रयत्न जिसका ऐसे उस मंत्रीने उस वृक्षके वहुतसे आम्रफल लेकर अपने सेवकके हाथ शीघ्र घर भिजवा दिये ॥६३०॥

इसके वाद काललब्धिसे प्रेरित हुआ वह द्विजोत्तम सोमदत्त भक्तिसे विनत होकर और मुनिराजको नमस्कार करके बोला—हे श्रेष्ठ मुनिराज, इस असार संसारमें सत् क्या वस्तु है? मुनिने कहा—श्री जिनभाषित दया चिह्नसे युक्त अहिंसा धर्म सार है ॥६३१-६३२॥ तव उसने फिर पूछा—हे नाथ, कर्मोंका नाशक वह धर्म किस प्रकारसे किया जाता है? मुनिराजने महाव्रतादिके भेदसे उसे धर्मका स्वरूप वताया ॥६३३॥ तव वैराग्यको प्राप्त होकर भव-भ्रमणसे भय-भीत होते हुए उसने उन सुमित्र यतीश्वरके समीप जिनदीक्षा धारण कर ली ॥६३४॥ गुरुकी सेवासे अगाध सिद्धान्त सागरको पीकर वह किसी एक दिन स्फुरायमान शिखर वाले नाभि पर्वतके ऊपर पहुँचा और अनादि कालीन वासनासे संचित कर्म-सन्तानकी शान्तिके लिए वह नवीन मुनि सूर्यके सम्मुख आतापन योगसे स्थित हो गया ॥६३५-६३६॥ सूर्यके आतापनके वशसे उसके शरीरसे प्रस्वेद विन्दु निकल आये। मैं ऐसा मानता हूँ कि शरीरके भीतरसे निकलते हुए रोते कर्मोंके मानों वे अश्रु-विन्दु ही हैं ॥६३७॥

अथानन्तर किसी रमणीय दिन जब सभी ग्रह अपने-अपने स्थानपर स्थित थे, उस समय

सेवकेभ्यः समाकर्ण्य भर्तृवृत्तान्तमादितः । शिवभूतिसुता गत्वा वान्धवेभ्यो न्यवेदयत् ॥६३९
ततस्तैः सा समं नाभिपर्वतेऽत्यन्तदुर्गमे । गत्वा भर्त्तारमालोक्य जज्वाल क्रोधवह्निना ॥६४०
ऊचे च पाप ते दीक्षा यद्यभोष्टार्थसिद्धये । तन्मां कथं विवाह्य मामवस्थां नीतवानसि ॥६४१
त्वया जातोऽस्ति यः पुत्रो विधेह्य तस्य पालनम् । इत्युक्त्वा तत्पदाग्रे तं घृत्वा सा स्वपदं ययौ ॥६४२
अथामरावतीनाथो विजितारातिसन्ततिः । आसीद्दिवाकरो नाम्ना विद्याधरमहीपतिः ॥६४३
पुरन्दरेण तद्-भ्रात्रा लघुना गर्वशालिना । अन्यदा युधि निर्जित्य राज्याज्ज्येष्ठो निराकृतः ॥६४४
सोऽपि राज्याच्च्युतो भार्यायुतो दुःखितमानसः । नभोयाने समारुह्य तीर्थयात्रामचीकरत् ॥६४५
पर्यटन्नन्यदा व्योम्नि गतवान्नाभिपर्वतम् । दृष्ट्वा तत्र मुनिं ध्यानस्थितं नौति स्म खेचरः ॥६४६
तत्पुरः प्रस्फुरद्वक्त्रं पङ्कजायतलोचनम् । रसालं वालमालोक्य खगोऽत्यर्थं विसिष्मिये ॥६४७
जगादाह्लादसंयुक्तः कान्तामिति खगेश्वरः । पुण्यपरीपाकाद् गृहाणेमं तनूदरि ॥६४८
ततः प्रियतमादेशात् कराभ्यां सा तमग्रहीत् । ननूत्तमकुलोत्पन्नाः स्वभर्तृवशगाः स्त्रियः ॥६४९
दिचिह्नसंयुक्तौ करावालोक्य खेचरः । वज्रकुमारोऽयमिति नाम मुदाऽकरोत् ॥६५०
भूयाः खेचरभूमीन्द्रशिरोरत्नं सुत द्रुतम् । इत्युक्त्वा तं गृहीत्वाऽऽशु दम्पती स्वपदं गतौ ॥६५१
वालः कृत्रिमवन्धूनां पर्यङ्कपरिखेलनैः । ातिक्रान्तवान्नूनं वत्सरान् दिनलीलया ॥६५२

यज्ञदत्ताने कान्तिसे शोभित पुत्रको सुख पूर्वक उत्पन्न किया ॥६३८॥ जब शिवभूतिकी पुत्री यज्ञदत्ताने सेवकोंसे अपने भर्तारका वृत्तान्त आदिसे सुना तो उसने अपने बन्धुजनोंसे जाकर निवेदन किया ॥६३९॥ तत्पश्चात् उन वन्धुजनोंके साथ वह अत्यन्त दुर्गम नाभिपर्वतके ऊपर जाकर और भर्तारको मुनिवेषमें देखकर क्रोधाग्निसे जल उठी ॥६४०॥ वह वोली—हे पापिन्, यदि तुझे अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिए दीक्षा अभीष्ट थी, तो मुझे विवाह कर इस अवस्थाको क्यों प्राप्त कराया ॥६४१॥ तेरे द्वारा जो यह पुत्र उत्पन्न किया गया है, इसका अब पालन कर। ऐसा कह कर और उनके पैरोंके आगे उस बालकको रखकर वह अपने घर चली गई ॥६४२॥

अथानन्तर शत्रुओंकी परम्पराको जीतनेवाला अमरावती नगरीका स्वामी दिवाकर नामका विद्याधरोंका राजा था ॥६४३॥ किसी समय गर्वशाली पुरन्दर नामक उसके लघु भ्राताने युद्धमें उसे जीतकर राज्यसे ज्येष्ठ भ्राताको निकाल दिया ॥६४४॥ राज्यसे च्युत हुआ वह दिवाकर विद्याधर दुःखित चित्त हो अपनी स्त्रीके साथ नभोयान (विमान) में वैठकर तीर्थयात्रा करने लगा ॥६४५॥ किसी एक दिन आकाशमें विहार करते हुए वह नाभि पर्वतपर गया और वहाँपर ध्यानस्थित मुनिराजको देखकर उस विद्याधरने उन्हें नमस्कार किया ॥६४६॥ मुनिके आगे प्रसन्न मुख वाले और कमलके सदृश विशाल नेत्रोंके धारक सुन्दर वालकको देखकर वह विद्याधर अत्यन्त विस्मयको प्राप्त हुआ ॥६४७॥ तव आनन्दसे युक्त होकर उस विद्याधरने अपनी प्रियासे कहा—हे कृशोदरि, पुण्यके परिपाकसे प्राप्त इस पुत्रको ग्रहण कर ॥६४८॥ तब अपने प्रियतमके आदेशसे उसने दोनों हाथोंसे उसे उठा लिया। निश्चय ही उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई स्त्रियाँ अपने पतिकी इच्छानुवर्तिनी होती हैं ॥६४९॥ वज्र आदि चिन्होंसे युक्त हाथोंको देखकर उस विद्याधरने अति हर्ष पूर्वक उसका 'वज्रकुमार' यह नाम रख दिया ॥६५०॥ पुनः हे पुत्र, तू शीघ्र ही विद्याधरों, भूमिगोचरी राजाओंका शिरोमणि रत्न हो, ऐसा कहकर और उसे लेकर वे दम्पति अपने स्थानको चले गये ॥६५१॥ उनके घरपर वालक वज्रकुमारने कृत्रिम वन्धुओंकी गोदमें खेलते-

कनकद्रङ्गभूमीशो नाम्ना विमलवाहनः । : पाठितवान् विद्यां शिशुं कृत्रिममातुलः ॥६५३
अध्यगीष्ट तथा बालः स विद्यां निरवद्यधीः । यथा विस्मयमापन्नाः सर्वे ते खचराधिपाः ॥६५४
ह्रीमन्तं पर्वतं वज्रकुमारः सोऽन्यदा : । साधयन्तीं महाविद्यामेकां नारीं निरैक्षत ॥६५५
वातकम्पितकर्कन्धुकण्टकाक्रान्तलोचना । सा स्वान्तं न स्थिरीकर्तुं शशाक निजसिद्धये ॥६५६
इयतापि प्रयत्नेन यद्विद्याऽस्या न सिद्धयति । तदत्र कारणं किञ्चिदित्युक्त्वा तत्पुरोऽगमत् ॥६५७
ज्ञात्वा वज्रकुमारोऽसौ विचक्षणशिरोमणिः । नेत्राद्विज्ञानतस्तीक्ष्णं कण्टकं तमपाच्छिदत् ॥६५८
सिद्धविद्याप्रमोद । ततः खेचरनन्दिनी । कुमाराभ्यर्णमागत्य जगाद मधुरां गिरम् ॥६५९
राज्ञो गारुडवेगस्य वैरिवारनिवारिणः । अङ्गवत्या लसत्कुक्षिशुक्तिमुक्ता लसत्प्रभा ॥६६०
अहं पवनवेगाख्या विद्यामन्त्रविशारदा । अभूवं त्वत्प्रसादेन सिद्धविद्या नरोत्तम ॥६६१
अतस्त्वत्तः परं मर्त्यं नाथं नो कर्त्तुमुत्सहे । राजहंसं परित्याज्य हंसी किं वा वकं श्रयेत् ॥६६२
ततो गरुडवेगेन तत्पित्रा तां निवेदिताम् । महोत्सवशतैरेषः कुमारः परिणीतवान् ॥६६३
अथासौ निजपत्नीतो लब्ध्वा विद्यां गरीयसीम् । ससैन्यः सहितः पित्रा गतवानमरावतीम् ॥६६४
पुरन्दरं कृतारातिदरं जित्वा रणाङ्गणे । पितरं स्थापयामास सुतो राज्ये महीयसि ॥६६५

क्रीड़ा करते हुए पांच वर्षोंको पाँच दिनकी लीलाके समान बिता दिया ॥६५२॥ तत्पश्चात् कनकपुरका स्वामी राजा विमलवाहन जो कि दिवाकर विद्याधरका साला और वज्रकुमारका कृत्रिम मामा था, उसने इस वज्रकुमार बालकको विद्या पढायी । निर्दोष-वुद्धिवाले उस बालकने विद्या इस प्रकार शीघ्रतासे पढ़ ली कि जिससे सभी विद्याधरोंके स्वामी विस्मयको प्राप्त हुए ॥६५३-६५४॥

किसी एक दिन वज्रकुमार ह्रीमन्त पर्वतपर परिभ्रमणके लिए गया । वहाँपर उसने महाविद्याको सिद्ध करती हुई एक स्त्रीको देखा ॥ ५५॥ वायुके वेगसे कँपती हुई वेरीके काँटोंसे व्याप्त लोचन वाली वह अपना मन अपनी विद्या सिद्ध करनेके लिए स्थिर कर सकनेमें समर्थ नहीं हो पा रही थी ॥६५६॥ 'इतने प्रयत्नसे भी इसके विद्या सिद्ध नहीं हो रही है, तो इसमें कुछ कारण होना चाहिए' ऐसा मनमें विचार कर वह वज्रकुमार उसके आगे गया ॥६५७॥ बुद्धिमानोंमें शिरोमणि उस वज्रकुमारने उसकी आँखोंमें लगे हुए काँटेको देख लिया और बड़ी कुशलतासे उस तीक्ष्ण काँटेको उसकी आँखसे निकाल दिया ॥६५८॥ (काँटा निकल जानेसे उसका चंचल मन शान्त और एकाग्र हो गया, अतः उसे विद्या तत्काल सिद्ध हो गई ।) तब विद्याकी सिद्धिसे प्रमोदको प्राप्त उस विद्याधरकी पुत्रीने कुमारके समीप आकर इस प्रकारसे मधुर वाणीमें कहा—वैरियोंके वारोंके निवारण करने वाले गरुडवेग राजाकी अंगवती रानीकी शोभासम्पन्न कुक्षिरूपी शक्तिसे उत्पन्न प्रभायुक्त मुक्ताके समान मैं पवनवेगा नामकी पुत्री हूँ और मंत्र विद्यामें विशारद हूँ । हे नरोत्तम, आपके प्रसादसे मैं सिद्धविद्या वाली हूँ ॥६५९-६६१॥ अतएव आपके सिवाय मैं अन्य मनुष्यको अपना नाथ (पति) बनानेके लिए उत्साहित नहीं हूँ । क्या राजहंसी राजहंसको छोड़कर बकका आश्रय ले सकती है ? कभी नहीं ॥६६२॥ तब उसके पिता गरुड़वेगके द्वारा प्रदान की गई उस पवनवेगाको भारी महोत्सवके साथ इस वज्रकुमारने विवाह लिया ॥६६३॥

अथानन्तर वह वज्रकुमार अपनी पत्नीसे गौरवमयी विद्याको पाकरके सैन्य-सहित पिताके साथ अमरावती नगरी गया ॥६६४॥ वहाँपर शत्रुओंको भय पैदा करने वाले पुरन्दरको समराङ्गणमें जीतकर इस वज्रकुमार पुत्रने बड़े भारी राज्यपर अपने पिताको स्थापित किया ॥६६५॥

ग्रैष्मो रविरिव प्राप सप्रतापं यथा यथा । मम्ले तथा तथात्यन्तमरातिकुमुदाकरः ॥६६६
अथैतस्मिन्महीभर्तुर्मानं दृष्ट्वा निजे सुते । अपमानं जयश्रीः सा चुकोप नृपतिप्रिया ॥६६७
जातोऽन्येन दुरात्माऽयमन्यं सन्तापयत्यलम् । इत्याख्यानं मुखान्मातुरश्रौषीत्स विचक्षणः ॥६६८
ततो दुःखोपतापोष्मा वान्तस्वान्तो महीपतिम् । गत्वाऽभणीदहं तात सुतः कस्य प्रकाशय ॥६६९
पुत्र पुत्र किमत्राद्य मतिभ्रंशस्तवाभवत् । यदेवं भाषसेऽस्माकं कर्णशूलकरं वचः ॥६७०
कथयिष्यसि चेत्सत्यं तात वृत्तान्तमादितः । भविष्यति तदा नूनं प्रवृत्तिर्मम भोजने ॥६७१
दुराग्रहग्रस्तं कुमारं मारसन्निभम् । विज्ञाय न्यायविद्भूपस्तत्स्वरूपं न्यरूपयत् ॥६७२
श्रुत्वा वज्रकुमारोऽयं बाष्पाविलविलोचनः । किञ्चिदुद्विग्नचित्तोऽभूद्दैवं निन्दन्मुहुर्मुहुः ॥६७३
अतो विमानमारुह्य बन्धुपित्रादिभिः समम् । गुरुं नन्तुमना वेगात्प्रतस्थे मथुरां पुरीम् ॥६७४
तत्रत्यैरपि सङ्गत्य बान्धवैः स्नेहबन्धुरैः । सोमदत्तं गुरुं ननामादरतः सुतः ॥६७५
नतिं कृत्वा निविष्टेषु बान्धवेषु यथायथम् । राजा दिवाकरः पूर्वं तां तामचकथत्कथाम् ॥६७६
श्रुत्वा स्पष्टमभाषिष्ट कुमारो मारसुन्दरः । आज्ञापय द्रुतं तपोऽनुचरणाय माम् ॥६७७
प्रत्यूचेऽथ महीपालो मैवं वोचः कलानिधे । त्वत्सहायात्तपोऽस्माकं कर्त्तुं युक्तं न ते पुनः ॥६७८
समुल्लङ्घ्य पितुर्वाक्यं संसारभय रः । पादमूले गुरोः स्वस्य तपश्चरणमाददे ॥६७९

ग्रीष्म-कालीन सूर्यके समान जैसे जैसे वह प्रतापको प्राप्त होता गया, वैसे वैसे ही शत्रुरूपी कुमुदोंका वन अत्यन्त म्लान होता गया ॥६६६॥

इसके पश्चात् राजाका इस वज्रकुमारपर बहुमान और अपने सगे पुत्रपर अपमान देखकर दिवाकर राजाकी रानी जयश्री (जिसने कि इसे लाकर पाला था) क्रुद्ध रहने लगी ॥६६७॥ एक दिन वह ईर्ष्यासे कह रही थी कि 'अन्यके द्वारा उत्पन्न हुआ यह दुष्टात्मा दूसरेको अति सन्ताप पहुँचा रहा है'। इस प्रकार माताके मुखसे उस बुद्धिमान्ने यह कथन सुन लिया ॥६६८॥ तब दुःखके सन्तापसे अति सन्तप्त चित्त होकर वज्रकुमारने पिता दिवाकर राजाके पास जाकर कहा—हे तात, मैं किसका पुत्र हूँ, सत्य बात बताइये ॥६६९॥ तब राजाने कहा—हे पुत्र, हे वत्स, आज तुझे यह क्या बुद्धि-भ्रम हो गया है, जो हमारे कानोंको शूलके समान चुभने वाले ऐसे वचन बोलते हो ॥६७०॥ तब वज्रकुमार बोला—हे तात, यदि प्रारम्भसे लेकर सारा वृत्तान्त आप सत्य कहेंगे तो मेरी भोजनमें प्रवृत्ति होगी। (अन्यथा भोजन नहीं करूँगा) ॥६७१॥ कुमारको इस प्रकारके दुराग्रहरूप ग्रहसे ग्रस्त और दुःख भारसे पीड़ित जानकर न्याय नीतिके जानकार राजाने उससे सारा पूर्व वृत्तान्त कह दिया ॥६७२॥ सुनकर यह वज्रकुमार अश्रु व्याप्त नेत्र वाला हो कुछ उद्विग्न चित्त हो गया और बार-बार भाग्यकी निन्दा करने लगा ॥६७३॥

अथानन्तर वह विमानमें बैठकर पिता और बन्धु आदिके साथ अपने पिता और वर्तमानमें गुरुको नमस्कार करनेकी मनसासे मथुरा पुरीको वेगसे प्रस्थान कर दिया ॥६७४॥ वहाँके स्नेही बन्धु-बान्धवोंके साथ जाकर वज्रकुमार पुत्रने अपने पिता सोमदत्त गुरुको नमस्कार किया ॥६७५॥ नमस्कार करके यथास्थान सर्व बन्धु-बान्धवोंके बैठ जानेपर राजा दिवाकरने पहिले वह सारी कथा कही ॥६७६॥ सारी कथा सुनकर कामदेवके समान सुन्दर वज्रकुमारने कहा—हे तात, तपश्चरण करनेके लिए मुझे शीघ्र आज्ञा दीजिये ॥६७७॥ तब दिवाकर राजाने उत्तरमें कहा—हे कला-निधान, ऐसा मत कहो। तेरी सहायतासे हमारा तपश्चरण करना योग्य है, किन्तु तेरा नहीं ॥६७८॥ पिताके इन वचनोंका उल्लंघन करके संसारके भयसे डरे हुए उस वज्रकुमारने अपने

यथा यथा तपोवह्निरुल्ललास महात्मनः । तथा तथा कुकर्माणि नाशमीयुर्भयादिव ॥६८०
मथुरायामथैतस्यां नगर्यामार्यवर्णितः । पूतिगन्धाभिधो बन्धुजीवातुर्धरणीधवः ॥६८१
शुद्धसम्यक्त्वसंयुक्ता श्रीजिनशासने । सतीमतल्लिकोर्विल्ला प्रियात्यर्थं महीपतेः ॥६८२
राज्ञी नन्दीश्वरस्याथ दिनेषु प्रतिवासरम् । जिनेन्द्ररथयात्राभिः पुष्णाति स्म मनोरथम् ॥६८३
आसीत्तस्यां पुरि स्फारप्रभो भूरिसभोचितः । पतिः समुद्रदत्तायाः श्रेष्ठी सागरदत्तभाक् ॥६८४
यदा पुत्री दरिद्राख्या दरिद्रोन्निद्रमानसा । समुत्पन्ना तदैवासौ परासुर्वाणिजोऽभवत् ॥६८५
निःसृताः सदनाच्छोभाः सह लक्ष्म्या च बान्धवाः । यथुर्देशान्तरं पुण्यक्षयात्किं वा न जायते ॥६८६
या श्रेष्ठिभामिनी लक्ष्म्या तृणीकृतजगत्त्रया । स्वोदरापूरणं चक्रं साप्यन्यगृहकर्मभिः ॥६८७
परोच्छिष्टानि सिक्थानि भक्षयन्ती मलाविला । विवस्त्रा धरणीरेणुधूसरीभूतमूर्धजा ॥६८८
उल्लसन्मक्षिकालक्षभक्ष्यमाणव्रणाकुला । दरिद्रात्यन्तदुःखानि प्रपेदे पापपाकतः ॥६८९
अन्यदा नन्दनो ज्येष्ठः कनीयानभिनन्दनः । मुनी मध्याह्नवेलायामाहारार्थमुपागतौ ॥६९०
तां निरीक्ष्य लघुर्भिक्षुरूचे किञ्चिच्छुचाञ्चितः । दैवात्कथमियं बाला दुःखान्यनुभवत्यरम् ॥६९१
अभाषिष्ट ततो ज्येष्ठो मुनिर्बोधिविलोचनः । भाविनीयं नृ वल्लभात्यन्तवल्लभा ॥६९२
तस्मिन्नेव क्षणे भिक्षानिमित्तं पर्यटन्नयम् । वन्दको बुद्धधर्माख्यः शुश्राव श्रमणोदितम् ॥६९३

गुरुके पादमूलमें तपश्चरण ग्रहण कर लिया ॥६७९॥ जैसे-जैसे उस महात्माके तपरूपी अग्नि उल्लसित हुई, वैसे-वैसे ही खोटे कर्म मानों भयसे ही नाशको प्राप्त हो गये ॥६८०॥

अथानन्तर इसी मथुरा नगरीमें पूतिगगध नामक बन्धुजनोंको जीवन प्रदान करने वाला राजा था ॥६८१॥ उस राजाकी अत्यन्त प्यारी, शुद्ध सम्यक्त्वसे संयुक्त श्री जिनशासनकी भक्त और सतियोंमें शिरोमणि उर्मिला नामकी रानी थी ॥६८२॥ वह रानी नन्दीश्वर पर्वके आठों ही दिनोंमें प्रतिदिन जिनेन्द्र देवकी रथ यात्रा निकालकर अपने मनोरथको पुष्ट करती ॥६८३॥ उसी नगरीमें भारी प्रभावशाली, अनेक सभाओंमें उचित स्थानको प्राप्त समुद्रदत्ता सेठानीका पति सागरदत्त नामका एक सेठ रहता था ॥६८४॥ उसके यहाँ जब दरिद्रा नामकी दरिद्रतासे युक्त चित्तवाली पुत्री उत्पन्न हुई, तभी वह सेठ मरणको प्राप्त हो गया ॥६८५॥ उसके मरते ही लक्ष्मीके साथ सारी शोभा घरसे निकल गई और बन्धु-बान्धव और जन भी बाहर चले गये। ग्रन्थकार कहते हैं कि पुण्य क्षय हो जानेपर क्या नहीं हो जाता है? सभी कुछ हो जाता है ॥६८६॥ जो सेठकी स्त्री अपनी लक्ष्मीसे तीन जगत्को तृणके समान तुच्छ समझती थी, वह भी दूसरोंके घरमें काम-काज करके अपना उदर-पूरण करने लगी ॥६८७॥ उस सेठकी जो दरिद्रा पुत्री उत्पन्न हुई थी वह दूसरोंके जूठे अन्नको खाती हुई मलसे व्याप्त, वस्त्र रहित, भूमिकी धूलिसे धूसरित केशवाली होकर जिस किसी प्रकार दिन विताने लगी। उसके शरीरमें फोड़े-फुंसियोंके घावोंपर लाखों मक्खियाँ भिनभिनाती हुई उसे काटती और खाती रहती थीं, जिससे वह सदा भारी आकुल-व्याकुल रहती थी। इस प्रकार पूर्व पापके परिपाकसे वह अत्यन्त दुःखोंको भोगने लगी ॥६८८-६८९॥

किसी एक दिन नन्दन नामके ज्येष्ठ और अभिनन्दन नामके कनिष्ठ दो मुनि मध्याह्नके समय आहारके लिए नगरमें आये ॥६९०॥ उस दरिद्राको उक्त अवस्थामें अति दुःखी देखकर कुछ शोक-युक्त होते हुए लघु मुनिने बड़े मुनिसे कहा—दैवसे प्रेरित यह कन्या किस प्रकारसे अत्यन्त दुःखोंको भोग रही है ॥६९१॥ तब ज्ञानलोचन वाले ज्येष्ठ मुनिने कहा—यह यहींके राजाकी अत्यन्त प्यारी रानी होगी ॥६९२॥ उसी समय भिक्षाके लिए नगरमें परिभ्रमण करते हुए धर्म-

भाविनी नृपतेः पत्नी नान्यथा मुनि-भाषितम् । तदहं पालयाम्येनां बौद्धधर्माभिवृद्धये ॥६९४
ततस्तन्मातरं तां च नीत्वा स्ववसतिं व्रती । पोषयामास मिष्टान्नपानैः कालोचितैः स्वयम् ॥६९५
अतुच्छैस्तस्य वात्सल्यैः सुखाढ्या सा वणिक्सुता । त्यक्त्वा बाल्यमथ प्राप यौवनं जनमोहनम् ॥६९६
मन्ये तारुण्यमादाय विधिरेनां विनिर्ममे । जराकंप्रस्य वैचित्र्यमन्यथा कथमीदृशम् ॥६९७
निर्गतोऽथ वसन्ततौं क्रीडार्थं सपरिच्छदः । दोलाकेलिरतामेतामद्राक्षीद् धरणीधवः ॥६९८
किमियं देवता काचित् किं वा पातालकामिनी । किं वा तिलोत्तमा शोभां मत्पुरे द्रष्टुमागता ॥६९९
मत्तमातङ्गगामिन्या कामिन्या सममेतया । वनवासो वरं राज्यमूर्जितं नैतया विना ॥७००
कन्दर्पः प्रस्फुरद्दर्पो बाणैः प्राणहरैरमुम् । विव्याधावसरं प्राप्य विमुह्यति न धीरधीः ॥७०१
इत्थं काममहाव्यालविषानलकरालितः । गत्वा वेश्मनि पल्यङ्के निपत्य स्थितवान् नृपः ॥७०२
जलार्द्रचन्दनं चन्द्रः कदलीनां दलानि च । नाभवन् विरहार्तस्य नरेन्द्रस्य सुखाप्तये ॥७०३
ततः क्षोणिभुजो वृत्तं सम्यग्विज्ञाय मन्त्रिणः । अभ्येत्य सदनं प्रोचुः वन्दकं परमादरात् ॥७०४
देव धन्यस्त्वमेवाद्य धुर्यस्त्वं पुण्यशालिनाम् । भगनीपुत्र्या वरो भावी यस्य पूतिगन्धो मुखो नृपः॥७०५
भागिनेयीमिमां दत्वा राज्ञे सौन्दर्यशालिनीम् । पतिर्भव समस्तानामासां लोकोत्तरश्रियाम् ॥७०६
अभ्यधाच्च ततः सोऽपि मामकं धर्ममादरात् । गृह्णाति चेद् धराधीशस्तदाऽहं प्रददे सुताम् ॥७०७

नामके बुद्धधर्मी साधुने उन मुनिके उक्त कथनको सुन लिया ॥६९३॥ 'यह राजाकी रानी होगी' यह मुनिका कथन अन्यथा नहीं हो सकता । अतः बौद्ध धर्मकी अभिवृद्धिके लिए मैं इसका पालन करूँगा ॥६९४॥ तब वह बौद्धव्रती साधु उसकी माताको और उस लड़कीको अपनी वसतिकापर ले जाकर समयके अनुकूल उचित मिष्ट अन्न-पानसे उसका पालन-पोषण करने लगा ॥६९५॥ उस बौद्ध साधुके भारी वात्सल्यसे सुख पूर्वक पालन की जाती हुई वह वणिक्-पुत्री कुछ दिनोंमें वालभावको छोड़कर जन-मनमोहन यौवन अवस्थाको प्राप्त हुई ॥६९६॥ विधिने तारुण्य अवस्थाको लेकर ही इस बालाको बनाया है । ऐसा मैं मानता हूँ । अन्यथा जरासे कम्पित उस विधिकी ऐसी विचित्रता कैसे संभव थी ॥६९७॥

अथानन्तर वसन्त ऋतुमें वन-क्रीड़ाके लिए राजा अपने दल-बलके साथ निकला और मार्गमें दोला केलिमें निरत इस युवती बालाको उसने देखा ॥६९८॥ देखते ही वह सोचने लगा-क्या यह कोई देवता है, या पातालवासिनी कामिनी है, अथवा तिलोत्तमा है, जो मेरे इस नगरकी शोभा देखनेको आई है ॥६९९॥ मत्त गजगामिनी इस कामिनीके साथ वनमें निवास करना अच्छा है, किन्तु इसके विना यह विशाल राज्य सुख अच्छा नहीं है ॥७००॥ स्फुरायमान है दर्प जिसका ऐसे कामदेवने प्राणोंको हरण करने वाले अपने बाणोंसे इस राजाको वेधित कर दिया । बुद्धिमान् धीर वीर पुरुष अवसर पाकर विमोहित नहीं होता है; अर्थात् अपना कार्य करनेसे नहीं चूकता है ॥७०१॥ इस प्रकार कामरूपी महानागके विषरूप अग्निसे प्रज्वलित वह राज-भवन जाकर पलंगपर गिरकर लेट गया ॥७०२॥ जलसे घिसा हुआ चन्दन, चन्द्रमा और केलेके पत्र भी उस विरह-पीड़ित राजाको सुख-प्राप्तिके लिए समर्थ नहीं हुए ॥७०३॥ तब मंत्री गण राजाके इस वृत्तान्तको सम्यक् प्रकारसे जानकर वन्दकके निवासपर जाकर परम आदरसे इस प्रकार बोले—हे देव, आप धन्य हैं, आज आप पुण्यशाली जनोंके अग्रणी हैं कि जिसकी बहिनकी पुत्रीका पूतिगन्ध नामक राजा वर होने वाला है ॥७०४-७०५॥ इसलिए इस सौन्दर्यशालिनी अपनी भानजीको राजाके लिए देकर इन समस्त लोकोत्तर लक्ष्मियोंके स्वामी होइए ॥७०६॥ तब वह

श्रुत्वेति मन्त्रिणो वक्त्रात्पार्थिवः प्रतिपद्यताम् । किं वानाचारमत्युच्चैः लोभयुक्ता न कुर्वते ॥७०८
दिने रम्ये शुभे लग्ने वन्दकेन निवेदिताम् । अथ तां प्रस्फुरद्रूपां परिणिन्ये महीपतिः ॥७०९
तथागतोदितस्फारधर्मकर्मविशारदा । बुद्धदासीति सा नाम्ना भुवि विख्यातिमुपेयुषी ॥७१०
या पुराऽऽसीज्जगन्निन्द्या सापि राज्ञीशिरोमणिः । अहो लोकोत्तरं धर्ममाहात्म्यं भुवनत्रये ॥७११
अथासौ फाल्गुने मासि भूपालप्रथमप्रिया । नन्दीश्वरलसत्पर्वपूजां कर्तुं समुद्यता ॥७१२
उल्लसत्किङ्किणीक्वाणवधिरीकृतदिग्मुखम् । मणिजालप्रभाध्वस्तध्वान्तं स्वर्णविनिर्मितम् ॥७१३
सनाथं जिनबिम्बेन विमानप्रतिमं रथम् । उर्व्विलायाः समालोक्य बुद्धदासी विसिष्मिये ॥७१४
मम बुद्धरथः पूर्वं नो चेद् भ्रमति पत्तने । तदा मन्मातुलस्यास्य दुःखं भवति निश्चितम् ॥७१५
विचिन्त्येति महीपालमूचे स्नेहाद्विचक्षणा । मम बुद्धरथः पूर्वं नाथ भ्रमतु पत्तने ॥७१६
एवमस्त्विति सा नाथवाक्यतो मुमुदे तमाम् । उर्व्विला च मषीलिप्तमुखी तत्क्षणतोऽभवत् ॥७१७
जिनेन्द्रमतमाहात्म्यं विनाशं किमु यास्यति । किं वा मेऽद्य समायाता क्षतिः सद्धर्मकर्मणः ॥७१८
इतीयं प्रस्फुरच्चिन्ताचयचक्रेण चालिता । क्षत्रियाख्यां गुहामाप राज्ञी दीनमुखाम्बुजा ॥७१९
सोमदत्तं गुणोदात्तं नमस्कृत्य गुरुं पुरा । ततो वज्रकुमारं सा ननाम मुनिमादरात् ॥७२०
आपद्-व्याप्तजगत्तापनिर्वापणघनाघन । घनध्वान्तहर स्वामिंस्त्वमेव शरणं मम ॥७२१

वन्दक साधु बोला—यदि राजा आदरके साथ मेरे धर्मको ग्रहण करे तो मैं पुत्री देता हूँ ॥७०७॥ मंत्रीके मुखसे यह बात सुनकर राजाने उसे स्वीकार कर लिया। लोभसे युक्त पुरुष किस बड़े भारी अनाचारको नहीं करते हैं ? सभी कुछ करते हैं ॥७०८॥

अथानन्तर उत्तम सुरम्य दिनमें शुभ लग्नके समय वन्दकके द्वारा प्रदान की गई रूप सौन्दर्यशालिनी उस वणिक्सुताको राजाने वरण लिया ॥७०९॥ वुद्ध-प्रतिपादित प्रस्फुरित धर्म-कर्ममें विशारद वह रानी संसारमें बुद्धदासीके नामसे प्रसिद्धिको प्राप्त हुई ॥७१०॥ जो पहिले इसी जन्ममें लोक-निन्दित थी, वह आज रानियोंमें शिरोमणि हो गई। अहो तीन भुवनमें धर्मका माहात्म्य लोकोत्तर है ॥७११॥

इसके पश्चात् राजाकी पहिलि रानी उर्विला फाल्गुन मासमें नन्दीश्वर पर्वकी उत्तम पूजा करनेके लिए उद्यत हुई ॥७१२॥ उसने जिन यात्राके लिए जो रथ तैयार कराया, वह चमकती हुई घण्टियोंके शब्दसे दिग्मुखोंको बधिर कर रहा था, मणियोंके समूहकी प्रभामें अन्धकारका विध्वंस करने वाला था, सुवर्णसे बना था और देव विमानोंके समान सुन्दर और जिनेन्द्रदेवके बिम्बसे युक्त था। उर्विलाके ऐसे अनुपम रथको देखकर बुद्धदासी विस्मयको प्राप्त हुई ॥७१३-७१४॥ यदि मेरे बुद्धदेवका रथ नगरमें परिभ्रमण नहीं करेगा, तो इससे मेरे मामाको निश्चित रूपसे दुःख होगा। ऐसा विचार कर उस विलक्षण बुद्धिवाली बुद्धदासीने राजासे स्नेहके साथ कहा—हे नाथ, मेरा बुद्धरथ नगरमें पहिले परिभ्रमण करे ॥७१५-७१६॥ राजाने कहा—'ऐसा ही होगा'। पतिके ऐसे वचन सुनकर वह अत्यन्त प्रमोदको प्राप्त हुई। किन्तु उर्विला यह सुनकर तत्काल स्याहीसे पुते हुए मुख जैसी हो गई ॥७१७॥ वह सोचने लगी—क्या अब जिनेन्द्र देवके मतका विनाश हो गया ? ॥७१८॥ इस प्रकार बढ़ती हुई चिन्तासमूहके चक्रसे चलायमान होती हुई दीन मुखकमल वाली वह उर्विला रानी क्षत्रिय नाम वाली गुफाको प्राप्त हुई ॥७१९॥ वहाँपर विराजमान उदात्त गुण वाले सोमदत्त गुरुको आदरसे पहिले नमस्कार करके पुनः उसने वज्र-कुमारमुनिको नमस्कार किया ॥७२०॥ उसने स्तुति करते हुए कहा—हे आपद्-व्याप्त जगत्के

इत्थं स्तुत्य मुनीशानं विविधर्धिविराजितम् । पराभवं निजं राज्ञी व्याहरत्सर्वमादितः ॥७२२
मा कृथास्त्वं वृथा शोकं करिष्यामि तवेप्सितम् । इत्युक्त्वा लब्धिसामर्थ्यात्स ययावमरावतीम् ॥७२३
तदागममथाकर्ण्य सर्वे विद्याधरेश्वराः । सादरं मुनिनाथस्य प्रणेमुः पादपङ्कजम् ॥७२४
धर्मोपदेशपीयूषैः पोषयित्वा खगान् यतिः । परोपकारव्यापारकरणप्रवणो जगौ ॥७२५
ये कुर्वन्ति स्वयं भक्त्या कारयन्ति च ये नराः । जिनप्रभावनां तेषां धन्यं जन्म च जीवितम् ॥७२६
अतो गत्वा वितन्वन्तु मथुरायां पुरि द्रुतम् । जिनप्रभावनां राज्या उर्व्विलायाः सुखाप्तये ॥७२७
तस्यादेशात्समागत्य मथुरायां खगेश्वराः । कोपाद्बुद्धरथं भङ्क्त्वा चक्रुर्जिनरथोत्सवम् ॥७२८
वाद्यमानेषु वाद्येषु नृत्यन्तीष्वङ्गनासु च । स्तुवत्सु भट्टवृन्देषु चारणेषु पठत्स्वपि ॥७२९
सनाथं जिनबिम्बेन रथं निष्कास्य मन्दिरात् । पत्तने भ्रामयामासुः खेचरेन्द्रा महोत्सवैः ७३०
जिनशासनमाहात्म्यमित्यालोक्य महीपतिः । बुद्धदासी तथाऽन्येऽपि बभूवुर्जिनवत्सलाः ॥७३१

वन्दारुसुन्दरसुरेन्द्रशिरःकिरीटरत्नप्रभाविकसिताङ्घ्रिसरोरुहश्रीः ।
कृत्वा प्रभावनमगात्पदमव्ययं यः कुर्याच्छिवं स मम वज्रकुमारनाथः ॥७३२

इति प्रभावनाङ्गे वज्रकुमारकथा ॥८॥

अथ सम्यक्त्वस्याष्टगुणवर्णनम्—

उक्तं च—संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा य उवसमो भत्ती ।
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठगुणा होंति सम्मत्ते ॥७३३

सन्तापको शान्त करनेके लिए महामेघ, हे सघन अन्धकार विनाशक स्वामिन्, आप ही मेरे शरण हैं ॥७२१॥ इस प्रकार अनेक ऋद्धियोंसे विराजित मुनिराजकी स्तुति करके रानीसे आदिसे लेकर अपने सर्व पराभवके वृत्तान्तको कहा ॥७२२॥ तब वज्रकुमार मुनिने कहा—तुम व्यर्थ शोक मत करो, मैं तुम्हारे अभीष्ट कार्यको करूँगा। ऐसा कहकर वे ऋद्धिकी सामर्थ्यसे अमरावती नगरी गये ॥७२३॥ उनके आगमनको सुनकर विद्याधर राजाओंने आदरपूर्वक मुनिराजके चरणकमलोंको नमस्कार किया ॥७२४॥ धर्मोपदेशरूप अमृतसे सर्व विद्याधरोंको तृप्त करके परोपकार रूप व्यापार करनेमें प्रवीण मुनिराजने उनसे कहा ॥७२५॥ जो मनुष्य भक्तिसे स्वयं जिनशासनकी प्रभावना करते हैं और कराते हैं उनका जन्म और जीवन धन्य है ॥७२६॥ इसलिए तुम लोग शीघ्र मथुरापुरी जाकर उर्विला रानीके सुख प्राप्तिके लिए जिनशासनकी प्रभावना करो ॥७२७॥ वज्रकुमार मुनिराजके आदेशसे उन विद्याधर राजाओंने मथुरामें जाकर क्रोधसे बुद्ध देवके रथको तोड़-फोड़कर जिनदेवके रथका उत्सव किया ॥७२८॥ तब बाजोंके बजते हुए, स्त्रियोंके नृत्य गान करते हुए, भाट समूहोंके स्तुति करते हुए और चारणजनोंके विरुद-पाठ करते हुए जिन बिम्बके साथ रथको जिन मन्दिरसे निकालकर उन विद्याधरेन्द्रोंने महान् उत्सवके साथ नगरमें घुमाया ॥७२९-७३०॥ जिनशासनका ऐसा माहात्म्य देखकर पूतिगन्ध राजा, बुद्धदासी रानी, तथा अन्य भी अनेक लोग जिनधर्मके प्रेमी हो गये ॥७३१॥

वन्दना करते हुए सुन्दर सुरेन्द्रके शिरके मुकुटमें लगे हुए रत्नोंकी प्रभासे विकासको प्राप्त हो रही है चरणकमलोंकी शोभा जिनकी, ऐसे जो वज्रकुमार स्वामी जैनशासनकी प्रभावना करके अव्यय पदको प्राप्त हुए, वे मुझे भी शिव पद प्रदान करें ॥७३२॥

यह प्रभावना अंगमें वज्रकुमार मुनिकी कथा है ॥८॥

अब सम्यक्त्वके आठ गुणोंका वर्णन करते हैं, कहा भी है—संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा,

निर्वेदादिमनोभावैर्दर्शनं तत्प्रशस्यते । तथाऽनायतनैर्दोषैः सन्देहाद्यैर्विनश्यति ॥७३४
देवे दोषोज्झिते धर्मे तथ्ये शास्त्रे हिते गुरौ । निर्ग्रन्थे यो तु रागः स्यात्संवेगः स निगद्यते ॥७३५
भोगे भुजङ्गभोगाभे संसारेऽपारदुःखदे । यद्वैराग्यं सरोगेऽङ्गे निर्वेदोऽसौ प्रवक्ष्यते ॥७३६
पुत्रमित्रकलत्रादिहेतोः कार्ये विनिर्मिते । दुष्टे योऽनुशयः पुंसो निन्दा सोक्ता विचक्षणैः ॥७३७
रागद्वेषादिभिर्जाते दूषणे सुगुरोः पुरः । भक्त्या याऽऽलोचना गर्हा शाऽर्हद्भिः प्रतिपाद्यते ॥७३८
रागद्वेषादयो दोषा यस्य चित्ते न कुर्वते । स्थिरत्वं सोऽत्र शान्तात्मा भवेद् भव्यमर्चचिका ॥७३९
सेवाहेवाकिनाकीशपूजार्हेऽर्हति सद्गुरौ । विनयाद्याः संपर्याद्यैः सा भक्तिर्व्यक्तमिष्यते ॥७४०
साधुवर्गे निसर्गो यद्रोगपीडितविग्रहे । व्यावृत्तिर्भेषजाद्यैर्या वात्सल्यं तद्धि कथ्यते ॥७४१
प्राणिषु भ्राम्यमाणेषु संसारे दुःखसागरे । चित्तार्द्रत्वं दयालोर्यत्तत्कारुण्यमुदीरितम् ॥७४२
एतैरष्टगुणैर्युक्तं सम्यक्त्वं यस्य मानसे । तस्यानिशं गृहे वासं विधत्ते कमलामला ॥७४३
तथा दोषाश्च हेयाः । ते के ? इत्याह—
मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षट् । अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः विंशतिः ॥७४४
जगति भयकृतानां रागदोषाकुलानां मलकुलकलितानां प्राणिघातोद्यतानाम् ।
स्मरशरविधुराणां सेवनं देवतानां यदमितमतयास्तद्देवमूढत्वमाहुः ॥७४५

उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये सम्यक्त्वके आठ गुण होते हैं ॥७३३॥

यह सम्यग्दर्शन निर्वेद आदि उक्त भावोंसे प्रशंसाको प्राप्त होता है, तथा अनायतन और शंका आदि दोषोंसे विनाशको प्राप्त होता है ॥७३४॥ दोष रहित-देवमें, अहिंसामय सत्य धर्ममें, हितकर शास्त्रमें और निर्ग्रन्थ गुरुमें जो अनुराग होता है वह संवेग कहा जाता है ॥७३५॥ भुजंगके फण सदृश भोगोंमें, अपार दुःख देनेवाले संसारमें और सरोग देहमें जो वैराग्य होता है, वह निर्वेद कहलाता है ॥७३६॥ पुत्र, मित्र, स्त्री आदि के निमित्तसे खोटा कार्य किये जानेपर मनुष्यको जो पश्चात्ताप होता है, उसे विचक्षण जनोंने निन्दा कहा है ॥७३७॥ राग-द्वेषादिसे किसी दूषणके हो जानेपर सद्-गुरुके आगे भक्तिके साथ अपनी आलोचना की जाती है उसे अरिहन्त देव गर्हा कहते हैं ॥७३८॥ जिसके चित्तमें राग द्वेष आदि दोष स्थिरता प्राप्त नहीं करते हैं वह भव्यशिरोमणि उपशम भावसे युक्त प्रशान्तात्मा कहलाता है ॥७३९॥ सेवा करनेमें आग्रह रखनेवाले देवेन्द्रोंके द्वारा पूजाके योग्य अरहन्त भगवान्में और सद्-गुरुमें पूजा आदिके साथ जो विनय आदि व्यक्त किये जाते हैं, वह भक्ति कही जाती है ॥७४०॥ रोगसे पीड़ित शरीरवाले साधु वर्गमें जो औषधि आदिके द्वारा सेवा टहल रूप वैयावृत्ति की जाती है, वह वात्सल्य कहा जाता है ॥७४१॥ दुःखोंके सागर ऐसे इस संसारमें परिभ्रमण करनेवाले प्राणियोंपर दयालु पुरुषका दयासे चित्तका आर्द्र हो जाना इसे कारुण्य भाव कहा गया है ॥७४२॥ जिसके हृदयमें इन आठ गुणोंसे युक्त सम्यक्त्व निवास करता है, उसके घरमें निर्मल लक्ष्मी निरन्तर निवास करती है ॥७४३॥

तथा सम्यक्त्वको मलिन करनेवाले दोष छोड़ना चाहिए। वे दोष कौनसे हैं ? ऐसा पूछे जानेपर आचार्य कहते हैं—तीन मूढ़ता, आठ मद, छह अनायतन और शंका आदि आठ ये सम्यक्त्वके पच्चीस दोष हैं ॥७४४॥ जगत्में भय उत्पन्न करनेवाले, राग-द्वेषसे आकुल-व्याकुल, मल-समूहसे मलिन, जीवघात करनेके लिए उद्यत और कामदेवके बाणोंसे पीड़ित देवताओंकी जो सेवा उपासना करना सो उसे अपरिमित बुद्धिवाले ज्ञानियोंने देवमूढ़ता कही है ॥७४५॥ सूर्यको अर्घ

सूर्यार्घो गृहदेहलीवटगजास्त्राश्वादिसंपूजनं
गोमूत्रापरगात्रवन्दनमकूपारापगामज्जनम् ।
पञ्चत्वाप्तजलादिदानमनिशं स्नानं च सङ्क्रान्तिषु
प्रायो लोकविमूढिता निगदिता संसारसंवर्धिनो ॥७४६
तत्तन्मन्त्रमहोषधोद्धतकलाव्यामोहितप्राणिनां
मिथ्याशास्त्रविचारवञ्चितधियां दुर्ध्यानलीनात्मनाम् ।
स्नेहाशाभयलोभतः कुतपसां पाखण्डिनां यादरात्
शुश्रूषा गुरुमूढतेति गदिता सा शीललीलाधरैः ॥७४७
तुषखण्डनतः क्वापि कणलाभः प्रजायते । शुश्रूषणं नृणां शुभारम्भाय भाव्यते ॥७४८

उक्तं च— मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानं चरणममीभिः समाहितः पुरुषः ।
दर्शनकल्पद्रुमवनवह्निरिवेदं त्वनायतनमुह्यम् ॥७४९

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः । अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥७५०
इत्यादि दूषणैर्मुक्तं मुक्तिप्रीतिनिबन्धनम् । सम्यक्त्वं सम्यगाराध्यं संसारभयभीरुभिः ॥७५१
न सम्यक्त्वात्परो बन्धुर्न सम्यक्त्वात्परं सुखम् ।
न सम्यक्त्वात्परं मित्रं न सम्यक्त्वात्परो गुणः ॥७५२

देना, घरकी देहली, वट वृक्ष, हाथी, अस्त्र-शस्त्र और अश्व आदिका पूजन करना, गायके मूत्रको पवित्र मानना, गायके पिछले शरीर भागकी वन्दना करना, समुद्र नदी आदिमें स्नान करना, मरण को प्राप्त पूर्वजनोंको नित्य जल, अन्न-पिण्ड आदि प्रदान करना, और मकर-संक्रान्तिमें स्नान करना, तथा इसी प्रकारके प्रायः अन्य लोक-प्रचलित एवं संसारको बढ़ानेवाली क्रियाएँ करना लोकमूढ़ता कही गई है ॥७४६॥ अनेक प्रकारके लौकिक कार्योंको सिद्ध करनेवाले उन-उन मंत्रोंसे, महान् औषधियोंसे और उद्धत कलाओंसे प्राणियोंको मोहित करनेवाले, मिथ्यात्ववर्धक खोटे शास्त्रोंके विचारसे वंचित बुद्धि वाले, खोटे ध्यानमें जिनकी आत्माएँ लीन हैं, ऐसे खोटे तप करनेवाले पाखण्डी गुरुओंमें स्नेह, आशा, भय और लोभके वशीभूत होकर जो आदरसे उनकी सेवा-शुश्रूषा की जाती है, उसे शीलकी लीलाके धारक गुरुजनोंने गुरुमूढ़ता कहा है ॥७४७॥ ग्रन्थ-कार कहते हैं कि तुषके कूटनेसे कहींपर कणका मिलना संभव है, किन्तु उक्त प्रकारके कुगुरुओंकी शुश्रूषा करनेसे मनुष्योंका शुभ आरंभ संभव नहीं है ॥७४८॥

कहा भी है—मिथ्या दर्शन मिथ्या ज्ञान, मिथ्या चारित्र और इनसे संयुक्त पुरुष ये छहों अनायतन सम्यग्दर्शन रूपी कल्प वृक्षोंके वनको जलानेके लिए अग्निके समान जानना चाहिए।॥७४९॥ ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठके आश्रयसे अभिमान करनेको मद-रहित वीतराग देव स्मय या मद कहते हैं ॥७५०॥

इत्यादि दूषणोंसे विमुक्त और मुक्तिकी प्रीतिके कारणभूत सम्यक्त्वकी संसारके भयसे डरने वाले मनुष्योंको सम्यक् प्रकारसे आराधना करनी चाहिए ॥७५१॥ इस संसारमें सम्यक्त्वसे बड़ा कोई बन्धु नहीं है, सम्यक्त्वसे श्रेष्ठ कोई सुख नहीं है, सम्यक्त्वसे श्रेष्ठ कोई मित्र नहीं है और सम्यक्त्वसे बड़ा कोई गुण भी नहीं है ॥७५२॥ जो मनुष्य सर्व दोषोंसे रहित, और आठ गुणोंसे

चिन्तामणिस्तस्य करे सुरद्रुमो गृहे धने कामगवीव लम् ।
ङ्कमुक्तं खलु यो निषेवते गुणाष्टकोपेतमिदं सुदर्शनम् ॥७५३

चतुःषष्टिमहर्द्धीनामधीशो भयवर्जितः । तिर्यगादिगतिध्वंसी नरः सम्यक्त्वभूषितः ॥७५४
प्राणी द्वादशधा मिथ्यावासेषु भयदेषु च । उत्पद्यते न संशुद्धसम्यक्त्वाद्भुतभूषणः ॥७५५

उक्तं च— सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यग्नपुंसकस्त्रीत्वानि ।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च न्ति नाप्यव्रति ॥७५६
ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशोविजयविभवसनाथाः ।
महाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ॥७५७
तीर्थकृच्चक्रवर्त्यादिविभूतिं प्राप्य भासुराम् ।
नरः सम्यक्त्वमाहात्म्यात्प्राप्नोति परमं पदम् ॥७५८

सम्यक्त्वसंयुते जीवे क्वचिद्दुःखं भयप्रदम् । भास्वता भासिते देशे न ध्वान्तमवतिष्ठति ॥७५९
किमत्र बहुनोक्तेन ये गता यान्ति जन्मिनः । मोक्षं यास्यन्ति तत्सर्वं सम्यक्त्वस्यैव चेष्टितम् ॥७६०

ते धन्यास्ते कृतार्थाश्च ते शूरास्तेऽत्र पण्डिताः ।
यैः स्वप्नेऽपि न सम्यक्त्वं मुक्तिदं मलिनीकृतम् ॥७६१
ये केचित्कवयो नयन्ति नियतं चिन्तामणेस्तुल्यतां
सम्यग्दर्शनमेतदुत्तमपदप्राप्त्यैकमन्त्राक्षरम् ।

सहित सम्यग्दर्शनका सेवन करते हैं, उनके हाथमें चिन्तामणि रत्न, घरमें कल्पवृक्ष और गोधनमें कामधेनु निश्चयसे विद्यमान जानना चाहिए ॥७५३॥ सम्यक्त्वसे भूषित मनुष्य तिर्यंच आदि दुर्गतियोंका विनाश कर भयरहित होकर चौसठ महाऋद्धियोंका स्वामी होता है ॥७५४॥ शुद्ध सम्यक्त्व रूप अद्भुत भूषण वाला जीव भय-प्रद बारह प्रकारके मिथ्यावासोंमें उत्पन्न नहीं होता है ॥७५५॥

कहा भी है—व्रत-रहित भी सम्यग्दर्शनसे शुद्ध जीव नारक, तिर्यंच, नपुंसक और स्त्री पर्यायमें उत्पन्न नहीं होता है। तथा वे दुष्कुल, विकृत शरीर, अल्प आयु और दरिद्रताको भी प्राप्त नहीं होते हैं ॥७५६॥ सम्यग्दर्शनसे पवित्र जीव ओज, तेज, विद्या, वीर्य, यश, विजय और वैभवसे संपन्न महान् कुल और महान् पुरुषार्थ वाले मानव तिलक होते हैं ॥७५७॥

सम्यक्त्वके माहात्म्यसे मनुष्य तीर्थंकर, और चक्रवर्ती आदिकी भासुरायमन विभूतिको प्राप्त करके अन्तमें परम पद मोक्षको प्राप्त करता है ॥७५८॥ सम्यक्त्वसे संयुक्त जीवमें भय-प्रद दुःख कहाँ संभव है ? सूर्यसे प्रकाशित प्रदेशमें अन्धकार नहीं ठहरता है ॥७५९॥ इस विषयमें बहुत कथनसे क्या लाभ है ? संक्षेपमें यह जान लेना चाहिए कि भूतकालमें जितने जीव मोक्ष गये हैं, वर्तमानमें जा रहे हैं और भविष्यमें जावेंगे, वह सब सम्यक्त्वका ही वैभव है ॥७६०॥ वे पुरुष धन्य हैं, वे कृतार्थ हैं, वे शूर-वीर है और वे ही पण्डित हैं जिन्होंने कि मुक्तिको देनेवाला अपना सम्यक्त्व स्वप्नमें भी मलिन नहीं किया है ॥७६१॥ जो कोई कवि लोग उत्तम मोक्ष पदकी प्राप्तिके एक मात्र मंत्राक्षर रूप इस सम्यग्दर्शनकी चिन्तामणि रत्नसे तुलना करते हैं, वे सुमेरुकी परमाणुके साथ तुलना करते हैं, ऐसा मैं मानता हूँ। क्या अल्प बुद्धिवाले मनुष्योंकी बुद्धियाँ कहीं भी सम्य-

ते मन्ये परमाणुना सममम्‌ं कुर्वन्ति मन्याचलं
किं वा न्यूनधियां भवन्ति मतयः सम्यग्विदः क्वापि हि ॥७६२

इति सम्यग्दर्शनवर्णनम् ।

इति श्री श्रावकाचारसारोद्धारे श्रीपद्मनन्दिमुनिविरचिते
वासाधरनामाङ्किते साङ्गसम्यक्त्ववर्णनं नाम
प्रथमः परिच्छेदः ।

क्त्वकी यथार्थ महिमाको जान सकती हैं अर्थात् नहीं जान सकती हैं ॥७६२॥ यह सम्यग्दर्शनका वर्णन समाप्त हुआ ।

इति श्री पद्मनन्दि-मुनि-विरचित वासाधर नामसे अङ्कित श्रावकाचारसारोद्धारमें
अङ्गसहित सम्यक्त्वका वर्णन करनेवाला
प्रथम परिच्छेद समाप्त हुआ ।

अथ द्वितीयः परिच्छेदः

आप्तोपज्ञमहागमावगमतो विद्वान् सुपात्रावली-
शुद्ध   तिसर्जनाद्विनयतो नित्यं वदान्याग्रणीः ।
मिथ्यात्वादिनिराकृतेरमलिनः सद्-दृष्टिरुद्यद्दयः
प्राणित्राणविधानतो विजयते लोकेऽत्र वासाधरः ॥

इत्थमात्मनि संरोप्य सम्यक्त्वं मुक्तिकाङ्क्षिभिः । समुपास्यं ततः सम्यग्ज्ञानमाम्नाययुक्तिभिः ॥१॥
एककालादपि प्राप्तजन्मनोर्दृष्टिबोधयोः । पृथगाराधनं प्रोक्तं भिन्नत्वं चापि लक्षणात् ॥२
सम्यग्ज्ञानं मतं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं यतः । ज्ञानस्यार   प्रोक्तं सम्यक्त्वानन्तरं   : ॥३
दीपप्रकाशयोरिव सद्दर्शनबोधयोर्जिना जगदुः । कारणकार्यविधानं समकालं जातयोरपि ॥४
संशयविमोहविभ्रमरहितं तत्त्वेषु यत्परिज्ञानम् । तज्ज्ञानं यतिपतयः सम्यग् जगदुत्तमा जगदुः ॥५
उक्तं च—त्रैकाल्यं त्रिजगत्तत्त्वे हेयादेयप्रकाशनम् । यत्करोतीह जीवानां सम्यग्ज्ञानं तदुच्यते ॥६
ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च । बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यम् ॥७

जिनेन्द्रदेवके द्वारा प्ररूपित महान् आगमके ज्ञानसे जो विद्वत्ताको प्राप्त है, उत्तम पात्रोंकी पंक्तिको शुद्ध अन्न प्रदान करनेसे साधुओंका सर्जन करता है, नित्य गुणी जनोंकी विनय करनेसे विनयी पुरुषोंमें अग्रणी है, मिथ्यात्व आदिके निराकरण कर देनेसे निर्मल सम्यग्दर्शनका धारक है और प्राणियोंकी रक्षा करनेसे जिसका दयाभाव उत्तरोत्तर उदयको प्राप्त हो रहा है, ऐसा वासाधर नामक साहु इस लोकमें विजयवन्त रहे ॥

इस प्रकार अपनी आत्मामें सम्यक्त्वको भली भाँतिसे धारण करके तदनन्तर मुक्तिकी आकांक्षा रखनेवाले श्रावकोंको आम्नायकी युक्तियोंसे सम्यग्ज्ञानकी सम्यक् प्रकार उपासना करनी चाहिए ॥१॥ यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक कालमें ही उत्पन्न होते हैं, तथापि सम्यग्ज्ञानकी पृथक् रूपसे ही आराधना करना कहा गया है, क्योंकि लक्षणसे दोनोंमें भिन्नता है ॥२॥ यतः सम्यग्ज्ञान कार्य माना गया है और सम्यक्त्व उसका कारण है, अतः सम्यक्त्व प्राप्तिके पश्चात् ज्ञानकी आराधना करनेका उपदेश दिया गया है ॥३॥ जिस प्रकार एक साथ उत्पन्न होनेवाले दीपक और प्रकाशमें कार्य-कारण भाव है अर्थात् दीपक कारण है और प्रकाश उसका कार्य है, इसी प्रकार एक साथ उत्पन्न होनेपर भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें कारण और कार्यका विधान श्रीजिनेन्द्रदेवने कहा है ॥४॥ संशय, विमोह और विभ्रमसे रहित जो जीवादि सप्त तत्त्वोंका परिज्ञान है उसे यति-पति और लोकोत्तम जिनेन्द्रोंने सम्यग्ज्ञान कहा है ॥५॥

कहा भी है—जो जीवोंको त्रिकाल और त्रिजगत्में तत्त्वोंके हेय और उपादेयका प्रकाश करता है, वह सम्यग्ज्ञान कहा जाता है ॥६॥ मूलग्रन्थ, उसका अर्थ, और इन दोनोंका पूर्ण शुद्धिके साथ धारण करना, विनय करना, बहुमानके साथ निह्नव-रहित होकर सम्यग्ज्ञानका आराधन करना चाहिए, अर्थात् सम्यग्ज्ञानकी आराधनाके आठ अंग हैं—१. ग्रन्थाचार, २. अर्थाचार, ३. उभयाचार, ४. कालाचार, ५ विनयाचार, ६. उपधानाचार, ७. बहुमानाचार और ८. अनिह्नवाचार। (इनका विशेष अर्थ पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें इसी श्रावकाचार संग्रहके प्रथम भागमें पृ० १०२ पर दिया गया है, वहाँसे जानना चाहिए) ॥७॥

तदनुयोगाश्चत्वारः । ते च यथा—

यत्र जिनादिविचित्रोत्तमपुरुषचरित्रकीर्तनं पुण्यम् । प्रथमानुयोगमसमज्ञानं मुनयस्तमाख्यान्ति ॥८

नरकद्वीपपयोनिधिगिरिवरसुरलोकवातवलयानाम् । परिमाणादिप्रकटनदक्षः करणानुयोगोऽयम् ॥९

व्रतसमितिगुप्तिलक्षणचरणं यो वदति तत्फलं चापि। चरणानुयोगमसमज्ञानं तज्ज्ञानिनो जगदुः ॥१०

षड्द्रव्यनवपदार्थास्तिकायसहितानि सप्ततत्त्वानि । द्रव्यानुयोगदीपो विमलः सम्यक् प्रकाशयति ॥११

शोकानोकहखण्डनैकपरशुं विश्वप्रकाशोल्लस-
द्दीपं चारुविवेककेलिसदनं सौजन्यसञ्जीवनम् ।
स्फूर्जत्कीर्त्तिलताजलं प्रसृमराहङ्कारशङ्काहरं
बोधं मुक्तिवधूविबोधजनकं सन्तः श्रयन्तु श्रिये ॥१२॥

इति सम्यग्ज्ञानवर्णनम् ।

इति श्री श्रावकाचारसारोद्धारे श्री पद्मनन्दिमुनिविरचिते
वासाधरनामाङ्किते साङ्गसम्यग्ज्ञानवर्णनं नाम
द्वितीयः परिच्छेदः

●

इस सम्यग्ज्ञानके चार अनुयोग हैं, जो इस प्रकार हैं—जिसमें तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि अनेक प्रकारके उत्तम पुरुषोंके चरित्रोंका कथन हो, पुण्यका वर्णन हो, उसे मुनिजन विशिष्ट ज्ञानवाला प्रथमानुयोग कहते हैं ॥८॥ नरक, द्वीप, समुद्र, कुलाचल, सुमेरु, देवलोक और वातवलयोंके परिमाण आदिको प्रकट करनेमें दक्ष यह करणानुयोग है ॥९॥ व्रत, समिति, गुप्तिस्वरूप चारित्र और उसके फलको जो कहता है, उसे चरणानुयोगके ज्ञाता मुनिजन विशिष्ट ज्ञानरूप चरणानुयोग कहते हैं ॥१०॥ द्रव्यानुयोगरूपी निर्मल दीपक छह द्रव्य, नव पदार्थ, पंच अस्तिकाय सहित सप्त तत्त्वोंको सम्यक् प्रकारसे प्रकाशित करता है ॥११॥ जो सम्यग्ज्ञान शोकरूपी वृक्षको काटनेके लिए अद्वितीय परशु (कुठार) के सदृश है, संसारके प्रकाश करनेके लिए प्रकाशमान या प्रज्वलित दीपक है, विवेकरूपी केलि करनेका सुन्दर भवन है, सज्जनताका संजीवन है, कीर्त्तिरूपी लताको बढ़ानेके लिए जलस्वरूप है, बढ़ते हुए अहंकार और शंकाको दूर करने वाला है, मुक्तिरूपी वधूके प्रबोधका जनक है, ऐसे सम्यक् बोधको सन्तजन लक्ष्मीकी प्राप्तिके लिए आश्रय करें ॥१२॥

यह सम्यग्ज्ञानका वर्णन है ।

इति श्रीपद्मनन्दि मुनिविरचित वासाधरनामसे अंकित श्रावकाचारसारोद्धार में अंगसहित सम्यग्ज्ञानका वर्णन करनेवाला दूसरा परिच्छेद समाप्त हुआ ॥२॥

●

अथ तृतीयः परिच्छेदः

सम्यक्सुभद्राहितचित्तवृत्तिर्जयाश्रयो वाहुवलीशपूज्यः ।
वासाधरः श्रीभरतोपमोऽसौ जयत्यनिन्द्योद्यमलब्धलक्ष्मीः ॥

भव्यैर्विधूतदृग्मोहैर्विश्वतत्त्वार्थकोविदैः । प्रकम्परहितैः सम्यक् चारित्रमवलम्ब्यताम् ॥१

अज्ञानपूर्वकं सम्यग्वृत्तं नाप्नोति यज्जनः । संज्ञानानन्तरं प्रोक्तं वृत्तस्याराधनं ततः ॥२

समस्तसावद्यवियोगतः स्याच्चारित्रमत्रोत्तमसौख्यपात्रम् ।
तत्पञ्चधा वर्जितकामशस्त्रैरवाद्यहिंसाव्रतभेदभावात् ॥३

उक्तं च— रागद्वेषनिवृत्तेर्हिंसादिनिवर्तना कृता भवति ।
अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन् ॥४

सकलविकलभेदा ज्ञाततत्त्वार्थसार्था द्विविधमिदमवद्यध्वंसकं वृत्तमाहुः ।
सकलममलबोधाधिष्ठितानां मुनीनां विकलमिह गृहस्थाचारभाजां नराणाम् ॥५

अथ—मैरेयपललक्षौद्रपञ्चोदुम्बरवर्जनम् । व्रतं जिघृक्षुणा पूर्वं विधातव्यं प्रयत्नतः ॥६

सीधुपानविवशीकृतचित्तं चेतना त्यजति तत्क्षणतोऽपि ।
दुर्भगत्वहतशस्तगुणौघं कान्तमुज्ज्वलगुणेव मृगाक्षी ॥७

श्री भरत चक्रवर्तीकी उपमावाला यह वासाधर जयवन्त है। जैसे भरत चक्रवर्ती सुभद्रा-नामकी पट्टरानीमें संलग्न चित्त वृत्तिवाले थे, जयकुमार नामक सेनापतिसे आश्रित थे, वाहुवली (भुजाओंमें वलके धारक) राजाओंके स्वामी थे और निर्दोष उद्यमसे राज्यलक्ष्मीको प्राप्त थे, उसी प्रकार यह वासाधर भी सम्यक् प्रकारसे सुभद्र (उत्तम मंगलकार्य) में संलग्न चित्तवृत्ति वाला है, विजयका आश्रय है, वाहुवलशाली लोगोंके स्वामियोंसे पूज्य है और निर्दोष उद्यम—व्यापारसे लक्ष्मीको प्राप्त है ॥

जिन्होंने दर्शन मोहनीय कर्मको नष्ट कर दिया है, जो समस्त तत्त्वोंके अर्थ जाननेवाले हैं और चारित्र मोहके प्रकम्पसे रहित हैं, ऐसे भव्य पुरुषोंको सम्यक् चारित्रका अवलम्बन करना चाहिए ॥१॥ यतः मनुष्य अज्ञानपूर्वक सम्यक् चारित्रको प्राप्त नहीं कर सकता है, अतः सम्यग्ज्ञान-की प्राप्तिके अनन्तर ही चारित्रका आराधन करना कहा गया है ॥२॥ समस्त प्रकारके सावद्य-योगोंके त्यागसे इस लोकमें उत्तम सुखका पात्र चारित्र प्राप्त होता है। कामरूप शस्त्रोंसे रहित वीतरागी जिनेन्द्र देवोंने मूल एक अहिंसाव्रतके भेद-भावसे उसे पाँच प्रकारका कहा है ॥३॥

कहा भी है—राग-द्वेषकी निवृत्तिसे हिंसादि पापोंकी निवृत्ति होती है। क्योंकि, धनकी अभिलाषासे रहित कौन पुरुष राजाओंकी सेवा करता है ॥४॥

तत्त्वार्थ-समूहके जाननेवाले आचार्योंने सम्यक् चारित्रके सकल और विकल ऐसे दो भेद कहे हैं। यह दोनों ही भेदवाला चारित्र पापोंका विध्वंसक है। इनमें सकल चारित्र निर्मल ज्ञानसे युक्त मुनिजनोंके होता है और विकल चारित्र गृहस्थीके आचार-धारक मनुष्योंके होता है ॥५॥ श्रावक व्रतको ग्रहण करनेके इच्छुक पुरुषको सवसे पहिले मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्वर फलोंके खानेका प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिए ॥६॥ मदिरापानसे परवश चित्तवाले मनुष्यको चेतना क्षण मात्रमें उसी प्रकार छोड़ देती है जिस प्रकार मृगनयनी स्त्री दुर्भाग्यसे विनष्ट गुणवाले

वारुणीरसनिरासितवुद्धेः प्राणिनः पृथुचतुःपथभूमौ ।
मण्डला निपतितस्य समन्तान्मूत्रयन्ति वदने विवराभे ॥८
आसवोद्धतपिशाचगृहीतश्चत्वरे निपतितो मललिप्तः ।
गूढमात्महितभावमलज्जो लीलयैव कथयत्यपवस्त्रः ॥९
पानतः क्षणतया मदिरायाः कान्तिकीर्त्तिमतयो मनुजानाम् ।
सम्पदो वहुविधा नृपतीनां दुर्नयादिव विनाशमयन्ते ॥१०
भूतले विलुलितालकचक्राक्रान्तवक्त्रकुहरो विधुरश्रीः ।
लोलुठीति च सदा घनदाघोद्यज्ज्वरार्त्तनरवन्मदिरापः ॥११
रुन्धन्तीन्द्रियविकासमशेषं विग्रहे शिथिलतां जनयन्ती ।
चेतनत्वमदयं विहरन्ती वारुणी भवति किं न विषाभा ॥१२
रारटीति विकटं सशोकवद् वम्भ्रमीति परितो ग्रहार्तवत् ।
मोमुषीति परवस्तु चौरवद् वोभुजीति जननीं स्वदारवत् ॥१३
कम्पते पूत्करोत्युच्चैर्ह्लादते खिद्यते तराम् । रोदिति स्खलति श्वासं मुञ्चत्येष पदे पदे ॥१४
गायति भ्रमति श्लिष्टं वक्ति धावति रौति च । हन्ति स्वं च परं मद्यमूढो वेत्ति न चाहितम् ॥१५
अवद्यशतसङ्कुला खलु निषेव्यमाना सुरा विमोहयति मानसं दृढविमोहितस्वान्तकः ।
विमुञ्चति शुभं परं वत विमुक्तधर्मो वधं करोति कृतहिंसने भवति नारकस्तत्क्षणात् ॥१६

पतिको छोड़ देती है ॥७॥ वारुणी—(मदिरा) रस-पानसे विनष्ट वुद्धिवाले और विशाल चौराहों-पर पड़े हुए मनुष्यके विवर (गर्त) के समान खुले हुए मुखमें कुत्ते सर्व ओरसे आकर मूतते हैं ॥८॥ मद्य-पानसे उद्धत पिशाचसे ग्रसित, चवूतरेपर पड़ा हुआ, मल-लिप्त, वस्त्र-रहित निर्लज्ज मनुष्य अपने हृदयके गूढभावोंको लीलामात्रमें ही कह देता है ॥९॥ मदिराके पानसे मनुष्योंकी कान्ति, कीर्त्ति, वुद्धि और नाना प्रकारकी सम्पत्तियाँ राजाओंकी दुर्नीतिके समान क्षणमात्रमें विनाशको प्राप्त हो जाती हैं ॥१०॥ मदिराको पीनेवाला मनुष्य शोभा-रहित होकर भूतलपर इस प्रकारसे लोटता है, जिस प्रकार कि प्रवल दाहसे वढ़ते हुए ज्वरवाला मनुष्य भूमिपर लोटता है। उस समय उसके इधर-उधर उड़ते शिरके वालोंके समूहसे उसका मुख रूप कोटर व्याप्त हो जाता है ॥११॥ जो इन्द्रियोंके सम्पूर्ण विकासको रोक देती है, शरीरमें शिथिलता उत्पन्न करती है और चेत-नताको निर्दयता पूर्वक हरण कर लेती है, ऐसी वारुणी (मदिरा) क्या विषके समान नहीं है? अर्थात् विषके ही सदृश है ॥१२॥ मदिरा पीनेवाला मनुष्य शोक-युक्त पुरुषके सदृश विकट रूपसे रोता-चिल्लाता है, ग्रह-पीड़ितके समान चारों ओर घूमता है, चोरके समान परवस्तुको चुराता है और अपनी स्त्रीके समान माताके साथ विषय-सेवन करता है ॥१३॥ मद्य-पायी पुरुष कभी कंपता है, कभी उच्चस्वरसे चिल्लाता है, कभी हर्षित होता है, कभी अत्यन्त खेद-खिन्न होता है, कभी रोता है, कभी इधर-उधर गिरता-पड़ता है और पद-पदपर दीर्घश्वासें छोड़ता है ॥१४॥ मद्यसे मूढ़ नर गाता है, परिभ्रमण करता है, अश्लील वोलता है, दौड़ता है, रोता है, अपने और दूसरेका घात करता है और अपने हितको नहीं जानता है ॥१५॥ यह सुरा सैकड़ों पापोंसे व्याप्त है, इसका सेवन मनको विमोहित कर देता है, इससे विमोहित चित्तवाला मनुष्य सभी शुभ कार्य छोड़ देता है, फिर धर्मको छोड़कर वह जीवघात करने लगता है, और जीव-घात करनेपर वह मरण कर क्षणभरमें नारकी वन जाता है ॥१६॥

उक्तं च—

रसजानां च वहूनां जीवानां योनिरिष्यते म् । भजतां तेषां हिंसा सञ्जायतेऽवश्यम् ॥१७
निष्पद्यन्ते विपद्यन्ते देहिनो सम्भवाः । बिन्दौ बिन्दौ सदानन्ता रूपरसावहाः ॥१८
मद्यबिन्दु ोत्पन्नाः प्राणिनः सञ्चरन्ति चेत् । पूरयेयुर्न सन्देहः समस्तमपि विष्टपम् ॥१९

(च—)

अभि ानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः । हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्निहिताः॥२०
मनोमोहस्य हेतुत्वान्निदानत्वाद्भवापदाम् । मद्यं सद्भिः सदा हेयमिहामुत्र च दोषकृत् ॥२१

यश्चिखादिति हि मांसमशेषप्राणिघातभवभवमुद्धतबुद्धिः ।
मूलतः किमु स छेत्तुमिच्छति जडोऽमरवृक्षम् ॥२२
भक्ष्यं पि दयां यश्चिकीर्षति क्षीणविवेकबुद्धिः ।
स रे वाञ्छति मोदवाञ्छो राजीविनीं रोपयितुं विचित्राम् ॥२३

हन्ता दाता च संस्कर्ताऽनुमन्ता भ स्तथा । पलस्य विक्रेता यः स दुर्गतिभाजनम् ॥२४

विना विघातं न शरीरभाजामुत्पद्यते मांसमनर्थमूलम् ।
तस्माद्दयालीढधियां न युक्तं प्राणात्ययेऽप्यत्र पलाशनं तत् ॥२५

उक्तं च—

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसा मुत्पद्यते क्वचित् । न च प्राणिवधात् स्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥२६

कहा भी है—मद्य वहुतसे रसज जीवोंकी योनि कहा जाता है। अतः मद्यका सेवन करनेवाले मनुष्योंके हिंसा अवश्य ही होती है ॥१७॥ मद्यमें उत्पन्न होनेवाले रसजजीव सदा ही उत्पन्न होते और मरते रहते हैं। मद्यकी एक-एक विन्दुमें मद्यके रूप-रसके धारक अनन्तजीव होते है ॥१८॥ मद्यकी एक विन्दुमें उत्पन्न होनेवाले जीव यदि संचार करें तो समस्त ही त्रैलोक्यरूप संसार पूरित कर देंगे, इसमें सन्देश नहीं है ॥१९॥

कहा भी है—अभिमान, भय, जुगुप्सा, हास्य, अरति, शोक, काम और कोप ये सभी हिंसाके पर्यायवाची नाम मद्यमें सन्निहित हैं ॥२०॥

मनके मोहका कारण होनेसे और सांसारिक आपदाओंका कारण होनेसे, तथा इस लोक और परलोकमें दोष-कारक होनेसे सज्जनोंको इस मद्यका सदा ही त्याग करना चाहिए ॥२१॥

सभी प्राणियोंके घातसे उत्पन्न होनेवाले मांसको जो उद्धतवुद्धि मनुष्य खाना चाहता है, वह जड़ पुरुष धर्मरूपी अमर वृक्षको मूलसे काटनेकी इच्छा करता है ॥२२॥ अभक्ष्य मांसको खाता हुआ नष्ट विवेक वुद्धिवाला जो पुरुष दया करनेकी इच्छा करता हैं वह मानों आनन्द पानेकी इच्छासे पत्थरपर नाना प्रकारकी कमलिनीको आरोपण करनेकी वांछा करता है ॥२३॥जो जीवका घात करता है, मांस परोसता या देता है, पकाता है, मांस खानेकी अनुमोदना करता है, स्वयं खाता है, मांसको खरीदता है और वेचता है, वह दुर्गतिका पात्र होता है ॥२४॥ प्राणियोंके घात किये विना मांस उत्पन्न नहीं होता है, यह अनर्थका मूल कारण है। इसलिए दया-युक्त वुद्धिवाले पुरुषोंको प्राणोंका विनाश होनेपर भी मांसका खाना योग्य नहीं है ॥२५॥

कहा भी है—प्राणियोंकी हिंसा किये विना मांस कहींपर भी कभी उत्पन्न नहीं होता है और प्राणि-वधसे स्वर्ग प्राप्त नहीं होता है, इसलिए मांसका त्याग करे ॥२६॥

ये भक्षयन्त्यात्मशरीरपुष्टिमभीप्सवो मांसमलम्वयन्ते ।
स्युर्घातका भक्षकमन्तरेण यन्नात्र दृष्टो वधकः कदाचित् ॥२७
अन्नानि मिष्टान्यपि यत्र विष्टा भवन्ति मूत्राण्यमृतानि तानि ।
तस्याप्यसारस्य शरीरकस्य कृते कृती कस्तनुयादघौघम् ॥२८
मांसाशने यस्य विचारसारविहीनबुद्धेर्वरिर्वात्ति वाञ्छा ।
स शाकिनीसङ्घ इवाघधाम पदे पदे वाञ्छति देहिघातम् ॥२९
बुभुक्षते यः पिशितं दुरात्मा भोज्यं विमुक्त्वा जनितोरुसौख्यम् ।
सुधारसं हस्तगतं निरस्य स खादितुं वाञ्छति कालकूटम् ॥३०
पलाशने दोषलवोऽपि नास्ति यैः प्रोच्यते पापकलङ्कलीढैः ।
गुरूकृतास्तैर्वृकसिंहगृद्धकौलेयकव्याघ्रशृगालभिल्लाः ॥३१

उक्तं च—अमृतचन्द्रसूरिभिरार्याचतुष्टये—

न विना प्राणिविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात् ।
मांसं भजतस्तस्मात्प्रसरत्यनिवारिता हिंसा ॥३२
यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः ।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात् ॥३३
आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु । सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥३४
आमां व पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम् ।
स निहन्ति निचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम् ॥३५

जो मनुष्य अपने शरीरकी पुष्टिकी अभिलाषासे मांसको खाते हैं, वे प्राणियोंके घातक ही हैं, क्योंकि मांस-भक्षण करनेवालेके विना जीव-वध करनेवाला इस लोकमें कभी नहीं देखा गया ॥२७॥ जिस शरीरके निमित्तसे खाये गये मिष्टान्न भी विष्टा हो जाते हैं और पिया गया अमृत भी मूत्र बन जाता है, उस निःसार शरीरके पोषणके लिए कौन कृती पुरुष पापके समूहरूप मांसको खावेगा ? कोई भी नहीं खावेगा ॥२८॥ उत्तम विचारोंसे विहीन बुद्धिवाले जिस पुरुषकी इच्छा मांसके खानेमें रहती है वह शाकिनी-डाकिनी-समूहके समान पद-पदपर पापके स्थानभूत जीवघात-को करना चाहता है ॥२९॥ जो दुष्टात्मा बहुसुखको देनेवाले उत्तम भोज्य पदार्थोंको छोड़कर मांस खानेकी इच्छा करता है, वह मानों हाथमें आये हुए अमृत रसको छोड़कर कालकूट विषको खानेकी इच्छा करता है, ॥३०॥ पापरूपी कीचड़से व्याप्त जो पुरुष यह कहते हैं कि मांसके खानेमें लेशमात्र भी दोष नहीं है, वे लोग वृक (भेड़िया), सिंह, गिद्ध, श्वान, व्याघ्र, शृगाल और भीलोंकी संख्या बढ़ा रहे हैं ॥३१॥

इस विषयमें अमृतचन्द्रसूरिने चार आर्या (गाथाएं) कही हैं—यतः प्राणिघातके विना मांस-की उत्पत्ति संभव नहीं है, अतः मांसको सेवन करनेवाले पुरुषके अनिवार्यरूपसे हिंसा होती ही है ॥३२॥ और जो स्वयं ही मरे हुए भैंसे बैल आदिका मांस है, उसके सेवन करनेमें भी उस मांसके आश्रित निगोदिया जीवोंके विनाशसे हिंसा होती है ॥३३॥ कच्ची, पकी या पक रही मांसकी पेशियों (डलियों) में तज्जातीय निगोदिया जीवोंकी निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है ॥३४॥ अतः जो जीव कच्ची या पकी मांस-पेशीको खाता है, अथवा स्पर्श भी करता है वह अनेक कोटि जीवों-के निरन्तर संचित पिण्डका घात करता है, अतः मांस सर्वथा अभक्ष्य है ॥३५॥

अल्पसङ्क्लेशतः सौख्यं यद्यत्राभिलषेत्सुखम् । तदात्मनोऽप्रियं क्वापि भास्म कार्षीत् परे बुधः ॥३६

सुकृतादुपलभ्य सत्सुखं मनुजो द्वेष्टि तदेव दुष्टधीः ।
श्रमशान्तिमवाप्य शालतस्तमपि छेत्तुमितः समीहते ॥३७
धर्मार्थकामेषु च यस्य न स्यादेकोऽपि लोके नियतं पुमर्थः ।
जीवन्मृतो विश्ववसुन्धरायाः स भारभूतो मनुजोऽधमश्च ॥३८

धर्माय स्पृहयालुर्यः परतो वा स्वतोऽथवा मनुजः । स स्याद्विदुषामाद्यो विपरीतस्तु ध्रुवं निन्द्यः ॥३९
स्वस्य हितमभिलषन्तो मुञ्चन्तश्चाहितं विचारज्ञाः । कथमिव खादन्ति जनाः परघातसमुद्भवं मांसम् ॥४०
मैरेयमांसमाक्षिकभक्षणतो यदि च जायते धर्मः । तर्हि कुतोऽधर्मः स्याद्दुर्गतिविनिबन्धनं किं वा ॥४१

उक्तं च—

स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्र नासुखम् । तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागतिः ॥४२
मांसाशिषु दया नास्ति न शौचं मद्यपायिषु। धर्मभावो न मर्त्येषु मधूदुम्बरसेविषु ॥४३

सम्मूर्च्छितानन्तशरीरिवर्गसङ्कीर्णमुच्चारनिभं घृणाढ्यम् ।
श्वभ्राध्वपाथेयममेयबुद्धिः को भक्षयेन्मांसमनर्थमूलम् ॥४४

माक्षिकं मक्षिकालक्षक्षतजं भक्षयन्नरः । निःसंशयमवाप्नोति नरकोत्सङ्गसङ्गतिम् ॥४५
ग्रामसप्तकदाहोत्थैः पापैः कुर्वन्ति तुल्यताम् । मधुभक्षणसञ्जातं पापं पूर्वमहर्षयः ॥४६

यदि कोई मनुष्य अल्प संक्लेशसे सरलता पूर्वक इस लोकमें सुख चाहे तो उस बुद्धिमान् को चाहिए कि जो बात अपने लिए अप्रिय है, वह कभी भी दूसरेके साथ न करे ॥३६॥ सुकृत (धर्म या पुण्य) से उत्तम सुख पाकर दुष्ट बुद्धि मनुष्य उसी सुकृतसे द्वेष करता है, वृक्ष शाखाकी छायासे श्रमकी शान्तिको पाकर वह उसीको ही काटनेकी इच्छा करता है ॥३७॥ जिस मनुष्यके इस लोकमें धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थोंमेंसे एक भी पुरुषार्थ नहीं है, वह मनुष्य निश्चयसे जीता हुआ भी मृतकके समान है, वह अधम पुरुष तो इस सारी वसुन्धराके लिए भारभूत ही है ॥३८॥ जो मनुष्य स्वयं अथवा परसे धर्मकी इच्छा करता है, वह विद्वानोंमें अग्रणी है, जो इससे विपरीत है, वह निश्चयसे निन्दनीय है ॥३९॥ जो अपने हितकी अभिलाषा करते हैं, और अहितको छोड़ना चाहते हैं वे विचारशील मनुष्य परके घातसे उत्पन्न होनेवाले मांसको कैसे खाते हैं ? यह आश्चर्य है ॥४०॥ यदि मदिरा, मांस और मधुके भक्षणसे धर्म होता है, तो फिर अधर्म किससे होता है और दुर्गतिका कारण क्या शेष रहता है ॥४१॥

कहा भी है—वही धर्म है, जिसमें अधर्म नहीं है, वही सुख है, जिसमें दुःख नहीं है, वही ज्ञान है, जिसमें अज्ञान नहीं है और वही गति है जहाँसे आगति (आगमन) नहीं है ॥४२॥ मांसके खानेवालोंमें दया नहीं होती है, मद्यपान करने वालोंमें पवित्रता नहीं होती है, और मधु एवं उदुम्बर फलोंके सेवन करनेवाले पुरुषोंमें धर्मभाव नहीं होता है ॥४३॥

जो सम्मूर्च्छिम अनन्त प्राणियोंके समूहसे व्याप्त है, विष्टाके तुल्य है, घृणाके योग्य है, नरकमें ले जानेके लिए मार्गका भोजन है और अनर्थोंका मूलकारण है ऐसे मांसको विशाल बुद्धि-वाला मनुष्य खावेगा ? अर्थात् कोई बुद्धिमान् मनुष्य नहीं खावेगा ॥४४॥

लाखों मक्खियोंके घातसे उत्पन्न होनेवाले माक्षिक (मधु) को खाता हुआ मनुष्य निःसन्देह नरककी गोदकी संगतिको प्राप्त होता है, अर्थात् नियमसे नरक जाता है ॥४५॥ प्राचीन महर्षिजन

उक्तं च—

मधुविन्दुलवास्वादाद्ये सत्त्वा प्रविदारिताः । पल्लीदाहेऽपि तावन्तो भवन्ति न भवन्ति हि ॥४७

पूर्वंभाषितम्—

भक्षिकागर्भसम्भूतवालाण्डकनिपीडनात् । जातं मधु कथं सन्तः सेवन्ते कलि   lकृति ॥४८

जग्धं मध्वौषधेनापि नरकाय न संशयः । गुडेनामा न किं मृत्युहेतवे भक्षितं विषम् ॥४९

प्रस्फुरन्मक्षिकालक्षनिष्ठ्यूतं जन्तुघातजम् । अहो केचित्प्रशंसन्ति मधु श्राद्धादिकर्मणि ॥५०

सरघावदनविनिर्गतलालाविलमखिलतन्मलाविष्टम् ।
माक्षिकमिदमतिनिन्द्यं कथमत्र प्राश्यते सद्भिः ॥५१

उक्तं च—अमृतचन्द्रसूरिभिः—

मधुशकलमपि प्रायो मधुकरहिंसात्मकं भवति लोके ।
भजति मधु मूढ़धीको यः स भवति हिंसकोऽत्यन्तम् ॥५२

स्वयमेव विगलितं यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधुगोलात् । तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात्॥५३

मध्वास्वादनलोलुपो द्विजवरः पुष्पाभिधे पत्तने प्रापन्नाशमवश्यमुद्धतमतिः सार्धं स्वपुत्रादिभिः ।
प्राणान्तेऽपि ततो यियासुभिरलं लोकं परं धार्मिकैः पा   कमापदां पदमिदं नो भक्षणीयं मधु॥५४

मधु-भक्षणसे उत्पन्न पापकी तुलना सात गाँवोंको जलानेसे उत्पन्न होनेवाले पापके साथ करते हैं ॥४६॥

कहा भी है—मधुकी एक विन्दुके लेश मात्र स्वादसे जितने प्राणी मारे जाते हैं, उतने प्राणियोंका विनाश एक पल्ली (छोटे ग्राम) के जलानेमें भी नहीं होता—नहीं होता है ॥४७॥

पूर्व पुरुषोंने भी कहा है—मक्खियोंके गर्भसे उत्पन्न हुए बाल-अण्डोंके निचोड़नेसे उत्पन्न हुए और कलल की आकृतिवाले मधुको सन्त पुरुष कैसे सेवन करते हैं ॥४८॥

औषधिके साथ खाया गया भी मधु नरकके लिए होता है, इसमें कोई संशय नहीं है। गुड़के साथ खाया गया विष क्या मृत्युके लिए नहीं होता ॥४९॥ जो उड़ती-फिरती लाखों मक्षिकाओंका वमन है और प्राणियोंके घातसे उत्पन्न होता है, ऐसे मधुकी कितने ही लोग श्राद्ध आदि कार्यमें प्रशंसा करते हैं, यह आश्चर्य है ॥५०॥ मधुमक्खियोंके मुखसे निकली हुई लारसे व्याप्त, उनके समस्त मल (विष्टा) से संयुक्त इस अतिनिन्द्य मधुकी सन्त पुरुष इस लोकमें कैसे प्रशंसा करते हैं ? यह आश्चर्य है ॥५१॥

श्री अमृतचन्द्र सूरिने भी कहा है—इस लोकमें मधुका कण भी प्रायः मधु-मक्खियोंकी हिंसा रूप ही होता है, अतः जो मूढ़ बुद्धि पुरुष मधुको खाता है, वह अत्यन्त हिंसक है ॥५२॥ जो पुरुष मधुके छत्तेसे स्वयं ही गिरी हुई मधुको खाता है, अथवा धुंआ आदि करके उन मधु-मक्खियोंको उड़ाकर छलसे मधुको छत्तेसे निकालता है उसमें भी मधु-छत्तेके भीतर रहनेवाले छोटे-छोटे प्राणियोंके घातसे हिंसा होती ही है ॥५३॥

पुष्प नामके नगरमें मधुके आस्वादनका लोलुपी उद्धत बुद्धि ब्राह्मण अपने पुत्रादिके साथ अवश्य ही नाशको प्राप्त हुआ। इसलिए प्राणोंका अन्त होनेपर भी उत्तम परलोकको जानेके इच्छुक धार्मिक जनोंको पाप-प्रद और आपदाओंका पद यह मधु नहीं खाना चाहिए ॥५४॥

च—

मधु नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः। वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तव ॥५५
अन्तर्मुहूर्त्ततो यत्र विचित्रा सत्त्वसन्ततिः। सम्पद्यते न तद्भक्ष्यं नवनीतं विचक्षणैः ॥५६
चित्रप्राणिगणाकीर्णं नवनीतं गतकृपाः। ये खादन्ति न तेष्वस्ति संयमस्य लवोऽपि हि ॥५७
जन्तोरेकतरस्यापि रक्षणे यो विचक्षणः। नवनीतं स सेवेत कथं प्राणिगणाकु ॥५८
एष्वेकमपि यः स्वादादत्ति सोऽपि भवाम्बुधौ। अटाटचते स्फुटं किं वा कथ्यते सर्वभक्षिणः ॥५९
न्यग्रोधपिप्पलप्लक्षकाकोदुम्बरभूरुहाम्। फलान्युदुम्बरस्यापि भक्षयेन्न वि क्षणः ॥६०
स्थावराश्च त्रसा यत्र परे लक्षाः शरीरिणः। तत्पञ्चोदुम्बरोद्भूतं खाद्यते न फलं क्वचित् ॥६१
क्षीरवृक्षफलान्यत्ति चित्रजीवकुलानि यः। संसारपातकं पातकं जायते बहुः ॥६२
धीवरैः प्राणिसङ्घातघातिभिस्ते समानताम्। न्ति वञ्चिताः पापा पञ्चोदुम्बरभक्षणात् ॥६३
क्षामो बुभुक्षयात्यर्थं भक्ष्यमप्राप्नुवन्नपि। नाभक्ष्यं भक्षयेत्प्राज्ञः पिप्पलादिभवं ॥६४

च—

यानि पुनर्भवेयुः कालोच्छि सानि शुष्काणि। भजतस्तान्यपि हिंसा वि रागादिरूपः स्यात् ॥६५
त्वचं कन्दं फलं पत्रमेषां खादन्ति ये नराः। व्रतहानिर्ध्रुवं तेषा व्ये कुतः क्रिया ॥६६

कहा भी है—मधु, मद्य, नवनीत और मांस ये चार महाविकृति हैं, इनमें उसी वर्णके जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं, इसलिए व्रती मनुष्यको ये चारों ही कभी नहीं खाना चाहिए ॥५५॥

अन्तर्मुहूर्तके पश्चात् जिसमें अनेक प्रकारके प्राणियोंकी सन्तति निरन्तर उत्पन्न होती रहती है, वह नवनीत विचक्षण पुरुषोंको नहीं खाना चाहिए ॥५६॥ जो निर्दय पुरुष अनेक प्रकार-के प्राणिगणोंसे व्याप्त नवनीतको खाते हैं, उनके संयमका लेश भी नहीं है, ऐसा जानना चाहिए ॥५७॥ जो एक भी प्राणीकी रक्षा करनेमें विचक्षण है, वह प्राणि-समूहसे व्याप्त नवनीतको कैसे सेवन करेगा ? अर्थात् कभी सेवन नहीं करेगा ॥५८॥ ऊपर कही गई इन चारों महाविकृतियोंमेंसे जो पुरुष एक भी विकृतिको स्वादके वशीभूत होकरके खाता है, वह पुरुष भी संसार-सागरमें निरन्तर परिभ्रमण करता है, तो फिर सभी विकृतियोंके खानेवालेकी तो कथा ही क्या कहना है ? वह तो संसार-सागरमें गोते खावेगा ही ॥५९॥

बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिए कि वह वड़, पीपल, प्लक्ष, काकोदुम्बर और ऊंबर वृक्षोंके फलोंको न खावे ॥६०॥ जिनमें अगणित स्थावर और लाखों त्रस प्राणी पाये जाते हैं वे पंच उदुम्बर वृक्षोंसे उत्पन्न फल व्रती पुरुषके द्वारा कभी नहीं खाये जाते हैं ॥६१॥ जो अनेक जीवोंके समूह-वाले क्षीरीफलोंको खाता है, उसे संसारमें पतन करानेवाला बहुत पाप लगता है ॥६२॥ पंच उदुम्बर फलोंके भक्षणसे वंचित (ठगाये गये) पापी पुरुष प्राणि-समुदायके घात करनेवाले धीवरोंके साथ समानताको प्राप्त होते हैं ॥६३॥ भूखसे अत्यन्त पीड़ित और भक्षण करनेके योग्य वस्तुको नहीं प्राप्त करते हुए भी बुद्धिमान् मनुष्यको पीपल आदिसे उत्पन्न हुए अभक्ष्य फल नहीं खाना चाहिए ॥६४॥

कहा भी है—जो उदुम्बर फल समय पाकर सूख जाते हैं, उनके भीतर रहनेवाले जीव भी उनमें ही सूख जाते हैं, उन सूखे फलोंको भी खानेवाले पुरुषके विशिष्ट रागादिरूप हिंसा होती ही है ॥६५॥

जो मनुष्य इन उदुम्बर और क्षीरी फलोंकी छाल, कन्द, पत्र (पुष्प) और फल खाते हैं

उक्तं च—

न मांससेवने दोषो न ` न च मैथुने । प्रवृत्तिरेवं भूतानामित्यूचुर्विपर्यार्थिनः ॥६७

अनादिकालभ्रमतां भवाब्धौ निर्दयात्मनाम् । कामार्त्तचेतसां याति वचःपेशलतामदः ॥६८

कृपालुतार्द्रबुद्धीनां चारित्राचारशालिनाम् । अमृषाभाषिणामेषां न स्तुत्या गीः क्वचिन्नृणाम् ॥६९

येऽत्र सर्वाशिनो लोके दुराचरणचञ्चवः । नरत्वेऽपि न ते किं स्युः राक्षसा मनुजाधमाः ॥७०

भक्ष्यं स्यात्कस्यचित् किञ्चिदभक्ष्यं स्यात्स्वभावतः । विशेषतो मुमुक्षोस्तन्न विमुक्तिर्व्रतं विना ॥७१

सद्-व्रतं वहतां जिह्मस्वभावं च विमुञ्चताम् । निश्चयाच्छान्तचित्तानामभीष्टं सिध्यति ध्रुवम् ॥७२

विवेच्य बहुधा धीरैस्त्यज्यतामिदमष्टकम् । परलोकक्षतिर्न स्याद्यतः सद्-व्रतधारिणाम् ॥७३

अथवा

सन्दिग्धेऽपि परे लोके त्याज्यमेवाशुभं बुधैः । यदि न स्यात्ततः किं स्यादस्ति चेन्नास्तिको हतः ७४

अन्नपानादिकं कर्म मद्यमांसाशिसद्मसु । प्राणान्तेऽपि न कुर्वीरन् परलोकाभिलाषुकाः ॥७५

पूर्वभाषितं यथा—

भोजनादिषु ये कुर्युरपाङ्क्तेयैः समं जनाः । संसर्गात्तेऽत्र निन्द्यन्ते परलोकेऽपि दुःखिताः ॥७६

उनके नियमसे व्रतोंकी हानि होती है, क्योंकि अकर्तव्य अर्थात् नहीं करने योग्य कार्यके करनेपर व्रत-क्रिया कैसे संभव है ॥६६॥

कहा भी है—विषयोंके अर्थी पुरुष कहते हैं कि न मांस सेवनमें दोष है, न मद्य और मैथुन-के सेवनमें ही दोष है, क्योंकि यह तो प्राणियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है ॥६७॥

जो पुरुष अनादिकालसे भव-सागरमें परिभ्रमण कर रहे हैं, निर्दयी हैं, और कामसे पीड़ित चित्तवाले हैं, उनको ही यह उक्त वचन सुन्दर लगता है ॥६८॥ किन्तु जिनकी बुद्धि दयालुतासे आर्द्र है, जो चारित्रके आचार-विचारवाले हैं और सत्यभाषी हैं ऐसे मनुष्योंको उक्त वाणी क्वचित् कदाचित् भी स्तुत्य नहीं है ॥६९॥ जो लोग इस लोकमें सर्व-भक्षी हैं और दुराचरणमें कुशल हैं, वे मनुष्य होनेपर भी अधम पुरुष राक्षस क्यों न माने जावें ? अर्थात् ऐसे लोगोंको राक्षस ही मानना चाहिए ॥७०॥ किसी मनुष्यको कोई वस्तु स्वभावसे भक्ष्य होती है और किसीको कोई वस्तु स्वभावसे अभक्ष्य होती है। विशेष रूपसे मुक्तिके इच्छुक पुरुष किसी भी अभक्ष्य वस्तुको न खावें, क्योंकि व्रतके विना मुक्ति प्राप्त नहीं होती है ॥७१॥ सद्-व्रतोंको धारण करनेवाले, कुटिल स्वभावको छोड़नेवाले और शान्त चित्त पुरुषोंको निश्चयसे अभीष्ट अर्थकी सिद्धि होती है ॥७२॥ इसलिए धीर-वीर पुरुषोंको चाहिए कि वे अनेक प्रकारसे विचार करके मद्य, मांस, मधु और पंच उदुम्बर फल, इन आठोंके सेवनका परित्याग करें, जिससे कि उन सद्-व्रतधारी जनोंको परलोक-की कोई क्षति नहीं होवे ॥७३॥ अथवा—परलोकके सन्दिग्ध होनेपर भी बुद्धिमानोंको अशुभ कार्य-का त्याग करना ही चाहिए। यदि परलोक नहीं है, तो अशुभके त्यागसे क्या बिगड़ेगा ? अर्थात् कुछ भी नहीं। और यदि परलोक है, तो नास्तिकमती मारा गया। अर्थात् उसके सिद्धान्तका घात हुआ ॥७४॥ जो लोग परलोकको सुन्दर बनानेके अभिलाषी हैं उन्हें प्राणान्त होनेपर भी मद्य-मांस खाने-पीने वालोंके घरोंमें अन्न-पानादि कार्य नहीं करना चाहिए ॥७५॥

जैसा कि पूर्व पुरुषोंका कथन है—जो मनुष्य पंक्तिमें नहीं बैठनेके योग्य ऐसे नीच पुरुषोंके साथ भोजनादि करते हैं, वे मनुष्य उनके संसर्गसे इसी लोकमें निन्दाको प्राप्त होते हैं और परलोक-में भी दुःखी होते हैं ॥७६॥

तैलं सलिलमाज्यं वा चर्मपात्रापवित्रितम् । प्राणान्तेऽपि न गृह्णीयान्नरः सद्-व्रतभूषितः ॥७७
देशकालवशात्तत्स्थमाद्रियन्तेऽत्र ये जनाः । जिनोदितमकुर्वन्तस्तेऽपि निन्द्याः पदे पदे ॥७८
कुत्सितागमसम्भ्रान्ताः कुतर्कहतचे : । वदन्ति वादिनः केचिन्नाभक्ष्यमिह किञ्चन ॥७९
उक्तं च--
जीवयोगाविशेषेण मृगमेषादिकायवत् । मुद्गमाषादिकायेऽपि मित्यपरे जगुः ॥८०
मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं न वा भवेन्मांसम् । यद्वन्निम्बो ो वृक्षस्तु भवेन्न वा निम्बः ॥८१
यद्वद् गरुडः पक्षी पक्षी न तु सर्प एव गरुडोऽस्ति । रामैव चास्ति । माता न तु सर्विका रामा ॥८२
—ततस्त्याज्यमेव ।
प्रायश्चित्तादिशास्त्रेषु विशेषा गणनातिगाः । भक्ष्याभक्ष्यादिषु प्रो कृत्याकृत्ये विमुच्यताम् ॥८३
अथवा
शुद्धं दुग्धं न गोमांसं वस्तुवैचित्र्यमीदृशम् । विषघ्नं रत्नमादेयं विषं च विपदे यतः ॥८४
हेयं पलं पयः पेयं सत्यपि कारणे । विषद्रोरायुषे पत्रं तु मृतये मतम् ॥८५
पञ्चगव्यं तु तैरिष्टं गोमांसे शपथः कृतः । तत्पित्तजाप्युपादेया प्रतिष्ठादिषु रोचना ॥८६

सद्-व्रतसे भूषित मनुष्यको प्राणान्त होनेपर भी चर्म-पात्रसे अपवित्र हुआ तेल, जल और घी नहीं ग्रहण करना चाहिए ॥७७॥ जो मनुष्य देश-कालके वशसे चर्ममें स्थित तेल-घृतादिको ग्रहण करते हैं, वे जिन-भाषित वचनका पालन नहीं करते हुए पद-पदपर निन्दनीय होते हैं ॥७८॥ खोटे आगमके अभ्याससे भ्रम-युक्त, कुतर्कोंसे विनष्ट चित्त कितने ही वादी लोग कहते हैं कि इस संसारमें कुछ भी वस्तु अभक्ष्य नहीं है ॥७९॥

कहा भी है—शरीरमें जीवका संयोग समान होनेसे मृग-मेष आदिके शरीरके समान मूंग, माष (उड़द) आदिके शरीरमें भी मांस है, अर्थात् वनस्पतिज वस्तुएँ भी मांस ही हैं, ऐसा कितने ही दूसरे लोग कहते हैं ॥८०॥

ऐसा कहनेवालोंके लिए आचार्य उत्तर देते हैं—कि मांस तो जीवका शरीर है, किन्तु जो जीवका शरीर है, वह मांस भी हो सकता है और नहीं भी हो सकता है। जैसे कि जो नीम है वह तो वृक्ष अवश्य है; किन्तु जो वृक्ष है, वह नीम भी हो सकता है और नहीं भी हो सकता है ॥८१॥ अथवा जैसे जो गरुड़ है वह तो पक्षी है, किन्तु जो पक्षी हैं, वे सभी गरुड़ नहीं होते हैं। अथवा जैसे माता तो स्त्री है, किन्तु सभी स्त्रियाँ माता नहीं होती हैं ॥८२॥ इसलिए मांस त्याज्य ही है।

प्रायश्चित्तादि शास्त्रोंमें भक्ष्य और अभक्ष्य आदिके विषयमें अगणित विशेष भेद कहे गये हैं, अतः भक्षण करने योग्य पदार्थोंको ग्रहण करना चाहिए और भक्षण नहीं करनेके योग्य पदार्थोंका त्याग करना चाहिए ॥८३॥ अथवा उसी गायसे निकलनेवाला दूध शुद्ध है अतः भक्ष्य है और उसका मांस शुद्ध नहीं, अतः अभक्ष्य है, ऐसी ही वस्तु-स्वभावकी विचित्रता है। जैसे मणिधर सर्पका मणि ग्रहण करनेके योग्य है और उसका विष मारक होनेसे विपत्तिके लिए होता है, अतः ग्रहण करनेके योग्य नहीं होता ॥८४॥ मांस और दूधके उत्पादक कारण समान होनेपर भी मांस हेय है और दूध पेय है। जैसे विषवृक्षका पत्र आयु-वर्धक या जीवन-रक्षक होता है और उसका मूल भाग मरणके लिए कारण माना गया है ॥८५॥ अन्य मतवालोंने पंच गव्यमें दूधको तो स्वीकार्य इष्ट कहा है, किन्तु गोमांसमें शपथ की है, अर्थात् त्याज्य कहा है। उन लोगोंने गायके

अपि च—

शरीरावयवत्वेऽपि मांसे दोषो न सर्पिषि । धेनुदेहसृतं मूत्रं न पुनः पयसा समम् ॥८७

यथा वा तीर्थभूतेव मुखतो निन्द्यते हि गौः । वन्द्यते पृष्ठतः सैव कियदित्यं प्रकाश्यताम् ॥८८

तच्छाक्यसांख्यचार्वाकवेदवैद्यकपर्दिनाम् । मतं विहाय हातव्यं मांसं श्रेयोर्थिभिः सदा ॥८९

अवन्तीविषये चण्डो मातङ्गो मांसवर्जनात् । यक्षाधिपतिसाम्राज्यं प्रपेदे करुणाङ्कितः ॥९०

पूर्वभाषितकाव्यद्वयम्—

अज्ञातकं फलमशोधितशाकपत्रं पूगीफलानि सकलानि च हट्टचूर्णम् ।
मालिन्यसर्पिरपरीक्षितमानुषान्नं हेयं विवेककलितैर्जिनतत्त्वविद्भिः ॥९१

आमगोरससम्पृक्तं द्विदलं द्रोणपुष्पिका । सन्धानकं कलिङ्गं च नाद्यते शुद्धदृष्टिभिः ॥९२

शिम्बयो मूलकं विल्वफलं च कुसुमानि च । नालीसूरणकन्दश्च त्यक्तव्यं शृङ्गवेरकम् ॥९३

शतावरो कुमारी च गुडूची गिरिकर्णिका । स्नुही त्वमृतवल्ली च त्यक्तव्या कोमलाम्लिका ॥९४

सर्वे किशलयाः सूक्ष्मजन्तुसन्तानसङ्कुलाः । आर्द्रकन्दाश्च नाद्यन्ते भवभ्रमणभीरुभिः ॥९५

अन्तरायाश्च सप्त पालनीयाः ।   था—

मांसर   चर्मास्थिसुरादर्शनतस्त्यजेत् । मृताङ्गिवीक्षणादन्नं प्रत्याख्यातान्नसेवनात् ॥९६

पित्तसे उत्पन्न होनेवाले गोरोचनको प्रतिष्ठा आदि कार्योंमें उपादेय कहा है ॥८६॥ और भी देखो—शरीरका अवयव होनेपर भी मांसके भक्षणमें दोष कहा गया है, किन्तु घीके भक्षणमें दोष नहीं कहा गया है। गायके देहसे निकला मूत्र दूधके समान पेय नहीं माना जाता है ॥८७॥ अथवा अन्य मत वाले गौको तीर्थ स्वरूप मानते हैं, परन्तु मुखसे उसके स्पर्शको निन्द्य और पृष्ठ भागसे उसे वन्द्य मानते हैं। इस प्रकार इस विषयमें कितना कहा जाय ॥८८॥ इसलिए शाक्य (बौद्ध), सांख्य, चार्वाक (नास्तिक), वेद, वैद्य और कापालिक लोगोंके मतको छोड़कर आत्मकल्याणके इच्छुक जनोंको मांसका सदा ही त्याग करना चाहिए ॥८९॥ अवन्ती देशमें चण्डनामक मातंग मांसके त्यागसे करुणा युक्त होकर यक्षदेवोंके आधिपत्यरूप साम्राज्यको प्राप्त हुआ ॥९०॥ (इसकी कथा प्रथमानुयोगसे जाननी चाहिए।)

इस विषयमें पूर्व पुरुषोंसे कहे गये दो काव्य इस प्रकार है—

अज्ञात फल, अशोधित शाक-भाजी, सभी प्रकारके सुपारी, वादाम, मूंगफली आदि फल, हाट—वाजारका वना चूर्ण एवं वाजारू आटा—कनक, चून आदि मलिनता-युक्त घी, अपरीक्षित मनुष्यका अन्न विवेक-युक्त अर्थात् हेय और उपादेय तत्त्वके जानकारोंको छोड़ना चाहिए ॥९१॥ इसी प्रकार शुद्ध सम्यग्दृष्टि पुरुषोंको कच्चे दूध-दही-छांछसे मिश्रित द्विदल पदार्थ, द्रोणपुष्प, सन्धानक (अचार-मुरब्बा आदि) और कालिन्द (तरवूज) नहीं खाना चाहिए ॥९२॥

सेम, मूली, विल्व फल, पुष्प, नाली सूरण, जमीकन्द, और अदरकका भी त्याग करना चाहिए। शतावरी, कुमारी, गुरवेल, गिरिकर्णिका, थूहर, अमरवेल, और कोमल इमली भी छोड़ना चाहिए ॥९३-९४॥ सभी प्रकारके कोमल पत्ते, सूक्ष्म जन्तुओंके समूहसे व्याप्त फल-पुष्पादि और गीले कन्द भी संसार-परिभ्रमणसे डरनेवाले लोगोंको नहीं खाना चाहिए ॥९५॥

भोजन करनेके समय ये सात अन्तराय भी पालन करना चाहिए। मांस, रक्त, गीला चमड़ा, हड्डी और मदिराको देखनेके वाद भोजनका त्याग करे। भोजनमें मरे हुए जन्तुको देखकर भोजन

पर्यटन्तोऽतिकौटिल्यपटवो कुर्वते । उच्छिष्ट प्रे भुञ्जीत को निशि ॥९७
पंति :पूरे पतन्तः प्राणिनो म् । यत्रान्ने ोक्यन्ते तत्र रात्रौ न भुज्यते ॥९८
मक्षिका तनुते छर्दि कुष्टव्याधिं च कोलिकः । मेधां पिपीलिकाऽवश्यं निर्वासयति भ ॥९९
दन्तभङ्गं दृषत्खण्डं कुरुते गोमयो घृणाम् । भोज्ये च पतिता यूका वितनोति जलोदरम् ॥१००
शिरोरुहः स्वरध्वंसं कण्ठपीडां च कण्टकः । वृश्चिकस्तालुभङ्गं च तनुते नात्र संशयः ॥१०१
यतोऽन्येऽपि प्रजायन्ते दोषा वाचामगोचराः । विमुञ्चन्तु : सन्तः पापकृत्त शनम् ॥१०२
उक्तं च परमते—
त्रयी तेजोमयो भानुरिति वेदविदो विदुः । तत्करैः पूतमखिलं शुभं कर्म समाचरेत् ॥१०३
नैवाहुतिर्न च स्नानं न श्राद्धं दे नम् । दानं वा विहितं रात्रौ भोजनं तु विशेषतः ॥१०४
दिवसस्याष्टमे भागे मन्दीभूते दिवाकरे । तं नक्तं हि विजानीयान्न नक्तं निशिभोजनम् ॥१०५
देवैस्तु भुक्तं पूर्वाह्णे मध्याह्ने ऋषिभिस्तथा । अपराह्णे तु पितृभिः सायाह्ने दैत्यदानवैः ॥१०६
सन्ध्यायां यक्षरक्षोभिः सदा भुक्तं कुलोद्वह । सर्ववेलां व्यति रात्रौ भुक्तमभोजनम् ॥१०७
ये रात्रौ सर्वदाहारं वर्जयन्ति सुमेधसः । पक्षोपवासस्य मासेन ॥१०८

छोड़े और त्याग किये अन्नका सेवन यदि भूलसे हो जाय, तो ज्ञात होते ही उसका खाना छोड़ देवे ॥९६॥ जिस रात्रिके समय पर्यटन करनेवाले और कुटिलतामें अति पटु ऐसे प्रेत-राक्षस आदि अन्नको उच्छिष्ट कर देते हैं, ऐसी उस रात्रिमें कौन भोजन करेगा ? अर्थात् कोई भी नहीं ॥९७॥ जिस रात्रिमें अन्धकारके प्रसार होनेपर अन्नमें प्रचुरतासे गिरनेवाले प्राणी दिखाई नहीं देते हैं, ऐसी रात्रिमें नहीं खाना चाहिए ॥९८॥ रात्रिमें भोजन करते समय नहीं दिखाई देनेसे यदि मक्खी खायी जावे तो तत्काल वमन करा देती है, मकड़ी कुष्ट व्याधि करती है, और कीड़ी-मकोड़ा अवश्य ही मेधाका विनाश करते हैं ॥९९॥ पत्थरका खण्ड दन्त भंग कर देता है, गोवर घृणा पैदा करता है, और भोजनमें गिरी हुई जूं जलोदरको करती है ॥१००॥ बाल स्वरके भंगको और कांटा यदि खाया जावे तो कण्ठकी पीड़ाको करता है। यदि विच्छू खानेमें आ जाय तो तालु-भंग करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥१०१॥ यतः इसी प्रकारके अन्य भी वचनके अगोचर अगणित दोष रात्रि-भोजन करनेसे उत्पन्न होते हैं, अतः सन्त पुरुषोंको महापापकारी रात्रि भोजन छोड़ देना चाहिए ॥१०२॥

अन्यमतके शास्त्रोंमें भी कहा है—

वेदके वेत्ता पुरुष सूर्यको तीन लोकमें तेजोमय कहते हैं। उस सूर्यकी किरणोंसे पवित्र हुए समयमें ही सभी शुभ कर्म करना चाहिए ॥१०३॥ रात्रिमें न आहुति-हवन, विहित (शास्त्र-प्रतिपादित) है, न स्नान, न श्राद्ध, न देवताका पूजन और न दान विहित है। अर्थात् वे कार्य करना निषिद्ध है। फिर भोजन तो विशेषरूपसे निषिद्ध है ॥१०४॥ दिनके अष्टम भागमें जब सूर्य मन्द प्रकाशवाले हो जाते हैं, उसे नक्त अर्थात् रात्रि जाननी चाहिए। रात्रिमें खाना ही नक्त-भोजन नहीं है। किन्तु सूर्यके प्रकाश मन्द हो जानेपर खाना भी नक्त भोजन में परिगणित समझना चाहिए ॥१०५॥ देव लोग तो पूर्वाह्णके समय भोजन करते हैं, ऋषि लोग मध्याह्नके समय, पितृगण अपराह्णके कालमें और दैत्य-दानव सायंकालमें भोजन करते हैं ॥१०६॥ हे कुलपुत्र, यक्ष-राक्षस सन्ध्याके समय सदा भोजन करते हैं। उपर्युक्त सर्व वेलाओंको अतिक्रम करके रात्रिमें खाना तो अभोजन है, अर्थात् राक्षस-पिशाचोंसे भी गर्हित भोजन है ॥१०७॥ जो सद्-बुद्धिवाले पुरुष सदा ही

मृते स्वजनमात्रेऽपि सूतकं जायते ध्रुवम् । अस्तंगते दिवानाथे भोजनं क्रियते कथम् ॥१०९
नोदकमपि पीतव्यं रात्रावत्र युधिष्टिर । तपस्विना विशेषेण गृहिणा च विवेकिना ॥११०
निशाशनं वितन्वानाः प्राणिप्राणक्षयङ्करम् । पिशाचेभ्योऽतिरिच्यन्ते कथं ते नात्र दुर्धियः ॥१११
खादन्नहर्निशं योऽत्र तिष्ठति व्यस्तचेतनः । शृङ्गपुच्छपरिभ्रष्टः स कथं न पशुर्भवेत् ॥११२
वासरस्य मुखे चान्ते विमुच्य घटिकाद्वयम् । योऽशनं सम्यगाधत्ते तस्यानस्तमितव्रतम् ॥११३
अकृत्वा नियमं रात्रिभोजनं हि त्यजन्नपि । न प्राप्नोति फलं तस्माद् भव्यो नियममाचरेत् ॥११४
ये विमुच्य दिवा भुक्तिं तमस्विन्यां वितन्वते । तेऽत्र चिन्तामणिं हित्वा गृह्णन्ति खलखण्डकम् ॥११५
धर्मबुद्धया तमस्विन्यां भोजनं ये वितन्वते । आरोपयन्ति ते पद्मवनं वह्नौ विवृद्धये ॥११६
निःशेषेऽह्नि बुभुक्षां ये सोढ्वा सुकृतकाङ्क्षया । भुञ्जते निशि संवर्ध्य कल्पागं भस्मयन्ति ते ॥११७
उक्तं च—उलूककाकमार्जारगृद्धसंबरशूकराः । अहिवृश्चिकगोधाश्च जायन्ते रात्रिभोजनात् ॥११८
रात्रिभुक्तिविमुक्तस्य ये गुणाः खलु जन्मिनः । सर्वज्ञमन्तरेणान्यो न सम्यग् वक्तुमीश्वरः ॥११९

चञ्चन्नीरजलोचना युवतयः पुत्रा विचित्राः सदा
भक्ता बन्धुजना गतामयचयः कायः स्थिराः सम्पदः ।
वाणी चारुरसोज्ज्वला जितशशिस्फारत्विषः कीर्तयो
हस्त्यश्वाः प्रचुरीभवन्ति रजनीभुक्तिप्रमुक्ते नृणाम् ॥१२०

रात्रिमें आहारका त्याग करते हैं उनके एक मासमें एक पक्षके उपवासका फल प्राप्त होता है ॥१०८॥ अपने एक स्वजनके मृत अर्थात् दिवंगत हो जानेपर जब नियमसे सूतक लगता है, तब दिवानाथ (सूर्य) के अस्तंगत हो जानेपर भोजन कैसे करना चाहिए ॥१०९॥ हे युधिष्ठिर, इस रात्रिके समय विवेकी गृहस्थको और विशेषरूपसे तपस्वीको पानी भी नहीं पीना चाहिए ॥११०॥

प्राणियोंके प्राणोंका क्षय करनेवाले रात्रि भोजनको करते हुए दुर्बुद्धि मनुष्य इस लोकमें पिशाचोंसे भी गये बीते कैसे नहीं हैं ? अर्थात् अवश्य हैं ॥१११॥ जो अस्त चेतनावाला पुरुष इस लोकमें दिन-रात खाता रहता है, वह सींग और पूँछसे रहित पशु कैसे न माना जाय ? अर्थात् उसे तो पशु मानना ही चाहिए ॥११२॥ जो मनुष्य दिनके प्रारम्भमें और अन्तमें दो घड़ी समय छोड़ करके दिनके सम्यक् प्रकाशमें भोजन करते हैं, उनके ही अनस्तमितव्रत अर्थात् रात्रि भोजनका त्याग जानना चाहिए ॥११३॥ नियम न करके रात्रिभोजनको नहीं करता हुआ भी पुरुष रात्रि-भोजन-त्यागके फलको नहीं पाता है, इसलिए भव्य पुरुषको रात्रिभोजन-त्यागका नियम लेना चाहिए ॥११४॥ जो लोग दिनमें भोजन छोड़कर अँधेरी रात्रिमें भोजन करते हैं, वे लोग यहाँ चिन्तामणिरत्नको छोड़कर खलीके खंडको ग्रहण करते हैं ॥११५॥ जो पुरुष धर्मबुद्धिसे रात्रिमें भोजन करते हैं, मानों वे कमलवनको बढ़ानेके लिए उसे अग्निमें रखते हैं ॥११६॥ जो सारे दिन भूखको सहन करके पुण्यकी वांछासे रात्रिमें खाते हैं, वे मानों कल्पवृक्षको बढ़ाकर अग्निमें भस्म करते हैं ॥११७॥

कहा भी है—रात्रिमें भोजन करनेसे उलूक, काक, मार्जार, गिद्ध, श्वापद, शूकर, सर्प, वृश्चिक और गोधा आदि जानवर होते हैं ॥११८॥

रात्रिभोजनके त्याग करनेवाले मनुष्यके जो गुण होते हैं, उन्हें सर्वज्ञके विना अन्य कौन पुरुष कहनेके लिए समर्थ है । कोई भी नहीं ॥११९॥ रात्रिके भोजनका त्याग करनेपर मनुष्योंको पर भवमें विकसित कमलके समान लोचनवाली युवती स्त्रियाँ प्राप्त होती हैं, विविध प्रकारके

भर्तृबहुमानपात्रं वि विचित्राब्जपत्रनिभनेत्राः ।
सुभगा भोजननियमाद् रात्रेः सञ्जायते नारी ॥१२१

अणु नि पञ्च स्युस्त्रिप्रकारं गुणव्र । शिक्षा नि चत्वारि सागाराणां जिनागमे ॥१२२
हिंसातोऽसत्यतः स्तेयान्मैथुनाच्च परिग्रहात् । यदेकदेशविरतिस्तदणुव्रतपञ्चकम् ॥१२३
यत्कषायोदयात् प्राणिप्राणानां व्यपरोणम् । न क्वापि तदहिंसाख्यं व्रतं विश्वहितङ्करम् ॥१२४
विलोक्यानिष्टकुष्टित्वङ्गुपत्वादिफलं सुधीः । त्रसानां न क्वचित्कुर्यान्मनसा पि हि हिंसनम् ॥१२५
स्थावरेष्वपि सत्त्वेषु न कुर्वीत निरर्थकाम् । स्थातुं मोक्षसुखं काङ्क्षन् हिंसां हिंसापराङ्मुखः ॥१२६
स्थावराणां चतुष्कं यो विनिघ्नन्नपि रक्षति । त्रसानां दशकं स स्याद् विरताविरतः सुधीः ॥१२७

वेदनां तृणभवामपि स्वयं यो न सोढुमतिमूढधीः प्रभुः ।
प्राणिनां भयवतां गणे कथं स क्षिपन्नरि रान्न लज्जते ॥१२८

उक्तं च— म्रियस्वेत्युच्यमानोऽपि देही भवति दुःखि ः ।
मार्यमाणः प्रहरणैर्दारुणैः स कथं भवेत् ॥१२९

जिजीविषति सर्वोऽपि सुखितो दुःखितोऽथवा । ततो जीवनदाताऽत्र किं न दत्तं महीतले ॥१३०

सद्-गुणवाले पुत्र उत्पन्न होते हैं, सदा भक्ति करनेवाले वन्धुजन प्राप्त होते हैं, रोग-रहित शरीर मिलता है, सदा स्थिर रहनेवाली सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं, सुन्दर मिष्ट रस-परिपूरित उज्ज्वल वाणी प्राप्त होती है, चन्द्रमाकी उज्ज्वल किरणोंको भी जीतनेवाली शुभ्रकीर्त्ति फैलती है और हाथी-घोड़े प्रचुर प्रमाणमें प्राप्त होते हैं ॥१२०॥ जो स्त्री रात्रिमें भोजन-त्यागका नियम करती है, वह उसके फलसे परभवमें अपने भर्तारके वहुसन्मानकी पात्र होती है, विकसित कमलपत्रके समान सुन्दर नेत्रवाली और सदा सौभाग्यवाली नारी होती है ॥१२१॥

पाँच अणुव्रत, तीन प्रकारके गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये वारहव्रत जिनागममें श्रावकोंके कहे गये हैं ॥१२२॥ हिंसासे, असत्यसे, चोरीसे, मैथुनसे और परिग्रहसे जो एकदेश विरति की जाती है, वही पाँच अणुव्रत कहे जाते हैं ॥१२३॥ कषायके उदयसे प्राणियोंके प्राणोंका कभी कहीं भी घात नहीं करना सो विश्वका हितकारी अहिंसा नामका व्रत है ॥१२४॥ हिंसाके कोढ़ीपना पंगुपना आदि अनिष्ट फलको देखकर वुद्धिमान् मनुष्यको कभी भी मनसे त्रस प्राणियोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिए ॥१२५॥ हिंसासे पराङ्मुख रहने और स्थिर मोक्ष सुखकी इच्छा करनेवाले पुरुषको स्थावर जीवोंकी भी निरर्थक हिंसा नहीं करनी चाहिए ॥१२६॥ जो पृथ्वी, जल, अग्नि और वनस्पति इन चार स्थावरोंका घात करता हुआ भी द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञिपंचेन्द्रिय और संज्ञिपंचेन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्तरूप त्रसदशककी रक्षा करता है वह वुद्धिमान् विरताविरत श्रावक होता है ॥१२७॥ जो अति मूढ़वुद्धि पुरुष तृण-जनित स्वल्प भी वेदनाको सहन करनेके लिए समर्थ नहीं है, वह भयभीत प्राणियोंके समूहपर तीक्ष्ण तलवार, वाण आदिको फेंकता हुआ क्यों नहीं लज्जित होता है ॥१२८॥

कहा भी है—'तुम मर जाओ' ऐसा कहे जानेपर भी जव प्राणी दुःखी होता है, तव दारुण-शस्त्रोंसे मारा जाता हुआ व कैसे दुःखी नहीं होगा । अर्थात् अवश्य ही भारी दुःखका अनुभव करता है ॥१२९॥

सभी सुखी या दुखी प्राणी जीनेकी इच्छा करते हैं । इसलिए जो दूसरेका जीवन-दाता है,

सर्वासामपि देवीनां दयादेवी गरीयसी । या ददाति ˋभ्यो जीवेभ्योऽभयदक्षिणाम् ॥१३१

यथेह मम जीवितं प्रियमदः प्रमोदप्रदं तथा खलु परस्य तद् भवति देहभाजोऽधिकम् ।
विचार्य सुखकाङ्क्षिणा सुकृतिनेति हिंसानिशं भयप्रचयदायिनी न मनसापि चिन्त्या क्वचित् ॥१३२

भूतेभ्यो भयमारकम्पिततनुभ्यो योऽभयं भावतो
दत्ते व्यक्तमतिर्विमुक्तिवनिताप्रीतिप्रियं भावुकम् ।
तेभ्यस्तस्य भयं न जातु यदिदं ˊप्रसिद्धं वचो
यादृग्दीयत एव तादृगवनौ सम्प्राप्यते प्रत्युत ॥१३३

दासीदासनिवासधान्यवसुधाधेनुस्फुरत्कन्यका-
रत्नस्वर्णधनादिदानमनिशं ये कुर्वते ˋ: ।
भूयान्सः खलु ते जगज्जनमनोहर्षप्रकर्षप्रदं
ये यच्छन्त्यभयं तु सन्ति यदि वा द्वित्रा न ते :॥१३४

निशातधारमालोक्य खड्गमुत्खातमङ्गिनः । कम्पन्ते त्रस्तनेत्रास्ते नास्ति मृत्युसमं भयम् ॥१३५

प्राणिघातः कृतो देवपित्रर्थमपि शान्तये । न क्वचित् किं गुडश्लिष्टं न विषं प्राणिघातकम् ॥१३६

उक्तं च— हिंसा विघ्नाय जायेत विघ्नशान्त्यै कृतापि हि ।
कुलाचारधियाप्येषा कृता कुलविनाशिनी ॥१३७

अपि शान्त्यै न कर्तव्यो बुधैः प्राणिवधः क्वचित् । यशोधरो न सञ्जातस्तं कृत्वा किमु दुर्गतिम् ॥१३८

उसने इस भूतलपर क्या नहीं दिया। अर्थात् सभी कुछ दिया ॥१३०॥ सभी देवियोंमें दयादेवी गौरवशालिनी है, जो कि समस्त जीवोंके लिए अभयदानकी दक्षिणा देती है ॥१३१॥ जैसे मेरा जीवन मुझे प्रिय और प्रमोद-प्रद है, निश्चयसे वह दूसरे जीवको भी अधिक प्रिय और आनन्द-दायक है। ऐसा विचारकर सुखके आकांक्षी सुकृती पुरुषको निरन्तर भय-समूहकी देनेवाली हिंसा कभी भी कहीं मनसे भी नहीं चिन्तवन करनी चाहिए ॥१३२॥ जो विशाल बुद्धिवाला मनुष्य भय-की मारसे कम्पित शरीरवाले जीवोंके लिए भावोंसे मुक्ति-वनिताकी प्रीतिका प्रिय भव्य अभयदान देता है, उसे उन जीवोंसे कभी भी भय नहीं होता है। क्योंकि यह वचन जगत्में सर्व-प्रसिद्ध है कि जो इस भूमण्डलमें जैसा देता है, बदलेमें वैसा ही प्राप्त करता है ॥१३३॥ जो निरन्तर दासी, दास, निवास (मकान), धान्य, पृथ्वी, धेनु, सुन्दर कन्या, रत्न, सुवर्ण और धनादिका सर्व ओर दान करते हैं, ऐसे लोग संसारमें निश्चयसे बहुत हैं। किन्तु जो जगत्के जनोंके मनोंको हर्षातिरेक देनेवाला अभयदान देते हैं, वे इस संसारमें दो-तीन ही हैं, वे पाँच-छह भी नहीं हैं ॥१३४॥ तीक्ष्ण धारवाली उठाई हुई तलवारको देखकर प्राणी चंचल नेत्रवाले होकर काँपने लगते हैं, क्योंकि-मरण-के समान दूसरा कोई भय नहीं ॥१३५॥ देवता और पितरोंकी शान्तिके लिए किया गया प्राणिघात कभी भी शान्तिके लिए नहीं होता; गुड़से मिला हुआ भी विष क्या प्राणियोंके प्राणोंका घातक नहीं होता है? अवश्य ही होता है ॥१३६॥

कहा भी है—विघ्नोंकी शान्तिके लिए की गई भी हिंसा विघ्नोंके लिए ही कारण होती है। कुलके आचार-विचारसे की गई भी हिंसा कुलका ही विनाश करनेवाली होती है ॥१३७॥ ज्ञानियोंको शान्तिके लिए भी कभी प्राणि-वध नहीं करना चाहिए। यशोधर राजा उसे करके क्या दुर्गतिको प्राप्त नहीं हुआ? अवश्य ही हुआ है ॥१३८॥

च— कुणिर्वरं वरं पङ्गुः शरीरी च वरं पुमान् ।
अपि सर्वाङ्गसम्पूर्णो न तु हिंसापरायणः ॥१३९

अहो धनलवाद्यर्थं हिंसाशास्त्रोपदेशकैः । कुबुधैः क्षिप्यते क्षिप्रं जनोऽयं नरकावनौ ॥१४०

यदाहुः— यज्ञार्थं प :सृष्टाः ब्रह्मणा च स्वयम्भुवा ।
यज्ञोऽस्य भूत्यै सत्त्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥१४१

या हिंसा-वासितावश्यं तया बुद्धया तु किं फलम् । तेन स्वर्णेन किं यत्स्यात्कर्णच्छेदनहेतवे ॥१४२

गत्वा तीर्थेषु पृथ्वीमणिकनककनत्कन्यकादिप्रदानं
तन्वन्त्वज्ञानपङ्कोत्करभिदुरमरं शास्त्रवार्धि तरन्तु ।
कुर्वन्तूग्रं तपस्त्रिजगदभिमतं पालयन्त्वत्र शीलं
प्राणित्राणप्रवीणा यदि न खलु तदा देहिनोऽमुक्तिभाजः ॥१४३

येन येन प्रजायेत प्राणिनां भूयसी व्यथा । तत्तन्निवारयेत्साधुः परलोकाभिलाषुकः ॥१४४

दयामृतेन व्रतमेकमप्यलं व्यपोहितुं कर्मकलङ्ककालिकाम् ।
विना दिनाधीशमृक्षं महोज्ज्वलं निहन्तुमृक्षं क्षणदा किमु क्षमम् ॥१४५

जिनध्यानं ज्ञानं व्यसनहरणं पूज्यचरणे प्रणीता पूजा वा करणशमनं कामदमनम् ।
तपश्चीर्णं स्वर्णादिकमपि वितीर्णं यदि दया न चित्ते नृत्यं वा तमसि विफलं याति निरि म् ॥१४६

और भी कहा है—कोढ़ से गलित हाथवाला मनुष्य होना श्रेष्ठ है और पंगु (लँगड़ा) मनुष्य होना अच्छा है। किन्तु हिंसा करनेमें तत्पर रहनेवाला सर्वाङ्ग सम्पन्न पुरुष होना अच्छा नहीं है ॥१३९॥

अहो आश्चर्यकी वात है कि अल्प धनादिकी प्राप्तिके लिए हिंसा करनेवाले शास्त्रोंके उपदेशक कुपंडितों द्वारा यह जन-समुदाय नरककी भूमिमें शीघ्र फेंक दिया जाता है ॥१४०॥

जैसा कि ये कुपंडित लोग कहते हैं—स्वयम्भू ब्रह्माने यज्ञके लिए ही पशु रचे हैं। यज्ञ इस प्राणीकी विभूतिके लिए होता है, इसलिए यज्ञमें किया गया जीव-वध जीवघात नहीं है ॥१४१॥

जो वुद्धि हिंसासे वासित है, अवश्य ही उस वुद्धिसे क्या फल (लाभ) है? उस सुवर्णसे क्या लाभ—जो कानोंके छेदनका कारण हो ॥१४२॥ तीर्थोंमें जाकर भूमि, मणि, सुवर्ण, सुन्दर कन्या आदिका चाहे दान करें, अज्ञानरूपी कीचड़से भरे हुए शास्त्र-समुद्रको चाहे पार कर लें, चाहे घोर उग्र तपश्चरण करें, और चाहे त्रिजगत्‌में उत्तम माने जाने वाले शीलका पालन करें, किन्तु यदि ये लोग प्राणियोंकी रक्षामें प्रवीण नहीं हैं; अर्थात् जीवोंकी रक्षा नहीं करते हैं, तव वे मनुष्य मुक्तिके भागी नहीं हो सकते हैं ॥१४३॥ जिन जिन निमित्तोंसे प्राणियोंको भारी व्यथा होती हो, परलोकके अभिलाषी साधु पुरुषको उन उन निमित्तोंका निवारण करना चाहिए ॥१४४॥ दयारूपी अमृतके साथ पालन किया गया एक भी व्रत कर्मरूपी कलंककी कालिमाको दूर करनेके लिए समर्थ है। महान् उज्ज्वल दिवाकर—सूर्यके विना नक्षत्र क्या रात्रिके अन्धकारको विनाश करनेके लिए समर्थ है? कभी नहीं ॥१४५॥ यदि हृदयमें दया नहीं है तो जिनदेवका ध्यान करना, व्यसनोंका हरण करने वाला ज्ञान पाना, पूज्य पुरुषोंके चरणोंकी खूब पूजा करना, इन्द्रियोंका शमन करना, कामका दमन करना, तपश्चरण करना और सुवर्णादिका दान करना ये सर्व कार्य इस प्रकारसे निष्फल हैं, जिस प्रकारसे कि अन्धकारमें नृत्य करना व्यर्थ होता है ॥१४६॥ एक ही मच्छकी पांच

पाठीनस्य किलैकस्य रक्षणात्पञ्चधापदः । व्यतीत्य सम्पदं प्रापद् धनकीर्त्तिर्मनीषिताम् ॥१४७
जिनपतिपदे स्फीता भक्तिर्घना नृपमानता रतिपतिसमं रूपं चन्द्रप्रभाप्रतिभं यशः ।
श्रुतं विकलं रम्या रामा गृहे परमा रमा कुलमपमलं यत्तद्दयाव्रततीफलम् ॥१४८
जीवातुः शुभसम्पदां शमवनी-कादम्बिनी शर्मणां खानिर्ज्ञानकलाऽवनिर्भवलसत्सन्तापशैलाशनिः ।
दुःखाब्धेस्तरणिर्विमुक्तिसरणिः स्वर्गस्य निःश्रेणिका भूतेषु क्रियतां कृपा किमपरैस्तैस्तैस्तपोविस्तरैः १४९
छेदनं ताडनं वन्धो वहुभाराधिरोपणम् । रोधोऽन्नपानयोः पञ्चातीचाराः प्रथमव्रते ॥१५०
उक्तं चामृतचन्द्रसूरिभिः—
अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति । तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥१५१
युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि । न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥१५२
व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम् । म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥१५३
यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनाऽऽत्मानम्। पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु १५४
अविधायापि हि हिंसां हिंसाफलभाजनं भवत्येकः । कृत्वाप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात्॥१५५
एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम् । अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ॥१५६
एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य। व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र १५७

वार रक्षा करनेसे धनकीर्त्ति पांच प्रकारकी आपदाओंको पार करके मनोवांछित सम्पदाको प्राप्त हुआ ॥१४७॥ जिनेन्द्र देवके चरणोंमें उत्तम भक्ति होना, अच्छी राजमान्यता प्राप्त होना, रति-पति (कामदेव)के समान रूप मिलना, चन्द्रमाकी प्रभाके सदृश निर्मल यश फैलना, अविकल श्रुत-ज्ञान पाना, सुन्दर रामा पाना, घरमें भर-पूर लक्ष्मी रहना, और निर्मल कुल पाना, ये सब दयारूपी वेलिके फल हैं ॥१४८॥ शुभ सम्पदाओंकी संजीविनी औषधि, शमभावोंकी वनस्थलीके लिए मेघ-माला, सुखोंकी खानि, ज्ञानकलाकी भूमि, भव-जनित सन्ताप रूप शैलोंको विनाश करनेके लिए अशनि (वज्र), दुःख-सागरको तिरनेके लिए नौका, विमुक्तिकी श्रेणी (सीढ़ी) और स्वर्गकी नसेनी ऐसी एक दया ही प्राणियोंपर करनी चाहिए। अन्य दूसरे उन उन तपोंके विस्तारसे क्या प्रयोजन है ? भावार्थ—सभी मनोरथ एक मात्र जीवदयासे ही सिद्ध हो जाते हैं ॥१४९॥ इस अहिंसाणुव्रतके ये पांच अतिचार हैं—किसी भी प्राणीके अंगोंका छेदन करना, ताड़ना देना, बांधना, अधिक भार लादना और अन्न-पानका निरोध करना इन्हें नहीं करना चाहिए ॥१५०॥

आचार्य अमृतचन्द्रसूरिने कहा है—रागादि भावोंका उत्पन्न नहीं होना ही अहिंसा है और उनका उत्पन्न होना ही हिंसा है। इतना ही जैन आगमका सार है ॥१५१॥ प्रमाद-रहित होकर सावधानी-पूर्वक योग्य आचरण करनेवाले सन्त पुरुषके रागादि भावोंके आवेशके विना केवल प्राणोंका घात होने से हिंसा कभी नहीं कहलाती है ॥१५२॥ किन्तु प्रमाद-अवस्थामें रागादि भावोंके आवेशसे अयत्नाचारी प्रवृत्ति होनेपर जीव मरे, या न मरे, किन्तु हिंसा निश्चयसे आगे ही दौड़ती है ॥१५३॥ क्योंकि प्रमाद-परिणत जीव कषाय-सहित होकर पहले अपने द्वारा अपना ही घात करता है, फिर पीछे भले ही अन्य प्राणियोंकी हिंसा हो, या न हो ॥१५४॥ कोई जीव हिंसाको नहीं करके भी हिंसाके फलका भागी होता है और दूसरा हिंसा करके भी हिंसाके फलका भागी नहीं होता ॥१५५॥ किसी जीवके तो की गयी अल्प भी हिंसा उदय कालमें बहुत फलको देती है और किसी जीवके महा-हिंसा भी उदयके परिपाक समय अत्यल्प फलको देती है ॥१५६॥ एक साथ दो व्यक्तियोंके द्वारा मिलकरके की गयी भी हिंसा उदय-कालमें विचित्रताको प्राप्त होती है। अर्थात् वही हिंसा एकको तीव्र फल देती है और दूसरेको

एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः । बहवो विदधति हिंसां हिंसा भुग् भवत्येकः ॥१५८
अमृतत्वहेतुभूतं परममहिंसारसायनं लब्ध्वा। अवलोक्य बालिशानाम जसमाकुलैर्न भवितव्यम्॥१५९
सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति। इतिधर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्याः॥१६०
पूज्यनिमित्तं घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति। इति धार्य नातिथये सत्त्व ज्ञपनम्॥१६१

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिति स ।
इति दुर्विवेकफलितां धिषणां प्राप्य न देहिनो हिंस्याः ॥१६२

बहुसत्त्वघातजनितादशनाद्वरमेकसत्त्व ोत्थम् । इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्य हिंसनं जातु॥१६३
रक्षा भवति बहूनामेक स्य जीवहरणेन । इति मत्वा कर्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम् ॥१६४

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरु पापम् ।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिं ीया शरीरिणो हिंस्राः ॥१६५
बहुदुःखाः संज्ञपिताः प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्ति ।
इति वासनाकृपाणीमादाय न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः ॥१६६

कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिन एव। इति त ण्डलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः॥१६७
दृष्ट्वा परं पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिमायान्तम् । निजमांसदानरभसादालभनीयो न चात्मापि॥१६८

मन्दफल देती है ॥१५७॥ एक जीव हिंसाको करता है, परन्तु फल भोगनेके भागी अनेक होते हैं। इसी प्रकार अनेक जीव हिंसाको करते हैं, किन्तु हिंसाके फलका भोगने वाला एक ही पुरुष होता है ॥१५८॥ अमृत पद मोक्षके कारणभूत परम अहिंसाधर्मरूपी रसायनको पाकरके भी अज्ञानी जनोंके असंगत व्यवहारको देखकर ज्ञानी जनोंको आकुल-व्याकुल नहीं होना चाहिए ॥१५९॥ 'भगवान्‌के द्वारा प्रणीत धर्म सूक्ष्म है, धर्म-कार्यके लिए हिंसा करनेमें दोष नहीं है' इस प्रकार धर्म-विमूढ़ हृदयवाले होकर कभी किसी प्राणीकी हिंसा नहीं करनी चाहिए ॥१६०॥ 'अतिथि आदि पूज्य पुरुषके भोजनके निमित्तसे बकरे आदि जीवोंका घात करनेमें कोई दोष नहीं है' ऐसा विचार करके अतिथिके लिए भी किसी प्राणीका घात नहीं करना चाहिए ॥१६१॥ 'धर्म देवताओंसे प्रकट होता है, अतः उनके लिए इसको लोकमें सभी कुछ देनेके योग्य है' इस प्रकारकी दुर्विवेक-युक्त बुद्धिको धारण करके किसी भी प्राणीका घात नहीं करना चाहिए ॥१६२॥ छोटे-छोटे बहुत प्राणियोंके घातसे उत्पन्न हुए भोजनकी अपेक्षा एक बड़े प्राणीके घातसे उत्पन्न हुआ भोजन उत्तम है' ऐसा विचार करके भी किसी बड़े प्राणीकी हिंसा कभी भी नहीं करनी चाहिए ॥१६३॥ इस एक ही हिंसक प्राणीके मार देनेसे बहुत प्राणियोंकी रक्षा होती है, ऐसा मान करके हिंसक प्राणियोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिए ॥१६४॥ अनेक प्राणियोंके घातक ये सिंहादिक जीवित रहते हुए भारी पापका उपार्जन करते हैं' ऐसी अनुकम्पा करके भी हिंसक प्राणियोंको नहीं मारना चाहिए ॥१६५॥ 'मारे गये बहुत दुःखी प्राणी शीघ्र ही दुःखसे छूट जावेंगे,' इस प्रकार मिथ्या वासनारूपी कटारको लेकर के दुःखी भी प्राणियोंको नहीं मारना चाहिए ॥१६६॥ 'सुखकी प्राप्ति बड़े कष्टसे होती है, अतएव मारे गये सुखी लोग परलोकमें भी सुखी ही उत्पन्न होंगे' ऐसा तर्करूपी खड्ग सुखी जनोंके घात करनेके लिए नहीं ग्रहण करना चाहिए ॥१६७॥ कृश उदरवाले किसी भूखे पुरुषको सामने आता हुआ देखकर अपने शरीरके मांसको दान करनेकी इच्छासे वेग पूर्वक अपने आपका भी घात नहीं करना चाहिए ॥१६८॥

सत्यव्रतमाह्—

लाभालाभभयद्वेषैरसत्यं यत्र नोच्यते। सूनृतं तत्प्रशंसन्ति द्वितीयकं व्रतं बुधाः ॥१६९
कुरूपत्वलघीयत्वनिन्द्यत्वादिफलं द्रुतम्। विज्ञाय वितथं तथ्यवादी तत्क्षणतस्त्यजेत् ॥१७०
तदसत्याञ्चितं वाक्यं प्रमादादपि नोच्यते। उन्मूल्यन्ते गुणा येन वायुनेव महाद्रुमः ॥१७१
असत्याधिष्ठितं श्लिष्टं विरुद्धं मलसङ्कुलम्। ग्राम्यं च निष्ठुरं वाक्यं हेयं तत्त्वविशारदैः ॥१७२
सूनृतं न वचो ब्रूते यः प्राप्य जिनशासनम्। मृषावादी मृतो मूढः कां गतिं स गमिष्यति ॥१७३

व्यलीकभाषाकलिता दयालता फलं प्रसूते न मनीषितं क्वचित्।
जज्वाल दावानलजालदीपिता कियत्फलत्यत्र वनद्रुमाली ॥१७४
ये शीतातपवातजातविविधक्लेशैस्तपोविस्तरै-
रात्मानं परिपीडयन्ति नियतं सन्तीह ते सर्वतः।
दुःप्रापः स तु कोऽपि यस्य वदने नैषा मृषा वाक् क्वचिद्
धत्ते केलिमशेषशोकजननी दारिद्रमुद्रावनी ॥१७५

वितथवचनलीलालालितं वक्त्रमेतद् व्रजति विशदिमानं नागवल्ल्यादिभिः किम्।
किमुत गगनगङ्गानीरधारासहस्रैः स्नपितमपि विशुद्धिं याति मद्यस्य भाण्डम् ॥१७६
सत्यवाक्याज्जनः सर्वो भवेद्विश्वासभाजनम्। किं न रथ्याम्बु दुग्धाब्धेः सङ्गाद् दुग्धायते तराम्॥१७७
स्वात्माधीनेऽपि माधुर्ये सर्वप्राणिहितङ्करे। ब्रूयात्कर्णकटुस्पष्टं को नाम बुधसत्तमः ॥१७८

अब सत्यव्रतको कहते हैं—जहाँ पर लाभ, अलाभ, भय, और द्वेषसे असत्य बात नहीं कही जाती है, ज्ञानीजन उस दूसरे सत्यव्रतकी प्रशंसा करते हैं ॥१६९॥ कुरूपी होना, लघुताको प्राप्त होना और निन्द्यपना आदि खोटे फलको जानकर सत्यवादी मनुष्यको शीघ्र तत्काल मिथ्या भाषण छोड़ देना चाहिए॥१७०॥ वह असत्य-युक्त वाक्य प्रमादसे भी नहीं बोलना चाहिए, जिसके द्वारा सद्-गुण जड़-मूलसे उखाड़ दिये जाते हैं। जैसे कि महावायुके द्वारा महान् वृक्ष उखाड़ दिया जाता है ॥१७१॥ तत्त्वोंके जानकार पुरुषोंको असत्यसे युक्त, श्लेष अर्थवाला, धर्म और लोकसे विरुद्ध, मलिनतासे व्याप्त, ग्रामीण, और निष्ठुर वाक्य बोलना छोड़ देना चाहिए ॥१७२॥ जो जिन-शासनको पाकरके भी सत्य वचन नहीं बोलता है, वह मृषावादी मूढ़ पुरुष किस गतिको जायगा ? यह हम नहीं जानते हैं ॥१७३॥ असत्य भाषासे युक्त दयारूपी लता कहीं पर भी मनोवांछित फलको नहीं उत्पन्न करती है। दावानलकी ज्वालासे प्रज्वलित वनवृक्षोंकी पंक्ति क्या कभी फलती है ? नहीं फलती ॥१७४॥ जो शीत आतप और वात-जनित नानाप्रकारके क्लेश देनेवाले तपोंके विस्तारसे अपनी आत्माको पीड़ित करते हैं, निश्चयसे ऐसे लोग इस लोकमें सर्व ओर मिलते हैं। किन्तु कोई वह मनुष्य मिलना कठिन है जिसके कि मुखमें समस्त क्लेशोंकी जननी और दरिद्रताकी प्रकट करनेवाली मृषावाणी क्रीड़ा नहीं करती है ॥१७५॥ असत्य वचन बोलनेकी लीलासे लालिमा-युक्त यह मुख क्या नागवल्ली (ताम्बूल) आदिके खानेसे विशदतारूप लालिमाको प्राप्त हो सकता है ? कभी नहीं। क्या मद्यका पात्र आकाशगंगाके जलकी सहस्रों धाराओंमें स्नान करानेपर भी विशुद्धिको प्राप्त होता है ? कभी नहीं ॥१७६॥ सत्य वाक्य बोलनेसे सभी मनुष्य सबके विश्वास-भाजन होते हैं। क्या गलीकूचेका जल क्षीरसागरके संगसे दूधके समान नहीं हो जाता है ? अवश्य हो जाता है ॥१७७॥ सर्वप्राणियोंके हितकारक मधुर वचन बोलनेसे स्वात्माधीन होनेपर भी कौन ज्ञानीपुरुष स्पष्टरूपसे (जानकर) कर्णकटु वचन बोलेगा ? कोई भी नहीं बोलेगा ॥१७८॥

मौनमेव हि नराणां भाषणं न प क्षरवाचः ।
मृत्युरेव हि वरं न पुनस्तज्जीवितं कलितभूरिकलङ्कम् ॥१७९
काननं दवहुताशनदग्धं शाड्वलं भवति कालवशेन ।
प्राणिनां न निचयः पुनरेव क्वापि दुष्टवचनैः परितप्तः ॥१८०
सत्त्वसन्ततिरक्षार्थं मनुष्यः करुणाचणः । असत्याधिष्ठितं वाक्यं ब्रुवन्नपि न पापभाक् ॥१८१
चन्दनं तुहिनरश्मिरम्बुजं मालती च घनसारसौरभम् ।
मोदते न हि तथा यथा वचः सत्यसंयुतमचिन्त्यवैभवम् ॥१८२
रिपुरश्मिरुष्णदीधितिरग्निस्तिग्मास्त्रमुद्धुरो व्याधिः ।
न तथा दुनोति पुरुषं यथेह वितथाक्षरा वाणी ॥१८३
परोपरोधतो ब्रूते योऽसत्यं पापवञ्चितः । वसुराज इवाप्नोति स तूर्णं नरकावनीम् ॥१८४
इष्टोपदेशं किल शिक्षितोऽपि नासत्यवाचो विरमत्यसाधुः ।
आकण्ठमप्यन्नसुभोजतः श्वा किमन्नमुच्छिष्ट ी जहाति ॥१८५
सूनृतं हितमग्राम्यं मितं वारुणयाञ्चितम् । सत्त्वोपकारकं वाक्यं वक्तव्यं हितकाङ्क्षिणा ॥१८६
कूटलेखो रहोऽभ्याख्या तथा मिथ्योपदेशनम् । न्यासापहारसाकारमन्त्रभेदश्च सूनृते ॥१८७
तप्तं चारु तपो जपश्च विहितः श्रीमज्जिनार्चा कृता दत्तं दानमलङ्कृतं कुलमलं प्राप्तं फलं जन्मनः ।
शीलं च प्रतिपालितं कुलमलं तेनापि भस्मीकृतं यस्य स्यात्प्रसरीसरीति वचनं सत्यप्रतिज्ञाञ्चितम्१८८

इस लोकमें मौन रखना ही मनुष्योंका हितकारी है। किन्तु कर्कश कठोर वचनका बोलना उचित नहीं है। मृत्यु ही उत्तम है किन्तु असत्य भाषणसे कलंकित जीवन बिताना अच्छा नहीं है ॥१७९॥ दावानलसे जला हुआ वन समय पाकर हरी दूर्वासे युक्त हरा-भरा हो जाता है। किन्तु दुष्ट वचनोंसे सन्तप्त प्राणियोंका समूह कभी भी पुनः हरा-भरा नहीं होता है ॥१८०॥ प्राणियोंकी सन्ततिकी रक्षाके लिए करुणामें कुशल मनुष्य असत्यसे आश्रित वचनको बोलता हुआ भी पापका भागी नहीं होता ॥१८१॥ चन्दन, तुहिन-रश्मि(चन्द्र), कमल, मालती और कर्पूरका सौरभ मनुष्यको उस प्रकारसे प्रमुदित नहीं करते हैं जिस प्रकारसे कि अचिन्त्य-वैभववाले सत्य संयुक्त वचन मनुष्यको प्रमुदित करते हैं ॥१८२॥ रिपुरश्मि (शत्रुका प्रताप), उष्णदीधिति(सूर्य), अग्नि, तीक्ष्णशस्त्र और प्रबल व्याधि मनुष्यको उसप्रकारसे पीड़ित नहीं करती है जिस प्रकारसे कि असत्य अक्षरवाली वाणी इस लोकमें लोगोंको पीड़ित करती है ॥१८३॥ जो पापसे ठगाया गया पुरुष दूसरेके आग्रहसे असत्य वचन बोलता है, वह वसुराजाके समान शीघ्र ही नरकभूमिको प्राप्त होता है ॥१८४॥ दुर्जन मनुष्य इष्ट उपदेशसे शिक्षित होनेपर भी असत्य वचन बोलनेसे विश्राम नहीं लेता है। उत्तम अन्न खानेसे कण्ठपर्यन्त भरा हुआ भी कुत्ता क्या उच्छिष्ट अन्नको छोड़ता है? नहीं छोड़ता ॥१८५॥ अपने हितके इच्छुक मनुष्यको सत्य, हितकारक, अग्राम्य (नगरोचित), परिमित, करुणासे युक्त और प्राणियोंके उपकार करनेवाले वचन ही बोलना चाहिए ॥१८६॥ कूटलेख लिखना, रहोभ्याख्यान करना, मिथ्या उपदेश देना, न्यासापहार और साकार मंत्रभेद ये पाँच सत्याणुव्रतके अतीचार हैं ॥१८७॥ जिस मनुष्यके सत्य प्रतिज्ञा-युक्त वचनसंसारमें प्रसारको प्राप्त होते हैं, समझो कि उसने सुन्दर तप तपा है, जाप जपा है, श्री जिनेन्द्रदेवकी पूजा की है, दान दिया है, कुलको अलंकृत किया है, जन्म लेनेको फलको भर-पूर पाया है, शीलका प्रतिपालन किया है और उसने अपने कुलके कलंकको भी भस्म किया है ॥१८८॥

चामृतचन्द्रसूरिभिः—

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि। तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः ॥१८९

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु। तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र॥१९०

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः। उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथास्ति घटः॥१९१

वस्तु सदपि स्वरूपात्पररूपेणाभिधीयते यस्मिन्। अनृतमिदं तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाऽश्वः ॥१९२

गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत्। सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृतं तुरीयं तु॥१९३

पैशुन्यहासगर्भं कर्कशमसमंजसं प्रलपितं च। अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम् ॥१९४

छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि। तत्सावद्यं यस्मात् प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते ॥१९५

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरम्। यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम्॥१९६

स्तेयनिवृत्तिव्रतमाह—

विस्मृतं पतितं नष्टं स्थापितं पथि कानने। परस्वं गृह्यते यन्न तत्तार्तीयमणुव्रतम् ॥१९७

दास्यप्रेष्यत्वदौर्भाग्यदरिद्रादिफलं सुधीः। ज्ञात्वा चौर्यं विचारज्ञो विमुञ्चेन्मुक्तिलालसः ॥१९८

धैर्येण चलितं धर्मबुद्ध्या च प्रपलायितम्। विलीनं परलोकेन स्तेनता यदि मानसे ॥१९९

कालकूटच्छटाक्षिप्तजगता कृष्णभोगिना। संसजन्ति जनाः क्वापि तस्करेण न जातुचित् ॥२००

सशल्योऽपि जनः क्वापि काले सौख्यं समश्नुते। अदत्तादानदुर्ध्यानसाधितात्मा तु न क्वचित् ॥२०१

श्री अमृतचन्द्रसूरिने कहा है—प्रमादके योगसे जो कुछ भी असत् कथन किया जाता है, वह सब अनृत (असत्य) जानना चाहिए। उसके चार भेद हैं ॥१८९॥ जिस वचनमें स्वद्रव्य क्षेत्र-कालभावसे विद्यमाम भी वस्तु निषेधित की जाती है, वह प्रथम प्रकारका असत्य है। जैसे कि देवदत्तके होते हुए भी कहना कि 'देवदत्त यहाँ नहीं है' ॥१९०॥ जिस वचनमें पर द्रव्य क्षेत्रकाल भावसे अविद्यमान भी वस्तुस्वरूप प्रकट किया जाता है, वह दूसरे प्रकारका असत्य है। जैसे घड़ेके नहीं होनेपर भी यह कहना कि यहाँ पर घड़ा है ॥१९१॥ जिस वचनमें अपने स्वरूपचतुष्टयसे विद्यमान भी वस्तु अन्य स्वरूपसे कही जाती है, वह तीसरे प्रकारका असत्य जानना चाहिए। जैसे बैलको घोड़ा कहना ॥१९२॥ चौथे प्रकारका असत्य गर्हित, सावद्य, और अप्रियरूपमें सामान्यसे तीन प्रकारका माना गया है ॥१९३॥ जो वचन पिशुनता और हास्यसे मिश्रित है, कर्कश है, मिथ्याश्रद्धानरूप है, व्यर्थ प्रलाप-युक्त है, तथा और भी जो इसी प्रकारके सूत्र-प्रतिकूल वचन हैं वे सब गर्हित वचन कहे गये हैं ॥१९४॥ जिन वचनोंसे प्राणिघात आदिकी प्रवृत्ति हो ऐसे छेदन-भेदन, मारण, वर्षण, वाणिज्य और चोरी आदिके वचन सावद्य कहलाते हैं ॥१९५॥ जो वचन अप्रीति-कारक, भय-जनक, खेद-उत्पादक, वैर-वर्धक, शोक और कलह-कारक हैं और इसी प्रकारके अन्य भी जो वचन सन्ताप-कारक हैं, उन सबको अप्रिय वचन जानना चाहिए ॥१९६॥

अब स्तेयनिवृत्तिव्रत कहते हैं—जो विस्मृत, पतित, नष्ट, मार्गमें या वन (भवन आदि किसी भी स्थानपर) स्थापित दूसरेके धनको ग्रहण नहीं करता है, वह तीसरा अचौर्याणुव्रत है ॥१९७॥ दासपना, किंकरपना, दुर्भाग्यपना और दरिद्रता आदि चोरीका फल जानकर विचारवान् एवं मुक्तिके अभिलाषी बुद्धिमान् पुरुषको चोरी छोड़ देनी चाहिए ॥१९८॥ यदि किसीके मनमें चोरी करनेका भाव है तो वह धैर्यसे चलित है, धर्मबुद्धिसे पलायमान है और परलोकसे विलीन है ॥१९९॥ कालकूट विषकी छटासे जगत्को व्याप्त करनेवाले काले साँपसे मनुष्य कहीं पर संसक्त रह सकते है। किन्तु तस्करके साथ कभी नहीं रह सकते हैं ॥२००॥ शल्य-युक्त भी मनुष्य किसी

एनःसेनायुतस्तेनः शिरःशेषोऽपि राहुवत् । कलावतामपि व्यक्तं सुवर्णं हरते कुधीः ॥२०२

चौरस्य चित्ते कलुषप्रसक्ते स्थिति लभन्ते न लसद्व्रतानि ।
तिष्ठन्ति तप्तायसि शुम्भदन्तः कणाः कियत्संपतिताः सदाभाः ॥२०३

स्तेनस्य सङ्गतिर्नूनं महतां स्याद्विपत्तये । राहुणा सङ्गतः किं न चन्द्रो दुःखी पदे पदे ॥२०४
चुराशीलं जनं सर्वे पीडयन्ति न संशयः । अपथ्यसेविनं व्याधिमन्तं रोगगणा इव ॥२०५
केचित् मुखं खरायत सर्पं सदर्पं परे भाषन्ते विषमं विषं हुतवहं खेदावहं केचन ।
प्राणिप्राणगणापहारकमिह ब्रूमो वयं निश्चयादेकं तस्करमन्यवित्तपललग्रासोल्लसन्मानसम् ॥२०६
स्वापतेयममेयं यः परकीयं िक्षति । व्याघ्रीव तं गतिः श्वाभ्री पीडयत्यविलम्बितम् ॥२०७

शुद्धं दयादिकमपि व्रतमङ्गभाजां चौर्यप्रसक्तमनसां न विशुद्धये स्यात् ।
किं कर्दमस्य सततं मलिनात्मकस्य कर्तुं प्रसादनमलं कः क्षमेत ॥२०८
स्वच्छत्वमस्येति न पश्यतोहरः स्फुरद्भयोद्भ्रान्तमना जने क्वचित् ।
किं वा वने दुःसहसिंहसङ्कुले गणो मृगाणां लभतेऽभितः सु ॥२०९

कालमें सुखको पा सकता है, किन्तु अदत्तादानके दुर्ध्यानसे व्याप्त आत्मा किसी भी कालमें कहीं भी सुख नहीं पा सकता है ॥२०१॥ पापोंकी सेनासे युक्त कुबुद्धिवाला चोर शिरमात्र ही जिसका शेष है, ऐसे राहुके समान कलावालोंके भी सुवर्णको व्यक्तरूपसे हरण करता है। भावार्थ—जैसे लोक-प्रसिद्धिके अनुसार केवल शिरवाला भी राहु पूर्णकलाओंवाले पूर्णमासीके चन्द्रमाके सु (उत्तम) वर्ण (कान्ति) को हरण करता है, इसी प्रकार पापोंका पुंज यह कुबुद्धि चोर बड़े-बड़े कलाकुशल चतुर जनोंके सुवर्ण (सोने) का हरण करता है। अतः चोर राहुके समान है ॥२०२॥ कलुषतासे भरे हुए चोरके चित्तमें उत्तम व्रत नहीं ठहरते हैं। जैसे कि तपे लोहेके ऊपर उत्तम आभावाले चमकते हुए जल-कण कितने देर ठहरते हैं? अर्थात् गिरते ही भस्म हो जाते हैं ॥२०३॥ चोरकी संगति नियमसे महापुरुषोंको भी विपत्तिके लिए होती है। देखो—राहुकी संगतिसे चन्द्र क्या पद-पदपर दुःखी नहीं होता है? अर्थात् दुःखी होता ही है ॥२०४॥ चोरी करनेवाले पुरुषको सभी लोग पीड़ा पहुँचाते हैं, जैसे कि अपथ्यसेवी व्याधिवाले मनुष्यको रोगोंका समूह पीड़ा पहुँचाता रहता है ॥२०५॥ कितने ही लोग तीक्ष्ण नखवाले पंचानन—सिंहको प्राणियोंके प्राण-समूहका अपहारक कहते हैं, कितने ही लोग विषकी बहुलतासे सदर्प (फुंफकार मारते हुए), सर्पके विषम विषको प्राणियोंके प्राणोंका विनाशक कहते हैं, कितने ही लोग ज्वालासे लोगोंको जलाने वाली अग्निको खेद-कारक कहते हैं। किन्तु हम तो निश्चयसे अन्य पुरुषोंके धनरूपी प्राणभूत मांसके खानेमें उल्लास युक्त चित्त वाले एकमात्र तस्करको ही प्राणियोंके प्राणोंका अपहारक कहते हैं ॥२०६॥ जो पुरुष दूसरेके अपरिमित धनको ग्रहण करनेकी इच्छा करता है, उसे व्याघ्रीके समान नरकगति विना विलम्बके पीड़ित करती है, अर्थात् चोर शीघ्र नरकके दुःख भोगता है ॥२०७॥ चोरीमें आसक्त चित्तवाले मनुष्योंके शुद्ध दया आदि व्रत भी विशुद्धिके लिए नहीं होते हैं। निरन्तर मलिन स्वरूप रहनेवाली कीचड़को निर्मल करनेके लिए कतक (निर्मली फल या फिटकरी) समर्थ है? कभी नहीं ॥२०८॥ जिसका मन निरन्तर स्फुरायमान भयसे उद्-भ्रान्त रहता है, ऐसा चोर कहीं किसी जनमें स्वच्छताको प्राप्त होता है? कभी नहीं। दुःसह सिंहोंसे व्याप्त वनमें मृगोंका

फलं चौर्यद्रुमस्येह वधच्छेदनताडनम् । अमुत्र च विचित्रोरुनरकोत्सङ्गसङ्गतिः ॥२१०
नियुक्तोऽपि महैश्वर्ये राज्ञा विक्रमशालिना । श्रीभूतिश्चौर्यतोऽनन्तभवभ्रमणमासदत् ॥२११

लोकेऽप्यणुगुणकलितस्तृणमिव गणयति धनं परेषां यः ।
जननी तस्य कृतार्था सफलं च जनुः सुखं विपुलम् ॥२१२
यो लोष्टवत्पश्यति धर्मकर्मप्रवीणबुद्धिर्द्रविणं परेषाम् ।
कल्याणलक्ष्मीः सुभगं भविष्णुर्मूर्तिं तमामोदयति प्रमोदात् ॥२१३

राजविरुद्धातिक्रमचौरनियोगौ तदाहृतादानम् । प्रतिरूपकृतिर्हीनाधिकमानं पञ्च चास्तेये ॥२१४

अथ ब्रह्मचर्यमाह—

यन्मैथुनं स्मरोद्रेकात्तदब्रह्मातिदुःखदम् । तदभावाद् व्रतं सम्यग् ब्रह्मचर्याख्यमीरितम् ॥२१५
कुरूपत्वं तथा लिङ्गच्छेदं पण्ढत्वमुत्तमः । दृष्ट्वाऽब्रह्मफलं मुक्त्वाऽन्यस्त्रीं स्वस्त्रीरतो भवेत् ॥२१६

सत्त्वाधिकस्त्यक्तुमलं परेषां वधूर्विबुद्धाम्बुजपत्रनेत्राः ।
पयोनिधेः पातुमपः समस्ताः कुम्भोद्भवो हि प्रभुरद्भुताभः ॥२१७
लावण्यवेलामबलां परेषां विलोक्य सन्तो नतमस्तकाग्राः ।
न्ति मार्गे वृषभा इवोद्यद्धाराधरासारविभिन्नगात्राः ॥२१८
मनसिजशरपीडाक्लान्तचित्तोऽपि योषामभिलषति परेषां शुद्धबुद्धिर्न साधुः ।
निबिडतरबुभुक्षाक्षामगात्रोऽभुङ्क्ते किमुत विततमानो निन्द्यमुच्छिष्टमन्नम् ॥२१९

समूह क्या सर्व ओरसे सुख पाता है ? कभी नहीं ॥२०९॥ चौर्यरूप वृक्षके फल इस लोकमें वध, बन्धन, छेदन और ताड़न हैं, तथा परलोकमें विविध प्रकार महादुःखोंसे भरे हुए नरककी गोदकी संगति है ॥२१०॥ देखो—महाविक्रमशाली राजाके द्वारा महान् ऐश्वर्यवाले पुरोहितके पदपर नियुक्त भी श्रीभूति चोरीके दोषसे अनन्त संसारके परिभ्रमणको प्राप्त हुआ ॥२११॥ अल्पगुणोंसे युक्त भी जो पुरुष इस लोकमें दूसरोंके धनको तृणके समान मिलता है, उसे पैदा करनेवाली माता कृतार्थ है, उसका जन्म भी सफल है और वह विपुल सुखको पाता है ॥२१२॥ धर्मकार्यमें प्रवीण बुद्धिवाला जो पुरुष दूसरोंके धनको लोष्ठके समान देखता है उस भव्य मूर्ति सौभाग्यशाली पुरुषको कल्याणलक्ष्मी अपने प्रमोदसे आनन्दित करती है ॥२१३॥ विरुद्ध राज्यातिक्रम, चौर प्रयोग, चौराहृतादान, प्रतिरूपक व्यवहार और हीनाधिक मानोन्मान ये पांच अस्तेयाणुव्रतके अतीचार हैं॥२१४॥

अब ब्रह्मचर्य व्रत कहते हैं—कामवासनाकी प्रबलतासे जो मैथुनसेवन किया जाता है, उसे अब्रह्म कहते हैं, वह अति दुःखदायी है। उसके अभावसे अर्थात मैथुन-सेवन नहीं करनेसे ब्रह्मचर्य नामका सम्यक् व्रत कहा गया है ॥२१५॥ परस्त्री-सेवनका फल कुरूप होना, लिंगच्छेद किया जाना और नपुंसकपना है, ऐसा देखकर उत्तम पुरुषको चाहिए कि वह परस्त्रीका त्याग करके स्व स्त्रीमें ही सन्तोष-रत रहे ॥२१६॥ अधिक बलशाली पुरुष ही दूसरोंकी विकसित कमलपत्रके समान नेत्रवाली स्त्रियोंको छोड़नेमें समर्थ होता है। देखो—अद्भुत पराक्रमवाले कुम्भोद्भव—अगस्त्य ऋषि ही समुद्रके समस्त जलको पीनेके लिए समर्थ हैं। (अन्य नहीं) ॥२१७॥ लावण्यकी वेलास्वरूप अति सौन्दर्यवाली भी दूसरोंकी स्त्रियोंको देखकर मार्गमें सन्त पुरुष मस्तकके अग्र भागको नीचे करके जाते हैं। किन्तु उद्दण्ड पुरुष प्रबल धारासे बरसते हुए मेघके जलसे भींजे बैलोंके समान उछलते हुए जाते हैं ॥२१८॥ शुद्ध बुद्धिवाला सत्पुरुष कामदेवके बाणकी पीड़ासे आक्रान्त चित्त होनेपर भी दूसरोंकी स्त्रियोंकी अभिलाषा नहीं करता है। अत्यधिक भूखसे दुर्बल शरीर हुआ भी स्वाभिमानी

कलत्रे स्वायत्ते सकलगुणपात्रेऽपि रमते-परेषां दारेषु प्रकृतिचपलो नीचमनुजः।
ननु द्राक्षावृक्षे विपुलफलशालिन्यपि रतिं विधत्ते काकोले विरसपिचुमन्दे कटुफले॥२२०

उड्डीनं गुणपक्षिभिः ॰षितं शीलाम्बुना कम्पितं
तैस्तैः सद्-व्रतपादपैर्विगलितं सत्कीर्त्तिवल्ल्या क्षणात्।
ज्ञानाब्जेन निमीलितं निपतितं चातुर्यधैर्यच्छदैः-
स्तन्वन्त्याञ्जनहृद्वने परवशा भास्वत्करिण्यां स्थितिम् ॥२२१

पररामाश्रिते चित्ते न धर्मस्थितिरङ्गिनाम्। हिमानीकलिते देशे पद्मोत्पत्तिः कुतस्तनी ॥२२२
परनारी नरीनर्ति चित्ते येषामहर्निशम्। तत्समीपे सरीसर्ति न ॰पि कमलाऽमला॥२२३
पररमणीसंसक्तं ॰ स्थेमानमश्नुते नैव। कपिकच्छूव्यालीः कियत्कपिर्निश्चलो भवति ॥२२४

सस्मेरस्मरमन्दिरं परिलसल्लावण्यलीलाञ्चितं
ध्यायद्भिः प्रतिवासरं परवधूरूपं मनुष्याधमैः।
ये सङ्कल्पविकल्पजालजटिलैः पापाणवः सञ्चिताः
मूर्ताश्चेद्भुवने न मान्ति नियतं ते श्वभ्रसौधध्वजः ॥२२५

चञ्चच्चञ्चललोचनाञ्चलपराभूता त्रिलोकीमनो भास्वद्भूरि विवेकदीपकशिखा योषाः परेषां जनाः।
ध्यायन्तीह यथा तथा यदि जिनश्रीपादपद्मद्वयं मोक्षस्तर्हि करस्थ एव पर ....षां सुख...पदम्॥२२६

पुरुष क्या दूसरेके जूठे निन्द्य अन्नको खाता है? कभी नहीं खाता ॥२१९॥ सकल गुणोंकी धारक स्वाधीन भी अपनी स्त्रीके होते हुए प्रकृतिसे चपल नीच पुरुष दूसरोंकी स्त्रियोंमें रमता है। विपुल फलवाले द्राक्षाके होनेपर भी कागला विरस कटु नीमके फल (निम्वोड़ी) में रमता है ॥२२०॥ गुण-रूपी पक्षियोंसे उड़ाये जाते हुए, शीलरूपी जलसे कलुषित होते हुए, उन-उन सद्-व्रतरूपी वृक्षोंसे कम्पित होते हुए, सत्कीर्त्तिरूपी वल्लीसे क्षणभरमें विगलित होते हुए, ज्ञानरूप नेत्रसे निमीलित होते हुए, चातुर्य और धैर्यरूप पत्रोंसे पतित होते हुए, परवश हाथी अंजन गिरि रूपी मनोवनमें भासुरायमान नकली हथिनीमें स्थिति करते हैं। अर्थात् जैसे कामोन्मत्त हाथी अंजनवनके स्वतंत्र विहारको छोड़कर और अपने गुणोंसे च्युत होकर नकली हथिनीके सौन्दर्यपर मुग्ध होकर खाड़ेमें पड़कर पराधीन हो पकड़ा जाता है, उसी प्रकार कामके परवश हुआ मनुष्य भी अपने व्रत-सर्व आदिसे भ्रष्ट होता हुआ पराधीन होकर अनेक दुःखोंको भोगता है ॥२२१॥

पर रामामें आसक्त पुरुषोंके चित्तमें धर्मकी स्थिति नहीं होती, हिमानी (वर्फ) से व्याप्त देशमें कमलोंकी उत्पत्ति कैसे संभव है ॥२२२॥ जिन पुरुषोंके चित्तमें दिन-रात पर नारी नाचती रहती है, उनके समीपमें निर्मल लक्ष्मी कभी भी नहीं आती है ॥२२३॥ पर-रमणीमें संलग्न चित्त कभी भी स्थिरताको प्राप्त नहीं होता है। कपिकच्छू (कोंवाचकी फली) से व्याप्त वानर क्या निश्चल रह सकता है? कभी नहीं ॥२२४॥ विकसित कामका मन्दिर, शोभायुक्त सौन्दर्यमयी लीलासे युक्त पर स्त्रियोंके रूपका प्रतिदिन ध्यान करनेवाले और संकल्प-विकल्प-जालसे व्याप्त अधम पुरुषोंके द्वारा जो पाप कर्मोंके परमाणु संचित किये जाते हैं, वे यदि मूर्त्त (स्थूल) रूप धारण करें तो इस भुवनमें नहीं समावें। निश्चयसे वे पाप-परमाणु नरक रूप महलके ध्वजस्वरूप हैं ॥२२५॥ जैसे इस लोकमें मनुष्य विकसित चंचल लोचनोंके अंचल (कटाक्ष-) से तीन लोकके प्राणियोंके मनको पराभूत करनेवाली प्रकाशमान, भारी विवेक रूपी पतंगोंको दीपकी शिखाके समान जलानेवाली दूसरों की स्त्रियोंका ध्यान (एकाग्र होकर चिन्तवन) करते हैं, उस प्रकार यदि वे श्री जिनेन्द्रदेवके चरण-कमल-युगलका ध्यान करें तो परम सुखका स्थान वह मोक्ष उनके हाथमें स्थित ही समझना चाहिए

शोचिःकेशशिखेव दाहजननी नीचप्रियेवापगा प्रोद्यद्धूमततीव कालिमचिता शम्पेव भीतिप्रदा ।
सन्ध्येव क्षणरागिणी हृतजगत्प्राणा भुजङ्गीव साऽऽर्यैः कार्यविचारचारुमतिभिस्त्याज्या परस्त्री सदा ॥
संज्ञानानामपि तनुभृतां मानसे मानमत्ता वध्नन्तीयं वसतिमसती क्वापि नारी परेषाम् ।
तांस्तानुद्वासयति नियतं सद्गुणांश्चन्द्रगौरान् रम्यग्रामानिव नरपतेर्दुर्णयस्य प्रवृत्तिः ॥२२८

न कालकूटः शितिकण्ठकण्ठे किन्त्वस्ति नेत्रेषु विलासितीनाम् ।
तैस्तैः कटाक्षैः कथमन्यथाऽमूर्विमोहयेयुस्त्रिजगत्समस्तम् ॥२२२

स्वेदो भ्रान्तिः श्रमो म्लानिः मूर्च्छा कम्पो बलक्षयः । मैथुनोत्था भवत्यन्ते व्याधयोऽप्याधयस्तथा॥२३०
योनिरन्ध्रोद्भवाः सूक्ष्मा लिङ्गसङ्घट्टतः क्षणात् । म्रियन्ते जन्तवो यत्र मैथुनं तत्परित्यजेत् ॥२३१

उक्तं च—
हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहते तिला यद्वत् । बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥२३२
मैथुनेन स्मराग्निर्यो विध्यापयितुमिच्छति । सर्पिषा स ज्वरं मूढः प्रौढं प्रतिचिकीर्षति ॥२३३
वरमालिङ्गिता वह्नितप्तायःशालभञ्जिकाः । न पुनः कामिनी क्वापि कामान्नरकपद्धतिः ॥२३४
उदारान्खादिराङ्गारान् सेवमानः क्वचिन्नरः । सुखी स्यान्न पुनर्नारीजघनद्वारसेवनात् ॥२३५

॥२२६॥ कार्य-अकार्यका विचार करनेवाले सुन्दर बुद्धिशाली आर्य पुरुषोंके द्वारा ऐसी परस्त्री सदा त्यागने योग्य है जो कि शोकरूप केश-शिखावाली अग्निके समान दाहको उत्पन्न करती है, नदीके समान नीच-प्रिय (नीचेको बहनेवाली) है, उत्तरोत्तर उठती हुई धूमपंक्तिके समान कालिमासे व्याप्त है, बिजलीकी गर्जनाके समान भयको देनेवाली है, सन्ध्याके समान कुछ क्षणोंकी लालिमा-वाली है और सर्पिणीके समान जगत्के प्राण हरण करनेवाली है ॥२२७॥ अन्य पुरुषोंकी रूपके गर्वसे गर्विणी यह असती नारी कहीं सम्यग्ज्ञानवाले भी मनुष्योंके मनमें वसति (निवास) करती हुई उनके चन्द्रमाके समान उज्ज्वल उन-उन सद्-गुणोंको नियमसे उखाड़ फेंकती है। जैसे कि दुर्नीतिवाले राजाकी प्रवृत्ति सुन्दर ग्रामोंको उखाड़ कर नष्ट-भ्रष्ट कर देती है ॥२२८॥ नीलकण्ठ (महादेव) के कण्ठमें कालकूट विष नहीं है, किन्तु विलासिनी-स्त्रियोंके नेत्रोंमें है। यदि ऐसा न होता, तो वे अपने उन-उन कटाक्षोंके द्वारा इस समस्त त्रिभुवनको कैसे मोहित कर लेतीं ? ऐसा मैं मानता हूँ ।।२२९॥ मैथुन-सेवन करनेसे प्रस्वेद, भ्रान्ति, श्रम, म्लानता, मूर्च्छा, कम्प, बल-क्षय, तथा इसी प्रकारकी अन्य अनेक आधियाँ और व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं ॥२३०॥ जिस मैथुन-सेवनके समय स्त्रीकी योनिमें उत्पन्न होनेवाले असंख्य सूक्ष्म जीव पुरुषके लिंग-संघर्षसे क्षण भरमें मर जाते हैं, उस मैथुनका परित्याग कर देना चाहिए ॥२३१॥

कहा भी है—जिस प्रकार तिलोंकी नालीमें तपी हुई लोह-शलाकाके डालनेसे तिल जल-भुन जाते हैं, उसी प्रकार मैथुनके समय स्त्रीकी योनिमें पुरुष-लिंगके प्रवेश करनेपर योनिमें उत्पन्न होनेवाले बहुतसे जीव मारे जाते हैं ॥२३२॥

जो मूढ मनुष्य मैथुन-सेवनसे कामाग्निको शान्त करनेकी इच्छा करता है, वह ज्वर-युक्त पुरुषको घी पिलाकर नीरोग बलवान् करनेकी इच्छा करता है ॥२३३॥ अग्निसे तपायी गयी लोहेकी पुतलीका आलिंगन करना अच्छा है, किन्तु कामिनीका आलिंगन करना कभी भी अच्छा नहीं है, क्योंकि कामिनी नरककी पद्धति (सीढ़ी) है ॥२३४॥ प्रज्वलित खैरके बड़े-बड़े अंगारोंका सेवन करनेवाला मनुष्य कदाचित् कहीं सुखी हो सकता है, किन्तु स्त्रीके जघन-द्वारके सेवनसे

आस्तां केलिपरीरम्भविलासपरिभाषणम् । स्त्रीणां स्मरणमप्येवं ध्रुवं स्यादापदाप्तये ॥२३६
वामभ्रुवो ध्रुवं पुत्रं पितरं भ्रातरं पतिम् । आरोपयन्ति सन्देहतुलायां दुष्टचेष्टिताः ॥२३७

च—

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत् ‍ ‍ ‍ ‍ ‍ ‍ ‍ ‍ ामन्यदेव हि । यासां साधारणं स्त्रीणां ताः कथं सुखहेतवे ॥२३८
आपदामास्पदं मूलं कलेः श्वभ्रस्य पद्धतिः । शोकस्य जन्मभू रामा कामं त्याज्या विचक्षणैः ॥२३९
दुर्भगत्वं दरिद्रत्वं तिर्यक्त्वं जननिन्द्यताम् । लभन्तेऽन्यनितम्बिन्यवलम्बनविलम्बिताः ॥२४०

परान्मुखत्वं परकामिनीषु ‍ ‍ ‍ ‍ ‍ ‍ ‍ ‍ षुदग्धा अपि ये विदग्धाः ।
वितन्वते स्वर्गपुराधिपश्रीस्तेषां भवन्ती खलु केन वार्या ॥२४१

परपरिणयनमनङ्गक्रीडा तीव्रस्मराग्रहोऽत्याक्षाः । अपरिगृहीतेतरयोरित्वरिकायां गतिः ॥२४२

परिग्रहनिवृत्तिव्रतमाह—

धनधान्यादिग्रन्थं परिमाय ततोऽधिके । यस्त्रिधा निःस्पृहत्वं तत्स्यादपरिग्रहव्रतम् ॥२४३
श्वभ्र ‍ ‍ ‍ ‍ ‍ ‍ मसन्तोषमारम्भं सत्सुखापहम् । ज्ञात्वा सङ्गफलं कुर्यात्परिग्रहनिवारणम् ॥२४४
परिग्रहस्फुरद्भारभारिता भवसागरे । निमज्जन्ति न सन्देहः पोतवत्प्राणिनोऽचिरात् ॥२४५
परिग्रहगुरुत्वेन भावितो भविनां गणः । रसातलं ‍ ‍ ‍ ‍ ‍ ‍ ध्यास्ते यत्तदत्र किमद्भुतम् ॥२४६
परिग्रहग्रहग्रस्ते गुणो नाणुसमः क्वचित् । दूषणानि तु शैलेन्द्रमूलस्थूलानि ‍ ‍ ‍ ‍ ‍ ‍ तः ॥२४७

मनुष्य सुखी नहीं हो सकता ॥२३५॥ स्त्रियोंके साथ कामकेलि, आलिंगन, विलास और संभाषण तो दूर रहे, उनका स्मरण भी निश्चयसे आपदाकी प्राप्तिके लिए होता है ॥२३६॥ दुष्टचेष्टावाली ये स्त्रियाँ निश्चयसे पुत्र, पिता, भाई और पतिको भी सन्देहकी तुलापर आरोपित कर देती हैं। अर्थात् सभीको सन्देहकी दृष्टिसे देखती हैं ॥२३७॥

कहा भी है—जिन स्त्रियोंका मनमें कुछ अन्य होना, वचनमें कुछ अन्य होना और क्रियामें कुछ और होना ये साधारण कार्य हैं, वे सुखके लिए कैसे हो सकती हैं ॥२३८॥ जो आपदाओंकी स्थान है, पापकी मूल है, नरककी पद्धति है और शोककी जन्मभूमि है ऐसी स्त्री विचक्षण पुरुषोंको भले प्रकारसे छोड़नेके योग्य है ॥२३९॥ जो पुरुष अन्य स्त्रियोंके आलम्बनसे विडम्बित हैं, वे परभवमें दौर्भाग्य, दारिद्र्य, तिर्यंचपना और लोक-निन्द्यताको प्राप्त होते हैं ॥२४०॥ कामबाणोंसे दग्ध होते हुए भी जो बुद्धिमान् लोग पर-कामिनियोंमें पराङ्मुखता रखते हैं, उनके स्वर्गपुरीके स्वामित्वको प्राप्त होती हुई लक्ष्मी निश्चयसे किसके द्वारा रोकी जा सकती है? किसीके द्वारा भी नहीं रोकी जा सकती है ॥२४१॥ परविवाहकरण, अनंगक्रीड़ा, तीव्रकामाभिनिवेश, अपरिगृहीत इत्वरिकागमन और परिगृहीत इत्वरिकागमन ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतीचार हैं ॥२४२॥

अब परिग्रहनिवृत्तिव्रतको कहते हैं—धन-धान्यादि दशप्रकारके परिग्रहका परिमाण करके उससे अधिकमें जो मन वचन कायसे निःस्पृहता रखना सो अपरिग्रहव्रत है ॥२४३॥ यह परिग्रह नरकमें पतन करनेवाला है, असन्तोष-कारक है, जीव-हिंसाका कारण है और उत्तम सुखका अपहारक है, ऐसा परिग्रहका फल जानकर परिग्रहका निवारण करना चाहिए ॥२४४॥ जिस प्रकार अधिक भारसे पोत (जहाज) समुद्रमें डूबता है, उसी प्रकार उत्तरोत्तर स्फुरायमान परिग्रहके भारसे भरे हुए प्राणी इस भव-सागरमें अविलम्ब डूबते हैं ॥२४५॥ परिग्रहकी गुरुतासे भावित प्राणियोंका समूह यदि रसातलको प्राप्त होता है तो इसमें क्या अद्भुत बात है ॥२४६॥ परिग्रह रूपी ग्रहसे ग्रसित मनुष्यमें गुण तो अणुके समान भी कहीं नहीं होता, प्रत्युत सर्व ओरसे शैल-

पाथोनिधिर्विविधिवशात्सरिदम्बुपूरैरभ्येति तृप्तिमिह काष्ठचयैश्च वह्निः ।
न क्वापि तृप्यति जनो धनधान्यरत्नस्वर्णादिभिः परमलोभवशंवदोऽयम् ॥२४८
जनो धनधनार्जने विततवृष्णया वञ्चितः करोति तममात्मनो द्रविणलालितोऽपि स्फुटम् ।
चलज्जलभृतोऽप्ययं निजसमृद्धये काङ्क्षति क्षपाकरमहोदयं प्रतिदिनं यथाम्भोनिधिः ॥२४९
पाषाणे स्फुरदङ्कुरः शिशिरता वह्नौ परासौ क्वचिच्चैतन्यं तपने तमःपरिभवस्तापस्तमोनायके ।
स्यान्न क्वापि परिग्रहग्रहपरिग्रस्ते प्रशस्तोल्लसद्बोधप्रोद्धुतमानसेऽपि मनुजे व्यक्तं विमुक्तेः सुखम् ॥२५०
परिग्रहवतामयं प्रतिदिनं महारम्भको भयप्रचयदायिनी गुरुतरा च हिंसा ततः ।
तयाऽनुदुरितं ततो भवति दुर्गतिर्दुस्तरा ततो घनपरिग्रहे कुरुत माऽऽदरं भो नराः ॥२५१
परिग्रहमिमं ज्ञात्वा कर्मबन्धनिबन्धनम् । ततो गृहरतः कुर्यादल्पमल्पं परिग्रहम् ॥२५२
नरे परिग्रहग्रस्ते न सन्तोषो मनागपि । वने दावसमालीढे कुतस्त्यस्तरुसंभवः ॥२५३
अर्जने च विलयेऽभिरक्षणे जन्मिनामिह परिग्रहः स्फुटम् ।
दुःखदः पुनरमुत्र दुर्गतेर्हेतुरेष परिमुच्यते ततः ॥२५४
सन्तोषपीयूषरसावसिक्तचित्तस्य पुंसोऽत्र यदस्ति सौख्यम् ।
सन्तोषहीनस्य न कौशिकस्य न वासुदेवस्य न चक्रिणस्तत् ॥२५५

राजके मूलभागके समान स्थूल दूषण सहस्रों होते हैं ॥२८७॥ इस लोकमें विधिके वशसे चाहे—समुद्र नदियोंके जल-पूरोंसे तृप्तिको प्राप्त हो जाय, और भारी काष्ठ-समुदायसे अग्नि तृप्त हो जाय, परन्तु धन-धान्य, रत्न-सुवर्णादिमें परमलोभके वशीभूत हुआ यह मनुष्य कभी तृप्त नहीं होता है ॥२४८॥ धनसे भरा हुआ भी यह मनुष्य प्रचुर धनके उपार्जनकी निरन्तर बढ़ती हुई तृष्णासे अपने आपको उस प्रकार भलीभाँतिसे व्याप्त करता है, जिसप्रकार कि जलसे लहराता हुआ भी यह समुद्र प्रतिदिन चन्द्रमाकी कला-वृद्धिरूप महान् उदयको चाहता है। भावार्थ—जैसे जलसे भरा होनेपर भी शुक्लपक्षमें एक-एक कलासे बढ़ते हुए चन्द्रके उदयसे उत्तरोत्तर समुद्रके जलका पूर बढ़ता रहता है, उसी प्रकार विपुल धनवाले मनुष्यकी धन-तृष्णा भी उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है, वह कभी शान्त नहीं होती है ॥२४९॥ ग्रन्थकार कहते हैं कि पत्थरके ऊपर चाहे अंकुर उग आये, अग्निमें शीतलता आ जाये, गत-प्राण मृत शरीरमें चैतन्य प्रस्फुरित हो जाय, सूर्यमें अन्धकारके द्वारा पराभव प्राप्त हो जाय, चन्द्रमें आतप प्रकट हो जाय, परन्तु परिग्रहरूप ग्रहसे ग्रस्त मनुष्यमें प्रशस्त उल्लास-युक्त ज्ञानसे प्रकाशमान हृदयके होनेपर भी मुक्तिका निराकुलतारूप सुख कभी भी व्यक्त नहीं हो सकता ॥२५०॥ परिग्रहवाले मनुष्योंके प्रतिदिन महा आरम्भ होता है, उससे प्रचुर भयको देनेवाली गुरुतर महा हिंसा होती है, उससे प्रतिक्षण महापापका संचय होता है और उससे दुस्तर दुर्गतिकी प्राप्ति होती है, इसलिए हे मनुष्यो, तुम लोग अतिपरिग्रहके संचयमें आदर मत करो ॥२५१॥

इस परिग्रहको उक्त प्रकारसे कर्म-बन्धका कारण जानकर गृहस्थ उत्तरोत्तर अल्प अल्प परिग्रह करे। भावार्थ—प्रतिदिन परिग्रह कम करे ॥२५२॥ परिग्रहसे ग्रस्त मनुष्यमें रंचमात्र भी सन्तोष नहीं हो सकता। दावानलसे व्याप्त वनमें वृक्षकी उत्पत्ति कैसे संभव है ॥२५३॥ यह परिग्रह इस लोकमें तो मनुष्योंको उपार्जनके समय दुःख देता है, फिर संरक्षण करनेमें दुःख देता है, और विनाश हो जानेपर तो महान् दुःख देता ही है। तथा परलोकमें यह दुर्गतिका कारण है, इसलिए ज्ञानीजन इसका त्याग करते हैं ॥२५४॥ सन्तोषरूपी अमृतरससे सिंचित चित्तवाले

क्षेत्रस्य वास्तुनो दासी-दासयोर्हेमरूपयोः । संख्याव्यतिक्रमो ज्ञेयः कु धनधान्ययोः ॥२५६

उक्तं च—

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि ।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ॥२५७

कृता यत्र समस्तासु दिक्षु सीमा न लङ्घ्यते । दिग्विरतिरिति विज्ञेयं प्रथमं तद्-गुणव्रतम् ॥२५८
क्षितिधरजलनिधितटिनीयोजनजनपदसरांसि मर्यादाः । दिग्भागानामाहुः प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि॥२५९
स्थावरेतर नां विमर्दननिवर्तनात् । महाव्रतफलं सूते गृहिणां मप्यदः ॥२६०
जगद्ग्रसनदक्षस्य प्रसर्पल्लोभराक्षसः । विनाशो विहितस्तेन येन दिग्विरतिर्वृता ॥२६१
ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिरत्याक्षाः । स्मृत्यन्तर्धानं वैर्गदि : पञ्चेति दिग्विरतेः ॥२६२

अनर्थदण्डविरतिमाह—

त्यागं सपापयोगानामपार्थानां निरन्तरम् । वनर्थदण्डविरतिव्रतमाहुर्मुनीश्वराः ॥२६३
पापोपदेशोऽपध्यानं हिंसादानं च दुःश्रुतिः । प्रमादाचरणं पञ्च तद्भेदाः कीर्त्तिता बुधैः ॥ २६४
तुरङ्गान् षण्ढय कृषिवाणिज्यम । सेवस्य नृपतीन् पापोपदेशोऽयं न दीयते ॥२६५

पुरुषको जो अनुपम सुख इस लोकमें प्राप्त होता है, वह सन्तोषसे रहित न इन्द्रके संभव है, न वासुदेवके और न चक्रवर्त्तीके ही संभव है ॥२५५॥ क्षेत्र-वास्तुकी, दासी-दासकी, सोना-चाँदीकी, धन-धान्यकी और कुप्य-भाण्डकी संख्याका उल्लंघन करना ये पाँच परिग्रहपरिमाणव्रतके अतीचार हैं ॥२५६॥

अव दिग्व्रत नामक प्रथम गुणव्रतको कहते हैं।कहा भी है—जिस प्रकार कोट-खाई नगरकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार शीलव्रत अणुव्रतों की रक्षा करते हैं। अतः ग्रहण किये गये अहिंसादि व्रतोंकी रक्षा करनेके लिए गुणव्रत और शिक्षाव्रत रूप सात शीलोंको भी पालन करना चाहिए ॥२५७॥

जिस व्रतमें समस्त दशों दिशाओंकी दी गई सीमाका उल्लंघन नहीं किया जाता है, वह दिग्विरति नामका प्रथम गुणव्रत जानना चाहिए ॥२५८॥ दशों दिग्विभागोंके प्रतिसंहारमें प्रसिद्ध पर्वत, समुद्र, नदी, योजन, जनपद और सरोवरको मर्यादा कहा है ॥२५९॥ यह दिग्विरतिव्रत मर्यादासे वाहिरके क्षेत्रमें स्थावर और त्रस जीवोंके घातकी निवृत्तिसे श्रावकोंके महाव्रतोंका फल देता है ॥२६०॥ जिस पुरुषने दिग्विरतिरूप व्रतको धारण कर लिया. उसने जगत्के ग्रसनेमें दक्ष इस प्रसारको प्राप्त होनेवाले लोभरूपी राक्षसका विनाश कर दिया ॥२६१॥ ऊर्ध्वदिशाव्यतिक्रम, अधोदिशाव्यतिक्रम, तिर्यग्दिशाव्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तर्धान ये पाँच दिग्विरतिव्रतके अतीचार कहे गये हैं ॥२६२॥

अव अनर्थदण्डविरति नामक दूसरे गुणव्रतको कहते हैं—निरर्थक पाप-योगवाले कार्योंके त्यागको मुनीश्वर लोग अनर्थदण्डविरतिव्रत कहते हैं ॥२६३॥

पापोपदेश, अपध्यान, हिंसादान, दुःश्रुति और प्रमादयुक्त आचरण ये पांच भेद ज्ञानियोंके अनर्थदण्डोंके कहे हैं ॥२६४॥ घोड़ों वैलों आदिको षण्ढ करो अर्थात् वधिया वनाओ, खेत जोतो, व्यापार करो, और राजाओंकी सेवा करो, इस प्रकारका उपदेश देना यह पापोपदेश नामका अनर्थ-

वैरिघात-पुरध्वंस-परस्त्रीगमनादिकम् । विपत्पदमपध्यानमिदं दूराद् विवर्जयेत् ॥२६६
विषोदूखलयन्त्रासिमुशलज्वलनादिकम् । हिंसोपकारकं दानं न देयं करुणापरैः ॥२६७
रागवर्धनहेतूनामबोधप्रविधायिनाम् । शिक्षणश्रवणादीनि कुशास्त्राणां त्यजेत्सुधीः ॥२६८
तरूणां मोटनं भूमेः खननं चाम्बुसेचनम् । फलपुष्पोच्चयश्चेतत्प्रमदाचरणं त्यजेत् ॥२६९
केकिकुर्कुटमार्जारसारिकाशुकमण्डलाः । पोष्यन्ते न कृतप्राणिघाताः पारापता अपि ॥२७०
अङ्गारभ्राष्टकरणमयःस्वर्णादिकारिताः । इष्टिकापाचनं चेति त्यक्तव्यं मुक्तिकाङ्क्षिभिः ॥२७१
तुरङ्गमलुलायोक्षखराणां भारवाहिनाम् । लाभार्थं च नखास्थित्वग्विक्रयं नैव संश्रयेत् ॥२७२
नवनीतवसामद्यमध्वादीनां च विक्रयः । द्विपाच्चतुःपाद्विक्रेयो न हिताय मतः क्वचित् ॥२७३
खेटनं शकटादीनां घटनं विक्रयं तथा । चित्रलेप्यादिकं कर्म दूरतः परिवर्जयेत् ॥२७४
शोधनीयन्त्रशस्त्राग्निमुशलोदूखलार्पणम् । न क्रियेत तिलादीनां संश्रयः सत्त्वशालिनाम् ॥२७५
लाक्षामनःशिलानीलीशणलाङ्गलधातुकीः । हरितालं विषं चापि विक्रीणते न शुद्धधीः ॥२७६
वापीकूपतडागादिशोषणं भूमिकर्षणम् । नित्यं वनस्पतेर्बाधां धर्मार्थं नैव पोषयेत् ॥२७७
—एवमन्येऽपि हेयाः ।

दण्ड है, यह नहीं देना चाहिए ॥२६५॥ शत्रुओंको घात करनेका, नगर-विध्वंस करनेका और पर-स्त्रीगमन करनेका, तथा इसी प्रकारके अन्य विपत्ति-कारक कार्योंको करनेका चिन्तवन करना अपध्यान नामका अनर्थदण्ड है, इसका दूरसे ही परित्याग करना चाहिए ॥२६६॥ विष, उखली, यंत्र, खड्ग, मूशल, अग्नि आदि हिंसाकारक वस्तुओंको देना हिंसादान नामका अनर्थदण्ड है, करुणामें तत्पर लोगोंको यह हिंसादान नहीं देना चाहिए ॥२६७॥ रागके बढ़ानेके कारणभूत और अज्ञानके बढ़ानेवाले खोटे शास्त्रोंका सुनना-सुनाना, बांचना आदि दुःश्रुति नामका अनर्थदण्ड है। बुद्धिमान् श्रावक इसका त्याग करे ॥२६८। प्रयोजनके विना वृक्षोंका मोड़ना, भूमिका खोदना, जलका सींचना, फल और फूलोंका चुनना-तोड़ना यह प्रमाद-युक्त आचरण रूप अनर्थदंण्ड भी छोड़ना चाहिए ॥२६९॥ मयूर, कुक्कुट, मार्जार, मैना-तोता, कुत्ता आदि प्राणिघात करनेवाले पशु-पक्षियोंको और कबूतरोंको भी नहीं पालना चाहिए ॥२७०॥ मुक्तिकी इच्छा करनेवाले श्रावकोंको अंगार (कोयला) बनवाना, भाड़ भूँजना, लोहारका काम करना, सुनार आदिका काम करना और ईंटोंका पकाना आदि हिंसा-प्रचुर कार्य भी छोड़ना चाहिए ॥२७१॥ धन लाभके लिए घोड़े, भैंसे, बैल और गधेपर भार लादकर आजीविका करना, नख, हड्डी और चमड़ा वेचना आदि पापरूप व्यापार भी श्रावकको नहीं करना चाहिए ॥२७२॥ नवनीत, वसा (चर्बी), मद्य, मधु आदिका वेचना और द्विपद (दासी-दास और पक्षी आदि) और चतुष्पद (गाय-बैल आदि) का वेचना भी कभी हितके लिए नहीं माना गया है ॥२७३॥ गाड़ी-रथ आदिका जोतना, उनको बनवाना, वेचना तथा चित्र लेप आदि कार्य दूरसे ही छोड़ना चाहिए ॥२७४॥ शोधिनी-प्रमार्जिनी, यंत्र, शस्त्र, अग्नि, मूशल, उखली, खरल आदिका अर्पण न करे और जीववाले तिल-सरसों आदि धान्योंका संग्रह भी नहीं करना चाहिए ॥२७५॥ लाख, मैनसिल, नील, सन, लांगल (एक जातिका पुष्प), धातुकी (धव-पुष्प), हरिताल, और विष भी शुद्ध बुद्धिवाले श्रावकको नहीं वेचना चाहिए ॥२७६॥ बावड़ी, कुँआ, तालाब, आदिका सुखाना, भूमिको जोतना और धर्मके लिए वनस्पतिको नित्य बाधा पहुँचाना अर्थात् पूजनादिके लिए वृक्षों से फल-फूल तोड़ना रूप कार्य भी नहीं करना चाहिए ॥२७७॥ शरीरपर गर्म सलाईसे दागना नाक छेदना, अण्डकोष फोड़ना, पैर तोड़ना, कान

अङ्कनं नासिकावेधो मुष्कच्छेदोऽङ्घ्रिभञ्जनम् । कर्णापनयनं नाम निर्लाञ्छनमुदीरितम् ॥२७८
मौखर्यमसमीक्ष्याधिकरणं च व्यतिक्रमाः । आनर्थक्यं च कौत्कुच्यं कन्दर्पोऽनर्थदण्डगाः ॥२७९
स्वशक्त्या क्रियते यत्र संख्या भोगोपभोगयोः । भोगोपभोगसङ्ख्याख्यं तृतीयं तद्-गुणव्रतम् ॥२८०
स्नानभोजनताम्बूलमूलो भोगो बुधैः स्मृतः । उपभोगास्तु वस्त्रस्त्रीभूषाशय्यासनादिकाः ॥२८१
भोगोपभोगत्यागार्थं यमश्च नियमः स्मृतः । यमो निरवधिस्तत्र सावधिर्नियमः पुनः ॥२८२
स्रक्चन्दनशयनासनमज्जनवरयानवसनभूषासु । सदनतुरङ्गमरमणीभोजनताम्बूलमेतेषु ॥२८३
यामघस्रनिशापक्षमाससंवत्सरादिभिः । कृत्वा कालावधिं कुर्यात्प्रत्याख्यानं विचक्षणः ॥२८४
उक्तं च—
भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत् किलामीषाम् । भोगोपभोगविरहाद् भवति न लेशोऽपि हिंसायाः२८५
वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं नादत्तादानविरहतः स्तेयम् । नाब्रह्म मैथुनमुचः सङ्गेन नाङ्गेऽप्यमूर्च्छस्य ॥२८६

भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा ।
अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ ॥२८७

सचित्तमिश्रो दुःपक्व आहारोऽभिषवस्तथा । सचित्तस्तेन सम्बन्धः पञ्च तार्तीयशीलगाः ॥२८८
त्रिशुद्धया कुरुते योऽत्र सङ्ख्यां भोगोपभोगयोः । तस्मिन् प्रयतते नूनं रिरंसुर्मुक्तिकामिनी ॥२८९

काटना ये सब निर्लाञ्छन कार्य कहे गये हैं ॥२७८॥ इन उक्त कार्योंको तथा इसी प्रकारके जो अन्य हिंसा-प्रधान एवं प्राणियोंको कष्टप्रद कार्य हैं, उन सबको करनेका त्याग अनर्थदण्डके त्यागीको करना चाहिए। मुखरता, असमीक्ष्याधिकरण, अनर्थक भोगोपभोगका संग्रह, कौत्कुच्य और कन्दर्प ये पाँच अनर्थदण्डविरतिव्रतके अतीचार हैं ॥२७९॥

अब भोगोपभोग परिमाण नामक तीसरे गुणव्रतका वर्णन किया जाता है—अपनी शक्तिके अनुसार भोग और उपभोग के पदार्थोंकी संख्याका परिमाण करना सो भोगोपभोग संख्यान नामका तीसरा गुणव्रत है ॥२८०॥ विद्वानोंने स्नान, भोजन, ताम्बूल आदिके सेवन भोग और वस्त्र, स्त्री, आभूषण, शय्या और आसन आदिको उपभोग कहा है ॥२८१॥ भोग और उपभोगके त्यागके लिए यम और नियम कहे गये हैं। मर्यादा-रहित अर्थात् जीवन-पर्यन्तके लिए जो त्याग किया जाता है, वह यम कहलाता है और मर्यादा-सहित त्यागको नियम कहा गया है ॥२८२॥ पुष्प-माला, चन्दन, शयन, आसन, मज्जन, यान-वाहन, वस्त्र, आभूषण, भवन, तुरंगम, रमणी, भोजन, ताम्बूल, इन भोग और उपभोगकी वस्तुओंमें पहर, दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष आदिके द्वारा कालकी सीमा करके विद्वान् पुरुषको प्रत्याख्यान करना चाहिए ॥२८३-२८४॥

कहा भी है—इन भोग और उपभोगके कारणोंसे निश्चयतः स्थावर जीवोंकी हिंसा होती है और भोग-उपभोगके अभावसे हिंसाका लेश भी नहीं होता है ॥२८५॥ वचन गुप्तिसे अनृत (असत्य) पाप नहीं होता, बिना दिये पर वस्तुके नहीं ग्रहण करनेसे चौर्य दोष भी नहीं होता, मैथुन-सेवनके त्यागसे अब्रह्मका पाप भी नहीं लगता, और शरीरमें भी मूर्छा-रहितके परिग्रहका भी पाप नहीं होता है ॥२८६॥ विरताविरत श्रावकके भोग और उपभोगके मूल कारणसे हिंसा होती है, अन्य कारणसे नहीं। ऐसा वस्तु स्वरूप जानकर भोग और उपभोग दोनों का ही अपनी शक्तिके अनुसार त्याग करना ही चाहिए ॥२८७॥ सचित्त-आहार, सचित्त सम्मिश्र-आहार, सचित्त-सम्बद्ध आहार, दुष्पक्व आहार और गरिष्ठ आहार ये पाँच भोगोपभोग संख्यान नामक तीसरे शीलव्रतके अतीचार हैं ॥२८८॥ जो पुरुष मन वचन काय इन तीन योगोंकी शुद्धिपूर्वक भोग और उपभोगकी

उक्तं च—

देशावकाशिकं वा सामयिकं प्रोषधोपवासश्च । वैयावृत्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि ॥२९०
दिग्व्रतेन मितस्यापि देशस्य दिवसादिषु । पुनः सङ्क्षेपणं यत्तद्-व्रतं देशावकाशिकम् ॥२९१
वनभवनक्षेत्राणां ग्रामापणनगरयोजनानां च । सीमानं समयज्ञाः प्राहुः शिक्षाव्रते प्रथमे ॥२९२
वासरमयनं पक्षं मासं संवत्सरं चतुर्मासम् । देशावकाशिकस्य स्मरन्ति कालावधिः मुनयः ॥२९३
देशावकाशिकं सम्यग् व्रतं ये दधते बुधाः । महाव्रतफलं तेषां बहुपापनिवृत्तितः ॥२९४
पुद्गलक्षेपणं प्रेष्यप्रयोगानयने तथा । शब्दरूपानुपातौ च पञ्च देशावकाशिके ॥२९५
रागद्वेषपरित्यागरोधात्सावद्यकर्मणाम् । समता या तमाम्नातं बुधैः सामायिकं व्रतम् ॥२९६
सामायिकविधौ क्षेत्रं कालश्च विनयासने । कायवाङ्मनसां शुद्धिः सप्तैतानि विदुर्बुधाः ॥२९७
लोकसङ्घट्टनिर्मुक्ते कोलाहलविवर्जिते । वीतदंशे विधातव्यं स्थाने सामायिकं व्रतम् ॥२९८
एकान्ते वा वने शून्ये गृहे चैत्यालयेऽथवा । सामायिकं व्रतं शुद्धं चेतव्यं वीतमत्सरैः ॥२९९
पूर्वाह्णे किल मध्याह्नेऽपराह्णे विमलाशयः । सामायिकस्य सिद्धान्ततत्त्वज्ञाः समयं जगुः ॥३००
सत्पर्यङ्कासनासीनो रागाद्यकलुषीकृतः । विनयाद्यो निबध्नीयान्मतिं सामायिकव्रते ॥३०१

संख्याको स्वीकार करता है, निश्चयसे उस पुरुषमें मुक्ति-कान्ता रमणके लिए अभिलाषिणी होकर उसे पानेका प्रयत्न करती है ॥२८९॥

अब शिक्षाव्रतोंका वर्णन करते हैं। कहा भी है—देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य ये चार शिक्षा व्रत कहे गये हैं ॥२९०॥ दिग्व्रतके द्वारा सीमित किये गये देशका दिन आदिकी मर्यादामें और भी जो संक्षेप करना सो देशावकाशिकव्रत है ॥२९१॥ इस प्रथम देशावकाशिक शिक्षाव्रतमें आगमके ज्ञाताजनोंने वन, भवन, खेत, ग्राम, बाजार, नगर और योजनों की सीमारूप क्षेत्र सीमा कही है ॥२९२॥ वासर (दिन), अयन (छः मास), पक्ष, मास, वर्ष और चतुर्मास आदिको मुनिजन देशावकाशिककी काल-मर्यादा कहते हैं ॥२९३॥ जो बुद्धिमान् पुरुष सम्यक् प्रकारसे देशावकाशिक शिक्षाव्रतको धारण करते हैं उनके देश और कालकी मर्यादा द्वारा बहुत पापोंकी निवृत्ति होनेसे अणुव्रत भी महाव्रतके फलको देते हैं ॥२९४॥ कंकड़-पत्थर आदि पुद्गलोंका क्षेपण, प्रेष्य-प्रयोग, आनयन, शब्दानुपात और रूपानुपात ये पाँच देशावकाशिकव्रतके अतीचार हैं ॥२९५॥

अब सामायिक शिक्षा व्रत कहते हैं—राग और द्वेषके परित्यागसे तथा सावद्य कार्योंके निरोधसे जो हृदयमें समता भाव जागृत होता है, ज्ञानियोंने उसे सामायिक शिक्षाव्रत कहा है ॥२९६॥ सामायिक करनेकी विधिमें ज्ञानियोंने क्षेत्र, काल, विनय, आसन, मन, वचन और काय इन सातकी शुद्धि कही है ॥२९७॥ लोगोंके संघर्षसे विमुक्त, कोलाहलसे विवर्जित और डांस-मच्छरसे रहित ऐसे क्षेत्र शुद्धिवाले स्थानमें सामायिक व्रत करना चाहिए ॥२९८॥ एकान्त स्थानमें, वनमें, शून्य गृहमें अथवा चैत्यालयमें मत्सर भावसे रहित श्रावकोंको शुद्ध सामायिकव्रतकी वृद्धि करनी चाहिए ॥२९९॥ निर्मल मन होकर पूर्वाह्णमें, मध्याह्नमें और सायंकालमें सामायिक करे। सिद्धान्तके रहस्यज्ञोंने यह सामायिकका समय कहा है। यह काल शुद्धि है ॥३००॥ उत्तम पर्यङ्कासन या पद्मासन लगाकर राग-द्वेष आदिकी कलुषतासे रहित होकर विनयसे सामायिकव्रतमें अपनी बुद्धिको लगावे। यह आसनशुद्धि और विनयशुद्धि है ॥३०१॥ शरीर, वचन और मनसे अत्यन्त

कायवाङ्मान फारभक्तिपूर्वकमाचरेत् । सामायिकं समाधीनो जनो निर्वाणमश्नुते ॥३०२
सामायिके स्थिरा यस्य बुद्धिः स भरतेशवत् । केवलज्ञानसम्प्राप्तिं द्रुतं संलभते नरः ॥३०३
उक्तं च—

ायिकश्रितानां स्तसावद्ययोगपरिहारात् । भवति महा मेषामुदयेऽपि चरित्रमोहस्य ॥३०४
सामयिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति ऽपि । चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभा ॥३०५
काष्ठं वह्निरिव प्रसृत्वरतमस्तोमं च भा निव स्फूर्जन्मेघकदम्बकं मरुदिवाज्ञानं प्रबोधोदयः ।
साम्यस्वच्छपयःप्रवाहजनितश्रीर्भव्यसत्त्वप्रियो हन्ति प्रोद्ध धर्ममखिलं सामायिकानोकहः ॥३०६
कचेतसां दुष्टप्रणिधानमनादरः । स्मृताः सामायिके स्मृत्यनुपस्थानमतिक्रमाः ॥३०७
चतुष्पर्व्यां चतुर्भेदाहारत्यागैकलक्षणम् । वदन्ति विदिताम्नायाः प्रोषधव्रतमुत्तमम् ॥३०८
कृत्वोपवा स्य पूर्वस्मिन् दिवसे सुधीः । मध्याह्ने भोजनं शुद्धं यायाच्छ्रीमज्जिनालयम् ॥३०९
तत्र जिनं नत्वा गुरूपान्ते विशुद्धधीः । आददीत हृषिकार्थविमुखः प्रोष ॥३१०
विविक्तवसतिं श्रित्वा हित्वा सावद्यकर्म तत् । विमुक्तविषयः न्मनोवाक्कायगुप्तिभिः ॥३११
अति दिनं सर्वं कृत्वा सान्ध्यं विधिं पुनः । त्रियामां गमयेच्छुद्धसंस्तरे स्वच्छमानसः ॥३१२

भक्ति-पूर्वक सामायिक करना चाहिए। यह त्रियोगशुद्धि है। इस सात प्रकारकी शुद्धियोंसे सामायिककी समाधिमें लीन हुआ पुरुष शीघ्र निर्वाणको प्राप्त करता है ॥३०२॥ जिस पुरुषकी सामायिक व्रतमें बुद्धि स्थिर रहती है, वह पुरुष भरत चक्रवर्तीके समान शीघ्र केवलज्ञानको प्राप्त करता है ॥३०३॥

कहा भी है—समस्त सावद्ययोगके परिहारसे सामायिक शिक्षाव्रतके आश्रय लेनेवाले मनुष्योंके चारित्र मोहनीयके उदय होनेपर भी उनके अणुव्रत महाव्रतके समान हो जाते हैं ॥३०४॥ सामायिकके समय आरम्भ-सहित भी परिग्रह नहीं रहते हैं, एकमात्र वस्त्र रहता है, अतः उस समय वह गृहस्थ वस्त्रसे परिवेष्टित मुनिके समान मुनिपनेको प्राप्त हो जाता है ॥३०५॥

जैसे अग्नि काष्ठको भस्म कर देती है, सूर्य बढ़ते हुए महान्धकारके समूहको विनष्ट कर देता है, वायु उमड़ते हुए मेघ-समुदायको उड़ा देती है और प्रबोध (सद्-ज्ञान) का उदय अज्ञानका विनाश कर देता है, उसी प्रकार क्षमताभावरूप स्वच्छ जलके प्रवाहसे जिसके भीतर शान्त रस रूप लक्ष्मी प्रकट हुई है, ऐसा भव्यजीवोंका प्रिय सामायिक रूप वृक्ष अति उद्धत कर्मोंके उदयसे उत्पन्न घर्म (घाम) को शान्त कर देता है ॥३०६॥ कायदुःप्रणिधान, वाक्दुःप्रणिधान, मनोदुःप्रणिधान, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान ये पाँच सामायिक शिक्षाव्रतके अतीचार माने गये हैं ॥३०७॥

अब प्रोषध शिक्षाव्रतका वर्णन करते हैं—प्रत्येक मासकी दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इन चार पर्वोमें चारों प्रकारके आहारका त्याग करनेको जैन आम्नायके ज्ञाता मुनिजन उत्तम प्रोषधव्रत कहते हैं ॥३०८॥ उपवासके दिनसे पूर्वके दिन बुद्धिमान् श्रावक मध्याह्न कालमें शुद्ध भोजन करके श्री जिनालयमें जावे ॥३०९॥ वहाँ जाकर श्री जिनेन्द्र देवको नमस्कार करके वह विशुद्ध बुद्धि श्रावक इन्द्रियोंके विषयोंसे विमुख होता हुआ गुरुके समीप प्रोषधव्रतको ग्रहण करे ॥३१०॥ पुनः एकान्त स्थानका आश्रय करके सावद्य कार्योंको छोड़कर इन्द्रियोंके विषयोंसे विमुक्त होता हुआ मन वचन कायकी गुप्तिके साथ रहे ॥३११॥ इस प्रकार उपवासके पूर्वका दिन बिताकर सन्ध्याकालकी सर्वविधि करके पुनः स्वच्छ मन होकर शुद्ध संस्तरपर रात्रिके तीन पहर बितावें ॥३१२॥

प्रातरुत्थाय संशुद्धकायस्तात्कालिकीं क्रियाम् । रचयेच्च जिनेन्द्रार्चां जलगन्धाक्षतादिभिः ॥३१३
उक्तेन विधिना नीत्वा द्वितीयं च दिनं निशाम् । तृतीयवारस्यार्धं प्रयत्नादतिवाहयेत् ॥३१४
षोडशप्रहरानेवं गमयत्यागमेक्षणः । यः स हारायते भव्यश्चारुमुक्तिवधूरसि ॥३१५
स्नानगन्धवपुर्भूषा नास्य नारीनिषेवणम् । सर्वसावद्यकर्माणि प्रोषधस्थो विवर्जयेत् ॥३१६
यो निरारम्भमप्येकमुपवासमुपाश्रयेत् । बहुकर्मक्षयं कृत्वा सोऽक्षयसुखमश्नुते ॥३१७
आरम्भजलपानाभ्यां युक्तोऽनाहार उच्यते । अनुपवासस्त्वनारम्भादुपवासोऽम्बुपानतः ॥३१८

महोपवासो द्वयवर्जिता सदा जिनागमाकर्णनपाठचिन्तनैः ।
अलङ्कृतः प्रासुकभूमिशय्यया जिनालये स्वालय एव वा रहः ॥३१९

आदानं संस्तरोत्सर्गा अनवेक्ष्याप्रमार्ज्य च । स्मृत्यनुपस्थापनं पञ्चानादरः प्रोषधव्रते ॥३२०
स्वस्य वित्तस्य यो भागः कल्प्यतेऽतिथिहेतवे । अतिथेः संविभागं तं जगदुर्जगदुत्तमाः ॥३२१
स्वयमेवातति व्यक्तव्रतो यः सदनं सुधीः । भिक्षार्थं ज्ञातशब्दार्थैः सोऽतिथिः परिकथ्यते ॥३२२
नवपुण्यैर्विधातव्या प्रतिपत्तिस्तपस्विनाम् । सर्वारम्भविमुक्तानां दात्रा सप्तगुणैषिणा ॥३२३

पर्वके दिन प्रातःकाल उठकर तात्कालिक शौचादि क्रियाओंको करके शुद्ध शरीर होकर जल-गन्ध-अक्षत आदि द्रव्योंसे जिनेन्द्रदेवकी पूजा करे ॥३१३॥ उक्त विधिसे दूसरे दिनको और रात्रिको बिताकर और तीसरे दिनके अर्धभागको धर्मध्यानमें बिताये ॥३१४॥ इस प्रकारसे जो आगम-नेत्रवाला श्रावक सोलह पहरोंको व्यतीत करता है, वह भव्य सुन्दर मुक्तिरूपी वधूके वक्षःस्थल पर हारके समान आचरण करता है, अर्थात् मोक्षलक्ष्मीके हृदयका हार बनता है ॥३१५॥ इस प्रोषधव्रतीके स्नान, गन्ध और शरीर श्रृंगार नहीं है, और न स्त्रीका ही सेवन है। प्रोषधमें स्थित पुरुषको सभी सावद्य कर्म छोड़ देना चाहिए ॥३१६॥ जो श्रावक आरम्भ-रहित एक भी उपवासको करता है, वह बहुत कर्मोंका क्षय करके अक्षय सुखको प्राप्त करता है ॥३१७॥ पर्वके दिन आरम्भ और जल-पानसे युक्त होकर शेष तीन प्रकारके आहारका त्याग करता है, उसे उपवास न कहकर 'अनाहार' कहा जाता है। पर्वके दिन आरम्भका त्यागकर केवल जल-पान करता है वह उपवास अनुपवास कहलाता है ॥३१८॥ जो आरम्भ और चारों आहार इन दोनोंसे रहित उपवास किया जाता है वह महोपवास कहलाता है। श्री जिनेन्द्रके आगमका श्रवण और पाठ-चिन्तनसे अलंकृत होकर प्रासुक भूमि पर या प्रासुक शय्या पर जिनालयमें अथवा अपने ही आलय (भवन) में एकान्त स्थानमें स्थित होकर यह उपवास करना चाहिए ॥३१९॥ अनवेक्षित-अप्रमार्जित संस्तरादिका आदान, या उत्सर्ग या संस्तरण, स्मृत्यनुपस्थापन और अनादर ये पाँच प्रोषधव्रतके अतीचार हैं ॥३२०॥

अब अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रतका वर्णन करते हैं—अतिथिके लिए अपने धनका जो भाग संकल्प किया जाता है, उसे लोकोत्तम पुरुषोंने अतिथिसंविभाग व्रत कहा है ॥३२१॥ जो सुधी साधु श्रावक दशामें स्वीकृत 'पर्वके नियमसे प्रोषधोपवास करूँगा' इस प्रोषधव्रतको छोड़कर अर्थात् तिथि-विशेषका विचार न करके भिक्षाके लिए स्वयं ही घर-घर घूमता है, शब्दार्थके (व्याकरणशास्त्रके) ज्ञाता पुरुष उसे अतिथि कहते हैं ॥३२२॥ सप्त गुणोंके धारण करनेके इच्छुक दाताको सर्व प्रकारके आरम्भसे रहित तपस्वियों की प्रतिपत्ति नवधा भक्ति से करनी चाहिए ॥३२३॥ अतिथिका संग्रह (प्रतिग्रह-पडिगाहना) उच्चस्थान, पाद-प्रक्षालन, पूजन, प्रणाम,

सङ्ग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च। वाक्कायमनःशुद्धीरेषणशुद्धिं च विधिमाहुः ॥३२४

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निःकपटता ईर्ष्यानसूयत्वम्।
अविषादित्वं मुदिता निरहङ्कारत्वमिति दातृगुणाः ॥३२५

अथवा त्रिविधो दाता भवति—

भागद्वयी कुटुम्बार्थे यार्थे तृतीयकः। स्वरायो धर्मार्थे तुर्यस्त्यागी स सत्तमः ॥३२६

भागद्वयं तु पोष्यार्थे कोशार्थे तु त्रयं सदा। दानाय यो युङ्क्ते स त्यागी मध्यमोऽधमात् ॥३२७

स्वस्वस्य यस्तु षड्भागान् परिवाराय योजयेत्। त्रींश्च दशांशं तु धर्मे त्यागी लघुश्च सः ॥३२८

द्विधा दानं समादिष्टं पात्रापात्रादिभेदतः। तत्पात्रं त्रिविधं शुद्धं भुक्तिमुक्तिप्रदायकम् ॥३२९

महाव्रतानि य. पञ्च विभर्त्ति जितमन्मथः। रागद्वेषविमुक्तात्मा स भवेत्पात्रमुत्तमम् ॥३३०

व्यक्तसम्यक्त्वसंयुक्तं पञ्चाणुव्रतभूषितः। यः स स्यान्मध्यमं पात्रं जिनधर्मप्रभावकः ॥३३१

यस्य व्रतविमुक्तस्य केवलं दर्शनं भवेत्। स जघन्यं भवेत्पात्रं निगदन्ति महर्षयः ॥३३२

सम्यक्त्ववर्जितोऽनेकतपःकर्माणि कर्मठः। यः स रम्यतरोऽपि स्यात्कुपात्रं गदितं जिनैः ॥३३३

सम्यक्त्वरहितोऽशेषकषायकलुषीकृतः। यो विमुक्तव्रतोऽपात्रं स स्यान्मिथ्यात्वदूषितम् ॥३३४

रागद्वेषासंयमदुःखभयार्त्यादिकं न यः कुरुते। द्रव्यं तदेव देयं सुतपःस्वाध्यायवृद्धिकरम् ॥३३५

मनःशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और एषणाशुद्धि, इन्हें आचार्य नव पुण्य या नवधा भक्ति रूप दानकी विधि कहते हैं ॥३२४॥ इस लोक-सम्बन्धी फलकी अपेक्षा न रखना, क्षमा, निष्कपटता, ईर्ष्या-असूया नहीं करना, अविषादिता, प्रमोदभाव और निरहंकारता ये दाताके सात गुण हैं ॥३२५॥

अथवा दाता तीन प्रकारके होते हैं—जो गृहस्थ अपनी आयके चार भाग करके दो भाग तो कुटुम्बके भरण-पोषणमें व्यय करता है, तीसरे भागका भविष्यकालके लिए संचय करता है, और चौथे भागका धर्मके लिए त्याग करता है, वह श्रेष्ठ दाता है ॥३२६॥ जो अपनी आयके छह भाग करके दो भाग तो पुत्रादि पोष्यवर्ग (कुटुम्ब)के लिए व्यय करता है, तीन भाग कोश (भंडार) के लिए सदा सुरक्षित रखता है और छठा भाग दानके लिए देता है, वह अधमकी अपेक्षा मध्यम दाता है ॥३२७॥ जो अपनी आयके दश भाग करके छह भाग तो परिवारके पालन-पोषणके लिए लगाता है, तीन भागोंका संचय करता है और दशवां भाग धर्म कार्यमें लगाता है, वह लघु या जघन्य दाता है ॥३२८॥ पात्र और अपात्र आदिके भेदसे दो प्रकारका दान कहा गया है। इनमें भुक्ति (स्वर्गादिके भोग) और मुक्तिका देनेवाला शुद्ध पात्र तीन प्रकारका कहा गया है। ॥३२९॥ जो कामदेवको जीतनेवाला इन्द्रियजयी पंच महाव्रतोंको धारण करता है और राग-द्वेषसे रहित वीतरागी साधु है, वह उत्तम पात्र है, ॥३३०॥ जो व्यक्त सम्यक्त्वसे संयुक्त पंच अणुव्रतोंसे भूषित है और जिनधर्मको प्रभावना करता है, ऐसा श्रावक मध्यम पात्र है ॥३३१॥ व्रतोंसे रहित जिस पुरुषके केवल सम्यग्दर्शन है, ऐसा अविरत सम्यग्दृष्टि है, उसे महर्षिजन जघन्य पात्र कहते हैं ॥३३२॥ जो अनेक प्रकारके तपश्चरण करनेमें कर्मठ है, किन्तु सम्यग्दर्शनसे रहित है, वह रम्यतर है अर्थात् वाहिरसे अति उत्तम दिखता है, फिर भी जिनदेवने उसे कुपात्र कहा है ॥३३३॥ जो सम्यक्त्व-रहित है, समस्त कषायोंसे कलुषित चित्तवाला है। व्रत-रहित है और मिथ्यात्वसे दूषित है, वह अपात्र है ॥३३४॥

जो पदार्थ राग, द्वेष, असंयम, दुःख, भय, आर्त्ति-पीड़ा आदिको नहीं करे और उत्तम तप

विद्धं विचलितस्वादं व्याधिवृद्धिविधायकम् । उच्छिष्टं नीचलोकार्हं नान्नं पात्राय सम्मतः ॥३३६
ग्रामान्तरात्समानीतं दुर्जनस्पर्शदूषितम् । न देयमापणक्रीतं भूतप्रेतादिकल्पितम् ॥३३७
पुष्पितं मन्त्रानीतं सिद्धान्तदूषितम् । उपायनीकृतं नान्नं मुनिभ्योऽत्र प्रदीयते ॥३३८
दधिसर्प्पिःपयःप्रायमपि पर्युषितं मतम् । गन्धवर्णरसभ्रष्टमन्यत्सर्वं विनिन्दितम् ॥३३९
अभक्तानां सदर्पाणां कारुण्योज्झितचेतसाम् । दीनानां च निवासेषु नाश्नन्ति मुनयः क्वचित् ॥३४०

च—

नाहरन्ति महासत्त्वाश्चित्तेनाप्यनुकम्पिताः । किन्तु ते दैन्यकारुण्यसङ्कल्पोज्झितवृत्तयः ॥३४१

उक्तं चामृतचन्द्रसूरिभिः—

हिंसायाः पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने । तस्मादतिथिविरमणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम् ॥३४२

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परानपीडयते ।
वितरति यो नातिथये स कथं न हि लोभवान् भवति ॥३४३
कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितत्यागः ।
अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभे भवत्यहिंसैव ॥३४४

पात्रदानेन संसारं तरन्ति त्वरितं नराः । वार्धिवर्धिष्णुकल्लोलं पोतेनेव नियामकः ॥३४५

स्वाध्यायकी वृद्धि करे, वही द्रव्य देनेके योग्य है ॥३३५॥ जो अन्न घुना हो, स्वाद-चलित हो, व्याधिकी वृद्धि करने वाला हो, जूंठा हो, और नीच लोगोंके योग्य हो वह अन्न पात्रके लिए देने योग्य नहीं माना गया है ॥३३६॥ जो अन्न अन्य ग्रामसे लाया गया हो, दुर्जनके स्पर्शसे दूषित हो, बाजारसे खरीदा गया हो, भूत-प्रेतादिके लिए संकलित हो, सावद्य हो, पुष्पित हो, मंत्रसे मँगाया गया हो. सिद्धान्त (आगम)से विरुद्ध हो, किसी दूसरेके द्वारा भेंट किया गया हो, वह अन्न मुनियोंके लिए नहीं दिया जाता है अर्थात् ऐसा अन्न अदेय है ॥३३७-३३८॥ जो आहार दही, घी और दूधकी बहुलता वाला है, रात्रि वाला है, वर्ण, गन्ध और रससे भ्रष्ट है, वह सब निन्दित माना गया है, अर्थात् ऐसा अन्न पात्रोंको देनेके लिए योग्य नहीं है ॥३३९॥ जो भक्ति रहित हैं, अहंकार सहित हैं, दयाभावसे विमुक्त चित्तवाले हैं, और दीन हैं, ऐसे लोगोंके घरोंमें मुनिजन कभी आहार नहीं करते हैं ॥३४०॥

कहा भी है—चित्तसे अनुकम्पित भी महा-सत्त्वशाली साधु दीन-अनाथ आदिका आहार नहीं ग्रहण करते हैं। क्योंकि वे दैन्य, कारुण्य और संकल्प-विकल्पोंसे रहित मनोवृत्तिवाले होते हैं ॥३४१॥

श्री अमृतचन्द्रसूरिने भी कहा है—यतः पात्रको दान देनेपर हिंसाका पर्याय स्वरूप लोभ दूर होता है, अतः अतिथिको दान देना हिंसाका परित्याग ही कहा गया है ॥३४२॥ जो गृहस्थ अपने घर आये हुए गुणशाली, मधुकरी वृत्तिसे दूसरोंको पीड़ा नहीं पहुँचानेवाले ऐसे अतिथिके लिए दान नहीं देता है, वह लोभवाला कैसे नहीं है ? अर्थात् अवश्य ही लोभी है ॥३४३॥ जो अपने लिए बनाये गये भोजनको मुनिके लिए देता है, अरति और विषादसे विमुक्त है, और लोभ जिसका शिथिल हो रहा है ऐसे गृहस्थका भावयुक्त त्याग (दान) अहिंसास्वरूप ही है ॥३४४॥ पात्रदानके द्वारा मनुष्य संसार-सागरको तुरन्त पार कर लेते हैं। जैसे कि समुद्रकी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई कल्लोलोंको नावका नियामक पोतके द्वारा शीघ्र पार कर लेता है ॥३४५॥

उक्तं च—

पात्रं ग्राहकमेव केवलमयं दाता वणिग्ग्रामणीर्दानं स्वैकफलाय च व्यवहृतिस्तद्वर्ण्यमत्रापि किम् ।
वर्ण्यं तावदिदं विना प्रतिभुवं प्रेत्य प्रतिग्राहको धीरान्तःकरणैकवृत्तिविशदस्तस्मै प्रदत्ते मुदा ॥३४६
य आचष्टे सङ्ख्यां गगनतलनक्षत्रविषयमिदं वा जानीते कतिचुलुकमानो जलनिधिः ।
अभिज्ञो जीवानां प्रतिभवपरावर्तकथने प्रमाणं पुण्यस्य प्रथयतु स पात्रार्पितजने ॥३४७
कालस्यातिक्रमश्चान्यव्यपदेशश्च मत्सरः । सचित्तक्षेपणं तेन पिधानं चातिथिव्रते ॥३४८
दुर्भिक्षे दुस्तरे व्याधौ वृद्धत्वे दुःसहेऽथवा । महावैरकरे वैरिवले हन्तुं समुद्यते ॥३४९
तपोध्वंसविधौ मृत्युकाले वा समुपस्थिते । सल्लेखना विधातव्या संसारभयभीरुभिः ॥३५०
संन्यासमरणं दानशीलभावतपःफलम् । निगदन्ति यतस्तस्मिन्नतो यत्नो विधीयताम् ॥३५१
पुत्रमित्रकलत्रादौ स्नेहं मोहं धनादिषु । द्वेषं द्विषत्समूहेषु हित्वा संन्यासमाश्रयेत् ॥३५२
कारितं यत्कृतं पापं तथानुमतमञ्जसा । तदालोच्य गुरूपान्ते निःशल्यः क्षपको भवेत् ॥३५३
यदकार्यमहं दुष्टमतिकष्टतरं त्रिधा । तत्सर्वं सर्वदा सद्भिर्भवद्भिः क्षम्यतां मम ॥३५४॥

कहा भी है—पात्र तो केवल ग्राहक है और यह दाता व्यापार करनेवाले वणिजोंमें अग्रणी है, दान अपने एकमात्र फलके लिए व्यवहार है। इसमें वर्णन करने योग्य विषय क्या है ? वर्णनीय तो यही है कि स्वामीके विना परलोकमें प्रतिग्राहक धीर अन्तःकरणैकवृत्तिसे निर्मल स्वरूपवाला आत्मा है, वह हर्षसे उसके लिए भरपूर प्रतिफल देता है। भावार्थ—इस जन्ममें तो दाता श्रावक दुकानदारके समान और पात्र ग्राहकके समान और आहाररूप देय वस्तु विक्रेयके रूप है। परन्तु परभवमें उसका प्रतिफल देनेवाले स्वामीके विना ही उसको महान् पुण्य उसी दातारूप प्रतिग्राहकको स्वयमेव प्राप्त हो, इस प्रकार इस भवका विक्रेता परभवमें उस पुण्यके फलका ग्राहक बन जाता है ॥३४६॥ जो व्यक्ति गगन-तलके नक्षत्र-विषयक संख्याको कह सकता है, अथवा यह समुद्र कितने चुल्लू-प्रमाण जलवाला है, यह जानता है, अथवा जो जीवोंसे प्रतिभवमें किये गये परावर्तन कहनेमें कुशल है, वही व्यक्ति पात्रको दान देनेवाले मनुष्यके पुण्यके प्रमाणको प्रकट करे, भावार्थ—जैसे आकाशके नक्षत्रोंकी गणना, समुद्रके जलका प्रमाण और जीवोंके भव-परावर्तनोंको कहनेमें सर्वज्ञ ही समर्थ है, उसी प्रकार सुपात्रको नवधा भक्तिसे दिये गये दानका फल सर्वज्ञ ही कह सकता है, मुझ जैसा अल्पज्ञ नहीं कह सकता ॥३४७॥ दान देनेके कालका अतिक्रम, अन्यव्यपदेश, मत्सर, सचित्त-निक्षेपण और सचित्तपिधान ये अतिथिसंविभागव्रतके पाँच अतीचार हैं ॥३४८॥

अब सल्लेखनाका वर्णन करते हैं—भयंकर दुर्भिक्ष होनेपर, निष्प्रतीकार व्याधिके होनेपर, असह्य वृद्धावस्थामें, महावैर करनेवाले शत्रुकी सेनाके प्राणघात करनेको समुद्यत होनेपर, तपको विध्वंस करनेवाले उपसर्गके आनेपर, अथवा मरणकाल उपस्थित होनेपर संसारके भयसे डरनेवाले श्रावकोंको सल्लेखना स्वीकार करनी चाहिए ॥३४९-३५०॥ यतः सर्वज्ञोंने संन्यासमरणको जीवन-भर किये गये दान, शील, भावना और तपश्चरणका फल कहा है, अतः इसे स्वीकार करनेमें प्रयत्न करना चाहिए ॥३५१॥ पुत्र, मित्र, स्त्री आदिमें स्नेहको, धनादिकमें मोहको और विद्वेष करने-वालोंमें द्वेषभावको छोड़कर संन्यासमरणका आश्रय लेना चाहिए ॥३५२॥ संन्यासमरण स्वीकार करनेके समय जीवनमें जो कुछ भी पाप किया हो, कराया हो; तथा पापका अनुमोदन किया हो, उस सबकी गुरुके समीप आलोचना करके शल्य-रहित होकर क्षपक अर्थात् दर्शनज्ञान चारित्र और

इत्युक्त्वा मूलतश्छित्वा रागद्वेषमयं तमः। आददीत गुरूपान्ते क्षपको हि महाव्रतम् ॥३५५
कालुष्यमरतिं शोकं हित्वाऽऽलस्यं भयं पुनः। प्रसाद्यं चित्तमत्यन्तं ज्ञानशास्त्रमृताम्बुभिः ॥३५६
हित्वा निःशेषमाहारं क्रमात्तैस्तैस्तपोवलैः। तनुस्थितिं ततः शुद्धदुग्धपानौ समाचरेत् ॥३५७
कियद्भिर्वासरैर्हित्वा स्निग्धपानमपि क्रमात्। प्रासुके शुद्धपानीये निबध्नीयात्तनुस्थितिम् ॥३५८
अपहाय पयःपानमुपवासमुपाश्रयेत्। दर्शनज्ञानचारित्रसेवाहेवाकिमानसः ॥३५९
दर्शनज्ञानचारित्रतपश्चरणलक्षणाम्। आराधनां प्रसन्नेन चेतसाऽऽराधयेत्सुधीः ॥३६०
अथवा सच्चिदानन्दाराधनेन न संशयः। तच्चतुष्टयमादिष्टं सुखमाराधितं भवेत् ॥३६१
स्मरन् पञ्चनमस्कारं चिदानन्दं च चिन्तयत्। दुःखशोकविमुक्तात्मा हर्षतस्तनुमुत्सृजेत् ॥३६२॥

उक्तं चामृतचन्द्रसूरिभिः—

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि।
इति भावनापरिणतोऽनागतमपि पालयेदिदं शीलम् ॥३६३
मरणेऽवश्यम्भाविनि कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति ॥३६४
यो हि कषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः।
व्यपरोपयति प्राणांस्तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः ॥३६५

तपरूप आराधनाओंका आराधक होवे ॥३५३॥ संन्यास स्वीकार करते समय सभी संबद्ध व्यक्तियोंसे कहे कि मैंने जो मन वचन कायसे आपलोगोंके साथ अति कष्टकारी नहीं करने योग्य दुष्ट कार्य किये हैं, आप सब सज्जन मेरे उन अपराधोंको क्षमा करें ॥३५४॥ इस प्रकार कहकर और राग-द्वेषमयी महान्धकारको मूलसे छेदन करके वह क्षपक गुरुके समीप महाव्रतोंको ग्रहण करे ॥३५५॥ इस प्रकार हृदयकी कलुषता, अरति, शोक, आलस्य और भयको छोड़कर तत्पश्चात् शास्त्रज्ञानरूप अमृत जलसे चित्तको अत्यन्त स्वच्छ करना चाहिए ॥३५६॥

संन्यास स्वीकार करनेके पश्चात् अवमौदर्यादि उन-उन तपोवलोंके द्वारा क्रम क्रमसे समस्त अन्न रूप आहारका परित्याग करके शुद्ध दुग्ध और जलके पानसे शरीरकी स्थितिको रखे ॥३५७॥ पुनः कितने ही दिनोंके द्वारा स्निग्धपानको भी क्रमसे छोड़कर केवल प्रासुक शुद्ध जल-पानसे शरीरकी स्थितिको रखे ॥३५८॥ पुनः जल-पानको भी छोड़ कर उपवासका आश्रय लेवे और दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी साधनामें मनको एकाग्र करे ॥३५९॥ उस समय उस बुद्धिमान् क्षपकको दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपश्चरण स्वरूप आराधनाकी प्रसन्न मनसे आराधना करनी चाहिए ॥३६०॥ अथवा सत्-चिद्-आनन्द स्वरूप शुद्ध आत्माकी आराधना करनेसे ही वे चारों आराधनाएँ सुखसे आराधित हो जाती हैं ॥३६१॥ अन्तिम समय पंच नमस्कार मंत्रका स्मरण करते हुए और चिदानन्द स्वरूपका चिन्तवन करते हुए दुःख, शोकसे रहित होकर हर्ष-पूर्वक शरीरका उत्सर्ग (त्याग) करे ॥३६२॥

श्री अमृतचन्द्रसूरिने भी कहा है—'मरणके अन्तमें मैं अवश्य ही विधिपूर्वक सल्लेखनाको करूंगा' इस प्रकारकी भावनासे परिणत श्रावक इन अनागत भी सल्लेखनारूप शीलव्रतका पालन करे ॥३६३॥ अवश्यम्भावी मरणके समय कषायोंको कृश करनेके साथ शरीरको कृश करनेमें व्यापार करनेवाले पुरुषका समाधिमरण राग-द्वेषादि भावोंके नहीं होनेसे आत्मघात नहीं है ॥३६४॥ हाँ, जो पुरुष कषायोंसे युक्त होकर कुम्भक (श्वास-निरोध), जल, अग्नि, विष और शस्त्रादिसे प्राणों-

नीयन्तेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम् ।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसाप्रसिद्धयर्थम् ॥३६६
जीवितमरणाशंसा सुखानुबन्धो निदानमपि मुनिभिः ।
सुहृदनुरागः पञ्च प्रोक्ताः सल्लेखनाकाले ॥३६७
यस्मिन् स्वर्णमहीधरो मशकतां गोततां चन्द्रमा-
स्तारात्वं तनुते हिमांशुरणुतामष्टौ कुलक्ष्माभृतः ।
तत्त्रैलोक्यमपि स्फुरद्यदमलज्ञानाम्बुधौ बुद्‌बुदा-
कारत्वं कलयत्यजय्यमहिमा नेमिः स भूयान्मुदे ॥३६८
द्यूतं मांसं सुरा वेश्या पापर्धिः परकामिनी ।
चौर्येण सह सप्तेति व्यसनानि विदूरयेत् ॥३६९

तत्र द्यूतम्—

सम्पद्वल्लीकुठारो निखिलविपदपामम्बुधिर्वासभूमि-
र्मायायाः सत्यशौचाम्बुजहिममयशो राक्षसः केलिशैलः ।
विश्वासाम्भोदवायुर्नरकपुरमुखं दूषणानां निदानं
स्वर्गद्वारस्य विघ्नो घनवृजिनखनिस्त्यज्यतां द्यूतमेतत् ॥३७०

विलेशयैरिव स्फारदुरोदरदुराशयैः । प्राणिभिः प्राणघातेऽपि जनानेच्छन्ति सङ्गमम् ॥३७१
क्षणार्धमपि यश्चित्ते विधत्ते द्यूतमास्पदम् । युधिष्ठिर इवाप्नोति व्यापदं स दुराशयः ॥३७२

का घात करता है उसका वह मरण वास्तवमें आत्मघात है ॥३६५॥ इस समाधिमरणमें यतः हिंसाके कारणभूत कषाय क्षीण किये जाते हैं, अत आचार्योंने सल्लेखनाको अहिंसाकी सिद्धिके हो लिए कहा है ॥३६६॥

जीविताशंसा, मरणाशंसा, सुखानुबन्ध, निदान और मित्रानुराग ये पाँच सल्लेखना कालमें मुनियोंने अतीचार कहे हैं ॥३६७॥

जिनके स्फुरायमान निर्मलज्ञान रूप समुद्रमें सुवर्ण-शैल सुमेरु मशक (मच्छर) के समान तुच्छताको धारण करता है, शीतल किरणोंवाला चन्द्रमा ताराके या खद्योत (जुगनू) की तुलनाको प्राप्त होता है, आठों ही कुलाचल पर्वत अणुकी समतावाले हो जाते हैं और यह सम्पूर्ण त्रैलोक्य बुद्‌बुद (जलका बबूला) के आकारको धारण करता है, वे अजेय महिमावाले नेमिप्रभु सबके हर्षके बढ़ानेवाले हों ॥३६८॥

जुआ, मांस, मदिरा, वेश्या, शिकार, परस्त्री, और चोरी इन सातों ही व्यसनोंको दूर करे ॥३६९॥ इन व्यसनोंमें जुआ खेलना सबसे बड़ा अनर्थकारी व्यसन है, क्योंकि यह सम्पत्तिरूपी वल्लीको काटनेके लिए कुठार है, सम्पूर्ण विपत्तिरूप जलोंके लिए जलनिधिके समान है, मायाचार-की निवासभूमि है, सत्य और शौचरूप कमलोंके लिए हिमपात है, क्रीड़ा गिरिका किसीके वशमें नहीं आनेवाला राक्षस है, विश्वास रूप मेघोंको उड़ानेके लिए मेघ है, नरकरूप नगरका मुख है दूषणोंका निदान है, स्वर्गके द्वारका विघ्नरूप द्वारपाल है और सघन पापोंकी खानि है, ऐसे द्यूतको सर्वथा छोड़ देना चाहिए ॥३७०॥ बिलोंमें सोनेवाले सर्पोंके समान अत्यन्त खोटे अभिप्राय-वाले इन दुर्जन जुआरी लोगोंके साथ सज्जन पुरुष तो प्राण घात होनेपर भी संगम नहीं करना चाहते हैं ॥३७१॥ जो पुरुष आधे क्षणके लिए अपने चित्तमें इस द्यूतको स्थान देता है, वह खोटे

उक्तं च पूर्वाचार्यैः श्रीपद्मनन्दिदेवैः—

द्यूताद्धर्मसुतः पलादिह वको मद्याद्यदोर्नन्दनाश्चारुः कामुकया मृगान्तकतया स ब्रह्मदत्तो नृपः।
चौर्यत्वाच्छिवभूतिरन्यवनितादोषाद्दशास्यो हठादेकैकव्यसनाहता इति जनाः सर्वैर्न को नश्यति ॥३७३
इति हतदुरितौघं श्रावकाचारसारं गदितभवधिलीलाशालिना गौतमेन।
विनयभरनताङ्गः सम्यगाकर्ण्य हर्षं विशदमतिरवाप श्रेणिकः क्षोणिपालः ॥३७४
महाव्रतिपुरन्दरः प्रशमदग्धरागाङ्कुरः स्फुरत्परमपौरुषस्थितिरशेषशास्त्रार्थवित्।
यशोभरमनोहरीकृतसमस्तविश्वम्भरः परोपकृतितत्परो जयति पद्मनन्दीश्वरः ॥३७५
इति श्रावकाचारसारोद्धारे श्रीपद्मनन्दिमुनिविरचिते द्वादशव्रतवर्णनं नाम तृतीयः परिच्छेदः ॥३

प्रशस्तिः—

तीर्थंकरस्येव महिमा भुवनातिगः। रत्नकीर्त्तिर्यतिः स्तुत्यः स न केषामशेषवित् ॥१
अहङ्कारस्फारीभवदमितवेदान्तविबुधोल्लसद्-ध्वान्तश्रेणी क्षपणनिपुणोक्तिद्युतिभरः।
अधीती जैनेन्द्रर जनिनाथप्रतिनिधिः प्रभाचन्द्रः सान्द्रोदयशयिततापव्यतिकरः ॥२
श्रीमत्प्रभेन्दुप्रभुपादसेवाहेवाकिचेताः रत्नप्रभावः।
सच्छ्रावकाचारमुदारमेनं श्रीपद्मनन्दी रचयाञ्चकार ॥३
—संवत् १५८० वर्षे शाके १४४५ प्रवर्तमाने।

अभिप्राय वाला पुरुष युधिष्ठिरके समान महाविपत्तिको प्राप्त होता है ॥३७२॥

प्राचीन आचार्य श्री पद्मनन्दि देवने भी कहा है—जुआ खेलनेसे धर्मराज युधिष्ठिर, मांस भक्षणसे वकराजा, मद्यसेवनसे यदु-नन्दन यादव, वेश्या-सेवनसे चारुदत्त, मृगया (शिकार) से ब्रह्मदत्त राजा, चोरीसे शिवभूति ब्राह्मण, और अन्य स्त्रीके दोषसे हठात् दशानन रावण ये सब जन एक व्यसनसे मारे गये, तो सभी व्यसनोंके सेवनसे कौन विनष्ट नहीं होगा ? अर्थात् सर्व व्यसन-सेवी तो अवश्य ही विनाशको प्राप्त होगा ॥३७३॥

इस प्रकारके पाप-समूहके विनाश करनेवाले श्रावकाचारको अवधिज्ञानकी लीलावाले श्री गौतम स्वामीने कहा। उसे सम्यक् प्रकारसे श्रवण कर विनय-भारसे अवनत मस्तकवाला निर्मल बुद्धि श्रेणिक महाराज अति हर्षको प्राप्त हुआ ॥३७४॥

महाव्रतियोंमें इन्द्र, प्रशम भावसे रागाङ्कुरके भस्म करनेवाले, स्फुरायमान परम पुरुषार्थी, समस्त शास्त्रोंके अर्थ-वेत्ता, यशोभारसे समस्त विश्वम्भरा (पृथ्वी) के मनको हरण करनेवाले और परोपकारमें तत्पर श्रीपद्मनन्दीश्वर जयवन्त रहें ॥३७५॥

इति श्री पद्मनन्दि मुनि विरचित श्रावकाचार सारोद्धारमें द्वादश व्रतोंका वर्णन करनेवाला तीसरा परिच्छेद समाप्त हुआ

ग्रन्थकारकी स्ति—

जिनकी महिमा तीर्थंकरोंके समान भुवनातिशायिनी है, वे समस्त शास्त्रोंके वेत्ता रत्नकीर्त्ति यति किसके द्वारा स्तुत्य नहीं हैं ? अर्थात् सभीके द्वारा स्तुति करनेके योग्य हैं ॥१॥

अहङ्कारके स्फुरायमान होनेके कारण अपरिमित्त वेदान्तके विशिष्ट वोधसे उल्लसित अन्धकारकी परम्पराके क्षपणमें निपुण युक्त उक्तिरूपी द्युतिके धारक, अध्ययनशील, जैनेन्द्रचन्द्रके प्रतिनिधि और उदयको प्राप्त अत्यन्त शील किरणोंके द्वारा जगत्के पापसमूहके शान्त करनेवाले प्रभाचन्द्र आचार्य जयवन्त रहें ॥२॥

उक्त गुण विशिष्ट श्रीमान् प्रभाचन्द्राचार्यकी चरण सेवामें चित्तका आग्रह रखनेवाले श्री पद्मनन्दीने इस उदार श्रावकाचारको रचा ॥३॥

वि० सं० संवत्सर १५८० और शक संवत् १४४५ वर्षके प्रवर्तमान कालमें।

श्री जिनदेव-विरचित भव्यधर्मोपदेश उपासकाध्ययन

नत्वा वीरं त्रिभुवनगुरुं देवराजाङ्घ्रिवन्द्यं रातीञ्जयति न् भूतसङ्घे द :।
: कृत्वा निखिलजगतो तर दीषु वेत्ता धर्मं कथयति इह भारते तीर्थराजः ॥१
नत्वा वीरं जिनं देवं कर्मारिक्षयकार । क ोधादयो येन जितारातिमहाबलः ॥२
कल्याणातिशयोपेतं प्रातिहार्य न्वितम्। सुरेन्द्रवृन्दवन्द्याङ्घ्रिं जिनं नत्वा जगद्-गुरुम् ॥३
नोकर्म-कर्मनिर्मुक्तान् सिद्धान् सिद्धगुणान्वितान्। लोकाग्रशिखरावासान् नत्वाऽनन्तसुखान्वितान् ॥४
द्वादशाङ्गं श्रुतं येषां संयमं द्विविधं तथा। षट्त्रिंशद्गुणसंयुक्तं प ररतं नमः ॥५
तपसा संयमेनैव सश्रुतेन न्वितान्। धर्मोपदेशकान् नित्यमुपाध्यायान् नमस्तथा ॥६
र रजलोत्तरणे प्रणेता रत्नत्रयेषु निरता जिनधर्मधीराः।
रागादिदोषरहिता मदभञ्जना ये ते साधवः सुव : शिरसा हि वन्द्याः ॥७
प्रत्येकं परमेष्ठिनं नत्वा वीरं जिनेश्वरम्। वक्ष्येऽहं काचारं पूर्वसूरि ॥८
नत्वा जिनोद्भवां वाणीं सर्वसत्त्वहितङ्करीम्। जीवाजीवादितत्त्वानां धर्ममार्गोपदेशिकाम् ॥९

जो त्रिभुवनके गुरु हैं, देवोंके स्वामी इन्द्रोंसे जिनके चरण वन्दनीय हैं; सकल कर्म-शत्रुओं-को जीता है, फिर भी जीव-समुदायके ऊपर दयालु हैं, ज्ञानके द्वारा सकल जगत्के तत्त्वों आदिके वेत्ता हैं, जो इस भारतवर्षमें धर्म और अधर्मको कहते हैं, और वर्तमान तीर्थके राजा हैं, उन महावीर स्वामीको नमस्कार करके (उपासकाध्ययनको कहूँगा) ॥१॥ कर्मरूपी शत्रुओंको क्षय करनेवाले वीर जिनदेवको नमस्कार करता हूँ, जिन्होंने काम-क्रोधादिको जीता है और जो महाबली शत्रुओंके विजेता हैं ॥२॥ जो कल्याणकारी चौंतीस अतिशयोंसे संयुक्त हैं, आठ महाप्रातिहार्योंसे युक्त हैं, देवेन्द्र-वृन्दसे जिनके चरण वन्दनीय हैं और जो जगत्के गुरु हैं, ऐसे जिनेन्द्र अरिहन्त देवको नमस्कार करता हूँ ॥३॥ जो ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, राग-द्वेषादि भावकर्म और शरीरादि नोकर्मसे विनिर्मुक्त हैं, सम्यक्त्व आदि सिद्धोंके गुणोंसे युक्त हैं, लोकके अग्रभागके शिखरपर विराजमान हैं और अनन्त सुखसे युक्त हैं, ऐसे सिद्धोंको नमस्कार करता हूँ ॥४॥ जिन्हें द्वादशाङ्ग श्रुतका ज्ञान है, जो इन्द्रिय संयम और प्राणिसंयम रूप दो प्रकारके संयमके धारक हैं, छत्तीस गुणोंसे युक्त हैं और दर्शनाचार आदि पंच आचारोंके पालनमें निरत हैं ऐसे आचार्योंको नमस्कार करता हूं ॥५॥ जो बारह प्रकारके तपसे, बारह प्रकारके संयमसे और बारह प्रकारके श्रुतसे संयुक्त हैं और नित्य ही भव्यजीवोंको धर्मका उपदेश देते हैं ऐसे उपाध्यायोंको मेरा नमस्कार है ॥६॥ जो संसार-सागरके जलसे पार उतारनेमें प्रणेता हैं, अर्थात् खेवटियाके समान हैं, रत्नत्रयधर्ममें संलग्न हैं, कर्म-शत्रुओंके मदके भंजन करनेवाले हैं और सभी प्राणियोंके सुमित्र हैं वे साधुगण मेरे द्वारा शिरसे वन्दनीय हैं ॥७॥ इस प्रकार प्रत्येक परमेष्ठीको और वीर जिनेश्वरको नमस्कार कर मैं पूर्वाचार्योंकी परम्परासे चला आ रहा है ऐसे श्रावकाचारको कहूँगा ॥८॥

जो सर्व प्राणियोंकी हित करनेवाली है, जीव-अजीव आदि तत्त्वोंका और धर्ममार्गका उप-देश करनेवाली है और जिनेन्द्रदेवके मुख कमलसे प्रकट हुई है, ऐसी वाणीको नमस्कार करता हूँ

सम्यग् रत्नत्रयं यस्य प्रसादेन मया ध्रुवम् । ज्ञातं तं भुवने चन्द्रं तं गुरुं प्रणमाम्यहम् ॥१०
चतुःषष्टिमिता देव्यो यक्षाश्च गोमुखादयः । भव्यानां शुभकर्माणो दुष्टानां न शुभाः परम् ॥११
भरतक्षेत्रमध्यस्थं देशं तु दक्षिणापथम् । विषयं विषपल्लाख्यमामर्द्दकपुरं ततः ॥१२
वनैः आराम-उद्यानैः शोभितं जिनमन्दिरैः । हंससारसनिर्घोषैस्तडागैः सागरोपमैः ॥१३
उत्तुङ्गैर्बहुभिश्चैव प्रासादैर्धवलैर्गृहैः । शोभितं हट्टमार्गेषु वल्लालनृपरक्षितम् ॥१४
तत्रैवामर्द्दके रम्ये जिनदेवो वणिग्वरः । वर्धमानवरे गोत्रे नागदेवाङ्गसम्भवः ॥१५
स प्रियं चिन्तयेत् प्राज्ञः संसारेऽप्यस्थिरं छिदम् । जीवितं धनता पुण्यं धर्मख्यातिः स्थिरा पुनः ॥१६
चतुरशीतिलक्षेषु मानुषत्वं सुदुर्लभम् । दुर्लभं तु कुले जन्म दुर्लभं व्रतपालनम् ॥१७
सञ्ज्ञाश्चेन्द्रिययोगाश्च सामान्याः सर्वजन्तुषु । धर्मख्यातिविहीनं तु गतं जन्म निरर्थकम् ॥१८
दानं व्रतसमूहं च धर्महेतुश्च कारणम् । कीर्तिश्च पौरुषं त्यागः कवित्वं च विशेषतः ॥१९
अल्पद्रव्यैः कुतस्त्यागः पौरुषैः वणिजां कुतः । कवित्वं मन्दबुद्धिश्च कथं कीर्तिर्भविष्यति ॥२०

स्वर्गापवर्गस्य सुखस्य हेतोर्भव्यात्मबोधाय निमित्तमेनम् ।
गृह्णन्तु भव्याः सगुणा गुणज्ञा निन्दन्तु दुष्टाः खलु दुर्जना हि ॥२१

विद्वान्सः कुशलाः सन्तो मुनिर्वा भव्य एव वा । शोधयित्वा ऋजुत्वेन ते गृह्णन्तु सुभाषितम् ॥२२

॥९॥ जिनके प्रसादसे मैंने रत्नत्रय धर्मको सम्यक् प्रकारसे जाना है ऐसे संसारमें चन्द्रके समान उन अपने गुरुको प्रणाम करता हूँ ॥१०॥ चक्रेश्वरी आदि चौंसठ देवियाँ हैं और गोमुख आदि जो यक्ष हैं, ये भव्यजीवोंका कल्याण करनेवाले हैं पर दुष्टजनोंके लिए शुभ नहीं हैं ॥११॥

इस भरतक्षेत्रके मध्यमें स्थित दक्षिणापथ देश है, उसमें पल्लवनामक जनपद है, उसमें आमर्द्दक नामका नगर है ॥१२॥ वह वन, आराम, उद्यान, जिनमन्दिरोंसे, हंस सारस पक्षियोंके शब्दोंसे युक्त, समुद्रके समान जलसे भरे हुए तालाबोंसे, अनेक उत्तुंग प्रासादोंसे, और प्रचुर-धवल गृहोंसे शोभित है, बाजार, हाट-मार्गोंसे युक्त है और वल्लालराजासे रक्षित है ॥१३-१४॥ उसी सुन्दर आमर्द्दक नगरमें श्रेष्ठ वर्धमान गोत्रमें नागदेवसे उत्पन्न हुआ जिनदेवनामका वैश्योंमें उत्तम सेठ रहता है ॥१५॥ उस बुद्धिमान् जिनदेवने विचारा कि इस संसारमें यह सब कुटुम्ब-परिवार, जीवन और धन-वैभव अस्थिर है। किन्तु पुण्य, धर्म और कीर्ति स्थिर है ॥१६॥ चौरासी लाख योनियोंमें मनुष्यपना अति दुर्लभ है, उसमें भी उत्तम कुलमें जन्म होना दुर्लभ है, उत्तम कुलमें जन्म होनेपर भी व्रतका पालन करना दुर्लभ है ॥१७॥ आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चारों संज्ञाएँ, इन्द्रियाँ और मन, वचन, कायका योग तो सभी प्राणियोंमें सामान्य हैं। किन्तु धर्म और कीर्त्तिके विना जन्म निरर्थक ही जाता है ॥१८॥ दान देना, और व्रत समुदायका पालन करना, ये धर्मोपार्जनके कारण हैं, पुरुषार्थ, त्याग (दान) और विशेषतया कवित्व कीर्त्तिके कारण हैं ॥१९॥ वैश्योंके अल्प द्रव्यसे दान कैसे संभव है? अल्प पुरुषार्थसे धर्म-साधन कैसे होगा? और मैं मन्द बुद्धि हूँ अतः कवित्व-रचना कैसे संभव है? और इन सबके विना कीर्त्ति कैसे प्राप्त होगी ॥२०॥

स्वर्ग और मोक्षके सुखकी प्राप्तिके लिए, भव्यजीवोंके तथा अपनी आत्माके प्रबोधके लिए इस निमित्तभूत कवित्व रचनाको करना चाहिए। जो गुणशाली गुणज्ञ भव्यजीव हैं, वे तो इसमेंसे गुणको ही ग्रहण करें। और जो दुष्ट दुर्जन हैं, वे निन्दा करें ॥२१॥ जो विद्वान् कुशल, सन्त पुरुष हैं, अथवा जो मुनि या भव्यजन हैं, वे सरलभावसे इस मेरी रचनाको शुद्ध करके सुभाषितको

दुर्जनस्य च सर्पस्य समता तु विशेषतः । छिद्राभिलषिता नित्यं द्विजिह्वं पृष्ठिभक्षणम् ॥२३
गुणधर्मविनिर्मुक्ताः परमर्मविदारकाः । ऋजुत्वेन प्रविशन्ति नाराचा इव दुर्जनाः ॥२४
एतेषां भयभीतानां सङ्केतेन मया मुदा । सुशक्यं काव्यकर्तृत्वं लक्षणेन न्वितम् ॥२५
तस्मिन् कालेऽपि गुरुणा जिनदेवो विबोधितः । तथा मार्गोपदेशोऽयं व्यः पुण्यहेतुभिः ॥२६
सुजनानां प्रसादाय दुर्जनानां हि निर्मिता । विषेणाप्यमृतं यद्वत् सीवांशुधारिणा ॥२७
दुर्जनाः सुजनाश्चैव सुजनाः सुजनास्तथा । दोषान् गृह्णन्ति दौर्जन्याद् गुणान् काव्येषु संस्थितान् ॥२८
दुर्जन-सुजनानां तु स्वभावस्तस्य लक्षणम् । गुणसहस्रमध्यस्थान् दोषान् गृह्णन्ति दुर्जनाः ॥२९
सुकर्तव्यं भयं तेषां दुर्जनाङ्गारसदृशाम् । न तेषां वालनं कुर्यात् स्वयं भूतिर्भविष्यति ॥३०
गुरूणां वचनं श्रुत्वा जिनदेवो सुमोदितः । जिनचन्द्रप्रसादेन धर्मोत्साहः कृतः पुनः ॥३१
जम्बूद्वीपस्य भरते देशं तु मागधं विदुः । राजगृहं पुरं तत्र श्रेणिको हि नरेश्वरः ॥३२
राज्याङ्गैः सुसमृद्धोऽपि चामात्यैः कुशलस्तथा । विशेषक्षितिपालानां स्त्रयं च सविता भवेत् ॥३३
माण्डलिकैः सुसामन्तैः कुमारान्तःपुरैः सह । आस्थानमण्डले रम्ये सुरेन्द्र इव लीलया ॥३४
विविधैः सेवितं पात्रैर्विबुधैर्विबुधेश्वरः । चामरैर्वीज्यमानोऽपि कामिनीभिरलङ्कृतः ॥३५
प्रातिहार्यवरैर्भृत्यैः प्रेषितेन वनेशिना । सर्वर्तुफलपुष्पाणि दत्वा राज्ञे नमस्कृतः ॥३६

ग्रहण करें ॥२२॥ दुर्जन पुरुषकी और सर्पकी विशेष रूपसे समानता है। दोनों ही सदा छिद्रोंके (साँप बिलके और दुर्जन दोषोंके) अभिलाषी होते हैं, दो जिह्वावाले हैं और पीठ-पीछे भक्षण करते हैं ॥२३॥ दुर्जन पुरुष बाणोंके समान गुण-धर्मसे विनिर्मुक्त हो परमर्मके विदारक और सरलतासे शरीरमें प्रविष्ट होते हैं ॥२४॥ इन दुर्जनोंके भयसे डरे हुए लोगोंके संकेतसे मैंने हर्षपूर्वक लक्षण-शास्त्रसे संयुक्त काव्य-रचना करना सरल समझा ॥२५॥ उस समय गुरुके द्वारा मैं जिनदेव प्रबोध-को प्राप्त कराया गया। तथा उन्होंने बताया कि पुण्यके कारणोंसे यह धर्ममार्गका उपदेश करना चाहिए ॥२६॥ सज्जनों और दुर्जनोंकी प्रसन्नताके लिए ही विधाताने जैसे विषके साथ अमृतको, चन्द्रके साथ अन्धकारको रचा है ॥२७॥ संसारमें सुजन तो सुजन ही रहेंगे और दुर्जन दुर्जन ही रहेंगे। काव्यमें विद्यमान गुण-दोषोंसे दुर्जन अपने दुर्जन स्वभावके कारण दोषोंको ग्रहण करते हैं और सज्जन गुणोंको ही ग्रहण करते हैं ॥२८॥ उनके ऐसा करनेमें उनकी दुर्जनता और सज्ज-नतारूप स्वभाव ही लक्षण है कि हजारों गुणोंके मध्यमें स्थित भी दोषोको दुर्जन ग्रहण करते हैं ॥२९॥ इसलिए अंगारके समान उन दुर्जनोंका भय तो करना चाहिए, किन्तु उनका ज्वालन नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे अंगार जलते-जलते स्वयं ही भस्म (भूति या राख) हो जावेंगे ॥३०॥ गुरुओंके ये वचन सुनकर जिनदेव प्रमुदित हुआ। और जिनचन्द्रके प्रसादसे उसने धर्ममें उत्साह किया ॥३१॥

इस जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें मगध नामका देश है, उसमें राजगृह नामका नगर है और वहाँका नरेश्वर श्रेणिक राजा था ॥३२॥ वह राज्यके सभी अंगोंसे समृद्ध था, मंत्रियोंके द्वारा कुशलताको प्राप्त था, तथा विशिष्ट राजाओंके लिए वह स्वयं सूर्यके सदृश प्रकाश देनेवाला प्रतापी था ॥३३॥ एक समय जब वह माण्डलिक राजाओं, सामन्तजनों, राजकुमारों और अन्तः-पुरके साथ रमणीय आस्थान मण्डपमें इन्द्रके समान लीलापूर्वक विराजमान था, उस समय वह अनेक प्रकारके पात्रोंसे एवं विद्वानोंसे सेवित होता हुए देवोंका स्वामी–जैसा ज्ञात हो रहा था, चामरोंसे वीज्यमान था और सुन्दर स्त्रियोंसे अलंकृत था, तब उत्तम प्रतीहारियोंसे भेजे गये

देवदेवाधिदेवस्य माहात्म्येन हि मोदितैः । पुष्पैः फलदलैर्देव वनराजी विराजिता ॥३७
क्षीरजलस्रवन्ता हि नन्दिनीनन्दिता जनाः । सरित्सरोवरा ह्रदाद्यास्तोयैश्च परिपूरिताः ॥३८
श्रुत्वा देवागमं राज्ञां जयशब्दसमुत्थिताः । पदानि सप्त गत्वा हि जिननाथो नमस्कृतः ॥३९
कृतमानन्दभेरीणां शब्दं यात्रोत्सवेन च । भव्यानामानन्दजननं रिपूणां भयकारणम् ॥४०
राजद्भी रथसङ्घातैर्भृत्यैश्च परिवारितः । वारणस्कन्धमारूढो निर्गतोऽयं महीश्वरः ॥४१
जलगन्धाक्षतैः पुष्पैर्दीपैर्धूपफलान्वितैः । जिनयात्रोत्सवैः सर्वैर्जनैर्नागरिकैः सह ॥४२
व्रजन्ती वाहिनी तत्र यत्र वीरजिनेश्वरः । क्वापि क्वापि जिनेन्द्रस्य कथयन्ति पुरा कथाः ॥४३
गर्भावतरणं क्वापि क्वापि मेरुप्रकम्पनम् । क्वापि निःक्रमणं चैव क्वापि केवलदर्शनाम् ॥४४
अद्रि समुत्थितं दृष्टं यक्षराजविनिर्मितम् । प्राकारखातिकावल्लीवनराजिविराजितम् ॥४५
मानस्तम्भैर्महाचन्द्रैर्गोपुरैस्तोरणान्वितैः । सङ्गीतवाद्यनृत्यैश्च नाट्यस्थानैः सुशोभितैः ॥४६
चैत्यवापीवरैर्वृक्षैः पुष्पैस्तैश्च विराजितम् । स्थानैर्द्वादशभिर्युक्तं पीठत्रितयशोभितम् ॥४७
गणधाकल्पवासीनां युवतिप्रमुखाङ्गनाः । ज्योतिष्का व्यन्तरा नारी भावन्नारी तु षष्ठमे ॥४८
ज्योतिष्का व्यन्तरा देवा भावना कल्पवासिनः । मनुजास्तिर्यगा प्रोक्ताः कोष्ठद्वादशभिः क्रमात् ॥४९

प्रविश्य राजा प्रविलोक्य देवं जयादिशब्दैः स्तुतिमुच्चचार ।
ननाम राजेश्वरवृन्दवन्द्यं सिंहासनस्योपरि संस्थितं च ॥ ५०

वनपालने सर्वऋतुके फल-पुष्प भेंट करके राजाको नमस्कार किया ॥३४-३६॥ और निवेदन किया—हे देव, देवाधिदेव जिनेन्द्रदेवके माहात्म्यसे प्रमोदको प्राप्त पत्रों, पुष्पों और फलोंसे वनराजि शोभायमान हो रही है, आनन्दको प्राप्त गायें दूधको जलके समान बहा रही हैं, सर्वजन प्रसन्न हो रहे हैं, तथा नदियाँ, सरोवर और ह्रद जलसे भर-पूर हो गये हैं ॥३७-३८॥ तीर्थंकरदेवका आगमन सुनकर राजा श्रेणिकने जय-जयकार शब्द किया और सात पग आगे जाकर जिननाथको नमस्कार किया ॥३९॥ राजाने यात्रोत्सवकी सूचना देनेवाली आनन्दभेरी बजवाई, जिसका शब्द भव्यजीवोंको आनन्द-जनक और शत्रुओंको भय-कारक था ॥४०॥ शोभायमान रथोंके समूहोंसे और सेवकजनोंसे घिरा हुआ महावीर श्रेणिक हाथीके कन्धे पर बैठकर प्रभुकी वन्दनाके लिए निकला ॥४१॥ जल, गन्ध, अक्षत, पुष्प, दीप, धूप और फलोंसे युक्त सभी नागरिकजनोंके साथ जिनयात्राके उत्सवमें जाती हुई सेना वहाँ पहुँची जहाँपर कि वीर जिनेश्वर विराजमान थे। वहाँ कहीं पर लोग जिनेन्द्रदेवकी पूर्वभवकी कथाओंको कह रहे थे, कहीं पर गर्भावतरणकी, कहीं पर मेरुके कँपानेकी, कहीं पर निष्क्रमण-कल्याणकी और कहीं पर केवलज्ञानके पानेकी लोग कथा कह रहे थे ॥४२-४४॥ वहाँ पर यक्षराज कुबेरके द्वारा निर्मित उन्नत पर्वत दिखाई दिया, जो कि प्राकार, खातिका, वल्ली और वनराजिसे सुशोभित हो रहा था ॥४५॥ महान् चन्द्रोंसे युक्त मानस्तम्भोंसे, तोरणोंसे युक्त गोपुरोंसे, संगीत, वाद्य, नृत्य, और सुशोभित नाट्यस्थानोंसे, तथा चैत्य, वापी, श्रेष्ठ वृक्षोंसे, नानाप्रकारके पुष्पोंसे, बारह सभाओंसे और तीन पीठसे सुशोभित समवशरणको देखा ॥४६-४७॥ उन बारह सभा-प्रकोष्ठोंमें क्रमसे गणधर आदि मुनिजन, आर्यिका प्रमुख स्त्रियाँ, कल्पवासिनी देवियाँ, ज्योतिष्क देवियाँ, व्यन्तर देवियाँ, भवनवासिनी देवियाँ, ज्योतिष्क देव, व्यन्तरदेव, भवनवासी देव, कल्पवासी देव, मनुष्य और तिर्यंच बैठे हुए थे ॥४८-४९॥ उस समवशरणमें राजा श्रेणिकने प्रवेश करके और श्री जिनदेवको देखकर जय-जय आदि शब्दोंसे स्तुतिका उच्चारण किया और सिंहासनके ऊपर विराजमान राजेश्वर-समूहसे वन्दनीय प्रभुको नमस्कार किया ॥५०॥ अशोक वृक्ष, दिव्यध्वनि, सुगन्धित पुष्पवृष्टि, दुन्दुभिनाद, तीन छत्र,

अशो क्ष-ध्वनि-पुष्पवृष्टिशुभान्वितं दुन्दुभिभाषनादैः ।
छत्रत्रयं चामरवीज्यमानं दृष्टं जिनेन्द्रं शतकेन्द्रवन्द्यम् ॥५१
देव त्वदीयचरणद्वय नेन कर्मक्षयं भवति बोधिसमाधिसौख्यम् ।
निष्ठामियर्त्ति विलयं खलु पापमूलं सर्वार्थसिद्धिविपुलं परतः सुखं च॥५२
नानाविधैः स्तोत्रसुगद्यपद्यैः वन्द्यो जिनेन्द्रो मुनिभिश्च वन्द्यः ।
वृषं हि नत्वा वरमिन्द्रभूतिं सागार -नागारसुधर्ममार्गम् ॥५३
तत्रैव सागारसुधर्ममार्गमेकादशैर्भेदमुदाहरन्ति ।
तत्रैव ह्याद्यं वरदर्शनीकं व्रतान्वितं तद्द्वितयं वदन्ति ॥५४
सामायिकं च तृतीयं ह्यदाहृतं सप्रोषधं चतुर्थमण्डितम् ।
सचित्तपरिहारकपञ्चमाख्यं षष्ठं तु दिवसे ब्रह्मचारी ॥५५
सप्ताष्टनवमं चैव कादशे तथा । सर्वसङ्गविनिर्मुक्तं कौपीनव्रतधारणम् ॥५६
तत्र तावत् प्रवक्ष्यामि दर्शनीकं सतः । व्यसनोदुम्बरत्यागः सम्यक्त्वेन विराजितः ॥५७
धर्मो दयान्वितः शुद्धो रागद्वेषविवर्जितः । मोक्षमार्गो हि निर्ग्रन्थस्तपो विषयवर्जितम् ॥५८
आदिमध्यावसानेषु आगमः पापवर्जितः । न प्रणीतस्तु तं प्रमाणं नरेश्वर ॥५९
सर्वज्ञो दोषनिर्मुक्तो दोषाः क्षुत्तृड्भयादयः । रागद्वेषादयश्चान्ये तैर्मुक्तो मोक्षवान् भवेत् ॥६०
शङ्कादिदोषरहितं निःशङ्कादिगुणान्वितम् । तत्त्वानां श्रद्दधानत्वं यत्तत्सम्यक्त्वमिदं विदुः ॥६१

चौंसठ चमरोंसे वीज्यमान, और शत-इन्द्रोंसे पूज्य ऐसे वीरजिनेन्द्रके दर्शन करके श्रेणिकने कहा—हे देव, आपके चरण-युगलके दर्शनसे कर्मोंका क्षय होता है, बोधि, समाधि और सुख चरमसीमाको प्राप्त होते हैं। पापका मूल मिथ्यात्व विनष्ट होता है और सर्व अर्थकी सिद्धि विपुलताको प्राप्त होती है ॥५१-५२॥ इस प्रकार अनेक गद्य-पद्यमय स्तोत्रोंसे मुनियोंके द्वारा वन्दनीय वीरजिनेन्द्रकी वन्दना करके, धर्म-(चक्र) की वन्दना करके सागार और अनगारधर्ममार्गका उपदेश करनेवाले श्री इन्द्रभूति गौतमको नमस्कार करके राजा श्रेणिक मनुष्योंके कोठेमें जाकर बैठ गया ॥५३॥

उस समय धर्मका उपदेश देते हुए कहा—जिनेन्द्रदेवने सागारधर्मका मार्ग ग्यारह भेदवाला कहा है। उनमें उत्तम सम्यग्दर्शनको धारण करना प्रथम भेद है, बारह व्रतोंको धारण करना दूसरा भेद है ॥५४॥ सामायिक प्रतिमा तीसरा भेद है, प्रोषधोपवास करना चौथा भेद है, सचित्त का परिहार करना पांचवाँ भेद है, दिनमें ब्रह्मचर्य पालना छठा भेद है ॥५५॥ सदा ब्रह्मचर्य पालना सातवाँ भेद है, आरम्भ त्याग करना आठवाँ भेद है, सर्वसंगका त्याग करना नवाँ भेद है, लौकिक कार्यमें अनुमतिका त्याग करना दसवाँ भेद है और कौपीन व्रतको धारण करना ग्यारहवाँ भेद है ॥५६॥ इनमेंसे सबसे पहिले दार्शनिक प्रतिमाका स्वरूप संक्षेपसे कहता हूँ। सभी व्यसनोंका और पंच उदुम्बर फलोंका त्याग करना और सम्यक्त्वको धारण करना दर्शनप्रतिमा है ॥५७। दयासे संयुक्त धर्म ही शुद्ध धर्म है, राग-द्वेषसे रहित निर्ग्रन्थपना ही मोक्षमार्ग है और इन्द्रियोंके विषयोंसे रहित होना ही सच्चा तप है ॥५८॥ हे राजन्, आदि, मध्य और अन्तमें पापसे रहित और सर्वज्ञसे प्रणीत ही सच्चा आगम है, उसे ही प्रमाण मानना चाहिए ॥५९॥ क्षुधा, तृषा, भय आदि और राग, द्वेष, मोह आदिक अठारह दोषोंसे रहित होता है वही सर्वज्ञ देव है, इन सर्व दोषोंसे रहित पुरुष ही मोक्ष का अधिकारी होता है ॥६०॥

शंका आदि आठ दोषोंसे रहित, निःशंकित आदि आठ गुणों से सहित जीवादि सात

मदैः शङ्कान्वितैर्मूढैस्तथानायतनैः सह। यन्निर्मलं हि सम्यक्त्वमेतैश्च मलिनीकृतम् ॥६२
विज्ञानं जातिमैश्वर्यं कुलं रूपवलान्वितम्। तपो विद्या मदांश्चाष्टौ त्यक्त्वा भव्यो भवेद्ध्रुवम् ॥६३
जिनेन्द्रवचने शङ्का आकाङ्क्षा च न वि ते। विचिकित्सा शरीरस्य मूढं मूढात्मनस्तथा ॥६४
दोषोक्तिरपगूहः स्यादस्थितिर्व्रतकम्पनम्। अवात्सल्यं चावज्ञा पूजानाशोऽप्रभावना ॥६५
अधर्माद् धर्ममाख्याति त्वदेवान्मुक्ति मन्यते। अव्रताद् व्रतमादाय मिथ्यामूढत्रयान्वितम् ॥६६
कुतीर्थगमनं स्नानं धर्मेच्छा पुत्रमिच्छता। भृगुपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥ ६७
वरदानं पुत्रदानेच्छा जीविकासाधनाशया। कुदेवकीर्तनं पूजा देवे मूढा हि ते स्मृताः ॥६८
मुण्डधारी जटाधारी सग्रन्थो लुञ्चितस्तथा। पाखण्डिनमनं स्नेहं ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम् ॥६९
कुदेवागमलिङ्गानि तेषामाराधकास्त्रयः। एतान्यनायतनानि- भाषितानि जिनेश्वरैः ॥७०
धर्मप्रभावना हर्षो संसारस्य ह्यसारता। आत्मनिन्दा प्रशंसा च गुरूणां व्रतधारिणाम् ॥७१
उपशमो जिनभक्तिश्च पूजा च वन्दना तथा। इत्यष्टगुणसंयुक्तं ज्ञेयं सम्यक्त्वलक्षणम् ॥७२
भरतो तस्य पुत्रश्च रामः सीता सुदर्शनः। विजयाऽर्हद्दासश्च वलिनामा सुरेवती ॥७३
चेलना वासुदेवश्च नागश्री च प्रभावती। लक्ष्मणो विष्णुनामा च वसुपालश्च जन्मना ॥७४
सर्वे सर्वगुणोपेता मुख्यत्वेनैकमुच्यते। शङ्काद्यैश्च परित्यक्ता निःशङ्कादिगुणान्विताः॥७५

तत्त्वोंका जो श्रद्धान है, वही सम्यक्त्व कहा गया है ॥६१॥ जो निर्मल सम्यक्त्व है वह शंकादि दोषोंसे, मूढ़ताओंसे और अनायतनोंसे मलिन कर दिया जाता है ॥६२॥ विज्ञान, जाति, ऐश्वर्य, कुल, रूप, वल, तप, और विद्या, इन आठके मदको छोड़कर भव्यजीव निश्चयसे निर्मल सम्यक्त्वका धारक होता है ॥६३॥ जिसकी जिनेन्द्र देवके वचनोंमें कोई शंका नहीं है, धर्मके सेवनसे किसी भी लौकिक फलकी आकांक्षा नहीं है, शरीरकी ग्लानि नहीं है, आत्मामें कोई मूढ़ता नहीं है, दूसरोंके दोषोंका कहना अपगूहन दोष है, व्रतसे चलायमान रहना अस्थिति दोष है, दूसरेकी अवज्ञा करना अवात्सल्य दोष है और पूजनादिका विनाश करना अप्रभावना दोष है। इन दोषोंसे रहित होनेपर ही सम्यक्त्वका सर्वाङ्ग परिपालन होता है ॥६४-६५॥ जो अधर्मसे धर्म कहता है, अदेवसे मुक्ति मानता है और अव्रतसे व्रत लेकर तीन प्रकारकी मिथ्यामूढताओंसे युक्त है, वह मिथ्यादृष्टि है ॥६६॥ कुतीर्थोंकी यात्रा करना, धर्मकी इच्छासे, पुत्रकी इच्छासे, नदी-समुद्रादिमें स्नान करना, भृगुपात करना, ये सब लोकमूढ़ता कही जाती है ॥६७॥ वरदान और पुत्रकी इच्छासे, या जीविकाके साधनकी अभिलाषासे कुदेवोंका गुणकीर्त्तन करना, पूजन करना यह सब देवमूढ़ता मानी गयी है ॥६८॥ मुण्डित रहनेवाले, या जटा धारण करनेवाले, परिग्रह रखनेवाले, केश लोंच करनेवाले पाखण्डियोंको नमस्कार करना और उनसे स्नेह रखना यह पाखण्डिमूढ़ता जाननी चाहिए ॥६९॥ कुदेव, कुआगम और कुलिंगी ये तीन, तथा इन तीनोंके आराधक इनको जिनेश्वरोंने छह अनायतन कहा है ॥७०॥

धर्मकी प्रभावना करना, धर्म-कार्यमें हर्ष करना, संसारकी असारताका विचार करना, अपने दोषोंकी निन्दा करना, परके अर्थात् गुरुजनोंके और व्रतधारियोंके गुणोंकी प्रशंसा करना, कषायोंका उपशम करना, जिनदेवकी भक्ति करना, पूजा और वन्दना करना, इन आठ गुणोंसे संयुक्त होना सम्यक्त्वका लक्षण जानना चाहिये ॥७१-७२॥ भरत, उसका पुत्र, राम, सीता, सुदर्शन, विजया, अर्हद्दास, वलि, रेवती, चेलना, वासुदेव, नागश्री, प्रभावती, लक्ष्मण, विष्णुकुमार, और और वसुपाल ये यद्यपि जन्मसे सर्वगुणोंसे अर्थात् आठों अंगोंसे संयुक्त थे, परन्तु एक गुणकी

सम्यक्त्वेन ऽयुक्तो सप्तषट्के न जायते । स्त्रीलिङ्गे त्रिविधे चैव भवनत्रिकयोनिषु ॥७६
उत्कृष्टेन द्वितीये वा भये सप्ताष्टमे तथा । भु । नाके नरे सौख्यं मोक्षं गच्छति नान्यथा ॥७७
सम्यक्त्वं च दृढं यस्य दर्शनं तस्य तिष्ठति । दर्शनेन समायुक्तं व्रतं च सफलं भवेत् ॥७८
सम्यक्त्वे रसे स्वच्छे गम्भीरे दोषवर्जिते। दर्शनादीनि पद्मानि भवन्तीति न संशयः ॥७९
माननीयं सदा भव्यैः इच्छितव्यं तथा पुनः । आज्ञासम्यक्त्वमिदं प्रोक्तं जिनदेवेन भाषितम् ॥८०
उदुम्बराणि पञ्चैव मद्यं मांसं मधुस्तथा । क्रय-विक्रय-सन्धान-दानं पानं च वर्जयेत् ॥८१
पुष्पं हि त्रससंयुक्तं सपुष्पं तु फलं तथा । निन्दितं सर्वशास्त्रेषु जैने मूलगुणाः स्मृताः ॥८२
गालितं शुद्धतोयं च जीवनरक्षानिमित्तकम् । अष्टौ मूलगुणास्तस्य दर्शनिकस्तदा भवेत् ॥८३
कश्चिन्न गालयेत्तोयं जीवहिंसासमन्वितम् । स भवेच्च शुनाकारी कैवर्त्तं तत्तथा पुनः ॥८४
शूनाकारी च कैवर्तो निमित्तेन तु हिंसते । अनिमित्तेन हिंसा च जीवानामनिगालिते ॥८५
निशि निशाचरा दुष्टा मानवा जन्तुमिश्रितम् । मद्यमांसाशिनोच्छिष्टं भोक्तारो भुञ्जते ध्रुवम् ॥८६
अथवा सूक्ष्मजन्तूनां रक्षा तेन न कारिता । पतिता नैव दृश्यन्ते भोक्ता भुञ्जति तत्समम् ॥८७
घटिकाद्वयसंस्थाने मन्दीभूते दिवाकरे । स्वान्यक्षयं तदा कुर्याद् भोजनस्य च का कथा ॥८८

मुख्यतासे ये संसारमें प्रसिद्ध कहे जाते हैं। उक्त सभी महापुरुष शंकादि दोषोंसे रहित और निःशंक आदि गुणोंसे युक्त थे ॥७३-७५॥

सम्यक्त्वसे संयुक्त जीव सात नरकोंसे नीचेके छह नरकोंमें नहीं उत्पन्न होता है, देवी, मानुषी और तिरश्ची इन तीनों स्त्रीलिंगोंमें उत्पन्न नहीं होता है और भवनत्रिक देवयोनियोंमें भी उत्पन्न नहीं होता है ॥७६॥ सम्यक्त्वी जीव उत्कृष्ट रूपसे दूसरे भवमें अथवा जघन्य रूपसे सात-आठ भवमें स्वर्ग और मनुष्यगतिमें सुख भोगकर मोक्षको जाता है, यह अन्यथा नहीं है ॥७७॥ जिसका सम्यक्त्व दृढ़ है, उसके ही सम्यक्त्व ठहरता है और सम्यक्त्वसे युक्त ही व्रत सफल होता है ॥७८॥ दोष-रहित, स्वच्छ, गम्भीर सम्यक्त्वरूपी जलमें ही दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि कमल उत्पन्न होते हैं, इसमें कोई संशय नहीं है ॥७९॥ जिनेन्द्रदेवने तत्त्वोंका जैसा स्वरूप कहा है, भव्य पुरुषोंको उनका ही मनन करना चाहिए और उनके ही जाननेकी इच्छा करनी चाहिए यही आज्ञासम्यक्त्व कहा गया है ॥८०॥ इस प्रथम प्रतिमाधारी श्रावकको पाँचों ही उदुम्बर फल और मद्य, मांस, मधु, इनका क्रय-विक्रय, अचार-सन्धानकका दान और मादक वस्तुओंका पीना छोड़ना चाहिये ॥८१॥ त्रसजीवोंसे संयुक्त पुष्प और पुष्पित फलका भक्षण भी छोड़ना चाहिए। सभी शास्त्रोंमें उपर्युक्त वस्तुओंका खान-पान निन्दित माना गया है और उनके त्यागको मूलगुण कहा गया है ॥८२॥ जो पुरुष जीव-रक्षाके निमित्त वस्त्र-गालित शुद्ध जलको पीता है, उसके ही आठ मूल गुण होते हैं और उक्त मूल गुणोंके पालन करने पर दर्शनिक श्रावक होता है ॥८३॥ यदि कोई मनुष्य जीवहिंसाकी सम्भावनासे युक्त जलको वस्त्रसे नहीं छानता है, तो वह हिंसक है, जैसे कि मछली मारनेवाला कैवर्त (धीवर) ॥८४॥ कैवर्त तो आजीविकाके निमित्तसे हिंसा करता है, किन्तु अगालित पानीको पीनेवाला बिना निमित्तके ही जीवोंकी हिंसा करता है ॥८५॥

रात्रिमें भोजन करनेवाले मनुष्य जीवोंसे मिश्रित मद्य-मांसभोजियोंके उच्छिष्ट अन्नको निश्चित रूपसे खाते हैं ॥८६॥ अथवा रात्रिभोजी पुरुषके द्वारा सूक्ष्म प्राणियोंकी रक्षा नहीं होती है, क्योंकि भोजनमें गिरे हुए सूक्ष्म जन्तु रात्रिमें नहीं दिखाई देते हैं और भोजन करनेवाला व्यक्ति उन जीवोंके साथ ही उस अन्नको खा लेता है ॥८७॥ जब दो घड़ी दिन शेष रहता है और सूर्यका

सागारे वाऽनगारे वाऽनस्तमितमणुव्रतम् । समस्तव्रतरक्षार्थं स्वर-व्यञ्जनभाषितम् ॥८९
प्रवृत्तिः शोधिते शुद्धे ताम्बूलजलमौषधे । निवृत्तिः सर्वस्थानेषु फलधान्याशनादिषु ॥९०
वाग् वाणी भारती भाषा सरस्वती त्रिधा ततः । आशूच्चारं कृतोच्चारमयोग्यं भवति ध्रुवम् ॥९१
मूत्रोत्सर्गे पुरीषे च स्नाने भोजन-मैथुने । वमने देवपूजायां मौनमेतेषु चाचरेत् ॥९२
पञ्चेन्द्रियस्य जीवस्य कर्मास्थिसहितं ध्रुवम् । इतरेषां शरीरं तु चातुर्धातुविर्वाज ॥९३
पलासृक्पूयसंश्रावमार्द्रचर्मास्थिदर्शनम् । प्रत्याख्यातं त्यजेत्सर्वं प्राणिहिंसावलोकनम् ॥९४
अन्तराया हि पाल्यन्ते दर्शनव्रतकारणात् । द्रुतं संसारसौख्यार्थं दर्शनं मोक्षकारणम् ॥९५
मृतके मद्य-मांसे वा स्पर्शने स्नानमाचरेत् । पञ्चेन्द्रियचर्मास्थि स्पृष्ट्वाऽऽचमनं भवेत् ॥९६
चर्मसंस्थं घृतं तैलं तोयमन्यद् द्रवं तथा । अयोग्यं दर्शनीकस्य भव्यस्य जिनभाषितम् ॥९७
मूलकं नालिकाश्चैव पद्मकन्दं च केतकी । रसोणं स्तरणं स्यानं निन्दितं हि जिनागमे ॥९८
कडुम्बो करडश्चैव कालिङ्गं च तथा ध्रुवम् । मधुरालम्बविल्वं च वर्जयन्तु उपासकाः ॥९९

प्रकाश मन्द हो जाता है, उस समय भी भोजन करनेवाला व्यक्ति अपना और अन्य जीवोंका विनाश करता है, तो रात्रिमें भोजन करनेवालेकी तो कथा ही क्या है? वह तो जीवोंका घात करता ही है ॥८८॥ सागार (श्रावक) हो, अथवा अनगार (साधु), दोनोंको ही समस्त व्रतोंकी रक्षा के लिए अनस्तमित (दिवाभोजन) नामक अणुव्रतका पालन स्वरव्यञ्जनयुक्त शास्त्रोंमें आवश्यक कहा गया है ॥८९॥ इस दर्शनिक श्रावककी प्रवृत्ति शोधित शुद्ध अन्नमें, शोधित ताम्बूल, औषधि और जलके खान-पानमें होनी चाहिए। तथा सभी स्थानोंपर अशोधित फलोंके और अन्नादिके खान-पानसे निवृत्ति होनी चाहिए ॥९०॥

जो मनुष्य उतावलेपनसे शीघ्रता-पूर्वक वचनोंका उच्चारण करता है, उसके वाणी, भारती, भाषा, सरस्वती स्वरूप वचन शब्द, अर्थ और उभयन—इन तीनों ही प्रकारसे अयोग्य होते हैं, यह ध्रुव सत्य है ॥९१॥ मूत्र-उत्सर्गके समय, मल-विसर्जनके समय, स्नान, भोजन, मैथुन, वमनके समय तथा देव-पूजा करते समय इन सात कार्योंमें मौन रखना चाहिए ॥९२॥ पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्यका शरीर निश्चित रूपसे चर्म और हड्डी-सहित होता है। अन्य देव और नारकियोंका शरीर रक्त आदि चार धातुओंसे रहित होता है ॥९३॥ भोजन करते समय मांस, रक्त, पीवका संश्राव (बहना), गीला चर्म और हड्डीका दर्शन हो तो भोजनका त्याग करें और प्राणियों की हिंसा होती हुई देखे तो भोजनका परित्याग कर देना चाहिए ॥९४॥ ऊपर कहे गये और आगे कहे जानेवाले भोजनके अन्तराय सम्यग्दर्शन और व्रतोंके रक्षण, पोषण एवं संवर्धनके कारणसे पालन किये जाते हैं। इनका पालन संसारके सुखके लिए भी आवश्यक है और सम्यग्दर्शन तो मोक्षका कारण ही है ॥९५॥

मृतक जीवके, मद्य और मांसके स्पर्श हो जानेपर स्नान करना चाहिए। तथा पंचेन्द्रिय प्राणीके चर्म और हड्डी के स्पर्श होनेपर आचमन करना चाहिए ॥९६॥ चमड़ेमें रखा हुआ घृत, तेल, जल एवं अन्य द्रव (तरल) अर्क, रस आदि द्रव्य दर्शनिक श्रावकके लिए जिन भगवान्‌ने अयोग्य कही हैं ॥९७॥ मूली, कमल-नाल, कमल-कन्द, केतकी, रसालु स्तरण (?) ये सभी जिन आगममें निन्दित कहे गये हैं ॥९८॥ कडुम्ब ( ) करण्ड ( ) और कलिंग (कलींदा) तथा मधुर आलम्ब ( ) और बिल्वफल इन सबका श्रावकोंको त्याग करना चाहिए।

द्विदलं गोरसं मिश्रं पीयूषं द्वयवासरात् । येऽज्जिनभक्तो हि दर्शनीको विशे : ॥१००
अयोग्यं नवनीतं च मथितं दधि एव च । द्विदिनात्परतः मद्यं शीतलान्नं तथा नृप ॥१०१
मण्डधावमहीवं तु उष्णाम्बु-रहितं तथा । मात्वरनं प सौवीरं वर्जनं ध्रुवम् ॥१०२
सर्पिः क्षीरं गुडं तैलं दधि धान्या दिह । स्वादभ्रष्टं न भोक्तव्यं भव्यैस्तु जिनभाषितम् ॥१०३
लोहं लाक्षं विषं शस्त्रं सरघामधुवर्जनम् । आयुधं घातकार्थानां तत नैव विक्रयेत् ॥१०४
दर्शनप्रतिमाचारं यस्यैकं च न विद्यते । तद्-गृहे भोजनं त्याज्यं भाण्डभाजनमादिकम् ॥१०४
वंशे जातं स्वजातीयं दर्शनाचारवर्जितम् । तद्-भाण्डं तद्-गृहे भोज्यं वर्जितं हि जिनागमे ॥१०६
भ्रष्टा हि दर्शन-भ्रष्टाश्चारित्रादपि च ध्रुवम् । पूर्वे दीर्घाः परे ह्रस्वा उभे रिणः स्मृताः ॥१०७
आचारो हि दुराचारो जिनाचारेण वर्जितः । अनाचारि-गृहे भुक्तं भुक्त्वा कल्याणमाचरेत् ॥१०८
द्यूतं पलं वेश्या व्यसनं पापर्द्धिसेवनम् । तस्करत्वं परस्त्री च त्यक्त्वा जीवो सुखी भवेत् ॥१०९
नलो युधिष्ठिरो भीमो अन्येऽपि बहवो जनाः । द्यूतकर्मप्रसादेन राज्यभ्रष्टा वने गताः ॥११०
अनृतं कलहः क्रोधो वन्चनं मानभञ्जनम् । नासिकाश्रवणच्छेदा द्यूते दोषाः प्रकीर्त्तिताः ॥१११

९९॥ गोरस-मिश्रित द्विदल और दो दिनका वासी पीयूष (छांछ) जिनभक्त जैनको और विशेषरूपसे दर्शनिक श्रावकको छोड़ना ही चाहिए ॥१००॥ हे राजन्, नवनीतका भक्षण सर्वथा अयोग्य हैं, दो दिनसे परे मथित दही (छांछ) तथा मद्य और शीतल (वासी) अन्नका खाना भी योग्य नहीं है ॥१०१॥ उष्ण जलसे रहित चावलोंका मांड ···· ···· पका हुआ मतीश (तरबूज) और सौपीरका नियमसे त्याग करना चाहिए ॥१०२॥ भव्यजीवोंको स्वाद-भ्रष्ट घी, दूध, गुड़, तेल, दही और धान्य आदि नहीं खाना चाहिएं ॥१०३॥ लोहा, लाख, विष, शस्त्र, मधु, आयुध और जीवघातक जितने पदार्थ हैं, उन सबको नहीं बेचना चाहिए ॥१०४॥ जिस गृहस्थके एक दर्शन प्रतिमाका भी आचरण नहीं है, उसके घरमें भोजन नहीं करना चाहिए, तथा उसके भोजन बनाने के पात्र वर्तन आदि भी काममें नहीं लेना चाहिए ॥१०५॥ जो अपने वंशमें भी उत्पन्न हुआ हो, अपनी जातिका भी हो, किन्तु यदि वह दर्शनप्रतिमाके आचारसे रहित है तो उसके घरकी कोई भी भोज्य वस्तु और भाजन ग्रहण करना जिनागममें वर्जित कहा है ॥१०६॥ सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट जीवोंको चारित्र-भ्रष्टसे भी अधिक भ्रष्ट कहा गया है। दर्शनभ्रष्टजीव दीर्घसंसारी और चारित्रभ्रष्ट जीव अल्पसंसारी माने गये हैं ॥१०७॥ जैन आचारसे रहित जितना भी आचार है, वह सब दुराचार माना गया है। अनाचारीके घरमें यदि भूलसे भोजन कर लिया जाय तो खानेके पश्चात् ज्ञात होते ही कल्याण नामक प्रायश्चित्त ग्रहण करे ॥१०८॥ भावार्थ—एक दिन रस-रहित भोजन करना, एक दिन केवल पूर्वार्ध भोजन, अर्थात् ऊनोदर करना, एक दिन आचाम्ल अर्थात् एक अन्नका भोजन, एक दिन एक स्थान अर्थात् एकाशन और एक उपवास इन पाँचको क्रमशः पाँच दिन तक करना कल्याण नामका प्रायश्चित्त कहलाता है। जैसा कि छेदशास्त्रमें कहा है—आयंविल णिव्वियडी पुरिमंडलमेयठाणं खमणाणि । एयं खलु कल्लाणं ।

जुआ खेलना, मदिरा पीना, मांस खाना, वेश्या गमन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्री सेवन करना इन सात व्यसनोंको त्यागकर मनुष्यको सुखी होना चाहिए ॥१०९॥ जुआ खेलनेके प्रसादसे, राजा नल, युधिष्ठिर, भीम एवं अन्य बहुतसे मनुष्योंको राज्यसे भ्रष्ट होकर वनमें जाना पड़ा ॥११०॥ मिथ्या-भाषण, कलह, क्रोध, वन्चन, मान-खण्डन, नासिका-छेदन, कर्ण-छेदन आदि अनेक दोष जुआ खेलनेमें कहे गये हैं ॥१११॥ जुआ खेलनेमें और मद्य-

सत्यं शौचं दया धर्मः परमाध्यात्मचिन्तनम् । द्यूते वा मद्यपानेऽपि न विद्यन्ते कदाचन ॥११२
द्यूतान्धा हि न पश्यन्ति मातृ-स्वसृ-सुताः स्त्रियः । निर्दया निष्ठुरत्वेन वेगात्ताडयन्ति ध्रुवम् ॥११३
पानरता ये तु तेषां किं कथयाम्यहम् । अर्थं च धर्मनाशं च प्रलापी दुस्मरस्तथा ॥११४
हतोऽद्भुतश्चैव मान्यासन्यं तु जल्पते । गुरुर्देवः पिता बन्धुर्न च ध्यायन्ति मद्यपाः ॥११५
रूपनाशो भवेद् भ्रान्तिः कार्यस्योत्तरणं तथा । विद्वेषः प्रीतिनाशश्च मद्यदोषाः प्रकीर्तिताः ॥११६
मद्येन यादवाः सर्वे मत्ताः क्रुद्धाः परस्परम् । हत्वा हि निधनं प्राप्ता सर्वशास्त्रे ह्युदाहृता ॥११७
दाहो मूर्च्छा भ्रमस्तन्द्रा प्रमादः शिरसो व्यथा । विरेचोऽन्धवनं चैव मद्यपानस्य दूषणम् ॥११८
सर्षपमात्रं तु भक्ष्यमाणं तथा ध्रुवम् । भक्षका नरकं यान्ति धर्मशास्त्र उदाहृताः ॥११९
मांसाहारो दुराचारो रौद्रध्यानपरायणः । निष्ठुरो निर्दयत्वेन चाण्डालो भण्यते बुधैः ॥१२०
चाण्डालहतहस्तेषु मांसं गृह्णन्ति ये नराः । तावत्ते नरकं यान्ति यावच्चन्द्रार्कतारकाः ॥१२१
मांसाशिनां भवेल्लिङ्गं मांसदानं स उच्यते । तस्माज्जीवान् प्रयत्नेन जीवादपि च रक्षयेत् ॥१२२
विख्याता राक्षसाश्चैव वक्रादिबहवो जनाः । राक्षसत्वं च प्राप्तास्ते मृत्वा च नरकं गताः ॥१२३
वेश्यासङ्गेन सर्वेऽपि संसारोत्पत्तिकारणाः । कामक्रोधादयस्तेन वृद्धिं नीता सुदारुणाः ॥१२४

पानमें भी सत्य, शौच, दया, धर्म, परमात्म-चिन्तन और आत्मचिन्तन ये गुण कदाचित भी नहीं होते हैं ॥११२॥ जुआ खेलनेमें अन्ध अर्थात् संलग्न मनुष्य नियमसे माता, बहिन, लड़की और स्त्रीको निर्दय होकर निष्ठुरतापूर्वक जोर-जोरसे मारते-पीटते हैं ॥११३॥

दूसरा व्यसन मदिरापान है। जो लोग मदिरापानमें निरत रहते हैं उनके दोषोंको मैं क्या कहूँ ? उनका धन और धर्मका नाश होता है, वे प्रलाप करते हैं और उनमें दुर्जय काम-लालसा जागृत होती है ॥११४॥ मदिराके नशेमें चूर हुआ व्यक्ति मान्य पुरुषसे भी अपमानके वचन कहने लगता है, शराबी पुरुष गुरु, देव, पिता और भाई-बन्धुओंका भी ध्यान नहीं रखते हैं ॥११५॥ मद्य-पानसे रूपका नाश होता है, भ्रान्ति उत्पन्न होती है, कार्यका विनाश होता है, विद्वेष बढ़ता और प्रीतिका नाश होता है, ये सब मद्यके दोष कहे गये हैं ॥११६॥ मदिरा-पानसे मत्त हुए सभी यादव क्रोधित होकर परस्पर लड़कर विनाशको प्राप्त हुए, यह बात सभी शास्त्रोंमें कही गई है ॥११७॥ शरीरमें दाह, मूर्च्छा, भ्रम, तन्द्रा, प्रमाद, शिर-पीड़ा, विरेचन और अन्धपना ये सब मद्यपानके दूषण हैं ॥११८॥ यदि सरसोंके बराबर भी मद्य सेवन किया जाता है तो उसके सेवन करनेवाले नरकमें जाते हैं, यह बात धर्मशास्त्रमें कही गई है ॥११९॥

तीसरा व्यसन मांस-भक्षण है। मांसका आहार करना दुराचरण है, उसे खानेवाला सदा रौद्र-ध्यानमें तत्पर रहता है, निष्ठुर और क्रूर हो जाता है और निर्दय हो जानेसे विद्वज्जन उसे चाण्डाल कहते हैं ॥१२०॥ जो मनुष्य चाण्डालके हाथोंसे मारे गये जीवोंके मांसको ग्रहण करते हैं, वे तब तक नरक जाते हैं, जब तक संसारमें चन्द्र, सूर्य और तारे विद्यमान हैं ॥१२१॥ मांस खाने-वालोंका लिंग (चिह्न) मांस दान कहा जाता है। इसलिए जीवोंको प्रयत्नके साथ दूसरे जीवोंके जीवनकी रक्षा करनी चाहिए ॥१२२॥ मांसको खानेसे बक आदि अनेक जन राक्षसपनेको प्राप्त हुए और मरकर नरक गये। मांस खानेवाले राक्षस होते हैं, यह बात विख्यात है ॥१२३॥

चौथा व्यसन वेश्या-सेवन है। वेश्याके संगसे संसारकी उत्पत्तिके कारणभूत सभी काम, क्रोध आदि अतिदारुण दुर्गुण वृद्धिको प्राप्त होते हैं ॥१२४॥ वेश्याके प्रपंचमें पड़े हुए लोग विश्वास

अविश्वस्ताः प्रपञ्चाढ्या वेश्यायाः ता ध्रु ।
कामान्धा न हि पश्यन्ति दोषादोषान् गुणागुणान् ॥१२५
लज्जां मानं धनं जीवं धर्मं देवं कुलस्त्रियः । नश्यन्ति सर्वथा सर्वे बुद्धचाद्या बहवो गुणाः ॥१२६
कुलीनो मानसंयुक्तो वेश्यासक्तो भवेद् यदा । तदा तस्य कुलं मानं गतं शीलव्रतान्वितम् ॥१२७
पापर्द्धर्या च महाघोरे सप्तमे नरके व्रजेत् । यस्माज्जीवो भवेद् वध्यस्तस्य हन्ता कथं सुखी ॥१२८
जैनाचारे व्रते पूर्वे प्राणदानमुदाहृतम् । प्राणिहिंसा कृता येन तेन साम्यं विनाशितम् ॥१२९
विश्वासघातका ये तु ये तु भीतादिघातकाः । बलेन दुर्बलं घ्नन्ति नरकं ते प्रयान्ति हि ॥१३०
अनर्थं दुर्बलं हन्ति पापं किं न भविष्यति । गौ-ब्राह्मणादिहत्यापि पापं तस्य यते ॥१३१
अहिंसां प्राणिवर्गस्य धर्मार्थी कुरुते सदा । सर्वप्राणिदया येषां तेषां धर्मो महाद्भुतः ॥१३२
सुखार्थी कुरुते धर्मं धर्मो यो हि दयान्वितः । पापर्द्धिर्हि कृता येन तेन धर्मो विनाशि : ॥१३३
मार्जारं मण्डलं पक्षि[1] यदा त्यक्तं सुनिश्चितम् । तदा निवारिता तेन पापर्द्धिर्याऽतिदारुणा ॥१३४
परद्रव्यापहारश्च महापापं सुदारुणम् । इहलोके महादुःखं परलोके तथा ध्रुवम् ॥१३५
पाणिपादशिरश्छेदो शूलमारोपणं तथा । चौर्यवृत्तेः फलं ज्ञेयं तस्माद् भव्यो विवर्जयेत् ॥१३६

के योग्य नहीं रहते हैं और अन्तमें वे निश्चितरूपसे मरणको प्राप्त होते हैं ॥१२५॥ वेश्यागामियों की लज्जा, मान, धन, जीवन, धर्म, देव, कुलवन्ती स्त्रियाँ ये सभी विनष्ट हो जाते हैं, तथा बुद्धि आदि और भी बहुतसे गुण नष्ट हो जाते हैं ॥१२६॥ जब कोई स्वाभिमान-संयुक्त कुलीन पुरुष वेश्यामें आसक्त हो जाता है, तब उसके कुलका विनाश हो जाता है और शीलव्रत-युक्त मान भी चला जाता है ॥१२७॥

पाँचवां व्यसन पापर्द्धि अर्थात् शिकार खेलना है। शिकार खेलनेसे मनुष्य महाघोर सातवें नरकमें जाता है,क्योंकि जब तक कोई जीव शिकारीके द्वारा घात किया जा रहा है तब तक उसका मारनेवाला सुखी कैसे हो सकता है ॥१२८॥ जैन आचारमें सबसे पहिले व्रतमें प्राणियोंके प्राणोंका दान अर्थात् अहिंसाव्रत ही कहा गया है। और जिसने प्राणियोंकी हिंसा की, उसने साम्यभावका विनाश किया ॥१२९॥ जो पुरुष विश्वास-घाती हैं, और जो भय-भीत प्राणियोंके घातक हैं, तथा अपने बलसे जो निर्बलको मारते हैं वे नियमसे नरक जाते हैं ॥१३०॥ दुर्बलका घात करना महान् अनर्थ है, जो दुर्बलको मारता है, उसके कौनसा पाप नहीं होगा ? उसके तो गौ-ब्राह्मण आदिकी हत्याका भी पाप होता है ॥१३१॥ धर्मका अभिलाषी पुरुष तो सदा प्राणि वर्गकी अहिंसाको ही करता है, अर्थात् धर्मार्थी किसी जीवकी हिंसा नहीं करता है। क्योंकि जिनके सर्वप्राणियोंकी दया है, उनके ही महान् अद्भुत धर्म होता है ॥१३२॥ सुखाभिलाषी पुरुष धर्मको करता है और धर्म वही है जो कि दयासे युक्त है। जिसने शिकार खेली, उसने अहिंसा धर्मका ही विनाश कर दिया ॥१३३॥ जिसने शिकारी बिल्ली, कुत्ते और पक्षियोंका पालन करना छोड़ दिया, उसने अति दारुण पापर्द्धि को छोड़ दिया, यह सुनिश्चित है ॥१३४॥

छठा व्यसन चोरी करना है। दूसरेके द्रव्यका अपहरण करना महाभयंकर पाप है। यह पाप इस लोकमें भी महा दुःखोंको देता है और परलोकमें भी नियमसे महा दुःखोंको देता है ॥१३५॥ चोरी करनेवालेके इसी लोकमें हाथ, पैर और शिर काटे जाते हैं, तथा शूली पर चढ़ाया जाता है, चोरी करनेका ऐसा खोटा फल जानकर भव्य पुरुषको चोरी करना छोड़ना चाहिए ॥१३६॥ पराये द्रव्यको चुरानेके समान ही मानकूट (नापने में छल करना) तुलाकूट

मानकूटं तुलाकूटं वर्जयेत् कपटं तथा। चौर्यसम्वन्धतः सर्वं वर्जितं च जिनागमे ॥१३७
रावणो ह्यतिविख्यातः कीचकोऽपि नरेश्वरः। परस्त्रीणाञ्च लोभेन मृत्वा प्राप्तावधोगतिम् ॥१३८
अभिलाषेण पापं तु सङ्गतिस्तस्य का कथा। वारयेदभिलाषं च वारयेच्च परस्त्रियः ॥१३९
पर-नार्यभिलाषेण पापं तु लभते ध्रुवम्। अलब्धा तु परा नारी लब्धं दुःखं च कामजम् ॥१४०
मृत्युर्लज्जा भयं तीव्रं परनारीपरस्तथा। नारी पुरुषसंसक्ताऽभयारत्नादिका कथा ॥१४१
व्यसनस्य फलं यश्च नित्यं पश्यति पश्यति। मोहान्धा न विरज्यन्ति मोहः संसारदुःखदः ॥१४२
क्रोधमानग्रहग्रस्तो मायालोभविडम्बितः। स्वहितं न हि जानाति जिनदेवेन भाषितम् ॥१४३

इति भव्यमार्गोपदेशोपासकाध्ययने भट्टारक श्री जिनचन्द्रनामाङ्किते
जिनदेवविरचिते धर्मशास्त्रे व्यसनपरित्यागः प्रथमः परिच्छेदः ॥१॥

•

(तौलनेमें छल करना) तथा भाव आदि वतानेमें छल करना आदि चोरोंसे सम्वन्धित जितने भी काम हैं, वे सव जिनागममें वर्जित हैं, ऐसा जान करके मनुष्यको कभी चोरी नहीं करनी चाहिए ॥१३७॥

सातवां व्यसन परदारागमन है। रावण जगत्में अतिविख्यात महापुरुष था, कीचक भी प्रसिद्ध राजा था। परन्तु ये परस्त्रीकी अभिलाषासे मरकर दुर्गतिको प्राप्त हुए ॥१३८॥ जब परस्त्रीकी अभिलाषासे ही पाप होता है, तव उसकी संगतिकी क्या कथा कही जाये ? इसलिए परस्त्रीकी अभिलाषा छोड़े और परस्त्री गमनको भी छोड़े ॥१३९॥ पर-नारीकी अभिलाषासे नियमतः पापका उपार्जन होता है। और अभिलाषा करनेपर भी जव पर-नारी प्राप्त नहीं होती है तव तो काम-जनित महान् दुःख होता है ॥१४०॥ पर-नारीके सेवनमें निरत पुरुषका मरण देखा जाता है, लोक-लज्जित होना पड़ता है, और सदा ही मारे जानेका तीव्र भय वना रहता है। इसी प्रकार जो स्त्री पर-पुरुषमें आसक्त होती है और पर-पुरुषको सेवन करती है, वह अभया रानी रत्ना आदिके समान महा दुःखोंको पाती है, उनकी कथा शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है ॥१४१॥

इस प्रकारसे जो मनुष्य व्यसनोंके खोटे फलको नित्य देखता है, वह आत्म-कल्याणको देखता है। किन्तु जो मोहसे अन्धे हैं और व्यसनोंसे विरक्त नहीं होते हैं, वे इस लोक और परलोकमें दुःख पाते हैं। मोह ही संसारके दुःखोंको देनेवाला है ॥१४२॥ जो मनुष्य क्रोध और मानरूपी ग्रहोंसे ग्रसित है और माया तथा लोभसे विडम्वित है, वह आत्महितको नहीं जानता है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने अथवा ग्रन्थकार जिनदेवने कहा है ॥१४३॥

इस प्रकार भट्टारक श्री जिनचन्द्रके नामसे अंकित, और जिनदेवसे विरचित
इस भव्यमार्गोपदेशोपासकाध्ययन नामक धर्मशास्त्रमें व्यसनपरित्याग नामक
प्रथम परिच्छेद समाप्त हुआ।

अथ द्वितीयः परिच्छेदः

जीवाजीवास्रवा वन्धस्तथा संवरनिर्जरे। मोक्षः सप्तैव तत्त्वानि वर्धमानेन भाषितम् ॥१४४
पुण्यपापसमायुक्ताः पदार्था जिनभाषिताः। जिनचन्द्रप्रसादेन मया ज्ञाताः सुनिश्चिताः ॥१४५
धर्माधर्मौ नभः कालो जीवाजीवविशेषकम्। षड् द्रव्यं च ख्यातं कालहीनं तु कायिकम् ॥१४६
गतिस्थित्यवकाशश्च परिणामी च प्रोच्यते। असंख्यातप्रदेशत्वं धर्माधर्मे सचेतने ॥१४७
नभस्यनन्तप्रदेशत्वं मूर्ते च त्रिविधं स्मृतम्। कालस्यैकप्रदेशत्वमकायत्वं च लभ्यते ॥१४८
उपयोगयुतो जीवो नित्योऽमूर्तो हि चोर्ध्वगः। कर्ता भोक्ता च संसारी तनुमात्रं च निष्कलः ॥१४९
जीवितो जीवमानो हि जीविष्यति च नान्यथा। द्रव्यभावात्मकैः प्राणी जीवनाज्जीव उच्यते ॥१५०
शरीरेन्द्रियमायुष्यं श्वासोच्छ्वासो वचो मनः। द्रव्यप्राणा इति ख्याता भावप्राणाः सुखादिकाः॥१५१
प्रत्यक्षेणानुमानेन जीवो दृश्यो मतः स्फुटम्। संज्ञेन्द्रियानुमानेन प्रत्यक्षं भूतले तथा ॥१५२
भूता मन्त्रभयात् भीता वदन्ति च भवान्तरम्। विप्रोऽहं क्षत्रियोऽहं वा वेदाचारं वदेद् ध्रुवम् ॥१५३
उपयोगो द्विधा ज्ञेयो दर्शनज्ञानसंज्ञकः। चतुर्धा चाष्टधा प्रोक्तो जिनेन परमेष्ठिना ॥१५४

श्री वर्धमान भगवान्‌ने जीव, अजीव, आस्रव, वन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व कहे हैं ॥१४४॥ इनमें पुण्य और पाप इन दोको मिला देनेपर जिन-भाषित नौ पदार्थ हो जाते हैं। मैंने इन नौ पदार्थोंको श्री जिनचन्द्रके प्रसादसे सुनिश्चित जाना है ॥१४५॥ धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश, काल जीव और अजीव ये छह द्रव्य कहे गये हैं। इनमेंसे कालको छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं ॥१४६॥ इनमेंसे जीव-पुद्‌गलोंकी गतिमें सहायक धर्मद्रव्य, स्थितिमें सहायक अधर्मद्रव्य, और अवकाश देनेमें सहायक आकाशद्रव्य कहा गया है, ये सर्वद्रव्य प्रति समय परिणामी अर्थात् परिणमनशील हैं। धर्मद्रव्यमें, अधर्मद्रव्यमें और अचेतन अर्थात् एक जीवद्रव्यमें असंख्यातप्रदेश होते हैं ॥१४७॥ आकाशद्रव्यमें अनन्तप्रदेश होते हैं और मूर्त पुद्‌गल द्रव्यमें संख्यात, असंख्यात और अनन्त ये तीन प्रकारके प्रदेश माने गये हैं ॥१४८॥

उक्त द्रव्योंमेंसे जीव ज्ञान-दर्शनरूप उपयोगमयी है, नित्य है, अमूर्त है, स्वभावसे ऊर्ध्वगामी है, कर्मोंका कर्त्ता है, उनके फलका भोक्ता है, संसारमें परिभ्रमण करनेवाला है, शरीर-प्रमाण है, और शरीर-रहित सिद्धस्वरूप भी है ॥१४९॥ जो भूतकालमें द्रव्य और भावस्वरूप प्राणोंसे जीवित रहा है, वर्तमानमें जी रहा है और आगे भविष्यकालमें भी जीवेगा, इस प्रकार जीवन-स्वभाव होनेसे यह प्राणी जीव कहा जाता है। जीवका यह स्वभाव कभी अन्यथा नहीं हो सकता है ॥१५०॥ शरीर, पाँच इन्द्रियाँ, आयु, श्वासोच्छ्वास, वचन और मन ये दश द्रव्य प्राण कहे गये हैं और सुख, ज्ञान, दर्शन आदि भावप्राण कहे गये हैं ॥१५१॥ अमूर्त और आँखोंसे नहीं दिखाई देनेवाला यह जीव प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे स्पष्टतः दृश्य माना गया है। भूतलपर घट आदि पदार्थ प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, उसी प्रकार आहार आदि संज्ञाओंसे और इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति-रूप अनुमानसे भी यह प्रत्यक्ष ही ज्ञात होता है ॥१५२॥ मंत्रवादीके मंत्रसे भयभीत भूत-प्रेतादि देव अपने भवान्तरोंको कहते हुए प्रत्यक्ष ही लोकमें देखे जाते हैं। वे कहते हैं कि मैं पूर्व भवमें ब्राह्मण था, मैं क्षत्रिय था, अथवा मैं वेदका आचरण करनेवाला था ॥१५३॥ ज्ञान और दर्शन संज्ञा

दर्शनं चक्षुराग्रेयमचक्षुर्दर्शनं तथा । अवधिदर्शनं चैव केवलं च चतुर्विधम् ॥१५५
मतिश्रुतावविज्ञानं मनःपर्ययकेवलम् । सुज्ञानं पञ्चधा प्रोक्तमज्ञानत्रयमष्टकम् ॥१५६
अनादिनिधनो ह्यात्मा द्रव्याश्रितनयैस्तथा । नित्यो ह्यनित्यतां याति पर्यायनयैः सर्वदा ॥१५७
गन्धस्पर्शरसैर्वर्णलिङ्गशब्दादिवर्जितः । निश्चयेन ह्यमूर्तोऽयं मूर्तः कर्ममलान्वितः ॥१५८
ऊर्ध्वगो हि स्वभावेन जीवो वह्निशिखा यथा । एरण्डस्य च बीजं वा जले मग्ना तु तुम्बिका ॥१५९
स्वयं कर्ता स्वयं भोक्ता जीवः कर्म शुभाशुभम् । द्रव्यक्षेत्रादिभावेन कोशिकारः कृमिर्यथा ॥१६०
कर्मणः पुद्गलस्यास्य कर्ता भोक्ता भवेत् स्वतः । व्यवहारनयेनात्मा शुद्धेनानन्तचतुष्कम् ॥१६१
अनादिनिधना जीवाः सिद्धाः संसारिणः स्मृताः । सिद्धाः सिद्धगतिं प्राप्ता अष्टकर्मविवर्जिताः ॥१६२
संसारिणो द्विधा ज्ञेयाः स्थावरत्रसभेदतः । स्थावराः पञ्चधा प्रोक्तास्त्रसा बहुविधाः स्मृताः ॥१६३
पृथ्वी तोयानिलं तेजो वनराजिस्तु पञ्चमी । पञ्चधा स्थावराः प्रोक्ता जिनचन्द्रेण सूरिणा ॥१६४
पञ्चेन्द्रियाश्चतुर्भेदाः षड्धा विकलत्रिकाः । स्थावराश्चतुर्धा प्रोक्ता एवं भेदाश्चतुर्दश ॥१६५
एकेन्द्रियादिपर्याप्ताः अपर्याप्ता विसञ्ज्ञिकाः। बादरा सूक्ष्मकास्तेषामितरे बादराः स्मृताः १६६

वाला उपयोग दो प्रकारका जानना चाहिए। इनमें दर्शनोपयोग चार प्रकारका और ज्ञानोपयोग आठ प्रकारका जिनपरमेष्ठीने कहा है ॥१५४॥

दर्शनोपयोगके चार भेद इस प्रकार हैं—१ चक्षुदर्शन, २ अचक्षुदर्शन, ३ अवधिदर्शन और ४ केवलदर्शन ॥१५५॥ ज्ञानोपयोगके आठ भेद इस प्रकार हैं—१ मतिज्ञान, २ श्रुतज्ञान, ३ अवधि-ज्ञान, ४ मनःपर्ययज्ञान और ५ केवलज्ञान। तथा तीन अज्ञान अर्थात् १ कुमति ज्ञान, २ कुश्रुत-ज्ञान और ३ कुअवधिज्ञान ॥१५६॥ द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा यह आत्मा अनादिनिधन है। तथा पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा यह सदा बदलता रहता है, अतः अनित्यताको भी प्राप्त होता है ॥१५७॥ यह आत्मा निश्चयनयकी अपेक्षा गन्ध, स्पर्श, रस, वर्ण, लिंग, शब्द आदिसे रहित है, अतः अमूर्त है। और वर्तमान संसारी दशामें कर्मरूप मलसे संयुक्त हैं अतः मूर्त्त हैं ॥१५८॥ यह जीव स्वभावसे ऊर्ध्वगामी है। जैसे कि अग्निकी शिखा, अथवा एरण्डका बीज अथवा जलमें डूबी हुई तुम्बी ऊर्ध्वगामी है ॥१५९॥ यह जीव द्रव्य-क्षेत्रादिके प्रभावसे शुभ और अशुभ कर्मका स्वयं ही कर्त्ता है और स्वयं ही उनके फलका भोक्ता है। जैसे कि कोशेका कीड़ा स्वयं ही अपने उगले हुए तन्तुओंसे बंधता रहता है ॥१६०॥ व्यवहार नयसे यह आत्मा स्वयं ही इस पुद्गल कर्मका कर्त्ता और भोक्ता है। किन्तु शुद्ध निश्चयनयसे वह शुद्ध ज्ञान-दर्शन आदि अनन्तचतुष्टयका कर्त्ता और भोक्ता है ॥१६१॥

ये अनादि निधन जीव सिद्ध और संसारीके भेदसे दो प्रकारके माने गये हैं। जो आठ कर्मोंसे रहित होकर सिद्धगतिको प्राप्त हो गये हैं वे सिद्ध जीव हैं ॥१६२॥ संसारी जीव त्रस और स्थावरके भेदसे दो प्रकारके जानना चाहिए। इनमें स्थावर जीव पाँच प्रकारके कहे गये हैं और त्रस अनेक प्रकारके होते हैं ॥१६३॥ जिनचन्द्रसूरिने पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये पाँच प्रकारके स्थावर कहे हैं ॥१६४॥ त्रस जीवोंके मूलमें दो भेद हैं—विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय या पंचेन्द्रिय। इनमें पंचेन्द्रिय जीव चार प्रकारके कहे गये हैं और विकलेन्द्रिय या विकलत्रिक जीव छह प्रकारके होते हैं। तथा स्थावर जीव चार प्रकारके हैं। इस प्रकार सब जीवसमास चौदह होते हैं ॥१६५॥ एकेन्द्रियके मूल भेद दो हैं—बादर और सूक्ष्म। उन दोनोंके पर्याप्त और अपर्याप्तके भेदसे स्थावरके चार भेद हो जाते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय ये तीन विकलत्रिक कहलाते हैं। इन

द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः प्रोक्ताः पर्याप्ता इतर था।
पञ्चेन्द्रिया द्विधा ज्ञेया ते नस्कामनस्कभेदतः ॥१६७
आहारश्च शरीराक्षा श्वासोच्छ्वासं च भाषणम्।
मनसा सहिताः सर्वाः षट् च पर्याप्तयः स्मृताः ॥१६८
एकेन्द्रियस्य चत्वारि पञ्च च विकलत्रिके। पञ्चाक्षे च षट् सन्तीति पूर्वसूरिभिर्भाषितम् ॥१६९
अनन्तानन्तजीवाश्च पिण्डीभूता भवन्ति चेत्। साधारण इति नाम्ना कथितोऽनन्तकायिकः ॥१७०
अनन्तानन्तसंसारे त्रसत्वं च न विद्यते। नित्यं निगोदकाख्यास्तेऽन्यथेतरनिगोदकाः ॥१७१
पृथक्-पृथक् शरीरं हि पृथग्भावेन वर्तते। ते प्रत्येकशरीरा हि पूर्वसूरिभिर्भाषिताः ॥१७२
योनिभूतं शरीरं हि येषां ते सप्रतिष्ठिताः। न भवन्त्याश्रया येषां प्राणिनस्तेऽप्रतिष्ठिताः ॥१७३
एकोनविंशतिर्भेदा अष्टत्रिंशत्तथा ध्रुवम्। सप्तपञ्चाशच्च तेषां हि भेदाः प्रोक्ता जिनैस्तथा ॥१७४
आयुर्देहः कुयोनिश्च मार्गणागुणवर्तिनाम्। एतत्कर्मकृतं ज्ञेयं निश्चये शुद्धचेतना ॥१७५
करि-कुन्थुप्रमाणोऽयं जीवः कर्मवशानुगः। समुद्घातविनिर्मुक्तः सोऽसंख्यातप्रदेशकः ॥१७६
पद्मरागो यथा क्षीरे यथा दीपो घटे स्थितः। तथात्मा सर्वजीवानां देहमात्रो जिनोदितः ॥१७७
निष्कर्मा गुणयुक्तो हि त्रैलोक्यशिखरे स्थितः। उत्पादव्ययध्रौव्यत्वं सिद्धत्वं जिनभाषितम् ॥१७८

प्रत्येकके दो-दो भेद होते हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। इस प्रकार विकलत्रिकके छह भेद हो जाते हैं। पंचेन्द्रियके भी दो भेद हैं—समनस्क (संज्ञी) और अमनस्क (असंज्ञी)॥ ये दोनों ही पर्याप्त और अपर्याप्तके भेदसे चार प्रकारके हो जाते हैं। इस प्रकार जीवोंके सर्वभेद चौदह होते हैं ॥१६६-१६७॥ आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और मन पर्याप्ति—ये छह पर्याप्तियाँ जाननी चाहिए ॥१६८॥ इनमेंसे एकेन्द्रिय जीवके आदिकी चार, विकलत्रिकके तथा असंज्ञी पंचेन्द्रियके आदिकी पाँच और संज्ञी पंचेन्द्रियके छह पर्याप्तियाँ पूर्वाचार्योंने कही हैं ॥१६९॥ जहाँ पर अनन्तानन्त जीव एक पिण्ड होकरके रहते हैं, वे साधारण या अनन्त कायिक कहे गये हैं ॥१७०॥ जिस अनन्तानन्त जीवोंसे व्याप्त संसार में कभी त्रसपना प्राप्त नहीं हुआ है, वे नित्य निगोद नामक जीव कहलाते हैं। इनसे विपरीत जिन्होंने त्रस पर्याय पाकरके पुनः निगोद पर्याय पाई है, वे इतर निगोद वाले जीव कहलाते हैं ॥१७१॥ जिन जीवोंका पृथक्-पृथक् रूपसे पृथक् शरीर होता है उन्हें पूर्वाचार्योंने प्रत्येक शरीरी जीव कहा है ॥१७२॥ जिनका शरीर योनिभूत है अर्थात् जिसमें अन्य जीव उत्पन्न होते रहते हैं, वे सप्रतिष्ठित शरीर वाले कहलाते हैं और जिन शरीरोंके आश्रय अन्य प्राणी नहीं रहते हैं, वे अप्रतिष्ठित शरीर वाले कहलाते हैं ॥१७३॥

इन जीवोंके उन्नीस भेद, अड़तीस भेद और सत्तावन भेद भी जिनदेवने कहे हैं। (जिन्हें गो० जीवकाण्डसे जानना चाहिए) ॥१७४॥ चौदह मार्गणाओं और गुणस्थानोंमें रहने वाले सभी भेद कर्म-कृत जानना चाहिए। इन जीवों के भवोंकी आयु, देह और कुयोनियाँ भी कर्मकृत ही हैं। निश्चयसे तो जीवका स्वभाव शुद्ध चैतन्य स्वरूप ही है ॥१७५॥ यह जीव कर्मके वशसे समुद्घात-रहित अवस्थामें कभी हाथी प्रमाण शरीर वाला हो जाता है और कभी कुन्थु प्रमाण शरीर वाला हो जाता है। पर सभी दशाओंमें असंख्यात प्रदेश वाला ही रहता है ॥१७६॥ जैसे दूधमें पद्मराग-मणि स्थित हो और घटमें दीपक स्थित हो, उसी प्रकार देहमें आत्मा विद्यमान है। जिन भगवान्ने सभी संसारी जीवोंका निवास देहमात्र कहा है ॥१७७॥ किन्तु जो कर्म-रहित हो गये हैं और

प्रमाणनयविज्ञेयं स्याच्छब्दादिसुभङ्गकैः । निर्देशादिषु निक्षेपैर्वस्तुबोधाय भाषितम् ॥१७९
जीवतत्त्वं मया प्रोक्तं निजशक्त्या यथागमम् । अजीवो द्विविधो ज्ञेयो रूपारूपादिभेदतः ॥१८०
स्थूलस्कन्धादिभेदेन चतुर्धा रूपिणः स्मृताः । स्कन्धो देशः प्रदेशश्च परमाणुः पुद्गलो यथा ॥१८१
समस्तपुद्गलः स्कन्धस्तस्यार्धो देश उच्यते । देशस्यार्धः प्रदेशश्च निरंशोऽणुः प्रकीर्त्तितः ॥१८२
शब्दगन्धरसस्पर्शच्छायासंस्थानमादयः । पुद्गलद्रव्यपर्याया जिनदेवेन भाषिताः ॥१८३
धर्माधर्मौ नभः कालोऽजीवोऽरूपी प्रभाषितः । स्वकीयगुणपर्यायैः संयुक्ताः सर्व एव ते ॥१८४
आस्रवो जायते येन परिणामेन कर्मणाम् । भावास्रवः स विज्ञेयो द्रव्यास्रवस्तथोच्यते ॥१८५
अव्रतैः क्रोधमिथ्यात्वैः प्रमादैर्योगकैस्तथा । पञ्च चत्वारि पञ्चैव पञ्चदश त्रयस्तथा ॥१८६
ज्ञानावरणादीनां यज्जीवानां जायते ध्रुवम् । द्रव्यास्रवः स विज्ञेयो बहुभेदो जिनोदितः ॥१८७
कर्म बध्नाति भावैर्यैर्भावबन्धः स उच्यते । पूर्वसूरिक्रमं दृष्ट्वा द्रव्यबन्धस्तथोच्यते ॥१८८
जीवस्य कर्मप्रदेशानामन्योन्यं च प्रवेशनम् । द्रव्यबन्ध इति ख्यातश्चतुर्भेदो जिनागमे ॥१८९
बन्धः प्रकृतिर्देशश्च स्थितिबन्धोऽनुभागतः । योगेन प्रथमौ ज्ञेयौ कषायैश्चेतरौ तथा ॥१९०
चैतन्यपरिणामेन ह्यास्रवस्य निरोधनम् । स भावसंवरः प्रोक्तो द्रव्यसंवर उच्यते ॥१९१

अनन्त गुणोंसे युक्त हैं, वे त्रैलोक्यके शिखर पर अवस्थित हैं। उनका वह सिद्धत्व उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप जिनदेवने कहा है ॥१७८॥ 'स्यात्' शब्दसे युक्त सात भंगोंके द्वारा तत्त्वोंका स्वरूप प्रमाण और नयसे जानना चाहिए। और नाम आदि निक्षेपोंके द्वारा निर्देश आदि अनुयोग द्वारोंमें वस्तु बोधके लिए उनका कथन किया गया है ॥१७९॥ इस प्रकारसे अपनी शक्तिसे आगमके अनुसार जीव तत्त्वका स्वरूप कहा। अब अजीव तत्त्वको कहता हूँ। रूपी और अरूपी आदिके भेदसे अजीव दो प्रकारका जानना चाहिए ॥१८०॥

रूपी पुद्गल स्थूल स्कन्द आदिके भेदसे चार प्रकारके कहे गये हैं यथा—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु रूप पुद्गल ॥१८१॥ समस्त पुद्गल-समुदायको स्कन्ध कहते हैं, उसके अर्ध-भागको देश कहते हैं, देशके अर्ध-भागको प्रदेश कहते हैं और निरंश भागको अणु या परमाणु कहा गया है ॥१८२॥ शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श, छाया, संस्थान आदिको जिनदेवने पुद्गल द्रव्यकी पर्याय कहा है ॥१८३॥ धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये अरूपी अजीवद्रव्य कहे गये हैं। ये सभी छहों द्रव्य अपने-अपने गुण और पर्यायोंसे संयुक्त होते हैं ॥१८४॥

आत्माके जिस परिणामसे कर्मोंका आगमन होता है, वह भावास्रव जानना चाहिये तथा कर्म परमाणुओंका आत्माके भीतर आना द्रव्यास्रव कहा जाता है ॥१८५॥ हिंसादि पाँच अव्रतों (पापों) से, क्रोधादि चार कषायोंसे, पाँच मिथ्यात्वोंसे, पन्द्रह प्रमादोंसे, तथा तीन योगोंसे ज्ञानावरणादि कर्मोंका जीवोंसे जो आस्रव होता है, वह अनेक भेदवाला जिनभाषित द्रव्यास्रव जानना चाहिए ॥१८६-१८७॥ आत्माके जिन भावोंके द्वारा कर्म-बन्ध होता है वह भावबन्ध कहा गया है। पूर्वाचार्योंके क्रमको देखकर अब द्रव्यबन्धका स्वरूप कहा जाता है ॥१८८॥ जीवके और कर्मके प्रदेशोंका परस्पर जो प्रवेश होता है वह द्रव्यबन्ध कहलाता है। उसके जिन आगममें चार भेद कहे गये हैं ॥१८९॥ यथा—प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध। इनमें प्रथमके दो बन्ध योगसे होते हैं तथा अन्य जो दो बन्ध हैं वे कषायोंसे होते हैं ॥१९०॥

आत्माके जिस चैतन्यभावसे कर्मास्रवका निरोध होता है, वह भावसंवर कहा गया

व्रतानि समितिः पञ्च गुप्तित्रयसमन्वितम् । चारित्रं वहुभेदं हि संवरस्य निवन्ध ॥१९२
क्रोधादीनां निरोधेन कर्मणां यन्निरोधनम् । द्रव्यसंवरणं प्रोक्तं जिनचन्द्रेण सूरिणा ॥१९३
निर्जरा द्विविधा प्रोक्ता सविपाकाविपाकतः । कालेन सविपाका हि तपसा च द्वितीयका ॥१९४
ध्यानं हि कुर्वते नित्यं निर्जरार्थं च योगिनः । भावनिर्जरणं प्रोक्तं द्रव्यनिर्जरणं परम् ॥१९५
सर्वकर्म ।। येन परिणामेन जायते । भावमोक्ष इति ज्ञेयो भिन्नत्वं द्रव्यमोक्षणम् ॥१९६

सम्यक्त्वभक्तिजिनपूजनाद्यं तपोदयासंयमदानयुक्तम् ।
इत्येवमाद्यः सकलः शुभ : पुण्यः पदार्थो जिनदेव-दृष्टः ॥१९७
शल्यत्रयं गारवदण्डलेश्या कषाया विषयाः प्रमादाः ।
मिथ्यात्वहिंसाव्यसनादिमोहः पापः पदार्थो जिनभाषितश्च ॥१९८

एतानि सप्ततत्त्वानि कथितानि जिनागमे । पदार्था हि नव प्रोक्ता जिनचन्द्रेण सूरिणा ॥१९९

इति भव्यमार्गोपदेशोपासकाध्ययने भट्टारकश्रीजिनचन्द्रनामाङ्किते जिनदेवविरचिते
धर्मशास्त्रे सप्ततत्त्वनिरूपणो नाम द्वितीयः परिच्छेदः ॥२॥

●

है। अब द्रव्यसंवर कहते हैं ॥१९१॥ पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति-सहित अनेक भेदवाला चारित्र संवरका कारण कहा गया है ॥१९२॥ इन गुप्ति-समिति आदिके द्वारा क्रोधादि कषायोंके निरोधसे कर्मोंका जो निरोध होता है उसे जिनचन्द्रसूरिने द्रव्य संवर कहा है ॥१९३॥ सविपाक और अविपाकके भेदसे निर्जरा दो प्रकारकी कही गयी है। उदयकाल आनेसे जो कर्मोंकी निर्जरा होती है, वह सविपाक निर्जरा है और तपश्चरण करनेसे जो कर्मोंकी निर्जरा होती है वह अविपाक निर्जरा है ॥१९४॥ योगी पुरुष कर्मोंकी निर्जराके लिए नित्य ध्यान करते हैं, वह भावनिर्जरा कही गई है और उस ध्यानसे जो कर्म-परमाणु झड़ते हैं, वह दूसरी द्रव्य-निर्जरा कही गई है ॥१९५॥ आत्माके जिस परिणामसे सर्व कर्मोंका क्षय होता है, वह भावमोक्ष जानना चाहिए। और कर्म-परमाणुओंका जो आत्मासे छूटना है, वह द्रव्यमोक्ष कहा गया है ॥१९६॥

सम्यक्त्व, भक्ति, तप, दया, संयम, दानयुक्त जिनपूजनादि तथा इसी प्रकारके अन्य समस्त शुभास्रवको जिनदेव-दृष्ट पुण्यपदार्थ जानना चाहिए ॥१९७॥ माया, मिथ्यात्व, निदान ये तीन शल्य, रसगारव, सातगारव और ऋद्धिगारव ये तीन गारव, मन, वचन काय ये तीन दण्ड, छह लेश्या, आहारादि चार संज्ञायें, क्रोधादि चारों कषाय, इन्द्रियोंके पाँच विषय, पन्द्रह प्रमाद, मिथ्यात्व, हिंसारूप प्रवृत्ति, व्यसनादि रूपप्रवृत्ति, और मोह इन सबको जिन-भाषित पापपदार्थ कहा गया है ॥१९८॥ श्री जिनागममें ये सात तत्त्व कहे गये हैं। इनके साथ पुण्य और पापके मिला देने पर जिनचन्द्रसूरिने उन्हींको नौ पदार्थ कहा है ॥१९९॥

इस प्रकार भट्टारक श्री जिनचन्द्रसूरिके नामसे अंकित और जिनदेव विरचित इस भव्यमार्गोपदेश उपासकाध्ययन नामके धर्मशास्त्रमें यह दूसरा परिच्छेद समाप्त हुआ ॥

●

अथ तृतीयः परिच्छेदः

यत्कृतं हि पुरा सूत्रं वक्ष्ये पूर्वं यथाक्रमम् । आयुर्मानं च तन्मानं कुलं योनिं च मार्गणाम् ॥२००
द्वाविंशतिसहस्राणि द्वादशानि तथा ध्रुवम् । खरपृथ्वीमृदुपृथ्वीकायिकानां जिनागमे ॥२०१
संवत्सरसहस्राणां संख्या च जीवनम् । जलकायिकजन्तूनां कथितं पूर्वसूरिभिः ॥२०२
अहोरात्रत्रयमायुस्तेजःकायेषु कथ्यते । वातकायिकजन्तूनां सहस्रत्रयवर्षकम् ॥२०३
दशसहस्रवर्षायुर्वनराजिर्भवेद् ध्रुवम् । द्वादशैव तु वर्षाणि द्वीन्द्रियाणां च जीवनम् ॥२०४

एकोनपञ्चाशतमवेहि रात्रं षण्मासमात्रं चतुरिन्द्रियाणाम् ।
पञ्चेन्द्रिये कर्मभुजां नराणां सुकोटिपूर्वं परमायुः दृष्टम् ॥२०५
नरेषु मत्स्येषु समायुषं च सर्पेषु ह्यायुर्द्विचतुःसहस्रम् ।
नवैव पूर्वाणि परीतसर्पो द्विसप्ततिर्वर्षसहस्रपक्षिणः ॥२०६

भोगभूमौ त्रिपल्यायुरुत्कृष्टायां प्रचक्षते । मध्यमायां द्विपल्यं च कनिष्ठायां तु पल्यकम् ॥२०७
सप्ताधो भूमिजानां च क्रमेण परमायुषम् । कथितं जिनचन्द्रेण सागरैकं त्रिसप्तकम् ॥२०८
दश सप्तदशं प्राहुर्द्वाविंशतिस्तु सागराः । त्रयस्त्रिंशत्तथा प्रोक्ता जिनचन्द्रेण सूरिणा ॥२०९
असुराणां सागरैकमायुर्नागे त्रिपल्यकम् । सार्धद्वयं च सौपर्णे द्वीपानां च द्विपल्यकम् ॥२१०
शेषाणां सार्धपल्यायुर्व्यन्तराणां च पल्यकम् । वर्षलक्षाधिकं पल्यं चन्द्रस्यायुश्च कथ्यते ॥२११
पूर्वसूरिक्रमेणोक्तं सूर्यायुष्यं जिनागमे । सहस्राधिकपल्यैकं शुक्रे पल्यं शताधिकम् ॥२१२
पल्यायुषं समुद्दिष्टं जीवे जीवदयान्वितैः । शेषाणां च ग्रहाणां च भवत्यर्धपल्यकम् ॥२१३

जो दूसरे परिच्छेदमें सूत्ररूपसे जीवोंके आयुप्रमाण, देह-प्रमाण, कुल, योनि, और मार्गणाके कहनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसे अब यथा क्रमसे कहेंगे ॥२००॥ खर पृथिवीकी उत्कृष्ट आयु बाईस हजार वर्ष और मृदु पृथिवीकी बारह हजार वर्ष जिनागममें कहीं गई है॥२०१॥ जलकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु पूर्वाचार्योंने सात हजार वर्ष कही है ॥२०२॥ अग्निकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु तीन दिन-रात कही है, वायुकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु तीन हजार वर्ष कही है ॥२०३॥ वनराजि (वनस्पति)की उत्कृष्ट आयु निश्चयसे दश हजार वर्ष होती है। द्वीन्द्रिय जीवोंका उत्कृष्ट जीवन बारह वर्ष प्रमाण है ॥२०४॥त्रीन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु उनंचास दिन है, चतुरिन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु छह मास होती है। पंचेन्द्रिय जीवोंमें कर्मभूमिज मनुष्योंकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटि वर्ष-प्रमाण कही गई है ॥२०५॥ मत्स्योंकी भी उत्कृष्ट आयु मनुष्योंके समान ही पूर्वकोटि वर्ष है। सर्पोकी उत्कृष्ट आयु बयालिस हजार वर्षकी, परिसर्पोकी नौ पूर्व और पक्षियोंकी बहत्तर हजार वर्षकी उत्कृष्ट आयु होती है ॥२०६॥ मनुष्य और तिर्यचोंकी उत्कृष्ट भोगभूमिमें तीन पल्यकी, मध्यम भोगभूमिमें दो पल्यकी और जघन्य भोगभूमिमें एक पल्यकी होती है ॥२०७॥ नीचे सातों नरकभूमियोंमें क्रमसे एक, तीन, सात, दश, सत्तरह, बाईस और तेतीस सागरकी उत्कृष्ट आयु जिनचन्द्र सूरिने कही है ॥२०८-२०९॥ भवनवासी देवोंकी असुरकुमारोंकी उत्कृष्ट आयु एक सागरोपम, नागकुमारोंकी तीन पल्य, सुपर्ण कुमारोंको अढ़ाई पल्य, द्वीप कुमारोंकी दो पल्य और शेष भवनवासी देवोंकी डेढ़ पल्य कही गई है। व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट आयु एक पल्य, और चन्द्रकी उत्कृष्ट आयु एक लाख वर्ष अधिक एक पल्य कही है ॥२१०-२११॥ सूर्यकी उत्कृष्ट आयु जिनागममें पूर्वाचार्योंने एक हजार वर्ष अधिक एक पल्यकी और शुक्रकी सौ वर्ष अधिक एक पल्यकी कही है ॥२१२॥ जीव दयासे युक्त आचार्योंने बृहस्पतिकी उत्कृष्ट

पल्यैकस्य चतुर्थांशं तारकाणां च ह्यायुषम् । कथितं हि नरेन्द्रस्य गणेशैर्जिनभाषितम् ॥२१४
सौधर्मैशानकल्पेषु सागरद्वयमायुषम् । मध्यमोत्तमविज्ञेयं कल्पैर्द्वादशभिः क्रमात् ॥२१५
द्वितीये युगले सप्त तृतीये दश सागराः । चतुर्दशं चतुर्थे च पञ्चमे षोडश स्मृताः ॥२१६
षष्ठे तु युगले प्रोक्ता अष्टादश सु राः । सप्तमे विंशतिः प्रोक्ता द्वाविंशतिर्हि चाष्टमे ॥२१७
नवग्रैवेयकेषूच्चैःक्रमेणैकैकवर्धितम् । नवानुदिशविमानानां प्रोक्ता द्वात्रिंशत्सागरा ध्रुवम् ॥२१८
पञ्चानुत्तरमायुष्यं त्रयस्त्रिंशच्च सागराः । भुक्त्वा च सुखमुत्कृष्टं मोक्षं गच्छन्ति सुव्रताः ॥२१९
एवमादिव्रतादीनां फलं निर्वाणकारणम् । अव्रतेन भवेद् दुःखं नारकीयं न संशयः ॥२२०
सुदर्शनममोघं च सुप्रवुद्धं ोधरम् । सुभद्रं च विशालं च सुमनः सौमनस्तथा ॥२२१
प्रीतिङ्करविमानानि ग्रैवेयकनामानि भोः । अनुदिशानुत्तराणां तु नामानि निशम्यताम् ॥२२२
अर्च्यर्चिमालिनी प्रोक्ता वैरं वैरोचनप्रभम् । सौम्यं सौम्य ज्ञेयं स्फटिकं स्फटि ॥२२३
सूर्यप्रभं विमानं च नवमं ज्ञेयमनुदिशम् । कथितं हि नरेन्द्रस्य मुनीशैर्जिनभाि ॥२२४
विजयं वैजयन्ताख्यं जयन्तमपराजितम् । सर्वार्थसिद्धिनामाख्यं विमानपञ्चकं तथा ॥२२५
सौधर्मे पञ्चपल्यायुर्देवीनां हि जिनागमे । ईशाने सप्तपल्यायुः सानते नव पल्यकम् ॥२२६

आयु एक पल्यकी होती है और शेष ग्रहोंकी उत्कृष्ट आयु अर्ध पल्यकी कही गई है ॥२१३॥ तारकाओंकी उत्कृष्ट आयु एक पल्यका चतुर्थ भाग-प्रमाण है । इस प्रकार गणधर देवने राजा श्रेणिकसे जिन-भाषित यह उत्कृष्ट आयु कही ॥२१४॥ सौधर्म और ऐशान कल्पमें उत्कृष्ट आयु दो सागरसे (कुछ अधिक) होती है । आगे बारह कल्पोंमें क्रमसे उत्कृष्ट आयु इस प्रकार जाननी चाहिए ॥२१५॥ दूसरे युगलमें सात सागर, तीसरे युगलमें दश सागर, चौथे युगलमें चौदह सागर, और पांचवें कल्पमें सोलहर साग उत्कृष्ट आयु कही गई है ॥२१६॥ छठे युगलमें उत्कृष्ट आयु अठारह सागर, सातवें युगलमें बीस सागर और आठवें युगलमें बाईस सागर उत्कृष्ट आयु कही गई है ॥२१७॥ उसके ऊपर नौ ग्रैवेयकोंमें क्रमसे एक एक सागर बढ़ाते हुए नवें उपरिम ग्रैवेयकमें इकतीस सागरकी और नौ अनुदिश विमानोंकी उत्कृष्ट आयु बत्तीस सागरकी नियमसे कही गई है ॥२१८॥ पांचों अनुत्तर विमानोंकी उत्कृष्ट आयु तेंतीस सागर कही गई है । वहांके उत्कृष्ट सुख भोगकर और मनुष्य भवमें सुव्रत धारण करके वे मोक्षको जाते हैं ॥२१९॥ इस प्रकार आदि अहिंसा व्रत आदि व्रतोंका फल परम्परासे निर्वाणका कारण है । किन्तु जो व्रत-पालन नहीं करते हैं किन्तु अव्रत जीवन बिताते हैं, उनके उस पापके निमित्त नारकीय दुःख होते हैं, इसमें कोई संशय नहीं है ॥२२०॥

हे राजन्, नौ ग्रैवेयकोंके नाम इस प्रकार हैं—१ सुदर्शन, २ अमोघ, ३ सुप्रवुद्ध, ४ यशोधर, ५ सुभद्र, ६ विशाल, ७ सुमन, ८ सौमनस और ९ प्रीतिंकर विमान । अब अनुदिश और अनुत्तर विमानोंके नाम सुनिये ॥२२१-२२२॥ १ अर्चि, २ अर्चिमालि, ३ वैरप्रभ, ४ वैरोचनप्रभ, ५ सौम्य, ६ सौम्यप्रभ, ७ स्फटिक, ८ स्फटिकप्रभ और ९ अनुदिश सूर्यप्रभ विमान जानना चाहिए । इस प्रकार मुनियोंके स्वामी गणधर देवने राजा श्रेणिकसे इस प्रकार जिन-भाषित नाम कहे ॥२२३-२२४॥ अनुत्तर विमानोंके नाम—विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और पाँचवाँ सर्वार्थसिद्धि नामका विमान है ॥२२५॥

श्री जिनागममें सौधर्म स्वर्गमें देवियोंकी उत्कृष्ट आयु पांच पल्य, ईशान स्वर्गमें सात पल्य, सानत स्वर्गमें नौ पल्य है । आगे सहस्रार स्वर्ग तक दो दो पल्य बढ़ती हुई आयु है, अर्थात्

माहेन्द्रे च तथा ब्राह्मे ब्रह्मोत्तरलान्तवे । कापिष्ठे तथा शुक्रे महाशुक्रे तथा ध्रुवम् ॥२२७
शतारे च सहस्रारे क्रमाद् द्वौ द्वौ च वर्धते । आनते प्राणते सप्त चारणे चाच्युते तथा ॥२२८
स्वर्गे च प्रथमे श्वभ्रे सद्मावासे निरन्तरे । जघन्यायुरिदं प्रोक्तमयुतं पूर्वसूरिभिः ॥२२९
ज्योतिर्देवे जघन्यायुः पल्यैकाष्टमांशकम् । कथितं तु नरेन्द्रस्य यतीशैंजिनभाषितम् ॥२३०

एकेन्द्रियाणां विकलेन्द्रियाणां तिर्यङ्नराणां सकलेन्द्रियाणाम् ।
एषां जघन्यायुः कथितं जिनेन्द्रैरन्तर्मुहूर्त्तं खलु हे नराधिप ॥२३१

उत्कृष्टं नालस्य मत्स्ये सम्मूर्च्छिमस्य च । योजनानां सहस्रैकं दीर्घत्वं जिनभाषितम् ॥२३२
भ्रमरो योजनैकं च कम्बुर्द्वादशयोजनः । क्रोशत्रयं तथा गोम्या उच्छ्रयं हि जिनागमे ॥२३३
त्रिकोशं च द्विकोशं च क्रोशैकमुच्छ्रयं तथा । भोगभूमिमनुष्याणां कथितं पूर्वसूरिभिः ॥२३४
कर्मभूमिमनुष्याणामुच्छ्रयं शतपञ्चकम् । पञ्चविंशधनुर्युक्तं पूर्वकोटिसमायुषाम् ॥२३५
ज्योतिषां पानि युगले सप्तकरोन्नतम् । द्वितीये युगले प्रोक्तं षट्करं जिनभाषितम् ॥२३६
ब्रह्म ब्रह्मोत्तरे लान्ते का करपञ्चकम् । उन्नतिर्देवदेहानां कथिता पूर्वसूरिभिः ॥२३७
शुक्रेऽथ च महाशुक्रे शतारे च सहस्रके । उन्नतिश्चतुरो हस्ता युग्मे ह्यर्धार्धहीनकाः ॥२३८

माहेन्द्रमें ग्यारह पल्य, ब्रह्ममें तेरह पल्य, ब्रह्मोत्तरमें पन्द्रह पल्य, लान्तवमें सत्तरह पल्य, कापिष्ठमें उन्नीस पल्य, शुक्रमें इक्कीस पल्य, महाशुक्रमें तेवीस पल्य, शतारमें पच्चीस पल्य और सहस्रारमें सत्ताईस पल्य देवियोंकी उत्कृष्ट आयु होती है। आगेके स्वर्गमें सात सात पल्यकी बढ़ती हुई आयु है। अर्थात् आनत स्वर्गमें चौंतीस पल्य, प्राणत स्वर्गमें इकतालीस पल्य, आरण-स्वर्गमें अड़तालीस पल्य और अच्युत स्वर्गमें देवियोंकी उत्कृष्ट आयु पचपन पल्यकी होती है ॥२२६-२२८॥ प्रथम स्वर्गमें, प्रथम नरकमें भवनवासियों में (?) पूर्वसूरियोंने जघन्य आयु अयुत प्रमाण (?) कही है[1] ॥२२९॥ ज्योतिषी देवोंकी जघन्य आयु एक पल्यका अष्टम भाग यतीश्वर गणधर देवने राजाको जिन-भाषित आयुका प्रमाण कहा ॥२३०॥ हे नरेश, भगवान् जिनेन्द्र देवने एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, तिर्यंच और मनुष्य इन सबकी जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कही है ॥२३१॥

एकेन्द्रिय पद्मनाम कमलकी और सम्मूर्च्छिम मत्स्यकी उत्कृष्ट शरीरकी दीर्घता (अव-गाहना) जिनदेवने एक हजार योजन कही है ॥२३२॥ चतुरिन्द्रिय भ्रमरकी शरीरदीर्घता एक योजन द्वीन्द्रिय शंखकी बारह योजन, और त्रीन्द्रिय गोमीकी तीन कोश दीर्घता जिनागममें कही है ॥२३३॥ उत्कृष्ट भोगभूमिके मनुष्योंकी ऊँचाई तीन कोश, मध्यम भोगभूमिके मनुष्योंकी दो कोश और जघन्य भोगभूमिके मनुष्योंकी एक कोश ऊंचाई पूर्वाचार्योंने कही है ॥२३४॥ कर्म भूमिके मनुष्योंके शरीरकी ऊंचाई पांच सौ पच्चीस धनुष और एक पूर्वकोटिकी आयु वाले विदेह क्षेत्रके मनुष्योंके भी शरीरकी ऊंचाई पांच सौ पच्चीस धनुष कही गई है ॥२३५॥ ज्योतिषी देवोंके शरीरकी ऊंचाई सात धनुष, प्रथम स्वर्ग युगलमें सात हाथ, और दूसरे स्वर्ग-युगलमें छह हाथ शरीरकी ऊंचाई जिनदेवने कही है ॥२३६॥ ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ इन चार स्वर्गोंके देवोंके शरीरकी ऊंचाई पांच हाथ पूर्वाचार्योंने कही है ॥२३७॥ आगे आधा-आधा हाथ कम ऊंचाई कही

१. यह उल्लेख प्रचलित परम्परासे विरुद्ध है। क्योंकि प्रथम स्वर्गमें देवोंकी जघन्य आयु एक पल्यसे कुछ अधिक कही गई है, प्रथम नरकमें जघन्य आयु दश हजार वर्ष कही है। और यही भवन वासियों और व्यन्तरोंकी कही गई है।—अनुवादक

असुरकुमारोच्चत्वं दण्डानां पञ्चविंशतिः। भावना व्यन्तरा देवा द ण्डोच्छ्रिता : ॥२३९
कुलकोटिकसंख्या या दुर्बोधा च जिनागमे। रुच्यते न हि विस्तारः पण्डिते चेतरे जने ॥२४०
पृथ्वीकायापःकायानामनिलानलकायजाम्। प्रत्येकं सप्त लक्षाणि नित्येतरसमन्विताम् ॥२४१
दशलक्षमिता प्रोक्ता वनराजी भवेद् ध्रुवम्। द्वित्रिचतुर्भिरक्षाणां द्वे द्वे भवन्ति च ॥२४२
तिरश्चां चतुरो लक्षाश्चतुर्लक्षाश्च नारकाः। लक्षाश्चतुर्दश प्रोक्ता मनुजा भूमिभागतः ॥२४३
देवाः सर्वे चतुर्भेदाश्चतुर्लक्षा उदाहृताः। एवं हि चतुरशीतियोनिलक्षाः भवन्ति च ॥२४४

गतीन्द्रियज्ञानकषायवेदा लेश्या सु भव्यो वर सम्यक्त्वम् (?)
सुसंयमं दर्शनयोगकाया आहारसंज्ञा इति मार्गणानि ॥२४५

मिथ्यात्वं सासनं मिश्रं सम्यक्त्वं चापि ह्यव्रतम्। व्रतं महाव्रतं प्रोक्तं प्रमत्तमप्रमत्तकम् ॥२४६
अपूर्वो ह्यनिवृत्तिश्च सूक्ष्मश्च शमिकस्तथा। क्षीणमोहो सयोगी च ह्ययोगी सिद्धनिष्कलः ॥२४७
आयुर्मानादिकं सूत्रं निजशक्त्या यथागमम्। कथितं दर्शने सारे जिनदेवेन धर्मिणा ॥२४८

इति भव्यमार्गोपदेशोपासकाध्ययने भट्टारक श्रीजिनचन्द्रनामाङ्किने जिनदेव-
विरचिते ध स्त्रे दर्शनाचारविधेस्तृतीयः परिच्छेदः ॥३॥

गई है। अर्थात् शुक्र-महाशुक्र युगलमें साढ़े चार हाथ और शतार-सहस्रारमें चार हाथ, आनत प्राणतमें साढ़े तीन हाथ और आरण-अच्युत युगलमें तीन हाथ शरीरकी ऊंचाई कही गई है। इससे ऊपर अधोग्रैवेयकत्रिकमें अढ़ाई हाथ, मध्यम ग्रैवेयकत्रिकमें दो हाथ और उपरिम ग्रैवेयकत्रिकमें तथा नवों अनुदिशोंमें डेढ़ हाथ, और पांचों अनुत्तर विमानोंमें एक हाथ देवोंके शरीरकी ऊंचाई कही गई है ॥२३८॥ असुर कुमारोंके शरीरकी ऊंचाई पच्चीस धनुष, शेष भवनवासी और व्यन्तर देवोंके शरीरकी ऊंचाई दश धनुप कही गई है ॥२३९॥ जीवोंके कुल-कोटियोंकी जो संख्या जिनागममें कही गई है, वह दुर्बोध है, वह पंडित जन और इतर साधारण जनको नहीं रुचती है, अतः उसका विस्तार यहाँ पर नहीं किया जाता है ॥२४०॥

पृथिवी काय, जल काय, अग्नि काय, वायु काय इनमें प्रत्येककी सात-सात लाख योनियां होती हैं। नित्य और इतर निगोद-सहित वनस्पति कायकी दस लाख योनियाँ कही गई हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, और चतुरिन्द्रिय जीवोंकी प्रत्येककी दो-दो लाख योनियां होती हैं, तिर्यंचोंकी चार लाख और नारकियोंकी चार लाख योनियां होती हैं। कर्मभूमि और भोगभूमिके मनुष्योंकी चौदह लाख योनियां कही गई हैं। चारों भेद वाले देवोंकी चार लाख योनियां कही गई हैं। इस प्रकार कुल चौरासी लाख योनियां होती हैं ॥२४१-२४४॥

गति, इन्द्रिय, ज्ञान, कषाय, वेद, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संयम, दर्शन, योग, काय, आहार और संज्ञा ये चौदह मार्गणाएं होती हैं। इनके द्वारा जीवोंका अन्वेषण किया जाता है ॥२४५॥ मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यक्त्व, देश व्रत, प्रमत्तमहाव्रत, अप्रमत्तमहाव्रत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरणसंयत, सूक्ष्मसाम्पराय संयत, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगिकेवलि और और अयोगिकेवलि ये चौदह गुणस्थान हैं। शरीर-रहित सिद्ध परमेष्ठी गुणस्थानातीत हैं ॥२४६-२४७॥ इस प्रकार आयु, शरीर-मान आदि सूत्रकी अपनी शक्तिसे आगमके अनुसार जिनदेव धर्मी पुरुष ने इस दर्शन-सारवाले परिच्छेदमें वर्णन किया ॥२४८॥

इति श्री भट्टारक जिनचन्द्र-नामाङ्कित जिनदेव विरचित भव्यमार्गोपदेशोपासकाध्ययन नामक धर्मशास्त्रमें दर्शनाचारविधिका प्रतिपादक तीसरा परिच्छेद समाप्त हुआ।

अथ चतुर्थः परिच्छेदः

इत्येवं दर्शनाचारं ज्ञात्वा ह्याचरते ध्रुवम् । स भव्यो दर्शनीकश्च जिनदेवेन भाषितः ॥२४९
संसारदुःखसंत्रस्तो यदा जीवो भवेद् ध्रुवम् । तदा तस्य देयं सम्यग्दर्शनपूर्वकम् ॥२५०
यावज्जीवं त्रसानां च प्राणिनां प्राणरक्षणम् । स्थावराणां प्रवृत्तित्वे चाणुमात्रं व्रतं भवेत् ॥२५१
अणुव्रतं गुणं शिक्षाव्रतं द्वादशभेदकम् । सम्यग्दर्शनपूर्वं हि कर्त्तव्यं च यथाक्रमम् ॥२५२
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं सुदुर्धरम् । परिग्रहप्रमाणत्वं ाणुव्रतमिष्यते ॥२५३
गमने कृतमर्यादा भोगसंख्या तथा ध्रुवम् । अनर्थदण्डनिर्मुक्तमित्येवं तु गुणव्रतम् ॥२५४
सामायिकमुपवासं पात्रदानं सुलेखना । इति शिक्षाव्रतान्येवं जिनचन्द्रेण भाषितम् ॥२५५
देवार्थं वा भेषजार्थं वा क्रोधमानभयैश्च वा । प्राणिहिंसा न कर्तव्या तदाद्याणुव्रती भवेत् ॥२५६
रागद्वेगमदैर्मोहैर्मायालोभभयादिभिः । अनृतं न कथ्यते किञ्चिद् द्वितीयं तद्वचणुव्रतम् ॥२५७
विस्मृतं च स्थितं नष्टं कूटमानतुलादिषु । परद्रव्यं न हर्तव्यं तदास्तेयव्रतं भवेत् ॥२५८
परस्त्री मन्यते माता भगिनीव सुतासमा । स्वरामायां प्रवृत्तिश्च तद्धि तुर्यमणुव्रतम् ॥२५९
धनं धान्यं पशुं प्रेष्यं गृहं दारान्यसंग्रहम् । प्रमाणव्रतसंयुक्तं सुसन्तोष भवेत् ॥२६०
दिशासु विदिशासूच्चैः सीमसंख्या भवेद् । नाक्रम्य गम्यते यत्र त च गुणव्रतम् ॥२६१

इस प्रकार ऊपर कहे गये दर्शनाचारको जानकर जो भव्यजीव इसे नियमपूर्वक आचरण करता है, उसे जिनदेवने दर्शनिक श्रावक कहा है ॥२४९॥ जब जीव निश्चित रूपसे संसारके दुःखोंसे पीड़ित हो, तब उसे सम्यग्दर्शनपूर्वक व्रत देना चाहिए ॥२५०॥ यावज्जीवन त्रस प्राणियोंके प्राणोंकी रक्षा करना अर्थात् संकल्पपूर्वक उनका घात नहीं करना और स्थावर जीवोंकी प्रवृत्तिमें सावधानी रखना अणुमात्र व्रत अर्थात् अणुव्रत कहलाता है ॥२५१॥ पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन वारह भेदरूप श्रावकके व्रत होते हैं। इनका सम्यग्दर्शनपूर्वक यथाक्रमसे परिपालन करना चाहिए ॥२५२॥ अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, अति दुर्धर ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणव्रत ये पाँच अणुव्रत कहे जाते हैं ॥२५३॥ गमनागमन की जीवन भरके लिए मर्यादा करना (दिग्व्रत), भोग-उपभोगकी संख्या सीमित करना (भोगोपभोग परिमाण) और अनर्थदण्डोंका परित्याग करना ये तीन गुणव्रत हैं ॥२५४॥ प्रतिदिन सामायिक करना, पर्वके दिन उपवास करना, पात्रोंको दान देना और जीवनके अन्तमें सल्लेखना धारण करना इस प्रकार जिनचन्द्रने ये चार शिक्षाव्रत कहे हैं ॥२५५॥

देवताकी प्रसन्नताके लिए, अथवा औषधिके लिए, अथवा क्रोध, मान, भयसे प्रेरित होकर प्राणियोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिए, तभी मनुष्य प्रथम अहिंसाणुव्रती होता है ॥२५६॥ राग, द्वेष, मद, मोह, माया, लोभ और भय आदिसे रंचमात्र भी असत्य भाषण नहीं करना यह दूसरा सत्याणुव्रत है ॥२५७॥ दूसरेके भूले हुए या कहीं पर रखे हुए, या विनष्ट हो गये द्रव्यका अपहरण नहीं करना, तथा कूट नाप-तौल आदि करके पर द्रव्योंको नहीं लेना यह तीसरा अचौर्याणुव्रत है ॥२५८॥ वृद्धा परस्त्रीको माता मानना, युवती परस्त्रीको वहिनके समान और अपनेसे कम अवस्थावाली परस्त्रीको पुत्रीके समान समझना और केवल अपनी ही स्त्रीमें प्रवृत्ति करना यह चौथा ब्रह्मचर्याणुव्रत है ॥२५९॥ धन, धान्य, पशु, नौकर-चाकर, घर, दासी आदि पर पदार्थोंका प्रमाणसे युक्त व्रत धारण करना पाँचवाँ सन्तोषाणुव्रत है ॥२६०॥

सभी दिशाओंमें और विदिशाओंमें जब जीवन भरके लिए गमनागमनकी सीमाका परिमाण

भोजनस्नानगन्धादिताम्बूलवसनादिषु । भोगोपभोगसंख्या च द्वितीयं हि गुणव्र ॥२६२
मूशलविषशस्त्राग्निदण्डपाशादियन्त्रकम् । न देयं तु परे यज्ञे संज्ञा नोऽनेकसंग्रहे ॥२६३
नासावेधं वधं बन्धं भारस्यारोपणं तथा । न कर्तव्यं पशूनां च तृतीयं हि गुणव्रतम् ॥२६४
द्वात्रिंशद्दोषनिर्मुक्तं पूर्वाचार्यक्रमेण च । त्रिसन्ध्यं वन्द्यते देवं सामायिकं व्रतं भवेत् ॥२६५
उभे पक्षे चतुर्दश्यां चाष्टम्यामपि हि ध्रुवम् । प्रोषधव्रतमारूढो रम्भारम्भविवर्जितम् ॥२६६
जिनालये शिवाशायै जैनं विधिं समाश्रयन् । आर्त्तरौद्रे परित्यज्य धर्म्यशुक्ले समाचरेत् ॥२६७
पात्रं हि त्रिविधं प्रोक्तं दानं देयं चतुर्विधम् । श्रद्धादिभक्तिसम्पन्नो निरवद्यं यथाविधि ॥२६८
निःसङ्गो हि व्रती भूत्वा स्वार्त्तरौद्रविवर्जितः । म्रियेत समभावेन सल्लेखनाव्रतमुच्यते ॥२६९
द्वादशानि व्रतान्यत्र विधिना परिपाल्यते । अन्ते तनुं त्यक्त्वा दिवं गच्छति सुव्रती ॥२७०
भव्या नाके सुखं भुक्त्वा शाश्च हलायुधाः । भवन्ति मनुज मोक्षं गच्छन्ति नान्यथा ॥२७१

इति भव्यमार्गोपदेशे उपासकाध्ययने भट्टारकश्रीजिनचन्द्रनामाङ्किते जिनदेवविरचिते धर्मशास्त्रे व्रतकथनं नाम चतुर्थः परिच्छेदः ॥४॥

●

निश्चित कर लिया जाता है और उसका उल्लंघन करके गमन नहीं किया जाता है, तब दिग्व्रत नामका प्रथम गुणव्रत होता है ॥२६१॥ भोजन, स्नान, गन्ध, विलेपन आदि, तथा ताम्बूल, वस्त्र आदि भोग और उपभोगकी संख्या सीमित करना भोगोपभोगसंख्यान नामका दूसरा गुणव्रत है ॥२६२॥ मूसल, विष, शस्त्र, अग्नि, दण्ड, पाश (जाल) आदि और जीव-घातक अनेक प्रकारके यंत्र दूसरोंको नहीं देना चाहिए। तथा यज्ञमें अनेक प्रकारके पदार्थोंके संग्रहमें इच्छा नहीं करनी चाहिए और अनुमति भी नहीं देनी चाहिए ॥२६३॥ किसी जीवका नासिकाछेदन, वध, वन्धन तथा अधिक भारके आरोपण नहीं करना चाहिए। यह तीसरा अनर्थदंडत्याग नामका गुणव्रत है ॥२६४॥

बत्तीस दोषोंसे रहित पूर्वाचार्योंके द्वारा बतलाये गये अनुक्रमसे तीनों सन्ध्या कालोंमें देव-वन्दना करना सामायिक नामका प्रथम शिक्षाव्रत है ॥२६५॥ प्रत्येक मासके दोनों पक्षोंमें दोनों ही अष्टमी और चतुर्दशीके दिन नियमपूर्वक स्त्रीसेवन और आरम्भ-समारम्भको छोड़कर प्रोषधव्रत का पालन करना यह दूसरा शिक्षाव्रत है ॥२६६॥ उपवासके दिन जिनालयमें जाकर मोक्षकी आशासे जैनविधिका आश्रय लेता हुआ आर्त और रौद्र ध्यानका परित्याग कर धर्मध्यान और शुक्ल ध्यानका आचरण करना चाहिए ॥२६७॥ जैन आगममें सुपात्र तीन प्रकारके कहे गये हैं, उनको श्रद्धा, भक्ति आदि सात प्रकारके गुणोंसे युक्त होकर निर्दोष चार प्रकारका दान विधिपूर्वक देना चाहिए ॥२६८॥ जीवनके अन्तिम समय सर्व परिग्रहसे रहित होकर आर्त्त-रौद्र-ध्यानसे विमुक्त होकर समभावके साथ मरना सल्लेखनाव्रत कहा जाता है ॥२६९॥

जो सुव्रती श्रावक इस प्रकार उक्त बारह व्रतोंको इस लोकमें विधिसे पालन करता है, और अन्तिम समयमें शरीरको छोड़ता है, वह स्वर्गको जाता है ॥२७०॥ ऐसे व्रती भव्य-श्रावक स्वर्गमें अनुपम सुख भोगकर वहाँसे आकर इस मनुष्य क्षेत्रमें चक्रवर्ती और बलदेव होकर मोक्षको जाते हैं, यह बात अन्यथा नहीं है ॥२७१॥

इस प्रकार भट्टारक जिनचन्द्र-नामाङ्कित जिनदेव-विरचित भव्यमार्गोपदेश उपासकाध्ययन नामक धर्मशास्त्रमें व्रत-कथन नामका चौथा परिच्छेद समाप्त हुआ।

●

थ पञ्च : परिच्छेदः

प्रियाप्रिये योगवियोगभावे दुःखे सुखे मृत्युसमागमे वा ।
लाभे च हानौ समभावतत्त्वं सामायिकं तं जिनदेवदृष्टम् ॥२७२

सामायिकोपयुक्तेन कर्त्तव्या जिनवन्दना । त्रिसन्ध्यं कर्मनाशार्थं दोषमुक्त्यै च सर्वदा ॥२७३

दोषाश्च त्रिविधा ज्ञेया कायवाङ्मनसोद्भवाः । कायजा द्वादश प्रोक्ता वाचिका दशधा तथा ॥२७४

कायजांस्तत्र वक्ष्यामि यथा दृष्टं जिनागमे । दिशामालोकनं पूर्वं वर्ज्यमासन्नमासनम् ॥२७५

योगपट्टासनं वज्रं द्वितीयं कुक्कुटासनम् । अन्यालोकं तृतीयं च चतुर्थं चान्यकर्मकृत् ॥२७६

प्रसारणाकुञ्चनमोटनानि कराङ्गमर्दो नखशोधनानि ।
कद्रूसमालस्यविजृम्भणानि त्वेतानि वर्ज्याणि च कायजानि ॥२७७

मूको बकसमाकारो वाचालो टिट्टिभो यथा । गीतिछन्दानुवादी च संक्षेपी चान्यवादकः ॥२७८

वार्ता हास्यं तथा शीघ्रं दृष्टादृष्टं च वर्जयेत् । कर्त्तव्यं सर्वदा काले चाकाले ह्यविवेकिता ॥२७९

ख्यातिलाभनिमित्तेन गारवेण भयेन वा । इज्याद्यभीच्छया क्लृप्तं भक्तिभावादिवर्जितम् ॥२८०

इत्येवं ज्ञातसम्प्रोक्ता दोषाश्चान्ये कुकर्मतः । कायोत्सर्गे तथा दोषा द्वात्रिंशद् भवन्ति खलु ॥२८१

तैर्मुक्तो चिन्तयेद् ध्यानं चतुर्भेदं जिनोदितम् । पदं रूपं च पिण्डस्थं रूपातीतं निरामयम् ॥२८२

प्रिय-अप्रिय वस्तुमें, संयोग-वियोग भावमें, सुख-दुःखमें, जन्म-मरणमें और हानि-लाभमें समभाव रखनेको जिनदेवने सामायिक कहा है ॥२७२॥ सामायिकमें उपयुक्त श्रावकको तीनों सन्ध्याओंमें कर्मोंके नाश करनेके लिए, तथा दोषोंसे मुक्ति पानेके लिए सदा ही जिन-वन्दना करनी चाहिए ॥२७३॥ दोष तीन प्रकारके जानना चाहिए—काय-जनित, वचन-जनित और मनो-जनित । काय-जनित दोष बारह और वाचिक दोप दश प्रकारके कहे गये हैं ॥२७४॥ इनमेंसे मैं पहिले काय-जनित दोपोंको जैसा कि मैंने जिनागममें देखे हैं, कहूँगा । सर्वप्रथम दिशाओंका अवलोकन छोड़ना चाहिए । दूसरा आसन्न आसन दोष है, अर्थात् चलायमान आसन नहीं रखना चाहिए, किन्तु योग, पट्टासन, दूसरा वज्रासन, तीसरा कुक्कुटासन सामायिकके समय रखना चाहिए । तीसरा दोष अन्य पुरुषकी ओर देखना है, चौथा दोष सामायिकको छोड़कर अन्य कार्य का करना हे ॥२७५-२७६॥ पाँचवाँ दोष हाथ-पैरको पसारना है, छठा दोप हाथ-पैरको आकुंचित करना है, सातवाँ दोष शरीरको मोड़ना है, आठवाँ दोष शरीर हाथ आदिका मर्दन करना है, नवाँ दोष नखोंका मैल-शोधन करना है, दसवाँ दोष शरीरको खुजलाना है, और ग्यारहवाँ दोष जम्हाई आदि लेना है । सामायिकके समय इन काय-जनित दोपोंका त्याग करना चाहिए ॥२७७॥ गूँगेके समान मूक रहना, बकके समान आकार रखना, वाचाल प्रवृत्ति करना, टिट्टिभके समान शब्द करना, गीत-छन्दका अनुसरण करना, संक्षेपसे सामायिक करना, अन्यसे किसी कार्य को कहना, वार्तालाप करना, हँसना, शीघ्रता करना, देखे दोषोंको कहना, अदृष्ट दोषोंको नहीं कहना इन सब वचन सम्बन्धी दोषोंको छोड़े । सामायिक सदा ही यथाकाल करनी चाहिए और अकालमें करना अविवेकता है ॥२७८-२७९॥ ख्याति, लाभके निमित्तसे सामायिक करना, गौरवसे करना, भयसे करना, पूजा आदिकी इच्छासे करना, भक्ति-भाव आदिसे रहित होकर सामायिक करना, ये सब ज्ञात दोष कहे । इसी प्रकारसे अन्य जो खोटे कार्य करनेसे दोष होते हैं, उन सबको तथा अज्ञात दोपोंको भी छोड़ना चाहिए । इसी प्रकार कायोत्सर्गके बत्तीस दोष होते हैं । उनसे मुक्त होकर जिनेन्द्र-भाषित पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, निरामय रूपातीत इन चार प्रकारके ध्यानोंका चिन्तवन करना चाहिए ॥२८०-२८२॥

ध्याता ध्यानं तथा ध्येयं फलं निष्पत्तिकारणम् । कथितं जिनचन्द्रेण जिनदेवमहात्मने ॥२८३
ध्याता रत्नत्रयोपेतो ध्यानमेकाग्रचित्तता । ध्येयं तु परमात्मत्वं फलं ज्ञानादिलक्षणम् ॥२८४
कर्मक्लेशविनिर्मुक्ता ध्यानयोगेऽपि मानवाः । धर्म्यध्यानेन तिर्यञ्चः स्वर्गं गच्छन्ति नान्यथा ॥२८५
क्षराणि पञ्चैव पदानि परमेष्ठिनाम् । ध्येयानि 'सिद्ध्यर्थं पूर्वसूरिप्रभाषितम् ॥२८६
षोडशं षट् च पञ्चैव चत्वारो द्वौ च ह्यक्षरौ । एकाक्षरमपि ध्येयं सर्वसिद्धिकरं परम् ॥२८७
अवर्गादिहकारान्तं सरेफं बिन्दुकान्वितम् । तदेव परमं तत्त्वं ध्येयं सर्वार्थसिद्धिदम् ।।२८८
पुण्डरीकत्रयं यस्य सिन्ध्वाकारावृतं समम् । चन्द्राभैश्चामरैर्वीज्यं ध्येयं सर्वज्ञमव्ययम् ॥२८९
घातिकर्मविनिर्मुक्तं सज्ज्ञानादिगुणार्णवम् । शुभदेहस्थितात्मानं ध्येयं जिनेन्द्रनिर्मलम् ॥२९०
शुद्धो यो रूपवन्नित्यं सिद्धं विश्वैककारणम् । विश्वबाह्यं च विश्वस्थं विश्वव्यापि चिदात्मकम् ॥२९१
सुरासुरेन्द्रसङ्घातैर्वन्द्यं विश्वप्रकाशकम् । ध्येयरूपं जिनेन्द्रस्य रूपस्थं ध्यानमुच्यते ॥२९२

कायप्रमाणमथ लोकमानं ऊर्ध्वंस्तथा सिद्धगतिप्रमाणम् ।
निरामयं कर्मकलङ्कमुक्तं ध्येयं जिनोक्तं परमात्मरूपम् ॥२९३

ध्यानके विषयमें श्री जिनचन्द्रने महात्मा जिनदेवके लिए ध्याता, ध्यान, ध्येय और ध्यानका फल ये चार बातें ध्यानकी सिद्धिकी कारण कही हैं ॥२८३॥ रत्नत्रयसे संयुक्त पुरुष ध्याता कहलाता है, चित्तकी एकाग्रताको ध्यान कहते हैं, परम शुद्ध आत्मा ध्येय है और सम्यग्ज्ञान आदिकी प्राप्ति होना ध्यानका फल है ॥२८४॥ ध्यानके संयोगसे मनुष्य कर्मोंके क्लेशसे विमुक्त होकर सिद्ध पद प्राप्त करते हैं और धर्मध्यानके योगसे तिर्यंच भी स्वर्गको जाते हैं, यह बात अन्यथा नहीं है ॥२८५॥ पंच परमेष्ठि-वाचक 'अ सि आ उ सा' ये पाँच अक्षर, अथवा 'अ सि आ उ सा नमः' ये सात अक्षर सर्व अर्थोंकी सिद्धिके लिए ध्येय रूपसे पूर्वाचार्योंने कहे हैं ॥२८६॥ 'ओं' यह एक अक्षर, 'सिद्ध' ये दो अक्षर, अथवा 'अर्हं' ये दो अक्षर', अरिहंत, अथवा अरहंत' ये चार अक्षर, 'सिद्धेभ्यो नमः' ये पाँच अक्षर, 'ओं नमः सिद्धेभ्यः' ये छह अक्षर, अथवा' 'अरहंत सिद्ध' ये छह अक्षर, अथवा 'अर्हंत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः' ये सोलह अक्षर सभी उत्कृष्ट सिद्धिके करने वाले हैं ॥२८७॥ अकार जिसके आदिमें है और हकार जिसके अन्तमें है, जो रेफ और बिन्दुसे संयुक्त है ऐसा 'अर्हं' यही मंत्र परम तत्त्व है और सर्व अर्थकी सिद्धिका दाता ध्येयरूप है ॥२८८॥

जिसके तीन श्वेत छत्र सिरपर लग रहे हैं, जो तीन सिन्धुरूप वलयाकार कटनियोंसे आवृत हैं, चन्द्रके समान आभावाले श्वेत चामरोंसे वीज्यमान हैं। ऐसे अव्यय सर्वज्ञ जिनदेव अरहन्त परमेष्ठी ध्येय रूप हैं ॥२८९॥ जो चारों घातिया कर्मोंसे रहित हैं, अनन्तज्ञानादि गुणोंके सागर हैं, जिनकी आत्मा परम शुभ औदारिक देहमें स्थित है, ऐसे परम निर्मल जिनेन्द्रदेव ध्येय हैं ॥२९०॥ जो शुद्ध रूपवान् नित्य, सिद्धस्वरूप, विश्वकल्याणके एकमात्र कारण हैं, विश्व अर्थात् त्रिलोकसे बाह्य अनन्त आकाशके भी ज्ञाता हैं, विश्वमें स्थित हैं, विश्वमें ज्ञानरूपसे व्याप्त हैं, चैतन्यात्मक हैं, सुर, असुरोंके समुदायसे वन्द्य हैं, विश्वके प्रकाशक हैं, ऐसे स्वरूपमें स्थित जिनेन्द्रदेवका ध्यान करना रूपस्थ ध्यान कहलाता है ॥२९१-२९२॥ जिनका आत्मा शरीर-प्रमाण है, प्रदेशोंकी अपेक्षा अथवा लोकपूरण समुद्घातकी अपेक्षा लोक प्रमाण हैं, ऊर्ध्वगामी स्वभाव वाले हैं, सिद्धगति प्रमाण हैं, निरामय हैं, कर्म-कलङ्कसे विमुक्त हैं, ऐसे परमात्मस्वरूपको जिनेन्द्र देवने ध्येय कहा है ॥२९३॥

चन्द्ररश्मिसमाकारं सर्वज्ञं परमात्मकम्। ध्येयं स्वदेहमध्यस्थं नाभौ हृदयमस्तके ॥२९४
धारणाः पञ्च विज्ञेयाः पिण्डस्थे जिनभाषिते। पार्थिवाग्नेयिकी श्वासी जलीया तत्त्वरूपिणी ॥२९५
आत्मानं परमात्मेति यदा चिन्तयते ध्रुवम्। तन्मयतां याति नानावर्णैर्मणिर्यथा ॥२९६
ध्यानैकं प्रथमं काष्ठं ध्येयकाष्ठं द्वितीयकम्। ध्येयं निर्वाणस्योत्पाद्य परमात्मानमव्ययम् ॥२९७
उत्पन्ना मन्त्रयोगेन काष्ठाद् वह्निशिखा यथा। तथात्मध्यानतो दग्धे देहे चात्मा न दह्यते ॥२९८
मूषागर्भगतं रिक्तमाकारं यादृशं भवेत्। तादृशं हि निजात्मानं ध्येयं रूपादिवर्जितम् ॥२९९
सहजं चित्स्वरूपं यत् त्रैलोक्यशिखरे स्थितम्। निश्चलं परमात्मानं ध्येयं ज्ञेयं परात्परम् ॥३००
स्वभावे स्थिरीभूते चित्ते तल्लयतां गते। आत्मनि सुखमासीनं रूपातीतं तदुच्यते ॥३०१
इति ध्यानं मया ज्ञातं दृष्ट्वा सूरिपरम्पराम्। अन्यद् गुरूपदेशेन ज्ञातव्यं रूपवर्जितम् ॥३०२

इति भव्यमार्गोपदेशोपासकाध्ययने भट्टारकश्रीजिनचन्द्रनामाङ्किते जिनदेवविरचिते धर्मशास्त्रे सामायिकध्यानपद्धतिकथनं नाम मः परिच्छेदः ॥५॥



ऐसे चन्द्र-किरणोंके समान निर्मल आकारके धारक, स्वदेह मध्यस्थ सर्वज्ञ परमात्माका ध्यान अपनी नाभिमें, हृदयमें अथवा मस्तकमें करना चाहिए ॥२९४॥

जिनदेवसे कथित पिण्डस्थ ध्यानमें पार्थिवी, आग्नेयी, श्वासी (वायवी), जलीय, और तत्त्व-रूपिणी ये पाँच धारणाएँ जाननी चाहिए ॥२९५॥ जब यह ध्याता पुरुष अपने आत्माको 'यह परमात्मा है' ऐसा निश्चय रूपसे चिन्तन करता है, तब वह तन्मयताको प्राप्त हो जाता है। जैसे कि स्फटिक मणि नाना वर्णोंके संयोगसे तन्मयताको प्राप्त हो जाता है ॥२९६॥ ध्यानरूप प्रथम काष्ठ और ध्येयरूप द्वितीय काष्ठ ये दोनों परस्परके संघर्षसे परमात्मरूप अव्यय निर्वाणका ध्येय उत्पन्न करते हैं ॥२९७॥ जैसे मंत्रयोगके द्वारा काष्ठसे अग्निशिखा उत्पन्न होती है, उसी प्रकार आत्म-ध्यानके योगसे इस देहके दग्ध हो जानेपर शुद्ध आत्मा प्रकट होता है, क्योंकि देहके दग्ध हो जाने-पर भी आत्मा दग्ध नहीं होता है ॥२९८॥ जैसा मूषागर्भगत रिक्त आकार होता है, वैसा ही रूपा-दिसे रहित निजात्माका ध्यान करना चाहिए ॥२९९॥ जो सहज चैतन्य स्वरूप है, त्रैलोक्यके शिखर पर स्थित है, निश्चल है, परात्पर है ऐसा शुद्ध सिद्ध परमात्मा ध्येय जानना चाहिए ॥३००॥ स्वभावमें स्थिर होनेपर और चित्तके तन्मयताको प्राप्त होनेपर आत्मामें सुख रूपसे विराजमान जो आत्मा है, वह रूपातीत कहा जाता है ॥३०१॥ इस प्रकारसे आचार्य-परम्पराको देखकर मैंने जो ध्यानका स्वरूप जाना है, उसे कहा। गुरुजनोंके उपदेशसे अन्य भी रूपातीत ध्यानका स्वरूप जानना चाहिए ॥३०२॥

इति श्री भट्टारक जिनचन्द्र नामाङ्कित जिनदेव-विरचित भव्यमार्गोपदेश उपासकाध्ययन नामक धर्मशास्त्रमें सामायिक-ध्यान-पद्धतिका कथन करनेवाला पंचम परिच्छेद समाप्त हुआ।



देवताराधनं ध्यानं साधयेन्मन्त्रयुक्तिभिः । व्रतादिग्रहणं दानं प्रतिष्ठाविधिमादिकम् ॥३०३
प्रोषधं व्रतसंयुक्तं कार्यं सर्वार्थसिद्धिदम् । प्रोषधेन विना सिद्धिर्न भवतीति निश्चितम् ॥३०४
प्रोषधं शमभावार्थं भावात्कर्मविनाशनम् । कर्मनाशे च सुज्ञानं मोक्षदं सुफलप्रदम् ॥३०५
चतुर्दश्यां चाष्टमीपर्वण्युपवासमथवा बुधैः । एकभक्तं रसत्यागं एकान्नं काञ्जिकोदनम् ॥३०६
धर्मध्यानं दिवा कार्यं रात्रौ च जिनमन्दिरे । निजवित्तानुसारेण पात्रे दानं समाचरेत् ॥३०७
पात्रं हि त्रिविधं प्रोक्तं कनिष्ठं मध्यमोत्तमम् । निरवद्यं सदा देयं चतुर्भेदं जिनोदितम् ॥३०८
आहारं शास्त्रभैषज्यं अभयं सर्वदेहिषु । सुखार्थं ज्ञानरूपार्थं निर्भयार्थं च स्वात्मनः[1] ॥३०९
....

....॥३३९

अयोग्यं हि यदा द्रव्यं दत्तं पात्रेषु सन्मते । संयमास्तस्य नश्यन्ति दाता पात्रस्य नाशकः ॥३४०
पात्रदानं कृतं येन मिथ्यादृष्टिनरेण वै । उत्तमभोगभूमौ स भोगान् भुनक्ति नान्यथा ॥३४१
दानस्थाने कृतं सूत्रं भावपूजादिकं मया । तामत्र हि प्रवक्ष्यामि देवपूजाविधिं ध्रुवम् ॥३४२
राजतं वा हि सौवर्णं मौक्तिकं स्फटिकोपलम् । जिनबिम्बं विनिर्माप्य प्रतिष्ठाप्य च पूजयेत् ॥३४३

देवताकी आराधना, ध्यान, व्रतादिका ग्रहण, दान और प्रतिष्ठा विधि आदिको मंत्र-युक्तिसे सिद्ध करे ॥३०३॥ सर्व अर्थकी सिद्धिको देनेवाला प्रोषध व्रत-संयुक्त करना चाहिए, क्योंकि प्रोषधके विना सिद्धि नहीं होती है, यह निश्चित है ॥३०४॥ प्रोषध शमभावकी प्राप्तिका कारण है और शमभावसे कर्मोंका विनाश होता है। कर्मोंका विनाश होनेपर मोक्षरूप उत्तम सुफलको देनेवाला केवलज्ञानरूप सुज्ञान प्राप्त होता है ॥३०५॥ चतुर्दशी और अष्टमीके दिन उपवास करना प्रोषधव्रत है। अथवा यदि शक्ति न हो तो एकाशन, रसोंका परित्याग, एक अन्नका भोजन अथवा काँजीयुक्त भातको खानेका भी विधान विद्वानोंने किया है ॥३०६॥ दिनमें धर्मध्यान करे, रात्रिमें जिनमन्दिरमें निवास करे और अपने धनके अनुसार दानको देवे ॥३०७॥ पात्र उत्तम, मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन प्रकारके कहे गये हैं। इनको सदा निर्दोष जिन-भाषित चार प्रकारका दान देना चाहिए ॥३०८॥ सुखकी प्राप्तिके लिए आहारदानको, ज्ञानकी प्राप्तिके लिए ज्ञान दानको, रूप-सौन्दर्य और नीरोगता प्राप्तिके लिए भैषज्य दानको और निर्भय रहनेके लिए अभयदानको सर्व प्राणियोंमें देना चाहिए ॥३०९॥ ....
....

....॥३३९॥

हे सद्-बुद्धिशालिन्, जब पात्रोंमें अयोग्य द्रव्यका दान दिया जाता है, तब उनका संयम नष्ट हो जाता है। इस प्रकार अयोग्य द्रव्यका दाता पात्रका विनाशक होता है ॥३४०॥ जिस मिथ्यादृष्टि भी मनुष्यने पात्र-दान किया है, वह उत्तम भोगभूमिमें भोगोंको भोगता है, यह बात अन्यथा नहीं है ॥३४१॥ दानके स्थानपर मैंने जो भावपूजादिका सूत्ररूपसे उल्लेख किया था उस देवपूजाविधिको मैं यहाँपर ध्रुवरूपसे कहूँगा ॥३४२॥ चाँदीकी, या सुवर्णकी, या मोतीकी या स्फटिक पाषाणकी जिनमूर्त्तिका निर्माण कराके और उसकी प्रतिष्ठा करके पूजन करना चाहिए ॥३४३॥ जो मनुष्य जिनमन्दिरमें शुभलग्नमें जिनेश्वर देवकी प्रतिष्ठा करके पूजा करते हैं वे स्वर्ग-

---

१. यहाँसे आगे ३३९ तकके श्लोक एक पत्रके नहीं मिलनेसे नहीं दिये जा सके हैं। —सम्पादक

जिनागारे शुभे लग्ने प्रतिष्ठाप्य जिनेश्वरम् । पूजयन्ति नरा ये ते भवन्ति स्वर्गवासिनः ॥३४४
प्रतिष्ठयाऽभिषेकेण पूजादानफलेन च । ऐहिके च परत्रे च देवैः पूज्यो भवेन्नरः ॥३४५
अङ्गप्रक्षालनं कार्यं स्नानं वा गालितोदकात् । धौतं वस्त्रं ततो धार्यं शुद्धं देवार्चनोचितम् ॥३४६
दन्तकाष्ठं तदा कार्यं गण्डूषैः शोधयेन्मुखम् । तदा मौनं प्रतिग्राह्यं यावद्देवविसर्जनम् ॥३४७
क्षेत्रप्रवेशनाद्यैश्च मन्त्रैः क्षेत्रप्रवेशनम् । ततः ईर्यापथं शोध्यं पश्चात्पूजां समारभेत् ॥३४८
इन्द्रोऽहमिति सङ्कल्पं कृत्वाऽऽभरणभूषितम् । तत्र देवं ततः स्थाप्यं स्थापनामन्त्रयुक्तिभिः ॥३४९
तत आहूय दिग्नाथान् मन्त्रैः सूरिगुणोदितैः । यक्ष-यक्षी ततः स्थाप्ये क्षेत्रपालसमन्विते ॥३५०
सकलीकरणं कार्यं मन्त्रबीजाक्षरैस्तथा । एवं शुद्धिकृतात्मासौ ततः पूजां समारभेत् ॥३५१
आम्रेक्षुनालिकेराद्यै रसैः क्षीरघृतैस्तथा । दध्ना गन्धोदकैः स्नानं पूजा चाष्टविधा तथा ॥३५२
नीरैश्चन्दनशालीयैः पुष्पैः नानाविधैः शुभैः । नैवेद्यैर्दीपधूपैश्च फलैः पूजा विधीयते ॥३५३

सुसिद्धचक्रं परमेष्ठिचक्रं रत्नत्रयं वा जिनपूजनं वा ।
श्रुतं सुपूज्यं वरपुण्यबुद्धया स्वर्गापवर्गार्थफलप्रदं तत् ॥३५४

पूजयेत्सर्वसिद्ध्यर्थं जिनं सिद्धं सुखात्मकम् । जिनोक्तं तच्छ्रुतं पूज्यं सर्वकर्मक्षयार्थिभिः ॥३५५
पूर्वमाहूय देवांश्च पूजयित्वा विसर्जयेत् । सर्वे ते जिनभक्तानां शान्तिं कुर्वन्ति सर्वदा ॥३५६

वासी होते हैं ॥३४४॥ प्रतिष्ठा करानेसे, अभिषेकसे, पूजा करनेसे और दानके फलसे मनुष्य इस लोकमें और परलोकमें देवोंके द्वारा पूज्य होता है ॥३४५॥ पूजा करनेसे पहिले गालित जलसे अंग-प्रक्षालन या स्नान करना चाहिए। पुनः देव-पूजनके योग्य धुला हुआ शुद्ध वस्त्र धारण करना चाहिए ॥३४६॥ पुनः काष्ठकी दातुन करनी चाहिए और जलके कुल्लों-द्वारा मुखकी शुद्धि करनी चाहिए। तत्पश्चात् देव-विसर्जन करने तक मौन ग्रहण करना चाहिए ॥३४७॥ जिनमन्दिरमें प्रवेश करने आदिके मंत्रोंका उच्चारण करते हुए धर्म क्षेत्रमें प्रवेश करना चाहिए। पश्चात् ईर्यापथकी शुद्धि करके पूजाको प्रारम्भ करे ॥३४८॥ 'मैं इन्द्र हूँ' ऐसा संकल्प करके और आभूषणोंसे भूषित होकर स्थापनाके मंत्रोंका उच्चारण करते हुए देवकी स्थापना करनी चाहिए ॥३४९॥ पुनः आचार्योंके द्वारा कहे गये मंत्रोंसे दिग्पालोंको आह्वान करके क्षेत्रपालोंसे युक्त यक्ष-यक्षियोंकी स्थापना करे ॥३५०॥ पुनः मंत्र-बीजाक्षरोंसे सकलीकरण करना चाहिए। इस प्रकार सर्व शुद्धि करके शुद्ध आत्मा श्रावक जिन-पूजा प्रारम्भ करे ॥३५१॥

आम, ईख, नारियल, आदिके रसोंसे, दूधसे, घीसे, दहीसे, तथा सुगन्धित जलसे भगवान्‌का अभिषेक करे। तथा अष्ट द्रव्योंसे पूजन करे ॥३५२॥ जलसे, चन्दनसे, शालितन्दुलोंसे, नाना प्रकारके उत्तम पुष्पोंसे, नाना प्रकारके शुभ नैवेद्योंसे दीपों, धूपों और नाना प्रकारके फलोंसे जिनेन्द्र देवकी पूजा की जाती है ॥३५३॥ पूजन करनेवाले पुरुषको उत्तम पुण्योपार्जन करनेकी बुद्धिसे स्वर्ग और मोक्ष रूपको देनेवाले सिद्धचक्र, परमेष्ठिचक्र, रत्नत्रय, अथवा जिन पूजन और श्रुत पूजनको करना चाहिए ॥३५४॥ सर्व कर्मोंके क्षय करनेके इच्छुकजनोंको सर्व अर्थकी सिद्धिके लिए जिनदेवकी सुखस्वरूप सिद्ध भगवान्‌की और जिनोक्त श्रुतज्ञानकी पूजा करनी चाहिए ॥३५५॥ पूजन प्रारम्भ

पूजाभिषेके प्रतिमासु प्राप्ते जिनालये णि देवकार्ये ।
सावद्यरूपं तु वदन्ति येऽपि जनाश्च ते दर्शनघातकाः स्युः ॥३५७

पूजा च विधिमानेन सावद्यं सिन्धुमुष्टिवत् । यथा न शक्यते दूष्यं तथा पुण्यं न दूष्यते ॥३५८

जिनाभिषेकस्य जिनार्चनस्य जिनप्रतिष्ठाजिनकीर्त्तितस्य ।
तत्पुण्यसन्दोहभरं तु नूनं किं वर्णयामि जडमानसोऽहम् ॥३५९

इत्येवमेताः प्रतिमा चतस्रस्तिष्ठन्ति भव्यस्य सुसंयतस्य ।
यत्पञ्चमीयं प्रतिमाविधानं तं कथ्यमानं शृणु मागधेश ॥३६०

अपक्वमर्धपक्वं तु शीतलत्वेन संस्थितम् । हरितं शीतलं तोयं वर्जयेत्पञ्चमे व्रते ॥३६१

दिवाब्रह्म सदा षष्ठे ब्रह्मचर्यं तु सप्तमे । आरम्भादीनि कार्याणि वर्जयेच्चाष्टमे व्रते ॥३६२

नवमे च सुखी गेहे तिष्ठेत्त्यक्त्वा परिग्रहम् ।
दशमेऽनुमतिस्त्याज्या पृथक्त्वं गृहतो मतम् ॥३६३

मुण्डयित्वा मनो मुण्डं त्यक्त्वा स्वोदिष्टभोजनम् ।
पात्रे भिक्षाटनाद् भैक्ष्यं कौपीनं क्षुल्लके व्रतम् ॥३६४

करनेके पूर्व देवोंका आह्वान करके और पूजन करके उनका विसर्जन करे। क्योंकि ये सर्व देव जिनदेवके भक्तजनोंकी सदा शान्तिको करते हैं ॥३५६॥

जो लोग प्रतिमाओंके पूजनमें, अभिषेकमें, जिनालयके निर्माणमें, देव-प्रतिमाके निर्माणमें एवं अन्य देव-सम्बन्धी कार्यमें सावद्यरूप (पापयुक्त कार्य) कहते हैं, वे मनुष्य अपने और दूसरोंके सम्यग्दर्शनके घातक होते हैं ॥३५७॥ जिस प्रकार मुट्ठी भर दूषित वस्तु अपार सिन्धुके जलको दूषित नहीं कर सकती है उसी प्रकार पूजन-विधानसे प्राप्त होनेवाले अपार पुण्यको अल्प सावद्य भी दूषित नहीं कर सकता है ॥३५८॥ जिनाभिषेकका, जिन-पूजनका, जिनप्रतिष्ठाका और जिन-गुण-कीर्तन करनेका जो महान् पुण्य समुदायका भार प्राप्त होता है, उसे मैं जड़ बुद्धिवाला मनुष्य क्या वर्णन कर सकता हूँ ॥३५९॥

इस प्रकार उपर्युक्त यह चार प्रतिमाओंका विधान जिस सुसंयत भव्यजीवके होता है, उसके उक्त चार प्रतिमाएँ रहती हैं। अर्थात् यहाँ तक दार्शनिक, व्रतिक, सामायिक और प्रोषध प्रतिमाका वर्णन किया। अब हे मागधेश श्रेणिक, इससे आगे पंचमी (आदि) प्रतिमाका विधान कहा जाता है सो उसे सुनो ॥३६०॥ जो अन्न, बीज, पत्र, पुष्प आदिक अपक्व है, या अर्द्धपक्व है, या शीतलरूपसे स्थित है, हरित है और जो शीतल (कच्चा) जल है, उस सबको पंचम व्रतमें त्याग करना चाहिए। भावार्थ—किसी भी सचित्त वस्तुको नहीं खाना चाहिए और न सचित्त जल ही पीना चाहिए। यह सचित्त त्याग नामकी पाँचवीं प्रतिमा है ॥३६१॥ छठीं दिवा ब्रह्मचर्यप्रतिमामें सदा दिनको ब्रह्मचर्य धारण करना चाहिए। सातवीं प्रतिमामें सदा ही ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिए, आठवीं आरम्भत्यागप्रतिमामें सेवा, कृषि, वाणिज्य आदि सभी प्रकारके आरम्भ कार्योंका त्याग करना चाहिए ॥३६२॥ नवमीं प्रतिमामें सर्वपरिग्रहका त्याग करके घरमें सुखपूर्वक रहना चाहिए। दशवीं प्रतिमामें गृहकार्योंमें अनुमति देनेका त्याग करना चाहिए। ग्यारहवीं प्रतिमामें घरसे पृथक् होकर, शिर मुड़ाकर मनको भी मुंडितकर और अपने उद्देश्यसे बने हुए भोजनके खानेका त्यागकर पात्रमें भिक्षावृत्तिसे गोचरी करते हुए कौपीन (लँगोटी) को क्षुल्लक

इत्येकादश सम्प्रोक्ताः प्रतिमाः श्रीजिनागमे । सम्यक्त्वेन समायुक्ताः पालनीयाः सुश्रावकैः ॥३६५

इति भव्यमार्गोपदेशोपासकाध्ययने भट्टारकश्रीजिनचन्द्रनामाङ्किते जिनदेव-
विरचिते धर्मशास्त्रे एकादशप्रतिमाविधानकं नाम षष्ठः परिच्छेदः।

●

व्रतमें धारण करना चाहिए ॥३६३-३६४॥ इस प्रकार ये ग्यारह प्रतिमाएँ भी जिनागममें कही गई हैं। इनका उत्तम श्रावकोंको सम्यक्त्वके साथ पालन करना चाहिए ॥३६५॥

इति श्रीभट्टारक जिनचन्द्र-नामाङ्कित, जिनदेव-विरचित भव्यमार्गोपदेश-उपासकाध्ययन
नामक धर्मशास्त्रमें ग्यारह प्रतिमाओंका वर्णन करनेवाला छठा
परिच्छेद समाप्त हुआ।

●

प्रशस्तिः

भव्यः पितृव्यो वरभव्यवन्धुर्भव्येश्वरो भव्यगणाग्रणी यः ।
इन्द्रत्वया (?) इन्द्रतरो विधिज्ञ आमर्द्दकश्रेष्ठियशोधराख्यः ॥ १
स एव वक्ता स च राज्यपूज्यः स एव वैद्यः स च वै   थः ।
स एव जैनागमतत्त्ववेत्ता स एव शास्त्राभयदान   । ॥२

यशोधरकवेः सूक्तं सप्ततत्त्वनिरूपणम् । वसति विधिना प्रोक्तं दृष्ट्वा तं हि मया कृतम् ॥३
लीलया हि यशो येन व्याख्यातं कथितं जने । तेन वोधेन बुद्धानां कवित्वं च प्रजायते ॥४

तस्य प्रसादेन महापुराणं रामायणं भारतवीरकाव्यम् ।
सुदर्शनं सुन्दरकाव्ययुक्तं   ोधरं नागकुमारकाव्यम् ॥५

चरित्रं वसुपालस्य चन्द्रप्रभजिनस्य च । चक्रिणः शान्तिनाथस्य वर्धमानप्रभस्य च ॥६
चरित्रं च वराङ्गस्य ह्यागमं ज्ञानमार्णवम् । आत्मानुशासनं नाम समाधिशतकं तथा ॥७
पाहुडत्रयविख्यातं संग्रहं द्रव्य-भावयोः । कलापं सुप्रतिष्ठायाः ि   ायाः समुदाहृतम् ॥८

एतानि ह्यन्यानि मया श्रुतानि यशोधरश्रेष्ठिप्रभाषितानि ।
तद्-बोधबुद्धेन कृतो मयाऽयं तं शोधनीयं मुनिभिश्च भव्यैः ॥९
श्रेयान्ससोमप्रभवंशजातश्चक्रेश्वरः शान्तिजिनस्वरूपः ।
कुन्थुर्जिनो चक्रधरो ह्यनङ्गोऽनङ्गो तथाऽरो जिनचक्रपाणिः ॥१०

यशोधर नामक आमर्द्दक नगरका जो सेठ है, वह भव्य है, पितृव्य (ग्रन्थकारके पिताका भाई) है, उत्तम भव्यजनोंका वन्धु है, भव्योंका स्वामी है, भव्यजनोंमें अग्रणी है, और इन्द्रत्वरूपसे इन्द्रसे भी श्रेष्ठ है और श्रावककी सर्व विधिका वेत्ता है ॥१॥ वह वक्ता है, वह राज्य-पूज्य है, वह वैद्य है और वैद्योंका स्वामी है, वह जैनागमके तत्त्वोंका वेत्ता है और वही शास्त्रदान और अभयदानका दाता भी हैं ॥२॥ यशोधर कविके जो सूक्त और सात तत्त्वोंका निरूपण यशस्तिलक-चम्पूमें किया गया है उसे देखकर मैंने यह श्रावकाचार का वर्णन विधिपूर्वक इस ग्रन्थमें कहा है ॥३॥ लीला मात्रसे जिसने यशोधर चरितका लोगोंमें व्याख्यान किया, उस वोधसे प्रवुद्ध जनोंके कविपना प्रकट हो जाता है ॥४॥ उस यशोधर सेठके प्रसादसे मैंने महापुराण, रामायण और भारतके वीरोंका काव्य महाभारत (पांडवपुराण), सुन्दरकाव्ययुक्त सुदर्शन चरित यशोधर चरित, नागकुमार काव्य, वसुपाल चरित्र, चन्द्रप्रभजिनका चरित्र, शान्तिनाथ तीर्थंकर और चक्रवर्तीका चरित्र, वर्धमान चरित्र, वराङ्गचरित्र, ज्ञानार्णव, आगम, आत्मानुशासन, समाधि शतक, पाहुड त्रय नामसे विख्यात समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय ये तीनों पाहुड ग्रन्थ, द्रव्यसंग्रह, भावसंग्रह, प्रतिष्ठाकलाप और क्रियाकलाप नामसे जो प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं, इन ग्रन्थोंको तथा यशोवर सेठसे कहे गये अन्य भी ग्रन्थोंको मैंने सुना । उन शास्त्रोंके ज्ञानसे प्रकट हुए वोध से मैंने यह शास्त्र रचा है । मुनिजन और भव्य पुरुष इसमें रही हुई भूलोंको शुद्ध करें, यह मेरी प्रार्थना है ॥५-९॥

श्रेयान्स और सोमप्रभके वंशमें श्री शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ ये तीन तीर्थंकर

तद्-वंशजातो वरवर्धमानः स निर्जितो बन्धुजनैरुदारः ।
तेन स्वयं लज्जितमानसेन त्यक्तं स्वराज्यं पुरदेशयुक्तम् ॥११
स्वगोत्रमित्रैर्नवभिः शतैश्च विशिष्टसेनापतिमन्त्रिवर्गैः ।
सर्वे क्षमन्तु क्षमयामि सर्वं स्वयं वने प्रव्रजितो भवामि ॥१२
तत्सर्वमाकर्ण्य तयोर्भवन्तं स्वलज्जया स्नेहवशाच्च कैश्चित् ।
सर्वैर्मिलित्वा भणितं ह्ययोग्यं तत्पञ्चभिक्षाटन (?) मानभङ्गात् ॥१३
त्वया सह प्रव्रजिता भवन्ति स्वगोत्रमित्रा (?) गुरुबन्धुवर्गाः ।
तदा च देशे प्रसरेति वार्ता हि शक्त्यभावाच्च तपोवनस्थाः ॥१४
गृहस्थितैर्लम्बितबोधतत्त्वैः सम्यक्त्वशीलव्रतसंयुतैश्च ।
स्वर्गोऽपि मोक्षो भवति क्रमेण निःसंशयं पूर्वजिनोक्तमेतत् ॥१५

निजवंशोपकरणार्थं वणिग्वृत्तिश्च तैर्धृता । निरवद्यमिति ज्ञात्वा प्राप्ताः सौराष्ट्रमण्डलम् ॥१६

सौराष्ट्रदेशे वलभीनगर्यां वाणिज्यशुद्धं कृतमादरेण ।
चक्रेश्वरीदेविवरप्रसादात् सुसाधकः सिद्धरसोऽपि सिद्धः ॥१७

द्रव्येणैव जिनेन्द्रमन्दिरवरं संस्थापितं सुन्दरं तं दृष्ट्वा खरवैरिदर्पमथनः पृथ्वीश्वरो जल्पति ।
यत्पुण्यं वरशान्तिदेवतिलकाज्जातं तदेव ध्रुवं पुण्यं नैव ददासि यास्यसि वनं त्यक्त्वा च देशं पुरम् ॥१८
तं ज्ञात्वा वर-वर्धमानवणिजः क्रुद्धोऽप्ययं जल्पति राजन् राजकुले धनश्रियमदे तिष्ठामि नोऽहं सदा ।
कर्तव्यं निजनाम सुंदरपुरं (?) आज्ञां स्वगोत्रान्वितां उद्वासं समभिश्रितेन भवने देशं मदीयं पुरम् ॥१९

उत्पन्न हुए, जो कि चक्रवर्ती भी थे और कामदेव भी थे ॥१०॥ उनके वंशमें श्रेष्ठ वर्धमान हुए। वह उदार पुरुष बन्धु जनोंके द्वारा जीत लिया गया। तब लज्जित चित्त होकर उसने स्वयं नगर और देशसे युक्त अपने राज्यको छोड़ दिया ॥११॥ तब वह सबको क्षमा कर और सबसे क्षमा मांगकर नौसौ स्वगोत्रीय जनों और मित्रोंके साथ विशिष्ट सेनापति और मंत्रिवर्गोंके साथ यह कह कर निकला कि मैं वनमें जाकर स्वयं दीक्षित होता हूँ ॥१२॥ यह सब सुनकर अपनी लज्जासे और उनके स्नेहके वशसे कितने ही लोगोंने मिलकर उनसे प्रार्थना की कि पाँच घरोंसे भिक्षा माँग कर जीवन-यापन करना अयोग्य है, इसमें मानका भंग होता है ॥१३॥ उन लोगोंने कहा—तुम्हारे साथ अपने गोत्रके लोग, मित्रगण, गुरुजन और बन्धुवर्ग दीक्षित होता है, यह बात सारे देशमें फैल गई है। किन्तु वे शक्तिके अभावसे वनमें रह रहे हैं, अर्थात् मुनिदीक्षा ग्रहण करनेमें असमर्थ हैं ॥१४॥ अतः तत्त्वोंका परिज्ञान करके सम्यक्त्वके साथ व्रत और शीलसे संयुक्त होकर घरमें रहें। इस श्रावकधर्मसे स्वर्ग प्राप्त होता है और पीछे अनुक्रमसे मोक्ष भी प्राप्त होता है, यह बात निःसंशय रूपसे जिनदेवने कही है ॥१५॥ तब उन लोगोंने अपने वंशके उद्धारके लिए वणिग्-वृत्ति धारण की और सौराष्ट्र देश निरवद्य है, ऐसा जानकर वे वहाँ पहुँचे ॥१६॥

सौराष्ट्र देशमें जो वलभी नगरी है, वहाँपर आदरके साथ उन्होंने शुद्ध वाणिज्य करना प्रारम्भ किया। वहाँपर उन्हें चक्रेश्वरी देवीके वरके प्रसादसे सर्वकार्योंको सिद्ध करनेवाला सिद्ध-रस भी सिद्ध हो गया ॥१७॥ तब वहाँपर उन्होंने अपने द्रव्यसे उत्तम सुन्दर जिनेन्द्रदेवका मन्दिर स्थापित किया। उसे देख कर प्रखर वैरियोंके दर्पका मथन करनेवाला राजा बोला—उत्तम शान्तिनाथ देवके प्रसादसे जो पुण्य तुमने उपार्जन किया है, यदि वह पुण्य तुम मुझे नहीं देते हो, तो यह नगर और देश छोड़कर तुम्हें वनमें जाना पड़ेगा ॥१८॥ यह जानकर क्रोधित हुए उस

इति ॒ ा ॆ निःसृतो पूर्वजैः सह । प्राप्तो मालवकं देशं रस पुरान्वितम् ॥२०
धारानगर्यां वरराजवंशे वीरालयालङ्कृतवीरभद्रः ।
ज्ञात्वा गजेन्द्राख्यपुराधिपोऽयं स पूजितो मानधनैश्च रत्नैः ॥२१
नामाङ्कितं तत्र पुरं गोत्रतयाऽन्वितम् । तद्वर्ततेऽद्यापि वर्धमानपुरं महत् ॥२२
तस्मिन् वंशे महाशुद्धे दुर्गसिंहो नरोत्तमः । पुर्यादित्यो हि तज्ज त्सुतो देवपालकः ॥२३
देवपालसुतो जातः स्यातपः श्रेष्ठि चोच्यते । तत्प्रसूतास्त्रयः पुत्राः धनेशः पोमणस्तथा ॥२४
णश्रेष्ठि विख्यात इन्द्रशीलक्षमान्वितः । तत्सुतो हि महाप्राज्ञः यशोधरपदाङ्कितः ॥२५

(अपूर्ण)

वर्धमान वैश्यवरने कहा—हे राजन्, मैं राजकुलमें धन-लक्ष्मीके मदमें कभी नहीं रहता हूँ। अपने गोत्रजोंकी आज्ञासे अपने नामसे युक्त सुन्दर नगरका निर्माण मुझे करना चाहिए और अपने देश और नगरके भवनोंमें सबके साथ जाकर मुझे निवास करना चाहिए ॥१९॥ इस प्रकार क्रोधित होकर वह अपने पूर्वजोंके साथ सौराष्ट्र देशसे निकला और रसोंके स्थानभूत नगरोंसे युक्त मालव देशको प्राप्त हुआ ॥२०॥ वहाँ मालवदेशमें धारानगरीमें श्रेष्ठ राजवंशमें वीरलक्ष्मीसे अलंकृत वीरभद्र नामका जो गजेन्द्रनगरका स्वामी राजा था, उसे जाकर सन्मानरूप धनसे और रत्नोंसे पूजा ॥२१॥

वहाँ पर अपने नामसे अंकित गोत्ररूपसे युक्त 'वर्धमानपुर' नामका महानगर बसाया, जो कि आज भी विद्यमान है ॥२२॥ उसी महान् विशुद्ध वंशमें दुर्गसिंह नामका नरोत्तम हुआ। उससे पुर्यादित्य हुआ और उसका देवपालक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥२३॥ देवपालका पुत्र स्यातप नामका सेठ उत्पन्न हुआ। उसके तीन पुत्र उत्पन्न हुए—धनेश, पोमाण और लाखण सेठ। इनमें विख्यात लाखण सेठ इन्द्रके समान शील और क्षमासे युक्त था। उसका पुत्र महान् बुद्धिमान् यशोधर नामसे अंकित उत्पन्न हुआ ॥२४-२५॥

परिशिष्ट

कुन्दकुन्दाचार्य-रचित चारित्र ाभृतगत ाव ाचार

दुविहं संजमचरणं सायारं तह हवे णिरायारं। सायारं सग्गंथे परिग्गहा-रहिय ु णिरायारं ॥१

दंसण सामाइय पोसह सच्चित्त-राय य।
बंभारंभ-परिग्गह-अणुमण-उद्दिट्ठ देसविरदो य ॥२

पंचेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि। ि चत्तारि मचरणं च सायारं ॥३

थूले तसकायवहे थूले मोसे तिति ् य। परिहारो परपिम्मे परिग्गहारंभपरिमाणं ॥४

दिसि विदिसि माण ऊणत्थदंडस्स वज्जणं विदियं।
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥५

इयं च विदियं च तहेव पोसहं भणियं। तइयं अतिहिपुज्जं त्थ सल्लेहणा अंते ॥६

एवं घम्मं उदेरि सयलं। [सुद्धं संज रणं जइधम्मं णि वोच्छे ॥७]

संयम चरण दो प्रकारका है—सागारसंयमचरण और अनगारसंयमचरण। सागार संयमचरण परिग्रह-धारी गृहस्थोंके होता है और अनगार संयमचरण परिग्रह-रहित अनगार मुनियोंके होता है ॥१॥

सागारसंयमचरणके ग्यारह भेद हैं—१ दर्शन प्रतिमा, २ व्रत प्रतिमा, ३ सामायिक प्रतिमा, ४ प्रोषधप्रतिमा, ५ सचित्त त्यागप्रतिमा, ६ रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमा, ७ ब्रह्मचर्य प्रतिमा, ८ आरम्भत्याग प्रतिमा, ९ परिग्रहत्याग प्रतिमा, १० अनुमति त्यागप्रतिमा और ११ उद्दिष्ट त्यागप्रतिमा। इन सब प्रतिमाओंके धारक देशविरत, संयतासंयत, उपासक, श्रावक और सागार संयमाचरणी कहलाते हैं ॥२॥

सागार संयम चरणका धारक श्रावकके पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार बारह व्रत होते हैं ॥३॥ स्थूल त्रसकायिक जीवोंकी हिंसाका त्याग करना प्रथम अणुव्रत है। स्थूल झूठ बोलनेका त्याग करना दूसरा अणुव्रत है। स्थूल चोरीका त्याग करना तीसरा अणुव्रत है। परस्त्रीका त्याग करना चौथा अणुव्रत है और परिग्रह-आरम्भका परिमाण करना पाँचवाँ अणुव्रत है ॥४॥

दिशा-विदिशामें जीवनभरके लिए गमनागमनका प्रमाण करना प्रथम गुणव्रत है। अनर्थक पापोंका त्याग करना दूसरा गुणव्रत है और भोग-उपभोगकी वस्तुओंका परिमाण करना तीसरा गुणव्रत है ॥५॥

प्रतिदिन सामायिक करना प्रथम शिक्षाव्रत है। पर्वोंके दिन उपवास करना दूसरा शिक्षाव्रत है। अतिथिजनोंकी आहारादिके द्वारा पूजा सेवा वैयावृत्य आदि करना तीसरा शिक्षाव्रत है और जीवनके अन्तमें सल्लेखना करना चौथा शिक्षाव्रत कहा गया है ॥६॥

इस प्रकार श्रावकधर्मरूप सागारसंयमचरणको कहा। अब आगे यतिधर्मरूप अनगार संयमचरणको कहेंगे ॥७॥

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥१॥ देशसर्वतोऽणुमहती ॥२॥ तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥३॥ वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननि मित्यालोकितपानभोजनानि ॥४॥ क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानात्यनुविचिभ च पञ्च ॥५॥ शून्यागारविमोचितावासपरोपपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः पञ्च ॥६॥ स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गवीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्टे स्व स्वशरीर रत्यागाः पञ्च ॥७॥ मनो नोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ॥८॥

हिंसादिष्विहामुत्रापाय नम् ॥९॥ दुःखमेव वा ॥१०॥ मैत्रीप्रमोदकारुण ध्य-

---

हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पापोंसे विरक्त होना व्रत है ॥१॥ उक्त पापोंके एक देशसे विरक्त होना अणुव्रत है और सर्वरूपसे विरक्त होना महाव्रत है ॥२॥ इन व्रतोंकी स्थिरताके लिए पाँच-पाँच भावनाएँ होती हैं ॥३॥ वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदान निक्षेपण समिति और आलोकितपानभोजन ये अहिंसाव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं ॥४॥ क्रोधत्याग, लोभत्याग, भयत्याग, हास्यत्याग और अनुवीचिभाषण (विचारपूर्वक बोलना) ये सत्यव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं ॥५॥ शून्यागार-पर्वतकी गुफा, वृक्षकी खोह और सूने मकान आदिमें निवास करना, परके द्वारा छोड़े गये मकान आदिमें रहना, दूसरेको उसमें आनेसे नहीं रोकना, भिक्षाकी शुद्धि रखना और साधर्मियोंके साथ 'यह मेरा, यह तेरा', ऐसा कह करके विसंवाद नहीं करना ये पाँच अचौर्यव्रतकी भावनाएँ हैं ॥६॥ स्त्रीराग कथाश्रवणत्याग, उनके मनोहर अंगोंके देखनेका त्याग, पूर्वमें भोगे गये विषयोंके स्मरणका त्याग, गरिष्ठ रसवाले भोजनका त्याग और अपने शरीरके संस्कारका त्याग ये पाँच ब्रह्मचर्यव्रतकी भावनाएँ हैं ॥७॥ पाँचों इन्द्रियोंके इष्ट विषयोंमें रागका और अनिष्ट विषयोंमें द्वेषका त्याग करना, अपरिग्रहव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं ॥८॥

हिंसादिक पापोंके विषयमें ऐसा विचार करना चाहिए कि ये पाँचों पाप इस लोक और परलोकमें अपाय और अवद्यके करनेवाले हैं ॥९॥

विशेषार्थ—अभ्युदय और निःश्रेयसके साधनोंके नाशक अनर्थोंको अपाय कहते हैं। इस लोकभय, परलोकभय आदि सात प्रकारके भयोंको भी अपाय कहते हैं। लोक-निन्द्य कार्यको अवद्य कहते हैं। अतः हिंसादि पापोंके विषयमें ऐसा विचार करना चाहिए कि हिंसा करनेवाला नित्य उद्विग्न रहता है, उसके अनेक वैरी सदा बने रहते हैं, वह इसी लोकमें वध-बन्धनादिके दुःखोंको पाता है और मरकर दुर्गतिमें जाता है एवं लोकमें निन्दनीय भी होता है। अतः हिंसासे विरक्त होना ही श्रेयस्कर है। असत्यभाषीका कोई विश्वास नहीं करता, उसे यहींपर राजदण्ड भोगना पड़ता है और परभवमें भी दुर्गतिमें दुःख सहने पड़ते हैं और निन्दाका पात्र होता है। अतः असत्य नहीं बोलनेमें ही मेरा भला है। चोर का सब तिरस्कार करते हैं। उसे यहींपर मार-पीट, बध-बन्धनादि नाना प्रकारके दुःख भोगने पड़ते है, लोकमें निन्दा होती है और परभवमें खोटी योनियोंमें जाना पड़ता है। अतः चोरीसे विरक्त होना ही भला है। कुशीलसेवी मदोन्मत्त हाथीके समान

स्थ्यानि च सत्त्वगुणाधि क्लिश्यमानाविनयेषु ॥११॥ जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥१२॥ त्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥१३॥ असदभिधानमनृ ॥१४॥ अदत्तादानं स्ते ॥१५॥ मैथुनमब्रह्म ॥१६॥ मूर्च्छा परिग्रहः ॥१७॥
निःशल्यो व्रती ॥१८॥ र्यनगारश्च ॥१९॥ अ तोऽगारी ॥२०॥ दिग्देशानर्थदण्डविरति-

---

स्त्रियोंके पीछे घूमता रहता है और व्यभिचारके करनेसे मारण-ताड़नादिको प्राप्त होता है, लोकमें निन्दित होता है, और परलोकमें दुर्गतियोंके दुःख भोगने पड़ते हैं। अतः अब्रह्मसे विरक्त होना ही श्रेयस्कर है। परिग्रही पुरुष मांस-खण्डको लिए हुए पक्षीके समान अन्य पक्षियोंके द्वारा झपटा जाता है, चोर-डाकुओंके द्वारा लूटा जाता है, धनके अर्जन, रक्षण और विनाशमें उत्तरोत्तर असंख्य गुणी पीड़ा भोगनी पड़ती है। जैसे इन्धनसे अग्नि कभी तृप्त नहीं होती, वैसे ही परिग्रहसे मनुष्यकी कभी तृष्णा पूरी नहीं होती। लोक तृष्णावान्की यहीं नन्दा करते हैं और मरकर दुर्गतिमें दुःख भोगने पड़ते हैं। अतः परिग्रहसे विरक्त होना ही कल्याणकारी है। इस प्रकार हिंसादि पाँचों पापोंमें अपाय और अवद्यकी भावना करनेसे अहिंसादिव्रतोंमें निर्मलता और स्थिरता आती है।

अथवा ऐसी भावना करे कि ये हिंसादिक पाप दुःखरूप ही हैं ॥१०॥

विशेषार्थ—जैसे प्राण-धारणके कारणभूत अन्नको प्राण कह देते हैं, उसी प्रकार दुःखके कारणभूत हिंसादिमें कार्यभूत दुःखका उपचार करके उन्हें दुःख कहा गया है। अतः व्रती ज्ञानी पुरुष ऐसा विचार करे कि जैसे वध-बन्धनादि मुझे अप्रिय एवं असह्य हैं, वैसे ही ये दूसरोंको भी अप्रिय और असह्य होते हैं। जैसे असत्यभाषण मुझे अप्रिय और असह्य है, वैसे ही वह दूसरोंको भी होता है। जैसे धनादिका चोरी जाना मेरे लिए दुःखदायी है, वैसे दूसरोंको भी है। जैसे मेरी बहिन बेटीके साथ अन्यके द्वारा व्यभिचार किये जानेपर मुझे दुःख होता है उसीप्रकार औरोंकी बहिन-बेटियोंके साथ मेरे द्वारा व्यभिचार किये जानेपर उन्हें भी दुःख होता है। दूसरोंके द्वारा परिग्रहका संचय करनेपर मुझे पर्याप्त भोगोपभोगकी सामग्री नहीं मिलनेसे दुःख होता है, वैसे ही मेरे द्वारा परिग्रहका संचय करनेपर दूसरोंको भी अभावजनित दुःख होता है। अतः ये हिंसादि पाप स्वयं दुःख रूप भी हैं और दुःखोंके कारण भी हैं, ऐसा विचार करनेसे मनुष्यका मन हिंसादि पापोंसे विरक्त होता है और उसके स्वीकृत व्रतोंमें निर्मलता एवं स्थिरता आती है।

तथा व्रतोंकी निर्मलता एवं स्थिरताके लिए प्राणिमात्रपर मैत्रीभाव, गुणीजनोंपर प्रमोदभाव, दुःखी जीवोंपर करुणाभाव और अविनयी (विपरीत वृत्ति वाले) लोगोंपर मध्यस्थ भाव रखना चाहिए ॥११॥ इसी प्रकार संवेग और वैराग्यकी प्राप्तिके लिए जगत् और कायके स्वभावका विचार करना चाहिए ॥१२॥

अब आचार्य हिंसादि पापोंका स्वरूप कहते हैं—प्रमत्तयोगसे अपने या दूसरेके प्राणोंका घात करना हिंसा है ॥१३॥ असत्य कहना अनृत (झूठ पाप) है ॥१४॥ विना दिये दूसरेकी वस्तुको ग्रहण करना स्तेय (चोरी) है ॥१५॥ मैथुन सेवन करना अब्रह्म (कुशील) पाप है ॥१६॥ चेतन-अचेतन वस्तुओंमें ममताभाव रखना परिग्रह है ॥१७॥

जो माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्योंसे रहित होता है, वही व्रती कहलाता है ॥१८॥ व्रती पुरुष दो प्रकारके होते हैं—अगारी (गृहस्थ) और अनगारी (मुनि) ॥१९॥ अहिंसादि पांच अणुव्रतोंका धारक अगारी कहलाता है। अर्थात् जो स्थूल हिंसादि पापोंका त्याग करता है,

सामायिकप्रोषधो सोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंवि श्च ॥२१॥ मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥२२॥

शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥२३॥ व्रतशीलेषु यथाक्रमम् ॥२४॥ वन्धवधच्छेदाति रारोपणान्नपाननिरोधाः ॥२५॥ मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ॥२६॥ स्तेनप्रयोगतदाहृ नविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्म तिरू व्यवहाराः ॥२७॥ परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडा तीव्राभिनिवेशाः ॥२८॥ क्षे स्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्य -णातिक्रमाः ॥२९॥

ऊर्ध्वाऽधस्तिर्यग्व्यति मक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ॥३०॥ अ नप्रेष्यप्रयोगशव्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥३१॥ कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥३२॥

उसे अणुव्रती कहते हैं ॥२०॥ ऐसा अणुव्रती गृहस्थ दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत, सामायिकव्रत, प्रोषधोपवासव्रत, उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत और अतिथिसंविभागव्रत इन सात शीलव्रतोंसे भी सम्पन्न होता है ॥२१॥ उक्त व्रतोंके धारक गृहस्थको मरणके समय होनेवाली सल्लेखनाको प्रीतिके साथ धारण करना चाहिए ॥२२॥

व्रतमें दोष लगनेको अतीचार कहते हैं। अतः आचार्य उनसे बचनेके लिए सम्यक्त्व और व्रतोंके अतीचारोंका निरूपण करते हैं—

जिनोक्त तत्त्वमें शंका करना, धर्म धारणकर उससे भोगोंकी आकांक्षा रखना, धर्मात्माओंसे ग्लानि करना, मिथ्यादृष्टियोंकी मनसे प्रशंसा करना और वचनसे उनकी स्तुति करना, ये सम्यग्दर्शनके पाँच अतीचार हैं ॥२३॥ पाँच व्रतों और सात शीलोंमें भी पाँच-पाँच अतीचार होते हैं, वे यथा क्रमसे इस प्रकार हैं ॥२४॥ बाँधना, मारना, अंग छेदना, अधिक भार लादना और अन्न-पानका निरोध करना ये अहिंसाणुव्रतके पाँच अतीचार हैं ॥२५॥ मिथ्योपदेश, रहोऽभ्याख्यान, कूटलेख क्रिया, न्यासापहार और साकारमंत्रभेद ये पाँच सत्याणुव्रतके अतीचार हैं ॥२६॥ चोरीके लिए भेजना, चोरीसे लाये गये धनको लेना, राज्यनियमोंके विरुद्ध प्रवृत्ति करना, हीनाधिक नापना-तोलना, और असली वस्तुमें नकली वस्तु मिलाकर बेंचना, ये पाँच अचौर्याणुव्रतके अतीचार हैं ॥२७॥ दूसरोंका विवाह करना, परिगृहीता व्यभिचारिणीके यहाँ गमन करना, अपरिगृहीता व्यभिचारिणीके यहाँ गमन करना, अनंग-क्रीड़ा करना और कामसेवनमें तीव्र अभिलाषा रखना, ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतीचार हैं ॥२८॥ क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, धन-धान्य, दासी-दास और कुप्य (वस्त्रादिक) के स्वीकृत प्रमाणका अतिक्रमण करना, ये परिग्रहपरिमाणाणुव्रतके पाँच अतीचार हैं ॥२९॥

ऊर्ध्व दिशाकी सीमाका अतिक्रम करना, अधोदिशाकी सीमाका उल्लंघन करना, तिरछी दिशाओंकी सीमाका उल्लंघन करना, क्षेत्रकी सीमा बढ़ा लेना और स्वीकृत सीमाका भूल जाना, ये पाँच दिग्व्रतके अतीचार हैं ॥३०॥ संकल्पित देशके वाहिरसे किसी वस्तुको मँगाना, किसीको सीमाके वाहिर भेजना, सीमाके वाहिर स्थित पुरुषको शब्दसे संकेत करना, रूप दिखाकर संकेत करना और पुद्गल (कंकर-पत्थरादि) फेंककर संकेत करना, ये पाँच देशव्रतके अतीचार हैं ॥३१॥ कन्दर्प (हास्य युक्त वचन वोलना) कौत्कुच्च (कायकी कुचेष्टा करना) यद्वा तद्वा बकवाद करना,

योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥३३॥ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥३४॥ सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ॥३५॥ सचि - निक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्य ातिक्रमाः ॥३६॥ जीवि रणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥३७॥

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दा ॥३८॥ विधि विशेषात्तद्विशेषः ॥३९॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्ष मोऽध्यायः ।

●

विना देखे शोधे विचारे मन वचन कायकी निरर्थक क्रिया करना और उपभोग-परिभोगकी अनावश्यक वस्तुओंका संग्रह करना, ये पाँच अनर्थदण्डव्रतके अतीचार हैं ॥३२॥

सामायिक करते समय मनका खोटा उपयोग रखना, अशुद्ध वचन बोलना, कायका डांवाडोल रखना, सामायिक में आदरभाव नहीं रखना और कभी-कभी सामायिक करना भूल जाना, ये सामायिकव्रतके पाँच अतीचार हैं ॥३३॥ प्रोषधोपवासके दिन विना देखे विना शोधे किसी वस्तुको रखना, उठाना और बिछाना, उपवासमें आदरभाव नहीं रखना, तथा पर्वके दिन कभी-कभी उपवास करना भूल जाना ये पांच प्रोषधोपवास व्रतके अतीचार हैं ॥३४॥ सचित्ताहार, सचित्त सम्बद्धाहार, सचित्तसन्मिश्राहार, अभिषवाहार (उत्तेजक भोजन) और दुःपक्वाहार, ये पांच उपभोगपरिभोग परिमाण व्रतके अतीचार हैं ॥३५॥ सचित्त पत्रादिपर भोज्य वस्तुका रखना, सचित्त पत्रादिसे आहारका ढांकना, दूसरे भी दाता हैं, ऐसा कहना, दानमें मात्सर्यभाव रखना और भिक्षाकालका अतिक्रमण करना, ये पांच अतिथिसंविभाग व्रतके अतीचार हैं ॥३६॥ सल्लेखना धारण करनेके पश्चात् जीनेकी आशा करना, मरनेकी अभिलाषा करना, मित्रोंमें अनुराग रखना, पूर्व भोगे हुए सुखोंका स्मरण करना और निदान करना ये पांच अतिथिसंविभागव्रतके अतीचार हैं ॥३७॥

अब दानका स्वरूप कहते हैं—

अपने और परके उपकारके लिए धनके त्याग करनेको दान कहते हैं ॥३८॥ इस दानमें विधि, द्रव्य, दाता और पात्रको विशेषतासे विशेषता होती है ॥३९॥

भावार्थ—जैसी हीनाधिक विधिसे शुद्ध-अशुद्ध द्रव्य उत्तम-मध्यम गुणोंका धारक दाता उत्तम, मध्यमादि पात्रोंको दान देगा, तदनुसार ही उसके दानके फलमें भी भेद हो जायगा।

इस प्रकार तत्त्वार्थाधिगम मोक्षशास्त्रमें श्रावकाचारका वर्णन करनेवाला
सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

●

श्री शिवकोटि-विरचिता रत्नमाला

सर्वज्ञं सर्ववागीशं वीरं मारमदापहम् । प्रणमामि महामोहशान्तये मुक्तताप्तये ॥१
सारं यत्सर्वशास्त्रेषु वन्द्यं न्दितेष्वपि । अनेकान्तमयं वन्दे तदर्हद्वचनं सदा ॥२
सदावदातमहिमा ध्यानपरायणः । सिद्धसेनमुनिर्जीयाद् भट्टारकपदेश्वरः ॥३
स्वामी समन्तभद्रो मेऽहर्निशं मानसेऽनघः । तिष्ठताज्जिनराजोद्यच्छासनाम्बुधिचन्द्रमाः ॥४
वर्धमानजिनाभावाद् भारते भव्यजन्तवः । कृतेन येन राजन्ते तदहं कथयामि वः ॥५
सम्यक्त्वं जन्तूनां श्रेयः श्रेयःपदार्थिनाम् । विना तेन व्रतः ोऽप्यकल्प्यो मुक्तिहेतवे ॥६
निर्विकल्पश्चिदानन्दः परमेष्ठी सनातनः । दोषातीतो जिनो देवस्तदुपज्ञं श्रुतिः परा ॥७
दिगम्बरो निरारम्भो नित्यानन्दपदार्थनः । धर्मदिक् कर्मधिक् साधुर्गुरुरित्युच्यते बुधैः ॥८
अमीषां पुण्यहेतूनां श्रद्धानं तन्निगद्यते । तदेव परमं तत्त्वं तदेव परमं पदम् ॥८
विरत्या संयमेनापि हीनः सम्यक्त्ववान् नरः । स देवं याति कर्माणि शीर्णयत्येव सर्वदा ॥१०

सर्वज्ञ, सर्वविद्याओंके ईश्वर, और कामदेवके मदका विनाश करनेवाले ऐसे श्री वीरप्रभुको अपने महामोहकी शान्तिके लिए और मुक्तिकी प्राप्तिके लिए मन-वचन कायसे नमस्कार करता हूँ ॥१॥ जो सर्वशास्त्रोंमें सारभूत है, और वन्दनीयोंमें भी वन्दनीय है, ऐसे अनेकान्तमयी अर्हत्-प्रवचनको मैं सदा वन्दना करता हूँ ॥२॥ जो सदा निर्मल धवल महिमावाले हैं, सदा ध्यानमें तत्पर रहते हैं और भट्टारकपदके ईश्वर हैं, ऐसे सिद्धसेन मुनि चिरकाल तक जीवित रहें ॥३॥ जो जिनराजसे प्रकट हुए शासनरूप सागरको वढ़ानेके लिए चन्द्रमाके समान हैं ऐसे निर्दोष समन्तभद्रस्वामी मेरे मानसमें रात-दिन विराजमान रहें ॥४॥

आज भारतवर्षमें श्री वर्धमान जिनेन्द्रका अभाव होनेसे भव्य प्राणी जिसके धारण करनेसे शोभाको प्राप्त होते हैं, उस सम्यक्त्वका वर्णन मैं तुम श्रोताओंके लिए कहता हूँ ॥५॥ निःश्रेयस-पदके इच्छुक सर्वप्राणियोंका सम्यक्त्व ही कल्याणकर्त्ता है। क्योंकि उसके विना धारण किये गये सभी व्रत मुक्तिके लिए कल्पनीय नहीं हैं, अर्थात् मुक्तिके कारण नहीं हैं ॥६॥

अव ग्रन्थकार सत्यार्थदेवशास्त्र गुरुका यथार्थ श्रद्धान ही सम्यक्त्व है, यह वताते हुए उनका स्वरूप कहते हैं—जो सर्वविकल्पोंसे रहित हैं, सत्-चिद्-आनन्दमय है, परमपदमें स्थित हैं, ऐसे जिनेन्द्र देव ही सच्चे देव हैं। और उनके द्वारा प्रज्ञप्त द्वादशाङ्गरूप वाणी ही सर्वश्रेष्ठ श्रुति (आगम) है। जो दिगम्बर अर्थात् सर्वपरिग्रहसे रहित हैं, सर्वप्रकारके आरम्भोंसे भी रहित हैं, नित्य आनन्दस्वरूप पद (मोक्ष) के अर्थी हैं, धर्मका उपदेश देते हैं, और कर्मोंका विनाश करते हैं ऐसे साधुको ही ज्ञानिजन गुरु कहते हैं ॥७-८॥ पुण्यके कारणभूत इन तीनोंका श्रद्धान ही सम्यक्त्व कहा जाता है। यह सम्यक्त्व ही परमतत्त्व है और यही परमपद है ॥९॥ क्योंकि विरति (चारित्र) और संयमसे रहित भी सम्यक्त्ववान् मनुष्य देवपदको प्राप्त होता है और सर्वदा पूर्वोपार्जित कर्मोंकी निर्जरा करता है ॥१०॥ यदि सम्यक्त्वके प्राप्त करनेके पूर्व किसीसे आगामी भवकी आयु नहीं वँधी है, तो उस जीवकी सातों नरकभूमिमें, मिथ्यादृष्टियोंके उत्पन्न होनेके योग्य ऐसे तीनों

अवद्धायुष्कपक्षे तु नोत्पत्तिः भूमिषु । मिथ्योपपादत्रितये स्त्रीषु च नान्यथा ॥११
महाव्रताणु योरुपलब्धिर्निरीक्ष्यते । स्वर्गेऽन्यत्र न सम्भाव्यो लेशोऽपि धीधनैः ॥१२
संवेगादिपरः शान्तस्तत्त्वनिश्चयवान्नरः । जन्तुर्जन्मजरातीतां पदवीमवगाहते ॥१३
व्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतानि चत्वारीत्येवं द्वादशधा व्र ॥१४
हिं ोऽसत्यतश्चौर्यात् परनार्याः परिग्रहात् । विमतेर्विरतिः पञ्चाणुव्रतानि गृहेशिनाम् ॥१५
गुणव्रतानामाद्यं स्याद्दिग्व्रतं तद्द्वितीयकम् । अनर्थदण्डविरतिस्तृतीयं प्रणिगद्यते ॥१६
भोगोपभोगसंख्यानं शिक्षाव्रतमिदं भवेत् । सामायिकं प्रोषधोपवासोऽतिथिषु पूजनम् ॥१७
मारणान्तिकसल्लेख इत्येवं तच्चतुष्टयम् । देहिनः स्वर्गमोक्षैकसाधनं निश्चित म् ॥१८
मांसमधुत्यागसंयुक्ताणुव्रतानि नुः । ौ गुणाः पञ्चोदुम्बरैश्चार्भकेष्वपि[1] ॥१९
वस्त्रपूतं जलं पेयमन्यथा पापकारणम् । नेऽपि शोधनं वारः करणीयं दयापरैः ॥२०
प्रति : पालनीयाः स्युरेकादश गृहेशि । अपवर्गाधिरोहाय सोपानन्तीह ताः पराः ॥२१
कलौ काले वने वासो वर्ज्यते मुनिसत्तमैः । स्थीयते च जिनागारे ग्रामादिषु विशेषतः ॥२२
तेषां नैर्ग्रन्थ्यपूतानां मूलोत्तरगुणार्थिनाम् । नानायतिनिकायानां छद्मस्थज्ञानराजिनाम् ॥२३
यमशौचादिहेतूनां प्रासुकात्मनाम् । पुस्तपिञ्छकमुख्यानां दानं दातुर्विमुक्तये ॥२४

उपपादजन्मवालोंमें अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंमें और सर्वप्रकारकी स्त्रियोंमें उत्पत्ति नहीं होती है, यह शास्त्र-वचन अन्यथा नहीं है ॥११॥ महाव्रत और अणुव्रतकी प्राप्ति एक मात्र इस भूलोकमें ही देखी जाती है, स्वर्गमें या अन्यत्र (नरकमें) तो वुद्धिके धनी ऐसे देवों या नारकियोंके तो व्रतका लेश भी संभव नहीं है ॥ १२॥ जो प्रशम संवेग आदि गुणोंका धारक है, शान्त चित्त है, तत्त्वोंका दृढ निश्चय वाला है, ऐसा जीव ही जन्म-जरासे रहित पदवीको प्राप्त करता है ॥१३॥

पाँच अणुव्रत, तीन प्रकारके गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये वारह प्रकारके श्रावक-व्रत होते हैं ॥१४॥ हिंसासे, असत्यसे, चोरीसे, परनारीसे, परिग्रहसे और विमति अर्थात् मिथ्यात्व बुद्धिसे अथवा पाप वुद्धिसे विरति होना गृहस्थोंके पाँच अणुव्रत कहलाते हैं ॥१५॥ तीन गुणव्रतोंमें पहिला दिग्व्रत है, दूसरा अनर्थदण्ड विरति है और तीसरा भोगोपभोग संख्यान कहा गया है। सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिपूजन और मारणान्तिकी सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत कहे गये हैं। निश्चित क्रमवाले ये वारह व्रत प्राणीके स्वर्ग और मोक्षके अद्वितीय साधन हैं ॥१६-१८॥

मद्य, मांस, मधुके त्यागसे संयुक्त पाँचों अणुव्रत मनुष्योंके आठ मूलगुण कहे गये हैं। पाँच उदुम्बर फलोंके साथ मद्य, मांस, मधुके त्यागरूप आठ मूलगुण तो बालकों और मूर्खोंमें भी होते हैं ॥ १९॥ मनुष्योंको सदा वस्त्रसे पवित्र (गाला—छना हुआ) जल ही पीना चाहिए। अन्यथा अगालित जल पीना पापका कारण है। स्नानमें भी दयातत्पर जनोंको जलका शोधन (गालन) करना चाहिए ॥२०॥ मनुष्योंको श्रावकोंकी ग्यारह प्रतिमाएँ पालन करना चाहिए। क्योंकि ये प्रतिमाएँ अपवर्ग (मोक्ष) रूप महलपर आरोहण करनेके लिए उत्तम सोपान-पंक्तिरूप हैं ॥२१॥ श्रेष्ठ मुनियोंके द्वारा कलिकालमें वनवास छोड़ा जा रहा है, वे जिनालयमें और विशेषतया ग्रामादिकमें रहने लगे हैं। ऐसे उन निर्ग्रन्थतासे पवित्र, मूल और उत्तर गुणोंके अभिलाषी, और छद्मस्थ-ज्ञानवाले नाना प्रकारके साधु-समूहोंको ज्ञान, संयम और शौच आदिके कारणभूत प्रासुक स्वरूपवाले पुस्तक,

१. अर्भकस्तु मतो डिम्भे मूर्खे भ्रूणे कृशेऽपि च, विश्वलोचनकोश।

येनाद्यकाले यतीनां वैयावृत्यं कृतं मुदा । तेनैव शासनं जैनं प्रोद्धृतं शर्मकारणम् ॥२५
उत्तुङ्गतोरणोपेतं चैत्यागारमघक्षयम् । कर्त्तव्यं श्रावकैः शक्त्यामरादिकमपि स्फुटम् ॥२६
येन श्रीमज्जिनेशस्य चैत्यागारमनिन्दितम् । कारितं तेन भव्येन स्थापितं जिनशासनम् ॥२७
गोभूमिस्वर्णकच्छादिदानं वसतयेऽर्हताम् । कर्तव्यजीर्णचैत्यादिसमुद्धरणमप्यदः ॥२८
सिद्धान्ताचारशास्त्रेषु वाच्यमानेषु भक्तितः । धनव्ययो व्ययो नृणां जायतेऽत्र महर्द्धये ॥२९
दयादत्त्यादिभिर्नूनं धर्मसन्तानमुद्धरेत् । दीनानाथानपि प्राप्तान् विमुखान्नैव कल्पयेत् ॥३०
व्रतशीलानि यान्येव रक्षणीयानि सर्वदा । एकैकेन जायन्ते देहिनां दिव्यसिद्धयः ॥३१
मनोवचनकायैर्यो न जिघांसति देहिनः । स स्याद् गजादियुद्धेषु जयलक्ष्मीनिकेतनम् ॥३२
सुस्वरस्पष्टवागीष्टमतव्याख्यानदक्षिणः । क्षणार्धनिर्जितारातिरसत्यविरतेर्भवेत् ॥३३
चतुःसागरसीमाया भुवः स्यादधिपो नरः । परद्रव्यपरावृत्तः सुवृत्तोपार्जितस्वकः ॥३४
मातृपुत्रीभगिन्यादिसङ्कल्पं परयोषिति । तन्वानः कामदेवः स्यान्मोक्षस्यापि च भाजनम् ॥३५
जायाः समग्रशोभाद्याः सम्पदो जगतीतले । तास्तत्सर्वा अपि प्रायः परकान्ताविवर्जनात् ॥३६
अतिकांक्षा हता येन ततस्तेन भवस्थितिः । ह्रस्विता निश्चिता वास्य कैवल्यसुखसङ्गतिः ॥३७

पीछी प्रमुख (कमण्डलु आदि) वस्तुओं का दान करना दाताकी मुक्तिके लिए होता है ॥२२-२४॥ जिस पुरुषने आजके वर्तमानकालमें हर्ष-पूर्वक साधुओंकी वैयावृत्य की, उसने ही सुखके कारणभूत जैनशासनका उद्धार किया, ऐसा जानना चाहिए ॥२५॥

उन्नत तोरण द्वारसे युक्त, पाप-विनाशक चैत्यालय भी श्रावकोंको अपनी शक्तिके अनुसार बनवाना चाहिए और सुन्दर शास्त्रोक्त प्रमाणवाली जिनदेवकी प्रतिमा और यंत्र आदिका भी निर्माण कराना चाहिए ॥२६॥ जिसने श्री जिनेन्द्रदेवका निर्दोष चैत्यालय कराया, उस भव्यने मानो साक्षात् जिन शासनको ही स्थापित किया ॥२७॥ अरहन्तोंकी वसति (मन्दिर) के लिए गौ, भूमि, स्वर्ण और कच्छ (कछार, पर्वत या जलके किनारेकी भूमि) आदिका भी दान करना चाहिए तथा जीर्ण चैत्य, चैत्यालय आदिका भी उद्धार करना चाहिए ॥२८॥ बाँचे जानेवाले सिद्धान्त-शास्त्रोंमें, आचारशास्त्रोंमें भक्तिसे किया जानेवाला धनका व्यय मनुष्योंको इसी लोकमें महाऋद्धि-की प्राप्तिके लिए कारण होता है ॥२९॥ दयादत्ति आदिके द्वारा निश्चयसे धर्मकी सन्तान-परम्परा-का उद्धार करना चाहिए। तथा अपने घर आनेवाले दीन-अनाथ लोगोंके खाली हाथ नहीं लौटाना चाहिए ॥३०॥ जिन व्रत-शीलोंको धारण किया हुआ है, उनकी सर्वदा प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए। क्योंकि इन एक-एक व्रत-शीलके प्रभावसे प्राणियोंको दिव्य सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ॥३१॥

जो मन वचन कायसे किसी प्राणीको नहीं मारता है, वह हाथी-घोड़े आदिके युद्धोंमें विजय-लक्ष्मीका निकेतन (आलय) होता है ॥३२॥ असत्यके त्यागसे मनुष्य उत्तम स्वरवाला, स्पष्ट वाणी बोलनेवाला, अपने इष्ट मतके व्याख्यान देनेमें कुशल और आधे क्षणमें प्रतिवादियोंको जीतनेवाला होता है ॥३३॥ जो पराये द्रव्यके ग्रहण करने अर्थात् चुरानेसे पराङ्मुख रहता है और न्याय-नीति-से धनको उपार्जन करता है, वह मनुष्य चारों दिशाओंके सागरान्त सीमावाली पृथिवीका स्वामी होता है ॥३४॥ जो पुरुष परस्त्रीमें माता, पुत्री और बहिन आदिका संकल्प करता है वह कामदेव होता है और मोक्षका पात्र भी होता है ॥३५॥ इस जगती तलपर सुन्दर स्त्रियाँ, और समग्र शोभा सम्पन्न जितनी भी सम्पदाएँ हैं वे प्रायः सभी परस्त्रीके परित्यागसे प्राप्त होती हैं ॥३६॥ जिस

मांसमधुत्यागफलं केनानुवर्ण्यते । काकमांसनिवृत्त्याऽभूत्स्वर्गे खदिरसागरः ॥३८
मद्यस्याव लस्य सेवनं पापकारणम् । परत्रास्तामिहाप्युच्चैर्जननीं वाञ्छयेदरम् ॥३९
गर्मुतोऽशुचिवस्तूनामप्यादाय रसान्तरम् । मधूयन्ति कथं तन्नापवित्रं पुण्यकर्मसु ॥४०
व्यसनानि प्रवर्ज्यानि नरेण सुधियाऽन्वहम् । सेवितान्यादृतानि स्युर्नरकायाश्रियेऽपि च ॥४१
छत्रचामरवाजीभरथपादातिसंयुताः । विराजन्ते नरा यत्र ते रात्र्याहारवर्जिनः ॥४२
दशन्ति तं न नागाद्या न ग्रसन्ति च राक्षसाः । न रोगाश्चापि जायन्ते यः स्मरेन्मन्त्रमव्ययम् ॥४३
रात्रौ स्मृतनमस्कारः सुप्तः स्वप्नान् शुभाशुभान् । सत्यानेव समाप्नोति पुण्यं च चिनुते परम् ॥४४
नित्यनैमित्तिकाः कार्याः क्रियाः श्रेयोऽर्थिना मुदा । ताभिर्गूढमनस्को यत्पुण्यपण्यसमा : ॥४५
अष्टम्यां सिद्धभक्त्यामा श्रुतचारित्रशान्तयः । भवन्ति भक्तयो नूनं साधूनामपि सम्मतिः ॥४६
पाक्षिक्याः सिद्धचारित्रशान्तयः शान्तिकारणम् । त्रिकालवन्दनायुक्ता पाक्षिक्यपि सतां मता ॥४७
चतुर्द तिथौ सिद्धचैत्यश्रुतसमन्विते । गुरुशान्तिनुते नित्यं चैत्यपञ्चगुरू अपि ॥४८

पुरुषने अपनी अतितृष्णाका विनाश किया, उसने निश्चित रूपसे अपनी संसार-स्थितिको अल्प किया है और वह कैवल्य सुखकी संगतिको निश्चितरूपसे प्राप्त करेगा ॥३७॥

मद्य, मांस और मधुके त्यागका फल किसके द्वारा वर्णन किया जा सकता है ? देखो— खदिरसार केवल काक-मांसको निवृत्तिसे स्वर्गमें देव हुआ ॥३८॥ पापोंके मूलकारणरूप मद्यका सेवन महापापका कारण है । परलोककी बात तो दूर ही रहे, मद्य पीनेवाला इसी लोकमें ही अपनी माताके साथ विषयसेवनकी इच्छा करने लगता है ॥३९॥

मधु-मक्खियाँ विष्टा आदि अशुचि वस्तुओंके एवं पुष्पादिके अन्य रसोंको ग्रहण करके मधु-को उत्पन्न करती हैं, फिर वह पवित्र कार्योंमें अपवित्र क्यों नहीं है ? अर्थात् महा अपवित्र है ॥४१॥ बुद्धिमान् मनुष्यको सदा ही सभी प्रकारके व्यसन छोड़ना चाहिए । जो व्यसनोंको सेवन करते हैं और उनका आदर करते हैं, वे नरकके लिए तथा अपने अकल्याणके लिए भी तैयारी करते हैं ॥४१॥ जो मनुष्य यहाँपर छत्र, चामर, अश्व, हस्ती, रथ और पैदल सैनिकोंसे संयुक्त होकर सिंहासनोंपर विराजमान हैं, वे सब रात्रि-भोजनके त्यागी रहे हैं । अर्थात् रात्रिभोजपरित्यागके फलको भोग रहे हैं ॥४२॥

जो अनादि-निधन पंच नमस्कार मंत्रका स्मरण करते हैं, उनको साँप आदि डँसते नहीं, और न राक्षस ही उन्हें ग्रस्त कर सकते हैं । तथा उनके शरीरमें रोग भी नहीं होते हैं ॥४२॥ रात्रिमें पंचनमस्कार मंत्रका स्मरण करता हुआ जो सोता है, वह जिन शुभ और अशुभ स्वप्नोंको देखता है, वे सत्य ही सिद्ध होते हैं । तथा मंत्र-स्मरण करनेवाला परम पुण्यका संचय करता है ॥४४॥ आत्म-कल्याणके इच्छुक पुरुषको हर्षके साथ सदा ही नित्य और नैमित्तिक क्रियाएँ करते रहना चाहिए, क्योंकि उनसे व्याप्त चित्त पुरुष पुण्यरूपी दुकानका आश्रय करनेवाला होता है ॥४५॥

अष्टमीके दिन सिद्धभक्तिके साथ श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति और शान्तिभक्ति करनी चाहिए । साधुओंके भी ये भक्तियां करने योग्य हैं, ऐसी आचार्योंकी सम्मति है ॥४६॥ पाक्षिक प्रतिक्रमणके दिन सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, शान्तिभक्ति, करना शान्तिका कारण है । त्रिकाल वन्दनासे युक्त ये भक्तियाँ पाक्षिक भी सन्तोंके मानी गई हैं ॥४७॥ चतुर्दशी तिथिके दिन सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति,

नन्दीश्वरदिने सिद्धनन्दीश्वरगुरूचिता । शान्तिभक्तिः प्रकर्तव्या वलिपुष्पसमन्विता ॥४९
क्रियास्वन्यासु शास्त्रोक्तमार्गेण करणं मता । कुर्वन्नेवं क्रि जैनो गृहस्थाचार्य उच्यते ॥५०
चिदानन्दं परं ज्योतिः केवलज्ञानलक्षणम् । आत्मानं दा ध्यायेदेतत्तत्त्वोत्तमं नृणाम् ॥५१
गार्हस्थ्यं वाह्यरूपेण पालयन्नन्तरात्ममुत् । मुच्यते न पुनर्दुःखयोनावर्तति निश्चितम् ॥५२
कृतेन येन जीवस्य पुण्यवन्धः प्रजायते । तत्कर्तव्यं सदा न कुर्यादतिकल्पितम् ॥५३
वौद्धचार्वाकसांख्यादिमिथ्यानय-कुवादिनाम् । पोषणं माननं वापि दातुः पुण्याय नो भवेत् ॥५४
स्वकीयाः परकीया वा मर्यादालोपिनो नराः । न माननीयाः किं तेषां तपो वा श्रुतमेव च ॥५५
सुव्रतानि सुसंरक्षन्नित्यादिमहमुद्धरन् । सागारः पूज्यते देवैर्मान्यते च महात्मभिः ॥५६
अतिचारे व्रताद्येषु प्रायश्चित्तं गुरूदितम् । आचरेज्जातिलोपं च न कुर्यादतियत्नतः ॥५७
श्रावकाध्ययनप्रोक्तकर्मणा गृहमेधिता । सम्मता जैनानां सा त्वन्या परिपन्थनात् ॥५८
पञ्चसूनाकृतं पापं यदेकत्र गृहाश्रमे । मतये वासौ दाता दानेन लुम्पति ॥५९
आहाराभयमैषज्यशास्त्रदानादिभेदतः । चतुर्धा दानमाम्नातं जिनदेवेन योगिना ॥६०

और श्रुतभक्तिसे समन्वित गुरुभक्ति और शान्तिभक्ति करनी चाहिए। चैत्यभक्ति और पंचगुरु-भक्ति तो नित्य ही करनी चाहिए ॥४८॥ नन्दीश्वरके दिनोंमें सिद्धभक्ति, नन्दीश्वरभक्ति, और गुरुभक्तिके साथ नैवेद्य-पुष्प-समन्वित शान्तिभक्ति करनी चाहिए ॥४९॥ अन्य क्रियाओंमें शास्त्रोक्त मार्गसे करना गृहस्थका कर्तव्य माना गया है। इस प्रकार क्रियाओंको करनेवाला जैन गृहस्थाचार्य कहा जाता है ॥५०॥

चिदानन्दरूप, परम ज्योति स्वरूप, और केवलज्ञान लक्षणवाले आत्माका सदा ध्यान करना चाहिए। मनुष्योंका यही सर्वोत्तम तत्त्व है ॥५१॥ जो पुरुष अन्तरात्माके ध्यानसे रहित होकर केवल वाह्यरूपसे ही गृहस्थधर्मका पालन करता है, वह संसारसे मुक्त नहीं होता है, किन्तु दुःख-मय योनियोंमें ही निरन्तर परिभ्रमण करता रहता है, यह निश्चित है ॥५२॥ जिस कार्यके करनेसे जीवके पुण्यवन्ध होता है, वह कार्य सदा ही करते रहना चाहिए। पुण्यको छोड़कर अन्यत्र अति-कल्पित कार्य नहीं करना चाहिए ॥५३॥

वौद्ध, चार्वाक (नास्तिक), सांख्य आदि मिथ्यानयके माननेवाले कुवादिओंका पोषण करना और सन्मान करना दाताके पुण्यके लिए नहीं होता है ॥५४॥ जो मनुष्य अपनी या परकी मर्या-दाओंके लोप करनेवाले हैं वे माननेके योग्य नहीं हैं। फिर उनका तप या श्रुत तो माननीय कैसे हो सकता है ॥५५॥ अपने सद्-व्रतोंका संरक्षण करता हुआ और नित्य पूजन आदिका उद्धार करने वाला गृहस्थ देवोंके द्वारा पूजा जाता है और महात्माओंके द्वारा सन्मानको प्राप्त होता है ॥५६॥ व्रतादिकमें अतिचार लगनेपर गुरु द्वारा दिये गये प्रायश्चित्तका मानसे आचरण करना चाहिए और जाति-मर्यादाका लोप नहीं करना चाहिए ॥५७॥ उपासकाध्ययन नामक सप्तम अंगमें कहे गये कार्योंके द्वारा गृहस्थपना सर्व जैनोंको सम्मत है। इससे अन्य क्रिया तो जीवका अहित करने-वाली होनेसे त्याज्य हैं ॥५८॥

पेषणी कुट्टनी चुल्नी उदकुम्भी और प्रमार्जनीरूप पंचसूनाओं (पापकार्यों) से किये गये गृहाश्रममें संचित पापको वह दाता दानसे ही विनष्ट करता है ॥५९॥ जिनेश्वर महायोगीने आहार, अभय, औषध और शास्त्रादि दानके भेदसे चार प्रकारका दान कहा है (श्रावकको चारों प्रकारका दान देते रहना चाहिए) ॥६०॥

मुहूर्तात् गालितं तोयं प्रासुकं प्रहरद्वयम् । उष्णो महोरात्रं : सम्मूर्च्छितो भवेत् ॥६१
तिलतण्डुलतोयं च प्रासुकं भ्रामरीगृहे । न पानाय तस्मान्मुखशुद्धिर्न जायते ॥६२
पाषाणोत्स्फुटितं तोयं घटीयन्त्रेण ताडितम् । सद्यः सन्तप्तवापीनां प्रासुकं जलमुच्यते ॥६३
देवर्षीणां प्रशौचाय स्नानाय च गृहार्थिनाम् । अप्रासुकं परं वारि महातीर्थजमप्यदः ॥६४
मेव विधिर्जैनः प्रमाणं लौकिकः म् । न व्रतहानिः स्यात् सम्यक्त्वस्य च खण्डनम् ॥६५
चर्मपात्रगतं तोयं घृततैलं च येत् । नवनीतं प्रसूनादिशाकं नाद्यात् कदाचन ॥६६
यो नित्यं पठति श्रीमान् रत्नमालामिमां पराम् । स शुद्धभावनो नूनं शिवकोटित्वमाप्नुयात् ॥६७

●

वस्त्रसे गाला हुआ जल एक मुहूर्तके पश्चात्, प्रासुक जल दो पहरके पश्चात् और उष्णोदक जल एक दिन-रातके पश्चात् सम्मूर्च्छन जीवोंसे युक्त हो जाता है ॥६१॥ तिल और चावलोंका धोवन गोचरी लिये जानेवाले घरमें ही प्रासुक है, किन्तु वह पीनेके लिए नहीं माना गया है, क्योंकि उससे मुखशुद्धि नहीं होती है ॥६२॥ पत्थरोंसे टकराया हुआ, घटी यंत्र (अरहट) से ताडित और सूर्यकी धूपसे तत्काल सन्तप्त वापिकाओंका जल प्रासुक कहा जाता है ॥६३॥ वह प्रासुक जल देवर्षियोंके शौचके लिए तथा गृहस्थोंके स्नानके लिए माना गया है। उसके अतिरिक्त गंगादि महातीर्थोंका भी जल अप्रासुक माना गया है ॥६४॥ जैनोंके वह सभी लौकिक विधान प्रमाण माने गये हैं, जिनके करनेपर व्रतकी हानि न हो और सम्यक्त्वका खंडन न हो ॥६५॥ चमड़ेके पात्रमें रखा जल, घृत और तेलका परित्याग करना चाहिए। तथा नवनीत (मक्खन) और पुष्पादिकी शाक कभी भी नहीं खानी चाहिए ॥६६॥

जो शुद्ध भावनावाला श्रीमान् इस परम श्रेष्ठ रत्नमालाको नित्य पढ़ता है, वह निश्चयसे शिवकोटित्वको (मुक्तिधामको) प्राप्त करेगा।

●

पद्मचरित-गत श्रावकाचार

सिद्धो व्याकरणाल्लोकबिन्दुसारैकदेशतः । धारणार्थो धृतो धर्मशब्दो वाचि परिस्थितः ॥१
पतन्तं दुर्गतौ यस्मात्सम्यगाचरितो भवेत् । प्राणिनं धारयत्यस्माद्धर्म इत्यभिधीयते ॥२
स्नेहपञ्जररुद्धानां गृहाश्रमनिवासिनाम् । धर्मोपायं प्रवक्ष्यामि शृणु द्वादशधा स्थितम् ॥३
व्रतान्यमूनि पञ्चैषां शिक्षा चोक्ता चतुर्विधा । गुणास्त्रयो यथाशक्तिनियमास्तु सहस्रशः ॥४
प्राणातिपाततः स्थूलाद्विरतिर्वितथात्तथा । ग्रहणात्परवित्तस्य परदारसमागमात् ॥५
अनन्तायाश्च गर्द्धायाः पञ्चसंख्यमिदं व्रतम् । भावना चेयमेतेषां कथिता जिनपुङ्गवैः ॥६
इष्टो यथात्मनो देहः सर्वेषां प्राणिनां तथा । एवं ज्ञात्वा सदा कार्या दया सर्वासुधारिणाम् ॥७
एषैव पराकाष्ठा धर्मस्योक्ता जिनाधिपैः । दयारहितचित्तानां धर्मः स्वल्पोऽपि नेष्यते ॥८
वचनं परपीडायां हेतुत्वं यत्प्रपद्यते । अलीकमेव तत्प्रोक्तं सत्यमस्माद्विपर्यये ॥९
वधादि कुरुते जन्मन्यस्मिन्नस्तेयमनुष्ठितम् । कर्तुः परत्र दुःखानि विविधानि कुयोनिषु ॥१०
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मतिमान् वर्जयेन्नरः । लोकद्वयविरोधस्य निमित्तं क्रियते कथम् ॥११
परिवर्ज्या भुजङ्गीव वनितान्यस्य दूरतः । सा हि लोभवशा पापा पुरुषस्य विनाशिका ॥१२
यथा च जायते दुःखं रुद्धायामात्मयोषिति । नरान्तरेण सर्वेषामियमेव व्यवस्थितिः ॥१३

लोकबिन्दुसार नामक पूर्वके एकदेशरूप संस्कृत व्याकरण से धर्म यह शब्द धारणार्थक धृतिधातुसे सिद्ध हुआ है। सम्यक् प्रकारसे आचरण किया गया यह धर्म दुर्गतिमें गिरते हुए जीवको यतः धारण कर लेता है, अर्थात् बचा लेता है, अतः इसे धर्म कहते हैं ॥१-२॥

मैं (रविषेण) स्नेहरूपी पिंजरेमें रुके हुए गृहस्थाश्रमवासी मनुष्योंके धर्मका उपाय कहता हूँ, जो कि बारह व्रतरूपसे स्थित है, उसे सुनो ॥३॥ गृहस्थोंके पांच अणुव्रत, चार शिक्षाव्रत और तीन गुणव्रत ये बारहव्रत यमरूप होते हैं। नियमरूप व्रत तो यथाशक्ति सहस्रों होते हैं ॥४॥

स्थूल हिंसासे, असत्यसे, परद्रव्यके ग्रहणसे, परदाराके समागमसे और अनन्त तृष्णासे विरत होना, ये गृहस्थोंके पाँच अणुव्रत हैं। इन व्रतोंकी रक्षाके लिए जिनेन्द्रदेवोंने इस प्रकारकी भावना कही है कि जैसे मुझे अपना देह प्यारा है, उसी प्रकार सर्वप्राणियोंको भी अपना अपना देह प्यारा है, ऐसा जानकर मुझे सर्वप्राणधारियोंपर दया करना चाहिए ॥५-७॥ जिनेन्द्रोंने दयाको ही धर्मकी चरम सीमा कही है। जिनके चित्त दयासे रहित हैं, उनके अत्यल्प भी धर्म नहीं कहा गया है ॥८॥ जो वचन दूसरे जीवोंको पीड़ा पहुँचानेमें कारण है, वह वचन असत्य ही कहा गया है। किन्तु सत्य इससे विपरीत है। अर्थात् परहितकारी वचन ही सत्य है ॥९॥ की गई चोरी इस जन्ममें वध-बन्धनादि कराती है और मरनेके पश्चात् कुयोनियोंमें नानाप्रकारके दुःखोंको देती है ॥१०॥ इसलिए बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिए कि वह चोरीका सर्व प्रकारसे त्याग करे। जो कार्य दोनों लोकोंमें विरोधका कारण है, वह किया ही कैसे जा सकता है ॥११॥ पर पुरुषकी वनिताका सर्पिणी के समान दूरसे ही त्याग करना चाहिए। क्योंकि वह पापिनी लोभके वश होकर पुरुषका विनाश कर देती है ॥१२॥ जैसे अपनी स्त्रीको अन्य पुरुषके द्वारा रोके जाने पर

उदारश्च तिरस्कारः प्राप्यतेऽत्रैव जन्मनि । तिर्यङ्-नरकयोर्दुःखं प्राप्यमेवातिदुस्सहम् ॥१४
प्रमाणं कार्यमिच्छाया सा हि दद्यान्निरङ्कुशा । महादुःखमिहाख्येयौ भद्रकाञ्चनसंज्ञकौ ॥१५
विक्रेता वदरादीनां भद्रो दीनारमात्रकम् । द्रविणं प्रत्यजानीत दृष्ट्वातो वर्त्मनि च्युतम् ॥१६
प्रसेवकमितोऽगृह्लाद्दीनारं तु कुतूहली । तत्र काञ्चननामा तु सर्वमेव प्रसेवकम् ॥१७
दीनार मिना राज्ञा काञ्चनो वीक्ष्य नाशितः । स्वयमर्पितदीनारो भद्रस्तु परिपूजितः ॥१८
विगमोऽनर्थदण्डेभ्यो दिग्विदिक्परिवर्जनम् । भोगोपभोगसंख्यानं त्रयमेतद् गुणव्रतम् ॥१९
सामायिकं प्रयत्नेन प्रोषधानशनं तथा । संविभागोऽतिथीनां च सल्लेखश्चायुषः क्षये ॥२०
संकेतो न तिथौ यस्य कृतो यश्चापरिग्रहः । गृहमेति गुणैर्युक्तः श्रमणः सोऽतिथिः स्मृतः ॥२१
संविभागोऽस्य कर्तव्यो यथाविभवमादरात् । विधिना लोभमुक्तेन भिक्षोपकरणादिभिः ॥२२
मधुनो मद्यतो मांसाद् द्यूततो रात्रिभोजनात् । वेश्यासङ्गमनाच्चास्य विरतिर्नियमः स्मृतः ॥२३
गृहधर्ममिमं कृत्वा धिप्राप्त तः । प्रपद्यते सुदेवत्वं च्युत्वा च सुमनुष्यताम् ॥२४
भवानामेवमष्टानामन्तःकृत्वानुवर्तनम् । रत्नत्रयस्य निर्ग्रन्थो भूत्वा सिद्धिं समश्नुते ॥२५

(पद्मचरित पर्व १४ से)

हमें दुःख होता है उसी प्रकार सभीकी यह व्यवस्था जानना चाहिए ॥१३॥ परस्त्री-सेवी मनुष्य इस लोकमें ही भारी तिरस्कार पाता है और पर जन्ममें तिर्यंचों तथा नरकोंके अति दुःसह दुःखोंको पाता है ॥१४॥ अपनी इच्छा-तृष्णाका प्रमाण करना चाहिए, क्योंकि निरंकुश इच्छा महादुःख देती है। इस विषयमें भद्र और कांचन नामके दो पुरुष प्रसिद्ध हैं ॥१५॥ वेर आदिको बेचने वाले एक भद्र पुरुषने केवल दीनारके परिग्रहकी प्रतिज्ञा की। एक वार मार्गमें पड़ी हुई दीनारोंसे भरी एक वसनीको देखकर उस कुतूहलीने उसमेंसे अपने नियमके अनुसार एक दीनार निकाल ली। पुनः कांचन नामके पुरुषने उस वसनीको देखा और सब दीनार ले लिए। उस दीनार-भरी वसनीके स्वामी राजाने पता लगाकर कांचनको मरवा दिया। भद्रको जैसे ही दीनारके स्वामीका पता चला, उसने स्वयं ही जाकर उसे राजाको दे दी जिससे राजाने उसका सन्मान किया ॥१६-१८॥

अनर्थदण्डोंसे रहित होना दिशा-विदिशाओंकी सीमाका निर्धारण कर उसके वाहर गमनागमनका छोड़ना और भोगोपभोगका परिमाण करना ये तीन गुणव्रत हैं ॥ प्रयत्नपूर्वक सामायिक करना, प्रोषधोपवास करना, अतिथियोंको दान देना और आयुके अन्तकालमें सल्लेखना धारण करना ये चार शिक्षा व्रत हैं ॥२०॥ जिसके किसी तिथिमें संकेत नहीं है, जो परिग्रहसे रहित है और सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे युक्त है, ऐसा घरपर आहारके लिए आनेवाला साधु अतिथि कहलाता है ॥२१॥ ऐसे अतिथिके लिए अपने विभवके अनुसार आदरसे लोभ-रहित होकर विधिपूर्वक भिक्षा और उपकरणादिके द्वारा संविभाग करना चाहिए ॥२२॥

उपर्युक्त व्रतोंके सिवाय मधुसे, मद्यसे, मांससे, जुआसे, रात्रिभोजनसे और वेश्याके संगमसे गृहस्थके जो विरति होती है, वह नियम कहा गया है ॥२३॥ इस गृहस्थधर्मका पालन करके जो समाधिपूर्वक मरण करता है, वह उत्तम देवपनेको पाता है और वहाँसे च्युत होकर उत्तम मनुष्यपना पाता है ॥२४॥ इस प्रकार श्रावक धर्मका पालन करनेवाला मनुष्य देव मनुष्यके अधिकसे अधिक आठ भवोंमें रत्नत्रयका अनुपालन करके निर्ग्रन्थ होकर सिद्धिको प्राप्त करता है।

वराङ्गचरित-गत श्राव ाचार

धर्मो दयामयः प्रोक्तो जिनेन्द्रैर्जितमृत्युभिः । तेन धर्मेण सर्वत्र प्राणिनोऽश्नुवते सुखम् ॥१
तस्माद्धर्मे मतिं धत्स्व यूयमिष्टफलप्रदे । स वः सुचरितो भर्तुः संयोगाय भविष्यति ॥२
एको धर्मस्य तस्यात्र सूपायः स तु विद्यते । तेन वद्द्वारं नियमेनापिधीयते ॥३
व्रतशीलतपोदानसंयमोऽर्हत्प्रपूजनम् । दुःखविच्छित्तये सर्वं प्रोक्तमेतदसंशयम् ॥४
अणुव्रतानि पञ्चैवं त्रिप्रकारं गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतानि चत्वारि इत्येतद्द्वादशात्मकम् ॥५
देवतातिथिप्रीत्यर्थं मन्त्रौषधिभयाय वा । न हिंस्याः प्राणिनः सर्वे अहिंसा नाम तद्व्रतम् ॥६
लोभमोहभयद्वेषैर्मायामानमदेन वा । न कथ्यमनृतं किञ्चित्तत्सत्यव्रतमुच्यते ॥७
क्षेत्रे पथि कुले वापि स्थितं नष्टं च विस्मृतम् । हार्यं न हि परद्रव्यमस्तेयव्रतमुच्यते ॥८
स्वसृमातृसुताप्रख्या द्रष्टव्याः परयोषितः । स्वदारैरेव सन्तोषः स्वदारव्रतमुच्यते ॥९
वास्तुक्षेत्रधनं धान्यं पशुप्रेष्यजनादिकम् । परिमाणं कृतं यत्तत्सन्तोषव्रतमुच्यते ॥१०
ऊर्ध्वाधो दिग्विदिक्स्थानं कृत्वा यत्परिमाणतः । पुनराक्रम्यते नैव प्रथमं तद्गुणव्रतम् ॥११
गन्धताम्बूलपुष्पेषु स्त्रीवस्त्राभरणादिषु । भोगोपभोगसंख्यानं द्वितीयं तद्गुणव्रतम् ॥ १२

मृत्युके जीतने वाले जिनेन्द्रदेवोंने दयामयी धर्मको कहा है। उस धर्मके द्वारा प्राणी सर्वत्र सुखको पाते हैं ॥ १ ॥ इसलिए तुम लोग भी इष्ट फल देने वाले धर्ममें अपनी बुद्धिको लगाओ। यह भली-भाँतिसे आचरण किया गया धर्म तुम लोगोंके अभीष्ट वस्तुके संयोगके लिए होगा ॥ २ ॥ इस लोकमें उस धर्मको प्राप्तिका तो एक ही सुन्दर उपाय है, जिसके द्वारा कि नियमसे पापास्रवका द्वार वन्द हो सकता है ॥ ३ ॥ व्रत, शील, तप, दान, संयम और अर्हन्तदेवका पूजन ये सब दुखों के विच्छेदके लिए सन्देह-रहित उपाय कहे गये हैं ॥ ४ ॥

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये श्रावकों के बारह प्रकारके व्रत होते हैं ॥ ५ ॥ देवताकी प्रीतिके लिए, अतिथिके आहारके लिए, मंत्रके साधनके लिए, औषधि बनानेके लिए, और किसी भी प्रकार भयके प्रतीकारके लिए किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करनी चाहिए। यह अहिंसा नामका अणुव्रत है ॥ ६ ॥ लोभसे, मोहसे, भयसे, द्वेषसे, मायासे, मानसे और मदसे कुछ भी असत्य नहीं कहना चाहिए। यह सत्याणुव्रत है ॥ ७ ॥ खेतमें अथवा घर आदिमें रखी हुई, गिरी हुई और भूली हुई पर-वस्तुको नहीं ग्रहण करना चाहिए। यह अचौर्याणुव्रत है ॥ ८ ॥ पर-स्त्रियोंको बहिन, माता और पुत्रीके समान देखना चाहिए और अपनी स्त्रीसे सन्तुष्ट रहना चाहिए। यह स्वदारसन्तोषव्रत कहा जाता है ॥ ९ ॥ मकान, खेत, धन, धान्य, पशु और दासी-दास आदिके रखनेका जो परिमाण किया जाता है, वह सन्तोष नामक परिग्रह परिमाणाणुव्रत कहा जाता है ॥ १० ॥

ऊपर, नीचे तथा चारों दिशाओं और चारों विदिशाओंमें गमनागमनका नियम करके उस परिमाणका अतिक्रमण नहीं करना सो दिग्व्रत नामका प्रथम गुणव्रत है ॥ ११ ॥ गन्ध, ताम्बूल पुष्पादिक भोग्य पदार्थोंमें, तथा स्त्री, वस्त्र, आभूषणादिक उपभोग्य पदार्थोंमें भोग और उपभोग

दण्डपाशविडालाश्च विषशस्त्राग्निरज्जवः । परेभ्यो नैव देयास्ते स्वपराघातहेतवः ॥१३
छेदं भेदवधौ बन्धगुरुभारातिरोपणम् । न कारयति योऽन्येषु तृतीयं तद्गुणव्रतम् ॥१४
शरणोत्तममाङ्गल्यं नमस्कारपुरस्सरम् । व्रतवृद्धयै हृदि ध्येयं सन्ध्ययोरुभयोः सदा ॥१५
समता सर्वभूतेषु संयमः शुभभावनाः । आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम् ॥१६
मासे चत्वारि पर्वाणि तान्युपोष्याणि यत्नतः । मनोवाक्कायसंगुप्त्या स प्रोषधविधिः स्मृतः ॥१७
चतुर्विधो वराहारः संयतेभ्यः प्रदीयते । श्रद्धादिगुणसंपत्त्या तत्स्यादतिथिपूजनम् ॥१८
बाह्याभ्यन्तरनैःसङ्ग्याद् गृहीत्वा तु महाव्रतम् । मरणान्ते तनुत्यागः सल्लेखः स प्रकीर्त्यते ॥१९
इत्येतानि व्रतान्यत्र विधिना द्वादशापि ये । परिपाल्य तनुं त्यक्त्वा ते दिवं यान्ति सद् :॥२०
सौधर्मादिकल्पेषु संभूय विगतज्वराः । तत्राष्टगुणमैश्वर्यं लभन्ते नात्र संशयः ॥२१
अप्सरोभिश्चिरं रन्त्वा वैक्रियातनुभासुराः । भोगानतिशयान् प्राप्य निश्च्यवन्ते सुरालयात् ॥२२
हरिभोजोग्रवंशे वा इक्ष्वाकूणां तथान्वये । उत्पद्येश्वर्यसंयुक्ता ज्वलन्त्यादित्यवद्भुवि ॥२३
विरक्ताः कामभोगेषु प्रव्रज्यैवं महाधियः । तपसा दग्धकर्माणो यास्यन्ति परमं पदम् ॥२४

(वराङ्गचरित सर्ग १५ से)

●

करनेका नियम लेना, सो भोगोपभोग संख्यान नामका दूसरा गुणव्रत है ॥ १२ ॥ दण्ड, पाश, विलाव, विष, शस्त्र, अग्नि, रस्सी आदिक जो स्व और परके घातके कारण हैं, उन्हें दूसरोंको नहीं देना चाहिए। जो दूसरोंके द्वारा अन्य प्राणियोंके अंगोंके छेदन, भेदन, वध-बन्धन और अति-भारोपणको नहीं कराता है, उसे अनर्थदण्ड त्याग नामका तीसरा गुणव्रत कहते हैं ॥ १३-१४ ॥

पंचपरमेष्ठीको नमस्कार-पूर्वक अर्हन्त, सिद्ध, साधु और केवलिप्रज्ञप्त धर्मरूप चार मंगल, उत्तम और शरणभूतोंको गृहीत व्रतोंकी वृद्धिके लिए प्रातः और सायंकालीन दोनों सन्ध्याओंमें सदा ध्याना चाहिए ॥ १५ ॥ सर्व प्राणियों पर समताभाव रखना, संयम पालन करना और शुभ भावना करना, तथा आर्तरौद्र भावोंका त्याग करना सो सामायिक नामका प्रथम शिक्षाव्रत है ॥ १६ ॥ प्रत्येक मासके चारों पर्वोमें प्रयत्नके साथ मन वचन कायको वशमें रखते हुए उपवास करना चाहिए। यह प्रोषधोपवासव्रत कहा गया है ॥ १७ ॥ श्रद्धा आदि गुणोंके साथ संयमी जनों-के लिए जो चार प्रकारका उत्तम निर्दोष आहार दिया जाता है, वह अतिथि पूजन नामका तीसरा शिक्षाव्रत है ॥ १८ ॥ बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहका त्याग करके महाव्रतोंको ग्रहणकर मरणके समय शरीरका त्याग करना सो सल्लेखना नामका चौथा शिक्षाव्रत कहा गया है ॥ १९ ॥

इस प्रकार विधिपूर्वक उन बारह व्रतोंको पालन करके जो सद्व्रती श्रावक शरीरका त्याग कर स्वर्गको जाते हैं, वे सौधर्मादि कल्पोंमें उत्पन्न होकर ज्वरादि शारीरिक व्याधियोंसे रहित होते हुए अणिमादि आठ गुणरूप ऐश्वर्यको पाते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥ २०-२१ ॥ वे जीव प्रकाश-वान वैक्रियिक शरीरको धारणकर अप्सराओंके साथ अतिशययुक्त भोगोंको भोगकर देवलोकसे च्युत होते हैं और फिर इस मध्यलोकमें आकर हरिवंश, भोजवंश, उग्रवंश, इक्ष्वाकुवंश तथा इसी प्रकारके उत्तम वंशोंमें उत्पन्न होकर राज्य-ऐश्वर्यमें संयुक्त होकर सूर्यके समान प्रतापको प्राप्त होते हैं ॥ २२-२३ ॥ अन्तमें वे महाबुद्धिमान् काम भोगोंसे विरक्त होकर और मुनि-दीक्षा ग्रहण करके तपके द्वारा कर्मोंको दग्ध करते हुए परम शिवपदको जाते हैं ॥ २४ ॥

●

हरिवंशपुराणगत-श्रावकाचार

शुभः पुण्यस्य सामान्यादास्रवः प्रतिपादितः । तद्विशेषप्रतीत्यर्थमिदं तु प्रतिपद्यते ॥१
हिंसानृतवचश्चौर्याब्रह्मचर्यपरिग्रहात् । विरतिर्देशतोऽणु स्यात्सर्वतस्तु महद्व्रतम् ॥२
महाणुव्रतयुक्तानां स्थिरीकरणहेतवः । व्रतानामिह पञ्चानां प्रत्येकं पञ्च भावनाः ॥३
स्ववाग्गुप्तिमनोगुप्ती स्वकाले वीक्ष्य भोजनम् । द्वे चेर्यादाननिक्षेपसमिती प्राग्व्रतस्य ताः ॥४
स्वक्रोधलोभभीरुत्वहास्यहानोद्धभाषणाः । द्वितीयस्य व्रतस्यैता भाषिताः पञ्च भावनाः ॥५
शून्यान्यमोचितागारवासान्यानुपरोधिताः । भैक्ष्यशुद्ध्यविसंवादौ तृतीयस्य व्रतस्य ताः ॥६
स्त्रीरागकथाश्रुत्या रम्याङ्गेक्षाङ्गसंस्कृतेः । रसपूर्वरतस्मृत्योस्त्यागस्तुर्यव्रतस्य ताः ॥७
इष्टानिष्टेन्द्रियार्थेषु रागद्वेषविमुक्तयः । यथास्वं पञ्च विज्ञेयाः पञ्चमव्रतभावनाः ॥८
हिंसादिष्विह चामुष्मिन्नपायावद्यदर्शनम् । व्रतस्थैर्यार्थमेवात्र भावनीयं मनीषिभिः ॥९
दुःखमेवेति चाभेदादसद्वेद्यादिहेतवः । नित्यं हिंसादयो दोषा भावनीया मनीषिभिः ॥१०
मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यं च यथाक्रमम् । सत्त्वे गुणाधिके क्लिष्टे ह्यविनेये च भाव्यते ॥११

पुण्यकर्मका जो शुभास्रव होता है उसका सामान्यरूपसे वर्णन ऊपर किया जा चुका है। अब उसकी विशेष प्रतीतिके लिए यह प्रतिपादन किया जा रहा है ॥ १ ॥ हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और अपरिग्रह इन पाँच पापोंसे विरक्त होना सो व्रत है। वह व्रत अणुव्रत और महाव्रतके भेदसे दो प्रकारका है। उक्त पापोंसे एक देश विरत होना अणुव्रत है और सर्व देश विरत होना महाव्रत है ॥ २ ॥ महाव्रत और अणुव्रतसे युक्त मनुष्योंको अपने व्रतमें स्थिर रखनेके लिए पाँच व्रतों में प्रत्येकको पाँच-पाँच भावनाएँ कही जाती हैं ॥ ३ ॥ सम्यक् वचनगुप्ति, सम्यग्मनोगुप्ति, भोजनके समय देखकर भोजन करना (आलोकितपान भोजन), ईर्यासमिति और आदान-निक्षेपण समिति ये पाँच अहिंसाव्रतकी भावनाएँ हैं ॥ ४ ॥ अपने क्रोध, लोभ, भय, और हास्यका त्याग करना तथा प्रशस्त वचन बोलना (अनुवीचिभाषण) ये पाँच सत्यव्रतकी भावनाएँ हैं ॥ ५ ॥ शून्यागारावास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्ष्यशुद्धि और सधर्माविसंवाद ये पाँच अचौर्य व्रतकी भावनाएँ हैं ॥ ६ ॥ स्त्री-रागकथा श्रवणत्याग अर्थात् स्त्रियोंमें राग बढ़ानेवाली कथाओंके सुननेका त्याग करना, उनके मनोहर अङ्गोंके देखनेका त्याग करना, शरीरकी सजावटका त्याग करना, गरिष्ठरसका त्याग करना एवं पूर्वकालमें भोगे हुए रतिके स्मरणका त्याग करना ये पाँच ब्रह्मचर्य व्रतकी भावनाएँ हैं ॥ ७ ॥ पञ्च इन्द्रियोंके इष्ट-अनिष्ट विषयोंमें यथायोग्य राग-द्वेषका त्याग करना ये पाँच अपरिग्रहव्रतकी भावनाएँ हैं ॥ ८ ॥ बुद्धिमान् मनुष्योंको व्रतोंकी स्थिरताके लिए यह चिंतवन भी करना चाहिए कि हिंसादि पाप करनेसे इस लोक तथा परलोकमें नाना प्रकारका कष्ट और पापबन्ध होता है ॥ ९ ॥ अथवा नीतिके जानकार पुरुषोंको निरन्तर ऐसी भावना करनी चाहिए कि ये हिंसादि दोष दुःख रूप ही हैं। यद्यपि ये दुःखके कारण हैं दुःख रूप नहीं परन्तु कारण और कार्यमें अभेद विवक्षासे ऐसा चिन्तवन करना चाहिए ॥ १० ॥ मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ ये चार भावनाएँ क्रमसे प्राणी-मात्र, गुणाधिक, दुःखी और अविनेय जीवोंमें करना चाहिए। भावार्थ—किसी जीवको दुःख न हो ऐसा विचार करना मैत्री भावना है।

स्वसंवेगविरागार्थं नित्यं संसारभीरुभिः । जगत्कायस्वभावौ च भावनीयौ मनस्विभिः ॥१२
इन्द्रियाद्या दश प्राणाः प्राणिभ्योऽत्र प्रमादिना । यथासंभवमेषां हि हिंसा तु व्यपरोपणम् ॥१३
प्राणिनो दुःखहेतुत्वादधर्माय वियोजनम् । प्राणानां तु प्रमत्तस्य स्य च न बन्धकृत् ॥१४
स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान् । पूर्वं प्राण्यङ्गहरणात्पश्चात्स्याद्वा न वा वधः ॥१५
सदर्थमसदर्थं च प्राणिपीडाकरं वचः । असत्यमनृतं प्रोक्तमृतं प्राणिहितं वचः ॥१६
अदत्तस्य स्वयं ग्राहो वस्तुनश्चौर्यमीर्यते । संक्लेशपरिणामेन प्रवृत्तिर्यत्र तत्र तत् ॥१७
अहिंसादिगुणा यस्मिन् बृहन्ति ब्रह्मतत्त्वतः । अब्रह्मान्यत्तु रत्यर्थं स्त्रीपुंसमिथुनेहितम् ॥१८
गवाश्वमणिमुक्तादौ चेतनाचेतने धने । बाह्येऽबाह्ये च रागादौ हेयो मूर्च्छापरिग्रहः ॥१९
तेभ्यो विरतिरूपाण्यहिंसादीनि व्रतानि हि । महत्त्वाणुत्वयुक्तानि यस्य सन्ति व्रती तु सः ॥२०
सत्यपि व्रतसम्बन्धे निःशल्यस्तु व्रती यतः । मायानिदानमिथ्यात्वं शल्यं शाल्यमिव त्रिधा ॥२१
सागारश्चानगारश्च द्वाविह व्रतिनौ मतौ । सागारोऽणुव्रतोऽत्र स्यादनगारो महाव्रतः ॥२२
सागारो रागभावस्थो वनस्थोऽपि कथञ्चन । निवृत्तरागभावो यः सोऽनगारो गृहोषितः ॥२३

अपनेसे अधिक गुणी मनुष्योंको देखकर हर्ष प्रकट करना प्रमोद भावना है । दुःखी मनुष्योंको देखकर हृदयमें दयाभाव उत्पन्न होना करुणा भावना है और अविनेय मिथ्यादृष्टि जीवोंमें मध्यस्थ भाव रखना माध्यस्थ्य भावना है ॥ ११ ॥

अपनी आत्मामें संवेग और वैराग्य उत्पन्न करनेके लिए संसारसे भयभीत रहने वाले विचारक मनुष्योंको सदा संसार और शरीरके स्वभावका चिन्तवन करना चाहिए ॥ १२ ॥ इस संसारमें प्राणियोंके लिए यथासंभव इन्द्रियादि दश प्राण प्राप्त हैं । प्रमादी बनकर उनका विच्छेद करना सो हिंसा पाप है ॥ १३ ॥ प्राणियोंके दुःखका कारण होनेसे प्रमादी मनुष्य जो किसीके प्राणोंका वियोग करता है वह अधर्मका कारण है—पापबन्धका निमित्त है परन्तु समिति पूर्वक प्रवृत्ति करने वाले प्रमाद रहित जीवके कदाचित् यदि किसी जीवके प्राणोंका वियोग हो जाता है तो वह उसके लिए बन्धका कारण नहीं होता है ॥ १४ ॥ प्रमादी आत्मा अपनी आत्माका अपने-आपके द्वारा पहले घात कर लेता है पीछे दूसरे प्राणियोंका वध होता भी है और नहीं भी होता है ॥ १५ ॥ विद्यमान अथवा अविद्यमान वस्तुको निरूपण करने वाला प्राणी-पीडाकारक वचन असत्य अथवा अनृत वचन कहलाता है । इसके विपरीत जो वचन प्राणियोंका हित करने वाला है वह ऋत अथवा सत्यवचन कहलाता है ॥ १६ ॥ विना दी हुई वस्तुका स्वयं ले लेना चोरी कही जाती है । परन्तु जहाँ संक्लेश परिणामपूर्वक प्रवृत्ति होती है वहीं चोरी होती है ॥ १७ ॥ जिसमें अहिंसादि गुणोंकी वृद्धि हो वह वास्तविक ब्रह्मचर्य है । इससे विपरीत संभोगके लिए स्त्री-पुरुषोंकी जो चेष्टा है वह अब्रह्म है ॥ १८ ॥ गाय, घोड़ा, मणि, मुक्ता, आदि चेतन अचेतन रूप बाह्य धनमें तथा रागादिरूप अन्तरंग विकारमें ममताभाव रखना परिग्रह है । यह परिग्रह छोड़ने योग्य है ॥१९॥ इन हिंसादि पाँच पापोंसे विरत होना सो अहिंसा आदि पाँच व्रत हैं । ये व्रत महाव्रत और अणुव्रतके भेदसे दो प्रकारके हैं तथा जिसके ये होते हैं वह व्रती कहलाता है ॥ २० ॥ व्रतका संबन्ध रहने पर भी जो निःशल्य होता है—वही व्रती माना गया है । माया, निदान और मिथ्यात्वके भेदसे शल्य तीन प्रकारकी है । यह शल्य शल्य अर्थात् काँटोंके समान दुःख देनेवाली है ॥ २१ ॥

सागार और अनगारके भेदसे व्रती दो प्रकारके हैं । इनमें अणुव्रतोंके धारी सागार कहलाते हैं और महाव्रतोंके धारक अनगार कहे जाते हैं ॥ २२ ॥ जो मनुष्य रागभावमें स्थित है, वह

त्रसस्थावरकायेषु त्रसकायापरोपणात् । विरतिः प्रथमं प्रोक्तमहिंसाख्यमणुव्रतम् ॥२४
यद्रागद्वेषमोहादेः परपीडाकरादिह । अनृताद्विरतिर्यत्र तद्द्वितीयमणुव्रतम् ॥२५
परद्रव्यस्य नष्टादेर्महतोऽल्पस्य चापि यत् । अदत्तस्वस्य नादानं तत्तृतीयमणुव्रतम् ॥२६
दारेषु परकीयेषु परित्यक्तरतिस्तु यः । स्वदारेष्वेव सन्तोषस्तच्चतुर्थमणुव्रतम् ॥२७
स्वर्णदासगृहक्षेत्रप्रभृतेः परिमाणतः । बुद्धयेच्छापरिमाणाख्यं पञ्चमं तदणुव्रतम् ॥२८
गुणव्रतान्यपि त्रीणि पञ्चाणुव्रतधारिणः । शिक्षाव्रतानि चत्वारि भवन्ति गृहिणः सतः ॥२९
यः प्रसिद्धैरभिज्ञानैः कृतावध्यनति : । दिग्विदिक्षु गुणेष्वाद्यं वेद्यं दिग्विरतिर्व्रतम् ॥३०
ग्रामादीनां प्रदेशस्य परिमाणकृतावधि । वहिर्गतिनिवृत्तिर्या तद्देशविरतिर्व्रतम् ॥३१
पापोपदेशोऽपध्यानं प्रमादाचरितं तथा । हिंसाप्रदानमशुभश्रुतिश्चापीति पञ्चधा ॥३२
पापोपदेशहेतुर्योऽनर्थदण्डोपकारकः । अनर्थदण्डविरतिर्व्रतं तद्विरतिः स्मृतम् ॥३३
पापोपदेश आदिष्टो वचनं पापसंयुतम् । यद्वणिग्वधकारम्भपूर्वसावद्यकर्मसु ॥३४
अपध्यानं जयः स्वस्य यः परस्य पराजयः । वधबन्धार्थहरणं कथं स्यादिति चिन्तनम् ॥३५
ादिच्छेदनं भूमिकुट्टनं जलसेचनम् । इत्याद्यनर्थकं कर्म प्रमादाचरितं तथा ॥३६
विषकण्टकशस्त्राग्निरज्जुदण्डकशादिनः । दानं हिंसाप्रदानं हि हिंसोपकरणस्य वै ॥३७
हिंसारागादिसंवर्धिदुःकथाश्रुतिशिक्षया । पापबन्धनिबन्धो यः स स्यात्पापाशुभश्रुतिः ॥३८

वनवासी हो करके भी गृहस्थ है और जिसका रागभाव दूर हो गया है, वह घरमें रहने पर भी अनगार है ॥ २३ ॥ जीव दो प्रकारके हैं—त्रस और स्थावर । इनमेंसे त्रसकायिक जीवोंके विघातसे विरत होना पहला अहिंसाणुव्रत कहा गया है ॥ २४ ॥ जिसमें राग द्वेष मोहसे प्रेरित होकर पर-पीड़ा कारक असत्य वचनसे विरति होती है, वह दूसरा सत्याणुव्रत है ॥ २५ ॥ दूसरेका गिरा पड़ा या भूला हुआ द्रव्य चाहे अल्प हो या अधिक स्वामीके विना दिये नहीं लेना तीसरा अचौर्याणुव्रत है ॥ २६ ॥ परस्त्रियोंमें राग छोड़कर अपनी स्त्रीमें सन्तोष करना सो चौथा ब्रह्मचर्याणुव्रत है ॥ २७ ॥ सुवर्ण दास घर खेत आदि पदार्थोंका बुद्धिपूर्वक परिमाण करना सो इच्छापरिमाण नामका पाँचवाँ अणुव्रत है ॥ २८ ॥

पाँच अणुव्रतोंके धारक सद् गृहस्थके तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत भी होते हैं ॥ २९ ॥ दिशाओं और विदिशाओंमें प्रसिद्ध चिन्होंके द्वारा की हुई सीमाका उल्लंघन नहीं करना सो दिग्व्रत नामका पहला गुणव्रत है ॥ ३० ॥ दिग्व्रतमें यावज्जीवनके लिए किये हुए भारी परिमाण-के अन्तर्गत अल्प समयके लिए जो ग्राम नगरादिकी मर्यादा की जाती है, उससे वाहर नहीं जानेको देशव्रत नामका दूसरा गुणव्रत कहते हैं ॥ ३१ ॥ पापोपदेश, अपध्यान, प्रमादचर्या, हिंसादान और दुःश्रुति ये पाँच प्रकारके अनर्थदण्ड हैं ॥ ३२ ॥ जो पापके उपदेशका कारण है, वह उपकार करने-वाला अनर्थदण्ड है, उससे विरत होनेको अनर्थदण्डत्याग नामका तीसरा गुणव्रत कहते हैं ॥ ३३ ॥ वणिक् तथा वधक आदिके सावद्य कार्योंमें आरम्भ करानेवाले जो पापपूर्ण वचन हैं, वह पापोप-देश अनर्थदण्ड हैं ॥ ३४ ॥ अपनी जीत, दूसरेकी हार, तथा वध, बँधने एवं धनका हरण आदि किस प्रकार हो, ऐसे विचार करनेको अपध्यान कहते हैं ॥ ३५ ॥ वृक्षादिका छेदना, पृथ्वीका कूटना-खोदना, जलका सींचना, आदि अनर्थक कार्य करना प्रमादाचरित अनर्थदण्ड है ॥ ३६ ॥ विष कण्टक शस्त्र अग्नि रस्सी डंडा कोड़ा आदि हिंसाके उपकरणोंका देना सो हिंसादान अनर्थ-दण्ड है ॥ ३७ ॥ हिंसा तथा रागादिक वढ़ानेवाली खोटी कथाओंके सुनने तथा दूसरोंको शिक्षा

माध्यस्थ्यैकत्वगमनं देवतास्मरणस्थितिः । सुखदुःखारिमित्रादौ बोध्यं सामायिकं व्रतम् ॥३९
चतुराहारहानं यन्निरारम्भस्य पर्वसु । स प्रोषधोपवासोऽक्षाण्युपेत्यास्मिन् वसन्ति यत् ॥४०
गन्धमाल्यान्नपानादिरुपभोग उपेत्य यः । भोगोऽन्यः परिभोगो यः परित्यज्यासनादिकः ॥४१
परिमाणं तयोर्यत्र यथाशक्ति यथायथम् । उपभोगपरीभोगपरिमाणव्रतं हि तत् ॥४२
मांसमद्यमधुद्यूतवेश्यास्त्रीनक्तभुक्तितः । विरतिनियमो ज्ञेयोऽनन्तकायादिवर्जनम् ॥४३
स संयमस्य वृद्ध्यर्थमततीत्यतिथिः स्मृतः । प्रदानं संविभागोऽस्मै यथाशुद्धिर्यथोदितम् ॥४४
भिक्षौषधोपकरणप्रतिश्रयविभेदतः । संविभागोऽतिथिभ्यस्तु चतुर्विध उदाहृतः ॥४५
सम्यक्कायकषायाणां वहिरन्तर्हि लेखना । सल्लेखनापि कर्तव्या कारणे मारणान्तिकी ॥४६
रागादीनां समुत्पत्तावागमोदितवर्त्मना । अशक्यपरिहारे हि सान्ते सल्लेखना मता ॥४७
अष्टौ निःशङ्कतादीनामष्टानां प्रतियोगिनः । सम्यग्दृष्टेरतीचारास्त्याज्याः शङ्कादयः सताम् ॥४८
त्वतीचारा व्रतशीलेषु भाविताः । यथाक्रममममी वेद्याः परिहार्याश्च तद्व्रतैः ॥४९
गतिरोधकरो वन्धो वधो दण्डातिताडना । कर्णाद्यवयवच्छेदोऽप्यतिभारातिरोपणम् ॥५०
अन्नपाननिरोधस्तु क्षुद्वाधादिकरोऽङ्गिनाम् । अहिंसाणुव्रतस्योक्ता अतिचारास्तु पञ्च ते । ५१

देनेमें जो पापवन्धके कारण संचित होते हैं, वह पापसे युक्त दुःश्रुति नामका अनर्थदण्ड है ॥ ३८ ॥ इन पापों और इन सरीखे अन्य निरर्थक पाप कार्योंके त्याग करनेको अनर्थदण्डव्रत कहते हैं।

देवताके स्मरणमें स्थित पुरुषके सुख-दुःख, तथा शत्रु-मित्र आदिमें जो माध्यस्थ्य भाव होता है, उसे सामायिक शिक्षाव्रत जानना चाहिए ॥ ३९ ॥ प्रत्येक मासके चारों पर्वोमें निरारम्भ रह कर चार प्रकारके आहारका त्याग करना सो प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत है। जिसमें इन्द्रियां वाह्य संसारसे हटकर आत्माके समीप वास करती हैं, वह उपवास कहलाता है ॥ ४० ॥ गन्ध माला अन्न पान आदि उपभोग हैं और आसन आदिक परिभोग हैं। पास जाकर जो भोगा जाय, वह उपभोग है और जो पुनः पुनः भोगा जाय, वह परिभोग है। जिस व्रतमें उपभोग और परिभोगका यथाशक्ति परिमाण किया जाता है, वह उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत है ॥ ४१-४२ ॥ मांस, मदिरा मधु जुआ वेश्या तथा रात्रि-भोजनसे विरत होना, एवं अनन्तकाय आदिका त्याग करना सो नियम कहलाता है ॥ ४३ ॥ जो संयमकी वृद्धिके लिए निरन्तर घूमता रहता है, वह अतिथि कहा जाता है, उसे शुद्धिपूर्वक आगमोक्त विधिसे आहार आदिका देना अतिथि संविभागव्रत है ॥ ४४ ॥ भिक्षा औषध उपकरण और आवासके भेदसे अतिथि संविभाग चार प्रकारका कहा गया है ॥ ४५ ॥ मृत्युके कारण उपस्थित होने पर वहिरंगमें शरीर और अन्तरंगमें कषायोंका अच्छी तरह कृश करना सल्लेखना कहलाती है। व्रती मनुष्यको मरणके अन्त समय यह अवश्य करना चाहिए ॥ ४६ ॥ जब मरणका किसी भी प्रकारसे परिहार न किया जा सके, तब रागादिकी अनुत्पत्तिके लिए आगमोक्त मार्गसे सल्लेखना करना उचित माना गया है ॥ ४७ ॥

निःशङ्कित आदि आठ अङ्गोंके विरोधी शङ्का, कांक्षा आदि आठ दोष सम्यग्दर्शनके अतिचार हैं। सत्पुरुषोंको इनका त्याग अवश्य ही करना चाहिए ॥ ४८ ॥ पाँच अणुव्रत तथा सात शीलव्रतोंमें प्रत्येकके पाँच-पाँच अतिचार होते हैं। यहाँ यथाक्रमसे उनका वर्णन किया जाता है। तद् तद् व्रतोंके धारक मनुष्योंको उन अतिचारोंका अवश्य ही परिहार करना चाहिए ॥ ४९ ॥ जीवोंकी गतिमें रुकावट डालना, बांधना, दण्ड आदिसे अत्यधिक पीटना, वत्र, कान आदि अवयवोंका छेदना, अधिक भार लादना और भूख आदिकी वाधा करनेवाला अन्नपानका निरोध ये

अतिसन्धापनं मिथ्योपदेश इह चान्यथा । यदभ्युद ोक्षार्थक्रियास्वन्यप्रवर्तनम् ॥५२
रहोऽभ्याख्यानमेकान्तस्त्रीपुंसेहाप्रकाशनम् । कूटलेखक्रियान्येन त्वनुक्तस्य स्वलेखनम् ॥५३
विस्मृतन्यस्तसंख्यस्य स्वल्पं स्वं संप्रगृह्णतः । न्यासापहार एतावदित्यनुज्ञापकं वचः ॥५४
ारमन्त्रभेदोऽसौ भ्रूविक्षेपादिकेङ्गितैः । पराकूतस्य बुद्ध्वाविर्भावनं यदसूयया ॥५५
यत्सत्याणुव्रतस्यामी पञ्चातीचारकाश्चिरम् । परिहार्याः समर्यादैर्विचार्याचार्यवेदिभिः ॥५६
त्रेधस्तेनप्रयोगस्तैराहृतादानमात्मनः । अन्यो विरुद्धराज्याति मश्चाक्रमकक्रये ॥५७
हीनेन दानमन्येषामधिकेनात्मनो ग्रहः । प्रस्थादिमानभेदेन तुलाद्युन्मानवस्तुनः ॥५८
रूपकैः कृत्रिमैः स्वर्णैर्वञ्चनः प्रतिरूपकः । व्यवहारस्त्वतीचारास्तृतीयाणुव्रतस्य ते ॥५९
परविवाहाकरणमनङ्गक्रीडया गतौ । गृहीतागृहीतेत्वर्योः कामतीव्राभिवेशनम् ॥६०
एते स्वदारसन्तोषव्रतस्याणुव्रतात्मनः । अतीचाराः स्मृताः पञ्च परिहार्याः प्रयत्नतः ॥६१
हिरण्यस्वर्णयोर्वास्तुक्षेत्रयोर्धनधान्ययोः । दासीदासाद्ययोः पञ्च कुप्यस्यैते व्यतिक्रमाः ॥६२

पाँच अहिंसाणुव्रतके अतिचार कहे गये हैं ॥ ५०-५१ ॥ मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमन्त्रभेद ये पाँच सत्याणुव्रतके अतिचार हैं। किसीको धोखा देना तथा स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करानेवाली क्रियाओंमें दूसरोंकी अन्यथा प्रवृत्ति कराना मिथ्योपदेश है। स्त्री-पुरुषोंकी एकान्त चेष्टाको प्रकट करना रहोभ्याख्यान है। जो बात दूसरेने नहीं कही है उसे उसके नाम पर स्वयं लिख देना कूटलेख क्रिया है। कोई मनुष्य धरोहरमें रखे हुए धनकी संख्या भूलकर उससे स्वल्प ही धनका ग्रहण करता है तो उस समय ऐसा वचन बोलना कि "हाँ इतना ही था ले जाओ" यह न्यासापहार है। भौंहका चलाना आदि चेष्टाओंसे दूसरे रहस्यको जानकर ईर्ष्यावश उसे प्रकट कर देना साकारमन्त्रभेद है। मर्यादाके पालक तथा आचार शास्त्रके ज्ञाता मनुष्योंको विचार कर इन अतिचारोंका अवश्य ही परिहार करना चाहिए ॥ ५२–५६ ॥ स्तेन-प्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्ध राज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान और प्रतिरूपकव्यवहार ये पांच अचौर्याणुव्रतके अतिचार हैं। कृत कारित अनुमोदनासे चोरको चोरीमें प्रेरित करना स्तेनप्रयोग है। चोरोंके द्वारा चुराकर लाई हुई वस्तुका स्वयं खरीदना तदाहृतादान है। आक्रमणकर्त्ताकी खरीद होने पर स्वकीय राज्यकी आज्ञाका उल्लंघन कर विरुद्ध राज्यमें आना-जाना, अपने देशकी वस्तुएँ वहाँ ले जा कर बेचना विरुद्धराज्यातिक्रम नामका अतिचार है। प्रस्थ आदि मानमें भेद और तुला आदि उन्मानमें भेद रखकर हीनमानोन्मानसे दूसरोंको देना और अधिक मानोन्मानसे स्वयं लेना हीनाधिकमानोन्मान नामका अतिचार है। कृत्रिम–मिलावटदार सोना, चाँदी आदिके द्वारा दूसरोंको ठगना प्रतिरूपक व्यवहार नामका अतिचार है ॥ ५७–५९ ॥ परविवाहकरण, अनङ्गक्रीडा, गृहीतेत्वरिकागमन, अग्रहीतेत्वरिकागमन, और कामतीव्राभिनिवेश ये पाँच स्वदार सन्तोष व्रतके अतिचार हैं। प्रयत्नपूर्वक इनका परिहार करना चाहिए। अपनी या अपने संरक्षण-में रहनेवाली सन्तानके सिवाय दूसरेकी सन्तानका विवाह कराना परविवाहकरण है। काम सेवन-के लिए निश्चित अंगोंके अतिरिक्त अंगोंके द्वारा काम सेवन करना अनंगक्रीडा है। दूसरेके द्वारा अगृहीत व्यभिचारिणी स्त्रीके यहाँ जाना गृहीतेत्वरिकागमन है। दूसरेके द्वारा अगृहीत व्यभिचारिणी स्त्रीके यहाँ जाना अगृहीतेत्वरिकागमन है। और स्वस्त्रीके साथ भी काम सेवनमें अधिक लालसा रखना कामतीव्राभिनिवेश है ॥ ६०-६१ ॥ हिरण्य-सुवर्ण वास्तु-क्षेत्र, धान-धान्य दासी-दास और कुप्य–वर्तन तथा वस्त्रकी सीमाका उल्लंघन करना ये पाँच परिग्रह परिणामव्रतके

दिग्विरत्यभिचारोऽधस्तिर्यगूर्ध्वव्यतिक्रमाः । लोभात्स्मृत्यन्तराधानं क्षेत्रवृद्धिश्च पञ्चधा ॥६३
प्रेष्यप्रयोगानयनपुद्गलक्षेपलक्षणाः । शब्दरूपानुपातौ द्वौ सद्देशविरतिव्रते ॥६४
कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्याणि तृतीयके । असमीक्ष्याधिकरणोपभोगादिनिरर्थने ॥६५
योगनिःप्रणिधानानि त्रीण्यनादरता च ते । पञ्च स्मृत्यनुपस्थानं स्युः सामायिकगोचराः ॥६६
अनवेक्ष्य मलोत्सर्गादानसंस्तरसंक्रमाः । स्युः प्रोषधोपवा ते नैकाग्र्यमनादरः ॥६७
सचित्ताहारसम्बन्धसन्मिश्राभिषवास्तु ते । उपभोगपरीभोगे दुष्पक्वाहार एव च ॥६८

अतिचार हैं। रुपया चाँदी आदिको हिरण्य तथा सोना व सोनेके आभूषण आदिको सुवर्ण कहते हैं। रहनेके मकानको वास्तु और गेहूँ चना आदिके उत्पत्ति-स्थानोंको क्षेत्र कहते हैं। गाय भैंस आदिको धन तथा गेहूँ चना आदि अनाजको धान्य कहते हैं। दासी-दास शब्दका अर्थ स्पष्ट है। वर्तन तथा वस्त्रको कुप्य कहते हैं। इनके प्रमाणका उल्लंघन करना सो हिरण्यसुवर्णातिक्रम आदि अतिचार होते हैं ॥ ६२ ॥

अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, ऊर्ध्वव्यतिक्रम, स्मृत्यन्तराधान और क्षेत्रवृद्धि ये पाँच दिग्व्रतके अतिचार हैं। लोभके वशीभूत होकर नीचेकी सीमाका उल्लंघन करना अधोव्यतिक्रम है। समान धरातलकी सीमाका उल्लंघन करना तिर्यग्व्यतिक्रम है। ऊपरकी सीमाका उल्लंघन करना ऊर्ध्वव्यतिक्रम है। की हुई सीमाको भूलकर अन्य सीमाका स्मरण रखना स्मृत्यन्तराधान है। तथा मर्यादित क्षेत्रकी सीमा वढ़ा लेना क्षेत्रवृद्धि है ॥ ६३ ॥ प्रेष्य प्रयोग, आनयन, पुद्गल क्षेप, शव्दानुपात और रूपानुपात ये पाँच देश व्रतके अतिचार हैं। मर्यादाके वाहर सेवकको भेजना प्रेष्य-प्रयोग है। मर्यादासे वाहर किसी वस्तुको वुलाना आनयन है। मर्यादाके वाहर कंकड़-पत्थर आदि-का फेंकना पुद्गलक्षेप है, मर्यादाके वाहर अपना शब्द भेजना शव्दानुपात है। और मर्यादा के वाहर काम करनेवाले लोगोंको अपना रूप दिखाकर सचेत करना रूपानुपात है ॥ ६४॥ कन्दर्प, कौत्कुच्य मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोगपरिभोगानर्थक्य ये पाँच अनर्थदण्ड व्रतके अतिचार हैं। रागकी उत्कटतासे हास्यमिश्रित भण्डवचन वोलना कन्दर्प है। शरीरसे कुचेष्टा करना कौत्कुच्य है। आवश्यकतासे अधिक वोलना मौखर्य है। प्रयोजनका विचार न रख आवश्यकतासे अधिक किसी कार्यमें प्रवृत्ति करना-कराना असमीक्ष्याधिकरण है और उपभोग-परिभोगकी वस्तुओंका निरर्थक संग्रह करना उपभोगपरिभोगानर्थक्य है ॥ ६५ ॥

मनोयोग दुष्प्रणिधान, वचनयोग दुष्प्रणिधान, काययोगदुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृत्य-नुपस्थान ये पाँच सामायिक शिक्षाव्रतके अतिचार हैं। मनको अन्यथा चलायमान करना मनोयोग-दुष्प्रणिधान है। वचनकी अन्यथा प्रवृत्ति करना, पाठका अशुद्ध उच्चारण करना वचनयोग दुष्प्रणि-धान है। कायको चलायमान करना काययोग दुष्प्रणिधान है। सामायिकके प्रति आदर वा उत्साह नहीं होना वेगार समझकर करना अनादर है। और चित्तकी एकाग्रता न होनेसे सामायिककी विधि या पाठका भूल जाना अथवा कार्यान्तरमें उलझकर सामायिकके समयका स्मरण नहीं रखना स्मृत्यनुपस्थान है ॥ ६६ ॥ विना देखी हुई जमीनमें मलोत्सर्ग करना, विना देखे किसी वस्तुको उठाना, बिना देखी हुई भूमिमें विस्तर आदि विछाना, चित्तकी एकाग्रता नहीं रखना और व्रतके प्रति आदर नहीं रखना ये पाँच प्रोषधोपवास व्रतके अतिचार हैं। सचित्ताहार, सचित्त संवन्धा-हार, सचित्तसन्मिश्राहार, अभिषवाहार और दुष्पक्वाहार ये पाँच उपभोग परिभोग परिमाण व्रतके अतिचार हैं ॥ ६७ ॥ हरी वनस्पति आदिका आहार करना सचित्ताहार है। सचित्तसे सम्वन्ध

ते सच्चित्तेन निक्षेपः सचित्तावरणं परम् । व्यपदेशश्च मात्सर्यं कालातिक्रमतातिथौ ॥६९
आशंसे जीविते मृत्यौ निदानं दीनचेतसः । सुखानुबन्धमित्रानुरागौ सल्लेखनामलाः ॥७०
सम्यग्ज्ञानादिवृद्ध्यादिस्वपरानुग्रहेच्छया । दानं त्यागोऽतिसर्गाख्यः प्रासुकं स्वस्य पात्रगम् ॥७१
विधिदेयविशेषाभ्यां दातृपात्रविशेषतः । भेदः फलस्य भूम्यादेर्भेदात्सस्यर्द्धिभेदवत् ॥७२
प्रतिग्रहादिषु प्रायः सादरानादरत्वतः । दानकाले विधौ भेदः फलभेदस्य कारकः ॥७३
तपःस्वाध्यायवृद्ध्यादेर्देयभेदोऽपि हेतुता । एकं हि साम्यकृद्देयं ततो वैषम्यकृत्परम् ॥७४
अनसूयाविषादादिरसूयादिपरस्त्वयम् । दायकस्य विशेषोऽपि विचित्रा हि मनोगतिः ॥७५
मोक्षकारणभूतानां दानानां धारणे सताम् । तारतम्यं मनःशुद्धेर्विशेषः पात्रगोचरः ॥७६
पुण्यास्रवः सुखानां हि हेतुरभ्युदयावहः । हेतुः संसारदुःखानामपुण्यास्रव इष्यते ॥७७

●

रखनेवाले आहार-पानको ग्रहण करना सचित्त सम्बन्धाहार है। सचित्तसे मिली हुई अचित्त वस्तुका सेवन करना सचित्तसन्मिश्राहार है। गरिष्ठ पदार्थोंका सेवन करना अभिषवाहार है और अधपके अथवा अधिक पके आहारका ग्रहण करना दुष्पक्वाहार है॥ ६८॥ सचित्तनिक्षेप, सचित्तावरण, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रमता ये पाँच अतिथि संविभाग व्रतके अतिचार हैं। हरे पत्ते आदि पर रखकर आहार देना सचित्त निक्षेप है। हरे पत्ते आदिसे ढका हुआ आहार देना सचित्तावरण है। अन्यदाताके द्वारा देय वस्तुको देना परव्यपदेश है। अन्य दाताओंके गुणको नहीं सहन करना मात्सर्य है। और समय उल्लंघन कर देना कालातिक्रम है॥ ६९॥ जीविताशंसा, मरणाशंसा, निदान, सुखानुबन्ध और मित्रानुराग ये पाँच सल्लेखनाके अतिचार हैं। क्षपकका दीनचित्त होकर अधिक समय तक जीवित रहनेकी आकांक्षा रखना जीविताशंसा है। पीड़ासे घबड़ाकर जल्दी मरनेकी इच्छा करना मरणाशंसा है। आगामी भोगोंकी आकांक्षा करना निदान है। पहले भोगे हुए सुखका स्मरण रखना सुखानुबन्ध है और मित्रोंसे प्रेम रखना मित्रानुराग है॥ ७०॥

सम्यग्ज्ञानादि गुणोंकी वृद्धि आदि स्व-परके उपकारकी इच्छासे योग्यपात्रके लिए प्रासुक द्रव्यका देना त्याग कहलाता है। इसका दूसरा नाम अतिसर्ग भी है॥ ७१॥ जिस प्रकार भूमि आदिके भेदसे धान्यकी उत्पत्ति आदिमें भेद होता है, उसी प्रकार विधि द्रव्य दाता और पात्रकी विशेषतासे दानके फलमें भेद होता है॥ ७२॥ दानके समय पडगाहने आदिकी क्रियाओंमें आदर या अनादर होनेसे दानकी विधिमें भेद हो जाता है। और वह फलके भेदका करनेवाला हो जाता है॥ ७३॥ तप तथा स्वाध्यायकी वृद्धि आदिका कारण होनेसे देयमें भेद होता है। यथार्थमें एक पदार्थ तो ऐसा है जो लेनेवालेके लिए समताभावका करनेवाला होता है। और दूसरा पदार्थ ऐसा है जो विषमताका करनेवाला होता है। इसलिए देय द्रव्यमें भेद होनेसे दानके फलमें भी भेद होता हैं॥ ७४॥ कोई दाता तो ईर्ष्या, विषाद आदि दुर्गुणोंसे रहित होता है। और कोई दाता ईर्ष्या आदि दुर्गुणोंसे युक्त होता है। यही दाताकी विशेषता है। यथार्थमें मनकी गति विचित्र होती है॥ ७५॥ मोक्षके कारणभूत दानोंके ग्रहण करनेमें सत्पुरुषोंके मनकी शुद्धिका जो तारतम्य हीनाधिकता है वह पात्रकी विशेषता है॥ ७६॥ पुण्यास्रव अनेक कल्याणोंकी प्राप्ति करानेवाला होनेसे सुखोंका कारण कहा जाता है। और पापास्रव संसारके दुःखोंका कारण माना जाता है॥ ७७॥

(हरिवंशपुराण सर्ग ५८ से) ●

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकागत श्रावकाचार

आद्यो जिनो नृपः श्रेयान् व्रतदानादिपूरुषौ । एतदन्योऽन्यसम्बन्धे धर्मस्थितिरभूदिह ॥१
सम्यग्दृग्बोधचारित्रत्रितयं धर्म उच्यते । मुक्तेः पन्थाः स एव स्यात्प्रमाणपरिनिष्ठितः ॥२
रत्नत्रयात्मके मार्गे संचरन्ति न ये जनाः । तेषां मोक्षपदं दूरं भवेद्दीर्घतरो भवः ॥३
सम्पूर्ण-देशभेदाभ्यां स च धर्मो द्विधा भवेत् । आद्ये भेदे च निर्ग्रन्था द्वितीये गृहिणः स्थिताः ॥४
सम्प्रत्यपि प्रवर्तेत धर्मस्तेनैव वर्त्मना । तेनैतेऽपि च गण्यन्ते गृहस्था धर्महेतवः ॥५
सम्प्रत्यत्र कलौ काले जिनगेहो मुनिस्थितिः । धर्मश्च दानमित्येषां श्रावका मूलकारणम् ॥६
देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः । दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥७
समता सर्वभूतेषु संयमे शुभभावना । आर्त-रौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम् ॥८
सामायिकं न जायेत व्यसनम्लानचेतसः । श्रावकेन ततः साक्षात्त्याज्यं व्यसनसप्तकम् ॥९

आदि जिनेन्द्र श्रीऋषभनाथ और श्रेयान्स राजा ये दोनों व्रत (धर्म) तीर्थ और दानतीर्थके प्रवर्तक आदि महापुरुष हैं। इन दोनोंके पारस्परिक सम्बन्धसे ही इस युगके आदिमें इस भरत-क्षेत्रमें धर्मकी स्थिति हुई। अर्थात् भ० ऋषभदेवने सर्वप्रथम जिन दीक्षा-ग्रहण करके व्रतरूप तीर्थका प्रवर्तन किया और श्रेयान्स राजाने सर्वप्रथम भ० ऋषभदेवको आहारदान देकर, दानरूप तीर्थका प्रवर्तन किया है ॥ १ ॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंके समुदायको धर्म कहते हैं। यह धर्म ही मोक्षका मार्ग है, क्योंकि वह प्रमाणसे अर्थात् युक्ति और आगमसे प्रमाणित है ॥ २ ॥

जो मनुष्य इस रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग पर नहीं चलते हैं, उनके लिए मोक्षपद बहुत दूर है और ऐसे मनुष्योंका संसार भी दीर्घतर हो जाता है। अर्थात् रत्नत्रयरूप धर्मको धारण किये विना संसारसे छूटना संभव नहीं है ॥ ३ ॥

वह रत्नत्रयस्वरूप धर्म सर्वदेश और एकदेशके भेदसे दो प्रकारका है। उसमेंसे सर्वदेशरूप धर्ममें निर्ग्रन्थ मुनिजन अवस्थित हैं और एकदेशरूप धर्ममें गृहस्थ अवस्थित हैं। भावार्थ—पूर्ण-रूपसे रत्नत्रय धर्मका पालन मुनि करते हैं और एकदेशरूपसे उसका पालन श्रावक करते हैं ॥ ४ ॥

आज इस कलिकालमें भी वह रत्नत्रयरूप धर्म उस ही मार्गसे प्रवर्तित हो रहा है, इसीलिए ये गृहस्थ भी उस धर्मके कारण गिने जाते हैं ॥ ५ ॥

आज इस कलिकालमें जिन-मन्दिर, मुनि जनोंका अवस्थान, और दान यही धर्म है और इन तीनोंके मूल कारण श्रावक ही हैं ॥ ६ ॥

जिन देवकी पूजा, गुरुओंकी उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये छह कर्म या कर्तव्य श्रावकोंके प्रतिदिन करने योग्य हैं ॥ ७ ॥

सर्व प्राणियोंमें समताभाव रखना, संयम-पालन करनेमें उत्तम भावना रखना और आर्त-ध्यान एवं रौद्रध्यानका परित्याग करना यही सामायिक व्रत है ॥ ८ ॥

व्यसनोंसे मलिन चित्त पुरुषके सामायिक व्रत संभव नहीं है, इसलिए श्रावकको सातों ही

द्यूतमांससुरावेश्याऽऽखेटचौर्यपराङ्गनाः । महापापानि सप्तैव व्यसनानि त्यजेद् बुधः ॥१०
धर्मार्थिनोऽपि लोकस्य चेदस्ति व्यसनाश्रय. । जायते न ततः सापि धर्मान्वेषणयोग्यता ॥११
सप्तैव नरकाणि स्युस्तैरेकैकं निरूपितम् । आकर्षयन्नृणामेतद् व्यसनं स्वसमृद्धये ॥१२
धर्मशत्रुविनाशार्थं पापाय कुपतेरिह । सप्ताङ्गबलवद्राज्यं सप्तभिर्व्यसनैः कृतम् ॥१३
प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये । ते च दृश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये ॥१४
ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न । निष्फलं जीवितं तेषां तेषां धिक् च गृहाश्रमम् ॥१५
प्रातरुत्थाय कर्तव्यं देवतागुरुदर्शनम् । भक्त्या तद्वन्दना कार्या धर्मश्रुतिरुपासकैः ॥१६
पश्चादन्यानि कर्माणि कर्तव्यानि यतो बुधैः । धर्मार्थकाममोक्षाणामादौ धर्मः प्रकीर्तितः ॥१७
गुरोरेव प्रसादेन लभ्यते ज्ञानलोचनम् । समस्तं दृश्यते येन हस्तरेखेव निस्तुषम् ॥१८

व्यसनोंका साक्षात् सर्वथा त्याग कर देना चाहिए ॥ ९ ॥

जूआ खेलना, मांस खाना, मद्य पीना, वेश्या सेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्री-रमण करना ये सात व्यसन हैं, जो महापापरूप हैं, इसलिए ज्ञानी पुरुष इन सातों ही व्यसनोंका परित्याग करे ॥ १० ॥

यदि धर्मार्थी पुरुषके व्यसनोंका आश्रय है, तो उसके धर्मके अन्वेषण की योग्यता कदापि नहीं हो सकती है, इसलिए धर्म धारण करनेके इच्छुक पुरुषको किसी भी व्यसनका सेवन नहीं करना चाहिए ॥ ११ ॥

आचार्य कहते हैं कि सात ही नरक हैं और सात ही व्यसन हैं, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है—मानों उन सातों नरकोंने अपनी-अपनी समृद्धि के लिए लोगोंके आकर्षण करनेवाले इन एक-एक व्यसनको नियत किया है ॥ १२ ॥

अथवा ऐसा ज्ञात होता है कि इस संसारमें धर्मको शत्रु मानकर उसके विनाशके लिए और पापके प्रसारके लिए मोहरूपी खोटे राजाके सात अंग युक्त बलवान् सेनावाला यह कुराज्य सातों व्यसनोंके द्वारा रचा गया है ॥ १३ ॥

भावार्थ—जिसप्रकार राजाकी सेना हाथी, घोड़े, रथ आदि सात अंगोंसे युक्त हो, तो उसका राज्य प्रबल माना जाता है और वह सहजमें ही अपने शत्रुको जीत लेता है। इसी प्रकार मोहरूप खोटे राजाने सात व्यसन रूप पाप-सेना रचकर धर्मरूप अपने शत्रुको जीत लिया है, ऐसी ग्रन्थकार कल्पना करते हैं।

जो भव्य जीव प्रतिदिन जिनदेवके भक्तिपूर्वक दर्शन करते हैं, उनका पूजन करते हैं और स्तुति करते हैं, वे तीनों लोकोंमें दर्शनीय, पूजनीय और स्तवन करनेके योग्य हैं किन्तु जो जिनेन्द्र-देवके न दर्शन करते हैं, न पूजन करते हैं, और न स्तुति ही करते हैं, उनका जीवन निष्फल है और उनका गृहस्थाश्रम भी धिक्कारके योग्य है ॥ १४-१५ ॥

इसलिए भव्य जीवोंको प्रातःकाल उठकर जिन भगवान् और गुरुजनोंका दर्शन करना चाहिए, भक्तिसे उनकी वन्दना करनी चाहिए, तथा धर्मका उपदेश सुनना चाहिए। इसके पीछे ही धर्मकी उपासना करनेवाले गृहस्थोंको अन्य सांसारिक कार्य करना चाहिए। क्योंकि गण-धरादि ज्ञानी जनोंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंमें धर्मको ही आदिमें कहा है ॥ १६-१७ ॥

गुरुके प्रसादसे ही ज्ञानरूप नेत्र प्राप्त होता है, जिसके द्वारा समस्त विश्व-गत पदार्थ हस्त-

ये गुरुं नैव मन्यन्ते तदुपास्तिं न कुर्वते । अन्धकारो भवेत्तेषामुदितेऽपि दिवाकरे ॥१९
ये पठन्ति न सच्छास्त्रं सद्गुरुप्रकटीकृतम् । तेऽन्धाः सचक्षुषोऽपीह सम्भाव्यन्ते मनीषिभिः ॥२०
मन्ये न प्रायशस्तेषां कर्णाश्च हृदयानि च । यैरभ्यासे गुरोः शास्त्रं न श्रुतं नावधारितम् ॥२१
देशव्रतानुसारेण संयमोऽपि निषेव्यते । गृहस्थैर्येन तेनैव जायते फलवद् व्रतम् ॥२२
त्याज्यं मांसं च मद्यं च मधूदुम्बरपञ्चकम् । अष्टौ मूलगुणाः प्रोक्ता गृहिणो दृष्टिपूर्वकाः ॥२३
अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिःप्रकारं गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतानि चत्वारि द्वादशेति गृहिव्रते ॥२४
पर्वस्वथ यथाशक्ति भुक्तित्यागादिकं तपः । वस्त्रपूतं पिवेत्तोयं रात्रिभोजनवर्जनम् ॥२५
तं देशं तं नरं तत्स्वं तत्कर्माण्यपि नाश्रयेत् । मलिनं दर्शनं येन येन च व्रतखण्डनम् ॥२६
भोगोपभोगसंख्यानं विधेयं विधिवत्सदा । व्रतशून्या न कर्तव्या काचित्कालकला बुधैः ॥२७
रत्नत्रयाश्रयः कार्यस्तथा भव्यैरतन्द्रितैः । जन्मान्तरेऽपि यच्छ्रद्धा यथा संवर्धतेतराम् ॥२८

रेखाके समान स्पष्ट दिखाई देते हैं । इसलिए ज्ञानार्थी गृहस्थोंको भक्तिपूर्वक गुरुजनोंकी वैयावृत्त्य और वन्दना आदि करना चाहिए । जो गुरुजनोंका सम्मान नहीं करते हैं और न उनकी उपासना ही करते हैं, सूर्यके उदय होनेपर भी उनके हृदयमें अज्ञानरूप अन्धकार बना ही रहता है ॥ १८-१९ ॥

जो मनुष्य सद्-गुरुओंके द्वारा प्रकट किये गये (निर्मित या रचित) उत्तम शास्त्रोंको नहीं पढ़ते हैं, उन पुरुषोंको मनीषी जन नेत्र-धारक होने पर भी अन्धे ही मानते हैं । इसलिए गृहस्थको शास्त्रोंका पठन, श्रवण और मनन अवश्य करना चाहिए । ग्रन्थकार कहते हैं कि जिन लोगोंने गुरुजनोंके समीपमें बैठकर शास्त्रोंको न सुना है और न मनन-चिन्तन कर उसे हृदयमें धारण ही किया है उनके कान और हृदय नहीं है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ २०-२१ ॥

गृहस्थोंको अपने एकदेशव्रतके अनुसार संयमका भी पालन करना चाहिए, क्योंकि संयमके द्वारा ही उनका वह देशव्रत फलीभूत होता है ॥ २२ ॥

श्रावकोंको मांस, मद्य, मधु और पाँच उदुम्बर फल इन आठोंके खानेका अवश्य त्याग करना चाहिए । सम्यग्दर्शनपूर्वक उक्त आठोंका परित्याग ही गृहस्थोंके आठ मूलगुण कहे गये हैं ॥ २३ ॥

अहिंसादि पांच अणुव्रत, देशव्रतादि तीन गुणव्रत और सामायिकादि चार शिक्षाव्रत ये गृहस्थोंके बारह व्रत जिनेन्द्र देवने निरूपण किये हैं ॥ २४ ॥

उक्त आठ मूलगुणोंको धारण करने तथा बारह व्रतोंको पालन करनेके अतिरिक्त गृहस्थोंको पर्वके दिनोंमें यथाशक्ति भोजन और रसादिके त्यागरूप तप करना चाहिए, वस्त्र-गालित जल पीना चाहिए और रात्रि-भोजनका परित्याग करना चाहिए ॥ २५ ॥

गृहस्थोंको ऐसे देश, मनुष्य और कार्योंका आश्रय नहीं लेना चाहिए, जिससे कि उसका सम्यग्दर्शन मलिन हो और जिससे उसके धारण किये गये व्रतोंका खण्डन हो ॥ २६ ॥

श्रावकोंको सदा विधिपूर्वक भोग और उपभोगके योग्य पदार्थोंके सेवनकी संख्याका भी नियम लेना चाहिए । ज्ञानी जनोंको कालकी एक कला (क्षण) भी व्रत-शून्य नहीं बिताना चाहिए ॥ २७ ॥

तथा भव्योंको आलस्य-रहित होकर रत्नत्रय धर्मका आश्रय लेना चाहिए, जिससे कि जन्मान्तरमें भी तत्त्वको श्रद्धा उत्तरोत्तर दृढ़ताके साथ बढ़ती जावे ॥ २८ ॥

विनयश्च यथायोग्यं कर्तव्यः परमेष्ठिषु । दृष्टिबोधचरित्रेषु तद्वत्सु समयाश्रितैः ॥२९
दर्शनज्ञानचारित्रतपःप्रभृति सिद्धयति । विनयेनेति तं तेन मोक्षद्वारं क्षते ॥३०
सत्पात्रेषु यथाशक्ति दानं देयं गृहस्थितैः । दानहीना भवेत्तेषां निष्फलैव गृहस्थता ॥३१
दानं ये न प्रयच्छन्ति निर्ग्रन्थेषु चतुर्विधम् । पाशा एव गृहास्तेषां बन्धनायैव निर्मिताः ॥३२
अभयाहारभैषज्यशास्त्रदाने हि यत्कृते । ऋषीणां जायते सौख्यं गृही श्लाघ्यः कथं न सः ॥३३
समर्थोऽपि न यो दद्याद्यतीनां दानमादरात् । छिनत्ति स स्वयं मूढः परत्र सुखमात्मनः ॥३४
दृषन्नावा समो ज्ञेयो दानहीनो गृहाश्रमः । तदारूढो भवाम्भोधौ मज्जत्येव न संशयः ॥३५
स्वमतस्थेषु वात्सल्यं स्वशक्त्या ये न कुर्वते । बहुपापावृतात्मानस्ते धर्मस्य पराङ्मुखाः ॥३६
येषां जिनोपदेशेन कारुण्यामृतपूरिते । चित्ते जीवदया नास्ति तेषां धर्मः कुतो भवेत् ॥३७
मूलं धर्मतरोराद्या व्रतानां धाम सम्पदाम् । गुणानां निधिरित्यङ्गिदया कार्या विवेकिभिः ॥३८
सर्वे जीवदयाऽऽधारा गुणास्तिष्ठन्ति मानुषे । सूत्राधाराः प्रसूनानां हाराणां च सरा इव ॥३९
यतीनां श्रावकाणां च व्रतानि सकलान्यपि । एकाऽहिंसाप्रसिद्धयर्थं कथितानि जिनेश्वरैः ॥४०

जैन-शासनका आश्रय लेने वाले मनुष्योंको पंचपरमेष्ठीमें, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें और उनके धारण करनेवालोंमें यथायोग्य विनय अवश्य ही करनी चाहिए। क्योंकि विनयसे ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप आदिक सिद्ध होते हैं, इसलिए ज्ञानियोंने उस विनयको मोक्ष-द्वार कहा है ॥ २९-३० ॥

गृहस्थोंको सत्पात्रोंमें यथाशक्ति दान देना चाहिए, क्योंकि दानहीन गृहस्थोंकी गृहस्थता निष्फल ही रहती है। जो गृहस्थ निर्ग्रन्थ साधुओंको आहारादि चार प्रकारका दान नहीं देते हैं, उनके घर उनके बन्धनके लिए दैवने जाल-पाशके रूपमें ही निर्माण किये हैं, ऐसा मैं (ग्रन्थकार) मानता हूँ ॥ ३१-३२ ॥

जिस गृहस्थके द्वारा अभयदान, आहारदान, औषधिदान और शास्त्रदानके किये जाने पर ऋषि जनोंको सुख प्राप्त होता है, भला फिर वह दाता गृहस्थ प्रशंसाके योग्य कैसे नहीं है? अर्थात् दान देनेवाले गृहस्थकी सारा संसार प्रशंसा करता है। सामर्थ्यवान् हो करके भी जो गृहस्थ साधुओंको आदरसे दान नहीं देता है, वह मूढ़ परभवमें अपने सुखका स्वयं ही विनाश करता है। दानहीन गृहस्थाश्रम पाषाणकी नावके समान है। उस पाषाणकी नाव पर बैठा हुआ गृहस्थ नियमसे संसाररूपी समुद्रमें डूबता ही है ॥ ३३-३५ ॥

जो श्रावक अपने साधर्मी जनों पर अपनी शक्तिके अनुसार वात्सल्य नहीं करते हैं, वे धर्म-से पराङ्मुख हैं और उनकी आत्मा प्रबल पापोंसे आवृत है, ऐसा समझना चाहिए ॥ ३६ ॥

जिन भगवान्‌के उपदेश द्वारा करुणारूप अमृतसे पूरित होने पर भी जिन जीवोंके चित्तमें जीवोंके प्रति दया भाव नहीं है, उन मनुष्योंके हृदयमें धर्म कैसे ठहर सकता है? यह दया भाव धर्मरूप वृक्षका मूल है, इसका सर्व व्रतोंमें प्रथम स्थान है, यह सम्पदाओंका धाम है और गुणोंका निधान है। अतएव विवेकी जनोंको जीवोंके प्रति दया अवश्य करनी चाहिए ॥ ३७-३८ ॥

मनुष्यमें सभी सद्-गुण एक जीव-दयाके आधार पर ही रहते हैं। जैसे कि मालाके फूल अथवा हारोंके मणि सूत्र (धागा) के आधार पर रहते हैं। मुनियों और श्रावकोंके समस्त व्रत एक अहिंसाकी परम सिद्धिके लिए ही जिनेश्वरोंने कहे हैं। इसलिए सर्व प्राणियों पर दया ही करना चाहिए ॥ ३९-४० ॥

जीवहिंसादिसङ्कल्पैरात्मन्यपि हि दूषिते । पापं भवति जीवस्य न परं परपीडनात् ॥४१
द्वादशापि सदा चिन्त्या अनुप्रेक्षा महात्मभिः । तद्भावना भवत्येव कर्मणः क्षयकारणम् ॥४२
अध्रुवाशरणे चैव भव एकत्वमेव च । अन्यत्वमशुचित्वं च तथैवास्रवसंवरौ ॥४३
निर्जरा च तथा लोको वोधिदुर्लभधर्मता । द्वादशैता अनुप्रेक्षा भाषिता जिनपुङ्गवैः ॥४४
अध्रुवाणि ानि शरीरादीनि देहिनाम् । तन्नाशेऽपि न कर्तव्यः शोको दुष्कर्मकारणम् ॥४५
व्याघ्रेणाघ्रातकायस्य मृगशावस्य निर्जने । यथा न शरणं जन्तोः संसारे न तथाऽऽपदि ॥४६
यत्सुखं तत्सुखाभासो यद्दुःखं तत्सदञ्जसा । भवे लोकसुखं सत्यं मोक्ष एव स साध्यताम् ॥४७
स्वजनो वा परो वापि नो कश्चित् परमार्थतः । केवलं स्वर्जितं कर्म जीवेनैकेन भुज्यते ॥४८
क्षीर-नीरवदेकत्र स्थितयोर्देह-देहिनोः । भेदो यदि ततोऽन्येषु त्रादिषु का कथा ॥४९
तथाऽशुचिरयं कायः कृमिधातुमलान्वितः । यथा तस्यैव सम्पर्कादन्यत्राप्यपवित्रता ॥५०

केवल अन्य प्राणियोंको पीड़ा पहुँचानेसे ही पाप नहीं होता है, अपितु जीवोंकी हिंसा करनेके संकल्पसे आत्माके दूषित होने पर भी पाप होता है। इसलिए जीवोंकी हिंसा करना तो दूर रहे, हिंसा करनेके भावोंसे भी पापका वंध होता है। अतः जीव-हिंसाके भाव भी मनमें नहीं आने देना चाहिए ॥ ४१ ॥

उत्तम पुरुषोंको सदा ही वारह भावनाओंका चिन्तवन करना चाहिए, क्योंकि भावनाओं-का चिन्तवन कर्मोंके क्षयका कारण होता ही है ॥ ४२ ॥

जिनेन्द्र देवने ये वारह भावनाएँ कही हैं—१. अध्रुव (अनित्य), २. अशरण, ३. संसार, ४. एकत्व, ५. अन्यत्व, ६. अशुचित्व, ७. आस्रव, ८. संवर, ९. निर्जरा, १०. लोक, ११. वोधिदुर्लभ और १२. धर्म। आगे क्रमशः इनका वर्णन किया जाता है ॥ ४३-४४ ॥

१. अनित्य भावना—देह-धारियोंके शरीर, धन, धान्यादिक समस्त उपलब्ध पदार्थ अध्रुव हैं, अतः उनका विनाश अवश्यम्भावी है। फिर उनका विनाश होने पर मनुष्योंको शोक नहीं करना चाहिए, क्योंकि शोक करना खोटे कर्मोंके वन्धका ही कारण है ॥ ४५ ॥

२. अशरण भावना—जिस प्रकार निर्जन वनमें व्याघ्रके द्वारा मुखमें दावे हुए हरिणके वच्चेका कोई शरण नहीं है, उसी प्रकार संसारमें आपत्ति आने पर इस जीवका भी कोई शरण नहीं है ॥ ४६ ॥

३. संसार भावना—हे आत्मन्, संसारमें जो सुख मालूम होता है, वह वास्तविक सुख नहीं है किन्तु सुखाभास है, अर्थात् सुखके समान मालूम पड़ने पर भी दुःखका प्रतीकार मात्र है। किन्तु जो दुःख है, वह नियमसे सत्य है। वास्तविक सुख तो मोक्षमें ही है, अतः उसकी प्राप्तिके लिए ही तुझे प्रयत्न करना चाहिए ॥ ४७ ॥

४. एकत्वभावना—यदि परमार्थसे देखा जाय तो संसारमें न कोई जीवका स्वजन है और न कोई परजन ही है। केवल यह अकेला जीव ही अपने पूर्वोपार्जित कर्मके फलोंको भोगता है ॥ ४८ ॥

५. अन्यत्वभावना—मिले हुए दूध और पानीके समान एकत्र स्थित देह और देहीमें ही यदि भेद है अर्थात् अन्यपना है, तो अपनेसे प्रकट रूपसे ही भिन्न रहनेवाले स्त्री-पुत्रादिमें उसको कथा ही क्या है। भावार्थ—संसारके सर्व चेतन और अचेतन पदार्थ जीवसे भिन्न हैं ॥ ४९ ॥

६. अशुचिभावना—कृमि, रस-रक्तादि धातु और मल-मूत्रादि मलसे संयुक्त यह शरीर

जीवपोतो भवाम्भोधौ मिथ्यात्वादिकरन्ध्रवान् । आस्रवति विनाशार्थं कर्माम्भः प्रचुरं भ्रमात् ॥५१
कर्मास्रवनिरोधोऽत्र संवरो भ्रमति ध्रुवम् । साक्षादेतदनुष्ठानं मनोवाक्कायसंवृतिः ॥५२
निर्जरा शातनं प्रोक्ता पूर्वोपार्जितकर्मणाम् । तपोभिर्बहुभिः सा स्याद्वैराग्याश्रितचेष्टितैः ॥५३
लोकः सर्वोऽपि सर्वत्र सापायस्थितिरध्रुवः । दुःखकारीति कर्तव्या मोक्ष एव मतिः सताम् ॥५४
रत्नत्रयपरिप्राप्तिर्बोधिः सातीव दुर्लभा । लब्धा कथं कथञ्चिच्चेत्कार्यो यत्नो महानिह ॥५५
निजधर्मोऽयमत्यन्तं दुर्लभो भविनां मतः । तथा ग्राह्यो यथा साक्षादामोक्षं सह गच्छति ॥५६
दुःखग्राहगणाकीर्णे संसारक्षारसागरे । धर्मपोतं परं प्राहुस्तारणार्थं मनीषिणः ॥५७
अनुप्रेक्षा इमाः सद्भिः सर्वदा हृदये धृताः । कुर्वते तत्परं पुण्यं हेतुर्यत्स्वर्ग-मोक्षयोः ॥५८
आद्योत्तमक्षमा यत्र यो धर्मो दशभेदभाक् । श्रावकैरपि सेव्योऽसौ यथाशक्ति यथागमम् ॥५९

इतना अशुचि (अपवित्र) है कि उसके सम्पर्कसे अन्य पवित्र पदार्थोंमें भी अपवित्रता आ जाती है ॥ ५० ॥

७. आस्रवभावना—इस संसार रूप समुद्रमें यह जीवरूप जहाज मिथ्यात्व, अविरति आदि छिद्रोंसे युक्त होकर अपने ही भ्रमसे अपने ही विनाशके लिए अपने भीतर प्रचुर कर्मरूप जलका आस्रव करता है ॥ ५१ ॥

८. संवरभावना—अपने भीतर कर्मोंके आगमनका निरोध करना ही निश्चयसे संवर है। इस संवरका साक्षात् अनुष्ठान मन, वचन और काय इन तीन योगोंके संवरण (निरोध) करने पर ही होता है ॥ ५२ ॥

९. निर्जराभावना—पूर्वमें उपार्जन किये गये कर्मोंके झड़ानेको निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा वैराग्य-युक्त चेष्टाओं (क्रियाओं) के साथ अनशन आदि नाना प्रकारके तपोंके द्वारा होती है ॥ ५३ ॥

१०. लोकभावना—यह सम्पूर्ण लोक सर्वत्र ही विनाशीक और अनित्य है, तथा नाना-प्रकारके दुःखोंका करनेवाला है, ऐसा विचार करके सज्जनोंको अपनी बुद्धि मोक्षमें ही लगानी चाहिए ॥ ५४ ॥

११. बोधिदुर्लभभावना—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रस्वरूप रत्नत्रयकी परिप्राप्तिको बोधि कहते हैं, उसकी प्राप्ति अतीव दुर्लभ है। यदि यह बोधि किसी प्रकारसे प्राप्त हो जाय, तो उसकी रक्षाके लिए ज्ञानियोंको महान् यत्न करना चाहिए ॥ ५५ ॥

१२. धर्मभावना—संसारमें जीवोंको ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मधर्मका पाना अत्यन्त दुर्लभ माना गया है। इसलिए उसे इस प्रकारसे ग्रहण करना चाहिए कि वह साक्षात् मोक्षकी प्राप्ति होने तक साथ ही चला जाय। नाना प्रकारके दुःखरूपी मगर-मच्छोंके समुदायसे भरे हुए इस संसाररूपी क्षार सागरमें पार उतारनेके लिए मनीषी जन धर्मरूप जहाजको ही परमश्रेष्ठ कहते हैं ॥ ५६-५७ ॥

जो सज्जन पुरुष इन बारह भावनाओंको सदा ही अपने हृदयमें धारण करते हैं, वे उस परम पुण्यका संचय करते हैं, जो कि स्वर्ग और मोक्षका कारण है। इसलिए अभ्युदय और निःश्रेयसकी अभिलाषा रखनेवाले जीवोंको सदा ही इन भावनाओंका चिन्तवन करना चाहिए ॥ ५८ ॥

जिसके आदिमें उत्तम क्षमा है, ऐसे दश भेद रूप धर्मका सेवन भी श्रावकोंको यथाशक्ति आगमके अनुसार करना चाहिए ॥ ५९ ॥

अन्तस्तत्त्वं विशुद्धात्मा बहिस्तत्त्वं ऽङ्गिषु । द्वयोः सन्मीलने मोक्षस्तस्माद् द्वि श्रयेत् ॥६०
कर्मभ्यः कर्मकार्येभ्यः पृथग्भूतं चिदात्म । आत्मानं भावयेन्नित्यं नित्यानन्दपदप्रदम् ॥६१
इत्युपासकसंस्कारः कृतः श्रीप न्दिना । येषामेतदनुष्ठानं तेषां धर्मोऽतिनिर्मलः ॥६२

•

देशव्रतो ोतन

वाह्याभ्यन्तरसङ्गवर्जनं ध्यानेन शुक्लेन यः
कृत्वा कर्मचतुष्टयक्षयमगात्सर्वज्ञतां निश्चिताम् ।
तेनोक्तानि सि ने सत्यानि नान्यानि तद्
भ्राम्यत्यत्र मतिस्तु यस्य स महापापी न भव्योऽथवा ॥१
एकोऽप्यत्र करोति यः स्थितिर्मातं प्रीतः शुचौ दर्शने
स घ्यः खलु दुःखितोऽप्युदयतो दुष्कर्मणः प्राणिभृत् ।
अन्यैः किं प्रचुरैरपि प्रमुदितैरत्यन्तदूरीकृत-
स्फीतानन्दभरप्रदामृतपथैर्मिथ्यापथप्रस्थितैः ॥२

चिदानन्द चैतन्यरूप विशुद्ध आत्मा तो अन्तस्तत्त्व है और प्राणियोंपर दया करना बाह्य तत्त्व है। इन दोनों तत्त्वोंके सम्मिलन होने पर मोक्ष प्राप्त होता है, इसलिए मोक्षार्थी जीवोंको दोनों ही तत्त्वोंका आश्रय लेना चाहिए॥ ६० ॥

कर्मोंसे, तथा कर्मोंके कार्योंसे सर्वथा भिन्न, चिदानन्द चैतन्य-स्वरूप, तथा नित्य आनन्द-रूप मोक्षपदके देनेवाले आत्माकी ज्ञानी जनोंको नित्य भावना करनी चाहिए॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीपद्मनन्दि आचार्यने इस उपासक संस्कार (श्रावकाचार) की रचना की है। जिन पुरुषोंका अनुष्ठान इसके अनुसार होता है उनको ही निर्मल धर्म प्राप्त होता है॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीपद्मनन्दिपंचविंशतिका-में वर्णित उपासक संस्कार नामका अधिकार समाप्त हुआ।

•

देशव्रतोद्योतन

वाहिरी और भीतरी सर्व परिग्रहको छोड़नेसे शुक्लध्यानके द्वारा चार घातिया कर्मोंका नाश करके निश्चितरूपसे सर्वज्ञताको प्राप्त हुए हैं, उन्हीं सर्वज्ञदेवके कहे हुए वचन धर्मके निरूपण करनेमें सत्य हैं, अन्य असर्वज्ञके द्वारा कहे गये वचन सत्य नहीं हैं, ऐसा भले प्रकारसे जानकर भी जिस मनुष्य को वुद्धि सर्वज्ञ-प्ररूपित धर्मके विषयमें भ्रमरूप हो रही है, तो समझना चाहिए कि वह मनुष्य महापापी है, अथवा भव्य नहीं है॥ १ ॥

दुष्कर्मके उदयसे जो वर्तमानमें दुःखित भी हो, फिर भी वह यदि पवित्र सम्यग्दर्शनमें प्रीतिपूर्वक अपनी वुद्धिको निश्चल करता है, वह संख्यामें एक होनेपर भी प्रशंसनीय है। किन्तु जो अक्षय अनन्त आनन्दपुंजको देनेवाले अमृतपथ (मोक्षमार्ग) से अत्यन्त दूर हैं और अनन्त दुःखदायी मिथ्यात्वके मार्गपर चल रहे हैं, वे पुरुष यदि पूर्व पुण्यके उदयसे वर्तमानमें प्रमोदको भी प्राप्त हो रहे हैं, तो भी उनसे क्या ? अर्थात प्रशंसाके योग्य नहीं हैं॥ २ ॥

वीजं मोक्षतरोर्दृशं भवतरोर्मिथ्यात्वमाहुर्जिनाः
प्राप्तां दृशि तन्मुमुक्षुभिरलं यत्नो विधेयो बुधैः ।
संसारे वहुयोनिजालजटिले भ्राम्यन् कुकर्मावृतः
क्व प्राणी लभते महत्यपि गते काले हि तां तामिह ॥३

सम्प्राप्तेऽत्र भवे कथं कथमपि द्राघीयसाऽनेहसा
मानुष्ये शुचिदर्शने च महतां कार्यं तपो मोक्षदम् ।
नो चेल्लोकनिषेधतोऽथ महतो मोहा रथ
सम्पद्येत न गृहवतां षट्कर्मयोग्यं व्रतम् ॥४

दृङ्मूलव्रतमष्टधा तदनु च स्यात्पञ्चधाऽणुव्रतं
शीलाख्यं च गुणव्रतं : शिक्षाश्च : पराः ।
रात्रौ भोज नं शुचिपटात्पेयं पयः शक्तितः
मौनादिव्रतमप्यनुष्ठितमिदं पुण्याय भव्यात्मनाम् ॥५

हन्ति स्थावरदेहिनः स्वविषये सर्वांस्त्रसान् रक्षति
ब्रूते सत्यमचौर्यवृत्तिमवलां शुद्धां निजां सेवते ।
दिग्देशव्रतदण्डवर्जनमतः सामायिकं प्रोषधं
दानं भोगयुगप्रमाणमुररीकुर्याद् गृहीति व्रती ॥६

मोक्षरूपी वृक्षका वीज सम्यग्दर्शन है और संसाररूपी वृक्षका वीज मिथ्यादर्शन है, ऐसा जिन देवोंने कहा है, इसलिए मुमुक्षु जनोंको प्राप्त हुए सम्यग्दर्शनकी रक्षाके लिए प्रबल प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि नाना योनियोंके जालसे जटिल इस संसारमें खोटे कर्मोंसे वँधा हुआ यह प्राणी अनादि कालसे परिभ्रमण करता हुआ आ रहा है, (वर्तमान भवमें बड़े पुण्योदयसे यह सम्यक्त्व-रत्न प्राप्त हुआ है। उसके छूट जाने पर) आगे वहुत कालके वीत जाने पर भी फिर उसे कहाँ पा सकता है। सारांश यह कि सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति अत्यन्त कठिन है, अतः प्राप्त सम्यक्त्वकी भले प्रकारसे रक्षा करनी चाहिए ॥ ३ ॥

संसारमें परिभ्रमण करते हुए अनन्त कालके वीत जाने पर वड़ी कठिनाईसे महान् पुण्योदयसे यह मनुष्य-भव और पवित्र सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ है, इसलिए वुधजनोंको मोक्षका देनेवाला तप करना चाहिए। यदि पारिवारिक लोगोंके निषेधसे, प्रबल मोहके उदयसे अथवा असामर्थ्यसे तप धारण नहीं किया जा सके, तो गृहस्थोंको देवपूजा आदि षट् कर्मोंके योग्य व्रतका पालन तो अवश्य ही करना चाहिए ॥ ४ ॥

गृहस्थको चाहिए कि वह सर्वप्रथम सम्यग्दर्शनपूर्वक आठ प्रकारके मूलगुणोंको धारण करे, तत्पश्चात् पाँच प्रकारके अणुव्रत, तथा शील नामसे प्रसिद्ध तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतको पालन करे। रात्रिमें भोजनका परित्याग करे और पवित्र वस्त्रसे छना हुआ पानी पीवे, तथा शक्तिके अनुसार मौनव्रत आदि अन्य व्रतोंका अनुष्ठान करे। क्योंकि भली-भाँतिसे पालन किये ये व्रत भव्य जीवोंको पुण्यके उपार्जन करनेवाले होते हैं ॥ ५ ॥

यद्यपि गृहस्थ अपनी क्षुधा-पिपासाकी शान्तिके लिए एकेन्द्रिय स्थावर जीवोंको मारता है, तथापि वह द्वीन्द्रियादि समस्त त्रस जीवोंकी रक्षा करता है, सत्य वोलता है, चोरी नहीं करता है,

देवाराधन-पूजनादिबहुषु व्यापार षु स पुण्योपार्जनहेतुषु प्रतिदिनं संजायमानेष्वपि ।
संसारार्णवतारणे प्रवहणं सत्पात्रमुद्दिश्य यत्तद्देशव्रतधारिणो धनवतो दानं प्र ष्टो गुणः ।।७

सर्वो वाञ्छति सौख्यमेव तनुभृत्तन्मोक्ष एव स्फुटं
दृष्ट्यादित्रय एव सिद्धयति स तन्निर्ग्रन्थ एव स्थितम् ।
तद्-वृत्तिर्वपुषोऽस्य वृत्तिर त्तद्दीयते श्रावकैः
काले क्लिष्टतरेऽपि मोक्षपदवी प्रायस्ततो वर्तते ।।८

स्वेच्छाहारविहारजल्पनतया नीरुग्वपुर्जायते साधूनां तु न सा ततस्तदपटु ेण सम्भाव्यते ।
कुर्यादौषधपथ्यवारिभिरिदं चारित्रभारक्षमं स्मादिह वर्तते मिनां धर्मो गृहस्थोत्तमात् ।।९
व्याख्या पुस्तकदानमुन्नतधियां पाठाय भव्यात्मनां भक्त्या यत्क्रियते श्रुता मिदं दानं तदाहुर्बुधाः ।
सिद्धेऽस्मिञ्जननान्तरेषु कतिषु त्रैलोक्यलोकोत्सव-श्रीकारिप्रकटीकृतारि जगत्कैवल्यभाजो जनाः ।।१०

अपनी शुद्ध विवाहिता स्त्रीका सेवन करता है, दिग्व्रत और देशव्रतका पालन करता है, अनर्थ-दण्डोंका त्याग करता है, सामायिक और प्रोषधोपवास करता है, दान देता है और भोगोपभोग परिमाणको स्वीकार करता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—इस पद्यमें ग्रन्थकारने गृहस्थको श्रावकके बारह व्रतोंको धारण करनेका उपदेश दिया है। यद्यपि पद्यमें परिग्रह परिमाण नामक पाँचवें अणुव्रतका स्पष्ट उल्लेख नहीं है, तथापि भोगोपभोग परिमाणव्रतके साथ उसका भी निर्देश किया जानना चाहिए। इसका कारण यह है कि सभी प्रकारका परिग्रह भोग और उपभोगरूपमें विभाजित है। उसका जीवनभरके लिए परिमाण पाँचवाँ अणुव्रत कहलाता है और काल मर्यादाके साथ परिमाण करना तीसरा शिक्षाव्रत कहलाता है, यही दोनोंमें अन्तर है।

यद्यपि देशव्रतधारी धनवान् गृहस्थके पुण्योपार्जनके कारणभूत देव-पूजा, गुरु-उपासना आदि बहुतसे पवित्र व्यापारवाले कार्य प्रतिदिन होते रहते हैं, तथापि सत्पात्रको उद्देश्य करके जो दान दिया जाता है, वह संसार-सागरसे पार उतारनेमें जहाजके समान माना गया है, अतएव सत्पात्रको दान देना गृहस्थका सबसे महान् गुण है ॥ ७ ॥

सभी शरीरधारी प्राणी सुखको ही चाहते हैं। यह सच्चा सुख मोक्षमें ही है और वह सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रयके होनेपर ही सिद्ध होता है। यह रत्नत्रय धर्म सर्व परिग्रहसे रहित निर्ग्रन्थ अवस्थामें ही प्राप्त होता है। यह निर्ग्रन्थता शरीरके सद्भावमें होती है। शरीरकी स्थिति अन्न-पानके करनेसे होती है और यह अन्न-पान श्रावकोंके द्वारा दिया जाता है। इसलिए अति कष्टमय इस कलिकालमें भी मोक्षपदवीकी प्रवृत्ति प्रायः गृहस्थोंके द्वारा दिये गये दानसे ही चल रही है ॥ ८ ॥

अपनी इच्छाके अनुकूल आहार, विहार और संभाषणसे मनुष्योंका शरीर नीरोग रहता है। किन्तु साधुजनोंके लिए ये सभी बातें संभव नहीं हैं, इसलिए प्रायः करके उनका शरीर अशक्त या निर्बल बना रहता है। अतः यह आवश्यक है कि गृहस्थ उन्हें योग्य औषधि, पथ्य आहार और प्रासुक जल देकर प्रशान्त चित्त साधुओंके शरीरको चारित्रके भारको धारण करनेमें समर्थ बनावें। इस प्रकार मुनिधर्मकी प्रवृत्ति उत्तम श्रावकोंसे ही चलती है ॥ ९ ॥

उन्नत बुद्धिवाले भव्यजनोंको पढ़नेके लिए भक्तिके साथ जो शास्त्रका दान दिया जाता है, तथा शास्त्रोंके अर्थकी व्याख्या की जाती है, उसे ज्ञानी जनोंने शास्त्र दान कहा है। इस शास्त्र या

सर्वेषामभयं प्रवृद्धकरुणैर्यद्दीयते प्राणिनां दानं स्यादभयादि तेन रहितं दानत्रयं निष्फलम् ।
आहारौषधशास्त्रदानविधिभिः क्षुद्रोगजाड्याद्भयं यत्तत्पात्रजने विनश्यति ततो दानं तदेकं परम् ॥११
आहारात्सुखितौषधादतितरां नीरोगता जायते शास्त्रात्पात्रनिवेदितात्परभवे पाण्डित्यमत्यद्भुतम् ।
एतत्सर्वगुणप्रभापरिकरः पुंसोऽभयाद्दानतः पर्यन्ते पुनरुन्नतोन्नतपदप्राप्तिर्विमुक्तिस्ततः ॥१२

कृत्वा कार्यशतानि पापवहुलान्याश्रित्य खेदं परं
भ्रान्त्वा वारिधिमेखलां वसुमतीं दुःखेन यच्चार्जितम् ।
तत्पुत्रादपि जीवितादपि धनं प्रेयोऽस्य पन्था शुभो
दानं तेन च दीयतामिदमहो नान्येन तत्सद्गतिः ॥१३

दानेनैव गृहस्थता गुणवती लोकद्वयोद्योतिका नैव स्यान्ननु तद्विना धनवतो लोकद्वयध्वंसकृत् ।
दुर्व्यापारशतेषु सत्सु गृहिणः पापं यदुत्पद्यते तन्नाशाय शशाङ्कशुभ्रयशसे दानं न चान्यत्परम् ॥१४

ज्ञान दानके देनेपर भव्यजन कुछ ही भवोंमें त्रैलोक्यमें उत्सव करनेवाली समवसरण-लक्ष्मीकी प्राप्तिके साथ समस्त जगत्को हस्त-रेखाके समान प्रत्यक्ष देखनेवाले केवलज्ञानके धारक होते हैं ॥१०॥

निरन्तर वर्धमान करुणा (दया) के धारक श्रावकोंके द्वारा सभी प्राणियोंके भयको दूर कर और उन्हें निर्भय वनाकर जो उनकी रक्षा की जाती है, उसे अभयदान कहते हैं। इस अभयदानके विना शेष तीनों दानोंका देना निष्फल है। वस्तुतः पात्र जनोंको आहार देनेसे उनका क्षुधाजनित भय दूर होता है, औषधि देनेसे रोगका भय दूर होता है और शास्त्र दान करनेसे जड़तासे उत्पन्न होनेवाला अज्ञानका भय विनष्ट होता है, इसलिए एक अभयदान ही सब दानोंमें श्रेष्ठ हैं, क्योंकि उसके भीतर तीनों दानोंका समावेश हो जाता है ॥ ११ ॥

पात्रोंको दिये गये आहारदानसे परभवमें देव, इन्द्र, चक्रवर्ती आदिके सुखोंकी प्राप्ति होती है, औषधिदानसे अत्यन्त नीरोग और रूपवान् शरीर प्राप्त होता है, शास्त्र दानसे अति चमत्कारी पाण्डित्य प्राप्त होता है। किन्तु केवल एक अभयदानसे उक्त सर्व गुणोंका परिकर (समुदाय) मनुष्यको प्राप्त होता है और उत्तरोत्तर उन्नत पदोंकी प्राप्ति होते हुए अन्तमें मुक्ति भी प्राप्त होती है ॥ १२ ॥

मनुष्य वहुत पापवाले सैकड़ों कार्योंको करके, अत्यन्त खेदको प्राप्त होकर और समुद्र-पर्यन्त सारी पृथ्वीपर परिभ्रमण करके अति दुःखसे जिस धनका उपार्जन करता है, वह उसे अपने पुत्रसे और जीवनसे भी प्यारा होता है। उस धनके सदुपयोगका यदि कोई शुभ मार्ग है, तो सुपात्रोंको दान देना ही है। दानके सिवाय धनका और कोई सदुपयोग या सद्-गति नहीं है, इसलिए सुपात्रोंको सदा ही दान देना चाहिए ॥ १३ ॥

दानसे ही गृहस्थपना सार्थक होता है और दानसे ही दोनों लोकोंमें प्रकाश करनेवाली गुणवत्ता प्राप्त होती है। किन्तु दानके विना धनी पुरुषकी गृहस्थता दोनों लोकोंका विनाश करनेवाली होती है। गृहस्थोंके सैकड़ों खोटे व्यापारोंके होते रहने पर जो पाप उत्पन्न होता है, उसके नाश करनेके लिए, तथा चन्द्रमाके समान उज्ज्वल यश पानेके लिए दान ही सर्वश्रेष्ठ है, इससे उत्तम अन्य कोई वस्तु नहीं है। अतएव गृहस्थको चाहिए कि वह पात्रोंको दान देकर अपने गृहस्थपनेको सफल करें ॥ १४ ॥

पात्राणामुपयोगि यत्किल धनं तद्धीमतां मन्यते येनानन्तगुणं परत्र सुखदं व्यावर्तते तत्पुनः ।
यद्भोगाय गतं पुनर्धनवतस्तन्नष्टमेव ध्रुवं सर्वासामिति सम्पदां गृहवतां दानं प्रधानं फलम् ॥१५

पुत्रे राज्यमशेषमर्थिषु धनं दत्वाऽभयं प्राणिषु
प्राप्ता नित्यसुखास्पदं सुतपसा मोक्षं पुरा पार्थिवाः ।
मोक्षस्यापि भवेत्ततः प्रथमतो दानं निदानं बुधैः
शक्त्या देयमिदं सदातिचपले द्रव्ये तथा जीविते ॥१६

ये मोक्षं प्रति नोद्यताः सुनृभवे लब्धेऽपि दुर्बुद्धय-
स्ते तिष्ठन्ति गृहे न दानमिह चेत्तन्मोहपाशो दृढः ।
मत्वेदं गृहिणा यथर्द्धि विविधं दानं सदा दीयतां
तत्संसारसरित्पति रणे पोतायते निश्चितम् ॥१७

यैर्नित्यं न विलोक्यते जिनपतिर्न स्मर्यते नार्च्यते
न स्तूयेत न दीयते मुनिजने दानं च भक्त्या परम् ।
सामर्थ्ये सति तद्-गृहाश्रमपदं पाषाणनावा
तत्रस्था भवसागरेऽतिविषमे मज्जन्ति नश्यन्ति च ॥१८

चिन्तारत्नसुरद्रुकामसुरभिस्पर्शोपलाद्या भुवि ख्याता एव परोपकारकरणे दृष्टा न ते केनचित् ।
तैरत्रोपकृतं न केषुचिदपि प्रायो न सम्भाव्यते तत्कार्याणि पुनः सदैव विदधद्दाता परं दृश्यते ॥१९

जो धन पात्रोंके उपयोगमें आता है, बुद्धिमान् लोग उसे ही अच्छा मानते हैं, क्योंकि पात्र-में दिया गया वह धन परलोकमें सुखदायी होता है और अनन्तगुणा होकर वापिस प्राप्त होता किन्तु धनी पुरुषका जो धन भोगके लिए खर्च किया जाता है वह नष्ट हुआ ही समझना चाहिए। सारांश यह है कि गृहस्थोंके सभी सम्पदाओंके पानेका प्रधान फल एक दान ही है ॥ १५ ॥

पूर्व कालमें अनेक बड़े-बड़े राजा लोग पुत्रोंको राज्य देकर और धनार्थी याचक जनोंको समस्त धन देकर, तथा सर्व प्राणियोंको अभयदान देकर उत्तम तपका आचरण कर नित्य अवि-नाशी सुखके धाम मोक्षको प्राप्त हुए हैं। इसलिए मोक्षका सबसे प्रथम कारण यह दान ही है। जब यह धन और जीवन अति चपल हैं, जलबुद्बुदवत् क्षणभंगुर हैं, तब ज्ञानी जनोंको चाहिए कि वे शक्तिके अनुसार सदा ही पात्रोंको दान दिया करें ॥ १६ ॥

जो मनुष्य इस सुन्दर नर-भवको पा करके भी मोक्षके लिए उद्यम नहीं करते हैं, तथा घर-में रहते हैं फिर भी दान नहीं देते हैं, वे दुर्बुद्धि हैं और उनका मोहपाश दृढ़ है, ऐसा समझना चाहिए। ऐसा जानकर गृहस्थको अपने ऋद्धि-वैभवके अनुसार सदा दान देना चाहिए, क्योंकि उनका यह दान संसार-समुद्रको पार उतारनेमें निश्चित रूपसे जहाजके समान है ॥ १७ ॥

जो मनुष्य सामर्थ्य होने पर भी जिन भगवान्के न तो नित्य दर्शन ही करते हैं, न उनका स्मरण ही करते हैं, न पूजन ही करते हैं, न उनका स्तवन ही करते हैं, और न मुनिजनोंको भक्तिसे दान ही देते हैं, उन मनुष्योंका गृहस्थाश्रम पाषाणकी नावके समान है। ऐसे गृहस्थाश्रमरूप पाषाणकी नावमें बैठे हुए मनुष्य इस अतिविषम भव-सागरमें नियमसे डूबते हैं और विनाशको प्राप्त होते हैं ॥ १८ ॥

चिन्तामणिरत्न, कल्पवृक्ष, कामधेनु और पारस पाषाण आदिक पदार्थ संसारमें परोपकार करनेमें प्रख्यात हैं, यह बात आज तक सुनी ही जाती है, किन्तु किसी भी मनुष्यने आज तक उन्हें

यत्र श्रावकलोक एव वसति तत्र चैत्यालयो
यस्मिन् सोऽस्ति च तत्र सन्ति यतयो धर्मश्च तैर्वर्तते।
धर्मे सत्यघसञ्चयो विघटते स्वर्गापवर्गाश्रयं
सौख्यं भावि नृणां ततो गुणवतां स्युः श्रावकाः सम्मताः ॥२०
काले दुःखमसंज्ञके जिनपतेर्धर्मे गते क्षीणतां
तुच्छे सामयिके जने बहुतरे मिथ्यान्धकारे सति।
चैत्ये चैत्यगृहे च भक्तिसहितो यः सोऽपि नो दृश्यते
यस्तत्कारयते यथाविधि पुनर्भव्यः स वन्द्यः सताम् ॥२१
बिम्बादलोन्नतियवोन्नतिमेव भक्त्या ये कारयन्ति जिनसद्म जिनाकृतिं वा।
पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता स्तोतुं परस्य किमु कारयितुर्द्वयस्य ॥२२
यात्राभिः स्नपनैर्महोत्सवशतैः पूजाभिरुल्लोचकैर्नैवेद्यैर्बलिभिर्ध्वजैश्च कलशैस्तौर्यत्रि गिरैः।
घण्टाचामरदर्पणादिभिरपि प्रस्तार्य शोभां परां भव्याः पुण्यमुपार्जयन्ति सततं सत्यत्र चैत्यालये ॥२३

देखा नहीं है। तथा उनके द्वारा किन्हीं मनुष्योंका उपकार हुआ है, इस बात की भी संभावना नहीं की जा सकती है। किन्तु चिन्तामणि रत्न आदिके कार्योंको करनेवाला अर्थात् मनोवांछित पदार्थोंको सदैव देनेवाला दाता अवश्य देखनेमें आता है ॥ १९ ॥

जहाँ पर श्रावक लोग निवास करते हैं, वहाँ पर जिनमन्दिर अवश्य होता है और जहाँ पर जिनमन्दिर होता है, वहाँ पर मुनिजन आकर ठहरते हैं और उनके द्वारा धर्म प्रवर्तता है। धर्मका प्रवर्तन होने पर लोगोंके पापका संचय विनष्ट होता है, तथा आगामी भवोंमें स्वर्ग और मोक्षका सुख प्राप्त होता है। इसलिए गुणवान् लोगोंके द्वारा श्रावकोंका सन्मान किया जाना चाहिए ॥ २० ॥

इस दुःखमा नामक कलिकालमें जिनेन्द्र-उपदिष्ट धर्म क्षीणताको प्राप्त हो रहा है, आत्म-ध्यान करनेवाले मनुष्य विरल दिखाई दे रहे हैं, मिथ्यात्वरूप अन्धकार प्रचुरतासे फैल रहा है, तथा चैत्य (जिन बिम्ब) और चैत्यालयमें अर्थात् उनके निर्माणमें परम भक्ति-सहित जो श्रावक थे, वे भी नहीं दिखाई देते हैं। ऐसे समयमें जो भव्य पुरुष भक्तिके साथ विधिपूर्वक जिन-बिम्ब और जिनालयोंका निर्माण करता है, वह सज्जनोंका वन्दनीय ही है ॥ २१ ॥

आचार्य कहते हैं कि जो भव्य जीव ऐसे इस कलिकालमें भक्तिसे बिम्बा (कुन्दुक) के पत्र बराबर जिनालय अथवा यव (जौ) के बराबर जिन-बिम्बको भी बनवाते हैं, उसके पुण्यको वर्णन करनेके लिए साक्षात् सरस्वती भी समर्थ नहीं है। फिर जिन-बिम्ब और जिनालय इन दोनों का निर्माण करानेवाले श्रावकके पुण्यका तो कहना ही क्या है ॥ २२ ॥

इस संसारमें चैत्यालयके होने पर भव्य जीव जल-यात्रासे, कल्याणाभिषेकसे, सैकड़ों प्रकार-के महान् उत्सवोंसे, नानाप्रकारकी पूजाओंसे, सुन्दर चन्दोवाओंसे, नैवेद्य-समर्पणसे, बलि (भेंट) प्रदान करनेसे, ध्वजाओंके आरोपणसे, कलशोंके चढ़ानेसे, घण्टा, चंवर और दर्पण आदि मांगलिक पदार्थोंके द्वारा परम शोभाको बढ़ाकर, तथा सुन्दर शब्द करनेवाले बाजोंको बजानेसे और रात्रि-जागरणोंके द्वारा नित्य महान् पुण्यका उपार्जन करते हैं। आजके युगमें यदि चैत्य और चैत्यालय न हों तो उक्त प्रकारके कार्योंके द्वारा पुण्यका उपार्जन सम्भव नहीं है ॥ २३ ॥

ते चाणुव्रतधारिणोऽपि नियतं यान्त्येव देवालयं तिष्ठन्त्येव महर्द्धिकामरपदं तत्रैव लब्ध्वा चिरम् ।
अत्रागत्य पुनः कुलेऽतिमहति प्राप्य प्रकृष्टं शुभं मानुष्यं च विरागतां च सकलत्यागं च मुक्तास्ततः ॥२४
पुंसोऽर्थेषु चतुर्षु निश्चलतरो मोक्षः परं सत्सुखः शेषास्तद्विपरीतधर्मकलिता हेया मुमुक्षोरतः ।
तस्मात्तत्पदसाधनत्वधरणो धर्मोऽपि नो सम्मतो यो भोगादिनिमित्तमेव स पुनः पापं बुधैर्मन्यते ॥२५
भव्यानामणुभिर्व्रतैरनणुभिः साध्योऽत्र मोक्षः परं
नान्यत्किञ्चिदिहैव निश्चयनयाज्जीवः सुखी जायते ।
सर्वं तु व्रतमीदृशधिया साफल्यमेत्यन्यथा
संसाराश्रयकारणं भवति यत्तद्दुःखमेव स्फुटम् ॥२६
यत्कल्याणपरम्परार्पणपरं भव्यात्मनां संसृतौ पर्यन्ते यदनन्तसौख्यसदनं मोक्षं ददाति ध्रुवम् ।
तज्जीयादतिदुर्लभं सुनरतामुख्यैर्गुणैः प्रापितं श्रीमत्पङ्कजनन्दिभिर्विरचितं देशव्रतोद्योतनम् ॥२७

●

जो देवपूजादि षट् आवश्यक कार्योंके करनेके साथ पंच अणुव्रतोंके धारी श्रावक हैं, वे मरकर नियमसे देवालय (स्वर्ग) को जाते हैं और महान् ऋद्धिवाले देव पदको पाकर स्वर्गीय सुखोंको भोगते हुए चिरकाल तक वहीं रहते हैं। पुनः इस भूलोकमें आकर शुभ कर्मोदयसे अति महान् कुलमें मनुष्य जन्म लेकर, पुनः वैराग्यको धारण कर और सर्व प्रकारके परिग्रहको त्याग कर मुक्तिको प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंमें अत्यन्त निश्चल और उत्तम सुखवाला मोक्ष ही है, इसलिए भव्य जीवोंको सदा मोक्ष पुरुषार्थका ही सेवन करना चाहिए। शेष पुरुषार्थ उससे विपरीत स्वभाव वाले हैं अतः वे मुमुक्षु जनोंके द्वारा छोड़ने योग्य हैं। धर्म नामक पुरुषार्थ यदि उस मोक्ष पदका साधन करनेवाला है, तो वह सज्जनोंके सम्मान्य है। किन्तु यदि वह केवल भोगका ही निमित्त हो तो ज्ञानी जन उसे पाप ही मानते हैं। कहनेका सार यह कि भोग-निमित्तक धर्म भी पाप है ॥ २५ ॥

इस लोकमें भव्य जीवोंके अणुव्रतों और महाव्रतोंके द्वारा केवल मोक्ष ही साध्य है, अन्य कुछ भी नहीं। मोक्षमें ही निश्चय नयसे सच्चा सुखी होता है, इसलिए मोक्ष-प्राप्तिकी बुद्धिसे जो भी व्रत-समुदाय पालन किया जाता है, वह सफलताको प्राप्त होता है। किन्तु जो व्रतादिक पुण्योपार्जन करा करके संसारमें रहनेके कारण होते हैं, वे तो स्पष्टतया दुःखस्वरूप ही हैं ॥ २६ ॥

भावार्थ—मोक्षकी अभिलाषासे व्रतादिको धारण करना चाहिए।

जो देशव्रतोद्योतन संसारमें भव्य जीवोंको इन्द्र, अहमिन्द्र, चक्रवर्ती आदि कल्याण (सुख) परम्पराका अर्पण करनेवाला है और अन्तमें जो अनन्त सुखके सदन (धाम) मोक्षको नियमसे देता है, तथा जो उत्तम मनुष्यता आदि गुणोंसे प्राप्त होता है और जिसे श्रीमान् पद्मनन्दी आचार्यने रचा है, ऐसा यह देशव्रतोद्योतन संसारमें चिरकाल तक स्थायी रहे ॥ २७ ॥

भावार्थ— श्रावकके एकदेशरूप व्रतोंका उद्योतन अर्थात् प्रकाश करनेवाला यह अधिकार चिरजीवी हो।

इस प्रकार पद्मनन्दि-विरचित इस पंचविंशतिकामें देशव्रतोद्योतन नामका अधिकार समाप्त हुआ।

●

पंचमयं गुणठाणं विरयाविरउत्ति णामयं भणियं । तत्थ वि खयउवसमिओ खाइओ उवसमो चेव ॥१

जो वहाउविरओ णो विरओ तह य थावरवहाओ ।
एक्कसमयम्मि जीवो विरयाविरउत्ति जिणु कहई ॥२

इलयाइथावराणं अत्थि पवित्तित्ति विरइ इयराणं । मूलगुणट्ठपउत्तो वारहवयभूसिओ हु देसजइ ॥३
हिंसाविरई सच्चं अदत्तपरिवज्जणं च थूलवयं । परमहिलापरिहारो परिमाणं परिग्गहस्सेव ॥४
दिसिविदिसिपच्चखाणं अणत्थदंडाण होइ परिहारो । भोओपभोयसंखा एए हु गुणव्वया तिण्णि ॥५
देवे थुवइ तियाले पव्वे पव्वे सुपोसहोवासं । अतिहीण संविभागो मरणंते कुणइ सल्लिहणं ॥६
महुमज्जमंसविरई चाओ पुण उंवराण पंचण्हं । अट्ठेदो मूलगुणा हवंति फुडु देसविरयम्मि ॥७
अट्टरुद्दं झाणं भद्दं अत्थित्ति तम्हि गुणठाणे । बहुआरंभपरिग्गहजुत्तस्स य णत्थि तं धम्मं ॥८
धम्मोदएण जीवो असुहं परिचयइ सुहगई लेई । कालेण सुक्ख मिल्लइ इंदियवलकारणं जाणि ॥९
इट्ठविओए अट्टं उप्पज्जइ तह अणिट्ठसंजोए । रोयपकोवे तइयं णियाणकारणे चउत्थं तु ॥१०

भगवान् जिनेन्द्रदेवने पाँचवें गुणस्थानका नाम विरताविरत कहा है । इस गुणस्थानमें क्षायोपशमिक, क्षायिक और औपशमिक भाव होते हैं ॥ १ ॥ जो जीव हिंसासे विरत हैं और स्थावर-हिंसासे अविरत हैं, उसे एक ही समयमें जिनदेवने विरताविरत कहा है ॥ २ ॥ पाँचवें गुणस्थानमें रहनेवाले इस विरताविरतकी प्रवृत्ति पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति रूप स्थावर जीवोंके घात करनेमें होती है, तथा द्वीन्द्रियादि त्रस जीवोंके घातमें प्रवृत्ति नहीं होती है । यह विरताविरत रूप देशयति आठ-मूलगुणोंसे युक्त और श्रावकके बारह व्रतोंसे विभूषित होता है ॥ ३ ॥ अब बारह व्रतोंको कहते हैं—त्रसहिंसाका त्याग करना, सत्य बोलना, अदत्तवस्तु परित्याग, परमहिला-परिहार और परिग्रहका परिमाण करना ये पाँच अणुव्रत हैं ॥ ४ ॥ दिशाओं और विदिशाओंमें जाने आनेकी सीमा नियत करना, अनर्थदण्डका परिहार करना और भोगोपभोगकी संख्याका नियम करना ये तीन गुणव्रत हैं ॥ ५ ॥ प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल देवस्तवन करना, प्रत्येक पर्वपर प्रोषधोपवास करना, अतिथि संविभाग करना और मरणके समय संलेखना करना ये चार शिक्षाव्रत हैं ॥ ६ ॥

मधु, मद्य, मांस और पाँच उदुम्बर फलोंके खानेका त्याग करना ये आठ मूलगुण देशविरत गुणस्थानमें नियमसे होते हैं ॥ ७ ॥ इस पंचम गुणस्थानमें आर्तध्यान, रौद्रध्यान और भद्रध्यान ये तीन ध्यान होते हैं । इस गुणस्थानवाले गृहस्थके बहुत आरम्भ और परिग्रहसे युक्त होनेके कारण धर्मध्यान नहीं होता है ॥ ८ ॥ धर्म-सेवन करनेसे जीव अशुभ भावका त्याग करता है और शुभगतिको प्राप्त होता है । तथा समयानुसार इन्द्रियोंको बल देनेवाला सुख मिलता है, ऐसा जानना चाहिए ॥ ९ ॥

अब आर्तध्यानका वर्णन करते हैं—किसी इष्ट वस्तुके वियोग होनेपर उसके संयोगका चिन्तन करना पहला आर्तध्यान है । किसी अनिष्ट वस्तुके संयोग होनेपर उसके वियोगका चिंतन करना दूसरा आर्तध्यान है । रोगका प्रकोप होनेपर उसे दूर करनेका बार-बार चिन्तन करना

अट्टज्झाणपउत्तो बंधइ पावं णिणंतरं जीवो । मरिऊण य तिरियगई को वि णरो जाइ तज्झाणे ॥११
रुद्दं कस हियं जीवो संभवइ हिंसयाणंदं । मोसाणंदं विदियं तेयाणंदं पुणो तइयं ॥१२
हवइ त्थं झाणं रुद्दं णामेण रक्खणाणंदं । य माहप्पेण य णरयगईभायणो जीवो ॥१३
गिहवावाररयाणं गेहीणं इंदियत्थपरिकलिय । अट्टज्झाणं इ रुद्दं वा मोहछण्णाणं ॥१४
झाणेहिं तं पावं उप्पण्णं तं खवइ भद्दझाणेण । जीवो स त्तो देसजई णाणसंपण्णो ॥१५
भद्दस्स लक्खणं पुण धम्मं चिंतेई भोयपरिमुक्को । चिंतिय धम्मं सेवइ पुणरवि भोए जहिच्छाए ॥१६
धम्मज्झाणं भणियं आणापायाविवायविचयं च । संठाणं वि तह कहियं झाणं समासेण ॥१७

छद्दव्वणवपयत्था वि तच्चाइं जिणवराणाए ।
चिंतइ विसयविरत्तो आणाविचयं तु तं भणियं ॥१८

असुहकम्मस्स णासो सुहस्स वा हवेइ केणुवाएण । इय िं हवे अपायवि परं झाणं ॥१९
असुहसुहस्स विवाओ चिंतइ जीवाण चउगइगयाण । विवायवि झाणं भणियं तं जिणवरिंदेहिं ॥२०

तीसरा आर्तध्यान है और निदान करना चौथा आर्तध्यान है ॥ १० ॥ इस आर्तध्यानमें उपयुक्त जीव निरन्तर पापकर्मका वन्ध करता है । इस आर्तध्यानमें मरण करके मनुष्य तिर्यंचगतिको जाता है ॥ ११ ॥

अव रौद्रध्यानका वर्णन करते हैं—तीव्र कषाययुक्त जीवके रौद्रध्यान होता है । हिंसा करनेमें आनन्द मानना पहिला रौद्रध्यान है । असत्य वोलनेमें आनन्द मानना दूसरा रौद्रध्यान है । चोरी करनेमें आनन्द मानना तीसरा रौद्रध्यान है और परिग्रहके संचय और संरक्षणमें आनन्द मानना चौथा रौद्रध्यान है । इस रौद्रध्यानके माहात्म्यसे जीव नरकगतिका भाजन होता है ॥ १२-१३ ॥

जो मनुष्य घरके व्यापारमें लगे रहते हैं और इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंके संकल्प-विकल्प करते रहते हैं, उनके आर्तध्यान होता है । तथा जिनके मोहकर्मके तीव्र उदयसे कषायोंकी प्रवलता होती है उनके रौद्रध्यान होता है ॥ १४ ॥ इस आर्तध्यान और रौद्रध्यानसे जो पाप उत्पन्न होता है उसे उपशमभावसे युक्त और ज्ञान-सम्पन्न देशयति श्रावक भद्रध्यानसे क्षय कर देता है ॥ १५ ॥

अव भद्रध्यानका वर्णन करते हैं—जो भोगोंका त्यागकर धर्मका चिन्तन करता है और धर्मका चिन्तवन करके फिर भी अपनी इच्छानुसार भोगोंका सेवन करता है, उसके भद्रध्यान जानना चाहिए । अन्यत्र जिनदेवका पूजन करना, पात्र दान देना आदि श्रावकोचित कर्तव्योंके पालन करनेको भी भद्रध्यान कहा है[1] ॥ १६ ॥

अव धर्मध्यानका निरूपण करते हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय ये धर्मध्यानके संक्षेपसे चार भेद कहे गये हैं ॥ १७ ॥ जो मनुष्य इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त होकर जिनदेवकी आज्ञासे छह द्रव्य, सात तत्त्व और नौ पदार्थोंका चिन्तन करता है उसको आज्ञाविचयनामका धर्मध्यान कहा गया है ॥ १८ ॥ अशुभ कार्यका नाश कैसे होगा, अथवा किस उपायसे सुखकी प्राप्ति होगी, ऐसा चिन्तन करनेवालेके अपायविचयनामका धर्मध्यान होता है ॥ १९ ॥ चारों गतियोंमें परिभ्रमण करनेवाले जीवोंके शुभ-अशुभ कर्मके विपाकका चिन्तवन

---

१. जिनेज्या पात्रदानादिस्तत्र कालोचितो विधिः । भद्रध्यानं स्मृतं तद्धि गृहधर्माश्रयाद् बुधैः ।

अहउड्ढतिरियलोए चिंतेइ सपज्जयं ससंठाणं । विचयं संठाणस्स य भणियं झाणं समासेण ॥२१
मुक्खं धम्मज्झाणं उत्तं तु पमायविरहिए ठाणे । देसविरए पमत्ते उवयारेणेव णायव्वं ॥२२
दहलक्खणसंजुत्तो अहवा धम्मोत्ति वण्णिओ सुत्ते । चिंता जा तस्स हवे भणियं तं धम्मज्झाणुत्ति ॥२३
अहवा वत्थुसहावो धम्मं वत्थू पुणो व सो अप्पा । झायंताणं कहियं धम्मज्झाणं मुणिदेहिं ॥२४
तं फुडु दुविहं भणियं सालंबं तह पुणो अणालंबं । सालंबं पंचण्हं परमेट्ठीणं सरूवं तु ॥२५
हरिरइयसमवसरणो अट्ठमहापाडिहेरसंजुत्तो । सियकिरण-विप्फुरंतो झायव्वो अरुहपरमेट्ठी ॥२६
णट्ठट्ठकम्मबंधो अट्ठगुणट्ठो य लोयसिहरत्थो । सुद्धो णिच्चो सुहमो झायव्वो सिद्धपरमेट्ठी ॥२७
छत्तीसगुणसमग्गो णिच्चं आयरइ पंचआयारो । सिस्साणुग्गहकुसलो भणिओ सो सूरिपरमेट्ठी ॥२८
अज्झावयगुणजुत्तो धम्मोवदेसयारि चरियट्ठो । णिस्सेसागमकुसलो परमेट्ठी पाठओ झाओ ॥२९
उग्गतवतवियगत्तो तियालजोएण गमियअहरत्तो । साहियमोक्खस्स पओ झाओ सो साहुपरमेट्ठी ॥३०
एवं तं सालंबं धम्मज्झाणं हवेई णियमेण । झायंताणं जाइय विणिज्जरा असुहकम्माणं ॥३१

करनेको जिनवरदेवने विपाकविचय नामका धर्मध्यान कहा है ॥ २० ॥ संस्थान नाम आकारका है । अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकके आकारका विचार करना, इनमें रहनेवाले जीवादि पदार्थोंकी पर्याय आदिका चिन्तवन करना इसे संक्षेपसे संस्थानविचय धर्मध्यान कहा गया है ॥ २१ ॥ मुख्य रूपसे यह धर्मध्यान प्रमाद-रहित सातवें गुणस्थानमें कहा गया है । देशविरत और प्रमत्तविरत नामक गुणस्थानोंमें तो उपचारसे ही धर्मध्यान जानना चाहिए ॥ २२ ॥

अब प्रकारान्तरसे धर्मध्यानका स्वरूप कहते हैं—अथवा सिद्धान्त सूत्रमें उत्तम क्षमा आदि दश प्रकारका धर्म बतलाया गया है, उनके चिन्तवन करनेको भी धर्मध्यान कहा गया है ॥ २३ ॥ अथवा वस्तुके स्वभावको धर्म कहते हैं । सर्व वस्तुओंमें आत्मा मुख्य है, अतः आत्माके ध्यान करनेको मुनीन्द्रोंने धर्मध्यान कहा है ॥ २४ ॥ वह धर्मध्यान दो प्रकारका है—एक आलम्बन-सहित और दूसरा आलम्बन-रहित । पाँच परमेष्ठियोंके स्वरूपका चिन्तन करना सालम्बन-धर्मध्यान है ॥ २५ ॥

अब अनुक्रमसे पाँचों परमेष्ठियोंका स्वरूप कहते हैं—जो इन्द्र द्वारा रचित समवशरणमें विराजमान हैं, आठ महाप्रातिहार्योंसे संयुक्त हैं, और अपनी प्रभाकी श्वेत किरणोंसे प्रकाशमान हैं ऐसे जिनेन्द्रदेवको अरहन्त परमेष्ठी कहते हैं उनका ध्यान करना चाहिए ॥ २६ ॥ जिन्होंने आठों कर्मोंके बन्धनोंको नष्ट कर दिया है, जो सम्यक्त्व आदि आठ गुणोंसे संयुक्त हैं, लोकके शिखर पर विराजमान हैं, जो शुद्ध नित्य और सूक्ष्म-स्वरूप हैं, वे सिद्ध परमेष्ठी कहलाते हैं। उनका ध्यान करना चाहिए ॥ २७ ॥ जो छत्तीस गुणोंसे सम्पन्न हैं, ज्ञानाचारादि पाँचों आचारोंका नित्य आचरण करते हैं, और शिष्योंके अनुग्रह करनेमें कुशल हैं, वे आचार्य-परमेष्ठी कहे जाते हैं उनका ध्यान करना चाहिए ॥ २८ ॥ जो द्वादशाङ्ग वाणीके अध्यापन करनेके गुणसे युक्त हैं, धर्मका उपदेश करते हैं, अपने चारित्रमें स्थित हैं, समस्त आगमके पठन-पाठनमें कुशल हैं, वे उपाध्यायपरमेष्ठी हैं, उनका ध्यान करना चाहिए ॥ २९ ॥ उग्र, महा उग्र आदि तपोंके द्वारा जिनका शरीर खूब तपा हुआ है, जो त्रिकाल योगसे दिन और रात्रिको व्यतीत करते हैं और सदा मोक्ष मार्गका साधन करते हैं उन्हें साधुपरमेष्ठी कहते हैं, उनका ध्यान करना चाहिए ॥ ३० ॥ इस प्रकार पाँचों परमेष्ठियोंके आलम्बनसे जो ध्यान किया जाता है, वह सालम्ब ध्यान कहलाता है । इस सालम्ब ध्यानको करनेवाले जीवोंके अशुभ कर्मोंकी निर्जरा नियमसे होती है ॥ ३१ ॥

जं पुणु वि णिरालंवं तं झाणं गयपमायगुणठाणे । चत्तगेहस्स जाइय धरियंजिणलिंगरूवस्स ॥३२

जो भणइ को वि एवं अत्थि गिहत्थाण णिच्चलं झाणं ।
सुद्धं च णिरालंवं ण मुणइ सो आयमो जइणो ॥३३

कहियाणि दिट्ठिवाए पडुच्च गुणठाण जाणि झाणाणि ।
तम्हा स देसविरओ मु ं धम्मं ण झाएई ॥३४

किं जं सो गिहवंतो वहिरंतरगंथपरिमिओ णिच्चं । वहुआरंभपउत्तो कह झायइ सुद्धमप्पाणं ॥३५

घरवावारा केई करणीया अत्थि तेण ते सव्वे । झाणट्ठियस्स पुरओ चिट्ठंति णिमीलियच्छिस्स ॥३६

अह ढिंकुलिया झाणं झायइ अहवा स सोवए झाणी ।
सोवंतो झायव्वं ण ठाइ चित्तम्मि वियलम्मि ॥३७

झाणाणं संताणं अहवा जाएइ तस्स झाणस्स । आलंवणरहियस्स य ण ठाइ चित्तं थिरं जम्हा ॥३८

तम्हा सो सालंवं झायउ झाणं पि गिहवई णिच्चं । पंचपरमेट्ठीरूवं अहवा मंतक्खरं तेसिं ॥३९

जइ भणइ को वि एवं गिहवावारेसु वट्टमाणो वि । पुण्णे अम्ह ण कज्जं जं संसारे सुवाडेई ॥४०

जो निरालम्ब ध्यान है, वह प्रमाद-रहित सप्तम गुणस्थानमें गृहत्यागी और जिनलिंगरूपको धारण करनेवाले अप्रमत्त अर्थात् आत्म-स्वरूपमें जागृत साधुओंके होता है ॥ ३२ ॥ कोई पुरुष यदि यह कहे कि गृहस्थोंके भी शुद्ध निश्चल निरालम्ब ध्यान होता है तो वह जैन आगमको नहीं जानता है ॥ ३३ ॥ दृष्टिवाद नामक वारहवें अंगमें गुणस्थानोंकी अपेक्षासे ही जिन ध्यानोंको वतलाया गया है, उन्हें देशविरति गृहस्थ नहीं कर सकता । अतः वह मुख्य निरालम्ब ध्यानका ध्यान नहीं करता है ॥ ३४ ॥ गृहस्थोंके मुख्य धर्मध्यान न होनेका कारण यह है कि गृहस्थोंके वाहिरी और भीतरी परिग्रह परिमित रूपसे रहते ही हैं, और वह वहुत प्रकारके आरम्भोंमें प्रवृत्त रहता है, फिर वह शुद्ध आत्माका ध्यान कैसे कर सकता है ॥ ३५ ॥ गृहस्थको घरके कितने ही व्यापार करने पड़ते हैं । जव वह गृहस्थ अपनी आँखोंको वन्द करके ध्यान करनेके लिए वैठता है, तव उसके सामने घरके करने योग्य सभी व्यापार आकर उपस्थित हो जाते हैं ॥ ३६ ॥ यदि कोई गृहस्थ शुद्ध आत्माका ध्यान करना चाहता है तो उसका वह ध्यान ढेंकीके समान होता है । जिस प्रकार ढेंकी धान कूटनेमें लगी रहती है, परन्तु उससे उसे कोई लाभ नहीं होता, उसको तो परिश्रममात्र ही होता है । इसी प्रकार गृहस्थोंका निरालम्ब ध्यान या शुद्ध आत्माका ध्यान परिश्रममात्र ही होता है । अथवा वह शुद्ध आत्माका ध्यान करनेवाला गृहस्थ आलम्वनके विना सोने लगता है । उस सोती दशामें उसका चित्त विकल हो जाता है, तव वहाँ शुद्ध ध्यान नहीं ठहर सकता । कहनेका सारांश यह है कि इस प्रकार किसी भी गृहस्थके शुद्ध आत्माका निश्चल ध्यान संभव नहीं है ॥ ३७ ॥ अथवा यदि गृहस्थ ध्यानके समय सोता नहीं, किन्तु जागृत रहता है तो उसके ध्यानों (विचारों) की सन्तान रूप परम्परा चलती रहती है । क्योंकि आलम्वन-रहित गृहस्थका चित्त स्थिर नहीं रहता है ॥ ३८ ॥ इसलिए गृहस्थोंको सदा ही आलम्वन-सहित ध्यान धारण करना चाहिए । उसे या तो पंचपरमेष्ठीका ध्यान करना चाहिए, अथवा पंच-परमेष्ठीके वाचक मंत्राक्षरोंका ध्यान करना चाहिए ॥ ३९ ॥

यदि कोई गृहस्थ यह कहे कि यद्यपि हम गृहस्थीके व्यापारोंमें लगे रहते हैं, तथापि हमें सालम्व ध्यान करके पुण्य उपार्जन करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह पुण्य भी हमें संसारमें

मेहुणसण्णारूढो मारई णवलक्खसुहुमजीवाई । इय जिणवरेहिं भणियं वज्झंतरणिग्गंथरूवेहिं ॥४१
गेहे वट्टंतस्स या वावारसयाई सया कुणंतस्स । आसवइ कम्ममसुहं अट्टरउद्दे पवत्तस्स ॥४२
जह गिरिणई तलाए अणवरयं पविसए सलिलपरिपुण्णं ।
मणवयतणुजोएहिं पविसइ असुहेहिं तह पावं ॥४३
जाम ण छंडइ गेहं ताम ण परिहरइ इंतयं पावं । पावं अपरिहरंतो हेओ पुण्णस्स मा चयउ ॥४४
आमुक्क पुण्णहेउं पावस्सासवं अपरिहरंतो । वज्झइ पावेण णरो सो दुग्गइ जाइ मरिऊणं ॥४५
पुण्णस्स कारणाइं पुरिसो परिहरउ जेण णियचित्तं । विसयकसायपउत्तं णिग्गहियं हयपमाएण ॥४६
गिहवावारविरत्तो गहियं जिणलिंग रहियसपमाओ ।
पुण्णस्स कारणाइं परिहरउ सयावि सो पुरिसो ॥४७
असुहस्स कारणेहिं य कम्मच्छक्केहि णिच्च वट्टंतो । पुण्णस्स कारणाइं वंधस्स भएण णेच्छंतो ॥४८
ण मुणइ इय जो पुरिसो जिणकहियपयत्यणवसरूवं तु ।
अप्पाणं सुयणमज्झे हासस्स य ठाणयं कुणई ॥४९
पुण्णं पुव्वायरिया दुविहं अक्खंति सुत्तउत्तीए । मिच्छपउत्तेण कयं विवरीयं सम्मजुत्तेण ॥५०
मिच्छादिट्ठीपुण्णं फलइ कुदेवेसु कुणरतिरिएसु । कुच्छियभोगधरासु य कुच्छियपत्तस्स दाणेण ॥५१

ही डुवाता है ॥४०॥ ऐसा कहनेवालेके लिए आचार्य उत्तर देते हैं कि देखो—मैथुन संज्ञा पर आरूढ व्यक्ति अर्थात् स्त्रीको सेवन करनेवाला पुरुष स्त्रीकी योनिसे उत्पन्न होनेवाले नौलाख जीवोंका घात करता है। ऐसा वाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहसे रहित जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥ ४१ ॥ घरमें रहनेवाले, और सैकड़ों व्यापार करनेवाले और आर्त्त-रौद्रध्यानमें प्रवृत्त पुरुषके अशुभ कर्मोंका सदा आस्रव होता रहता है ॥ ४२ ॥ जिस प्रकार किसी पहाड़ी नदीका जल पानीसे भरे हुए तालावमें निरन्तर प्रवेश करता रहता है, उसी प्रकार गृहस्थीके व्यापारमें लगे हुए पुरुषके अशुभ मन-वचनकायके योगोंसे निरन्तर पापकर्मोंका आस्रव होता रहता है ॥ ४३ ॥ इसलिए जव तक मनुष्य घरका त्याग नहीं करता, तव तक इतने पापोंका परिहार नहीं कर सकता। और जव तक पापोंका परिहार नहीं हो रहा है, तव तक पुण्यके कारणोंको नहीं छोड़ना चाहिए ॥ ४४ ॥ क्योंकि पुण्यके कारणोंको छोड़कर और पापके आस्रवका परिहार नहीं करनेवाला पुरुष पापसे वँधता रहता है और फिर मरकर दुर्गतिको जाता है ॥ ४५ ॥ हाँ, वह पुरुष पुण्यके कारणोंका परिहार कर सकता है, जिसने अपना चित्त विषय-कषायोंमें प्रवृत्त होनेसे निगृहीत कर लिया है और जिसने प्रमादका विनाश कर दिया है। भावार्थ—प्रमाद-रहित और विषय-कषाय-विजेता सप्तम गुणस्थानवर्ती साधुको पुण्यके कारणोंका त्याग करना चाहिए, उससे नीची भूमिकावालोंको नहीं ॥ ४६ ॥ जो पुरुष गृह-व्यापारोंसे विरत है, जिसने जिनलिंगको धारण किया है, और जो प्रमादसे रहित है, उस पुरुषको सदा ही पुण्यके कारणोंका परिहार करना चाहिए ॥ ४७ ॥ जो पुरुष अशुभ कर्मोंके कारणभूत असि, मषी, कृषि आदि छह कर्मोंमें नित्य लगा रहता है और पुण्यके कारणोंको वंधके भयसे नहीं करना चाहता है, वह पुरुष जिनेन्द्र-कथित नौ पदार्थोंके स्वरूपको नहीं जानता है। ऐसा पुरुष स्वजनोंके मध्यमें अपनेको हास्यका पात्र वनाता है ॥ ४८-४९ ॥

पूर्वाचार्योंने आगमसूत्रकी युक्तिसे पुण्यको दो प्रकारका कहा है—एक तो मिथ्यादृष्टिके द्वारा किया जानेवाला पुण्य और दूसरा सम्यक्त्वसे युक्त पुण्य ॥ ५० ॥ मिथ्यादृष्टिका पुण्य कुत्सित

जइ वि सुजायं वीयं ववसायपउत्तओ विजइ कसओ ।
कुच्छियखेत्ते ण फलइ तं वीयं जह तहा दाणं ॥५२

जइ फलइ कह वि दाणं कुच्छियजाईहिं कुच्छियसरीरं ।
कुच्छियभोए दाउं पुणरवि पाडेइ संसारे ॥५३

संसारचक्कवाले परिब्भमंतो हु जोणिलक्खाइं । पावइ विवहे दुक्खे विरयंतो विविहकम्माइं ॥५४

सम्मादिट्ठीपुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा ।
मोक्खस्स होइ हेउं जइ वि णियाणं ण सो कुणई ॥५५

अकइयणियाणसम्मो पुण्णं काऊण णाणचरणट्ठो । उप्पज्जइ दिवलोए सुहपरिणामो सुलेसो वि ॥५६

रमुहुत्तमज्झे देहं चइऊण माणुसं कुणिमं । गिण्हइ उत्तमदेहं सुचरियकम्माणुभावेण ॥५७

चम्मं रुहिरं मंसं मेज्जा अट्ठिं च तह वसा सुक्कं । सिंभं पित्तं अंतं मुत्तं पुरिसं च रोमाणि ॥५८

णहदंतसिरण्हारुलाला सेउयं च णिमि आलस्सं । णिद्दा तण्हा य जरा अंगे देवाण ण हि अत्थि ॥५९

सुइ अमलो वरवण्णो देहो सुहफासगंधसंपण्णो । वालरवितेयसरिसो चारुसरूवो सया तरुणो ॥६०

अणिमा महिमा लहिमा पावइ पागम्म तह य ईसत्तं ।
वसियत्त कामरूवं एत्तियहि गुणेहि संजुत्तो ॥६१

देवाण होइ देहो अइउत्तमेण पुग्गलेण संपुण्णो । सहजाहरणणिउत्तो अइरम्मो होइ पुण्णेण ॥६२

(खोटे) पात्रोंको दान देनेसे व्यन्तरादि कुदेवोंमें और कुभोगभूमिके कुमनुष्य और कुतिर्यंचोंमें फलता है ॥ ५१ ॥ जैसे कि उत्तम जातिका वीज भी व्यवसायपूर्वक यदि कोई किसान खोटे खेतमें (ऊसर भूमिमें) वोता है तो वह बीज फलको नहीं देता है, इसी प्रकार खोटे पात्रमें दिया गया दान भी फलको नहीं देता है ॥ ५२ ॥ यदि किसी प्रकार वह दान फलता भी है तो वह खोटी जातिमें उत्पन्न होना, खोटे शरीरको धारण करना और खोटे भोगोंको देना आदि फलको देकर फिर भी संसारमें ही गिराता है ॥ ५३ ॥ कुपात्रोंको दान देनेवाला पुरुष चौरासी लाख योनियोंसे भरे हुए इस संसार-चक्रवालमें परिभ्रमण करता हुआ विविध प्रकारके कर्मोंका उपार्जन करता रहता है और उनके फल-स्वरूप दुर्गतियोंके नाना दुःखोंको भोगता रहता है ॥ ५४ ॥

किन्तु सम्यग्दृष्टि जीवका पुण्य नियमसे संसारका कारण नहीं होता है। और यदि वह निदान नहीं करता है, तो उसका पुण्य मोक्षका कारण होता है ॥ ५५ ॥ जो सम्यग्दृष्टि पुरुष निदानको नहीं करता है और ज्ञान-चारित्रकी आराधनामें स्थित रहता है, वह पुण्य करके देव-लोकमें शुभपरिणाम और शुभलेश्याका धारक देव होता है ॥ ५६ ॥ सम्यग्दृष्टि जीव अच्छी तरह आचरण किये गये पुण्य कर्मके प्रभावसे मनुष्यके इस घृणित शरीरको छोड़कर मल-मूत्रादिसे रहित उत्तम वैक्रियिकशरीरको ग्रहण करता है ॥ ५७ ॥ उन देवोंके शरीरमें चर्म, रुधिर, मांस, मेदा, हड्डी, चर्बी, शुक्र (वीर्य), कफ, पित्त, आंतें, मल, मूत्र, रोम, नख, दन्त, शिरा, (नसें) नारु, लार, प्रस्वेद, नेत्रोंकी टिमकार, आलस्य, निद्रा, तृषा और बुढ़ापा नहीं होता है ॥५८-५९ ॥

पुण्य कर्मके उदयसे देवोंका शरीर पवित्र, निर्मल, और उत्तम वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शसे सम्पन्न होता है, उदित होते हुए सूर्यके तेजके सदृश तेजस्वी होता है, उनका शरीर अत्यन्त सुन्दर और सदा तरुण अवस्थाको धारण करता है। वे देव अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्यत्व, ईशत्व और कामरूप इन आठ गुणोंसे संयुक्त होता है ॥ ६०-६१ ॥ देवोंका देह पुण्यके उदयसे अति उत्तम पुद्गलोंके द्वारा निर्मित होता है, अतएव अतिरमणीय होता है और सह-

उप्पण्णो कणयमए कायक्कंतिहिं भासिये भवणे। पेच्छंतो रयणमयं पासायं कणयदित्तिल्लं ॥६३

अणुकूलं परियणयं तरणियणयणं च अच्छराणिवहं।
पिच्छंतो णमियसिरं सिरकइयकरंजली देवे ॥६४

णिसुणंतो थोत्तसए सुरवरसत्थेण विरइए ललिए। तुंबुरुगाइयगीए वीणासद्देण सुइसुहए ॥६५

चितइ किं एवड्ढं मज्झं पहुत्तं इमं पि किं जायं। किं ओ लग्गइ एसो अमरगणो विणयसंपण्णो ॥६६

को हं इह कत्थाओ केण विहाणेण इयं गहं पत्तो।
तविओ को उग्गतवो केरिसियं संजमं विहियं ॥६७

किं दाणं मे दिण्णो केरिसपत्ताण काय सुभत्तीए। जेणाहं कयपुण्णो उप्पण्णो देवलोयम्मि ॥६८

इय चिंतंतो पसरइ ओहीणाणं तु भवसहावेण। जाणइ सो आसिभवं विहियं धम्मप्पहावं च ॥६९

पुणरवि तमेव धम्मं मणसा सद्दहइ समदिट्ठी सो। वंदेइ जिणवराणं णंदिसरपहुइसव्वाइं ॥७०

इय वहुकालं सग्गे भोगं भुजंतु विविहरमणीयं। चइऊण आउसखए उप्पज्जइ मच्चलोयम्मि ॥७१

उत्तमकुले महंतो वहुजणणमणीय संपयापउरे। होऊण अहियरूवो वलजोव्वणरिद्धिसंपुण्णो ॥७२

तत्थ वि विविहे भोए णरखेत्तभवे अणोवमे परमे। भुंजित्ता णिव्विण्णो संजमयं चेव गिण्हेई ॥७३

लद्धं जइ चरमतणु चिरकयपुण्णेण सिज्झए णियमा। पाविय केवलणाणं जहखाइयसंजयं सुद्धं ॥७४

जात आभरणोंसे संयुक्त रहता है ॥ ६२ ॥ इस प्रकार पुण्य कर्मके उदयसे यह जीव स्वर्गमें अपने देहकी कान्तिसे शोभित सुवर्णमय भवनमें उत्पन्न होता है और वहाँ पर स्वर्णकी कान्तिसे देदीप्यमान रत्नमयी प्रासादको देखता है ॥ ६३ ॥ पुनः वहाँ पर अपने अनुकूल प्रवृत्ति करनेवाले परिजनोंको, चंचल नेत्रोंवाली अप्सराओंके समूहको और शिर पर हाथोंकी अंजुली रखकर नमस्कार करते हुए देवोंको देखता है ॥ ६४ ॥ उसी समय वह देव अन्य देवोंके समुदायसे रचे गये ललित सैकड़ों स्तोत्रोंको और कानोंको सुखदायी तुम्वुर जातिके देवों-द्वारा वजाई गई वीणाके साथ गाये जानेवाले गीतोंको सुनता है ॥ ६५ ॥ तव वह देव अपने मनमें चिन्तवन करता है कि क्या यह सव मेरा प्रभुत्व है, अथवा यह सव क्या है ? अथवा विनयसे सम्पन्न ये देवगण हैं, ऐसा प्रतीत होता है ॥ ६६ ॥ पुनः वह देव विचारता है कि मैं कौन हूँ, कहांसे आया हूं, किस विधि-विधानसे इस सुन्दर भवनको प्राप्त हुआ हूँ ? मैंने कौन-सा उग्र तप तपा है, अथवा कैसा संयम धारण किया है ? अथवा मैंने कैसे पात्रोंको कौन-सा दान दिया है, और उनकी क्या उत्तम भक्ति की है, जिससे कि पुण्य उपार्जन कर मैं इस देव लोकमें उत्पन्न हुआ हूँ ॥ ६७–६८ ॥

इस प्रकार चिन्तवन करते हुए उस देवके भव-स्वभावसे अवधिज्ञान प्रसारको प्राप्त होता है और उससे वह पूर्व भवको और उसमें किये गये धर्मके प्रभावको जान लेता है ॥ ६९ ॥ फिर भी वह सम्यग्दृष्टि देव मनसे उसी धर्मका श्रद्धान करता है और उपपाद शय्यासे उठकर पहले अपने भवनके जिनालयकी पूजा-वन्दना करता है और फिर नन्दीश्वर द्वीप आदि पर स्थित सभी जिनवरोंकी वन्दना करने जाता है ॥ ७० ॥ इस प्रकार वहुत काल तक स्वर्गमें नाना प्रकारके रमणीय भोगोंको भोग कर आयुके क्षय होने पर वहांसे चयकर मनुष्य लोकमें वहु जन-वन्दनीय और ऋद्धि-वैभवसे भरपूर उत्तम कुलमें उत्पन्न होकर वल-युवावस्था आदिसे सम्पन्न मनुष्य होता है ॥ ७१-७२ ॥ उस मनुष्य भवमें वह मनुष्य क्षेत्र-जनित अनुपम नाना प्रकारके भोगोंको भोगकर अन्तमें संसारसे विरक्त होकर संयमको ग्रहण कर लेता है ॥ ७३ ॥ यदि उस जीवने अपने चिरकालके संचित किये हुए पुण्य कर्मके उदयसे चरम शरीर पाया है तो वह नियमसे यथाख्यात शुद्ध

तम्हा सम्मादिट्ठी पुण्णं मोक्खस्स कारणं हवई । इय णाऊण गिहत्थो पुण्णं चायरउ जत्तेण ॥७५
पुण्णस्स कारणं फुडु पढमं ता हवइ देवपूया य । कायव्वा भत्तीए सावयवग्गेण परमायं ॥७६

फासुयजलेण ण्हाइय णिवसिय वत्थाइं गंपि तं ठाणं ।
इरियावहं च सोहिय उवविसियं पडिमयासेणं ॥७७

पुज्ज-उवयरणाइ य पासे सण्णिहिय मंतपुव्वेण । ण्हाणेणं ण्हाइत्ता आचमणं कुणउ मंतेण ॥७८

आसणठाणं किच्चा सम्मत्तपुव्वं तु झाइए अप्पा ।
सिहिमंडलमज्झत्थं जालासयजलियणियदेहं ॥७९

पावेण सह सदेहं झाणे डज्झंतयं खु चिंतंतो । बंधउ संतीमुद्दा पंचपरमेट्ठीणामाय ॥८०

अमयक्खरे णिवेसउ पंचसु ठाणेसु सिरसि धरिऊण ।
सा मुद्दा पुणु चिंतउ धाराहिं सवतयं अमयं ॥८१

पावेण सह सरीरं दड्ढु जं आसि झाणजलणेण । तं जायं जं छारं ‌ लउ तेण मंतेण ॥८२
पडिदिवसं जं पावं पुरिसो आसवइ तिविहजोएण । तं णिद्दहइ णिरुत्तं तेण ज्झाणेण संजुत्तो ॥८३

जं सुद्धो तं अप्पा रहिओ य कुणइ ण हु किं पि ।
तेण पुणो णियदेहं पुण्णण्णवं चिंतए झाणी ॥८४
उट्ठाविऊण देहं सु संपुण्णं कोडिचंदसंकासं ।
पच्छा सयलीकरणं कुणओ परमेट्ठिमंतेण ॥८५

संयमको और केवलज्ञानको पाकर नियमसे सिद्ध पदको प्राप्त कर लेता है ॥ ७४ ॥ इस कारण सम्यग्दृष्टिका पुण्य मोक्षका कारण होता है । ऐसा जानकर गृहस्थको प्रयत्नपूर्वक पुण्यका उपार्जन करते रहना चाहिए ॥ ७५ ॥

पुण्यके कारणोंमें सबसे प्रथम देव-पूजा है, इसलिए श्रावक जनोंको परम भक्तिके साथ भगवान्‌की पूजा करनी चाहिए ॥ ७६ ॥ पूजा करनेवाले गृहस्थको सबसे पहले प्रासुक जलसे स्नान करना चाहिए, पुनः शुद्ध वस्त्र पहन कर पूजनके स्थान पर ईर्यापथ शुद्धिसे जाकर पद्मासन-से बैठना चाहिए । तत्पश्चात् पूजनके उपकरण अपने समीप रखकर मंत्र-स्नानसे नहाकर मंत्र-पूर्वक आचमन करना चाहिए ॥ ७७-७८ ॥ पुनः त्रिकोण अग्नि-मंडलके मध्यमें अपना आसन लगा-कर बैठे और सम्यक् प्रकारसे परमात्माका ध्यान करे । उसे ध्यानमें अग्नि-मंडलसे निकलती हुई सैकड़ों ज्वालाओंसे अपने शरीरको जलता हुआ चिन्तवन करे ॥ ७९ ॥ उस समय ध्यानमें ऐसा विचार करे कि 'पापोंके साथ मेरा शरीर जल रहा है । पुनः पंच परमेष्ठीके नामवाली शान्ति-मुद्रा बाँधनी चाहिए ॥ ८० ॥ उस शान्ति मुद्राको शिर पर रख कर पाँच स्थानोंमें अमृताक्षरोंकी स्थापना करे और ऐसा चिन्तवन करे कि पांचों अमृताक्षरोंसे अमृत झर रहा है ॥ ८१ ॥ पहले ध्यानकी ज्वालासे पापोंके साथ जो शरीर जल गया था और क्षार (राख) उत्पन्न हुई थी उसे उस अमृत मंत्ररूप जलसे धो डालना चाहिए ॥ ८२ ॥ मनुष्य प्रतिदिन मन वचन कायरूप त्रिविध योगसे जो पापका आस्रव करता है, उसे उक्त ध्यानसे संयुक्त पुरुष निःशेष रूपसे जला देता है ॥ ८३ ॥ इस प्रकार ध्यानमें शरीर-रहित हुआ आत्मा यतः अत्यन्त शुद्ध हो चुका है अतः वह कुछ भी पाप-कर्म नहीं कर सकता । इसलिए ध्यान करनेवाले पुरुषको अपना शरीर एक पुण्यके समुद्र रूपमें चिन्तवन करना चाहिए ॥ ८४ ॥ तदनन्तर कोटि-चन्द्र-सदृश निर्मल सम्पूर्ण शरीरको चिन्तवन करते हुए उठकर पंच परमेष्ठीके मंत्रमें सकलीकरण करना चाहिए । अर्थात् हृदय,

अहवा खिप्पउ सा(से)हां णिस्सेउ करंगुलीहिं वामेहिं ।
पाए णाही हियए मुहे य सीसे य ठविऊणं ॥८६

अंगे णासं किच्चा इंदो हं कप्पिऊण णियकाए । कंकण सेहर मुद्दी कुणओ जण्णोपवीयं च ॥८७
पीढं मेरुं कप्पिय तस्सोवरि ठाविऊण जिणपडिमा । पच्चक्खं अरहंतं चित्ते भावेउ भावेण ॥८८

कलसचउक्कं ठाविय चउसु वि कोणेसु णीरपरिपुण्णं ।
घयदुद्धदहियभरियं णवसयदलछण्णमुहकमलं ॥८९

आवाहिऊण देवे सुरवइसिहिकालणेरिए वरुणे । पवणे जखे ससूली सपियसवाहणे ससत्थे य ॥९०
दाऊण पुज्जदव्वं बलिचरुयं तह य जण्णभायं च । सव्वेसिं मंतेहि य बीतक्खरणामजुत्तेहिं ॥९१
उच्चारिऊण मंते अहिसेयं कुणउ देवदेवस्स । णीरघयखीरदहियं खिवउ अणुक्कमेण जिणसीसे ॥९२
ण्हवणं काऊण पुणो असलं गंधोवयं च वंदित्ता । सवलहणं च जिणिंदे कुणऊ कस्सीरमलएहिं ॥९३
आलिहउ सिद्धचक्कं पट्टे दव्वेहि णिरुसुयंधेहि । गुरुउवएसेण फुडं संपुण्णं सव्वमंतेहिं ॥९४
सोलदलकमलमज्झे अरिहं विलिहेह विंदुकलसहियं । बंभेण वेढइत्ता उवरिं पुणु मायवीएण ॥९५
सोलससरेहि वेढहु देहवियप्पेण अट्ठवग्गा वि । अट्ठहि दलेहि सुपयं अरिहंताणं णमो सहियं ॥९६
मायाए तं सव्वं तिउणं वेढेह अंकुसारूढं । कुणह धरामण्डलयं वाहिरयं सिद्धचक्कस्स ॥९७

ललाट, हस्त, पादादिकी शुद्धि करनी चाहिए ॥ ८५ ॥ अथवा सरसोंको सर्व दिशागत विघ्नोंके निवारणार्थ फेंककर वाम हस्तकी अंगुलियोंसे पैर, नाभि, हृदय, मुख और शिर पर पंच परमेष्ठीको स्थापित करे ॥ ८६ ॥ तत्पश्चात् अंगन्यास करके 'मैं इन्द्र हूँ' ऐसी कल्पना करके कंकण, मुकुट, मुद्रिका और यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए ॥ ८७ ॥ तदनन्तर सिंहासनको सुमेरु की कल्पना करके और उसके ऊपर जिन-प्रतिमाको स्थापित करके भावोंसे मनमें ऐसी भावना करे कि ये साक्षात् अरहन्त भगवान् विराजमान हैं ॥ ८८ ॥ तत्पश्चात् सिंहासनके चारों कोणोंमें जलसे परिपूर्ण चार कलश स्थापन कर घी, दूध, दहीसे भरे और शतपत्र कमलसे ढँके हुए कलशोंको स्थापित करना चाहिए ॥ ८९ ॥ पुनः इन्द्र, अग्नि, काल (यम), नैऋत, वरुण, पवन, कुवेर, ईशान, धरणेन्द्र और चन्द्रको उनकी पत्नी, वाहन और शास्त्र-सहित पूर्वादि दशों दिशाओंमें क्रमसे आवाहन करके स्थापित करना चाहिए ॥ ९० ॥ तत्पश्चात् इन दशों दिग्पालोंको बीजाक्षर-नामसे युक्त मंत्रोंके साथ पूजाद्रव्य, वलि, नैवेद्य और यज्ञभाग देकर मंत्रोंका उच्चारण करते हुए देवोंके देव श्री अरहन्त देवका अभिषेक करना चाहिए और अनुक्रमसे जिनदेवके शिर पर जल, घी, दूध और दही की धारा छोड़नी चाहिए ॥ ९१-९२ ॥ इस प्रकार भगवान्का अभिषेक करके और निर्मल गन्धोदकका वन्दन करके कश्मोर-केशर और चन्दन आदिसे भगवान्का उद्वर्तन करना चाहिए। (अन्तमें चारों कोणों पर स्थित शुद्ध जलसे अभिषेक करना चाहिए) ॥ ९३ ॥

तत्पश्चात् किसी पट्ट पर अत्यन्त सुगन्धित द्रव्योंसे गुरुके उपदेशानुसार सर्व मंत्रोंसे संयुक्त सिद्ध चक्रको लिखना चाहिए ॥ ९४ ॥ उसके लिखनेकी विधि यह है—सोलह पत्रका एक कमल वना कर उसके मध्यमें कर्णिका पर विन्दु और कला-सहित अर्हं अर्थात् 'ह्रँ' लिखना चाहिए। फिर उसे ब्रह्म-स्वर अर्थात् ॐ से वेष्टित करना चाहिए। फिर उन सबको माया बीजसे अर्थात् तीन रेखाओंसे वेष्टित करना चाहिए। पुनः सोलह स्वरोंसे और कवर्गादिसे वेष्टित करें और पत्तोंकी नोक पर 'णमो अरिहंताणं' लिखे। पश्चात् सबको ही बीजाक्षरसे त्रिगुण वेष्टित कर उसे

इय संखेवं कहियं जो पूयइ गंधदीवधूवेहिं। मेहि इ णिच्चं सो हणइ पुराणयं पावं ॥९८

जो पुणु वड्डद्दा(द्धा)रो सव्वो भणिओ हु सिद्धचक्कस्स।
सो एइ ण उद्धरिओ इण्हि सामग्गि ण उ ॥९९

जइ पुज्जइ को वि णरो उद्धारित्ता गुरूवएसेण। अट्ठदलविउणतिउणं चउग्गुणं बाहिरे कंजे ॥१००

मज्झे अरिहं देवं पंचपरमेट्ठिमंतसंजुत्तं। लहिऊण कण्णियाए अट्ठदले अट्ठदेवीओ ॥१०१

सोलहदलेसु सोलहविज्जादेवीउ मंतसहियाओ। वीसं पत्तेसु य ज जक्खी य चउवीसं ॥१०२

वत्तीसा अमरिंदा लिहेह वत्तीसकंजपत्तेसु। णियणियमंतपउत्ता गणहरवलएण वेढेह ॥१०३

सत्तप्पयाररेहा सत वि विलिहेह वज्ज त्ता। चउरंसो चउदारा कुणह प ेण जुत्तीए ॥१०४

एवं जंतुद्धारं इत्थं मइ अक्खियं सेण। सेसं किं पि विहाणं णायव्वं गुरुपसाएण ॥१०५

अट्ठविहअच्चणाए पुज्जेयव्वं इमं खु णियमेण। दव्वेहिं सुअंधेहि य लिहियव्वं अइपवित्तेहिं ॥१०६

जो पुज्जइ अणवरयं णिद्दहइ आसिभवबद्धं।
पडिदिणकयं च विहुणइ बंधइ पउराइं पुण्णाइं ॥१०७

अंकुशसे रोक देना चाहिए। और इस सिद्धचक्रके बाहर पृथ्वी चक्रको लिखना चाहिए ॥९५–९७॥ इसकी रचना इस प्रकार है—

सिद्धचक्र यन्त्र

इस प्रकार संक्षेपसे यह सिद्धचक्रका विधान कहा। जो पुरुष गन्ध, दीप, धूप और पुष्पोंसे इस यंत्रकी पूजा करता है, तथा नित्य उसका जप करता है, वह अपने पूर्व-संचित पापका विनाश कर देता है॥९८॥ और जो सिद्धचक्रका वृहद् उद्धार कहा गया है, वह यहाँ नहीं कहा गया है, क्योंकि इस समय उसकी सामग्री प्राप्त नहीं है ॥९९॥ यदि कोई मनुष्य गुरुके उपदेशसे उद्धार करके पूजना चाहे तो उसे वीचमें कर्णिका रखकर वलय देकर उसके वाहिर आठ दलका कमल बनावे। फिर वलय देकर सोलह दलका कमल बनावे। फिर वलय देकर चौवीस दलका कमल बनावे और फिर वलय देकर उसके वाहिर वत्तीस दलका कमल वनावे। इस कमलके मध्यमें कर्णिकापर पंचपरमेष्ठी-मंत्र सहित अरहंत परमेष्ठीको लिखे। चारों दिशाओंमें शेष चार परमेष्ठियोंको लिखे और विदि-शाओंमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपको लिखे। पुनः वाहिरके आठ दलोंपर जया आदि आठ देवियोंके नाम लिखे। पुनः वाहिरके सोलह दलों पर मन्त्रसहित सोलह विद्या देवियोंको लिखे। पुनः वाहिरके चौवीस दलों पर चौवीस यक्ष और यक्षियोंको लिखे। पुनः वाहिरके वत्तीस दलों पर वत्तीस इन्द्रोंको लिखे। इन सबको अपने-अपने मन्त्र-सहित लिखना चाहिए। पुनः इस यन्त्रको गणधर वलयसे वेष्टित करे। तथा सात प्रकारकी रेखाएँ वज्रसंयुक्त लिखना चाहिए। चारों ओर चार द्वार बनाना चाहिए। इस प्रकार युक्तिपूर्वक इस मन्त्रका उद्धार करना चाहिए॥ १००-१०४॥

इस यन्त्रका आकार इस प्रकार है—

इस प्रकार मैंने यह यंत्रोद्धारका स्वरूप संक्षेपसे कहा है। शेष विशेष विधान गुरुओंके प्रसादसे जान लेना चाहिए ॥ १०५ ॥ इस यंत्रको अति पवित्र सुगंधित द्रव्योंसे लिखना चाहिए और नियमपूर्वक आठों द्रव्योंसे प्रतिदिन पूजन करना चाहिए ॥ १०६ ॥ जो पुरुष प्रतिदिन इस यंत्रका पूजन करता है, वह अपने पूर्वभव-संचित पापोंको जला देता है और प्रतिदिन किये गये

इह लोए पुण मंता सव्वे सिज्झंति पढियमित्तेण।
विज्जाओ सव्वाओ हवंति फुड्ड साणुकूलाओ ॥१०८

गहभूयडायणीओ सव्वे णासंति तस्स णामेण। णिव्विसियरणं पयडइ सुसिद्धचक्कप्पहावेण ॥१०९
वसियरणं आइट्टी थंभं णेहं च संतिकम्माणि। णाणाजराण हरणं कुणेइ तं झाणजोएण ॥११०

पहरंति ण तस्स रिउणा सत्तू मित्तत्तणं च उवयादि।
पुज्जा हवेइ लोए सुवल्लहो णरवरिंदाणं ॥१११

किं वहुणा उत्तेण य मोक्खं सो च लब्भई जेण। केत्तियमेत्तं एयं सुसाहियं सिद्धचक्केण ॥११२
अहवा जइ मत्थो पुज्जइ परमेट्ठिपंचकं चक्कं। तं पायडं खु लोए इच्छियफलदायगं परमं ॥११३
सिररेहभिण्णसुण्णं चंदकलाविंदुएण संजुत्तं। मत्ताहिवउवरगयं सुवेढियं कामवीएण ॥११४
वामदिसाइं णयारं मयारसविसग्गदाहिणे भाए। वहिअट्ठपत्तकमलं तिउणं वेढह मायाए ॥११५
पणमंति मुत्तिमेगे अरहंतपयं दलेसु सेसेसु। धरणीमंडलमज्झे झाएह सुरच्चियं चक्कं ॥११६
अह एउणवण्णासे कोट्ठे ण विउलरेहाहिं। अयरोइमक्खराइं कमेण विण्णिसहं सव्वाइं ॥११७
ता णिसहं जहयारं मज्झिमठाणेसु ठाइ जुत्तीए। वेढह वीएण पुणो इलमंडलउयरमज्झत्थं ॥११८
एए जंतुद्धारे पुज्जह परमेट्ठिपंचअहिहाणे। इच्छंइ फलदायारो पावघणवडलहंतारो ॥११९

पापोंका भी विनाश कर देता है। इसके साथ ही प्रचुर मात्रामें नवीन पुण्य कर्मको बाँधता है ॥ १०७ ॥ इन यन्त्रोंके पठन करने मात्रसे इस लोकमें सभी मंत्र सिद्ध हो जाते हैं, तथा जितनी विद्यायें हैं वे सब अच्छी तरहसे अपने अनुकूल हो जाती हैं। १०८ ॥ गुह, भूत, डाकिनी, पिशाच आदि सभी सिद्धचक्रका नाम लेनेसे ही भाग जाते हैं और इसके प्रभावसे विप भी निर्विपपनेको प्राप्त हो जाता है, अर्थात् दूर हो जाता है ॥ १०९ ॥ इन यन्त्र-मंत्रोंका ध्यान करनेसे वशीकरण, आकर्षण, स्तम्भन, शान्ति कर्म और स्नेह आदिकी सिद्धि होती है, तथा नाना प्रकारके रोग और ज्वर दूर हो जाते हैं ॥ ११० ॥ शत्रु जन उसके ऊपर किसी भी प्रकारका प्रहार नहीं कर सकते, प्रत्युत उसके मित्र वन जाते हैं। लोकमें उसकी पूजा होती है और वह राजा-महाराजाओंका वल्लभ (प्रिय) हो जाता है ॥ १११ ॥ अथवा बहुत कहनेसे क्या ? जिस सिद्ध चक्रके प्रतापसे इस मनुष्यको मोक्षका अनन्त सुख प्राप्त होता है, फिर ये सांसारिक लाभ उसके सामने क्या वस्तु हैं, अर्थात् कुछ भी महत्त्व नहीं रखते हैं ॥ ११२ ॥

अथवा जो कोई पुरुष इन यन्त्रोंके वनानेमें और अर्चन-पूजन करनेमें असमर्थ हो तो उसे पंचपरमेष्ठीके चक्ररूप यंत्रकी पूजा करनी चाहिए। पंचपरमेष्ठी चक्र यंत्र भी इस लोकमें प्रकट-रूपसे परम अभीष्ट फलका दायक है ॥ ११३ ॥

अब आगे पंचपरमेष्ठी चक्र-यंत्र की उद्धार विधि वतलाते हैं—(यद्यपि इन गाथाओंका भाव वरावर समझमें नहीं आया है, तथापि जो शब्दार्थ ध्यानमें आया है, वह लिखा जाता है) कर्णिका युक्त आठ पत्रवाला एक कमल वनावे, कर्णिकाके बीचमें।

अथवा अनेक रेखाओं द्वारा उनचास कोणवाला एक यन्त्र वनावे। उसके मध्य कर्णिका पर पंच परमेष्ठीका नाम लिख करके क्रमसे एक एक कोठेमें अकारसे लेकर हकार तकके अक्षर लिखना चाहिए। पुनः माया वीजसे वेष्टित करके तीन रेखाओंसे धारा मंडलको लिखे ॥ ११७-११८ ॥ यह यंत्रोद्धार पंच परमेष्ठीका वाचक है। इसकी पूजा करनेसे इच्छानुसार फलकी प्राप्ति

अट्ठविहच्चण ˙ पुव्वपउत्तम्मि ठावियं पडिमा।
पुज्जेह तग्गयमणो विविहहि पुज्जाहि भत्तीए ॥१२०
पसमइ रयं असेसं जिणपयकमलेसु दिण्ण धारा।
भिंगारणालणिग्गय भवंतभिंगेहि कव्वुरिया ॥१२१
चंदणसुअंघलेओ जिणवरचलणेसु जो कुणइ भविओ।
लहइ तणू विक्किरियं सहावसुयंधयं अमलं ॥१२२
पुण्णाणं पुज्जेहि य अक्खयपुंजेहि देवपयपुरओ।
लब्भंति णवणिहाणे सु ए चक्कवट्टित्तं ॥१२३
अलिचुंबिएहिं पुज्जहि जिणपयकमलं च जाइमल्लीहिं।
सो हवइ सुरवरिंदो रमेइ सुरतरुवरवणेहिं ॥१२४
दहिखीरसप्पिसंभवउत्तमचरुएहिं पुज्जए जो हु। जिणवरपायपओरुह सो पावइ उत्तमे भोए ॥१२५
कप्पूरतेल्लपयलियमंदमरुपहयणडियदीवेहिं। पुज्जइ जिणपयपोमं ससिसूरविसमतणुं लहई ॥१२६
सिल्लारसअयरुमीसियणिग्गयधूवेहिं वहलधूमेहिं।
धूवइ जो जिणचरणेसु लहइ सुहवत्तणं तिजए॥१२७
पक्केहिं रसड्ढसुमुज्जलेहिं जिणचरणपुरओप्पविएहिं।
णाणाफलेहिं पावइ पुरिसो हियइच्छयं सु ˙ ॥१२८

होती है, और पापरूपी सघन मेघ-पटलका समूह नष्ट हो जाता है। इसलिए इन यंत्रोंके द्वारा पंच परमेष्ठीकी पूजा प्रतिदिन करनी चाहिए ॥ ११९ ॥

इस प्रकार अष्ट द्रव्यसे यंत्रोंके द्वारा पंच परमेष्ठीकी पूजा करके पहले अभिषेकके लिए विराजमान की हुई प्रतिमामें अपना मन लगाकर भक्ति-पूर्वक अनेक प्रकारके द्रव्योंसे अभिषेकके पश्चात् उस प्रतिमाकी पूजा करनी चाहिए ॥ १२० ॥ सुवर्ण-झारीकी नालीसे निकलती हुई और सुगन्धिके कारण चारों ओर भ्रमण करनेवाले भ्रमरोंसे अनेक वर्णोंको धारण करती हुई ऐसी श्री-जिनेन्द्र देवके चरण-कमलों पर छोड़ी हुई जलकी धारा ज्ञानावरणादि सर्व पाप कर्मोंको शान्त करती है ॥ १२१ ॥ जो पुरुष जिनदेवके चरणों पर चन्दनका सुगन्धित लेप करता है, वह स्वर्गमें स्वभावसे सुगन्धित निर्मल वैक्रियिक शरीर प्राप्त करता है ॥ १२२ ॥ जो जिनदेवके चरणोंके आगे अखंड अक्षतोंके पुंजोंकी रचना करता है उसको अक्षय नौ निधियाँ और चक्रवर्तीका पद प्राप्त होता है ॥ १२३ ॥ जो भ्रमरों द्वारा चुम्बित जाति-मल्लिका आदिके पुष्पोंसे जिनदेवके चरण-कमलोंकी पूजा करता है, वह देवोंका स्वामी इन्द्र होता है और कल्प वृक्षोंके उत्तम वनोंमें रमण करता है ॥ १२४ ॥ जो दही, दूध और घीसे बने हुए उत्तम नैवेद्योंसे जिनदेवके पाद-पद्मोंकी पूजा करता है वह उत्तम भोगोंको प्राप्त करता है ॥ १२५ ॥ जो मन्द-मन्द पवन झकोरोंसे नृत्य करते हुए, कर्पूर और घृत-तैलके प्रज्वलित दीपकोंसे जिनदेवके चरण-कमलोंकी पूजा करता है वह चन्द्र और सूर्यके समान प्रकाशमान शरीरको प्राप्त करता है ॥ १२६ ॥ जिसमेंसे प्रचुर धूम्र निकल रहा है ऐसे शिलारस (शिलाजीत) अगुरु आदि द्रव्योंसे मिश्रित धूपसे जो जिनेन्द्र देवके चरणोंको सुगन्धित करता है वह तीन लोकमें परम सौभाग्यको प्राप्त करता है ॥ १२७ ॥ जो पुरुष उज्ज्वल, मिष्ट और पक्व नाना प्रकारके फलोंको जिनदेवके सामने चढ़ाता है, वह मनो-

इय अट्ठभेयअच्चण काऊं पुण जवह मूलविज्जा य ।
जा जत्थ जहाउत्ता सयं च अट्ठोत्तरं जावा ॥१२९

किच्चा काउस्सग्गं देवं झाएह समवसरणत्थं । लद्धट्ठपाडिहेरं णवकेवललद्धिसंपुण्णं ॥१३०
णट्ठचउघाइकम्मं केवलणाणेण मुणियतियलोयं । परमेट्ठीअरिहंतं परमप्पं परमझाणत्थं ॥१३१

झाणं झाऊण पुणो मज्झाणियवंदणत्थ काऊणं ।
उवसंहरिय विसज्जउ जे पुव्वावाहिया देवा ॥१३२
एणविहाणेण फुडं पुज्जा जो कुणइ भत्तिसंजुत्तो ।
सो डहइ णियं पावं वंधइ पुण्णं तिजयखोहं ॥१३३
उववज्जइ दिवलोए भुंजइ भोए मणिच्छिए इट्ठे ।
वहुकालं चविय पुणो उत्तममणुयत्तणं लहई ॥१३४
होऊण चक्कवट्टी चउदहरयणेहि णवणिहाणेहिं ।
पालिय छक्खंडवरा भुंजिय भोए णिरुवरिट्ठा ॥१३५
संपत्तवोहिलाहो रज्जं परिहरिय भविय णिग्गंथो ।
लहिऊण सयलसंजम धरिऊण महव्वया पंच ॥१३६

लहिऊण सुक्कझाणं उप्पाइय केवलं वरं णाणं । सिज्झेइ णट्ठकम्मो अहिसेयं लहिय मेरुम्मि ॥१३७

वांछित फलको प्राप्त करता है ॥ १२८ ॥ इस प्रकार अष्टभेदरूप द्रव्योंसे जिनदेवका पूजन करके अनादि मूल मंत्रका जाप करना चाहिए। अथवा जिस पूजनमें जो मूल मंत्र बताया गया है, उसी को एक सौ आठ बार जपना चाहिए ॥ १२९ ॥

अब किस प्रकारसे भगवान्का ध्यान करना चाहिए, यह बतलाते हैं—जिन-पूजन करके और कायोत्सर्ग करके जिनेन्द्र देवका इस प्रकार ध्यान करें—अरहन्त देव समशरणमें विराजमान हैं, आठों प्रातिहार्योंसे सुशोभित हैं और नौ केवललब्धियोंसे परिपूर्ण हैं ॥ १३० ॥ उनके चारों घातिया कर्म नष्ट हो गये हैं; वे केवलज्ञानके द्वारा तीनों लोकोंको साक्षात् जानते हैं, वे ही परमेष्ठी हैं, परमात्मा हैं और परम ध्यानमें लीन हैं। इस प्रकार अरहन्त देवका ध्यान करना चाहिए ॥ १३१ ॥ इस प्रकार अरहन्त भगवान्का ध्यान कर माध्याह्निक वन्दना करे। पुनः उप-संहार करके पहले आवाहन किये देवोंका विसर्जन करे ॥ १३२ ॥ इस प्रकार जो भव्यपुरुष भक्तिके साथ उपर्युक्त विधिके अनुसार जिनेन्द्र देवका पूजन करता है वह अपने समस्त पापोंको जला देता है और तीनों लोकोंको चमत्कृत करनेवाले पुण्यको बाँधता है ॥ १३३ ॥ तदनन्तर आयुके पूर्ण होने पर वह देवलोकमें उत्पन्न होता है और वहाँ पर वह मनोवांछित भोगोंको चिर-काल तक भोगता है। पश्चात् आयुके पूर्ण होने पर वहाँसे चल कर उत्तम मनुष्य भवको प्राप्त करता है ॥ १३४ ॥ मनुष्य भवमें वह चक्रवर्ती होकर चौदह रत्नों और नौ निधियोंको पाकर सर्वश्रेष्ठ भोगोंको भोगता है और षट्खण्ड पृथ्वीका पालन करता है ॥ १३५ ॥ तत्पश्चात् वह बोधि लाभको प्राप्त होकर संसार-शरीर और भोगोंसे विरक्त हो राज्यका परित्याग कर दीक्षा लेकर निर्ग्रन्थ वेषको लेकर सकल संयम रूप पंच महाव्रतको धारण करता है ॥ १३६ ॥ पुनः शुक्ल ध्यानको पाकर केवलज्ञानको उत्पन्न कर और शेष कर्मोंको भी क्षयकर सिद्ध पदको प्राप्त करता है। यदि वह निर्ग्रन्थ उस भवमें केवलज्ञानको नहीं प्राप्त कर पाता है तो मरण कर स्वर्ग में उत्पन्न होता है और वहाँसे आकर और तीर्थंकर होकर सुमेरु पर्वत पर जन्माभिषेककी महिमा

इय णाऊण विसेसं पुण्णं आयरइ कारणं तस्स । पावहणं जाम सयलं मयं अप्पमत्तं च ॥१३८

भावह अणुव्वयाइं पालह सीलं च कुणह उववासं ।
पव्वे पव्वे णियमं दिज्जह अणवरह दाणाइं ॥१३९

अभयपयाणं विदियं तह होइ सत्थदाणं च ।
तइयं ओसहदाणं आहारदाणं चउत्थं च ॥१४०

सव्वेसिं जीवाणं अभयं जो देइ मरणभीरूणं । सो णिब्भओ तिलोए उक्किट्ठो होइ सव्वेसिं ॥१४१

सुयदाणेण य लब्भइ मइसुइणाणं च ओहिमणणाणं ।
बुद्धितवेण य सहियं पच्छा वरके णाणं ॥१४२

ओसहदाणेण णरो अतुलिय परक्कमो महासत्तो ।
वाहिविमुक्कसरीरो चिराउसो होइ तेयट्ठो ॥१४३

दाणस्साहार फलं को सक्कइ वण्णिऊण भुवणयले ।
दिण्णेण जेण भोआ लब्भंति मणिच्छिया सव्वे ॥ १४४

ारो वि य पत्तं दाणविसेसो तहा विहाणं च । एए अहियारा णायव्वा होंति भव्वेण ॥१४५

दायारो उवसंतो मणवयका संजुओ दच्छो । दाणे कयउच्छाओ पयडियवरछग्गुणो अमयो ॥१४६

भत्ती तुट्ठी य खमा सद्धा सत्तं च लोहपरिचाओ । विण्णाणं तक्काले सत्तगुणा होंति दायारे ॥१४७

को पाकर पीछे तपश्चरण कर, केवलज्ञानको पाकर भव्य जीवोंको धर्मोपदेश देते हुए अन्तमें मोक्ष प्राप्त करता है ॥ १३७ ॥ यह सब पुण्यकी विशेष महिमा जान कर जब तक सकल संयम और अप्रमत्त गुणस्थान न प्राप्त हो, तब तक पाप-विनाशक और मोक्षके कारणभूत पुण्य विशेष-का उपार्जन करते रहना चाहिए ॥ १३८ ॥

उस पुण्य विशेषका उपार्जन करनेके लिए अणुव्रतोंको पालन करना चाहिए, शील व्रतोंकी भावना करनी चाहिए, प्रत्येक पर्वके दिन उपवास करना चाहिए और नियमपूर्वक निरन्तर दान देना चाहिए ॥ १३९ ॥ दानके चार भेद हैं। उनमें पहला अभयदान है, दूसरा शास्त्रदान है, तीसरा औषधदान है और चौथा आहारदान है ॥ १४० ॥ जो मरणसे भयभीत समस्त प्राणियोंको अभयदान देता है, वह पुरुष तीनों लोकोंमें निर्भय रहता है और सर्व मनुष्योंमें उत्कृष्ट होता है ॥ १४१ ॥ शास्त्रदानसे मनुष्य मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, और मनःपर्ययज्ञानको प्राप्त करता है। तथा बुद्धि और तपश्चरणके साथ पीछे उत्कृष्ट केवलज्ञानको भी पाता है ॥ १४२ ॥ औषधदानसे मनुष्य अतुल बल-पराक्रमको पाकर महाबलशाली-आधि-व्याधियोंसे रहित नीरोग शरीरी, चिरा-युष्क और तेजस्वी पुरुष होता है ॥ १४३ ॥ इस त्रिभुवनमें आहारदानके फलको वर्णन करनेके लिए कौन समर्थ है ? कोई भी नहीं। क्योंकि आहारदानके देनेसे मनोवांछित सभी अभीष्ट भोग प्राप्त होते हैं ॥ १४४ ॥

दानके विषयमें भव्य पुरुषको दाता, पात्र, दान और दानकी विधि ये चार अधिकार जानने योग्य हैं ॥ १४५ ॥ जो भव्य जीव शान्त परिणामोंको धारण करता है, शुद्ध मन वचन कायसे मुक्त है, दान देनेमें कुशल है, दान देनेका उत्साह रखता है, गर्व-रहित है और उत्कृष्ट छह गुण जिसके प्रकट हुए हैं, ऐसा पुरुष दाता कहलाता है ॥ १४६ ॥ दातामें भक्ति, सन्तोष, क्षमा, श्रद्धा, सत्त्व (दान देनेकी शक्ति), लोभ-परित्याग और दानको देनेका विशिष्ट ज्ञान ये सात गुण होना

तिविहं भणंति पत्तं मज्झिम तह उत्तमं जहण्णं च।
उत्तमपत्तं साहू मज्झिमपत्तं च सावया भणिया ॥१४८
अविरइसम्मादिट्ठी जण्णपत्तं तु अक्खियं समये। णाउं पत्तविसेसं दिज्जइ दाणाइं भत्तीए ॥१४९
मिच्छादिट्ठी पुरिसो दाणं जो देइ उत्तमे पत्ते। सो पावइ वरभोए फुड्डु उत्तमभोयभूमीसु ॥१५०
मज्झिमपत्ते मज्झिमभोयभूमीसु पावए भोए। पावइ जहण्णभोए जहण्णपत्तस्स दाणेण ॥१५१
उत्तमछित्ते वीयं फलइ जहा लक्खकोडिगुणेहिं।
दाणं उत्तमपत्ते फलइ तहा किमिच्छभणिएण ॥१५२
सम्मादिट्ठी पुरिसो उत्तमपुरिसस्स दिण्णदाणेण।
उववज्जइ दिवलोए हवइ स महड्ढिओ देओ ॥१५३
जहणीरं उच्छुगयं कालं परिणवइ अमयरूवेण। तह दाणं वरपत्ते फलेइ भोएहिं विविहेहिं ॥१५४
उत्तमरयणं खु जहा उत्तमपुरुसासियं च वहुमुल्लं। तह उत्तमपत्तगयं दाणं णिउणेहि णायव्वं ॥१५५
किं किंचि वि वेयमयं किंचि वि पत्तं तवोमयं परमं। तं पत्तं संसारे तारणयं होइ णियमेण ॥१५६
वेओ किल सिद्धंतो तस्सट्ठा णवपयत्थछद्दव्वं। गुणमग्गणठाणा वि य जीवट्ठाणाणि सव्वाणि ॥१५७
परमप्पयस्स रूवं जीवकम्माण उहयसब्भावं। जो जाणइ सविसेसं वेयमयं होइ तं पत्तं ॥१५८
वहिरब्भंतरतवसा कालो परिखवइ जिणोवएसेण। दिढवंभचेर णाणी पत्तं तु तवोमयं भणियं ॥१५९

चाहिए ॥ १४७ ॥ पात्र तीन प्रकारके कहे गये हैं—उत्तम, मध्यम और जघन्य। उत्तम पात्र निर्ग्रन्थ साधु हैं, और मध्यम पात्र श्रावक कहे गये हैं ॥ १४८ ॥ अविरत सम्यग्दृष्टि जीवको जिनागममें जघन्य पात्र कहा गया है। इस प्रकार पात्रोंके भेदोंको जानकर भक्तिके साथ उन्हें दान देना चाहिए ॥ १४९ ॥ जो मिथ्यादृष्टि पुरुष भी उत्तम पात्रमें दान देता है वह उत्तम भोगभूमिमें उत्तम भोगोंको प्राप्त होता है ॥ १५० ॥ जो मध्यम पात्रको दान देता है, वह मध्यम भोगभूमिमें भोगोंको प्राप्त करता है और जघन्य पात्रको दान देनेसे जघन्य भोगभूमिके भोगोंको प्राप्त करता है ॥ १५१ ॥ जिस प्रकार उत्तम क्षेत्रमें वोया गया बीज लाखों करोड़ों गुणा फलता है, उसी प्रकार उत्तम पात्रमें दिया गया दान इच्छानुसार फलको देता है ॥ १५२ ॥ सम्यग्दृष्टि पुरुष उत्तम पात्रको दान देनेसे देवलोकमें महान् ऋद्धिवाला देव उत्पन्न होता है ॥ १५३ ॥ जिस प्रकार ईखमें दिया गया पानी समय आने पर अमृतरूप मिष्टरससे परिणत होता है, उसी प्रकार उत्तम पात्रमें दिया गया दान समय आने पर नाना प्रकारके उत्तम भोगोंको फलता है ॥ १५४ ॥ जैसे कोई उत्तम रत्न उत्तम पुरुषके आश्रयसे वहुमूल्य माना जाता है, उसी प्रकार उत्तम पात्रको दिया गया दान निपुण जनोंको उत्तम जानना चाहिए ॥ १५५ ॥

अन्य प्रकारसे पात्रोंके दो भेद और भी होते हैं—एक तो कुछ कम या अधिक ज्ञान वाला वेदमय पात्र और दूसरा थोड़ा-बहुत तपश्चरण करनेवाला तपोमय पात्र। ये दोनों ही प्रकारके पात्र नियमसे संसार-तारक होते हैं ॥ १५६ ॥ वेद नाम सिद्धान्त शास्त्रका है। जो पुरुष सिद्धान्त शास्त्रको जानता है, उसके अर्थको जानता है, नौ पदार्थ और छह द्रव्योंको जानता है, सभी गुणस्थानों, मार्गणास्थानों और जीवसमासोंको जानता है, परमात्माके स्वरूपको जानता है, जीवका स्वभाव, कर्मोका स्वभाव और कर्म-संयुक्त जीवोंका स्वभाव विशेषरूपसे जानता है, वह वेदमय पात्र कहा जाता है ॥ १५७-१५८ ॥ जो जिनदेवके द्वारा उपदेश दिये गये बाह्य और आभ्यन्तर तपश्चरणके द्वारा अपना समय व्यतीत करता है और ब्रह्मचर्यको दृढ़ रूपसे पालन करता है, ज्ञान-

जह णावा णिच्छिद्दा गुणमइया विविहरयणपरिपुण्णा ।
तारइ पारावारे बहुजलयरसंकडे भीमे ॥१६०
तह संसारसमुद्दे जाइजरामरणजलयराइण्णे । दुक्खसहस्सावत्ते तारेइ गुणाहियं ॥ १६१
कुच्छिगयं जस्सण्णं जीरइ तवझाणबंभचरिएहिं । सो पत्तो णित्थारइ अप्पाणं चेव दायारं ॥१६२
एरिसपत्तम्मि वरे दिज्जइ आहारदाणमणवज्जं । पासुयसुद्धं अमलं जोग्गं मणदेहसुव रं ॥१६३
कालस्स य अणुरूवं रोयारोयत्तणं च णाऊणं । दायव्वं जहजोग्गं आहारं गेहवंतेण ॥१६४
पत्तस्सेस सहावो जं दिण्णं दायगेण भत्तीए । तं करपत्ते सोहिय गहियव्वं विगयराए ॥१६५
दायारेण पुणो वि य अप्पाणो सुक्खमिच्छमाणेण ।
देयं उत्तमदाणं विहिणा वरणीयसत्तीए ॥१६६
जो पुण हुंतइ धणकणइं मुणिहिं कुभोयणु देइ ।
जम्मि जम्मि दालिद्दडउ पुट्ठि ण तहो छंडेइ ॥१६७
देहो पाणा रूवं विज्जा धम्मं तवो सुहं मोक्खं । सव्वं दिव्वं णियमा हवेइ आहारदाणेणं ॥१६८
भुक्खसमा ण हु वाही अण्ण ण्णं च ओसहं णत्थि ।
तम्हा आहारदाणे आरोयत्तं हवे दिण्णं ॥ १६९
आहारमओ देहो आहारेण विणा पडेइ णियमेण । तम्हा जेणाहारो दिण्णो देहो हवे तेण ॥१७०

वान् है, वह तपोमय पात्र कहा गया है ॥ १५९ ॥ जिस प्रकार छिद्र-रहित, गुण-युक्त और विविध रत्नोंसे परिपूर्ण नाव अनेक जलचर जीवोंसे व्याप्त भयंकर समुद्रसे पार उतार देती है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनादि अनेक गुणोंसे युक्त पात्र इस जीवको जन्म जरा मरणरूप जलचर जीवोंसे व्याप्त और दुःखरूप सहस्रों भंवरोंवाले इस संसार-सागरसे पार उतार देता है ॥१६०-१६१॥ (इस प्रकार पात्रका स्वरूप कहा ।)

अब दानमें देनेके योग्य द्रव्यका वर्णन करते हैं—जिस पुरुषका जो अन्न पेटमें पहुँचने पर तप, ध्यान और ब्रह्मचर्यके द्वारा सुखपूर्वक जीर्ण हो जाय, अर्थात् पच जाय, वह अन्न पात्रको भी संसारसे पार उतारता है और दान देनेवाले दाताको भी पार उतारता है ॥ १६२ ॥ इस प्रकारके उत्तम पात्रको जो निर्दोष, प्रासुक, शुद्ध, निर्मल, योग्य, मन और देहको सुखकारक आहार दिया जाता है, वही श्रेष्ठ देय द्रव्य गिना जाता है ॥ १६३ ॥ इस प्रकार समयके अनुरूप रोग और नीरोग अवस्थाको जान करके गृहस्थको यथायोग्य आहार देना चाहिए ॥ १६४ ॥ पात्रका यह स्वभाव होना चाहिए कि दाताने जो भक्तिपूर्वक दिया है, उसे राग-द्वेषसे रहित होकर और कर-पात्रमें शोधकर ग्रहण कर लेना चाहिए ॥ १६५ ॥ दाताको चाहिए कि वह अपने आत्माके सुखकी इच्छा करता हुआ शक्तिके अनुसार विधिपूर्वक उत्तम दान देवे ॥ १६६ ॥ किन्तु जो पुरुष धन-धान्यादिके होते हुए भी मुनियोंको खोटा भोजन देता है, उसकी पीठको दरिद्रता जन्म-जन्मान्तरों तक भी नहीं छोड़ती है, अर्थात् वह अनेक जन्मोंतक दरिद्री बना रहता है ॥ १६७ ॥ शरीर, प्राण, रूप, विद्या, धर्म, तप, सुख और मोक्ष, ये सब आहारके ऊपर निर्भर हैं । इसलिए जो मुनियोंको आहार दान देता है, उसके द्वारा नियमसे सभी दान दिये गये हैं, ऐसा समझना चाहिए ॥ १६८ ॥

इस संसारमें भूखके समान अन्य कोई व्याधि नहीं है और अन्नके समान और कोई औषधि नहीं है । इसलिए आहारदानके देनेपर आरोग्यदान भी दिया गया, ऐसा समझना चाहिए ॥१६९॥ यह देह आहारमय है, आहारके विना यह नियमसे पड़ जाता है अर्थात् मृत्युको प्राप्त हो जाता

ता देहो ता पाणा ता रूवं णाणविण्णाणं।
जामाहारो पविसइ देहे जीवाण सुक्खयरो ॥१७१

आहारसणे देहो देहेण तवो तवेण रयसडणं।
रयणासेण य णाणं णाणे मुक्खो जिणो भणई ॥१७२

चउविहदाणं उत्तं जं तं सयलमवि होइ इह दिण्णं। सविसेसं दिण्णेण य इक्केणाहारदाणेण ॥१७३

भुक्खाकयमरणभयं णासइ जीवाण तेण तं अभयं। सो एव हणइ वाही उसहं तेण आहारो ॥१७४

आयाराईसत्थं आहारवलेण पढइ णिस्सेसं। तम्हा तं सुयदाणं दिण्णं आहारदाणेण ॥१७५

हयगयगोदाणाइं धरणीरयकणयजाणदाणाइं।
तित्ति ण कुणंति सया जह तित्ति कुणइ आहारो ॥१७६

जह रइणाणं वइरं सेलेसु य उत्तमो जहा मेरू। तह दाणाणं पवरो आहारो होइ णायव्वो ॥१७७

सो दायव्वो पत्ते विहाणजुत्तेण सा विही एसा।
पडिगहमुच्चट्ठाणं पादोदयअंच्चणं च पणमं च ॥१७८

मणवयणकायसुद्धो एसणसुद्धो य परम कायव्वा। होइ फुडं आयरणं णवव्विहं पुण्णकम्मेण ॥१७९

है। इसलिए जिसने आहार दान दिया, उसने शरीरको ही दिया, ऐसा समझना चाहिए ॥ १७० ॥ इस संसारमें जब तक जीवोंको सुख देनेवाला आहार इस शरीरको प्राप्त होता रहता है, तब तक ही यह शरीर रहता है, तब तक ही प्राण रहते हैं, तब तक ही रूप रहता है, तब तक ही ज्ञान रहता है और तब तक ही विज्ञान रहता है। यदि शरीरको आहार नहीं मिले तो ये सब नष्ट हो जाते हैं ॥ १७१ ॥ आहारके करनेसे शरीरकी स्थिति रहती है, शरीरकी स्थिति रहनेसे तपश्चरण होता है, तपश्चरणसे कर्मरजका पतन (विनाश) होता है, कर्म-रज-विनाशसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है और केवलज्ञानकी प्राप्तिसे मोक्ष प्राप्त होता है, ऐसा जिनदेवने कहा है ॥ १७२ ॥ जो पुरुष विशेष रीतिसे एक आहारदानको ही देता है, उसने चारों ही दान दिये, ऐसा समझना चाहिए ॥ १७३ ॥ देखो—भूखकी पीड़ासे मरनेका भय रहता है, आहारदानसे मरणका भय नष्ट हो जाता है, इसलिए जो आहारदान करता है, उसने अभयदान किया। तथा भूख सबसे प्रबल व्याधि है, और आहारदानसे वह विनष्ट होती है, इसलिए आहारदानसे औषधिदान भी स्पष्ट रीतिसे किया गया, ऐसा समझना चाहिए ॥ १७४ ॥ आहारके बलसे ही मुनि आचार आदि समस्त शास्त्र पढ़ता है, इसलिए आहारदानसे श्रुत (शास्त्र) दान दिया गया। इस प्रकार एक आहारदान-से चारों ही दानोंका फल मिल जाता है ॥ १७५ ॥ घोड़ा, हाथी, और गायोंका दान, पृथ्वी, रत्न, सुवर्ण, वाहन आदि जितने भी दान हैं, वे सब सदा वैसी तृप्ति नहीं करते हैं, जैसी तृप्ति सदा आहार करता है ॥ १७६ ॥ जिस प्रकार समस्त रत्नोंमें वज्र (हीरा) सर्वोत्तम रत्न है, और समस्त पर्वतोंमें मेरुपर्वत श्रेष्ठ है, उसी प्रकार सर्व दानोंमें आहारदान प्रकृष्ट है, ऐसा जानना चाहिए ॥ १७७ ॥

अब आहारदानकी विधिको कहते हैं—वह आहारदान पात्रको उत्तम विधिसे ही देना चाहिए। उसकी विधि यह है—१. प्रतिग्रह—पात्रको आता हुआ देखकर उन्हें हे स्वामिन्, तिष्ठ तिष्ठकर स्वीकारना, २. उच्चस्थान—घरके भीतर ले जाकर ऊँचे स्थान पर बैठाना, ३. पादो-दक—उनके प्रासुक जलसे चरण धोना, ४. अर्चन—अक्षतादि द्रव्यसे पूजन करना, ५. प्रणाम—नमस्कार करना, ६. पुनः मनकी शुद्धि प्रकट करना, ७. वचनकी शुद्धि रखना, ८. कायकी शुद्धि

एवं विहिणा जुत्तं देयं दाणं तिसुद्धभत्तीए। वज्जिय कुच्छियपत्तं तह य अपत्तं च्च णिस्सारं ॥१८०

जं रयणत्तयरहियं मिच्छामयकहियधम्मअणुलग्गं।
जइ वि हु तवइ सुघोरं तहा वि तं कुच्छियं पत्तं ॥१८१
जस्स ण तवो ण चरणं ण चावि जस्सत्थि वरगुणो कोई।
तं जाणेह अपत्तं अफलं दाणं कयं तस्स ॥१८२

ऊसरखित्ते वीयं सुक्खे रुक्खे य णीरअहिसेओ। जह तह दाणमवत्ते दिण्णं खु णिरत्थयं होई ॥१८३

कुच्छियपत्ते किंचि वि फलइ कुदेवेसु कुणरतिरिएसु।
कुच्छियभोयधरासु य लवणंवुहिकालउवहीसु ॥१८४

लवणे अडयालीसा कालसमुद्दे य तित्तिया चेव। अंतरदीवा भणिया कुभोयभूमीय विव ।॥१८५

उप्पज्जंति मणुस्सा कुपत्तदाणेण तत्थ भूमीसु। जुवलेण गेहरहिया णग्गा तरुमूलि णिवसंति ॥१८६

पल्लोवमआउस्सा वत्थाहरणेहि वज्जिया णिच्चं।
तरुपल्लवपुप्फरसं फलाण रसं चेव भक्खंति ॥१८७
दीवे कहिं पि मणुआ सक्करगुडखंडसण्णिहा भूमी।
भक्खंति पुट्ठिजणया अइसरसा पुव्वकम्मेण ॥१८८

केई गयसीहमुहा केई हरिमहिसकविकोलमुहा। केई आदरिसमुहा केई पुण एयपाया य ॥१८९

रखना और ९. एषणा—आहारकी शुद्धि रखना, इन नौ प्रकारके पुण्य कार्योंके द्वारा आहार देना चाहिए ॥ १७८-१७९ ॥ इस प्रकारकी विधिपूर्वक त्रियोगकी शुद्ध भक्तिसे सत्पात्रको दान देना चाहिए। किन्तु कुत्सित पात्र और निःसार अपात्रका परित्याग करना चाहिए ॥ १८० ॥

जो रत्नत्रयसे रहित है, मिथ्यामतमें कहे हुए धर्ममें अनुरक्त है, वह पुरुष यदि घोर तपश्चरण भी करता है, तो भी वह कुपात्र ही जानना चाहिए ॥ १८१ ॥ जिसके न तप है, न चारित्र है, और न कोई उत्तम गुण ही है, उसे अपात्र जानना चाहिए। उसे दिया गया दान निष्फल ही जाता है ॥ १८२ ॥ जैसे ऊसर भूमिमें बोया गया बीज और सूखे वृक्षमें सींचा गया जल व्यर्थ जाता है, उसी प्रकार अपात्रको दिया गया दान सर्वथा व्यर्थ जाता है ॥ १८३ ॥ कुत्सित पात्रमें दिया गया दान कुत्सितरूप ही कुछ फलको देता है। कुपात्रदानके फलसे जीव नीच जातिके देवोंमें, कुमनुष्योंमें और खोटे तिर्यंचोंमें उत्पन्न होता है, तथा लवणसमुद्र और कालोदधि समुद्र-गत कुभोगभूमियोंमें उत्पन्न होता है ॥ १८४ ॥ लवणसमुद्रमें अड़तालीस अन्तर्द्वीप हैं और कालोदधिमें भी अड़तालीस अन्तर्द्वीप हैं। इन छियानवे अन्तर्द्वीपोंमें वे प्रसिद्ध कुभोगभूमियाँ हैं ॥ १८५ ॥ कुपात्रोंको दान देनेके फलसे मनुष्य उन कुभोगभूमियोंमें उत्पन्न होते हैं। वे सब स्त्री-पुरुष युगल ही एक साथ उत्पन्न होते हैं, वे घर-रहित होते हैं, नग्न ही वृक्षोंके मूल भागमें निवास करते हैं ॥ १८६ ॥ इस कुभोगभूमिके मनुष्योंकी आयु एक पल्योपमकी होती है, ये सदा वस्त्र और आभूषणोंसे रहित होते हैं, वृक्षोंके पत्ते, फूलोंका रस और फल तथा उसके रसको खाते-पीते रहते हैं ॥ १८७ ॥ किसी-किसी द्वीपकी भूमि गुड़, खाँड़ और शक्करके समान मीठी, पुष्टि-कारक और अति सरस होती है, उसे वहाँपर उत्पन्न होने वाले जीव पूर्व कर्मके प्रभावसे खाते हैं ॥ १८८ ॥ उन अन्तर्द्वीपोंमें रहनेवाले कितने ही मनुष्योंके मुख हाथीके समान, कितनोंके सिंहके समान, कितनोंके व्याघ्र-समान, कितनोंके भैंसा-समान, कितनोंके वानर-समान, कितनोंके सूकर-समान और कितनोंके दर्पण-समान होते हैं। कितने ही मनुष्य एक पैर वाले होते हैं, कितने ही मनुष्योंके

ससमुक्कलिकण्णा वि य कण्णप्पावरणदीहकण्णा य।
लंगूलघरा अवरे अवरे मणुया अभासा य ॥१९०
एए णरा पसिद्धा तिरिया वि हवंति कुभोयभूमीसु।
मणुसुत्तरबाहिरेसु अ असंखदीवेसु ते होंति ॥१९१
सव्वे मंदकसाया सव्वे णिस्सेसवाहिपरिहीणा। मरिऊण वितरा वि हु जोइसुभवणेसु जायंति ॥१९२
तत्थ चुया पुण संता तिरियणरा पुण हवंति ते सव्वे।
काऊण तत्थ पावं पुणो वि णिरयावहा होंति ॥१९३
चंडालभिल्लछिंपियडोंबयकल्लाल एवमाईणि। दीसंति रिद्धिपत्ता कुच्छियपत्तस्स दाणेण ॥१९४
केई पुण गयतुरया गेहे रायाण उण्णई पत्ता। दिस्संति मच्चलोए कुच्छियपत्तस्स दाणेण ॥१९५
केई पुण दिवलोए उववण्णा वाहणत्तणेण ते मणुया।
सोयंति जाइदुक्खं पिच्छिय रिद्धी सुदेवाणं ॥१९६
णाऊण तस्स दोसं सम्माणह मा वि सिविणम्मि।
परिहरह सया दूरं वुहियाण वि सविससप्पं व ॥१९७
पत्थरमया वि दोणी पत्थरमप्पाणयं च वोलेइ। जह तह कुच्छियपत्तं संसारे चेव वोलेइ ॥१९८
णावा जह सच्छिद्दा परमप्पाणं च उवहिसलिलम्मि। वोलेइ तह कुपत्तं संसारमहोवही भीमे ॥१९९

कान खरगोशके समान, कितनोंके पूरीके समान गोल, कितनोंके चौड़े और कितनोंके लम्वे कान होते हैं। कितने ही मनुष्योंके पूँछ होती है और कितने ही मनुष्य भाषा-रहित होते हैं अर्थात बोल नहीं पाते हैं ॥ १८९-१९० ॥ इस प्रकार अढ़ाई द्वीपवर्ती कुभोगभूमियोंमें उक्त प्रकारके कुमानुष होते हैं तथा इसी प्रकार हीनाधिक अंगवाले कुभोगभूमिज तिर्यंच भी होते हैं और मानुषोत्तर पर्वतसे बाहिर असंख्यात द्वीपोंमें भी वे कुभोगभूमिज तिर्यंच होते हैं ॥ १९१ ॥ कुभोगभूमिज ये सव मनुष्य और तिर्यंच मन्द कषायवाले और सर्वप्रकारकी व्याधियोंसे रहित होते हैं। ये मरकरके व्यन्तर, ज्योतिषी और भवनवासी देवोंमें उत्पन्न होते हैं ॥ १९२ ॥ वहाँसे च्युत होकर वे पुनः मनुष्य और तिर्यञ्च उत्पन्न होते हैं। वहाँ पर अनेक प्रकारके पाप करके वे नरकके पथगामी होते हैं ॥ १९३ ॥ वर्तमानमें जो चाण्डाल, भील, छीपा, डोम, कलाल, आदि नीच जातिके लोग धन-वैभवसे सम्पन्न दिखाई देते हैं, वे सव कुत्सित पात्रोंको दान देनेके फलसे ही धनी हुए हैं, ऐसा जानना चाहिए ॥ १९४ ॥ इस मनुष्य लोकमें राजाओंके घर जो कितने ही हाथी घोड़े आदि उन्नतिको प्राप्त और सुखी दिखाई देते हैं, वह सव कुपात्र दानका ही फल समझना चाहिए ॥ १९५ ॥ कुपात्रोंको दान देनेवाले कितने ही मनुष्य देवलोकमें भी उत्पन्न होते हैं, परन्तु वहाँ पर वे वाहनोंका रूप धारण करने वाले देवोंके उत्पन्न होते हैं और उत्तम देवोंकी ऋद्धिको देखकर अपनी जातिके दुःखका शोक करते हैं ॥ १९६ ॥ इस प्रकार कुपात्र-दानके अनेक दोषोंको जान कर स्वप्नमें भी कुपात्रोंका सम्मान नहीं करना चाहिए। उन्हें विषवर सर्पके समान समझ कर सदा दूरसे ही परिहार करना चाहिए ॥ १९७ ॥ जिस प्रकार पत्थरकी वनी और पत्थरोंसे भरी हुई नाव स्वयं भी डूवती है और उन भरे हुए पत्थरोंको भी डुवाती है, उसी प्रकार ये कुपात्र स्वयं भी संसारमें डूवते हैं और दान देनेवाले दातारोंको या सम्मान करने वालोंको भी संसारमें डुवाते हैं ॥ १९८ ॥ जिस प्रकार छिद्र वाली नाव समुद्रके जलमें स्वयं डूवती है और वैठनेवाले दूसरोंको भी डुवाती है, उसी प्रकार कुपात्र स्वयं भी संसाररूप महोदधिमें स्वयं भी डूवता है और अपने

लोहमए कुतरंडे लग्गो पुरिसो हु तीरिणीवाहे ।
वुड्डइ जह तह वुड्डइ कुपत्तसम्माणओ पुरिसो ॥२००
ण लहंति फलं गरुयं कुच्छियपहुछित्तसेविया पुरिसा ।
जह तह कुच्छियपत्ते दिण्णा दाणा मुणेयव्वा ॥२०१

णत्थि वयसीलसंजमझाणं तवणियमवंभचेरं च । एमेव भणइ पत्तं अप्पाणं लोयमज्झम्मि ॥२०२
मयकोहलोहगहिओ उड्डियहत्थो य जायणासीलो । गिहवावारासत्तो जो सो पत्तो कहं हवइ ॥२०३
हिंसाइदोसजुत्तो अट्टरउद्देहिं गमियअहरत्तो । कयविक्कयवट्टंतो इंदियविसएसु लोहिल्लो ॥२०४
उत्तमपत्तं णिंदिय गुरुठाणे अप्पयं पकुव्वंतो । होउं पावेण गुरु वुड्डइ पुण कुगइउवहिम्मि ॥२०५

जो वोलइ अप्पाणं संसारमहण्णवम्मि गरुयम्मि ।
सो अण्णं कह तारइ णुमग्गे लग्गं ॥२०६

एवं पत्तविसेसं णाऊणं देह दाणमणवरयं । णियजीवसग्गमोक्खं इच्छयमाणो पयत्तेण ॥२०७

लहिऊण संपया जो देइ ण दाणाइं मोहसंछण्णो ।
सो अप्पाणं अप्पे वंचेइ य णत्थि संदेहो ॥२०८
ण य देइ णेय भुंजइ अत्थं णिखणेइ लोहसंछण्णो ।
सो तणकयपुरिसो इव रक्खइ सस्सं परस्सत्थे ॥२०९
किविणेण संचयधणं ण होइ उवयारियं जहा तस्स ।
महुयरि इव संचियमहु हरंति अण्णे सपाणेहिं ॥२१०

भक्तोंको भी डुवाता है ॥ १९९ ॥ जिस प्रकार लोहमयी नावमें वैठा हुआ पुरुष नदीके प्रवाहमें स्वयं डूवता है उसी प्रकार कुपात्रोंका सम्मान करनेवाला पुरुष भी इस संसार-समुद्रमें अवश्य डूवता है ॥ २०० ॥ जिस प्रकार खोटे स्वामीकी सेवा करनेवाले पुरुष उत्तम फलको नहीं पाते हैं, उसी प्रकार कुत्सित पात्रमें दिया गया दान व्यर्थ समझना चाहिए ॥ २०१ ॥ जिनके व्रत, शील, संयम, ध्यान, तप, नियम और ब्रह्मचर्य आदि कुछ भी नहीं है, वे पुरुष भी इस लोकके भीतर अपनेको पात्र कहते हैं (यह वड़े आश्चर्यकी वात है ?) ॥ २०२ ॥ जो मद, क्रोध, लोभमें गृहीत हैं, हाथ उठा उठा करके याचनाशील हैं अर्थात् इधर-उधर माँगते फिरते हैं और घरके व्यापारमें आसक्त हैं, ऐसे लोग पात्र कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् कभी नहीं हो सकते ॥ २०३ ॥ जो हिंसा, असत्य आदि दोषोंसे युक्त हैं, आर्त-रौद्र ध्यानसे दिन और रातको गँवाते हैं, सांसारिक वस्तुओंके क्रय-विक्रयमें लगे रहते हैं, इन्द्रियोंके विषयोंमें लोलुपता रखते हैं, उत्तम पात्रोंकी निन्दा करके गुरुओंके स्थानमें अपने आपको प्रकट करते हैं, वह अपने ही पापोंसे गुरु (भारी) होकर कुगति-रूप समुद्रमें डूवते हैं ॥ २०४-२०५ ॥ जो इस अगाध संसार-समुद्रमें अपने आपको डुवाता है, वह उसके मार्गमें लगे (चलने वाले) मनुष्यको कैसे तारेगा ॥ २०६ ॥ इस प्रकार पात्र विशेषको जान करके ही स्वर्ग-मोक्षके अभिलाषी मनुष्यको प्रयत्नपूर्वक निरन्तर दान देना चाहिए ॥ २०७ ॥

जो पुरुष सम्पत्तिको पाकरके भी मोहसे व्याप्त होकर पात्रोंको दान नहीं देता है, वह स्वयं अपने आपको ही ठगता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ २०८ ॥ जो धनी पुरुष लोभसे युक्त होकर न तो पात्रोंको दान देता है और न स्वयं भोगता है, वह तृणोंसे वनाये गये पुरुषाकार पुतले-के समान धानको दूसरोंके लिए ही रखाता है ॥ २०९ ॥ जिस प्रकार मधु-मक्खियोंके द्वारा संचित मधुको वे स्वयं उपभोग नहीं कर पातीं, किन्तु दूसरे ही पुरुष उसका उपभोग करते हैं, इसी प्रकार

कस्स थिरा इह लच्छी कस्स थिरं जुव्वणं घणं जीवं ।
इय मुणिऊण सुपुरिसा दिंति सुपत्तेसु दाणाइं ॥२११
दुक्खेण लहइ वित्तं वित्ते लद्धे वि दुल्लहं चित्तं । लद्धे चित्ते वित्ते सुदुल्लहो पत्तलंभो य ॥२१२
चित्तं वित्तं पत्तं तिण्णि वि पावेइ कह वि जइ पुरिसो ।
तो ण लहइ अणुकूलं सयणं पुत्तं कलत्तं च ॥२१३
पडिकूलमाइ काऊं विग्घं कुव्वंति धम्मदाणस्स । उवएसंति दुबुद्धि दुग्गइगमकारया असुहा ॥२१४
सो कह सयणो भण्णइ विग्घं जो कुणइ धम्मदाणस्स ।
दाऊण पावबुद्धी पाडइ दुक्खायरे णरए ॥२१५
सो सयणो सो बंधू सो मित्तो जो सहिज्जओ धम्मे ।
जो धम्मविग्घयारी सो सत्तू णत्थि संदेहो ॥२१६
ते धण्णा लोयतए तेहि णिरुद्धाइं कुगइगमणाइं ।
वित्तं पत्तं चित्तं पाविवि जेहिं दिण्णदाणाइं ॥२१७
मुणिभोयणेण दव्वं जस्स गयं जुव्वणं च तवयरणे ।
सण्णासेण य जीवं जस्स गयं किं गयं तस्स ॥२१८
जह जह वड्ढइ लच्छी तह तह दाणाइं देह पत्तेसु ।
अहवा हीयइ जह जह देह विसेसेण तह तह य ॥२१९

कृपण (कंजूस) के द्वारा संचित धन भी उसका कुछ भी उपकारक नहीं है, किन्तु दूसरे लोग ही उसका उपभोग करते हैं ॥ २१० ॥ इस संसारमें किसकी लक्ष्मी स्थिर रही है, किसका यौवन स्थिर रहा है, और किसका धन एवं जीवन स्थिर रहा है ? यह समझ कर सत्पुरुष सदा ही सुपात्रोंमें दान देते हैं ॥ २११ ॥

इस संसारमें धन बड़े दुःखसे प्राप्त होता है, धनके प्राप्त हो जाने पर भी दान देनेका मन-में भाव उत्पन्न होना दुर्लभ है। यदि धन और मन दोनोंका योग भी मिल जाय, तो सुपात्रका लाभ बहुत दुर्लभ है ॥ २१२ ॥ यदि वित्त, चित्त और पात्र इन तीनोंका समायोग भी मिल जाय तो अपने अनुकूल स्वजन, पुत्र और स्त्री नहीं मिलते हैं ॥ २१३ ॥ जब ये स्त्री, पुत्र, कुटुम्बी जन आदि प्रतिकूल होते हैं, तब धर्म-कार्यमें दान देनेके लिए विघ्न करते हैं और दुर्गतिमें गमन करानेवाली अशुभ दुर्बुद्धिका उपदेश देते हैं ॥ २१४ ॥ जो लोग धर्म कार्यके लिए विघ्न करते हैं, उन्हें स्वजन कैसे कहा जा सकता है। वे स्वजन तो पापरूप बुद्धिका उपदेश देकर दुःखोंके सागर रूप नरकमें गिराते हैं ॥ २१५ ॥ वही स्वजन है, वही बन्धु है और वही मित्र है, जो कि धर्म कार्यमें सहायक होता है। किन्तु जो धर्म कार्यमें विघ्न करता है, वह तो शत्रु है इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ २१६ ॥ वे पुरुष धन्य हैं और उन्होंने ही कुगतिके गमनको रोका है, जिन्होंने कि वित्त, चित्त और पात्रको पा करके दानको दिया है ॥ २१७ ॥

मुनियोंको भोजन करानेसे जिसका द्रव्य व्यतीत हुआ है, तपश्चरण करनेमें जिसका यौवन बीता है और संन्यास मरणके साथ जिसका जीवन गया है, उसका क्या गया है ? अर्थात् उसका कुछ भी नहीं गया ॥ २१८ ॥ इसलिए श्रावकोंको चाहिए कि जैसे-जैसे धन-लक्ष्मी बढ़ती जावे, वैसे-वैसे ही पात्रोंमें अधिक दानको देता जावे। अथवा यदि पापके उदयसे लक्ष्मी ज्यों-ज्यों घटने

जेहिं ण दिण्णं दाणं ण चावि पुज्जा किया जिणिदंस्स ।
ते हीणदीणदुग्गय भिक्खं ण लहंति जायंता ॥२२०
परपेसणाइं णिच्चं करंति भत्तीए तह य णियपेट्टं ।
पूरंति ण णिययघरे परवसगासेण जीवंति ॥२२१
खंधेण वहंति णरं गासत्थं दीहपंथसमसंता । तं चेव विण्णवंता मुहकयकरविणयसंजुत्ता ॥२२२
पहु तुम्ह समं जायं कोमलअंगाई सुट्ठुसुहियाइं ।
इय मुहपियाइं कोऊं मलंति पाया सहत्थेहिं ॥२२३
ंति गोगवाइं छेलयखरतुरयछेत्तखलिहाणं । तूणंति कप्पडाइं घडंति पिडउल्लयाइं च ॥२२४
धावंति सत्थहत्था उण्हं ण गणंति तह य सीयाइं ।
तुरयमुहफेणसित्ता रयलित्ता गलिय ॥२२५
पिच्छिय परमहिलाओ घणथणमयणयणचंदवयणाइं ।
ताडेइ णियं सीसं झूरइ हिययम्मि दीणमुहो ॥२२६
परसं णिएऊंण भणइ हा ! किं मया ण दिण्णाइं ।
दाणाइं पवरपत्ते उत्तमभत्तीय जुत्तेण ॥२२७
एवं णाऊण फुडं लोहो उवसामिऊण णियचित्ते ।
णियवित्ताणुस्सारं दिज्जइ दाणं सुपत्तेसु ॥२२८

लगे तो और भी विशेष रूपसे अधिक दानको देने लगे ॥ २१९ ॥ जिन पुरुषोंने अपने जीवनमें दान को नहीं दिया, और न जिनेन्द्र देवकी पूजा ही की, वे परभवमें दीन, धन-हीन और खोटी अवस्था-को प्राप्त होकर याचना करने पर भी भिक्षाको नहीं पाते हैं ॥ २२० ॥ धन पाकर भी जो इस भवमें दानको नहीं देते हैं, वे जीव परभवमें भक्तिपूर्वक दूसरोंका अन्न नित्य पीसकर अपना पेट भरते हैं । वे कभी अपने घरमें भर-पेट भोजन नहीं पाते, किन्तु सदा ही पराधीन हो परके ग्रास खाकर जीते हैं ॥ २२१ ॥ दान नहीं देनेवाले पुरुष परभवमें अन्न-ग्रास पानेके लिए दूसरे मनुष्यों-को अपने कन्धों पर रखकर (पालकी-डोली आदिमें विठाकर) दूर-दूर तक ले जाते हैं और दीन मुख कर हाथ जोड़कर वड़ी विनयसे युक्त होकर उनसे विनती करते हैं ॥ २२२ ॥ हे प्रभो, तुम्हारे ये अंग बहुत कोमल और सुन्दर हैं, तुम्हारे हाथ, मुख बहुत प्रिय हैं, ऐसे चाटुकारी प्रिय वचन बोलकर अपने हाथोंसे उनके पैरोंको दावते-फिरते हैं ॥ २२३ ॥ दान नहीं देने वाले पुरुष परभवमें गाय, भैंस, वकरी, गधा, घोड़ा, खेत, खलिहान आदिकी रखवाली करते है, कपड़ोंको वुनते हैं और मिट्टीके घड़े, लकड़ीके वर्तन आदि वनाते हुए जीवन-यापन करते हैं ॥ २२४ ॥ दान नहीं देनेवाले पुरुष परभवमें राजा-महाराजाओंके आगे शस्त्र हाथमें लेकर दौड़ते हैं, उस समय वे न सर्दीको गिनते हैं और न गर्मीको ही । उस समय उनका मुख रथमें जुते और भागते हुए घोड़ोंके समान फेनसे व्याप्त हो जाता है और हाथ-पैर एवं सारा शरीर पसीने और धूलिसे लिप्त हो जाता है ॥ २२५ ॥ दान नहीं देनेवाले पुरुष परभवमें सघन स्तनवाली, मृगनयनी चन्द्रमुखी स्त्रियोंको देखकर दीन मुख हो शिरको धुनते हैं, और मनमें झूरते रहते हैं । तथा दूसरोंकी सम्पत्तिको देख-देखकर हा-हा कार करते हुए कहते हैं—हाय, मैंने पूर्व भवमें उत्तम भक्तिके साथ उत्तम पात्रोंको दान क्यों नहीं दिया ? जिससे आज ऐसी दुर्दशा भोगनी पड़ रही है ॥ २२६-२२७ ॥ ऐसा जानकर

जं उप्पज्जइ दव्वं तं कायव्वं च बुद्धिवंतेणं। छहभायगयं सव्वं पढमो भावो हु धम्मस्स ॥२२९
बीओ भावो गेहे दायव्वो कुडुंबपोसणत्थेण। तइओ भावो भोए चउत्थओ सयणवग्गम्मि ॥२३०

सेसा जे वे भावा ठायव्वा होंति ते वि पुरिसेण।
पुज्जामहिमाकज्जे अहवा कालावकालस्स ॥२३१
अहवा णियं विढत्तं कस्स वि मा देहि होहि लोहिल्लो।
सो को वि कुण उवाऊ जह तं दव्वं जाइ ॥२३२

तं दव्वं जाइ जं खीणं पुज्जमहिमदाणेहि। जं पुण धराणिहत्तं णट्ठं तं जाणि णियमेण ॥२३३

सइं ठाणाओ भुल्लइ अहवा मूसेहि णिज्जए तं पि।
अह भाओ अह पुत्तो चोरो तं लेइ अह राओ ॥२३४
अहवा तरुणी महिला जायइ अण्णेण जारपुरिसेण।
सह तं गिण्हिय दव्वं अण्णं देसंतरं दुट्ठा ॥२३५
इय जाणिऊण णूणं देह सुपत्तेसु चउविहं दाणं।
जह कयपावेण सया मुच्चह लिप्पह सुपुण्णेण ॥२३६
पुण्णेण कुलं विउलं कित्ती पुण्णेण भमइ तइलोए।
पुण्णेण रूवमतुलं सोहग्गं जोवणं तेयं ॥२३७
पुण्णवलेणुववज्जइ कहमवि पुरिसो य भोयभूमीसु।
भुंजेइ तत्थ भोए दहकप्पतरुब्भवे दिव्वे ॥२३८

अपने चित्तमें लोभको भली भाँतिसे उपशान्त कर अपने वित्तके अनुसार सुपात्रोंको दान देते रहना चाहिए ॥ २२८ ॥

बुद्धिमान मनुष्योंका कर्तव्य है कि वे जितना धन उत्पन्न करें, उसके छह भाग करें। उनमेंसे प्रथम भाग धर्मके लिए व्यय करें। दूसरा भाग घरमें कुटुम्बके भरण-पोषणके लिए देना चाहिए। तीसरा भाग अपने भोगोंके लिए और चौथा भाग स्व-जनवर्गके उपयोगमें लगावें। ॥ २२९-२३० ॥ शेष जो दो भाग बचे, उन्हें पूजा-प्रभावना आदिके कार्यमें लगाना चाहिए। अथवा आपत्ति-कालके लिए रख छोड़ना चाहिए ॥ २३१ ॥ अथवा अपना बढ़ा हुआ धन किसीको भी नहीं देना चाहिए। किन्तु अतिलोभी बन कर कोई ऐसा उपाय करना चाहिए कि वह सब द्रव्य अपने साथ ही परभवमें जावे ॥ २३२ ॥ परभवमें वही द्रव्य साथ जाता है जो कि पूजा-महिमामें और दानके द्वारा व्यय किया जाता है। किन्तु जो धन भूमिमें गाड़ करके रखा जाता है, वह तो नियमसे नष्ट हुआ ही जानना चाहिए ॥ २३३ ॥ भूमिमें गाड़ कर रखा हुआ धन या तो रखनेवाला उस स्थानको भूल जाता है, अथवा चूहे उसे अन्य स्थानको ले जाते हैं, अथवा भाई, पुत्र या चोर चुरा लेते हैं, अथवा राजा ही छीन लेता है ॥ २३४ ॥ अथवा अपनी तरुणी दुष्ट स्त्री ही उस सब धनको लेकर अन्य जार पुरुषके साथ देशान्तरको चली जाती है ॥ २३५ ॥ ऐसा निश्चयसे जानकर सुपात्रोंमें चारों प्रकारका दान देते रहना चाहिए, जिससे कि किये गये पापोंसे छुटकारा हो और उत्तम पुण्यका उपार्जन हो ॥ २३६ ॥

पुण्यके द्वारा ही उत्तम कुल प्राप्त होता है, पुण्यके द्वारा ही कीर्ति त्रिलोकमें फैलती है, और पुण्यसे अनुपम रूप, सौभाग्य, यौवन और तेज प्राप्त होता है ॥ २३७ ॥ पुण्यके बलसे यदि वह पुरुष किसी प्रकारसे भोगभूमियोंमें उत्पन्न हो जाता है तो वहाँ पर दश प्रकारके कल्पवृक्षोंके

गिहतरुवर वरगेहे भोयणरुक्खा य भोयणे सरसे ।
कणयमयभायणाणि य भायणरुक्खा पयच्छंति ॥२३९
वत्थंगा वरवत्थे कुसुमंगा दिंति कुसुममालाओ ।
दिंति सुयंघविलेवण विलेवणंगा महारुक्खा ॥२४०
तूरंगा वरतूरे मज्जंगा दिंति सर ज्जाइं ।
आहरणंगा दिंति य आहरणे कणयमणिजडिए ॥२४१
रयणिदिणं ससिसूरा जह तह दीवंति जोइसारुक्खा ।
पायव दसप्पयारा चिंतिययं दिंति मणुयाणं ॥२४२
जरसो य वाहिवेअणकासं सासं च जिंभणं छिक्का ।
एए अण्णे दोसा ण हवंति हु भोयभूमीसु ॥२४३
सव्वे भोए दिव्वे भुंजित्ता आउसावसाणम्मि । सम्मादिट्ठीमणुया कप्पावासेसु जायंति ॥२४४
जे पुणु मिच्छादिट्ठी वितरभवणे सुजोइसा होंति ।
जम्हा मंदकसाया तम्हा देवेसु जायंति ॥२४५
केई रणगया जोइसभवणे सुवितरा देवा ।
गहिऊण सम्मदंसण तत्थ चुया हुंति वरपुरिसा ॥२४६
लहिऊण देससंजम सयलं वा होइ सुरोत्तमो सग्गे ।
भोत्तूण सुहे रम्मे पुणो वि अवयरइ मणुयत्ते ॥२४७

दिव्य भोगोंको भोगता है ॥ २३८ ॥ उन दश प्रकारके कल्पवृक्षोंमें जो गृहाङ्ग जातिके कल्पवृक्ष हैं, वे उत्तम प्रकारके घरोंको देते हैं, जो भोजनाङ्ग जातिके कल्पवृक्ष हैं, वे सरस भोजनको देते हैं, और जो भाजनाङ्ग जातिके वृक्ष हैं, वे सुवर्णमय भाजनों (पात्रों-वर्तनों) को देते हैं ॥ २३९ ॥ वस्त्राङ्ग जातिके कल्पवृक्ष उत्तम वस्त्रोंको, कुसुमाङ्ग जातिके कल्पवृक्ष उत्तम पुष्पमालाओंको और विलेपनाङ्ग जातिके कल्पवृक्ष सुगन्धित विलेपन-उवटन आदिको देते हैं ॥ २४० ॥ तूर्याङ्ग जातिके कल्पवृक्ष उत्तम वाजोंको, मद्याङ्ग जातिके कल्पवृक्ष सरस मद्योंको और आभरणाङ्ग जातिके कल्पवृक्ष स्वर्ण-मणि-जड़ित नाना प्रकारके आभूषणोंको देते हैं ॥ २४१ ॥ ज्योतिरङ्ग जातिके कल्पवृक्ष सूर्य-चन्द्रके समान रात-दिन प्रकाश करते-रहते हैं। इस प्रकार ये दश प्रकारके कल्पवृक्ष भोगभूमिमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंको चित्त-चिन्तित भोगोंको देते हैं ॥ २४२ ॥ भोगभूमिमें वृद्धावस्था, व्याधि, वेदना, कास (खाँसी), श्वास (दमा), जंभाई, छींक ये और इसी प्रकारके अन्य कोई दोष नहीं होते हैं ॥ २४३ ॥

भोगभूमिके सम्यग्दृष्टि मनुष्य जीवन-भर सभी दिव्य भोगोंको भोगकर और आयुके अन्तमें मरकर कल्पवासी देवोंमें उत्पन्न होते हैं ॥ २४४ ॥ किन्तु जो मिथ्यादृष्टि जीव होते हैं, वे भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंमें उत्पन्न होते हैं। यतः ये भोगभूमिके मनुष्य मन्दकषायवाले होते हैं अतः वे मरकर देवोंमें उत्पन्न होते हैं ॥ २४५ ॥ इन भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंमेंसे कितने ही देव तीर्थंकरोंके समवशरणमें जाकर और सम्यग्दर्शनको ग्रहण कर वहाँसे च्युत होकर इस मनुष्यक्षेत्रके श्रेष्ठ पुरुषोंमें उत्पन्न होते हैं ॥ २४६ ॥ पुनः देशसंयम अथवा सकलसंयमको ग्रहण कर स्वर्गमें उत्तम देव होते हैं और वहाँ पर दिव्य रमणीय उत्तम भोगोंको भोग-

तत्थ वि सुहाइं भुत्तं दिक्खा गहिऊण भविय णिग्गंथो ।
सुक्कज्झाणं पाविय कम्मं हणिऊण सिज्झेइ ॥२४८

सिद्धं सरुवरुवं कम्मरहियं च होई झाणेण। सिद्धावासी य णरो ण हवइ संसारिओ जीवा ॥२४९

पंचमयं गुणठाणं एयं कहियं मया समासेण। एतो उड्ढं वोच्छं पमत्तविरयं तु छट्ठमयं ॥२५०

इति देशविरतगुणस्थानं पंचमम् ।

●

कर फिर भी उत्तम मनुष्योंमें अवतरित होते हैं ॥ २४७ ॥ उस मनुष्य भवमें उत्तम सुखोंको भोगकर, पीछे दीक्षा ग्रहण कर, निर्ग्रन्थ साधु होकर, शुक्लध्यानको पाकर और कर्मोका क्षय करके सिद्ध होते हैं ॥ २४८ ॥

ध्यानके द्वारा जीव कर्म-रहित होकर अपने शुद्ध सिद्ध स्वरूपको प्राप्त कर लेता है। सिद्ध-लोकका वासी जीव फिर कभी संसारी नहीं होता है, अर्थात् अनन्तकाल तक उसी सिद्धलोकमें रहता हुआ वह आत्मीय अनन्त सुखको भोगता रहता है ॥ २४९ ॥

इस प्रकार मैंने संक्षेपसे पाँचवें गुणस्थानका स्वरूप कहा। (अब इससे आगे ग्रन्थकारने छठें प्रमत्तगुणस्थानका स्वरूप कहा है।) ॥ २५० ॥

●

अतो देशव्रताभिख्ये गुणस्थाने हि प । भावास्त्रयोऽपि विद्यन्ते पूर्वोक्तल । इह ॥१
प्रत्याख्यानोदयाज्जीवो नो धत्तेऽखिलसंयमम् । तथापि देशसंत्यागात्संय तो मतः ॥२
विरतिस्त्रसघातस्य मनोवा योगतः । स्थावराङ्गिवि स्य प्रवृत्तिस्तस्य कुत्रचित् ॥३
विरताविरतस्तस्माद्भण्यते देशसंयमी । प्रतिमालक्ष स्य भेदा एकादश स्मृताः ॥४
आद्यो दर्शनिकस्तत्र व्रतिकः स्यात्ततः परम् । सामायि ी चाथ सप्रोषधोपवासकृत् ॥५
सचित्ताहारसंत्यागी दिवास्त्रीभजनोज्झितः । ब्रह्मचारी निरारम्भः परिग्रहपरिच्युतः ॥६
तस्मादनुमतोद्दिष्टविरतौ द्वाविति क्रमात् । एका विकल्पाः स्युः श्रावकाणां दमी ॥७
गृही निकस्तत्र सम्यक्त्वगुणभूषितः । संसारभोगनिर्विण्णो ज्ञानी जीवदयापरः ॥८
माक्षिकामिष च सहोदुम्बरपञ्चकैः । वेश्या पराङ्गना चौर्यं द्यूतं नो भजते हि सः ॥९
दर्शनिकः प्रकुर्वीत निशि भोजनवर्जनम् । यतो नास्ति दयाधर्मो रात्रौ भुक्तिं प्रकुर्वतः ॥१०
इति नप्रतिमा ।

स्थूलहिंस स्तेयपरस्त्री चाभिकांक्षता । अणुव्रतानि व तत्त्यागात्स्यादणुव्रती ॥११
योगत्रयस्य सम्बन्धात्कृतानुमतकारितैः । न हिनस्ति त्रसान् स्थूलमहिंसा दिमम् ॥१२

इस पंचम देशव्रत नामक गुणस्थानमें औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीनों ही भाव होते हैं ॥ १ ॥ यद्यपि प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे जीव सकल संयमको नहीं धारण कर पाता है, तथापि अप्रत्याख्यानावरण कषायके क्षयोपशम होनेके कारण हिंसादि पापोंका एकदेश त्याग करनेसे जीव संयतासंयत माना जाता है ॥ २ ॥ इस पंचम गुणस्थानवर्ती जीवकी मन-वचन-काय इन तीनों योगोंसे त्रस जीवोंके घातसे विरति रहती है और गृहारम्भ-वश स्थावर जीवोंके विघातमें क्वचित् कदाचित् प्रवृत्ति रहती है, इस कारण वह देशसंयमी विरताविरत कहा जाता है। इसके प्रतिमा लक्षणरूप ग्यारह भेद कहे गये हैं ॥ ३-४ ॥ उनमें आदि भेद दर्शनिक है, दूसरा व्रतिक, तीसरा सामायिकव्रती, चौथा प्रोषधोवासी, पांचवाँ सचित्ताहारत्यागी, छठा दिवास्त्रीसेवनत्यागी, सातवाँ ब्रह्मचारी, आठवाँ निरारम्भी, नवाँ परिग्रहपरित्यागी, दशवाँ अनुमतिविरत और ग्यारहवाँ उद्दिष्टाहारविरत ये ग्यारह भेद श्रावकोंके क्रमसे होते हैं ॥ ५-७ ॥

जो गृहस्थ सम्यग्दर्शन गुणसे विभूषित, संसार-शरीर और भोगोंसे विरक्त होता है, सम्यग्ज्ञानी और जीवदयामें तत्पर होता है, पंच उदुम्बर फलोंके साथ मधु, मांस और मद्यको नहीं खाता है, वेश्या और परस्त्रीका सेवन नहीं करता है, चोरी नहीं करता है और जुआ नहीं खेलता है और रात्रिमें भोजनका परित्याग करता है, वह दर्शनिक प्रतिमाधारी श्रावक है। क्योंकि रात्रिमें भोजन करनेवाले पुरुषके दयाधर्म नहीं होता है ॥ ८-१० ॥ यह दर्शन प्रतिमाका वर्णन किया ।

स्थूल हिंसा, असत्य, चोरी, परस्त्री और परिग्रहकी अभिलाषा, इनका त्याग करनेसे पाँच अणुव्रत होते हैं। और इनका धारक जीव अणुव्रती कहलाता है ॥ ११ ॥ मन, वचन, काय, इन

न वदत्यनृतं स्थूलं न परान् वादयत्यपि । जीवपीडाकरं सत्यं द्वितीयं तदणुव्रतम् ॥१३
अदत्तपरवित्तस्य निक्षिप्तविस्मृतादितः । तत्परित्यजनं स्थूलमचौर्यव्रतमूचिरे ॥१४
मातृवत्परनारीणां परित्यागस्त्रिशुद्धितः । स स्यात्पराङ्गनात्यागो गृहिणां शुद्धचेतसाम् ॥१५
धनधान्यादिवस्तूनां संख्यानं मुह्यतां विना । तदणुव्रतमित्याहुः पञ्चमं गृहमेधिनाम् ॥१६
शील नि तस्येह गुणव्रतत्रयं यथा । शिक्षाव्रतं चतुष्कं च सप्तैतानि विदुर्बुधाः ॥१७
दिग्देशानर्थदण्डानां विरतिः क्रियते तथा । दिग्व्रतत्रयमित्याहुर्मुनयो व्रतधारिणः ॥१८
कृत्वा संख्यानमाशायां ततो बहिर्न गम्यते । यावज्जीवं भवत्येतद्दिग्व्रतमादिमं व्रतम् ॥१९
कृत्वा कालावधिं शक्त्या कियत्प्रदेशवर्जनम् । तद्देशविरतिर्नाम व्रतं द्वितीयकं विदुः ॥२०
खनित्रविषशस्त्रादेर्दानं स्याद्वधहेतुकम् । तत्त्यागोऽनर्थदण्डानां वर्जनं तत्तृतीयकम् ॥२१

सामायि च प्रोषधविधिं च भोगोपभोगसंख्यानम् ।
अतिथीनां सत्कारो वा शिक्षाव्रतचतुष्कं स्यात् ॥२२

सामायिकं प्रकुर्वीत कालत्रये दिनं प्रति । श्रावको हि जिनेन्द्रस्य जिनपूजापुरःसरम् ॥२३
कः पूज्यः पूजकस्तत्र पूजा च कीदृशी मता । पूज्यः शतेन्द्रवन्द्यांह्रिर्निर्दोषः केवली जिनः ॥२४

भव्यात्मा पूजकः शान्तो वेश्यादिव्यसनोज्झितः ।
ब्राह्मणः क्षत्रियो : स शूद्रो वा सुशीलवान् ॥२५

तीन योगोंसे कृत, कारित, अनुमोदना इन तीन करणोंसे त्रस जीवोंका घात नहीं करना सो पहिला स्थूल अहिंसाव्रत है ॥ १२ ॥ जो स्थूल झूठ न स्वयं बोलता है और न दूसरोंसे बुलवाता है और जीव पीडाकारी सत्यको भी नहीं बोलता है और न बुलवाता है वह दूसरा सत्याणुव्रत है ॥ १३ ॥ रखे हुए, या भूल गये या गिर गये आदि किसी भी प्रकारके अदत्त परद्रव्यका त्याग करना सो स्थूल अचौर्यव्रत कहा गया है ॥ १४ ॥ त्रियोगकी शुद्धिसे परस्त्रियोंको माताके समान मानकर उनके सेवनका त्याग करना सो शुद्ध चित्तवाले गृहस्थोंका पराङ्गनात्याग नामका चौथा अणुव्रत है ॥ १५ ॥ धन-धान्यादि वस्तुओंका मूर्च्छाके विना परिमाण करना सो गृहस्थोंका पांचवाँ अणुव्रत कहा गया है ॥ १६ ॥ तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन सातको ज्ञानी जनोंने गृहस्थके सात शीलव्रत कहा है ॥ १७ ॥ दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्डविरति जो की जाती है उसे मुनिजन व्रतधारी श्रावकके तीन गुणव्रत कहते हैं ॥ १८ ॥ दशों दिशाओंमें जाने-आनेका परिमाण करके यावज्जीवन उस सीमासे बाहिर नहीं जाना सो पहिला दिग्व्रत नामका गुणव्रत है ॥ १९ ॥ उसी दिग्व्रतकी सीमामें भी कालकी मर्यादा करके शक्तिके अनुसार कितने ही प्रदेशमें जाने-आनेका त्याग करना सो देशव्रत नामका दूसरा गुणव्रत है ॥ २० ॥ भूमि खोदनेके खन्ता, विष, शस्त्र आदि जो हिंसाके साधन हैं, उनका दूसरोंको देनेका त्याग करना सो अनर्थदण्डत्याग नामका तीसरा गुणव्रत है ॥ २१ ॥ सामयिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगसंख्यान और अतिथिसत्कार ये चार शिक्षाव्रत होते हैं ॥ २२ ॥ श्रावकको प्रतिदिन तीनों सन्ध्याकालोंमें जिनेन्द्रदेवकी जिनपूजापूर्वक सामायिक करना चाहिए ॥ २३ ॥ पूज्य कौन है, पूजक कौन है और पूजा कैसी मानी गई है ? इन प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—शत इन्द्रोंसे जिनके चरण पूजे जाते हैं, ऐसे निर्दोष केवली जिनेन्द्रदेव पूज्य हैं ॥ २४ ॥ जो भव्यात्मा शान्त भावोंका धारक है, और वेश्या आदि सप्तव्यसनोंका त्यागी है, ऐसा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और उत्तम शीलवान् शूद्र पूजक कहा

अन्येषां नाधिकारित्वं ततस्तैः प्रविधीयताम् । जिनपूजां विना सर्वा दूरा सामायिकी क्रिया ॥२६
जिनपूजा प्रकर्तव्या पूजाशास्त्रोदितक्रमात् । यया संप्राप्यते भव्यैर्मोक्षसौख्यं निरन्तरम् ॥२७
तावत्प्रातः समुत्थाय जिनं स्मृत्वा विधीयताम् । प्राभातिको विधिः सर्वः शौचाचमनपूर्वकम् ॥२८
: पौर्वाह्णिकीं सन्ध्याक्रियां समाचरेत्सुधीः । शुद्धक्षेत्रं श्रित्य मन्त्रवच्छुद्धवारिणा ॥२९
पश्चात् स्नानविधिं कृत्वा धौतवस्त्रपरिग्रहः । मन्त्रस्नानं व्रतस्नानं कर्तव्यं मन्त्रवत्ततः ॥३०
एवं स्नानत्रयं कृत्वा शुद्धित्रयसमन्वितः । जिनावासं विशेन्मन्त्री समुच्चार्य निषेधिकाम् ॥३१
कृत्वेर्यापथसंशुद्धिं जिनं स्तुत्वातिभक्तितः । उपविश्य जिनस्याग्रे कुर्याद्विधिमिमां पुरा ॥३२
तत्रादौ शोषणं स्वाङ्गे दहनं प्लावनं ततः । इत्येवं मन्त्रविन्मन्त्री स्वकीयाङ्गं पवित्रयेत् ॥३३
हस्तशुद्धिं विधायाथ प्रकुर्याच्छकलीक्रियाम् । कूटबीजाक्षरमन्त्रैर्दशदिग्बन्धनं ततः ॥३४
पूजापात्राणि सर्वाणि समीपीकृत्य सादरम् । भूमिशुद्धिं विधायोच्चैर्दर्भाग्निज्वलनादिभिः ॥३५
भूमिपूजां च निर्वृत्य ततस्तु नागतर्पणम् । आग्नेयदिशि संस्थाप्य ` पालं प्रतृप्य च ॥३६
स्नानपीठं दृढं स्थाप्य प्रक्षाल्य शुद्धवारिणा । श्रीबीजं त्र विलिख्यात्र गन्धाद्यैस्तत्प्रपूजयेत् ॥३७
परितः स्नानपीठस्य मुखार्पितसपल्लवान् । पूरितांस्तीर्थसत्तोयैः कलशांश्चतुरो न्यसेत् ॥३८
जिनेश्वरं समभ्यर्च्य मूलपीठोपरिस्थितम् । कृत्वाह्वानविधिं सम्यक् प्रापयेत्स्नानपीठिकाम् ॥३९

गया है ॥ २५ ॥ अन्य जीवोंको पूजा करनेका अधिकार नहीं है, इसलिए उक्त अधिकारी जनोंको पूजा अवश्य करनी चाहिए। जिनपूजाके विना सभी सामायिक क्रिया दूर है। इसलिए सामायिक करनेवाले भव्योंको पूजाशास्त्रमें कहे गये क्रमके अनुसार निरन्तर जिनपूजा करनी चाहिए, जिससे कि मोक्षका सुख प्राप्त होता है ॥ २६-२७ ॥ इसलिए प्रातःकाल उठकर और जिन भगवान्‌का स्मरण कर शौच और आचमनपूर्वक सभी प्रभातकालीन विधि करनी चाहिए ॥ २८ ॥ तत्पश्चात् वुद्धिमान् श्रावकको पवित्र क्षेत्रका आश्रय करके पौर्वाह्णिक सन्ध्याकालिक क्रियाका आचरण करना चाहिए। पीछे मंत्रके साथ शुद्ध जलसे स्नानविधि करके धुले हुए वस्त्र पहिरना चाहिए। इस प्रकार गृहस्थको जलस्नान, मन्त्रस्नान और व्रतस्नान करना चाहिए ॥ २९-३० ॥ इस प्रकार तीनों स्नान करके मनवचनकायकी त्रिशुद्धिसे युक्त हो करके 'णमो णिसीहीए' अर्थात् निषेधिका-को नमस्कार हो, ऐसा उच्चारण करते हुए उस मन्त्रवाले श्रावकको जिनालयमें प्रवेश करना चाहिए ॥ ३१ ॥ वहाँ पर ईर्यापथशुद्धि करके और अतिभक्तिसे जिनदेवकी स्तुति करके, जिन-भगवान्‌के आगे बैठ करके यह आगे कही जानेवाली विधि पहिले करनी चाहिए ॥ ३२ ॥

सर्वप्रथम अपने शरीरमें शोषण, दहन और प्लावन करे। इस प्रकार वह मंत्रका वेत्ता मंत्री अपने शरीरको पवित्र करे ॥ ३३ ॥ पीछे हाथोंको शुद्ध करके सकलीकरणकी क्रियाको करे। तत्पश्चात् कूट (गूढ़) बीजाक्षरवाले मंत्रोंसे दशों दिशाओंका बन्धन करे ॥ ३४ ॥ पुनः पूजाके सभी उपकरणोंको आदरके साथ समीप स्थापित करके, भूमि शुद्धि करके, और डाभ-अग्नि-ज्वालन आदिके द्वारा भूमिकी पूजाको भलीभांतिसे सम्पन्न करके, तदनन्तर नागोंका तर्पण करके आग्नेय दिशामें क्षेत्रपालको स्थापित करके और उसे तृप्त करके दृढ़ स्नानपीठको रखकर, शुद्ध जलसे उसे धोकर, उसके बीचमें 'श्री' यह बीजपद लिख करके (जिन बिम्बको विराजमान करके) गन्धादि द्रव्योंसे उसकी पूजा करे ॥ ३५-३७ ॥ पुनः स्नानपीठके चारों ओर उत्तम तीर्थजलसे भरे हुए, अच्छे पल्लवोंसे जिनके मुख ढके हुए हैं, ऐसे चार कलशोंको स्थापित करे ॥ ३८ ॥ पुनः मूलपीठके ऊपर विराजमान जिनेश्वरका पूजन करके आह्वान विधिको सम्यक् प्रकारसे करके

कुर्यात्संस्थापनं तत्र सन्निधानविधानकम् । नीराजनैश्च निर्वृत्य जलगन्धादिभिर्यजेत् ॥४०
इन्द्राद्यष्टदिशापालान् दिशाष्टसु निशापतिम् । रक्षोवरुणयोर्मध्ये शेषमीशानशक्रयोः ॥४१
न्यस्याह्वानादिकं कृत्वा क्रमेणैतान् मुदं नयेत् । वलिप्रदानतः सर्वान् स्वस्वमन्त्रैर्यथादिशम् ॥४२
ततः कुम्भं समुद्धार्य तोयचोचेक्षुसद्रसैः । सद्घृतैश्च ततो दुग्धैर्दधिभिः स्नापयेज्जिनम् ॥४३
तोयैः प्रक्षाल्य सच्चूर्णैः कुर्यादुद्वर्तनक्रियाम् । पुनर्नीराजनं कृत्वा स्नानं कषायवारिभिः ॥४४
चतुष्कोणस्थितैः कुम्भैस्ततो गन्धाम्बुपूरितैः । अभिषेकं प्रकुर्वीरन् जिनेशस्य सुखार्थिनः ॥४५
स्वोत्तमाङ्गं प्रसिच्याय जिनाभिषेकवारिणा । जलगन्धादिभिः पश्चादर्चयेद्बिम्बमर्हतः ॥४६
स्तुत्वा जिनं विसर्ज्यापि दिगीशादिमरुद्गणान् । अर्चिते पीठेऽथ स्थापयेज्जिननायकम् ॥४७
तोयैः कर्मरजःशान्त्यै गन्धैः सौगन्धसिद्धये । अक्षतैरक्षयावाप्त्यै पुष्पैः पुष्पशरच्छिदे ॥४८
चरुभिः सुखसंवृद्ध्यै देहदीप्त्यै प्रदीपकैः । सौभाग्यावाप्तये धूपैः फलैर्मोक्षफलाप्तये ॥४९
घण्टाद्यैर्मङ्गलद्रव्यैर्मङ्गलावाप्तिहेतवे । पुष्पाञ्जलिप्रदानेन पुष्पदन्ताभिदीप्तये ॥५०
तिसृभिः शान्तिधाराभिः शान्तये सर्वकर्मणाम् । आराधयेज्जिनाधीशं मुक्तिश्रीवनितापतिम् ॥५१
इत्येकादशधा पूजां ये कुर्वन्ति जिनेशिनाम् । अष्टौ कर्माणि सन्दह्य प्रयान्ति परमं पदम् ॥५२
अष्टोत्तरशतैः पुष्पैः जापं कुर्याज्जिनाग्रतः । पूज्यैः पञ्चनमस्कारैर्यथावकाशमञ्जसा ॥५३

भगवान्‌को स्नानपीठके ऊपर पहुँचावे ॥ ३९ ॥ वहाँ पर संस्थापन और सन्निधान विधान करे, पुनः नीराजन (आरती) करके जल-गन्धादि द्रव्योंसे भगवान्‌का पूजन करे ॥ ४० ॥

पूजन करनेके पूर्व इन्द्र आदि अष्ट दिग्पालोंको पूर्व आदि आठों दिशाओंमें चन्द्रको ऊर्ध्व दिशामें और धरणेन्द्रको अधो दिशामें आवाहनपूर्वक स्थापित करके उन-उनके मंत्रोंके साथ वलि प्रदान क्रमसे करके उन्हें हर्षित करे ॥ ४१-४२ ॥ तत्पश्चात् कलशका उद्धार करके जल, इक्षु, घृत, दुग्ध, दधि आदि उत्तम रसोंसे जिन भगवान्‌का अभिषेक करे ॥ ४३ ॥ पुनः जिनविम्बको जलसे प्रक्षालन कर उत्तम चूर्णसे उसकी उद्वर्तन क्रिया करे। पुनः आरती उतार कर कषाय द्रव्य मिश्रित जलसे स्नान कराके चारों कोणोंमें स्थित सुगन्धित जलसे भरे हुए चारों कलशोंसे सुखार्थी जन जिनेश्वर देवका अभिषेक करें ॥ ४४-४५ ॥ तत्पश्चात् जिनाभिषेकके जलसे अपने मस्तकको सींचकर पुनः अर्हत्प्रतिविम्बका जल-गन्धादि द्रव्योंसे पूजन करे ॥ ४६ ॥ पुनः जिनदेवकी स्तुति करके दिग्पालादि देवगणोंको विसर्जन करके मूलपीठ पर जिनदेवको स्थापित करे। इस प्रकारसे पूजन करने पर जल द्वारा की गई पूजा कर्म-रजकी शान्तिके लिए होती है, गन्ध द्रव्योंसे की गई पूजा शारीरिक सुगन्धिकी सिद्धिके लिए होती है, अक्षतोंसे की गई पूजा अक्षयपदकी प्राप्तिके लिए होती है, पुष्पोंसे की गई पूजा काम-विकारके विनाशके लिए होती है, नैवेद्योंसे की गई पूजा सुखकी वृद्धिके लिए होती है, दीपकोंसे की गई पूजा शरीरकी दीप्तिके लिए होती है, धूपसे की गई पूजा सौभाग्यकी प्राप्तिके लिए होती है, फलोंसे की गई पूजा मोक्षफलकी प्राप्तिके लिए होती है ॥ ४७-४९ ॥ घण्टा आदि मंगल द्रव्योंसे की गई पूजा मंगलकी प्राप्तिके लिए होती है। पुष्पाञ्जलि-प्रदान करनेसे चन्द्र-सूर्यके समान दीप्ति प्राप्त होती है ॥ ५० ॥ तीन शान्तिधाराओं-के द्वारा की गई पूजा सर्व कर्मोंकी शान्तिके लिए होती है। इस प्रकार मुक्ति लक्ष्मीके स्वामी श्री जिनेश्वर देवकी आराधना करनी चाहिए ॥ ५१ ॥ इस रीतिसे जो श्रावक जिनेश्वरोंकी ग्यारह प्रकारसे पूजा करते हैं, वे आठों कर्मोंको जलाकर परमपदको प्राप्त होते हैं ॥ ५२ ॥

तत्पश्चात् जिन भगवान्‌के आगे एक सौ आठ पुष्पोंके द्वारा पूज्य पंचनमस्कार मंत्रसे जाप

अथवा सिद्धचक्राख्यं यन्त्रमुद्धार्य तत्त्वतः । सत्पञ्चपरमेष्ठ्याख्यं गणभृद्वलयक्रमम् ॥५४
यन्त्रं चिन्तामणिर्नाम सम्यक्शास्त्रोपदेशतः । सम्पूज्यात्र जपं कुर्यात् तत्तन्मन्त्रैर्यथाक्रमम् ॥५५
तद्यन्त्रगन्धतो भाले विरचय्य विशेष । सिद्धशेषां प्रसंगृह्य न्यसेन्मूर्ध्नि समाहितः ॥५६
चैत्यभक्त्यादिभिः स्तूयाज्जिनेन्द्रं भक्तिनिर्भरः । कृतकृत्यं स्वमात्मानं मन्यमानोऽद्य जन्मनि ॥५७
संक्षेपस्नानशास्त्रोक्तविधिना चाभिषिच्य तम् । कुर्यादष्टविधां पूजां तोयगन्धाक्षतादिभिः ॥५८
अन्तर्मुहूर्तमात्रं तु ध्यायेत् स्वस्थेन चेतसा । स्वदेहस्थं निजात्मानं चिदानन्दैकलक्षणम् ॥५९
विधायैवं जिनेशस्य यथावकाशतोऽर्चनम् । समुत्थाय पुनः स्तुत्वा जिनचैत्यालयं व्रजेत् ॥६०
कृत्वा पूजां नमस्कृत्य देवदेवं जिनेश्वरम् । श्रुतं संपूज्य सद्भक्त्या तोयगन्धाक्षतादिभिः ॥६१
संपूज्य चरणौ साधोर्नमस्कृत्य यथाविधिम् । आर्याणामार्यिकाणां च कृत्वा विनयमञ्जसा ॥६२
इच्छाकारवचः कृत्वा मिथः सार्धमिकः समम् । उपविश्य गुरोरन्ते सद्धर्मं शृणुयाद् बुधः ।६३
देयं दानं यथाशक्त्या जैनदर्शनवर्तिनाम् । कृपादानं च कर्तव्यं दयागुणविवृद्धये ॥६४
एवं सामायिकं सम्यग्यः करोति गृहाश्रमी । दिनैः कतिपयैरेव स स्यान्मुक्तिश्रियः पतिः ॥६५
मासं प्रति चतुर्ष्वेव पर्वस्वाहारवर्जनम् । सकृद् भोजनसेवा वा काञ्जिकाहारसेवनम् ॥६६
एवं शक्त्यनुसारेण क्रियते समभावतः । स प्रोषधो विधिः प्रोक्तो मुनिभिर्धर्मवत्सलैः ॥६७

करे। अथवा जैसा अवकाश हो, तदनुसार यथायोग्य मंत्रोंसे जाप करे ॥ ५३ ॥ अथवा यथार्थ विधिसे सिद्धचक्र नामक यंत्रका उद्धार करके, या सत्पञ्चपरमेष्ठि यंत्रका, या गणधर-वलय यंत्रका, या चिन्तामणि नामक यंत्रका सम्यक् शास्त्रके उपदेशानुसार पूजन करके उन-उनके मंत्रों द्वारा यथाक्रमसे जाप करे ॥ ५४-५५ ॥ जिस यंत्रका पूजन करे, उस यंत्रके गन्धसे मस्तक पर विशेषक (टीका-तिलक आदि) लगाकर सिद्धशेषा (आशिका) को लेकर सावधानीपूर्वक मस्तक पर रखे ॥ ५६ ॥ पुनः भक्तिसे भर-पूर होता हुआ चैत्यभक्ति आदिके द्वारा जिनेन्द्र देवकी स्तुति करे और इस जन्ममें अपनी आत्मानको कृतकृत्य माने ॥ ५७ ॥ (अथवा) अभिषेक पाठके शास्त्रमें कही गई विधिसे भगवान्का अभिषेक करके जल, गन्ध, अक्षत आदि द्रव्योंसे आठ प्रकारका पूजन करे ॥ ५८ ॥ पश्चात् स्वस्थ चित्त होकर एक अन्तर्मुहूर्त्तकाल तक अपने देहमें स्थित चिदानन्द-लक्षण स्वरूप अपनी आत्माका ध्यान करे ॥ ५९ ॥

इस प्रकार अपने घर पर अवकाशके अनुसार जिनदेवका पूजन करके और फिर भी स्तुति करके उठकर जिन चैत्यालयको जावे ॥ ६० ॥ वहाँ पर देवाधिदेव जिनेश्वर देवको नमस्कार कर, पूजन कर सद्-भक्तिसे जल, गन्ध, अक्षतादिसे श्रुतका पूजन करके, वहाँ पर विद्यमान साधुके चरणोंको विधिपूर्वक पूज कर और आर्यपुरुष ऐलक आदि और आर्यिकाओंकी भलीभाँतिस विनय करके इच्छाकार वचन बोलकर और सार्धमिक जनोंके साथ परस्पर यथोचित जय जिनेन्द्र आदि कहकर और गुरुके समीप वैठ करके उनसे ज्ञानी श्रावकको धर्मका उपदेश सुनना चाहिए ॥६१-६३॥

जैन दर्शनका आचरण करनेवालोंको यथाशक्ति दान देना चाहिए और दयागुणकी विशेष वृद्धिके लिए अनुकम्पा दान करना चाहिए ॥ ६४ ॥ इस प्रकार जो गृहस्थाश्रममें रहनेवाला सम्यक् प्रकार सामायिकको करता है, वह कुछ ही दिनों (भवों) में मुक्तिलक्ष्मीका पति होता है ॥६५॥

प्रत्येक मासके चारों ही पर्वोमें आहारका परित्याग करके प्रोषधोपवास करना चाहिए। यदि शक्ति न हो तो एक बार भोजन या कांजीका आहार करना चाहिए ॥ ६६ ॥ इस प्रकार शक्तिके अनुसार जो गृहस्थ समभावसे पर्वके दिन आहारका त्याग करता है, उसे धर्म-वत्सल

भुक्त्वा संत्यज्यते वस्तु स भोगः परिकीर्त्यते । उपभोगो सकृद्वारं भुज्यते च तयोर्मितिः ॥६८
संविभागोऽतिथीनां यः किंचिद्विशिष्यते हि सः । न विद्यते तिथिर्यस्य सोऽतिथिः पात्रतां गतः ॥६९
अधिकाराः स्युश्चत्वारः संविभागेयतीशिनाम् ।
कथ्यमाना भवन्त्येते दाता पात्रं विधिः फलम् ॥७०

। शान्तो विशुद्धात्मा मनोवाक्कायकर्मसु । दक्षस्त्यागी विनीतश्च प्रभुः षड्गुणभूषितः ७१
ज्ञानं भक्तिः । तुष्टिः सत्त्वं च लोभवर्जनम् । गुणा दातुः प्रजायन्ते षडेते पुण्यसाधके ॥७२
पात्रं त्रिविधं प्रोक्तं सत्पात्रं च कुपात्रकम् । अपात्रं चेति तन्मध्ये तावत्पात्रं प्रकथ्यते ॥७३
उत्कृष्टमध्यमक्लिष्टभेदात् पात्रं त्रिधा स्मृतम् । तत्रोत्तमं भवेत्पात्रं सर्वसङ्गोज्झितो यतिः ॥७४
पात्रमुद्दिष्टं मुनिभिर्देशसंयमी । जघन्यं प्रभवेत्पात्रं सम्यग्दृष्टिरसंयतः ॥७५
रत्नत्रयोज्झितो देही करोति कुि तपः । ज्ञेयं तत्कुत्सितं पात्रं मिथ्याभावसमाश्रयात् ॥७६
न दर्शनं शुद्धं न चास्ति नियतं मनः । यस्य चास्ति क्रिया दुष्टा तदपात्रं बुधैः स्मृतम् ॥७७
मुक्त्वात्र कुत्सितं पात्रमपात्रं च विशेषतः । पात्रदानविधिस्तत्र प्रकथ्यते यथाक्रमम् ॥७८
ासनं योग्यं चरणक्षालनार्चने । नतिस्त्रियोगशुद्धिश्च नवम्याहारशुद्धिता ॥७९

मुनिजनोंने प्रोषधविधि कहा है ॥ ६७ ॥

जो वस्तु एक वार भोग करके त्यागी जाती है, वह भोग कहा जाता है। और जो वस्तु वार-वार भोगी जाती है उसे उपभोग कहते हैं। इस प्रकारके भोग और उपभोगके परिमाण करनेको भोगोपभोग परिमाण व्रत कहते हैं ॥ ६८ ॥

अतिथियोंके लिए जो सम्यक् विभाग किया जाता है, उसे अतिथि-संविभाग कहते हैं। जिसके आगमनकी कोई तिथि निश्चित नहीं है, अथवा जिसके तिथि-विशेषका विचार नहीं है, अर्थात् जिसके सभी दिन एक समान हैं, उसे अतिथि कहते हैं। वह अतिथि जब किसी विशेषतासे युक्त होता है, तब वह पात्रताको प्राप्त होता है ॥ ६९ ॥ ऐसे पात्ररूप यतीश्वरोंके संविभागके चार अधिकार ये कहे जानेवाले चार अधिकार होते हैं—दाता, पात्र, विधि और फल ॥ ७० ॥ जिसकी कषाय शान्त हैं, आत्मा विशुद्ध है, मन, वचन, कायके कर्मोंमें पवित्र है, कुशल है, त्यागी है, विनम्र है, दान देनेमें समर्थ है और आगे कहे जानेवाले छह गुणोंसे विभूषित है वह दाता कहलाता है ॥ ७१ ॥ ज्ञान, भक्ति, क्षमा, सन्तोष, सत्त्व और लोभ-त्याग दाताके ये छह गुण पुण्यके साधक होते हैं ॥ ७२ ॥ पात्र तीन प्रकारके कहे गये हैं—सत्पात्र, कुपात्र और अपात्र। इनमेंसे पहिले पात्रका स्वरूप कहते हैं ॥ ७३ ॥ उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्यके भेदसे पात्र तीन प्रकारका कहा गया है। सर्व प्रकारके परिग्रहसे रहित साधु उत्तम पात्र है। देशसंयमका धारक श्रावक मध्यम पात्र कहा गया है और असंयत-सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है ॥ ७४-७५ ॥ जो मनुष्य रत्नत्रयसे रहित होता हुआ भी कुत्सित तपको करता है, वह मिथ्यात्वके आश्रयणसे कुत्सित पात्र अर्थात् कुपात्र जानना चाहिए ॥ ७६ ॥ जिसके न तो शुद्धव्रत हैं, न सम्यग्दर्शन है, न मन ही स्थिर है और जिसकी क्रियाएँ दोषयुक्त (खोटी) हैं उसे ज्ञानी जनोंने अपात्र कहा है ॥ ७७ ॥ इनमेंसे कुपात्रको और विशेषरूपसे अपात्रको छोड़े अर्थात् दान नहीं देवे। अब पात्रदानकी विधि यथाक्रमसे कहते हैं ॥ ७८ ॥ पात्रका स्थापन (पडिगाहन), योग्य आसन-प्रदान, चरण-प्रक्षालन, पूजन, नमस्कार, मन, वचन, कायकी शुद्धि और नवमी आहारकी शुद्धि, ये नव प्रकारकी विधि

नवविधं विधिः प्रोक्तः पात्रदाने मुनीश्वरैः । तथा षोडशभिर्दोषैरुद्गमाद्यैर्विवर्जितः ॥८०
उद्दिष्टं विक्रयानीतमुद्धारस्वीकृतं तथा । परिवर्त्यं समानीतं देशान्तरात्समागतम् ॥८१
अप्रासुकेन सम्मिश्रं मुक्तिभाजनमिश्रता । अधिका पाकसंवृद्धिर्मुनिवृन्दे समागते ॥८२
समीपीकरणं पङ्क्तौ संयतासंयतात्मनाम् । पाकभाजनतोऽन्यत्र निक्षिप्यानयनं तथा ॥८३
निर्वापितं समुक्षिप्य दुग्धमण्डादिकं च यत् । नीचजात्यर्पितार्थं च प्रतिहस्तात्समर्पितम् ॥८४
यक्षादिवलिशेषं वा चानीय चौर्ध्वसद्मनि । ग्रन्थिमुद्भिद्य यद्दत्तं कालाि तोऽर्पितम् ॥८५
राजादीनां भयाद्दत्तमित्येषा दोषसंहतिः । वर्जनीया प्रयत्नेन पुण्यसाधनसिद्धये ॥८६
आहारं भक्तितो दत्तं दात्रा योग्यं यथाविधि । स्वीकर्तव्यं विशोध्यैतद्वीतरागयतीशिना ॥८७
योग्यकालागतं पात्रं मध्यमं वा जघन्यकम् । यथावत्प्रतिपत्त्या च दानं तस्मै प्रदीयताम् ॥८८
यदि पात्रमलब्धं चेदेवं निन्दां करोत्यसौ । वासरोऽयं वृथा यातः पात्रदानं विना मम ॥८९
इत्येवं पात्रदानं यो विदधाति गृहाश्रमी । देवेन्द्राणां नरेन्द्राणां पदं सम्प्राप्य सिद्ध्यति ॥९०
अणुव्रतानि पञ्चैव सप्तशीलगुणैः सह । प्रपालयति निःशल्यो भवेद्व्रतिको गृही ॥९१
चतुस्त्र्यावर्तसंयुक्तश्चतुर्नमस्क्रियायुतः । द्विनिषद्यो यथाजातो मनोवाक्कायशुद्धिमान् ॥९२

मुनीश्वरोंने पात्र दानमें कही है। तथा पात्रको आहारदान उद्गम आदि सोलह दोषोंसे रहित देना चाहिए ॥ ७९-८० ॥ वे दोष इस प्रकार हैं—साधुके उद्देश्यसे बनाया, खरीद कर या कुछ वस्तु वेंचकर लाया गया, किसी पात्रमेंसे निकाला, दूसरेका दिया हुआ स्वीकृत आहार, परिवर्तन करके लाया गया, देशान्तरसे आया हुआ, अप्रासुक वस्तुसे मिश्रित आहार, खानेके पात्रसे मिश्रित, मुनि जनोंके आने पर पकाई जानेवाली वस्तु और अधिक वस्तुसे मिला हुआ आहार, संयतासंयत श्रावकोंकी पंक्तिमें समीप किया हुआ, पकानेके पात्रसे अन्यत्र रखा या निकाल कर लाया गया, मर्यादासे बाहरका दूध, मांड आदि डाला हुआ, नीच जातिके लोगोंको अर्पण करनेके लिए रखा हुआ, दूसरेके हाथसे समर्पित, यक्षादिकी पूजासे बचा हुआ, ऊपरकी मंजिलसे लाया हुआ, किसी वर्तनकी गाँठ, मोहर आदिको भेदन करके दिया हुआ, कालका अतिक्रमण करके अर्पण किया जाता हुआ, और राजा आदिके भयसे दिया गया ऐसा आहार, इन सब दोषोंके समुदायरूप आहार पुण्य साधनकी सिद्धिके लिए प्रयत्नके साथ त्याग करना चाहिए ॥ ८१-८६ ॥

जो योग्य आहार दाताके द्वारा विधि-पूर्वक भक्तिके साथ दिया जाय, उसे ही वीतरागी मुनिराजको शोध करके स्वीकार करना चाहिए ॥ ८७ ॥ योग्य कालमें आये हुए उत्तम, मध्यम या जघन्य पात्रको यथा विधि यथोचित आदर-सत्कारके साथ दान देना चाहिए ॥ ८८ ॥ यदि श्रावकको पात्रका लाभ नहीं होता है, तो वह इस प्रकारसे अपनी निन्दा करता है कि पात्र दानके विना आजका मेरा दिन व्यर्थ गया ॥ ८९ ॥ इस प्रकार जो गृहाश्रमी श्रावक पात्र दान करता है, वह देवन्द्रों और नरेन्द्रोंके उत्तम पदोंको पाकर सिद्ध पदको प्राप्त करता है ॥ ९० ॥

इस प्रकार जो गृहस्थ पाँचों अणुव्रतोंको सात शील गुणोंके साथ तीनों शल्योंसे रहित होकर पालन करता है, वह व्रतिक अर्थात् दूसरी व्रतप्रतिमाका धारक-श्रावक कहलाता है ॥ ९१ ॥

चार वार तीन-तीन आवर्त करना, चार नमस्कार करना, खड़े या वैठनेरूप दो आसन लगाना, यथा जात वेष धारण करना, मन, वचन, कायको शुद्धि रखना, इतनी विधिके साथ तीनों

चैत्यभक्त्यादिभिः स्तूयाज्जिनं सन्ध्यात्रयेऽपि च ।
कालातिक्रमणं मुक्त्वा स स्यात्सामायिकव्रती ॥९३

मासं प्रत्यष्टमीमुख्यचतुष्पर्वदिनेष्वपि । चतुरभ्यवहार्याणां विदधाति विसर्जनम् ॥९४
पूर्वापरदिने चैका भुक्तिस्तदुत्तमं विदुः । मध्यमं तद्विना क्लिष्टं यत्राम्बु सेव्यते क्वचित् ॥९५
इत्येकमुपवासं यो विदधाति स्वशक्तितः । केषु भवेत्तुर्यः प्रोषधोऽनशनव्रती ॥९६
फलमूलाम्बुपत्राद्यं नाश्नात्यप्रासुकं सदा । सचित्तविरतो गेही दयामूर्तिर्भवत्यसौ ॥९७
मनोवाक्कायसंशुद्धया दिवा नो भजतेऽङ्गनाम् । भण्यतेऽसौ दिवाब्रह्मचारीति ब्रह्मवेदिभिः ॥९८
स्त्रीयोनिस्थानसंभूतजीवघातभयादसौ । स्त्रियं नो रमते त्रेधा ब्रह्मचारी भवत्यतः ॥९९
यः सेवाकृषिवाणिज्यव्यापारत्यजनं भजेत् । प्राण्यभिघातसंत्यागादारम्भविरतो भवेत् ॥१००
धा ग्रन्थमुत्सृज्य निर्ममत्वं भजन् सदा । संतोषामृतसन्तृप्तः स स्यात्परिग्रहोज्झितः ॥१०१
ददात्यनुमतिं नैव सर्वेष्वैहिककर्मसु । भवत्यनुमतत्यागी देशसंयमिनां वरः ॥१०२
नोद्दिष्टां सेवते भिक्षामुद्दिष्टविरतो गृही । द्वेधैको ग्रन्थसंयुक्तस्त्वन्यः कौपीनधारकः ॥१०३
आद्यौ विदधाति क्षौरं प्रावृणोत्येकवाससम् । पञ्चभिक्षाशनं भुङ्क्ते पठते गुरुसन्निधौ ॥१०४

सन्ध्याकालोंमें चैत्यभक्ति आदिके द्वारा कालका अतिक्रमण न करके जिनदेवकी स्तुति करना यह सामायिक प्रतिमा है ॥ ९२-९३ ॥

प्रत्येक मासकी अष्टमी और चतुर्दशी इन चारों पर्व दिनोंमें चारों प्रकारके आहारका परित्याग करना, तथा इन पर्वोंके पूर्व दिन और पिछले दिन एक बार भोजन करना यह उत्तम प्रोषधोपवास है । पहले और पिछले दिनके एकाशनके विना केवल पर्वके दिन उपवास करना मध्यम प्रोषधव्रत है । और जिसमें पर्वके दिन केवल जलका सेवन क्वचित् कदाचित् किया जाता है. वह जघन्य प्रोषध व्रत है ॥ ९४-९५ ॥ इस प्रकार जो श्रावक अपनी शक्तिके अनुसार एक उपवास करता है वह श्रावकोंमें चौथा प्रोषधोपवासव्रती कहा गया है ॥ ९६ ॥

जो गृहस्थ अप्रासुक फल, जल, पत्र, मूल आदिको कभी नहीं खाता है, वह दयामूर्ति सचित्तविरत श्रावक है ॥ ९७ ॥

जो मन, वचन, कायकी शुद्धिके साथ दिनमें स्त्रीका सेवन नहीं करता है, उसे ब्रह्मस्वरूपके ज्ञाता जन दिवाब्रह्मचारी कहते हैं ॥ ९८ ॥

जो स्त्रीके योनि स्थानमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंके घातके भयसे स्त्रीके साथ विषय सेवन त्रियोगसे नहीं करता है वह ब्रह्मचारी है ॥ ९९ ॥

जो सेवा, कृषि, वाणिज्य आदि व्यापारोंका त्याग कर देता है, वह प्राणियोंके आरम्भजनित घातका त्याग करनेसे आरम्भविरत कहलाता है ॥ १०० ॥

जो क्षेत्र, वास्तु आदि दश प्रकारके परिग्रहका त्याग करके ममता-रहित होता हुआ सदा सन्तोषरूप अमृतसे तृप्त रहता है, वह परिग्रह त्यागी श्रावक है ॥ १०१ ॥

जो इस लोक-सम्बन्धी सभी लौकिक कार्योंमें अपने पुत्रादिको सर्वथा अनुमति नहीं देता है, वह देशसंयमधारियोंमें श्रेष्ठ अनुमति त्यागी श्रावक है ॥ १०२ ॥

उद्दिष्ट त्यागी श्रावक अपने उद्देश्यसे बनी हुई भिक्षाका सेवन नहीं करता है । इसके दो भेद हैं—पहला ग्रन्थ संयुक्त और दूसरा कौपीनधारक । इनमेंसे पहला क्षौर कर्म कराता है, एक आवरण वस्त्र चादर रखता है, पाँच घरसे भिक्षा लाकर खाता है और गुरुके समीप शास्त्र पढ़ता

अन्यः कौपीनसंयुक्तः कुरुते केशलुञ्चनम् । शौचोपकरणं पिच्छं मुक्त्वान्यग्रन्थवर्जितः ॥१०५
मुनीनामनुमार्गेण चर्यायै सुप्रगच्छति । उपविश्य चरेद् भिक्षां करपात्रेऽङ्गसंवृतः ॥१०६
नास्ति त्रिकालयोगोऽस्य प्रतिमा चार्कसम्मुखा । रहस्यग्रन्थसिद्धान्त णे नाधिकारिता ॥१०७
वीरचर्या न तस्यास्ति वस्त्रखण्डपरिग्रहात् । एवमेकादशो गेही सोत्कृष्टः प्रभवत्यसौ ॥१०८
स्थानेष्वेकादशस्वेकं स्वगुणाः पूर्वसद्गुणैः । संयुक्ताः प्रभवन्त्येते श्रावकाणां यथाक्रमम् ॥१०९
रौद्रं भवेद्ध्यानं मन्दभावसमाश्रितम् । मुख्यं धर्म्यं न तस्यास्ति गृहव्यापारसंश्रयात् ॥११०
गौणं हि धर्मसद्ध्यानमुत्कृष्टं गृहमेधिनः । भद्रध्यानात्मकं धर्म्यं शेषाणां गृहचारिणाम् ॥१११
जिनेज्यापात्रदानादिस्तत्र कालोचितो विधिः । भद्रध्यानं स्मृतं तद्धि गृहधर्माश्रयाद् बुधैः ॥११२
पूजा दानं गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः । आवश्यकानि कर्माणि षडेतानि गृहाश्रमे ॥११३
नित्या चतुर्मुखाख्या च कल्पद्रुमाभिधानका । भवत्याष्टाह्निकी पूजा दिव्यध्वजेति पञ्चधा ॥११४
स्वगेहे चैत्यगेहे वा जिनेन्द्रस्य महामहः । निर्माप्यते यथाम्नायं नित्यपूजा भवत्यसौ ॥११५
नृपैर्मुकुटवद्धाद्यैः सन्मण्डपे चतुर्मुखे । विधीयते महापूजा स स्याच्चतुर्मुखो महः ॥११६
कल्पद्रुमैरिवाशेषजगदाशा प्रपूर्यते । चक्रिभिर्यत्र पूजा या सा स्यात्कल्पद्रुमाभिधा ॥११७
नन्दीश्वरेषु देवेन्द्रैर्द्वीपे नन्दीश्वरे महः । दिनाष्टकं विधीयेत सा पूजाष्टाह्निकी ॥११८

है ॥ १०३-१०४ ॥ दूसरा केवल कौपीनको धारण करता है, केशोंका लोंच करता है, शौचका उपकरण कमण्डलु और पीछीके सिवाय अन्य सर्व परिग्रहसे रहित होता है ॥ १०५ ॥

मुनियोंके पीछे उसी ईर्यासमितिके मार्गसे चर्याके लिए जाता है और बैठकर शरीरको संवृत रखते हुए कर-पात्रसे भिक्षाको ग्रहण करता है ॥ १०६ ॥ इसके त्रिकाल योग नहीं है, और न सूर्यके सम्मुख प्रतिमा योग ही होता है। इसे प्रायश्चित्त ग्रन्थ और सिद्धान्त शास्त्र सुननेके अधिकार नहीं ॥ १०७ ॥ वस्त्र-खण्ड (कौपीन) के परिग्रह होनेसे इसके वीरचर्या भी नहीं कही गई है। इस प्रकारका ग्यारहवीं प्रतिमाका धारक यह उत्कृष्ट श्रावक है ॥ १०८ ॥ इन ग्यारह प्रतिमारूप स्थानोंमें अपनी-अपनी प्रतिमाके गुण पूर्व प्रतिमाओंके गुणोंके साथ यथा क्रमसे बढ़ते रहते हैं ॥ १०९ ॥

श्रावकोंके मन्दभावके आश्रित अल्प आर्त्त और रौद्रध्यान है। किन्तु गृह-व्यापारके आश्रयसे उनके मुख्य रूपसे धर्मध्यान नहीं होता है ॥ ११० ॥ श्रावकके गौण धर्मध्यान ही उत्कृष्ट रूपसे होता है। शेष गृहस्थोंके भद्रध्यान स्वरूप धर्म्यध्यान होता है ॥ १११ ॥ गृहस्थोंके लिए जिन-पूजन करना, पात्रोंको दान देना, एवं समय-समय पर गृहस्थोचित सत्कार्योंको करना यही गृहस्थ धर्माश्रित भद्रध्यान ज्ञानियोंने कहा है ॥ ११२ ॥ पूजन करना, दान देना, गुरु जनोंकी उपासना, करना, शास्त्र-स्वाध्याय करना, संयम धारण करना और तपश्चरण—गृहाश्रममें ये छह आवश्यक कर्म माने गये हैं ॥ ११३ ॥

उक्त छह आवश्यकोंमें पूजनके पाँच भेद हैं—नित्यपूजन, चतुर्मुखपूजा, कल्पद्रुमपूजा, आष्टाह्निकपूजा, और दिव्य- (इन्द्र-) पूजा ॥ ११४ ॥ अपने घरमें या चैत्यालयमें आम्नायके अनुसार जो जिनेन्द्रदेवकी पूजा प्रतिदिन की जाती है, वह नित्यपूजा है ॥ ११५ ॥ मुकुटवद्ध राजा-महाराजा आदिके द्वारा उत्तम चतुर्मुखवाले मण्डपमें जो महा पूजा की जाती है, वह चतुर्मुख पूजन है ॥११६॥ कल्पवृक्षोंके समान संसारके लोगोंकी सर्व आशाओंको पूरा करते हुए चक्रवर्त्तियोंके द्वारा जो पूजा की जाती है, वह कल्पद्रुम पूजन है ॥ ११७ ॥ नन्दीश्वर द्वीपमें नन्दीश्वर (तीनों

अकृत्रिमेषु चैत्येषु कल्याणेषु च पञ्चसु । सुरैर्विनिर्मिता पूजा भवेत्सेन्द्रध्वजात्मिका ॥११९
महोत्सवमिति प्रीत्या प्रपञ्चयति पञ्चधा । स स्यान्मुक्तिवधूनेत्रप्रेमपात्रं पुमानिह ॥१२०
दानमाहारभैषज्यशास्त्राभयविकल्पतः । चतुर्धा तत्पृथक् त्रेधा त्रिधापात्रसमाश्रयात् ॥१२१
एषणाशुद्धितो दानं त्रिधा पात्रे प्रदीयते । भवत्याहारदानं तत्सर्वदानेषु चोत्तमम् ॥१२२
आहारदानमेकं हि दीयते येन देहिना । सर्वाणि तेन दानानि भवन्ति विहितानि वै ॥१२३
नास्ति क्षुधासमो व्याधिर्भेषजं वास्य शान्तये । अन्नमेवेति मन्तव्यं तस्मात्तदेव भेषजम् ॥१२४
विनाहारैर्बलं नास्ति जायते नो बलं विना । सच्छास्त्राध्ययनं तस्मात्तद्दानं स्यात्तदात्मकम् ॥१२५
अभयं प्राणसंरक्षा बुभुक्षाप्राणहारिणी । क्षुदि   रणमन्नं स्यादन्नमेवाभयं ततः ॥१२६
अन्नस्याहारदानस्य तृप्तिभाजां शरीरिणाम् । रत्नभूस्वर्णदानानि कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥१२७
सद्दृष्टिः पात्रदानेन लभते नाकिनां पदम् । ततो नरेन्द्रतां प्राप्य लभते पदमक्षयम् ॥१२८
संसाराब्धौ महाभीमे दुःखकल्लोलसंकुले । तारकं पात्रमुत्कृष्टमनायासेन देहिनाम् ॥१२९
सत्पात्रं तारयत्युच्चैः स्वदातारं भवार्णवे । यानपात्रं समीचीनं तारयत्यम्बुधौ यथा ॥१३०
भद्रमिथ्यादृशो जीवा उत्कृष्टपात्रदानतः । उत्पद्य भुञ्जते भोगानुत्कृष्टभोगभूतले ॥१३१
ते चापितप्रदानेन मध्यमाधमपात्रयोः । मध्यमाधमभोगेभ्यो लभन्ते जीवितं महत् ॥१३२

आष्टाह्निकारूप) पर्वोमें जो देव-इन्द्रोंके द्वारा आठ दिन तक पूजा की जाती है, वह आष्टाह्निक-पूजा है ॥ ११८ ॥ अकृत्रिम चैत्यालयोंमें और तीर्थङ्करोंके पंचकल्याणकोंमें जो देव और इन्द्रोंके द्वारा पूजा की जाती हैं, वह इन्द्रध्वजपूजा कही जाती है ॥ ११९ ॥ जो उक्त पाँच प्रकारसे महोत्सव पूर्वक पूजनको करता है, वह पुरुष इस लोकमें मुक्तिरूपी वधूके प्रेमका पात्र होता है ॥ १२० ॥

आहार, औषधि, शास्त्र और अभयके भेदसे दान चार प्रकारका है। और वह दान तीन प्रकारके पात्रके आश्रयसे तीन प्रकारका होता है ॥ १२१ ॥ एषणाशुद्धिपूर्वक जो आहार तीन प्रकारके पात्रोंमें दिया जाता है, वह आहारदान है, यह सर्व दानोंमें उत्तम दान है ॥ १२२ ॥ जो मनुष्य एक आहारदानको देता है वह निश्चयसे सभी दानोंको देता है ॥ १२३ ॥ क्योंकि भूखके समान कोई बड़ी व्याधि नहीं है और उसकी शान्तिके लिए अन्न ही समर्थ है, इसलिए भूखरूपी व्याधिकी औषधि अन्न ही मानना चाहिए ॥ १२४ ॥ आहारके विना शरीरमें बल नहीं होता है, और बलके विना शास्त्रका अध्ययन संभव नहीं है, इसलिए आहारदान शास्त्रदान स्वरूप ही है ॥ १२५ ॥ प्राणोंकी रक्षा करनेको अभयदान कहते हैं। भूख प्राणोंका अपहरण करती है, अन्न उस प्राणहारिणी भूखका निवारण करता है अतः अन्नदान अभयदान ही है ॥ १२६ ॥ प्राणियोंको तृप्ति करानेवाले अन्नके आहारदानको सोलहवीं कलाको रत्नदान, भूदान और स्वर्णदान प्राप्त नहीं होते हैं। भावार्थ—रत्नादिका दान आहारदानके सोलहवें भागकी भी समता नहीं करते हैं ॥ १२७ ॥ सम्यग्दृष्टि पुरुष पात्रदानसे देवोंके उत्कृष्ट पदको प्राप्त करता है। वहाँसे च्युत होकर नरेन्द्रपदको पाकर अक्षयमोक्ष पदको पाता है ॥ १२८ ॥ महाभयंकर दुःखरूपी कल्लोलोंसे व्याप्त इस संसार-सागरमें प्राणियोंको अनायास ही तारनेवाला उत्कृष्ट पात्र ही है ॥ १२९ ॥ जैसे उत्तम यानपात्र (जहाज) समुद्रमें प्रविष्ट प्राणोको तारता है, उसी प्रकार सत्पात्र भी अपने दातार-को संसार-समुद्रसे सम्यक् प्रकार तारता है ॥ १३० ॥ भद्र मिथ्यादृष्टि जीव भी उत्कृष्ट पात्रको दान देनेसे उत्कृष्ट भोगभूमिमें उत्पन्न होकर वहाँके उत्तम भोगोंको भोगते हैं ॥ १३१ ॥ वे ही

मद्यवाद्याङ्गदीपाङ्गा वस्त्रभाजनमाल्यदाः। ज्योतिर्भूषागृहाङ्गाश्च दशधा कल्पपादपाः ॥१३३
पुण्योपचितमाहारं मनोज्ञं कल्पितं यथा। लभन्ते कल्पवृक्षेभ्यस्तत्रत्या देहधारिणः ॥ १३४
दानं हि वामदृग्वीक्ष्य कुपात्राय प्रयच्छति। उत्पद्यते कुदेवेषु तिर्यक्षु कुनरेष्वपि ॥१३५
मानुषोत्तरबाह्ये ह्यसंख्यद्वीपवार्धिषु। तिर्यक्त्वं लभते नूनं देही कुपात्रदानतः ॥१३६
निन्द्यासु भोगभूमीषु पल्यप्रमितजीविनः। नग्नाश्च विकृताकारा भवन्ति वामदृष्टयः ॥१३७
लवणाब्धेस्तटं त्यक्त्वा शतघ्नीं पञ्चयोजनीम्। दिग्विदिक्षु चतसृषु पृथक्कुभोगभूमयः ॥१३८
सैकोरुकाः सशृंगाश्च लांगुलिनश्च मूकिनः। चतुर्दिक्षु वसन्त्येते पूर्वादिक्रमतो यथा ॥१३९
विदिक्षु शशकर्णाख्याः सन्ति शष्कुलिकर्णिनः। कर्णप्रावरणाश्चैव लम्बकर्णाः कुमानुषाः ॥१४०
शतानि पञ्च सार्धानि सन्त्यज्य वारिधेस्तटम्। अन्तरस्थदिशास्वष्टौ कुत्सिता भोगभूमयः ॥१४१
सिंहाश्वमहिषोलूकव्याघ्रशूकरगोमुखाः। कपिवक्त्रा भवन्त्यष्टौ दिशानामन्तरे स्थिताः ॥१४२
वेद्यायाः षट्छतीं त्यक्त्वा द्वौ द्वावुभयोर्दिशोः। हिमाद्रिविजयार्धाद्रितारादिशिखर्यद्रिषु ॥१४३
हिमवद्विजयार्धस्य पूर्वापरविभागयोः। मत्स्यकालमुखा मेघविद्युन्मुखाश्च मानवाः ॥१४४
विजयार्धशिखर्यद्रिपार्श्वयोरुभयोरपि। हस्त्यादर्शमुखा मेघमण्डलाननसन्निभाः ॥१४५
चतुर्विंशतिसंख्याका भवन्ति मिलिता इमाः। तावन्त्यो धातकीखण्डनिकटे लवणार्णवे ॥१४६

भद्रमिथ्यादृष्टि जीव मध्यम और जघन्य पात्रोंमें दान देनेसे मध्यम और जघन्य भोगभूमियोंके भोगोंको और महान् जीवनको प्राप्त होते हैं ॥ १३२ ॥ भोगभूमिमें मद्याङ्ग, वाद्याङ्ग, अङ्गरागाङ्ग, दीपाङ्ग, वस्त्राङ्ग, भाजनाङ्ग, माल्याङ्ग, ज्योतिरङ्ग, भूषाङ्ग, और गृहाङ्ग जातिके दश प्रकारके कल्पवृक्ष होते हैं ॥ १३३ ॥ (ये कल्पवृक्ष क्रमशः मद्य, वाद्य, अंगराग (विलेपनादि), दीप, वस्त्र, पात्र, माला, ज्योति, भूषण और गृहको देते हैं।) उक्त कल्पवृक्षोंसे वहाँके देहधारी जीव पुण्योपार्जित उचित, मनोज्ञ और मनोवांछित आहारको प्राप्त करते हैं ॥ १३४ ॥ जो मिथ्यादृष्टि जीव कुपात्रके लिए दानको देता है, वह कुदेवोंमें, या कुमानुषोंमें या कुतिर्यंचोंमें उत्पन्न होता है ॥१३५॥ यदि कुपात्रदानसे मनुष्य तिर्यंचोंमें उत्पन्न होता है तो मानुषोत्तर शैलसे बाहिर जो असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं, उनमें नियमसे तिर्यंचपना पाता है ॥ १३६ ॥ यदि मिथ्यादृष्टि मनुष्य कुपात्रोंको दान देते हैं तो वे निन्द्य कुभोगभूमियोंमें उत्पन्न होते हैं जो एक पल्योपमकी आयुवाले, नग्न और विकृत आकारवाले होते हैं ॥ १३७ ॥ ये कुभोगभूमियाँ लवण समुद्रके तटको छोड़कर आगे पाँच सौ योजन जाकरके चारों दिशा-विदिशाओंमें पृथक्-पृथक् हैं ॥ १३८ ॥ उनमें पूर्व आदिके क्रमसे चारों दिशाओंमें एकोरुक, शृङ्गवाले, पूँछवाले और मूक (अभाषक) कुमानुष रहते हैं ॥ १३९ ॥ चारों विदिशाओंमें शशकर्ण, शष्कुलीकर्ण, कर्णप्रावरण और लम्बकर्णवाले कुमानुष रहते हैं ॥१४०॥ लवणसमुद्रके तटको साढ़े पाँच सौ योजन छोड़कर आगे जाकर चारों दिशाओंमें और चारों विदिशाओंमें आठ जातिके कुभोगभूमिज कुमानुष रहते हैं ॥१४१॥ वे सिंह, अश्व, महिष, उलूक, व्याघ्र, शूकर, गोमुख और कपिमुख होते हैं। ये आठों कुमानुष अन्तर्द्वीपके दिशाओं और अन्तर्दिशाओंमें रहते हैं ॥ १४२ ॥ लवणसमुद्रकी वेदीसे छह सौ योजन आगे जाकर हिमवान् पर्वत, विजयार्ध-पर्वत, ताराद्रि और शिखराद्रिके दोनों दिशाओंमें दो-दो करके अवस्थित हैं ॥ १४३ ॥ हिमवान् और विजयार्धके पूर्वापर भागमें मत्स्यमुख, कालमुख, मेघमुख और विद्युन्मुख कुमानुष रहते हैं ॥ १४४ ॥ विजयार्ध और शिखरी पर्वतके दोनों पार्श्व भागोंमें हस्तिमुख, आदर्शमुख, मेघमुख और मण्डलमुख सदृश कुमानुष रहते हैं ॥ १४५ ॥ ये सबकी संख्या मिलकर चौबीस होती है।

एवं स्युद्वर्य्नपञ्चाशल्लवणाब्धितटद्वयोः । कालोदजलधौ तद्वद्द्वीपाः षण्णवतिः स्मृताः ॥१४७
एकोरुका गुहावासाः स्वादुमृन्मयभोजनाः । शेषास्तरुतलावासाः पत्रपुष्पफलाशिनः ॥१४८
न जातु विद्यते येषां कृतदोषनिकृन्तनम् । उत्पादोऽत्र भवेत्तेषां कषायवशगात्मनाम् ॥१४९

त्रिकलम्

सूतकाशुचिदुर्भावव्याकुलादित्वसंयुताः । पात्रे दानं प्रकुर्वन्ति मूढा वा गर्विताशयाः ॥१५०
पञ्चाग्निना तपोनिष्ठा मौनहीनं च भोजनम् । प्रीतिश्चान्यविवादेषु व्यसनेष्वतितीव्रता ॥१५१
दानं च कुत्सिते पात्रे येषां प्रवर्तते सदा । तेषां प्रजायते जन्म क्षेत्रेष्वेतेषु निश्चितम् ॥१५२
उत्पद्यन्ते ततो मृत्वा भावनादिसुरत्रये । मन्दकषायसद्भावात् स्वभावार्जवभावतः ॥१५३
मिथ्यात्वभावनायोगात्ततश्च्युत्वा भवार्णवे । वराकाः सम्पतन्त्येव जन्मनक्रकुलाकुले ॥१५४
अपात्रे विहितं दानं यत्नेनापि चतुर्विधम् । व्यर्थीभवति तत्सर्वं भस्मन्याज्याहुतिर्यथा ॥१५५
अब्धौ निमज्जयत्याशु स्वमन्यान्नौर्दृषन्मयी । संसाराब्धावपात्रं तु तादृशं विद्धि सन्मते ॥१५६
पात्रे दानं प्रकर्तव्यं ज्ञात्वैवं शुद्धदृष्टिभिः । यस्मात्सम्पद्यते सौख्यं दुर्लभं त्रिदशेशिनाम् ॥१५७
क्रियते गन्धपुष्पाद्यैर्गुरुपादाब्जपूजनम् । पादसंवाहनाद्यं च गुरूपास्तिर्भवत्यसौ ॥१५८

इतने ही अन्तर्द्वीप धातकीखण्डके निकटवर्ती लवणसमुद्रमें होते हैं। इस प्रकार लवणसमुद्रके दोनों तट भागों पर उसकी संख्या दो कम पचास अर्थात् अड़तालीस होती है। तथा कालोद समुद्रमें भी दोनों ओर इसी प्रकार अड़तालीस अन्तर्द्वीप होते हैं। इस प्रकार सब मिलाकर छयानवे अन्तर्द्वीप माने गये हैं ॥ १४६-१४७ ॥ इनमें एकोरुक और गुहावासी कुमानुष तो वहाँकी उत्तम स्वादवाली मिट्टीका भोजन करते हैं और शेष कुमानुष वृक्षोंके पत्र, पुष्प और फलोंको खाते हैं ॥ १४८ ॥ किये गये दोषोंका विनाश इनके जीवनमें कभी नहीं होता है, क्योंकि वहाँपर कषायके वशको प्राप्त जीवोंकी ही उत्पत्ति होती है ॥ १४९ ॥

जो मूढ़जन सूतक-पातक, अशौच, दुर्भाव, व्याकुलता आदिसे संयुक्त होते हुए दान करते हैं, अथवा अहंकारसे भरे हृदयसे दान देते हैं, पंचाग्नि तपमें निष्ठा रखते हैं, मौनके बिना भोजन करते हैं, दूसरोंके वाद-विवादमें प्रीति रखते हैं, व्यसनोंमें अति तीव्र आसक्ति रखते हैं और सदा ही खोटे पात्रोंमें दान देते रहते हैं, उनका जन्म ऊपर कही गई कुभोगभूमि रूप क्षेत्रोंमें होता है, यह निश्चित है ॥ १५०–१५२ ॥ कुभोगभूमिसे मरकर वे जीव मन्द कषायके सद्भावसे और स्वभावके सरल होनेसे भवनत्रिक देवोंमें उत्पन्न होते हैं ॥ १५३ ॥ तत्पश्चात् वहाँसे च्युत होकर मिथ्यात्वभावनाके योगसे वे दीन प्राणी जन्म-जरारूप मगरमच्छोंसे भरे हुए इस संसार-समुद्रमें गोते खाते रहते हैं ॥ १५४ ॥

अपात्रमें यत्नपूर्वक भी दिया गया चारों प्रकारका सभी दान व्यर्थ होता है, जैसे कि भस्म (राख) में दी गई घीकी आहुति व्यर्थ जाती है ॥ १५५ ॥ जिस प्रकार पत्थरसे बनी नाव अपने आपको और उसमें बैठे हुए लोगोंको समुद्रमें शीघ्र डुबाती है, उसी प्रकार अपात्रमें दिया गया दान उसे और दातार दोनोंको ही संसार-सागरमें डुबा देता है, हे सद्बुद्धिवाले भव्य, यह तू निश्चितरूपसे जान ॥ १५६ ॥ इसलिए अपात्र और कुपात्र-दाताका ऐसा फल जानकर शुद्ध सम्यग्दृष्टि गृहस्थोंको पात्रमें ही दान करना चाहिए, जिससे कि इन्द्रादि दुर्लभ सुखोंकी प्राप्ति होती है ॥ १५७ ॥

गन्ध-पुष्पादिसे जो गुरुके चरण-कमलोंकी पूजा की जाती है, उनके पैरोंकी संवाहन आदि

चतुर्णामनुयोगानां जिनोक्तानां यथार्थतः। अध्यापनमधीतिर्वा स्वाध्यायः कथ्यते हि सः ॥१५९
प्राणिनां रक्षणं त्रेधा तथाक्षप्रसराहतिः। एकोद्देशमिति प्राहुः संयमं गृहमेधिनाम् ॥१६०
उपवासः सकृत्भुक्तिः सौवीराहारसेवनम्। इत्येवमाद्यमुद्दिष्टं साधुभिर्गृहिणां तपः ॥१६१
कर्माण्यावश्यकान्याहुः षडेवं गृहचारिणाम्। अधः ।दिसम्पातदोषविच्छित्तिहेतवे ॥ १६२
षट्कर्मभिः किमस्माकं पुण्यसाधनकारणैः। पुण्यात्प्रजायते बन्धो बन्धात्संसारता यतः ॥१६३
निजात्मानं निरालम्बध्यानयोगेन चिन्त्यते। येनेह बन्धविच्छेदं कृत्वा मुक्ति प्रगम्यते ॥१६४
ये वदन्ति गृहस्थानामस्ति ध्यानं निराश्रयम्। जैनागमं न जानन्ति दुर्धियस्ते स्ववञ्चकाः ॥१६५
निरालम्बं तु यद्ध्यानमप्रमत्तयतीशिनाम्। बहिर्व्यापारमुक्तानां निर्ग्रन्थजिनलिङ्गिनाम् ॥१६६
गृहव्यापारयुक्तस्य मुख्यत्वेनेह दुर्घटम्। निर्विकल्पचिदानन्दं निजात्मचिन्तनं परम् ॥ १६७
गृहव्यापारयुक्तेन शुद्धात्मा चिन्त्यते यदा। प्रस्फुरन्ति तदा सर्वे व्यापारा नित्यभाविताः ॥१६८
अथ चेन्निश्चलं ध्यानं विधातुं यः समीहते। ढिकुलीसन्निभं तद्धि जायते तस्य देहिनः ॥१६९
पुण्यहेतुं परित्यज्य शुद्धध्याने प्रवर्तते। तत्र नास्त्यधिकारित्वं ततोऽसावुभयोज्झितः ॥१७०

वैयावृत्य की जाती है, वह गुरूपास्ति या गुरु-सेवारूप गृहस्थका आवश्यक कर्तव्य है ॥ १५८ ॥

जिनदेव-प्ररूपित चारों अनुयोगरूप शास्त्रोंका भक्तिपूर्वक यथार्थ रीतिसे जो अध्ययन और अध्यापन किया जाता है, वह स्वाध्याय नामका आवश्यक कर्तव्य है ॥ १५९ ॥

प्राणियोंकी मन वचन कायसे रक्षा करना और इन्द्रियोंके विषयोंमें बढ़ते हुए प्रसारको रोकना इसे गृहस्थोंका एक देश संयम कहते हैं ॥ १६० ॥

पर्व आदिके दिनोंमें उपवास करना, एक बार भोजन करना, सौवीर आहारका सेवन करना, इत्यादिको साधुजनोंने गृहस्थका तप कहा है ॥ १६१ ॥ इस प्रकार गृहस्थोंके ये छह आवश्यक कर्तव्य अधःकर्म आदिसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंके विनाशके लिए आचार्योंने कहे हैं ॥ १६२ ॥

जो लोग यह कहते हैं कि पुण्योपार्जनके कारणभूत इन छह आवश्यकोंसे हमें क्या प्रयोजन हैं ? क्योंकि पुण्यसे तो कर्म-बन्ध होता है और बन्ध होनेसे संसारपना बढ़ता है ॥ १६३ ॥ इसलिए हम तो निरालम्ब ध्यानके योगसे अपनी आत्माका ही चिन्तवन करते हैं, जिससे कि कर्मबन्धका विच्छेद करके मुक्ति प्राप्त की जाती है ॥१६४॥ इस प्रकारसे जो 'गृहस्थोंके निराश्रय (निरालंव) ध्यान होता है, ऐसा कहते हैं, वे दुर्बुद्धि आत्म-वंचक हैं, क्योंकि वे जैन आगमको नहीं जानते हैं ॥ १६५ ॥ निरालम्ब ध्यान तो अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनिराजोंके होता है, जो कि सभी बाहिरी व्यापारोंसे रहित हैं और निर्ग्रन्थ लिङ्गको धारण करते हैं ॥ १६६ ॥ निर्विकल्प चिदानन्दस्वरूप अपनी आत्माके चिन्तनरूप वह निरालम्ब ध्यान मुख्यरूपसे गृह व्यापारसे युक्त गृहस्थके दुर्घट (दुःसाध्य) है ॥ १६७ ॥ गृहस्थपदसे युक्त गृहस्थ जब शुद्ध आत्माका चिन्तवन करता है, तभी नित्य-भावित प्रतिदिनके अभ्यस्त सभी गृह व्यापार मनमें प्रस्फुरित होने लगते हैं ॥ १६८ ॥ यदि कोई पुरुष निश्चल ध्यान करनेकी इच्छा करता है, तो उसका वह प्रयत्न ढिकुलीके सदृश होता है। भावार्थ—जैसे ढिकुली धानके कूटनेमें लगी रहती है, परन्तु उससे उसे कोई लाभ नहीं होता, किन्तु परिश्रममात्र ही होता है। उसी प्रकार निरालम्ब ध्यान करनेवालोंका परिश्रम भी मनमें गृह व्यापारोंके जागते रहनेसे व्यर्थ जाता है ॥ १६९ ॥ इसीलिए जो पुण्यके कारणोंका परित्याग करके शुद्ध ध्यानमें प्रवृत्ति करता है, उसका उसमें अधिकार नहीं है। ऐसा करनेवाला पुण्य और

त्यक्तपुण्यस्य जीवस्य पापास्रवो भवेद्ध्रुवम् । पापबन्धो भवेत्तस्मात् पापबन्धाच्च दुर्गतिः ॥१७१
पुण्यहेतुस्ततो भव्यैः प्रकर्तव्यो मनीषिभिः । यस्मात्प्रगम्यते स्वर्गमायुर्बन्धोज्झितैर्जनैः ॥१७२
तत्रानुभूय सत्सौख्यं सर्वाक्षार्थ धकम् । ततश्च्युत्वा कर्मभूमौ नरेन्द्रत्वं प्रपद्यते ॥१७३
लक्षाश्चतुरशीतिः स्युरष्टादश च कोटयः । लक्षं चतुःसहस्रोनं गजाश्वान्तःपुराणि च ॥१७४
निधयो नव रत्नानि प्रभवन्ति चतुर्दश । षट्खण्डभरतेशित्वं चक्रिणां स्युर्विभूतयः ॥१७५
जरत्तृणमिवाशेषां संत्यज्य राज्यसम्पदम् । अत्युत्कृष्टतपोलक्ष्मीमेवं प्राप्नोति शुद्धदृक् ॥१७६
भस्मसात्कुरुते तस्माद्घातिकर्मेन्धनोत्करम् । सम्प्राप्याहंन्त्यसल्लक्ष्मीं मोक्षलक्ष्मीपतिर्भवेत् ॥१७७
ईदृग्विधं पदं भव्य सर्वं पुण्यादवाप्यते । तस्मात्पुण्यं प्रकर्तव्यं यत्नतो मोक्षकाङ्क्षिणा ॥१७८
एवं संक्षेपतः प्रोक्तं यथोक्तं पूर्वसूरिभिः । देशसंयमसम्बन्धिगुणस्थानं हि पञ्चमम् ॥१७९

इति पञ्चमं विरताविरतसञ्ज्ञं गुणस्थानम् ।

ध्यान दोनोंसे जाता है ॥ १७० ॥ क्योंकि जो पुरुष पुण्यकार्यका त्याग करेगा, उसके पापका आस्रव नियमसे होगा । पापास्रवसे पापकर्मोंका बन्ध होगा और पापकर्मोंके बन्धसे दुर्गति होगी ॥ १७१ ॥ इसलिए बुद्धिमान भव्योंको सदा ही पुण्यके कारणभूत कार्य करते रहना चाहिए, जिससे कि अन्य गतियोंके आयुर्बन्धसे रहित होकर जीव स्वर्गको जाते हैं ॥ १७२ ॥ वहाँपर सर्व इन्द्रियों-के अर्थ-साधक उत्तम सुखको भोगकर, और वहाँसे च्युत होकर कर्मभूमिमें नरेन्द्रपना (चक्रवर्ती-पना) प्राप्त होता है ॥ १७३ ॥ उस चक्रवर्तीके चौरासी लाख हाथी, अठारह कोटि घोड़े, और चार हजार कम एक लाख अर्थात् छियानवे हजार रानियाँ अन्तःपुरमें होती हैं ॥ १७४ ॥ उसके नौ निधियाँ और चौदह रत्न होते हैं, तथा छह खण्डरूप भरत क्षेत्रका स्वामीपना होता है । इस प्रकारकी चक्रवर्तियोंकी विभूति होती है ॥ १७५ ॥ इस सर्व राज्य सम्पदाको भी वह सम्यक्त्वी जीर्ण तृणके समान छोड़कर अति उत्कृष्ट तपोलक्ष्मीको प्राप्त होता है ॥ १७६ ॥ उस तपोऽग्निसे वह घातिकर्मरूप इन्धनको भस्मसात् कर देता है और आर्हन्त्यलक्ष्मीको प्राप्तकर अन्तमें मोक्ष-लक्ष्मीका पति होता है ॥ १७७ ॥ हे भव्य, इसप्रकारका सर्व सुख और परमपद पुण्यसे ही प्राप्त होता है, इसलिए मोक्षके इच्छुक जीवको पुण्य करनेमें सदा यत्न करना चाहिए ॥ १७८ ॥ इस प्रकार देश संयम-सम्बन्धी पंचम गुणस्थानका स्वरूप जैसा प्राचीन आचार्योंने कहा, उसी प्रकार मैंने संक्षेपमें कहा है ॥ १७९ ॥

श्री कुन्दकुन्दाचार्यविरचित रयणसार-गत श्राव ाचार

णमिऊण वड्ढमाणं परमप्पाणं जिणं तिसुद्धेण। वोच्छामि रयणसारं सायारऽणयारधम्मीणं ॥१

पुव्वं जिणेहिं भणियं जहट्ठियं गणहरेहिं वित्थरियं।
पुव्वाइरियक्कमजं तं बोल्लइ सो हु सद्दिट्ठी ॥२
मदिसुदणाणबलेण दु सच्छंदं बोल्लइ जिणुद्दिट्ठं।
जो सो होइ कुदिट्ठी ण होइ जिणमग्गलग्गरवो ॥३
सम्मत्तरयणसारं मोक्खमहारु   मूलमिदि भणियं।
तं जाणिज्जउ णिच्छयववहारसरूवदो भेयं ॥४
भय-विसण-मलविवज्जिय संसार-सरीर-भोगणिव्विण्णो।
अट्ठगुणंगसमग्गो दंसणसुद्धो हु पंचगुरुभत्तो ॥५
णियसुद्धप्पणुरत्तो बहिरप्पावत्थवज्जियो णाणी।
जिणमुणिधम्मं भण्णइ गयदुक्खो होइ सद्दिट्ठी ॥६

-मूढमणायदणं संकाइ-वसण-भयमईयारं। जेसिं चउदालेदे ण संति ते होंति सद्दिट्ठी ॥७
देव-गुरु-समयभत्ता संसार-सरीर-भोगपरि   ा। रयणत्तयसंजुत्ता ते मणुया सिवसुहं   ा ॥८
दाणं पूया सीलं उव   बहुविहं पि खवणं पि। सम्मजुदं मोक्खसुहं सम्मोविणा दीहसंसारं ॥९

श्री जिनेन्द्र वर्धमान परमात्माको त्रियोग शुद्धिसे नमस्कार करके मैं सागार और अनगार धर्म पालन करनेवालोंके लिए रत्नसार कहूँगा ॥ १ ॥ यह रत्नसार जैसा पहले जिनेन्द्रोंने कहा है और जिस प्रकारसे उसे गणधरोंने विस्तृत किया है और वह पूर्वाचार्योंके क्रमसे प्राप्त हुआ है, उसे जो ज्यों का त्यों कहता है, वह सम्यग्दृष्टि है ॥ २ ॥ जो जिनेन्द्र-उपदिष्ट उस रत्नसार-रूप तत्त्वको अपने मति और श्रुत ज्ञानके बलसे अपनी इच्छानुसार पूर्व-परम्परासे विपरीत बोलता है, वह जिनमार्गमें संलग्न प्रवचनकार नहीं है, किन्तु मिथ्यादृष्टि है ॥ ३ ॥ यह सम्यक्त्वरूपी रत्न-सार मोक्षरूपी महावृक्षका मूल कहा गया है, उसे निश्चय और व्यवहार स्वरूपसे दो भेदवाला जानना चाहिए ॥ ४ ॥ जो सात भय, सात व्यसन, और पच्चीस दोषोंसे रहित है, संसार, शरीर और भोगोंसे विरुद्ध है, निःशंकित आदि आठ गुण रूप अंगोंसे सम्पन्न है और पंच परम गुरुओंका भक्त है, वह निश्चयसे शुद्ध सम्यग्दृष्टि है ॥ ५ ॥ जो ज्ञानी अपनी शुद्ध आत्माके स्वरूपमें अनुरूप है, वहिरात्म-अवस्थासे रहित है, जिनेन्द्र-प्ररूपित वीतराग मुनिधर्मको मानता है, वह सम्यग्दृष्टि दुःखोंसे विमुक्त होता है ॥ ६ ॥ आठ मद, तीन मूढ़ता, छह अनायतन, शंकादि आठ दोष, सात व्यसन, सात भय और पाँच अतीचार ये चवालीस दोष जिनके नहीं होते हैं, वे जीव सम्यग्दृष्टि हैं ॥ ७ ॥ जो देव, गुरु और समय (सिद्धान्त) के भक्त हैं, संसार, शरीर और भोगोंके त्यागी हैं और रत्नत्रयसे संयुक्त हैं, वे मनुष्य शिव-सुखको प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥ सम्यग्दर्शनसे मुक्त दान, पूजन, शील, उपवास और अनेक प्रकारके तपश्चरण भी मोक्ष सुखके कारण हैं, और सम्यग्दर्शनके विना ये ही दीर्घ संसारके कारण हैं ॥ ९ ॥

दाणं पूया मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा ।
झाणज्झयणं मुक्खं जइधम्मे तं विणा तहा सो वि ॥१०
दाणु ण धम्मु ण चागु ण भोगु ण वहिरप्पओ पयंगो सो ।
लोहकसायग्गिमुहे पडियो मरियो ण संदेहो ॥११
जिणपूया मुणिदाणं करेइ जो देइ सत्तिरूवेण । समाइट्ठी सावयधम्मी सो मोक्खमग्गरओ ॥१२
पूयफलेण तिलोए सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो । दाणफलेण तिलोए सारसुहं भुंजदे णियदं ॥१३
दाणं भोयणमेत्तं दिण्णइ धण्णो हवेइ सायारो । पत्तापत्तविसेसं संदंसणे किं वियारेण ॥१४
दिण्णइ सुपत्तदाणं विसेसदो होइ भोग-सग्गमही ।
णिव्वाणसुहं कमसो णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥१५
इह णियसुवित्तबीयं जो ववइ जिणुत्तसत्तखेत्तेसु[1] ।
सो तिहुवणरज्जफलं भुंजदि कल्लाणपंचफलं ॥१६
खेत्तविसेसे काले ववियं सुवियं फलं जहा विउलं । होइ तहा तं जाणहि पत्तविसेसेसु दाणफलं ॥१७
मादु पिदु पुत्त मित्तं कलत्त धण धण्ण वत्थु वण्हणं विहवं ।
संसारसारसोक्खं सव्वं जाणउ सुपत्तदाणफलं ॥१८

श्रावक-धर्ममें दान और पूजन मुख्य हैं, इनके विना गृहस्थ श्रावक नहीं कहा जा सकता। मुनि धर्ममें ध्यान और अध्ययन मुख्य हैं, उनके विना गृह त्याग करने पर भी वह अनगार नहीं कहा जा सकता ॥ १० ॥ जो मनुष्य दान नहीं देता, गृहस्थ-धर्मका पालन नहीं करता, पापोंका यथाशक्ति त्याग नहीं करता, और न्यायपूर्वक सुखका उपभोग नहीं करता है, वह वहिरात्मा मिथ्यादृष्टि पतंगेके समान लोभकषायरूप अग्निके मुखमें गिर कर मरता है, इसमें कोई संदेह नहीं है ॥ ११ ॥ जो गृहस्थ अपनी शक्तिके अनुरूप जिन-पूजन और दान करता है और मोक्षमार्गमें निरत है, वह सम्यग्दृष्टि श्रावक धर्मका धारक है ॥ १२ ॥ शुद्ध मन वाला मनुष्य पूजनके फलसे तीनों लोकोंमें देवोंके द्वारा पूज्य होता है और दानके फलसे तीनों लोकोंमें नियमसे सार (श्रेष्ठ) सुखको भोगता है ॥ १३ ॥ यदि गृहस्थ मुनियोंके लिए भोजन मात्रको देता है, तो वह धन्य है। मुनिके साक्षात् दर्शन होने पर पात्र-अपात्रका विचार करनेसे क्या लाभ है ॥ १४ ॥ जो सुपात्रको दान दिया जाता है उसके द्वारा विशेष रूपसे भोगभूमि और स्वर्ग लोक प्राप्त होता है और क्रमसे निर्वाण-सुख भी प्राप्त होता है, ऐसा जिनेन्द्र देवोंने कहा है॥ १५ ॥ जो अपने न्यायोपार्जित उत्तम धनरूपी बीजको मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका, जिन-बिम्ब, जिनालय और जिनशास्त्र, इन जिनोक्त सात धर्म क्षेत्रोंमें बोता है, वह त्रिभुवनके राज्य रूप फलको और गर्भादि पंच कल्याण-रूप फलको भोगता है, अर्थात् सांसारिक सर्वश्रेष्ठ सुखोंको भोग कर और तीर्थंकर होकर मोक्षको प्राप्त करता है ॥ १६ ॥ जिस प्रकारसे क्षेत्र विशेषमें यथा काल बोया गया उत्तम बीज विपुल फल-को देता है, उसी प्रकार पात्र-विशेषोंमें दिये गये दानका भी विशाल फल जानना चाहिए ॥ १७ ॥ माता-पिता, पुत्र, मित्र, कलत्र (स्त्री), धन, धान्य, वास्तु (भवन), वाहन आदिका वैभव और संसारके जितने भी श्रेष्ठ सुख प्राप्त होते हैं, वे सभी सुपात्र-दानका फल जानना चाहिए ॥ १८ ॥

---

1. जिणभवण-बिंब-पोत्थय-संघसरूवाइ-सत्तखेत्तेसु ।
जं ववियं धणवीयं तमहं अणुमोयए सकयं ॥ (श्रावकाचारसंग्रह भा० २, पृ० ४९४)

ग रज्ज-णवणिहिभंडार -चउद्दहरयणं ।
छण्णवदिसहस्सेत्थिविहवं जाणउ सुपत्तदाण ॥१९
सुकुल सुरूव सुलक्खण सुमइ सुसि सुसील चारित्तं ।
सुहलेस्सं सुहणामं सुहसादं सुपत्तद्द लं ॥२०
जो मुणिभुत्तविसेसं भुंजइ सो भुंजए जिणुद्दिट्ठं । संसारसारसोक्खं कमसो णिव्वाणवरसोक्खं ॥२१
सीदुण्हवाउपिउलं सिलेसिमं तह परीसहव्वाहिं । कायकिलेसुववासं जाणिज्जे दिण्णए दाणं ॥२२
हियमियमण्णं पाणं णिरवज्जोसहिं णिराउलं ठाणं ।
सयणासणमुवयरणं जाणिज्जा देइ मोव गारओ ॥२३
राणं वेज्जावच्चं कुज्जा जहेह जाणिज्जा ।
गब्भब्भमेव मादाव्वं णिच्चं तहा णिरालसया ॥२४
सप्पुरिसाणं दाणं कप्पतरूणं फलाण सोहं वा । लोहीणं दाणं जइ विमाणसोहा जाणे ॥२५
किति पुण्णलाहे देह सुवहुगंपि जत्थ तत्थेव । सम्माइसुगुणभायण पत्तविसेसं ण जाणंति ॥२६
जंतं मंतं तंतं परिचरियं पक्खवायपियवयणं । पडुच्च पंचमगाले दाणं ण किंपि मोक्खस्स ॥२७
दाणीणं दालिद्दं लोहीणं किं हवेइ महसिरियं । उहयाणं पुव्वज्जिय फलं जाव होइ थिरं ॥२८

सात अंग (राजा, मंत्री, मित्र, कोष, देश, दुर्ग और सेना) रूप सार्वभौम राज्य, नव निधि (काल, महाकाल, पांडु, मानव, शंख, पद्म, नैसर्प, पिंगल, मानारत्न), छह अंग (गज, अश्व, रथ, पदाति, नर्तकी, दास) रूप सेना, चौदह रत्न (अश्व, गज, गृहपति, कामवृष्टि, सेनापति, स्त्री-रत्न, पुरोहित ये सात चेतन रत्न और छत्र, खड्ग, दण्ड, चक्र, काकिणी, चिन्तामणि और चर्म-रत्न ये सात अचेतन रत्न) और छियानवे सहस्र स्त्रियोंका वैभवरूप चक्रवर्तिके साम्राज्य पदकी प्राप्ति सुपात्र-दानका फल जानना चाहिए ॥ १९ ॥ उत्तम कुल, रूप-सौन्दर्य, सुलक्षण, सुवुद्धि, सुशिक्षा, सुशील, सुचारित्र, शुभलेश्या, शुभ नामकर्म, और सुख साता वेदनीय इन सबकी प्राप्ति भी सुपात्र-दानका फल जानना चाहिए ॥ २० ॥ जो गृहस्थ मुनिको भोजन करानेके पश्चात् अव-शिष्ट भोजनको खाता है, वह जिनोपदिष्ट संसारके सार सुखोंको भोगकर क्रमसे मुक्तिके श्रेष्ठ सुखको भोगता है ॥ २१ ॥ पात्रकी शीत-उष्ण प्रकृति, वात, पित्त, कफ प्रकृति, परीषह, व्याधि, कायक्लेश और उपवासको जानकर ही तदनुकूल उन्हें दान देना चाहिए ॥ २२ ॥ मोक्ष-मार्गसे निरत गृहस्थ पात्रके लिए हितकारक, परिमित, अन्न-पान, निर्दोष औषधि, निराकुल स्थान, शयन-आसन और उपकरणका औचित्य देख-भाल कर दान देता है ॥ २३ ॥ जैसे माता-पिता इस लोकमें गर्भस्थ वालककी सावधानीसे रक्षा करते हैं, उसी प्रकार निरालस होकर अनगार–साधुओं-की वैयावृत्य भी श्रावकोंको नित्य करनी चाहिए ॥ २४ ॥ सत्पुरुषोंका दान कल्पवृक्षोंके फलोंकी शोभाके समान सार्थक है । किन्तु लोभी पुरुषोंका दान मृतकके विमान (अर्थी) की शोभाके समान निरर्थक है ॥ २५ ॥ लोभी पुरुष यश कीर्त्ति और पुण्य-लाभके लिए पात्र-अपात्रका विचार न करके जिस किसी भी व्यक्तिको वहुत भी दान देता है, किन्तु सम्यक्त्व आदि सद्-गुणोंके भाजन पात्र-विशेषको नहीं जानता ॥ २६ ॥ जंत्र, मंत्र, तंत्र, परिचर्या, पक्षपात और प्रियवचनकी अपेक्षा पंचम कालमें और इस भरत क्षेत्रमें दिया गया दान मोक्षका कुछ भी कारण नहीं है ॥ २७ ॥ संसारमें दानियोंके दारिद्रय और लोभी पुरुषोंके महान् ऐश्वर्य क्यों होता है ? इन दोनोंका कारण पूर्वोपार्जित कर्मका फल है और वह कर्म जब तक बना रहेगा, तब तक वैसी दशा वनी

घण-घण्णाइसमिद्धे सुहं जहा होइ सव्वजीवाणं। मुणिदाणाइसमिद्धे सुहं तहा तं विणा दु ॥२९
पत्तविणा दाणं य सुपुत्तविणा वहुधणं महाखेत्तं। चित्तविणा वयगुणचारित्तं णिक्कारणं जाणे ॥३०
जिण्णुद्धार पइट्ठा जिणपूजा तित्थवंदण-सेसघणं। जो भुंजइ सो भुंजइ जिणुद्दिट्ठं णिरयगइदुक्खं ॥३१
पुत्तकलत्तविदूरो दालिद्दो पंगु मूक वहिरंधो। चंडालाइकुजाई पूयादाणाइ-दव्वहरो ॥३२
मयहत्थपायणासिय कण्णउरंगुलविहीण दिट्ठीए। जो तिव्वदुक्खमूलो पूयादाणाइ-दव्वहरो ॥३३
खयकुट्ठमूलसूलो लूयभयंदरजलोयरक्खिसिरो। सीदुण्हवाहिराई पूयादाणंतरायकम्मफलं ॥३४
सम्मविसोहीतवगुणचारित्त सण्णाणदाणपरिहीणं। भरहे दुस्समयाले मणुयाणं जायदे णियदं ॥३५

ण हि दाणं ण हि पूया ण हि सीलं ण हि गुणं ण चारित्तं।
जे जइणा भणिया ते णेरइया कुमाणुसा होंति ॥३६
ण वि जाणइ कज्जमकज्जं सेयमसेयं य पुण्ण पावं हि।
तच्चमतच्चं धम्ममधम्मं सो सम्म-उम्मुक्को ॥३७
ण वि जाणइ जोग्गमजोग्गं णिच्चमणिच्चं हेयमुवादेयं।
च्चं भव्वमभव्वं सो सम्म-उम्मुक्को ॥३८
लोइयजणसंगादो होइ मइ-मुहर-कुडिल-दुब्भावो।
लोइयसंगं तम्हा जोइ वि विविहेण मुंचाहो ॥३९

उग्गो तिव्वो दुट्ठो दुब्भावो दुस्सुदो दुरालावो। दुम्मइ-रदो विरुद्धो सो जीवो -उम्मुक्को ॥४०

रहेगी ॥ २८ ॥ वन-धान्यादिसे समृद्ध होने पर जैसे सर्व जीवोंको सुख होता है, उसी प्रकारसे मुनि-दानादिसे समृद्ध होने पर जीवोंको सुख होता है और उसके विना दुःख होता है ॥ २९ ॥ पात्रके विना दान तथा सुपुत्रके विना वहुत धन, और वड़े खेतका होना निरर्थक है, उसी प्रकार मनके विना व्रत, गुण और चारित्र निष्फल जानना चाहिए ॥ ३० ॥ जो मनुष्य जीर्ण धर्मायतनोंके उद्धार, विम्ब-प्रतिष्ठा, जिन-पूजा और तीर्थ-वन्दनाके वचे हुए धनका उपभोग करता है, वह नरकगतिके दुःख भोगता है, ऐसा जिनदेवने कहा है ॥ ३१ ॥ जो मनुष्य पूजा दान आदिके द्रव्यका अपहरण करता है, वह पुत्र-स्त्रीसे रहित, दरिद्री, पंगु, मूक, वहरा, अन्धा और चाण्डाल आदि नीच जातिवाला होता है ॥ ३२ ॥ जो पुरुष पूजा दान आदिके द्रव्यका अपहरण करता है, वह हाथ, पैर, नाक, कान, हृदय, अंगुली और दृष्टिसे विहीन तथा तीव्र दुःखोंका मूल होता है ॥३३॥ क्षय, कुष्ठ, मूल, शूल, लूत (मकड़ी)-जनित रोग, भगन्दर, जलोदर, शीत, उष्ण और व्याधि-समूह ये सव जिन-पूजा और पात्र-दानमें अन्तराय करनेके कर्मका फल हैं ॥ ३४ ॥ इस दुःषम-कालमें भरत क्षेत्रमें मनुष्योंके नियमसे सम्यक्त्वकी विशुद्धि, तप, मूल गुण, चारित्र, सद्-ज्ञान, और दानकी हीनता होती है ॥ ३५ ॥ जिन मनुष्योंके नहीं दान हैं, नहीं पूजा है, नहीं शील है, नहीं गुण है और नहीं चारित्र है, वे मर कर नारकी या कुमानुष होते हैं, ऐसा जिनदेवने कहा है ॥३६॥

जो कर्तव्य-अकर्तव्यको, कल्याण-अकल्याणको, पुण्य-पापको, तत्त्व-अतत्त्वको और धर्म-अधर्मको नहीं जानता है, वह सम्यक्त्वसे रहित है ॥ ३७ ॥ जो योग्य-अयोग्यको, नित्य-अनित्यको, हेय-उपादेयको, सत्य-असत्यको और भव्य-अभव्य (भले-वुरे) को नहीं जानता है, वह मनुष्य सम्यक्त्वसे रहित है ॥ ३८ ॥ मनुष्य लौकिकजनोंके संगसे मति-मुखर (वाचाल), कुटिल, और दुर्भाववाला हो जाता है, इसलिए योगीको भी लौकिकजनोंका संग छोड़ना चाहिए ॥ ३९ ॥ जो मनुष्य उग्र स्वभावी, तीव्र कषायी, दुष्ट, दुर्भाववाला, खोटे शास्त्रका ज्ञाता, खोटा वोलनेवाला, दुर्बुद्धि-

खुद्दो रुद्दो रुट्ठो अणिट्ठ पिसुणो सगव्वियोऽसूयो ।
गायण-जायण-भंडण-दुस्सणसीलो दु सम्म-उम्मुक्को ॥४१

र गद्दह माण गय वग्घ वराह कराह । पक्खि ूय सहाव-णर जिणवरधम्म-विणासु ॥४२

सम्मविणा सण्णाणं सच्चारित्तं ण होइ णियमेणं ।
तो रयणत्तयमज्झे सम्मगुणुक्किट्ठमिदि जिणुद्दिट्ठं ॥४३

तणुकुट्ठी कुलभंगं कुणइ जहा मिच्छमप्पणो वि तहा ।
दाणाइ सुगुणभंगं गइभंगं मिच मेव हो कट्ठं ॥४४

देवगुरुधम्मगुणचारित्तं रमोक्खगइभेयं ।
जिणवयणसुदिट्ठिविणा दीसइ किह जाणए ॥४५

एक्कु खणं ण विचिंतइ मोक्खणिमित्तं णियप्पसहावं ।
अणिसं चिंतइ पावं वहुलालावं मणे विचिंतेइ ॥४६

मिच्छामइमयमोहा मत्तो बोलए जहा भुल्लो । तेण ण जाणइ अप्पा अप्पाणं सम्मभावाणं ॥४७

पुव्वट्ठियं खवइ कम्मं पविसुदु णो देइ अहिणवं कम्मं ।
इह-परलोयमहप्पं देइ तहा उवसमो भावो ॥४८

अज्जवसप्पिणि भरहे पउरारुद्दट्टज्झाणया दिट्ठा । णट्ठा दुट्ठा कट्ठा पापिट्ठा किण्ह-णील-काऊदा ॥४९

अज्जवसप्पिणि भरहे पंचमयाले मिच्छपुव्वया सुलहा ।
सम्मत्त पुव्वसायारऽणयारा दुल्लहा होंति ॥५०

रत, और धर्म विरुद्ध आचरण करता है, वह सम्यक्त्वसे रहित है ॥ ४० ॥ जो पुरुष क्षुद्र, रुद्र, रुष्ट, अनिष्ट, पिशुन, गर्व-युक्त और ईर्ष्यालु है, तथा गायन करनेवाला, याचन करनेवाला, कलह करनेवाला और दोष लगानेवाला है, वह सम्यक्त्वसे रहित है ॥ ४१ ॥ जो मनुष्य वानर, गंधर्व, श्वान, गज, व्याघ्र, वराह (सूकर), कराह (कछुवा), पक्षी और जोंकके समान स्वभाववाले होते हैं, वे जिनेन्द्रके धर्मका विनाश करते हैं ॥ ४२ ॥ सम्यक्त्वके विना नियमसे सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र नहीं होते हैं इसलिए रत्नत्रय धर्मके मध्यमें जिनदेवने सम्यक्त्व गुणको उत्कृष्ट कहा है ॥ ४३ ॥ जैसे कुष्टशरीरी मनुष्य कुलका विनाश कर देता है, उसी प्रकारसे मिथ्यात्व भी अपनी आत्माका विनाश कर देता है । तथा वह दान आदि सुगुणोंका और सुगतिका भी विनाश कर देता है ॥ ४४ ॥ देव, गुरु, धर्म, गुण, चारित्र, तपाचार, मोक्ष, गति-भेद और जिन-वचनको सुदृष्टिके विना कैसे देख सकता है और कैसे सम्यक् प्रकारसे जान सकता है ॥ ४५ ॥

मनुष्य मोक्षके निमित्त एक क्षण भर भी अपने आत्म-स्वभावका चिन्तन नहीं करता है । किन्तु रात-दिन पापका चिन्तन करता रहता है और मनमें बहुत प्रकारके आलाप (मनसूबे या निरर्थक वार्तालाप) सोचता रहता है ॥ ४६ ॥ मिथ्यामति, मद और मोह-मदिरासे उन्मत्त हुआ मनुष्य भूलता-सा बोलता है और इस कारण वह अपने सम्यक् भावोंको नहीं जानता है ॥ ४७ ॥ उपशमभाव पूर्वोपार्जित कर्मका क्षय करता है और नवीन कर्मका आत्मामें प्रवेश नहीं होने देता है, तथा वह इस लोक और परलोकमें माहात्म्य प्रदान करता है ॥ ४८ ॥ आज इस अवसर्पिणी-कालमें और इस भावक्षेत्रमें मनुष्य अत्यधिक रौद्रध्यानी, आर्तध्यानी, नष्ट, दुष्ट, कठोर, पापिष्ठ और कृष्ण, नील, कापोत लेश्यावाले देखे जाते हैं ॥ ४९ ॥ आज इस अवसर्पिणीकालमें, भरतक्षेत्र-

अज्जवसप्पिणि भरहे धम्मज्झाणं पमादरहियो त्ति ।
होदि त्ति जिणुद्दिट्ठं ण हु मण्णइ सो हु कुदिट्ठी ॥५१
असुहादो णिरयाई सुहभावादो दु सग्गसुहमाओ ।
दुह-सुहभायं जाणिय जं ते रुच्चेइ तं कुज्जा ॥५२
हिंसाइसु कोहाइसु मिच्छाणाणेसु पक्खवाएसु । मच्छरिएसु मएसु दुरहिणिवेसेसु असुहलेसेसु ॥५३
विकहाइसु रुद्दट्टज्झाणेसु असुयगेसु दंडेसु । सल्लेसु गारवेसु खाईसु जो वट्टए असुहभावो ॥५४
दव्वत्थिकाय-छप्पण तच्च-पयत्थेसु सत्त-णवएसु । बंधण-मोक्खे तक्कारणरूवे बारसणुवेक्खे ॥५५
रयणत्तयस्सरूवे अज्जाकम्मे दयाइसद्धम्मे । इच्चेवमाइगो जो वट्टइ सो होइ सुहभावो ॥५६
धरियउ बाहिर लिंगं परिहरियउ बाहिरक्खसोक्खं हि ।
करियउ किरियाकम्मं मरियउ जंमियउ बहिरप्पजिऊ ॥५७
मोक्खणिमित्तं दुक्खं वहेइ परलोयदिट्ठि तणुदंडी ।
मिच्छाभावं ण छिज्जइ किं पावइ मोक्खसोक्खं हि ॥५८
ण हु दंडइ कोहाइं देहं दंडेइ कहं खवइ कम्मं । सप्पो किं मुवइ तहा वम्मीए मारिए लोए ॥५९
उवसमतवभावजुदो णाणी सो भावसंजदो होई । णाणी कषायवसगो असंजदो होइ सो ताव ॥६०

में पंचमकालमें मिथ्यात्वपूर्वक गृहस्थ और साधु सुलभ हैं, किन्तु सम्यक्त्वपूर्वक श्रावक और मुनि मिलना दुर्लभ हैं ॥ ५० ॥ आज इस अवसर्पिणीकालमें भरतक्षेत्रमें प्रमाद-रहित धर्मध्यान होता है, ऐसा जिनदेवने कहा है, जो इसे नहीं मानता, वह मिथ्यादृष्टि है ॥ ५१ ॥

अशुभभावसे नरकादिक प्राप्त होता है और शुभभावसे स्वर्ग-सुखादिक प्राप्त है, इस प्रकारसे दुःख और सुखके भावको जानकर जो तुझे रुचे उसे कर ॥ ५२ ॥ जो हिंसादि पापोंमें, क्रोधादि कषायोंमें, मिथ्याज्ञानोंमें, पक्षपातोंमें, मात्सर्य भावोंमें, मदोंमें, दुराग्रहोंमें, अशुभ लेश्याओं-में, विकथादिकोंमें, रौद्र और आर्तध्यानोंमें, असूयादिमें, इन्द्रियोंके विषयरूप दंडोंमें, शल्योंमें, गारवोंमें, ख्याति-प्रतिष्ठादिमें संलग्न रहता है, वह सब अशुभ भाव है ॥ ५३-५४ ॥ जो छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थके जाननेमें, बंध-मोक्षमें उनके कारण आस्रव-संवरमें, बारह अनुप्रेक्षाओंमें, रत्नत्रयके स्वरूपमें, आर्य (श्रेष्ठ) कर्मोंमें, दयादि धर्ममें एवं इसी प्रकारके अन्य प्रशस्त कर्मोंमें लगा रहता है, वह शुभ भाव है ॥ ५५-५६ ॥ बहिरात्मा जीव बाहिरी लिंगको चाहे धारण करे, चाहे बाहिरी इन्द्रियोंके सुखको छोड़े और चाहे बाहिरी क्रिया कर्मोंको करे, फिर भी वह संसारमें जन्म लेगा और मरेगा ही ॥ ५७ ॥

परलोकमें सुख पानेकी दृष्टि रखनेवाला मिथ्यादृष्टि जीव मोक्षके लिए शरीरको कष्ट देता हुआ दुःखको तो सहन करता है, किन्तु मिथ्यात्व भावको नहीं छोड़ता है, फिर वह मोक्षके सुख-को कैसे पा सकता है ? अर्थात् मिथ्यात्वका त्याग किये विना मोक्ष-सुखका पाना असंभव है ॥५८॥ मिथ्यादृष्टि जीव क्रोध आदि कषायोंको तो दंडित नहीं करता है, किन्तु शरीरको कष्ट देता है। फिर वह कर्मका क्षय कैसे कर सकता है। उसी प्रकार क्या लोकमें वांमीको मारने पर साँप क्या मर सकता है, अर्थात् वांमीको कूटने-पीटने पर भी साँप नहीं मर सकता ॥ ५९ ॥ जो ज्ञानी उप-शम भाव और तपश्चरण करनेके भावसे युक्त है, वही भावसंयत (भावलिंगी साधु) है। ज्ञानी पुरुष भी जब तक कषायोंके वशमें रहता है, तब तक वह असंयत (द्रव्यलिंगी) ही रहता है ॥ ६० ॥

णाणी खवेइ कम्मं णाणवलेणेदि वोल्लए अण्णाणी। वेज्जो भेसज्जमहं जाणे इदि णस्सदे वाही ॥६१
पुव्वं सेवइ मिच्छामलसोहणहेउ सम्मभेसज्जं। पच्छा सेवइ कम्मामयणासणचरियसम्मभेसज्जं ॥६२
अण्णाणी विसयविरत्तादो जो होइ सयसहस्सगुणो।
णाणी कसायविरदो विसयासत्तो जिणुद्दिट्ठं ॥६३
विणओ भत्तिविहीणो महिलाणं रोयणं विणा णेहं। चागो वेरग्गविणा एदेदो वारिया भणिया ॥६४
सुहडो सूरत्तविणा महिला सोहग्गरहिय परिसोहा।
वेरग्ग-णाण-संजमहीणा खवणा य किं वि लब्भंते ॥६५
वत्थुसमग्गो मूढो लोही लब्भइ जहा पच्छा।
अण्णाणी जो वि परिचत्तो लहइ तहा चेव ॥६६
वत्थु समग्गो णाणी सुपत्तदाणी फलं जहा लहइ। णाणसमग्गो विसयपरिचत्तो लहइ तहा चेव ॥६७
भू-महिला-कणयाई-लोहाहिविसहरो कहं पि हवे। त-णाण-वेरग्गोसहमंतेण सह जिणुद्दिट्ठं ॥६८
पुव्वं जो पंचेंदियतणुमणुवचि हत्थपायमुंडाउ। पच्छा सिरमुंडाउ सिवगइपहणायगो होइ ॥६९
पतिभत्तिविहीण सदी भिच्चो य जिणभत्तिहीण जइणो।
गुरुभत्तिविहीण सिस्सो दुग्गइमग्गाणुलग्गओ णियमा ॥७०

जो यह कहता है कि ज्ञानी ज्ञानके वलसे कर्मका क्षय करता है, वह अज्ञानी है। मैं वैद्य हूँ और रोग-नाशक औषधिको जानता हूँ, क्या इतने ज्ञानमात्रसे व्याधि नष्ट हो जाती है? अर्थात् नहीं होती है। भावार्थ—जैसे वैद्यको भी अपनी व्याधि दूर करनेके लिए औषधिका सेवन आवश्यक है, उसी प्रकार ज्ञानीको भी कर्म-क्षय करनेके लिए तपश्चरण करना आवश्यक है ॥ ६१ ॥ मिथ्यात्वरूपी मलके शोधन करनेके लिए पहिले सम्यक्त्वरूपी औषधि सेवन करना चाहिए। पीछे कर्मरूपी रोगके नाश करनेके लिए सम्यक् चारित्ररूपी औषधि सेवन करना चाहिए ॥ ६२ ॥ जो अज्ञानी विषयोंसे विरक्त है (किन्तु कषायोंसे विरक्त नहीं है, उसकी अपेक्षा कषायोंसे विरक्त किन्तु विषयोंमें आसक्त ज्ञानी पुरुष सैकड़ों हजारों गुणा श्रेष्ठ है, ऐसा जिनदेवने कहा है ॥ ६३ ॥ आन्तरिक भक्तिके विना ऊपरी विनय, भीतरी स्नेहके विना ऊपरी रोना और अन्तरमें वैराग्य भावके विना वाह्य त्याग ये सव निरर्थक कहे गये हैं ॥ ६४ ॥ शूर-वीरताके बिना सुभट, सौभाग्यसे रहित स्त्रीकी शृंगार-शोभा, तथा वैराग्य, ज्ञान और संयमसे ही तपश्चरण करनेवाले क्षपणक साधु कुछ भी अभीष्ट फल नहीं पाते हैं ॥ ६५ ॥ जैसे धन-धान्यादिक वस्तुओंसे सम्पन्न लोभी मूढ पुरुष वर्तमानमें न भोगकर पीछे उनको भोगनेरूप फलकी इच्छा करता है, उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष वर्तमानमें विषय-सुखका त्याग करके आगामीकालमें उस सुखको पानेकी इच्छा करता है। इस प्रकार ये दोनों ही मूढ़ हैं ॥ ६६ ॥ धन-धान्यादिसे सम्पन्न ज्ञानी सुपात्र-दान देनेवाला पुरुष जैसे वर्तमानमें और भविष्यमें सर्वत्र उत्तम फलको प्राप्त करता है, उसी प्रकार ज्ञान-सम्पन्न और विषयोंका त्यागी दोनों लोकोंमें उत्तम फलको प्राप्त करता है ॥ ६७ ॥ भूमि, महिला, सुवर्ण आदिका लोभरूपी सर्प कैसा भी विषधारक हो, वह सम्यक्त्व, ज्ञान, वैराग्यरूपी औषधि-मंत्रके द्वारा निर्विष हो जाता है, ऐसा जिन भगवान्‌ने कहा है ॥ ६८ ॥

जो मनुष्य पहले पाँचों इन्द्रियोंसे, शरीरसे, मनसे, वचनसे, हाथ और पैरसे मुंडित होता है, अर्थात् इनको पहले अपने वशमें कर लेता है, फिर पीछे शिरसे मुण्डित होता है अर्थात् केश-लोंच करके साधु वनता है, वही पुरुष मोक्षगतिके पथका स्वामी होता है ॥ ६९ ॥ पति-भक्तिसे

गुरुभत्तिविहीणाणं सिस्साणं सव्वसंगविरदाणं । ऊसरखेत्ते ववियं सुवीयसमं जाण सव्वणुट्ठाणं ॥७१
रज्जं पहाणहीणं पतिहीणं देसगामरट्ठवलं । गुरुभत्तिहीण सिस्साणुट्ठाणं णस्सदे सव्वं ॥७२

सम्मत्तविणा रुई भत्तिविणा दाणं दया-विणा धम्मो ।
गुरुभत्तिहीण तवगुणचारित्तं णिप्फलं जाण ॥७३
हीणादाणवियारविहीणादो वाहिरक्खसोक्खं हि ।
किं तजियं किं भजियं कि मोक्खं दिट्ठं जिणुद्दिट्ठं ॥७४
कायकिलेसुववासं दुद्धरतवयरणकारणं जाणं ।
तं णियसुद्धसरुवं परिपुण्णं चेदि कम्मणिम्मूलं ॥७५

●

रहित सती, स्वामि-भक्तिसे रहित सेवक, जिनेन्द्र-भक्तिसे रहित जैन और गुरु-भक्तिसे विहीन शिष्य नियमसे दुर्गतिके मार्ग पर चल रहे हैं ॥ ७० ॥ ऊसर खेतमें वोये गये वीजके समान गुरु-भक्तिसे विहीन सर्व परिग्रहसे रहित भी शिष्योंका तपश्चरणादि सभी अनुष्ठान निष्फल जानना चाहिए ॥ ७१ ॥ जैसे प्रधान-पुरुषके विना राज्य, पतिके विना अर्थात् स्वामीरूप राजाके विना देश, ग्राम, राष्ट्र और सेनाका विनाश होता है, उसी प्रकार गुरु-भक्ति-विहीन शिष्योंके सभी अनुष्ठान विनाशको प्राप्त होते हैं ॥७२॥ सम्यक्त्वके विना रुचि—श्रद्धा, भक्तिके विना दान, दया-के विना धर्म निष्फल है, उसी प्रकार गुरु भक्तिसे रहित शिष्योंके तप, गुण और चारित्र निष्फल जानना चाहिए ॥ ७३ ॥ हेय और उपादेयके विचारसे विहीन वाहरी इन्द्रिय-सुखका त्याग क्या, सेवन क्या, और मोक्ष क्या देखा गया है ? अर्थात् नहीं देखा गया है, ऐसा जिनदेवने कहा है ॥ ७४ ॥ काय क्लेश, उपवास और दुर्धर तपश्चरण ये मोक्षके कारण हैं। किन्तु जब ये निज शुद्ध आत्म स्वरूपसे परिपूर्ण होते हैं, तभी कर्मोंको निर्मूल करने वाला उन्हें जानना चाहिए ॥७५॥

भावार्थ—आत्माके शुद्ध स्वरूपमें स्थित रहते हुए ही व्रत, उपवास, कायक्लेश और दुर्धर तपश्चरण कर्मोंके विनाशक और मोक्षके साधक होते हैं। इसलिए सबसे पहले मनुष्यको अपने शुद्ध आत्म-स्वरूपका ज्ञान और श्रद्धान करना चाहिए और पीछे तपश्चरणादि करना चाहिए।

●

श्री पं० गोविन्दविरचित पुरुषार्थानुशासन-गत श्राव ाचार

अथ तृतीयोऽवसरः

दुर्गादुर्गतिदुःखाब्धि ाज्जन्तूनयं : । धरत्येष ततो धर्म इति प्राज्ञैर्निरुच्यते ॥१
सर्वावयवसम्पूर्णं वपुरू ान्वितम् । तेजःसौभाग्यमारोग्यं यशोविद्याविभूतयः ॥२
ीलवती नारी भक्तिशक्तियुताः सुताः । हर्म्याणि कृतशर्माणि सून्नतानि सितानि च ॥३
शयनमासनं नम् । सौवर्णं स्था च्चोलं सुधास्वादुसदाशनम् ॥४
भोगाः सर्वेऽपि साभोगाः सर्वोऽपि सुजनो जनः । अनपायाः सदोपाया नवा नित्यं महोत्सवाः ॥५
हस्त्यश्वरथपादातच्छत्रचामरसंयुतम् । चक्रित्वं निधिरत्नाढ्यं खचरामरसेवितम् ॥६
त्वं वासुदेवत्वं देवत्वं देवराजता । भास्वरत्वं कान्तिमत्त्वं चाहीन्द्रत्वमहमिन्द्रता ॥७
जगत्क्षोभ र्हत्त्वं सिद्धत्वमपि निर्मलम् । विपुलं प्राप्यते सर्वं धर्मेणैकेन सत्फलम् ॥८
सुन्दरं धर्मतः पापात्सर्वमसुन्दरम् । जायते प्राणिनां शश्वत्ततो धर्मो विधीयताम् ॥९
धर्मो माता पिता धर्मो धर्मो बन्धुर्गुरुः सुहृत् । धर्मः स्वामी नृणां यद्वा धर्मः सर्वसुखङ्करः ॥१०
द्विविधः स भवेद् धर्मोऽनगारागारिगोचरः । साक्षान्मोक्षं ददात्याद्यः पारम्पर्येण तं परः ॥११
मोक्षार्थसाधनत्वेन धर्मं तदनगारिणाम् । पश्चात्तेऽहं प्रणेष्यामि शृणु तावदगारिणाम् ॥१२

यतः यह घोर दुर्गतियोंके दुःखरूप समुद्रमें पड़े हुए प्राणियोंको वहाँसे निकाल कर सुगतिके सुखमें स्थापित करता है, अतः प्राज्ञजन इसे धर्म कहते हैं ॥ १ ॥ सर्व अंग-उपांगोंसे युक्त शरीर प्राप्त होना, रूपवान् होना, बलशाली होना, तेजस्विता, सौभाग्य, आरोग्य, यश, विद्या, विभूति, प्राप्त होना, रूपवती शीलवती स्त्री मिलना, भक्ति और शक्तियुत पुत्र प्राप्त होना, सुखकारी उन्नत श्वेत प्रासाद मिलना, सुन्दर तकियोंसे युक्त शय्या और श्रमको दूर करने वाले आसन मिलना, सुवर्णके थाल-कटोरोंमें अमृतके समान मिष्ट स्वाद वाला सदा भोजन प्राप्त होना, सभी परिपूर्ण भोगोंकी प्राप्ति होना, सभी सुजन स्वजनोंका मिलना, विघ्न-बाधा-रहित सदा अर्थोपार्जनके उपार्जनके उपाय मिलना, नित्य नवीन महोत्सव होते रहना, हस्ती, अश्व, रथ, पदातिरूप चतुरंगिणी सेनासे तथा छत्र-चामरसे युक्त चक्रवर्तीपना, नव निधि और चौदह रत्नोंका स्वामी होना, विद्याधरों और देवोंसे सेवा किया जाना, बलभद्रपना, वासुदेवपना, देवपना, इन्द्रपना, सूर्यके समान देदीप्यमानता, चन्द्रके समान कान्तिपना, धरणेन्द्रपना, अहमिन्द्रपना, जगत्को आनन्द करनेवाला तीर्थङ्करपना, अर्हन्तपना और निर्मल सिद्धपना, ये सभी एक धर्मसे ही प्राप्त होते हैं, ये सभी उस धर्मके ही सत्फल हैं ॥ २-८ ॥ प्राणियोंके जितना भी सुन्दर-इष्ट कार्य होता है, वह सर्व धर्मसे होता है और जितना भी असुन्दर-अनिष्ट कार्य होता है, वह सर्व अधर्मसे होता है, इसलिए मनुष्यको सदा धर्म करते रहना चाहिए ॥ ९ ॥ संसारमें जीवोंका धर्म ही माता है, धर्म ही पिता है, धर्म ही बन्धु है, धर्म ही गुरु है, धर्म ही मित्र है, और धर्म ही स्वामी है। अधिक क्या कहें—धर्म ही सर्व सुखोंका करनेवाला है ॥ १० ॥

वह धर्म दो प्रकारका है—मुनि विषयक और श्रावक विषयक। इनमें आदिका मुनिधर्म मोक्षको साक्षात् देता है और श्रावक धर्म उसे परम्परासे देता है ॥ ११ ॥ चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्षका

त्रिवर्गोऽचतुर्वर्गे गृहिणां याति साध्यताम् । ततस्त्रिवर्गमुख्यत्वाद् गृहिधर्मः पुरोच्यते ॥१३
जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदादेकादशोदिताः । भेदा गृहस्थधर्मस्य प्रतिमाख्याः स्वयम्भुवा ॥१४
यथाशक्ति विधीयन्ते गृहस्थैरनुक्रमागतम् । सुवते न फलं तादृक् यद्विनाऽनुक्रमं कृताः ॥१५
ते सम्यग्दर्शनं पश्चाद् व्रतं सामायिकं ततः । प्रोषधोऽतस्ततस्त्यागः सचित्तस्यारतं[1] दिवा ॥१६
सर्वथा ब्रह्मचर्यं च तथाऽऽरम्भस्य वर्जनम् । परिग्रहानुमत्योश्चोद्दिष्टाहारस्य चेत्यमी ॥१७
तत्र सद्दर्शनं तावत् कथ्यते मूलतामितम् । व्रतादीनां विना येन सन्तोऽप्यन्ये वृथा गुणाः ॥१८
यथा मर्त्येषु सर्वेषु चक्री शक्रः सुधाशिषु । व्रतशीलेषु सर्वेषु मुख्यं सद्दर्शनं तथा ॥१९
सति यस्मिन् ध्रुवं मुक्तिर्जायते ननु यद्विना । जन्मकोटिभिरप्येतदग्र्यं सद्दर्शनं न किम् ॥२०
सुदेवगुरुधर्मेषु भक्तिः सद्दर्शनं मतम् । कुदेवगुरुधर्मेषु सा मिथ्यादृष्टिरुच्यते ॥२१
योऽपरीक्ष्यैव देवादींस्तत्र भक्तिं करोति ना । रीरीं[2] सुवर्णमूल्येन स गृह्णन्निव वञ्च्यते ॥२२
देवादीन्नाममात्रेण यः साक्षादिति मन्यते । संज्ञयैवार्कदुग्धं स भुङ्क्ते गोदुग्धवज्जडः ॥२३
देवः स एव यो दोषैरष्टादशभिरुज्झितः । त्रैलोक्यं यश्च सालोकं व्यक्तं ज्ञानेन पश्यति ॥२४

साधन होनेसे मैं मुनियोंके धर्मका पीछे वर्णन करूँगा । पहिले श्रावकोंके धर्मको कहता हूँ सो सुनो ॥ १२ ॥ धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चतुर्वर्गमेंसे गृहस्थोंके आदिका त्रिवर्ग ही साध्यताको प्राप्त होता है और त्रिवर्गमें धर्म ही मुख्य है, अतः पहिले गृहस्थ-धर्म कहा जाता है ॥ १३ ॥ जघन्य मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे गृहस्थधर्मके प्रतिमा नामक ग्यारह भेद स्वयम्भू श्रीऋषभदेवने कहे हैं । भावार्थ—इन ग्यारह भेदोंमेंसे प्रारम्भके छह भेद जघन्य हैं, मध्यके तीन भेद मध्यम हैं और अन्तिम दो भेद उत्कृष्ट माने गये हैं ॥ १४ ॥

श्रावकके ये ग्यारह भेद अनुक्रमसे ही धारण किये जाते हैं, क्योंकि अनुक्रमसे धारण किये विना ये वैसा अभीष्ट फल नहीं देते हैं, जैसा कि देना चाहिए ॥ १५ ॥ उन ग्यारह भेदोंमें पहिला सम्यग्दर्शन, दूसरा व्रत, तीसरा सामायिक, चौथा प्रोषध, पाँचवाँ सचित्तका त्याग, छठा दिनमें स्त्री-सेवनका त्याग, सातवाँ सर्वथा यावज्जीवन ब्रह्मचर्य, आठवाँ आरम्भका त्याग, नवाँ परिग्रहका त्याग, दशवाँ अनुमतिका त्याग और ग्यारहवाँ उद्दिष्ट आहारका त्याग ये ग्यारह भेद हैं, जिन्हें कि प्रतिमा कहा जाता है ॥ १६-१७ ॥ इनमेंसे सर्वप्रथम व्रत आदि प्रतिमाओंके मूलताको प्राप्त सम्यग्दर्शनको कहा जाता है, जिसके कि विना अन्य सर्व गुण होते हुए भी व्यर्थ या निष्फल जाते हैं ॥ १८ ॥ जिस प्रकार सर्व मनुष्योंमें चक्रवर्ती मुख्य है और अमृत-भोजी देवोंमें शक्र—सौधर्म स्वर्गका इन्द्र मुख्य है, उसी प्रकार सभी व्रत और शीलोंमें सम्यग्दर्शन मुख्य है ॥ १९ ॥ जिस सम्यग्दर्शनके होनेपर मुक्ति नियमसे प्राप्त होती है और जिसके विना कोटि जन्म व्रत-तपश्चरणादि करने पर भी मुक्ति प्राप्त नहीं होती है, फिर वह सम्यग्दर्शन सभी व्रतादिमें अग्रणी या सर्व प्रधान कैसे नहीं है, अर्थात् अवश्य ही है ॥ २० ॥

सुदेव, सद्-गुरु और वीतराग धर्ममें भक्ति सम्यग्दर्शन माना गया है । जिसकी भक्ति कुदेव, कुगुरु और कुधर्ममें होती है वह पुरुष मिथ्यादृष्टि कहा जाता है ॥ २१ ॥ जो मनुष्य विना परीक्षा किये ही देवादिकी भक्ति करता है वह सुवर्णके मूल्यसे पीतलको ग्रहण करता हुआ ठगा जाता है ॥ २२ ॥ जो मनुष्य नाममात्र सुनकर देव-गुरु आदिको मानता है, वह मूर्ख दूधका नाममात्र सुनकर गोदुग्धके स्थान पर आकड़ेका दूध पीता है ॥ २३ ॥ सच्चा देव वही है जो कि अठारह

---

१. दिने मैथुनम् । २. पित्तलाम् ।

अधोमध्योर्ध्वलोकेशाः मन्तिस्म यं । सर्वासा ै भूषितो गुणभू ः ॥२५
दोषाः ु ृष्मदः स्वेदः खेदो जन्म जरा मृतिः ।
आधिर्व्याधी रतिर्निद्रा विषादो विस्मयो भयम् ॥२६
रागिता द्वेषिता मोहश्चेत्यष्टादश भाषिताः । ेसाधारणास्तस्मादेभिर्व्याप्तस्य नाप्तता ॥२७
दोषाभावो गुणाढ्यत्वं ेइयं वीतरागता । कश्चित् स संसेव्यो देवः सन्मार्गनायकः ॥२८
स्वयम्भूः शङ्करो बुद्धः परात्मा पुरुषोत्तमः । वाक्पतिर्जिन इत्य ः पर्यायाः ेर्दशिनः ॥२९

अथ गुरुः--
विकोपो निर्मदोऽमायो विलोभो विजितेन्द्रियः । विज्ञाताशेषतत्त्वार्थः परमार्थपरिष्ठितः ॥३०
दधाति ब्रह्मचर्यं यस्त्रिशुद्धया परदुर्द्धरम् । परीषहसहो धीर उपसर्गेऽपि दारुणे ॥३१
सर्वसङ्गविनिमुक्तः सर्वजन्तुदयापरः । नादत्ते ेथाऽदत्तं निर्ममो नार्वपि ॥३२
अनैहिकफलापेक्ष्यं धर्मं दिशति योऽङ्गिनाम् । प्रासुकं शुद्धमाहारं पाणिपात्रेऽत्ति यो ी ॥३३
आशावासा विमुक्ताशः समो यः सुख-दुः ोः । जीवितव्ये मृतौ लाभेऽलाभे हीनमहीनयोः ॥३४
इत्यादिगुणसम्पन्नो गुरुः स्व-परतारकः । सद्दृष्टिभिर्मान्यो नान्यः स्वान्यप्रतारकः ॥३५

दोषोंसे रहित है और अपने ज्ञानसे अलोक-सहित त्रैलोक्यको व्यक्त रूपसे साक्षात् देखता है ॥२४॥ जिसे सदा ही अधोलोकके स्वामी धरणेन्द्र-असुरेन्द्रादिक, मध्यलोकके स्वामी नरेन्द्र-चक्रवर्ती आदि और ऊर्ध्वलोकके स्वामी इन्द्रादिक नमस्कार करते हैं और जो सभी असाधारण गुणरूप भूषणोंसे आभूषित है, वही सच्चा देव है ॥ २५ ॥ जिसके क्षुधा, तृषा, मद, स्वेद खेद, जन्म, जरा, मरण, आधि, व्याधि, रति, निद्रा, विषाद, विस्मय, भय, राग, द्वेष और मोह ये अठारह दोष नहीं हैं वही सच्चा देव है। ये सर्व जनोंमें पाये जानेवाले साधारण दोष कहे गये हैं। जो इन दोषोंसे व्याप्त है, उस पुरुषके आप्तपना नहीं हो सकता है ॥ २६-२७ ॥ जिसके उक्त दोषोंका अभाव है, लोकोत्तर अतिशय और अनन्त चतुष्टय आदि गुणोंसे सम्पन्नता है, सर्वज्ञता है और वीतरागता है और जो सन्मार्गका नेता है, ऐसा जो कोई भी पुरुष है, वह सच्चा देव है और उसकी ही सम्यक् प्रकारसे सेवा-उपासना करनी चाहिए ॥ २८ ॥ उसी सर्वदर्शीके स्वयम्भू, शंकर, बुद्ध, परमात्मा, पुरुषोत्तम, वाचस्पति (वृहस्पति) और जिन इत्यादि पर्यायवाची नाम हैं ॥ २९ ॥

अब गुरुका स्वरूप कहते हैं—जो क्रोध-रहित है, मद-रहित है, माया-रहित है, लोभ-रहित है, जितेन्द्रिय है, समस्त प्रयोजनभूत तत्त्वोंको जाननेवाला है, परमार्थ जो मोक्ष उसके मार्गमें अवस्थित है, जो परम दुर्धर ब्रह्मचर्यको मन, वचन, कायकी शुद्धिसे धारण करता है, परीषहोंको सहन करता है, भयंकर उपसर्ग आने पर भी धीर वीर है, सर्व परिग्रहसे विनिर्मुक्त है, सर्व जन्तुओंकी दया करनेमें तत्पर है, जो विना दी हुई वस्तुको सर्वथा ग्रहण नहीं करता है, जो अपने शरीरमें भी ममतासे रहित है, जो इस लोक और परलोक फलकी आकांक्षाके विना ही जीवोंको धर्मका उपदेश देता है, जो प्रासुक शुद्ध आहारको पाणि पात्रमें खाता है, इन्द्रियोंको वशमें रखता है, दिशाएँ ही जिसके वस्त्र हैं, अर्थात् दिगम्बर है, आशाओंसे विमुक्त है, सुख और दुःखमें समान है, जीवन-मरणमें, लाभ-अलाभमें और उच्च-नीचमें समभावी है, इत्यादि गुणोंसे जो सम्पन्न है, स्व और परका तारक है, वही सच्चा गुरु है और वही सदा सम्यग्दृष्टियोंके द्वारा मान्य है। किन्तु जो उक्त गुणोंसे रहित है और स्व-परका प्रवंचक है, वह गुरु माननेके योग्य नहीं है ॥ ३०–३५ ॥

अथ धर्मः—

धर्मो जीवदया सत्यमचौर्यं ब्रह्मचारिता । परिग्रहप्रहाणं चेत्यतोऽन्योऽस्यैव विस्तरः ॥३६
यत्र मांसं च भक्ष्यं स्यान्नाभक्ष्यं तत्र किञ्चन । यत्र त्वङ्गिवधो धर्मः पापं स्यात्तत्र किं मतः ॥३७
इत्थं परीक्ष्य ये देवगुरुधर्मानुपासते । ते सम्यग्दृष्टयो मिथ्यादृष्टयोऽन्येऽपरीक्षकाः ॥३८
किं ते द्वे ?
जीवाजीवास्रवा बन्धस्तथा संवर-निर्जरे । मोक्षश्चेत्यर्हतां सप्त तत्त्वान्युक्तानि शासने ॥३९
सम्यग्दर्शनमाम्नातं तेषां श्रद्धानमञ्जसा । तदश्रद्धानमाख्यातं मिथ्यात्वं जगदुत्तमैः ॥४०
तत्त्वानि जिनसिद्धान्ताज्ज्ञेयानि ज्ञैः सविस्तरम् । तन्यते नात्र तद्भेदव्यापना भूयसी यतः ॥४१
पर्याप्तः संज्ञिपञ्चाक्षो लब्धकालादिलब्धिकः । भव्यः स्वतोऽधिगत्या वा सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते ॥४२
तदौपशमिकं पूर्वं क्षायोपशमिकं ततः । क्षायिकं चेति सम्यक्त्वं त्रिविधं योगिनो जगुः ॥४३
उपशान्तासु दुष्टासु प्रकृतिष्वत्र सप्तसु । भवेऽर्धपुद्गलावर्त्ते सत्ये सत्यौपशमिकं भवेत् ॥४४
सम्यक्त्वस्योदये षण्णां प्रशमेऽनुदये सति । क्षायोपशमिकं स्यान्नुः षट्षष्टयब्ध्युत्तमस्थितिः ॥४५
सप्तानां संक्षये तासां क्षायिकं जिनसन्निधौ । भवेत्सम्य माद्ये तु सर्वकालेषु सम्मते ॥४६
पराऽप्यपरा च पूर्वस्य स्थितिरान्तर्मुहूर्त्तिकी । क्षायिकस्य त्रयस्त्रिंशदब्धयः साधिका परा: ॥४७

अब धर्मका स्वरूप कहते हैं—जीवोंको दया करना, सत्य बोलना, चोरी नहीं करना, ब्रह्मचर्य पालना और परिग्रहका त्याग करना यह धर्म है। शेष क्षमा, मार्दव आदि तो इसी धर्मका विस्तार है ॥ ३६ ॥ जहाँ प्राणियोंका घात करना धर्म हो, वहाँ पाप किसे माना जायगा ? जिस मतमें मांस भक्ष्य है, उसमें अभक्ष्य तो कुछ भी नहीं रह जाता है ॥ ३७ ॥ इस प्रकारसे जो परीक्षा करके देव गुरु और धर्मकी उपासना करते हैं, वे सम्यग्दृष्टि हैं। अपरीक्षक अन्य जन हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं ॥ ३८ ॥

उन सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिका क्या स्वरूप है ? ऐसा प्रश्न किये जाने पर ग्रन्थकार उत्तर देते हैं—जीव अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व अर्हन्तोंके शासनमें कहे गये हैं। इनके दृढ़ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा गया है और इनके अश्रद्धानको ही लोकोत्तम पुरुषोंने मिथ्यात्व कहा है ॥ ३९-४० ॥ इन सातों तत्त्वोंको विस्तारके साथ जिन-सिद्धान्तसे जानना चाहिए, इसलिए उनके भेदोंकी बहुत व्याख्या यहाँ नहीं की जाती है ॥ ४१ ॥ पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय और काललब्धि आदिको प्राप्त भव्य जीव स्वतः और अधिगमसे सम्यक्त्वको प्राप्त करता है ॥ ४२ ॥ उस समय सर्वप्रथम औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त करता है, तत्पश्चात् क्षायोपशमिकको और तत्पश्चात् क्षायिक सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। इस प्रकार योगियोंने तीन प्रकारका सम्यक्त्व कहा है ॥ ४३ ॥ चारित्र मोहनीय कर्मकी चार अनन्तानुबन्धी कषाय और तीन दर्शनमोहनीय तीनों प्रकृतियाँ इन सात दुष्ट प्रकृतियोंके उपशान्त होने पर और संसारके अर्ध पुद्गलपरावर्तन काल शेष रह जाने पर ही औपशमिक सम्यक्त्व होता है, इससे पहले नहीं होता ॥ ४४ ॥ सम्यक्त्व प्रकृतिके उदय होने पर और शेष छह प्रकृतियोंके अनुदय रूप उपशम होने पर जीवके क्षायोपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। इसकी उत्कृष्ट स्थिति छयासठ सागरोपम काल है और जघन्य अन्तमुंहूर्तकी है ॥ ४५ ॥ जिनेन्द्रके समीप उक्त सातों प्रकृतियोंके क्षय होने पर क्षायिक-सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। हे सद्बुद्धिशालिन्, आदिके दोनों सम्यक्त्व सभी कालोंमें उत्पन्न होते हैं। प्रथम सम्यक्त्वकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तमुंहूर्तकी है। क्षायिक

केचिद् द्विधैव सम्यक्त्वं साध्य-साधनभेदतः। व्याचक्षुः क्षायिकं तत्र साध्यमन्ये तु साधनम् ॥४८
तुर्यात्सर्वेषु गुणस्थानेषु क्षायिकं प्राच्यमष्टसु। क्षायोपशमि तु स्याच्चतुर्ष्वेव सुद ॥४९
सम्यग्दृष्टिरधःश्वभ्रषट्के स्त्रीष्वखिलास्वपि। भावनव्यन्तरज्योतिर्देवेषु च न जायते ॥५०
तिर्यङ्नरामराणां स्यात् सम्यक्त्वत्रितयं परम्। आद्यमेव द्वयं देव्यस्तिरश्च्यश्चेह बिभ्रति ॥५१

विशेषोऽन्यश्च सम्यक्त्वे भूयान् वाच्योऽस्ति नात्र सः।
मया सन्दर्शितो ज्ञेयः स जैनागमाद् बुधैः ॥५२

सरागं वीतरागं च तदित्यन्ये द्विधा जगुः। धाऽन्यच्च सम्यक्त्वमुक्तमाज्ञादिभेदतः ॥५३
भेदा अन्ये च सन्त्येव सम्यक्त्वस्य जिनागमे। ते तज्जिज्ञासुभिर्ज्ञेयास्ततः सुविस्तराः ॥५४
कृपा संवेगनिर्वेदाऽऽस्तिक्योपशमलक्षणैः। भूषणैरिव सद्-दृष्टिर्भूष्यते पञ्चभिर्गुणैः ॥५५

सम्यक्त्वं दूष्यते शङ्का-काङ्क्षाभ्यां विचिकित्सया।
प्रशंसया कुदृष्टीनां संस्तुत्या चेति पञ्चभिः ॥५६
अथ निःशङ्कितत्वं प्राङ् निःकाङ्क्षत्वमतः परम्।
ततो निर्विचिकित्सत्वं निर्मौढ्यमुपगूहनम् ॥५७

स्थिरीकरणवात्सल्ये शासनस्य प्रभावना। इत्यष्टाङ्गयुतं सूते भूयः श्रेयः सुदर्शनम् ॥५८
अतो लक्षणमेषां च कथ्यतेऽनुक्रमान्मया। सङ्क्षेपाद्दर्शनाङ्गानामष्टानां मुक्तिदायिनाम् ॥५९

सम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक तेतीस सागरकी है। (तथा जघन्य अन्तर्मुहूर्तकी है) ॥ ४६-४७ ॥

कितने ही आचार्य साध्य और साधनके भेदसे सम्यक्त्वको दो ही प्रकारका कहते हैं। उनमें क्षायिकसम्यक्त्व साध्य और शेष दो को साधन कहते हैं ॥ ४८ ॥ चौथे गुणस्थानसे लेकर ऊपरके सभी गुणस्थानोंमें क्षायिकसम्यक्त्व पाया जाता है। प्रथम औपशमिकसम्यक्त्व चौथेसे ग्यारहवें तक आठ गुणस्थानोंमें और क्षायोपशमिक चौथेसे सातवें तक चार गुणस्थानोंमें पाया जाता है ॥ ४९ ॥ सम्यग्दृष्टि जीव नीचेके छह नरकोंमें, सभी जातिकी स्त्रियोंमें, और भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क देवोंसे नहीं उत्पन्न होता है ॥ ५० ॥ तीनों ही सम्यक्त्व तिर्यञ्च, मनुष्य और देवोंमें पाये जाते हैं। आदिके दो सम्यक्त्वोंको ही देवियाँ तिरञ्ची स्त्रियाँ धारण करती हैं ॥५१॥ इस सम्यक्त्वके विषयमें वहुत-सा वक्तव्य है, किन्तु मैंने उसे यहाँ नहीं दिखाया है सो उसे ज्ञानी जन जैन आगमसे जानें ॥ ५२ ॥

कितने ही अन्य आचार्य सम्यक्त्वके सराग और वीतराग इस प्रकारसे दो भेद कहते हैं और कितने आचार्य आज्ञा आदिके भेदसे दश प्रकारका भी सम्यक्त्व कहते हैं। इसी प्रकार अन्य भी अनेक भेद जिनागममें हैं ही। उन्हें विशेष जिज्ञासुजन विस्तारके साथ वहाँसे जानें ॥५३-५४॥ दया, संवेग, निर्वेद, आस्तिक्य और उपशमलक्षणरूप पाँच गुणोंसे भूषणोंके समान सम्यग्दृष्टि भूषित होता है ॥ ५५ ॥ शंका कांक्षा विचिकित्सा मिथ्यादृष्टियोंकी प्रशंसा और उनकी संस्तुति इन पाँचसे सम्यक्त्व दूषित होता है ॥ ५६ ॥

सम्यग्दर्शनके आठ अंग होते हैं—१. निःशंकितत्व, २. निःकांक्षत्व, ३. निर्विचिकित्सत्व, ४. निर्मूढत्व, ५. उपगूहन, ६. स्थिरीकरण, ७. वात्सल्य और ८ जिनशासनकी प्रभावना। इन आठों अंगोंसे संयुक्त सम्यग्दर्शन भारी कल्याणको उत्पन्न करता है ॥ ५७-५८ ॥ इसलिए मैं

सर्वज्ञवीतरागेण तत्त्वमुक्तं सुयुक्ति यत् । तत्तथैवेति धीर्यस्य स हि निःशङ्कितो मतः ॥६०
पूर्वापराविरुद्धेऽर्हन्मते कः शङ्कते सुधीः । परीक्षको मणौ काचशङ्कां कश्चित् करोति किम् ॥६१
सूक्ष्मे स्वागोचरेऽप्यर्थे वक्तृप्रामाण्यतः कृती ।
न शङ्कां कुरुते जातु यः स निःशङ्कितोत्तमः ॥६२
निःशङ्कितत‌याक्षार्थसमर्थनरतोऽपि सन् । चौरः खचारितां लब्ध्वाऽञ्जनोऽजनि निरञ्जनः ॥६३
यस्यैकाङ्गेन चौरोऽपि प्रापेत्यविकलं फलम् । सुदर्शनस्य माहात्म्यं तस्य किं किल कथ्यते ॥६४
(इति निःशङ्किताङ्गत्वम्)

तपोदानार्हदर्चादिकृत्यं कुर्वंश्च यः कृती । नाकाङ्क्षत्यक्षजं सौख्यं स निःकाङ्क्षो बुधैर्मतः ॥६५
तपःप्रभृतिकृत्येन यः काङ्क्षत्यक्षजं सुखम् । स्वीकरोति स रत्नेन वराकः कुवराटकम् ॥६६
योऽनाकाङ्क्षंस्तु सत्कृत्यं कुरुते सुखमक्षजम् ।
सा तस्यानिच्छतोऽप्यग्रे फलं च सुखमक्षयम् ॥६७
दुहितुः प्रियदत्तस्यानन्तमत्या निरेनसः । निःकाङ्क्षायाः कथा वाच्या श्रुतज्ञैरत्र धीधनैः ॥६८
(इति निःकाङ्क्षत्वम्)

मुनेस्तनुं गदव्याप्तां प्रस्वेदाक्तां मलाविलाम् ।
वीक्ष्याजुगुप्सनं मता निर्विचिकित्सता ॥६९

मुक्तिको देनेवाले इन आठों अंगोंका स्वरूप संक्षेपसे क्रमशः कहता हूँ ॥ ५९ ॥ सर्वज्ञ वीतराग देवने जैसा सुयुक्ति-युक्त तत्त्व कहा है, वह वैसा ही है, अन्यथा नहीं है, इस प्रकारकी दृढ़ प्रतीति वाले जीवके मतमें निशंकित अंग माना गया है ॥ ६० ॥ पूर्वापर विरोधसे रहित अर्हन्त देवके मतमें कौन बुद्धिमान् शंका करता है ? क्या कोई परीक्षक मनुष्य मणिमें काचकी शंका करता ? कभी नहीं ॥ ६१ । जो बुद्धिमान् अपने ज्ञानके अगोचर भी सूक्ष्म अर्थमें वक्ताकी प्रमाणतासे कभी भी शंका नहीं करता है, वह निशंकित अंगमें उत्तम है ॥ ६२ ॥ देखो—इन्द्रियोंके समर्थन करने वाले विषयोंमें संलग्न भी अञ्जन चोर निःशंकित गुणके द्वारा आकाशगामिनी विद्याको पाकर अन्तमें निरंजन हो गया ॥ ६३ ॥ जिस सम्यक्त्वके एक अंगके द्वारा चोर भी विशाल फलको प्राप्त हुआ, उस सम्यक्त्वका माहात्म्य क्या कहा जा सकता है ? अर्थात् नहीं कहा जा सकता ॥ ६४ ॥

(इस प्रकार निःशंकित अंगका वर्णन किया)।

तप दान अर्हत्पूजन आदि सत्कार्योंको करता हुआ भी जो कृती पुरुष उसके फलसे इन्द्रिय-जनित सुखको नहीं चाहता है, वह ज्ञानियोंके द्वारा निःकांक्षित अंगका धारक माना गया है ॥६५॥ जो मनुष्य तपश्चारण आदि सत्कृत्य करके उससे इन्द्रिय-जनित सुखको चाहता है, वह दीन मनुष्य रत्नके द्वारा फूटी कौंडीको स्वीकार करता है ॥ ६६ ॥ जो इन्द्रिय सुखकी आकांक्षा नहीं करता हुआ सत्कृत्य करता है, उसके अनाकांक्षा अंग होता है। उसके नहीं चाहते हुए भी अक्षय सुख रूप फल आगे स्वयं प्राप्त होता है ॥ ६७ ॥ इस विषयमें निष्पाप प्रियदत्त सेठकी आकांक्षा-रहित अनन्तमती पुत्रीकी कथा यहाँ पर बुद्धि-धनवाले शास्त्रज्ञोंको कहनी चाहिए ॥ ६८ ॥

(इस प्रकार निःकांक्षत्व अंगका वर्णन किया)।

मुनिके रोग-व्याप्त, प्रस्वेद-युक्त और मलसे लिप्त शरीरको देखकर जो ग्लानि नहीं

स्व ोऽपदुः कायः सप्तधातुमयोऽशुचिः ।
धौतोऽपि संस्कृतोऽप्येष सौन्दर्यं जातु नच्छति ॥७०

कायस्योपकृतिर्येन तेनापकृतिरात्मनः । पकृतिकृत् किञ्चिन्मुनयस्तन्न तन्वते ॥७१
प्राच्यकर्मविपाकोत्थदुष्टकुष्टादिभिर्गदैः । व्याप्त लाचारधारिणां सुन्दरं वपुः ॥७२
न तु स्नानादिश्रृङ्गारसारहारादिभूषणैः । भूरि च वपुः शस्यं दुराचारपराङ्गिनाम् ॥७३
मत्वेति जैनसाधूनां वीक्ष्य रोगार्दितां तनुम् । यथोचितं चिकित्सन्ति भव्याः सुजनो ः ७४
गुणानुरागिणो ये स्युरित्थं निर्विचिकित्सकाः । स्थिरीभवति सम्यक्त्वरत्नं तेषां मनोगृहे ॥७५
मायर्षेयः स्वहस्ताभ्यां प्रत्यैच्छच्छर्दितं स्वयम् । तस्योदायनराजस्य प्राज्ञैर्वाच्याऽत्र सत्कथा ॥७६
(इति निर्विचिकित्सत्वम्)

कुर्वत्यपि जने चित्रं वि न्त्रौषधादिभिः । न मिथ्यादृशि यो रागः सम्मता ऽत्र सा ॥७७
असर्वज्ञेषु देवेषु गुरुष्वक्षसुखार्थिषु । धर्मे च विकृपे लोकश्चेन्न मूढो रमेत कः ॥७८
इन्द्रियार्थरतैः पापैर्हा कुमार्गोपदेशिभिः । प्रियोक्तिभिर्जनो मूढो वञ्च्यतेऽयं वकैरिव ॥७९
शास्त्राभासोदितैरर्थैर्ज्ञात्वेति [यो] न मुह्यति । सम्मतः सन्मतिः सोऽयममूढः प्रौढबुद्धिभिः ॥८०
ब्रह्मचारिणि रूपाणि ब्रह्मविष्ण्वीश्वरार्हताम् । धृत्वाऽऽयातेऽपि याऽनाध्यन्मौढ्यं साऽत्र निदर्शनम् ॥८१
(रेवतीति शेषः । निर्मौढ्यम्)

करना, वह निर्विचिकित्सता मानी गई है ॥ ६९ ॥ यह शरीर स्वभावसे जड़ है, सात धातुओंसे निर्मित है, अपवित्र है। यह जलसे धोने पर और तेल आदिसे संस्कार करने पर भी कभी सौन्दर्य-को प्राप्त नहीं होता है, अर्थात् पवित्र नहीं होता ॥ ७० ॥ जिसने कायका उपकार किया, समझो उसने अपनी आत्माका अपकार किया। इसलिए मुनिगण शरीरके कुछ भी उपकारको नहीं करते हैं ॥ ७१ ॥ पूर्व भव-संचित कर्मके विपाकसे उत्पन्न हुए भयंकर कोढ़ आदि रोगोंसे व्याप्त भी निर्मल चारित्र-धारक मनुष्योंका शरीर सुन्दर ही माना जाता है ॥ ७२ ॥ किन्तु जो दुराचारमें तत्पर हैं, उनका स्नानादि करके श्रृंगार हार, पुष्प आभूषणादिसे भूषित भी शरीर प्रशंसनीय नहीं माना जाता है ॥ ७३ ॥ ऐसा समझ कर जैन साधुओंके रोगसे पीड़ित शरीरको देखकर उत्तम सज्जन भव्य पुरुष यथोचित चिकित्सा करते हैं ॥ ७४ ॥ जो मनुष्य इस प्रकारसे गुणानुरागी होकर ग्लानि-रहित होते हैं, उनके ही मनोगृहमें सम्यक्त्वरत्न स्थिर रहता है ॥ ७५ ॥ मायावी मुनिके वमनसे व्याप्त शरीरको जिसने अपने दोनों हाथोंसे साफ किया, उस उदायन राजाकी कथा यहाँ पर विद्वानोंको कहनी चाहिए ॥ ७६ ॥

(इस प्रकार निर्विचिकित्सा अंगका वर्णन किया)

विद्या मंत्र और औषधि आदिके द्वारा लोगोंके आश्चर्यजनक कार्य करने पर भी जो उस मिथ्यादृष्टिमें राग नहीं करना, वह यहाँ अमूढ़ता मानी गई है ॥७७॥ सर्वज्ञतारहित देवमें, इन्द्रिय-सुखके इच्छुक गुरुओंमें और विकृत-हिंसामयी धर्ममें यदि मूढ़ जन नहीं रमेगा, तो और कौन बुद्धिमान् रमेगा ॥ ७८ ॥ इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त और कुमार्गका उपदेश देनेवाले पापी जनों-के द्वारा हाय, बड़ा कष्ट है कि उनके प्रिय वचनोंसे यह मूढ़ जन ठगा जाता है, जैसे कि बगुलोंसे मूढ़मत्स्य ठगाये जाते हैं ॥ ७९ ॥ ऐसा जान कर मिथ्या शास्त्रों द्वारा प्रकट किये गये अर्थोंसे जो मोहित नहीं होता है, उसे ही प्रौढ़ बुद्धिवाले मनुष्य अमूढदृष्टि सन्मति वाला कहते हैं ॥ ८० ॥ देखो—उस ब्रह्मचारीके द्वारा ब्रह्मा, विष्णु, महेश और जिनेश्वरके रूपोंको धारण करके आने पर

दैवाद्दोषेऽपि सञ्जाते संयतानां महात्मनाम् । तस्याप्रकाशनं यत्तत्प्रणीतमुपगूहनम् ॥८२
मूकत्वैव वरं पुंसां नान्यदोषोक्तिपाटवम् । यशोघातकृतः पापं गरीयः प्राणघातकात् ॥८३
स्वगुणान् परदोषांश्च ब्रुवतः पातकं महत् । परस्तवं स्वनिन्दां च कुर्वतस्तु महान् वृषः ॥८४
यो निन्द्यानपि निन्दन्ति तेऽपि यान्तीह निन्द्यताम् । अनिन्द्यनिन्दकानां तु दुर्गतिर्नापरा गतिः ॥८५
मत्वेति सुकृती कुर्यात्सतां दोषोपगूहनम् । धर्मोपबृंहणं चात्र यः स स्यादुपगूहकः ॥८६
तिरश्चक्रे चुरादोषं यो मायाब्रह्मचारिणः । जिनभक्तस्य तस्यात्र ज्ञैर्वाच्या श्रेष्ठिनः कथा ॥८७

(इत्युपगूहनम्)

मोक्षमार्गात्परिभ्रश्यन्नात्माऽन्यो वा सुयुक्तिभिः । स्थैर्यं यन्नीयते तत्र तत्स्थितीकरणं मतम् ॥८८
भ्रष्टस्य तु ततोऽन्यस्य स्वस्य वा तत्र यत्पुनः । प्रत्यवस्थापनं प्रोक्तं तत्स्थितीकरणं बुधैः ॥८९
परिभ्रश्यार्हदुद्दिष्टान्मोक्षमार्गात्सतो जनान् । पततो दुर्गतौ जातु न दयालुरुपेक्षते ॥९०
येनाऽऽलस्यादिभिर्मार्गभ्रष्टो लोक उपेक्षितः । तस्य दर्शननैर्मल्यं प्रमत्तस्य कुतस्तनम् ॥९१
रिपुभिः कामकोपाद्यैश्चाल्यमानं सुमार्गतः । सुयुक्तिभिः स्थिरीकुर्यात्स्वमन्यं च सुदर्शनः ॥९२
मार्गाद् भ्रश्यति योऽक्षार्थसुखलेशाशया जडः । दुःखपाथोधिनिर्मग्नश्चिरमास्ते स दुर्गतौ ॥९३

भी जो मूढ़ताको प्राप्त नहीं हुई, उस रेवती रानीकी कथा इस अंगमें उदाहरण है ॥ ८१ ॥

(इस प्रकार अमूढदृष्टि अंगका वर्णन किया)

संयमी महापुरुषोंके दैववश किसी दोषके हो जाने पर भी उसे प्रकाशित नहीं करना सो उपगूहन अंग कहा गया है ॥ ८२ ॥ मनुष्योंके गूंगापना अच्छा है, किन्तु अन्यके दोष-कथनमें कुशलता होना अच्छा नहीं है। क्योंकि किसी प्राणीके प्राण-घात करनेकी अपेक्षा उसके यशका घात करना भारी पाप है ॥ ८३ ॥ अपने गुणोंको और दूसरोंके दोषोंको कहनेवाले मनुष्यके महापापका संचय होता है। किन्तु दूसरोंके गुणोंकी प्रशंसा करनेवाले और अपने दोषोंकी निन्दा करनेवाले मनुष्यके महान् धर्म प्रकट होता है ॥ ८४ ॥ जो निन्दा-योग्य भी जनोंकी निन्दा करते हैं, वे इस लोकमें निन्दाको पाते हैं फिर जो निन्दाके योग्य नहीं है, ऐसे उत्तम पुरुषोंकी निन्दा करते हैं उनकी तो दुर्गतिके सिवाय दूसरी गति ही नहीं है ॥ ८५ ॥ ऐसा जानकर सुकृती जनोंको सज्जनोंके दोषोंका उपगूहन करना चाहिए और अपने धर्मका उपबृंहण (संवर्धन) करना चाहिए। वही उपगूहन अंगका धारक है ॥ ८६ ॥ जिसने मायावी ब्रह्मचारीके चोरी करनेके दोषको छिपा दिया, उस जिनभक्त सेठकी कथा ज्ञानियोंको यहाँ पर कहनी चाहिए ॥ ८७ ॥

(इस प्रकार उपगूहन अंगका वर्णन किया)

मोक्षमार्गसे भ्रष्ट होते हुए अपने-आपको अथवा अन्य पुरुषको सुयुक्तियोंके द्वारा जो पुनः मोक्षमार्गमें स्थिर किया जाता है, वह स्थितीकरण अंग माना गया है ॥ ८८ ॥ सन्मार्गसे भ्रष्ट हुए अन्यको, अथवा अपनेको जो पुनः उसमें अवस्थापित किया जाता है, उसे ज्ञानियोंने स्थितीकरण कहा है ॥ ८९ ॥ अर्हद्-उपदिष्ट मोक्षमार्गसे भ्रष्ट होते हुए और दुर्गतिमें गिरते हुए जीवोंकी दयालु पुरुष कभी भी उपेक्षा नहीं करता है ॥ ९० ॥ जो पुरुष आलस्य आदिसे मार्गभ्रष्ट लोगोंकी उपेक्षा करता है उस प्रमत्त पुरुषके सम्यग्दर्शनकी निर्मलता कैसे संभव है ॥ ९१ ॥ सम्यग्दृष्टि जीवको चाहिए कि काम-क्रोधादि अन्तरंग शत्रुओंके द्वारा सुमार्गसे चलायमान अपने आपको और अन्य पुरुषको सुयुक्तियोंके द्वारा पुनः सुमार्गमें स्थिर करे ॥ ९२ ॥ जो मूर्ख मनुष्य

इत्थं पथ्याभिरर्थ्याभिः सूक्तिभिर्यः परं स्थिरम् ।
मार्गे स्वं वा करोति स्यात्स स्थिरीकरणाङ्गभृत् ॥९४
स्थिरीचकार यो मार्गे पुष्पडालमुनिं मुनिः । तस्य श्रीवारिषेणस्य कथा वाच्याऽत्र सत्तमैः ॥९५

(इति स्थिरीकरणम्)

यत्स्वास्थ्यकरणं साराचाराणामनगारिणाम् । गृहिणां च यथायोग्यं तद्वात्सल्यमुदीरितम् ॥९६
आदृतिर्व्यावृतिर्भक्तिः सत्कृत्युपकृती स्तुतिः । भेदा इत्यादयो ज्ञेया वात्सल्याङ्गस्य वत्सलैः ॥९७
सम्यग्दृग्ज्ञानचारित्रतपःसाधुषु साधुषु । धत्ते निर्व्याजबुद्ध्या यो विनयं साऽऽदृतिर्मता ॥९८
आचार्यादिषु यो रोगहरणादिक्रियाविधिः । बुधैर्विधीयतेऽजस्रं व्यावृतिरभिधीयते ॥९९
देवे विरागसर्वज्ञे सूक्तियुक्तियुते श्रुते । योऽनुरागो गुरौ ग्रन्थमुक्ते सा भक्तिरुच्यते ॥१००
निर्ग्रन्थेषु पुलाकादिपञ्चभेदेषु यज्जनैः । क्रियते पूजनं भक्त्या साऽत्र सत्कृतिरिष्यते ॥१०१
स्वयं विद्यार्थसामर्थ्यैः क्रियते यः परेण वा । परस्य यत्प्रतीकार उपकारः स कथ्यते ॥१०२
यदर्हत्सिद्धसूरीशपाठकर्षिगुणावलेः । कीर्तनं क्रियते शश्वत् कृतिभिः सा मता स्तुतिः १०३
इत्यमित्यादिभिर्योगैर्यो वात्सल्यपरो भवेत् । स वत्सलः सुधर्मायामिन्द्रेणापि प्रणूयते ॥१०४
जहाराकम्पनाचार्यसङ्घविघ्नं क्षणेन यः । बलिमन्त्रिकृतं तस्य विष्णोरत्र कथोच्यताम् ॥१०५

(इति वात्सल्यम्)

इन्द्रिय-विषयक सुख-लेशकी आशासे मार्ग-भ्रष्ट होता है, वह दुःखरूप समुद्रमें डूबकर चिरकाल तक दुर्गतिमें पड़ा रहता है ॥ ९३ ॥ इस प्रकारकी पथ्य और अर्थ-पूर्ण सूक्तियोंके द्वारा जो सन्मार्गमें अपने आपको, या परको स्थिर करता है, वह स्थिरीकरण अंगका धारक जानना चाहिए ॥ ९४ ॥ जिसने पुष्पडाल मुनिको मोक्षमार्गमें स्थिर किया, उन श्रीवारिषेण मुनिकी कथा यहाँ पर ज्ञानियोंको कहनी चाहिए ॥ ९५ ॥

(इस प्रकार स्थिरीकरण अंगका वर्णन किया)

जो सारभूत श्रेष्ठ आचरण वाले मुनियोंका और गृहस्थोंका यथायोग्य कुशल-क्षेमका कार्य किया जाता है, वह वात्सल्य कहा गया है ॥ ९६ ॥ आदृति (आदर), व्यावृति (वैयावृत्य), भक्ति, सत्कार, उपकार, और स्तुति (प्रशंसा) इत्यादि सर्वभेद वत्सल पुरुषोंको वात्सल्य अंगको जानना चाहिए ॥ ९७ ॥ सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र और तपके साधक साधुजनों पर जो निश्छल बुद्धिसे विनय रखता है वह आदृति मानी गई है ॥ ९८ ॥ आचार्य, उपाध्याय आदिमें रोगादिके होने पर जो ज्ञानियोंके द्वारा रोग दूर करनेकी नित्य क्रिया विधि की जाती है, वह व्यावृति कही जाती है ॥ ९९ ॥ वीतराग सर्वज्ञ देवमें, सूक्ति और युक्तिसे युक्त शास्त्रमें और परिग्रह विमुक्त गुरुमें जो अनुराग किया जाता है, वह भक्ति कही जाती है ॥ १०० ॥ जो मनुष्योंके द्वारा पुलाक-बकुश आदि पाँच भेद वाले निर्ग्रन्थोंमें भक्तिसे पूजन किया जाता है, वह यहाँ सत्कृति कही गई है ॥ १०१ ॥ जो स्वयं विद्या, धन और सामर्थ्य द्वारा, या दूसरेके द्वारा अन्यका प्रतीकार किया या कराया जाता है वह उपकार कहा जाता है ॥ १०२ ॥ जो अर्हन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधुओंकी गुणावलीका कृतीजन सदा कीर्तन करते हैं, वह स्तुति मानी गई है ॥ १०३ ॥ इस प्रकार इन उपर्युक्त एवं अन्य योगोंसे जो गुणीजनोंपर वात्सल्यका धारक होता है, वह वत्सल पुरुष सुधर्मा सभामें सौधर्म इन्द्रके द्वारा स्तुतिको प्राप्त होता है ॥ १०४ ॥ जिसने बलिमंत्री द्वारा

यस्तपोदानदेवार्चाविद्याद्यतिशयैर्जनैः । क्रियते जिनधर्मस्य महिमा सा प्रभावना ॥१०६
योगमास्थाय तिष्ठन्ति ये हिमर्तौ चतुष्पथे । ग्रीष्मकालेऽद्रिशृङ्गेषु प्रावृड्युच्चतरोरधः ॥१०७
दुर्द्धराद् व्रतभाराद्ये न चाल्यन्ते परीषहैः । पक्षमासान्तरे भोज्यं भुञ्जन्ते शुद्धमेव ये ॥१०८
इत्यादिगुणसम्पन्नैः शासनस्य जिनेशितुः । तैरेव क्रियते घोरैस्तपसा सत्प्रभावना ॥१०९
त्रिविधस्यापि पात्रस्य नयेन विनयेन च । ये सदा ददते दानं ते स्युर्धर्मप्रभावकाः ॥११०
महाव्रतः परं पात्रं मध्यमे स्यादणुव्रतः । जघन्यं तत्सुदृष्टिः स्यात् त्रिविधं पात्रमित्यदः ॥१११
चतुर्धा देयमाहाराभयशास्त्रौषधं मतम् । यथापात्रं परं च स्याद्देयं वस्त्रधनादिकम् ॥११२
पात्रदानं कृपादानं समदानं ततः परम् । परमन्वयदानं चेत्युक्तं दानं चतुर्विधम् ॥११३
चतुर्धा दीयते देयं पात्राय त्रिविधाय यत् । त्रिशुद्धया तद्गुणप्रीत्या पात्रदानं तदिष्यते ॥११४
रोगबन्धनदारिद्रयाऽद्यापद्-व्याप्तिहतात्मनाम् । दीयते कृपया पादानमिहोच्यते ॥११५
पुण्यादिहेतवेऽन्योन्यं गृहस्थैर्यद्वितीर्यते । ताम्बूलाहारवस्त्रादि समदानमभाणि तत् ॥११६
मोक्षायोत्तिष्ठमानो यत्स्वपुत्राय स्वसम्पदम् । दत्ते कुटुम्बपोषायान्वयदानं तदुच्यते ॥११७
तुर्यमंशं परो दत्ते षष्ठं वा स्वस्य मध्यमः । जघन्यो दशमं प्राज्ञैर्दाता चेति त्रिधोदितः ॥११८

किये गये अकम्पनाचार्यके संघके विघ्नको क्षणभरमें दूर किया उन विष्णुकुमार मुनिकी कथा यहाँ पर कहनी चाहिए ॥ १०५ ॥

(इस प्रकार वात्सल्य अंगका वर्णन किया)

जो तप दान देव-पूजा विद्या आदिके अतिशयोंसे लोगोंके द्वारा जिनधर्मकी महिमा की जाती है, वह प्रभावना कही जाती है ॥ १०६ ॥ योग धारण करके जो शीतऋतुमें चतुष्पथ पर स्थित रहते हैं, ग्रीष्मकालमें पर्वतोंके शिखरोंपर और वर्षाकालमें वृक्षके नीचे विराजते हैं, जो परीषहोंके द्वारा दुर्द्धर व्रतभारसे चलायमान नहीं होते हैं। जो पक्ष-मास आदिके अन्तरसे शुद्ध भोजन ही करते हैं, इस प्रकारके तपसे और इसी प्रकाके अन्य गुणोंसे सम्पन्न वीर-वीर पुरुषोंके द्वारा ही जिनेन्द्रदेवके शासनकी सत्प्रभावना की जाती है ॥ १०७-१०९ ॥ जो पुरुष तीन प्रकारके सुपात्रोंको नय और विनयसे सदा दान देते हैं, वे धर्मके प्रभावक हैं ॥ ११० ॥ महाव्रती उत्तम पात्र है, अणुव्रती मध्यम पात्र है और अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है, ये तीन प्रकारके पात्र होते हैं ॥ १११ ॥ इन तीनों प्रकारके पात्रोंको आहार अभय शास्त्र और औषध रूप चार प्रकारका दान देनेके योग्य माना गया है। तथा पात्रके अनुसार अन्य वस्त्र धनादिक भी देना चाहिए ॥ ११२ ॥ तथा पात्रदान, दयादान, समदान और अन्वयदान ये चार प्रकारका और भी दान कहा गया है ॥ ११३ ॥ तीन प्रकारके सुपात्रोंके लिए त्रियोगकी शुद्धिपूर्वक उनके गुणोंमें प्रीतिके साथ जो आहार आदि चार प्रकारका दान दिया जाता है, वह पात्रदान कहा जाता है ॥ ११४ ॥ रोग, बन्धन, दरिद्रता, आपत्ति आदिसे पीड़ित दुःखी जीवोंको जो दयाबुद्धिसे दान दिया जाता है, वह दयादान कहा जाता है ॥ ११५ ॥ पुण्य आदिके हेतु गृहस्थोंके द्वारा परस्पर जो ताम्बूल, आहार वस्त्र आदि दिया जाता है, वह समदान कहा गया है ॥११६॥ मोक्षके लिए उद्यत होता हुआ गृहस्थ जो अपने पुत्रके लिए कुटुम्ब-पोषणार्थ अपनी सम्पदा देता है, वह अन्वयदान कहा जाता है ॥११७॥ जो अपनी आयका चतुर्थांश दानमें देता है, वह उत्तम दाता है, जो षष्ठांश दानमें देता है वह मध्यम दाता है और जो दशम भाग देता है वह जघन्य दाता है इस प्रकारसे ज्ञानियोंने तीन प्रकारके

यो दत्ते बहु तुर्यांशाद्दानशौण्डः स उच्यते । दशमांशादपि स्वल्पं यो दत्ते सोऽल्पदः स्मृतः ॥११९
यथाकालं यथादेशं यथापात्रं यथोचितम् । दानेनेत्थं बुधाः कुर्युः शासनस्य प्रभावनाम् ॥१२०
देवो विरागसर्वज्ञस्तस्यार्चा यैर्महोत्सवात् । क्रियते तैश्च धीमद्भिः स्याद्धर्मस्य प्रभावना ॥१२१
सदाऽर्चाऽऽष्टाह्निकी कल्पद्रुमश्चाथ चतुर्मुखः । इति भेदा जिनार्चायाश्चत्वारो दर्शिता बुधैः ॥१२२
नित्यो नैमित्तिकश्चेति द्विधैवार्हन्महामहः । ग्रन्थान्तरात्परिज्ञेयस्तद्भेदविधिविस्तरः ॥१२३
भक्तैरित्थं यथाशक्ति या देवार्चा विधीयते । त्र जायतेऽनूना जिनधर्मप्रभावना ॥१२४
यद्वक्तृत्व-कवित्वाभ्यां शासनोद्भासनं बुधः । कुरुते कथ्यते विद्याप्रभवा सा प्रभावना ॥१२५
विद्याधरैश्च या विद्यासामर्थ्येन विधीयते । या ज्योतिर्निमित्ताद्यैश्च सा च वि प्रभावना ॥१२६
यथाविभवमित्थं यः कुर्याद्धर्मप्रभावनाम् । सद्-दृष्टेस्तस्य शक्रोऽपि गुणान्नौति मुहुर्दिवि ॥१२७
उर्मिलाया महादेव्या यः समं भ्रामयद् रथम् । तस्य वज्रकुमारस्य बुधैरत्र कथोच्यताम् ॥१२८

(इति प्रभावना)

इत्यष्टाङ्गयुतं सम्यग्दर्शनं स्याद् भवापहम् । भेषजं किन्न वा हन्ति रुजं सद्द्रव्ययोगजम् ॥१२९
कृपासंवेगनिर्वेदनिन्दागर्होपशान्तयः । भक्तिर्वात्सल्यमित्यष्टौ सुदृष्टिर्बिभृयाद् गुणान् ॥१३०
हीन-दीन-दरिद्रेषु वद्धरुद्धेषु रोगिषु । इत्यादिव्यसनार्तेषु कारुण्यं कथ्यते कृपा ॥१३१

दाता कहे हैं ॥ ११८ ॥ जो चतुर्थांशसे भी अधिक धनका दान देता है वह दानशौण्ड (दानशूर या दानवीर) कहा जाता है और जो दशम भागसे भी अल्प दान देता है अल्पदाता कहलाता है ॥११९॥ इस प्रकार ज्ञानियोंको यथाकाल, यथादेश, और यथापात्र यथोचित दान देकरके जिनशासनकी प्रभावना करनी चाहिए ॥ १२० ॥ जो वीतराग सर्वज्ञ देव हैं, उनका जो महान् उत्साहसे बुद्धिमानोंके द्वारा पूजन-विधान किया जाता है वह भी धर्मकी प्रभावना है ॥ १२१ ॥ ज्ञानियोंने पूजनके चार भेद कहे हैं—नित्य पूजा, आष्टाह्निकी पूजा, कल्पद्रुमपूजा और चतुर्मुखपूजा ॥ १२२ ॥ तथा नित्यपूजन और नैमित्तिक पूजन इस प्रकार अर्हत्पूजनके दो भेद भी कहे गये हैं। इन पूजनोंकें विधि विस्तारको और भेदोंको अन्य पूजा ग्रन्थोंसे जानना चाहिए ॥ १२३ ॥ इस प्रकार भक्तजनोंके द्वारा जो यथाशक्ति देवपूजा की जाती है, उसके द्वारा भी जिनधर्मकी भारी प्रभावना होती है ॥ १२४ ॥ तथा जो वक्तृत्वकला, काव्य-कुशलताके द्वारा विद्वज्जन शासनका प्रकाशन करते हैं, वह विद्या-जनित प्रभावना कही जाती है ॥ १२५ ॥ इसी प्रकार विद्याधरोंके द्वारा विद्याओंकी सामर्थ्यसे और ज्योतिष-निमित्त आदिके द्वारा जो प्रभावना की जाती है, वह भी विद्या प्रभावना है ॥ १२६ ॥ इस प्रकार जो अपने विभव और शक्तिके अनुसार धर्मकी प्रभावना करता है, उस सम्यग्दृष्टि गुणोंकी इन्द्र भी स्वर्गमें वार-वार प्रशंसा करता है ॥ १२७ ॥ जिसने उर्मिला महादेवीका रथ एक साथ नगरमें भ्रमण कराया, उस वज्रकुमार मुनिकी कथा यहाँ पर विद्वानोंको कहनी चाहिए ॥ १२८ ॥

(इस प्रकार प्रभावना अंगका वर्णन किया)

इन उपर्युक्त आठ अंगोंसे सहित सम्यग्दर्शन संसारका नाशक होता है। औषधि उत्तम द्रव्यके योगसे क्या रोगका विनाश नहीं करती है? अवश्य ही करती है ॥ १२९ ॥ कृपा संवेग निर्वेद निन्दा गर्हा उपशम भक्ति और वात्सल्य ये आठ गुण सम्यग्दृष्टियोंको धारण करना चाहिए ॥ १३० ॥ हीन दीन दरिद्र जनों पर, किसीके द्वारा बँधे या रोके गये जीवों पर, रोगियों

स संवेगो मतो भीतिर्या दुःखप्रभवाद् भवात् । अनुरागश्च यः सम्यग्देवधर्मागमादिषु ॥१३२
विरक्तिः सामये काये भोगेऽधोगतिकारणे । सर्वासारे च संसारे निर्वेदः प्रतिपाद्यते ॥१३३

अनार्याऽऽचरिते कार्ये स्त्रीपुत्रादिकृते कृते ।
जायते योऽनुतापो नुः सा निन्दाऽवाद्यनिन्दितैः ॥१३४

कामकोपादिभिर्दोषे जाते या सद्गुरोः पुरः । क्रियेताऽऽलोचना तस्य सा गर्हाऽर्हद्भिरीरिता ॥१३५
कारणे सत्यपि रागद्वेषादीनां स्थिते चिरम् । योऽभावो हृदि शान्तास्तामुपशान्ति प्रचक्षते ॥१३६
या सेवा देवराजादिपूजार्हेष्वर्हदादिषु । विधीयते बुधैः शुद्धस्वान्तैः सा भक्तिरुच्यते ॥१३७
उग्ररोगोपसर्गाद्यैः सा र्ये कदर्थिते । तदपायकृतिर्या तद्वात्सल्यं परिलप्यते ॥१३८
सद्-दृष्टिरेभिरष्टाभिर्विशिष्टैर्भूषितो गुणैः । कान्ताया मुक्तिकान्ताया भवत्याशु स्वयंवरः ॥१३९
इत्यादिभिर्गुणैर्युक्तं दोषैर्मौढ्यादिभिश्च्युतम् । सम्यक्त्वं भङ्गिनां सूते वाञ्छितार्थफलोदयम् ॥१४०

ते च के मौढ्यादयो दोषा यैरुज्झितं दर्शनं सम्यगित्याह—

तनं शङ्कादयोऽष्टाष्ट मदं तथा ।
त्रिमौढ्यं चेति दृग्दोषाः सन्त्याज्याः पञ्चविंशतिः ॥१४१

मिथ्यादृग्ज्ञानचारित्रत्रयं तद्धारकास्त्रयः । तत्षट्कसेवनं यत्तत्षडनायतनं मतम् ॥१४२

गुणा निःशङ्कितत्वाद्याः प्रागुक्ता ये सविस्तराः ।
तदभावोऽत्र शङ्काद्या ी दोषाः दिताः ॥ १४३

पर और इसी प्रकार अन्य संकटोंसे पीड़ित जीवों पर करुणाभावको कृपा कहते हैं ॥ १३१ ॥ इस दुःख उत्पन्न करने वाले संसारसे जो भय उत्पन्न होता है और सच्चे देव, धर्म, आगम आदिमें अनुराग होता है वह संवेग माना गया है ॥ १३२ ॥ रोग-युक्त देहमें अधोगतिके कारणभूत भोगोंमें और सर्वथा असार इस संसारसे जो विरक्ति होती है, वह निर्वेद कहा जाता है ॥ १३३ ॥ अनार्य जनोंके द्वारा आचरण किये गये कार्यमें, स्त्री-पुत्रादिके द्वारा किये गये (अथवा अपने ही द्वारा) अनुचित कर्तव्योंमें मनुष्यको जो पश्चात्ताप होता है, उसे उत्तम पुरुष निन्दा कहते हैं ॥ १३४ ॥ काम क्रोध आदिके द्वारा किये दोषके हो जाने पर सद्-गुरुके सामने जो अपनी आलोचना की जाती है, उसे अर्हन्तोंने गर्हा कहा है ॥ १३५ ॥ राग-द्वेषादिके निमित्त चिरकाल तक विद्यमान रहने पर भी उनका हृदयमें अभाव होनेको वीतरागी शान्त पुरुष उपशान्ति या उपशम-भाव कहते हैं ॥ १३६ ॥ इन्द्रादिके द्वारा पूज्य अर्हन्त आदिमें शुद्ध चित्तवाले बुद्धिमानोंके द्वारा जो उपासना की जाती है, वह भक्ति कही जाती है ॥ १३७ ॥ उग्र रोग या घोर उपसर्ग आदिसे साधु-समूहके पीड़ित होने पर उसके दूर करनेका जो उपाय किया जाता है, वह वात्सल्य कहा जाता है ॥ १३८ ॥ जो सम्यग्दृष्टि जीव इन आठ विशिष्ट गुणोंसे विभूषित होता है, वह सुन्दर मुक्ति-रमणीका शीघ्र स्वयं वरण करनेवाला होता है ॥ १३९ ॥ इत्यादि गुणोंसे युक्त और मूढ़ता आदि दोषोंसे रहित सम्यग्दर्शन प्राणियोंके मनोवांछित फलको देता है ॥ १४० ॥

वे मूढता आदि दोष कौन हैं, जिनसे रहित सम्यग्दर्शन मनोवांछित फल देता है ? इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार उन दोषोंका प्रतिपादन करते हैं—

छह अनायतन, शंकादि आठ दोष, आठ मद और तीन मूढता ये पच्चीस दोष हैं, जिनका सम्यग्दृष्टियोंको त्याग करना चाहिए ॥ १४१ ॥ मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र ये तीन और इनके धारक तीन, इन छहोंकी सेवा करनेको छह अनायतन माना गया है ॥ १४२ ॥ जो

जात्यैश्वर्यतपोवि[illegible]रूपशिल्पकुलस्मयाः । अभिमानस्मयश्चेति मदा अष्टौ [illegible]ः ॥१४४
ये पुण्यद्रुमशस्त्रीणां स्त्रीणां वदनपङ्कजे । रागिणो मधुपायन्ते कामेषुक्षतविग्रहाः ॥१४५
विजृम्भज्ज्वलनज्वालाज्वलल्लोचनभीषणाः । द्वेषाद्यैर्घ्नन्ति दैत्यादीनरीमप्यदयालवः ॥१४६
स्वजिज्ञासितमर्थं ये पृच्छन्त्यज्ञाः परानरम् । तृषाव्याप्ताः पिबन्त्यम्भो ये [illegible]न्ति क्षुधाऽशनम् ॥१४७
सर्वसाधारणैर्दोषैरित्याद्यैर्ये कदर्थिताः । तेषु या देवधीर्धीरैर्देव मौ[illegible] तदुच्यते ॥१४८
सूर्यार्घ्यो वटाश्वत्थगोगजाश्वादिपूजनम् । गोमूत्रवन्दनं सिन्धु-सुरसिन्ध्वादिमज्ज[illegible] ॥१४९
मृतानाममृतादीनां दानं स्नानं च सङ्क्रमे । कथ्यते कियतीत्यादिरहो लोकविमूढता ॥१५०
विहितैर्हव्यकव्यार्थं प्राणिघातैर्न पातकम् । भूदेवैस्तर्पितैरत्र पितृतृप्तिः [illegible]ते ॥१५१
प्राक्-कृतादेनसो गङ्गास्नानमात्रेण मुच्यते । सौदामिन्यादियज्ञेषु [illegible]पानादि नाशुभम् ॥१५२
इत्याद्युक्तिकुसिद्धान्ताशिष्टकृत्योपदेशकाः । कुविद्यामन्त्रशक्त्या ये मोहयन्त्यत्र मानवान् ॥१५३
कुतपोभिर्द्वयं जन्म हारितं यैः कुबुद्धिभिः । [illegible] निन्दन्ति ये जैनं [illegible] शर्मकरं नृणाम् १५४
भयाशास्नेहलोभादिहेतोस्तेषां यदादरः । भक्त्या विधीयते तज्ज्ञैः सा मता गुरुमूढता ॥१५५
ज्ञात्वा यैरित्यमी दोषा हीयन्ते [illegible] विंशतिः । तेषां दर्शननैर्मल्यात्सर्वं सिद्धयति वाञ्छितम् ॥१५६

निःशंकित आदि आठ गुण पहले विस्तारसे कहे गये हैं, उनके अभावरूप शंका, कांक्षा आदि आठ दोष यहाँ प्रतिपादन किये जानना चाहिए ॥ १४३ ॥ जातिमद, ऐश्वर्यमद, तपमद, विद्या-मद, रूपमद, शिल्पमद, कुलमद और अभिमानमद ये आठ मद जिनदेवने कहे हैं ॥ १४४ ॥ जो पुण्यरूपी वृक्षके लिए शास्त्रके समान, स्त्रियोंके मुखरूपी कमलमें रागी होकर भौंरोंके समान उनके चारों ओर मँडराते रहते, हैं, कामके बाणोंसे जिनका शरीर विद्ध है, प्रज्वलित अग्निकी ज्वाला-के समान जिनके नेत्र रोषसे भीषण रक्तवर्ण हो रहे हैं और द्वेष आदि कारणोंसे निर्दयी होकर जो दैत्य आदि शत्रुओंका घात करते हैं, जो स्वयं अजानकार होते हुए अपने जिज्ञासित अर्थंको दूसरोंसे पूछते हैं, प्याससे पीड़ित होकर पानी पीते हैं और भूखसे पीड़ित होकर भोजन करते हैं, इस प्रकार जो उक्त दोषोंसे सर्व साधारण जनोंके समान पीड़ित एवं त्रसित हैं, उनमें जो देवबुद्धि होना उसे धीर-वीर पुरुष देवमूढ़ता कहते हैं ॥ १४५–१४८ ॥ सूर्यको अर्घ देना, वड़-पीपल, गौ, गज, अश्व आदिको पूजना, गोमूत्रकी वन्दना करना, समुद्र, गंगा आदिमें स्नान करना, मृत पुरुषोंको अमृत आदिसे श्राद्ध करके दान देना, संक्रान्तिके समय स्नान करना इत्यादि और कितनी बातें कही जावें, ये सब लोकमें प्रचलित मूढ़ता-पूर्ण कार्योंको लोकमूढ़ता कहा जाता है ॥ १४९-१५० ॥ यज्ञमें हवन करनेके लिए वेदविहित प्राणिघातसे पाप नहीं लगता, यहाँ पर ब्राह्मणोंको भोजनादिसे तृप्त करने पर पितरोंको तृप्ति होती है, पूर्वमें किये गये पाप गंगामें स्नान करने मात्रसे छूट जाते हैं, सौदामिनी आदि यज्ञोंमें मद्यपानादि करना अशुभ नहीं है, इत्यादि युक्तियोंके द्वारा खोटे सिद्धान्त और अशिष्ट कार्योंके उपदेश देनेवाले लोग कुविद्या और कुमंत्रोंकी शक्तिसे मनुष्योंको इस लोकमें मोहित करते हैं तथा जिन कुबुद्धि जनोंने खोटे तपोंको करके दोनों जन्मोंका विनाश कर दिया है और जो स्वयं निन्दनीय होते हुए मनुष्योंको सुखकारक जैनधर्मकी निन्दा करते हैं ऐसे कुगुरुओंका भय, आशा, स्नेह और लोभादिके कारण भक्तिसे आदर किया जाता है, उसे ज्ञानी जनोंने गुरुमूढ़ता माना है ॥ १५१–१५५ ॥ जो लोग इन पच्चीस दोषोंको जानकर उनका परित्याग करते हैं, उनके सम्यग्दर्शनकी निर्मलता होती है और उससे उनके सर्व मनोवांछित कार्य सिद्ध होते हैं ॥ १५६ ॥

सुदृशस्तीर्थकर्तृत्वं लभन्ते नारका अपि । यान्ति वृक्षत्वमत्रैत्य कुदृशस्त्रिदशा अपि ॥१५७
संसारे कुर्वतामत्र पञ्चधा परिवर्तनम् । हाऽनादौ कानि दुःखानि नाभूवन् दर्शनं विना ॥१५८
न सम्यक्त्वं विना मुक्तिर्दीर्घकालेऽपि देहिनाम् । मरीचिरत्र दृष्टान्तः ख्यातश्चक्रितनूरुहः ॥१५९
इति कथितविधानं दर्शनं ज्ञाततत्त्वा दधति विधुतदोषा निश्चलं ये स्वचित्ते ।
सुरनरपतिसौख्यं प्राप्य दुःप्रापमन्यैः शिवसुखमृषिसंसद्वल्लभं ते लभन्ते ॥१६०

इति पण्डितश्रीगोविन्दकविविरचिते पुरुषार्थानुशासने
दर्शनप्रतिमाख्योऽयं तृतीयोऽवसरः परः ॥

अथ चतुर्थोऽवसरः

प्रणिपत्याथ वृषभं वृषदेशकम् । गृहस्थानां व्रताख्येयं द्वितीया प्रतिमोच्यते ॥१
शाखादीनि विना मूलं न भवेयुर्यथा तरोः । तथैव न व्रतानि स्युर्विना मूलगुणान् नृणाम् ॥२
था—अष्टौ पलक्षौद्रपञ्चोदुम्बरवर्जनाः ।
गृहिमूलगुणाः प्रोक्ताः शासने श्रीजिनेशिनः ॥३
अर्थनाशो मतिभ्रंशो धर्मध्वंसो यशःक्षयः । यथा क्षणेन जायन्ते सा कथं पीयते सुराः ॥४
न निर्विवेकः न्निर्विवेकस्त्वकृत्यकृत् । त्यकृद्भवेच्छ्वाभ्रः श्वाभ्रो दुःख्येव सन्ततम् ॥५
ः सर्वलक्ष्मीनां सङ्केतः सकलापदाम् । योगो निखिलदोषाणां मद्यपानेन जायते ॥६

सम्यग्दृष्टि नारकी भी वहाँसे निकलकर तीर्थंकरपना प्राप्त करते हैं और मिथ्यादृष्टि देव भी मर कर और इस लोकमें आकर वृक्षपनेको प्राप्त होते है ॥ १५७ ॥ इस अनादि संसारमें पाँच प्रकारके परिवर्तन करते हुए जीवोंके सम्यग्दर्शनके विना हाय-हाय, कौन-कौनसे दुःख प्राप्त नहीं हुए हैं ॥ १५८ ॥ सम्यक्त्वके विना दीर्घ कालमें भी प्राणियोंकी मुक्ति संभव नहीं है। इस विषयमें आदि चक्रवर्तीका पुत्र मरीचिका दृष्टान्त प्रसिद्ध है ॥ १५९ ॥ इस प्रकारसे ऊपर जिसका विधान किया गया है ऐसे सम्यग्दर्शनको जो तत्त्वज्ञानी पुरुष दोष-रहित होकर निश्चल रूपसे अपने हृदय-में धारण करते हैं, वे देवेन्द्रों और नरेन्द्रोंके सुखोंको प्राप्त कर अन्तमें अन्य मतावलम्बियोंके द्वारा दुष्प्राप्य और साधु-परिषद्को प्रिय ऐसे मोक्षके सुखको प्राप्त करते हैं ॥ १६० ॥

इस प्रकार पण्डित श्री गोविन्दकविविरचित पुरुषार्थानुशासनमें दर्शन प्रतिमाका वर्णन करनेवाला तृतीय अवसर समाप्त हुआ।

युगके आदिमें सर्वप्रथम धर्मके उपदेश देनेवाले सर्वज्ञ श्री ऋषभदेवको नमस्कार करके अब व्रत नामकी यह दूसरी प्रतिमा कही जाती है ॥ १ ॥ जिस प्रकार मूलके विना वृक्षकी शाखा आदि नहीं उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार मूल गुणोंके बिना मनुष्योंके व्रत आदि भी नहीं हो सकते हैं ॥ २ ॥ वे मूलगुण इस प्रकार हैं—मद्य, मांस, मधु और पांच उदुम्बर फलोंको खानेका त्याग करना ये आठ मूलगुण जिनेन्द्र देवके शासनमें कहे गये हैं ॥३॥ जिसके पीनेसे धनका नाश, बुद्धि-की भ्रष्टता, धर्मका ध्वंस और यशका क्षय क्षण मात्रमें होता है वह मदिरा लोगोंके द्वारा कैसे पी जाती है ? यह आश्चर्यकी बात है ॥ ४ ॥ मद्य-पानसे मनुष्य विवेक-रहित हो जाता है, विवेक-रहित पुरुष अकृत्योंको करता है, अकृत्योंको करनेवाला नरकमें नारकी रूपसे उत्पन्न होता है और नारकी सदा दुःखी ही रहता है ॥ ५ ॥ मद्य-पानसे सर्व लक्ष्मीका प्रवास हो जाता है, सकल

प्रत्यक्षं सर्वदुःखानि पश्यन्तो पानतः । हा तदेवाऽऽद्रियन्तेऽमी दुर्धियः केन हेतुना ॥७
अभक्ष्यं मन्यते भक्ष्यं मद्यपो जननीं जनीम् । मित्रं रिपुं रिपुं मित्रं श्वमूत्रं रां सुराम् ॥८
अहो भास्वांश्च वारुण्याः योगतोऽधोगतौ गतः । देही मोहग्रहग्रस्तो न जहाति तथापि ताम् ॥९
कबिन्दुजा यान्ति जन्तवो यदि दृश्यताम् । पूरयन्ति तदा विष्टपं नात्र सं : ॥१०
नैव क्षयं जाता यादवास्तादृशोऽपि ते । स्वहितायेति विज्ञाय मद्यं त्यजत धीधनाः ॥११
श्वभ्रे दुः घान्छ्वाभ्रमघं प्राणिवधाद् भवेत् । नाङ्गिघातं विना मांसं सुखार्थी स्त्यजेत् ॥१२
पशोः स्वयम्मृतस्यापि हिंसा मांसाशनाद्भवेत् । तत्र सम्मूर्च्छितानन्तनिगोत सम्भवात् ॥१३
निशम्य यस्य नामापि सन्तो नाश्नन्ति भोजनम् ।
तन्मांसं सन्मतिः कोऽत्ति प्राणान्तेऽपि घृणास्पदम् ॥१४
सर्पिक्षीरेषु मुख्येषु दक्षो भक्ष्येषु सत्स्वपि । भक्षयत्यामिषं कश्चेन्मृत्वा गन्ता न दुर्गतौ ॥१५
केचिद् वदन्ति भाषादिकायो मेषादिकायवत् । जीवयोगाविशेषेण मांसं तथा यतः ॥१६
मांसं स्याज्जीवकायो हि जीवकायस्तु तन्न वा । पिता पुरुष एव स्यात्पुरुषो नाखिलः पिता ॥१७
णयन्ति कुत्रापि येऽत्र मांसाशनं जडाः । प्रमाणयन्तु ते सुखं तत्कर्मपाकजम् ॥१८

आपदाओंके आगमनका संकेत होता है, और समस्त दोषोंका संयोग होता है ॥ ६ ॥ इस प्रकार मद्य-पानसे होनेवाले सभी दुःखोंको प्रत्यक्ष देखते हुए भी दुर्बुद्धि जन किस कारणसे उसका ही आदर-पूर्वक सेवन करते हैं, यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥७॥ मद्य-पायी पुरुष अभक्ष्य वस्तुको भक्ष्य मानना है, माताको स्त्री, मित्रको शत्रु, शत्रुको मित्र, और कुत्तेके मूत्रको मीठी मदिरा मानता है ॥ ८ ॥ अहो, प्रकाशवान् सूर्य भी वारुणी (पश्चिम दिशा और मदिरा) के संयोगसे अधोगतिमें जाता है, अर्थात् अस्तंगत हो जाता है. तथापि मोहरूप ग्रहसे ग्रसित प्राणी उसे नहीं छोड़ता है ? यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥ ९ ॥ यदि मद्यकी एक बिन्दुमें उत्पन्न होनेवाले जीव दृश्यरूपको धारण करें तो समस्त संसारको पूरित कर देवें, इसमें कोई संशय नहीं है ॥ १० ॥ देखो—उस प्रकारके बलशाली प्रसिद्ध यादव लोग भी मद्यपानसे ही क्षयको प्राप्त हुए हैं, ऐसा जानकर बुद्धिरूपी धनवाले पुरुषोंको अपने हितके लिए मद्यपान छोड़ देना चाहिए ॥ ११ ॥

प्राणिघातसे पाप होता है, पापसे नरक मिलता है और नरकमें दुःख प्राप्त होता है । तथा प्राणिघातके बिना मांस उत्पन्न नहीं होता है, अतः सुखके इच्छुक मनुष्यको मांस-भक्षण छोड़ना चाहिए ॥ १२ ॥ स्वयं मरे हुए भी पशुके मांसको खानेसे भी हिंसा होती है, क्योंकि उस मांसमें उत्पन्न होनेवाले सम्मूर्छिम अनन्त निगोदिया जीवोंका विनाश होता है ॥ १३ ॥ जिसका नाम भी सुनकर सन्त पुरुष भोजन भी नहीं करते हैं, ऐसे घृणास्पद उस मांसको प्राणान्त होने पर भी कौन सुबुद्धिवाला पुरुष खायगा ? कोई भी नहीं ॥ १४ ॥ घी-दूध आदि उत्तम भक्ष्य पदार्थोंके रहते हुए भी यदि कोई मांसको खाता है, तो वह मर कर दुर्गतिमें नहीं जायगा ? अवश्य ही जायगा ॥ १५ ॥ कितने ही कुतर्की कहते हैं कि मेषा आदिके कायके समान उड़द, राजमाष आदिका काय भी है, क्योंकि जीवका संयोग दोनोंमें समान है, फिर उड़द-राजमाषा आदिके समान मांस खानेमें क्या दोष है ? ग्रन्थकार कहते हैं कि तर्क ठीक नहीं है, क्योंकि मांस तो जीवका काय है, किन्तु जो जीवका काय हो, वह मांस हो, ऐसा नियम नहीं है । देखो—किसीका भी पिता तो पुरुष ही होगा । सभी पुरुष किसी एक व्यक्तिके पिता नहीं होते हैं ॥ १६-१७ ॥ जो मूढजन यहाँ

जातु शीलादिमाहात्म्याद्यात्वग्निरपि शीतताम् । मांसाशनाज्जनः कश्चिन्न सुखी जातु जायते ॥१९
क्षुद्रुगादिप्रतीकारहेतोर्यो मांसमत्त्यधीः । स सुखाय करोतीह कण्डूकण्डूयनं नखैः ॥२०
मांसत्यागान्नृणां पुण्यं पुण्यतः सुगतिर्भवेत् । सुखं तत्र ततः कार्यो मांसत्यागः सुखार्थिभिः ॥२१

मक्षिकाण्डविमर्दोत्थं तल्लालामलमिश्रितम् ।
म्लेच्छोच्छिष्टीकृतं कोऽत्र दक्षो भक्षति माक्षिकम् ॥२२

यद्विन्दुभक्षणात्पापं ग्रामसप्तकदाहजम् । कथं तदपि शंसन्ति श्राद्धादौ मधु दुर्धियः ॥२३
यो मध्वत्त्यौषधत्वेन सोऽपि गच्छति दुर्गतिम् । रसमाधुर्यलाम्पटचाद्‌भक्षतस्तु किमुच्यते ॥२४
यदि कण्ठगतप्राणैर्जीव्यते मधुभक्षणात् । तथापि सावद्यं दक्षैर्भक्ष्यं न माक्षि ॥२५
फलानि च वटाश्वत्यप्लक्षोदुम्बरभूरुहाम् । ज्ञैः काकोदुम्बरस्यापि हातव्यानि व्रतोद्यतैः ॥२६
त्रसानां भूयसां तेषु भक्षितेषु क्षयो भवेत् । ततः स्यात्पातकं श्वभ्रपातकं तानि तत्त्यजेत् ॥२७
स्वयम्मृतत्रसानि स्युस्तानि चेत्तदपि त्यजेत् । तद्‌भक्षणेऽपि हिंसा स्याद्यतो रागादिसम्भवात् ॥२८
खाद्यान्यप्यनवद्यानि त्यजन्ति विजितेन्द्रियाः । दुःखदान्यथ खाद्यानि मन्दाः खादन्ति केचन ॥२९
किम्पाकफलतुल्यं ये फलमौदुम्वरं विदुः । मेरुं सिद्धार्थतुल्यं ते ब्रुवन्तो न जडाः ः ॥३०

कहीं पर मांस-भक्षणको खाने योग्य प्रमाणित करते हैं, इन लोगोंको मांस-भक्षण-जनित कर्मके विपाक-जनित सुख भी नरकमें प्रमाणित करना चाहिए॥ १८ ॥ कदाचित् शील आदिके माहात्म्यसे अग्नि भी शीतलताको प्राप्त हो जावे, किन्तु मांस-भक्षणसे कोई भी मनुष्य कभी भी सुखी नहीं हो सकता है ॥ १९ ॥ जो कुवुद्धि जन भूखको, या रोग आदिको शान्त करनेके हेतुसे मांसको खाते हैं, वह इस लोकमें सुख पानेके लिए नखोंसे खुजलीको खुजलाते हैं ॥ २० ॥ मांसके त्यागसे मनुष्योंको पुण्य प्राप्त होता है, पुण्यसे सुगति मिलती है और सुगतिमें सुख प्राप्त होता है। अतः सुखार्थी जनोंको मांसका त्याग कर देना चाहिए ॥ २१ ॥

मधु मक्खियोंके संमर्दनसे उत्पन्न होता है, वह उनकी लार और मलसे मिश्रित होता है और उसे लाने वाले म्लेच्छ जनोंसे उच्छिष्ट कर दिया जाता है, ऐसे मधुको कौन चतुर पुरुष खाता है ? कोई भी नहीं ॥ २२ ॥ जिस मधुकी विन्दुमात्रके भक्षणसे सात ग्रामोंके जलाने जितना पाप होता है, उस मधुको दुर्बुद्धि जन श्राद्ध आदिमें खानेकी वात कैसे कहते हैं, यह आश्चर्यकी वात है ॥ २३ ॥ जो औषधि रूपसे भी मधुको खाता है, वह भी दुर्गतिको जाता है। फिर जो मधुर रसकी लम्पटतासे खाता है, उसकी दुर्गतिको क्या कहा जा सकता है ॥ २४ ॥ यदि मधुके भक्षणसे कण्ठ-गत प्राणवाले भी पुरुष जीवित होते हैं, तो भी सर्व पापरूप मधु दक्ष पुरुषोंको नहीं खाना चाहिए ॥ २५ ॥ व्रत-धारण करनेके लिए उद्यत ज्ञानी पुरुषोंको वड़, पीपल, प्लक्ष, उदुम्वर और काकोदुम्वरके फलोंका भक्षण छोड़ देना चाहिए ॥ २६ ॥ क्योंकि उन उदुम्वरफलोंके भक्षण करने पर भारी त्रस जीवोंका विनाश होता है, उससे पाप-संचय होता है और उससे नरकमें पतन होता है, इसलिए उन फलोंका खाना छोड़ देना चाहिए ॥ २७ ॥ यदि उक्त फलोंके सूख जाने पर उनके जीव स्वयं ही मर जावें, तो भी उन सूखे फलोंको नहीं खाना चाहिए, क्योंकि रागभावकी अधिकता होनेसे उनके भक्षणमें भी हिंसा होती है ॥ २८ ॥ जितेन्द्रिय पुरुष तो निर्दोष, भक्षण करनेके योग्य ऐसे भी पदार्थोंके खानेका त्याग करते हैं। किन्तु मन्द वुद्धि कुछ लोग दुःख देनेवाले भी उनको खाद्य मान कर खाते हैं ॥ २९ ॥ जो लोग किम्पाक फलके समान उदुम्वर फलोंको कहते हैं, वे मेरुपर्वतको सरसोंके समान वोलते हुए मूर्खोंके सदृश भी नहीं हैं।

नवनीतमपि त्याज्यं तद्बुधैः शुद्धबुद्धिभिः । अनन्ता जन्तवो यत्र जायन्तेऽन्तर्मुहूर्त्ततः ॥३१
सकलं क्रमुकं हट्टचूर्णं शाकाद्यशोधितम् । अज्ञातमन्नमज्ञातफलं च पलदोषकृत् ॥३२
क्षीराद्यज्ञातिपात्रस्थं नीरं प्रातरगालितम् । दधितक्रारनालं च द्विदिनं मद्यदोषकृत् ॥३३
विद्धं रूढं गतस्वादं हेयमन्नं च पुष्पितम् । आमाभ्यां दधि-तक्राभ्यां संयुक्तं द्विदलं त्यजेत् ॥३४
शिम्बयः स । विल्वफलं नीली कलिङ्गकम् । समच्छेदानि पत्राणि त्याजानि सकलान्यपि ॥३५
जन्तुजाताकुलं सर्वं पत्र-पुष्प-फलादिकम् । कन्दाश्चार्द्राः परित्याज्याः परलोकसुखार्थिभिः ॥३६
न चर्मपात्रगान्यत्ति सुदृक् तैल-घृतान्यपि । पिबत्यम्भस्तु यस्तद्गं तस्य स्यान्नैव दर्शनम् ॥३७
श्चित्तादिशास्त्रेभ्यो भक्ष्याभक्ष्यविधिं बुधाः । ज्ञात्वा सर्वाण्यभक्ष्याणि मुञ्चन्तु व्रतशुद्धये ॥३८
मांसाऽऽर्द्रचर्मास्थिप्रत्यक्ष्यङ्गिवधासृजाम् । वीक्ष्य त्यक्तान्नभुक्तिश्च गृहिभोजनविघ्नकृत् ॥३९
द्यूतमांससुरावेश्याचौर्याऽऽखेटान्ययोषिताम् । सेवनं यद्बुधैस्तच्च हेयं व्यसनसप्तकम् ॥४०
यः सप्तस्वेकमप्यत्र व्यसनं सेवते कुधीः । श्रावकं स्वं ब्रुवाणः स जने हास्यास्पदं भवेत् ॥४१
सेवितानि त्सप्त व्यसनान्यत्र सप्तसु । नयन्ति नरकेष्वेव तान्यतः सन्मतिस्त्यजेत् ॥४२
द्यूतेन पाण्डवाः नष्टा नष्टो मांसासनाद्बकः । न यादवाः नष्टाश्चारुदत्तश्च वेश्यया ॥४३
चौर्याच्छ्रीभूतिराखेटाद् ब्रह्मदत्तः परस्त्रियाः । रागतो रावणो नष्टो मत्वेत्येतानि सन्त्यजेत् ॥४४

अर्थात् उनसे भी अधिक मूर्ख हैं ॥ ३० ॥

शुद्ध बुद्धिवाले विद्वानोंको नवनीत-भक्षण भी छोड़ना चाहिए, क्योंकि उसमें अन्तर्मुहूर्तमें ही अनन्त जीव उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ३१ ॥ इसी प्रकार सर्व प्रकारकी सुपारी, हाट-बाजारका चूर्ण, अशोधित शाक आदि, अज्ञात अन्न, अज्ञात फल, इनका भक्षण भी मांसके दोषोंको करनेवाला है ॥ ३२ ॥ अजान जातिके पात्रमें स्थित दूध आदि, प्रातःकाल नहीं छाना हुआ जल, दो दिनका दही छांछ और कांजी मद्यके दोषोंको करती है ॥ ३३ ॥ घुना हुआ, अंकुरित हुआ, स्वाद चलित, और पुष्पित अन्न भी हेय है । तथा कच्चे दही और छांछसे संयुक्त दो दलवाला अन्न-भक्षण भी छोड़ना चाहिए ॥ ३४ ॥ सभी प्रकारकी सेम फली आदि, विल्वफल, नीली, कलींदा और समान छेद होनेवाले सभी पत्र-शाक भी त्यागना चाहिए ॥ ३५ ॥ जीव-जन्तुओंसे व्याप्त सर्व पत्र, पुष्प और फलादिक, तथा गीले कन्दमूल भी परलोकमें सुखके इच्छुक जनोंको छोड़ देना चाहिए ॥ ३६ ॥ सम्यग्दृष्टि जीव चर्मके पात्रमें रखे हुए तेल, घी को भी नहीं खाता है और चमड़ेमें रखा पानी भी नहीं पीता है । जो ऐसे पानीको भी पीता है, उसके सम्यग्दर्शन नहीं है, ऐसा समझना चाहिए ॥ ३७ ॥ ज्ञानी जनोंको चाहिए कि प्रायश्चित्त आदि शास्त्रोंसे भक्ष्य और अभक्ष्यकी विधिको जानकर अपने व्रतकी शुद्धिके लिए सभी प्रकारके अभक्ष्योंको छोड़ देवें ॥ ३८ ॥

मद्य, मांस, गीला चर्म, हड्डी, प्रत्यक्षमें प्राणिवध और रक्त इनको देखकर, तथा त्यागे हुए अन्नका भोजन करना भी गृहस्थके भोजनमें अन्तराय करनेवाला होता है ॥ ३९ ॥ द्यूत, मांस, मदिरा, वेश्या, चोरी, शिकार और अन्यकी स्त्रियोंका सेवन ये सात व्यसन भी ज्ञानियोंको छोड़ना चाहिए ॥ ४० ॥ जो कुबुद्धि यहाँ पर एक भी व्यसनका सेवन करता है, वह अपनेको श्रावक कहता हुआ लोगोंमें हास्यका पात्र होता है ॥ ४१ ॥ इस लोकमें क्रमसे सेवन किये गये व्यसन परलोकमें सातों ही नरकोंमें ले जाते हैं, इसलिए सुबुद्धिवाले पुरुषको उनका त्याग ही करना चाहिए ॥ ४२ ॥ द्यूतसे पांडव नष्ट हुए, मांस-भक्षणसे बकराजा नष्ट हुआ, मद्यसे यादव

न्यय जिघृक्षन्ति ये शुद्धानि सुबुद्धयः । ते मांसाशनवन्निन्द्यं प्राङ् मुञ्चन्तु निशाशनम् ॥४५
निशाशनं कथं कुर्युस्तत्सन्तः सर्वदोषकृत् । यत्र मृद्वालजन्त्वाद्या नेक्षन्ते पतिता अपि ॥४६
प्रातर्घटीद्वयादूर्ध्वं प्राक् सन्ध्याघटिकाद्वयात् । भुञ्जतः शुद्धमाहारं स्यादनस्तमितव्रतम् ॥४७
व्रतस्यास्य प्रभावेन जातं प्रीतिङ्करं मुनिम् । पश्यामुं श्रेणिकाध्यक्षं तिर्यक्त्वान्मोक्षगामिनम् ॥४८
इत्थं मूलगुणैर्युक्तः सप्तव्यसनवर्जितः । अरात्रिभोजनो भव्यो व्रतादानोचितो भवेत् ॥४९
जीवघातादसत्याच्च चौर्यादब्रह्मचर्यतः । परिग्रहाच्च सर्वज्ञैर्विरतिर्व्रतमुच्यते ॥५०
यः सर्वविरतिस्तेभ्यः कथ्यते तन्महाव्रतम् । तच्छास्त्रान्ते प्रवक्ष्यामि सङ्क्षेपान्मोक्षकारणम् ॥५१
या देशविरतिस्तेभ्यस्तदणुव्रतमिष्यते । धर्तव्यं तत्प्रयत्नेन गार्हस्थ्येऽपि मुमुक्षुभिः ॥५२
प्राणिरक्षात्परं पुण्यं पापं प्राणिवधात्परम् । ततः सर्वव्रतानां प्रागहिंसाव्रतमुच्यते ॥५३
सन्त्येवान्यानि सत्यस्मिन् व्रतानि सकलान्यपि । न चासत्यत्र जायन्ते मुख्यमेतद्धि तेषु तत् ॥५४
विधेया प्राणिरक्षैव सर्वश्रेयस्करी नृणाम् । धर्मोपदेशः सङ्क्षेपो दर्शितोऽयं जिनागमे ॥५५
वदन्ति वादिनः सर्वे भूतघातेन पातकम् । तमेव हव्यकव्यादि वा दिशन्ति च दुर्धियः ॥५६
स्वाङ्गे छिन्ने तृणेनापि यस्य स्यात्महती व्यथा । परस्याङ्गे स शस्त्राणि पातयत्यदयः कथम् ॥५७

नष्ट हुए, वेश्यासे चारुदत्त सेठ विनष्ट हुआ, चोरीसे श्रीभूति मारा गया, शिकारसे ब्रह्मदत्त विनाशको प्राप्त हुआ और परस्त्रीके रागसे रावण नष्ट हुआ। ऐसा जानकर इन सभी व्यसनों-का त्याग करना चाहिए ॥ ४३-४४ ॥

जो सद्-बुद्धि पुरुष शुद्ध व्रतोंको धारण करनेकी इच्छा करते हैं, उन्हें मांस-भक्षणके समान निन्द्य रात्रि-भोजन भी पहिले ही छोड़ देना चाहिए ॥ ४५ ॥ जिस रात्रिमें भोजनमें गिरे हुए वाल, मिट्टी और छोटे प्राणी आदि नहीं दिखाई देते हैं, उस सर्वदोषकारक रात्रि भोजनको सज्जन पुरुष कैसे करेंगे ? नहीं करेंगे ॥ ४६ ॥ प्रातःकाल दो घड़ी सूर्योदयके पश्चात् और सन्ध्यासमय दो घड़ीसे पूर्व ही शुद्ध भोजन करनेवाले पुरुषके अनस्तमित व्रत होता है ॥ ४७ ॥ इस व्रतके प्रभावसे हे श्रेणिक, तिर्यंचयोनिसे आये हुए, मोक्षगामी इस प्रीतिकर मुनिको प्रत्यक्ष देखो ॥ ४८ ॥

इस प्रकार मूलगुणोंसे युक्त, सप्त व्यसन-सेवनसे रहित और रात्रिमें भोजन नहीं करनेवाला भव्य पुरुष श्रावकके व्रत ग्रहण करनेके योग्य होता है ॥ ४९ ॥ जीव-घातसे, असत्य वोलनेसे, चोरी करनेसे, मैथुन-सेवनसे और परिग्रहसे विरतिको सर्वज्ञदेवने व्रत कहा है ॥ ५० ॥ उक्त पाँचों पापोंसे जो सर्वथा विरत्ति है, वह महाव्रत कहा जाता है। महाव्रतको (पुरुषार्थानुशासन) शास्त्रके अन्तमें मोक्षका कारण होनेसे संक्षेपसे कहूँगा ॥ ५१ ॥ उक्त पापोंसे जो एकदेश विरति होती है, वह अणुव्रत कहा जाता है। उन्हें मुमुक्षुजनोंको गृहस्थ अवस्थामें प्रयत्नके साथ धारण करना चाहिए ॥ ५२ ॥ प्राणि-रक्षासे परम पुण्य होता है और प्राणि-घातसे महापाप होता है, इसलिए सर्वव्रतोंसे पूर्वमें अहिंसाव्रत कहा जाता है ॥ ५३ ॥ इस अहिंसाव्रतके होने पर अन्य सर्व व्रत होते ही हैं और इसके नहीं होने पर अन्य व्रत नहीं होते हैं, अतः यह अहिंसा व्रत उन सर्व व्रतोंमें मुख्य है ॥ ५४ ॥ सर्व कल्याण करने वाली यह प्राणि-रक्षा मनुष्योंको सदा करनी ही चाहिए, यह जिनागममें संक्षेपसे धर्मका उपदेश दिखाया गया है ॥ ५५ ॥ सभी अन्य वादी लोग जीव-घातसे पाप कहते हैं, फिर भी वे दुर्बुद्धि उसी को यज्ञादिमें हवन करनेका उपदेश देते हैं ॥ ५६ ॥ जिसके अपने शरीरमें तृणसे भी छिन्न-भिन्न होने पर भारी पीड़ा होती है, वह परके शरीरमें निर्दय

स्थावरान् कारणेनैव निघ्नन्नपि दयापरः । यस्त्रसान् सर्वथा पाति सोऽहिंसाणुव्रती स्मृतः ॥५८
रूपसौन्दर्यसौभाग्यं स्वर्गं मोक्षं च सत्सुखम् । दयैकैव नृणां दत्ते सदाचारैरलं परैः ॥५९
भोजने शयने याने सदा यत्नपरो भवेत् । त्रसरक्षापरो धीरः प्रमत्तस्य कुतो व्रतम् ॥६०
प्रेषणी गर्गरी चुल्लीत्यादिजं शोधयेदघम् । प्रायश्चित्तेन नान्यस्मै दद्यादग्न्यादि िं न ॥६१
क्वचित्कथञ्चित्कस्मैचित्कदाचित् त्रसहिंसनम् । न कुर्यादात्मनो वाञ्छेद्यदि लोकद्वये सुखम् ॥६२
युक्तिं जैनागमाद् बुद्ध्वा रक्षायाः सत्त्वसन्ततेः । अप्रमत्तः सदा कुर्यान्मुमुक्षुस्त्रसरक्षणम् ॥६३
हेया वन्धो वधच्छेदोऽतिभारारोपणं तथा । अन्नपाननिरोधश्चेत्यतीचारा दयालुभिः ॥६४
यशोधरनृपो मातुश्चन्द्रमत्या दुराग्रहात् । हत्वा देव्याः पुरः शान्त्यै कुक्कुटं पिष्टिनिर्मितम् ॥६५
अभूत् केकी मृगो मत्स्यो द्विश्छागः कुर्कुटस्ततः । दयाभावादभूद् भूयोऽभयरुच्यभिधः सुधीः ॥६६
ततोऽभूत्तपसेशाने त्रिदशः परमर्द्धिकः । इत्थं कथामसूं ख्यातां वेत्ति प्रायोजनोऽखिलः ॥६७
प्राणिघातभवं दुःखं सत्त्वरक्षोद्भवं सुखम् । न कियन्तोऽत्र सम्प्रापुः सुप्रसिद्धा जिनागमे ॥६८
मत्वेति पितरः पुत्रानिव ये पान्ति देहिनः । लब्ध्वा नरामरैश्वर्यं प्राप्नुवन्तीह ते शिवम् ॥६९

अथ सत्यव्रतम्—

असत्यमहितं ग्राम्यं कर्कशं परमर्मभित् । श्रीसिद्धान्तविरुद्धं च वचो ब्रूयान्न सन्मतिः ॥७०

होकर शस्त्रोंका पात कैसे करता है ? यह आश्चर्यकी बात है ॥ ५७ ॥ कारण-वश स्थावर जीवों-का घात करता भी जो दयालु पुरुष त्रस जीवोंकी मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे सर्व सकार रक्षा करता है, वह अहिंसाणुव्रती माना गया है ॥ ५८ ॥ अन्य सदाचार तो रहने देवें, एक दया ही जीवको रूप, सौन्दर्य, सौभाग्य, स्वर्गके सुख और मोक्षका उत्तम सुख देती है ॥५९॥ इसलिए त्रसरक्षामें परायण धीर पुरुषको भोजनमें, शयनमें और गमनागमनमें सदा सावधान होना चाहिए। क्योंकि प्रमाद-युक्त पुरुषके व्रत कहाँसे संभव हो सकता है ॥ ६० ॥ पीसनेमें, जल भरने-में और चूल्हा आदि जलानेमें जो पाप उत्पन्न होता है, उसे भी प्रायश्चित्तसे शुद्ध करे। तथा अग्नि, शस्त्र आदि जीव-घात करनेवाली कोई भी वस्तु अन्यको न देवे ॥ ६१ ॥ यदि कोई पुरुष दोनों लोकोंमें अपना हित चाहता है तो कहीं पर, किसी भी प्रकारसे, किसीके भी लिए कभी त्रस जीवकी हिंसा न करे ॥ ६२ ॥ जीव-समुदायके संरक्षणकी युक्तिको जैन आगमसे जानकर प्रमाद-रहित हो मुमुक्षुजनोंको सदा त्रस जीवोंकी रक्षा करनी चाहिए ॥ ६३ ॥ जीवोंका वध करना, बाँधना, अंग छेदना, अधिक भार लादना और अन्न-पानका निरोध करना ये पाँच अतीचार दयालुजनोंको छोड़ना चाहिए ॥ ६४ ॥ देखो—यशोधर राजाने अपनी चन्द्रमती माताके दुराग्रहसे शान्तिके लिए देवीके आगे पीठीसे बनाये गये मुर्गेको मारा तो वह आगेके भवोंमें मोर, हरिण, मच्छ, दो बार बकरा और फिर ्गा हुआ। अन्तमें दयाके भावसे वह अभयरुचि नामका बुद्धि-मान् हुआ और तप करके ईशान स्वर्गमें महाऋद्धिवाला देव हुआ। इस प्रकार इस प्रसिद्ध कथाको प्रायः सभी लोग जानते हैं ॥ ६५-६७ ॥ जीव-घातसे उत्पन्न होनेवाले दुःखको और जीवोंकी रक्षासे प्राप्त होनेवाले सुखको कितने लोगोंने इस संसारमें नहीं पाया ? उनकी कथाएँ जिनागममें सुप्रसिद्ध हैं ॥ ६८ ॥ इस प्रकार जानकर जैसे पिता पुत्रोंकी रक्षा करते हैं, वैसे ही जो मनुष्य प्राणियोंकी पुत्रवत् रक्षा करते हैं वे मनुष्यों और देवोंके ऐश्वर्यको भोगकर अन्तमें शिवपदको प्राप्त होते हैं ॥ ६९ ॥

अब सत्याणुव्रतका वर्णन करते हैं—सद्बुद्धिवाले पुरुषको असत्य, अहितकर, ग्रामीण,

असत्यवादिनः कश्चिन्न विश्वसिति सर्पवत् । सर्वैर्निन्द्यो मृषावादी पारदारिकवद् भवेत् ॥७१
पश्यतोहरवद्दण्ड्यो भूतघातीव पातकी । मृषावाक् सर्वदोषाणां नदीनामब्धिवत्पदम् ॥७२
यान्त्यतथ्यगिरः सर्वे गुणाः सन्तोऽप्यदृश्यताम् । नक्षत्राणि किमिक्ष्यन्ते सन्त्यप्यभ्युदिते रवौ ॥७३
सत्यवाचस्तु सान्निध्यं गीर्वाणा अपि कुर्वते । जनयन्ति भयं नाहि-सिंहव्याघ्रादिका अपि ॥७४
सत्यवाग् देववत्पूज्यो मान्यश्च गुरुवन्नृणाम् । वदान्यवद्यशस्वी स्याद् दृक्प्रियश्च सुमित्रवत् ॥७५
सत्यमेव ततो वाच्यं नासत्यं जातु सत्तमैः । को विहायामृतं दक्षो भक्षति क्षयकृद्दविषम् ॥७६
असत्यमपि तत्सत्यं यत्प्राणित्राणकारणम् । तत्सत्यमपसत्यं यत्सत्त्वघाताय जायते ॥७७
प्रमत्तोऽसदुक्तिर्या तदसत्यं चतुर्विधम् । सदसत्त्वमसत्सत्त्वं पररूपं च निन्दितम् ॥७८
विस्तरेण चतुर्धापि ज्ञात्वैतज्जिनसूत्रतः । नासत्यं वक्ति यः किञ्चित्स सत्यव्रतभाग्भवेत् ॥७९
पञ्च न्यासहृतिः कूटलेखो मिथ्योपदेशनम् । मन्त्रभेदो रहोभ्याख्या चातीचारा भवन्त्यमी ॥८०
परोपरोधतोऽप्युक्त्वा वसुराजोऽनृतं वचः । अपतन्नरकं घोरमचिन्त्यात्यन्तवेदनम् ॥८१
अथास्तेयम्—
स्थापितं पतितं नष्टं विस्मृतं भवने वने । गृह्यते नान्यवित्तं यत्तदस्तेयव्रतं मतम् ॥८२

कर्कश, पर-मर्मको भेदनेवाले और श्री जिन सिद्धान्तसे विरुद्ध वचन नहीं बोलना चाहिए ॥ ७० ॥ असत्यवादी पुरुषका कोई भी साँपके समान विश्वास नहीं करता है । मृषावादी पुरुष परस्त्री सेवन करनेवाले पुरुषके समान निन्दाका पात्र होता है ॥ ७१ ॥ मृषावादी चोरके समान दण्डनीय, जीवघातकके समान पापी और सभी दोषोंका स्थान होता है, जैसे कि समुद्र सभी नदियोंका स्थान होता है ॥ ७२ ॥ असत्यवादीके विद्यमान उत्तम गुण भी अदृश्य हो जाते हैं । सूर्यके उदय होनेपर क्या नक्षत्र दिखाई देते हैं ॥ ७३ ॥ सत्यवादीका सामीप्य तो देव भी करते हैं और सर्प, सिंह, व्याघ्रादिक क्रूर जीव भी सत्यवादीके भय नहीं उत्पन्न करते हैं । अर्थात् सत्यके प्रभावसे क्रूर जीव भी शान्त हो जाते हैं ॥ ७४ ॥ सत्यवादी मनुष्य देवके समान पूज्य, गुरुके समान मान्य, मधुरभाषी उदार दाताके समान यशस्वी और उत्तम मित्रके समान नेत्रप्रिय होता है ॥ ७५ ॥ इसलिए उत्तम पुरुषोंको सदा सत्य वचन ही बोलना चाहिए, किन्तु असत्य वचन कभी नहीं बोलना चाहिए । कौन बुद्धिमान् अमृतको छोड़कर प्राण-विनाशक विषको खाता है ? कोई भी नहीं ॥७६॥ जीवकी रक्षाके कारणभूत असत्य भी वचन सत्य हैं और प्राणिघातके लिए कारणभूत सत्य भी वचन असत्य हैं ॥ ७७ ॥ प्रमादसे असद् वचन कहना असत्य है । असत्य चार प्रकारका होता है— १. सत् अर्थात् विद्यमान वस्तुका अभाव कहना, २. अविद्यमान वस्तुका सद्भाव कहना, ३. किसी वस्तुको पर वस्तुरूप कहना और ४. निन्दित वचन बोलना ॥ ७८ ॥ इन चारों प्रकारका विस्तृत स्वरूप जिनागमसे जानकर जो किसी भी प्रकारके असत्य वचनको नहीं बोलता है, वह सत्यव्रत-का धारक होता है ॥ ७९ ॥ न्यास- (धरोहर) का अपहरण करना, कूटलेख लिखना, मिथ्या उपदेश देना, मंत्र भेद करना और एकान्तके रहस्यको प्रकट करना, ये पाँच सत्यव्रतके अतीचार हैं ॥ ८० ॥ वसुराजा दूसरेके आग्रहसे भी असत्य वचन बोलकर अचिन्त्य घोर भयानक वेदनावाले नरकमें गया ॥ ८१ ॥

अब अस्तेयाणुव्रतका वर्णन करते हैं—भवनमें, वनमें या अन्यत्र कहीं भी दूसरेके स्थापित, पतित, विनष्ट या विस्मृत धनको जो ग्रहण नहीं करता है, उसके अस्तेयव्रत माना जाता है ॥८२॥

प्राणेभ्योऽपि प्रियं वित्तं नृणां प्रत्यक्षमीक्ष्यते । वपुषा स्वं तिरोधाय रक्षति स्तेनतो जनः ॥८३
अदत्तं गृह्णता वित्तं कृपा पूर्वमपाकृता । गुणा विसर्जिताः सर्वे दोषा विश्वेऽपि सञ्चिताः ॥८४
हितं चिकीर्षतो नात्र चौरस्य पितरावपि । स्यात्तस्करस्य भीर्मर्त्यभ्रान्त्या दृष्टे तरावपि ॥८५
शूलारोपादिकं दुःखं सर्वं प्रत्यक्षमैहिकम् । वार्यते केन चौरस्य परलोके च नारकम् ॥८६
चौर्ये निदर्शनीभूताः प्रभूताः श्रीजिनागमे । श्रीभूताद्या निशम्यन्ते सम्प्राप्ताऽऽपत्परम्पराः ॥८७
मत्वेति बहुदोषं यः परेषां पतितादिकम् । नादत्ते वित्तमादत्ते स स्याल्लोकद्वये सुखी ॥८८
चौर्यार्जिताद्धनाद्दूरं निःस्वतैव नृणां वरम् । तक्रपानं न किं चारु सक्ष्वेडक्षीरपानतः ॥८९
धत्ते मत्वेति योऽस्तेयव्रतं सौख्याभिलाषुकः । वक्ष्यमाणानतीचारानपि मुञ्चन्तु पञ्चशः ॥९०
स्तेनप्रयोग-तदद्रव्यादाने मानाधिकोनता । विरुद्धराज्यातिक्रान्तिः प्रतिरूपक्रि ति च ॥९१

अथ ब्रह्मचर्यम्—

मैथुनं यत्स्मरावेशात्तदब्रह्म तदुज्झनम् । परस्त्रीभिर्मतं ब्रह्मचर्याणुव्रतमुत्तमैः ॥९२
तिरश्चीं मानुषीं देवीं परस्त्रीं रमते न यः । पुमान् मनोवचःकायैः स ब्रह्माणुव्रतो भवेत् ॥९३
परस्त्रीं मातृवत् वृद्धां युवतीं भगिनीमिव । बालां दुहितृवत्पश्यन् बिभर्त्ति ब्रह्म निर्मलम् ॥९४
परस्त्रीषु गतं चक्षुः करोति ब्रह्मणः क्षतिम् । चक्षूरोधो बुधैः सम्यग्विधेयोऽतस्तदिच्छुभिः ॥९५
कटाक्षगोचरे जातु न गम्यं परयोषिताम् । तद्गोचरचराः शीलं जहुर्हरिहरादयः ॥९६

मनुष्योंको धन अपने प्राणोंसे भी प्यारा प्रत्यक्ष देखा जाता है। यही कारण है कि लोग चोरके भयसे अपने धनको शरीरसे छिपाकर रखते हैं ॥ ८३ ॥ विना दिये धनको ग्रहण करनेवाला मनुष्य दयाको तो पहिले ही दूर कर देता है, सभी गुणोंको भी विसर्जित कर देता है और सभी दोषोंको संचित करता है ॥ ८४ ॥ माता-पिता भी इस लोकमें अपने चोर पुत्रका हित नहीं करना चाहते हैं। मनुष्यको भ्रान्तिसे वृक्षके देखनेपर भी चोरके भय उत्पन्न हो जाता है ॥ ८५ ॥ चोरको शूलीपर चढ़ाया जाना आदि इस लोक सम्बन्धी दुःख सबके प्रत्यक्ष है। फिर परलोकमें नरकके दुःखोंको कौन निवारण कर सकता है ॥ ८६ ॥ श्री जिनागममें चोरीमें दृष्टान्तभूत श्रीभूति आदि बहुतसे लोग सुने जाते हैं जो कि चोरी करनेसे दुःखों और आपत्तियोंकी परम्पराको प्राप्त हुए हैं ॥ ८७ ॥ इस प्रकार चोरीके भारी दोषोंको जानकर जो दूसरोंके पतित, स्थापित, विस्मृत आदि धनको, तथा विना दिये दूसरेके किसी भी प्रकारके धनको नहीं लेता है, वह दोनों लोकोंमें सुखी होता है ॥ ८८ ॥ चोरीसे उपार्जित धनसे तो मनुष्योंके दरिद्रता ही श्रेष्ठ है। विष मिश्रित दुग्ध-पानसे छाँछ पीना क्या अच्छा नहीं है? अवश्य ही अच्छा है ॥ ८९ ॥ ऐसा जानकर जो सुखका अभिलाषी पुरुष अस्तेयव्रतको धारण करता है, उसे आगे कहे जाने वाले ये पाँच अतीचार भी छोड़ना चाहिए ॥ ९० ॥ स्तेन प्रयोग, तदाहृतादान, हीनाधिकमानोन्मान, विरुद्धराज्यातिक्रम और प्रतिरूप क्रिया ॥ ९१ ॥ अब ब्रह्मचर्यव्रतको कहते हैं—कामके आवेशसे पर-स्त्रियोंके साथ मैथुन सेवन करना अब्रह्म कहलाता है और उसको त्याग करनेको उत्तम पुरुषोंने ब्रह्मचर्याणुव्रत कहा है ॥ ९२ ॥ जो मनुष्य तिरश्ची, देवी और परस्त्रीके साथ मन वचन कायसे रमण नहीं करता है, वह ब्रह्मचर्याणुव्रती होता है ॥ ९३ ॥ वृद्धा परस्त्रीको माताके समान, युवतीको बहिनके समान और बालाको पुत्रीके समान देखनेवाला मनुष्य निर्मल ब्रह्मचर्यको धारण करता है ॥९४॥ परस्त्रियों पर गई हुई दृष्टि ब्रह्मचर्यका विनाश करती है। इसलिए ब्रह्मचर्यकी रक्षाके इच्छुक ज्ञानी जनोंको आँखका निरोध सम्यक् प्रकार करना चाहिए ॥ ९५ ॥ परस्त्रियोंके कटाक्षके गोचर

यदि स्त्रीरूपकान्तारे न पतन्ति नराध्वगाः । तपोऽश्वेनाचिरादेव यान्ति मुक्तिपुरीं तदा ॥९७
मनुः स्त्री नरके कश्चिन्न यातीति ध्रुवं विधिः । व्यधात्स्त्रीस्तन्निवासाय मनोमोहकरीर्नृणाम् ॥९८
वलिनां न वशं येऽगुः श्रूयन्ते ते परैः शताः । नावलानां तु ये जग्मुर्वशं ते यदि पञ्चषाः ॥ ९९

स्यात्पातः स्त्रीतमिस्राभिः श्वभ्राब्धौ सुदृशामपि ।
स्त्र्यर्गलाभिर्गतिर्मुक्तौ सुगतीनां च रुध्यते ॥१००

चरित्रं सुचरित्राणामपि लुम्पन्ति योषितः । जातु नातः परस्त्रीभिः संसजन्ति मुमुक्षवः ॥१०१
दर्शनं स्पर्शनं शब्दश्रवणं प्रतिभाषणम् । रहः स्थितिं च मुञ्चन्तु परस्त्रीभिर्व्रतार्थिनः ॥१०२
इत्यादि युक्तिभिः शीलं जलं दधति निर्मलम् । देवानामपि पूज्याः स्युस्ते नराणां कथैव का ॥१०३
यथा पुंसां मतं शीलं परस्त्रीसङ्गवर्जनात् । परभर्तृपरित्यागात्स्यात्तथैवेह योषिताम् ॥१०४

परिणीताः स्त्रियो हित्वा मताः सर्वाः परस्त्रियः ।
सर्वेऽन्ये परभर्त्तार ऋते कान्तं विवाहितम् ॥१०५
साध्वीनामेक एवेशो मृते जीवति तत्र वा ।
नान्यो जातूचितः पुंसां न सङ्ख्यानियमः स्त्रियम् ॥१०६

जलति ज्वलनः कन्धिः स्थलति श्वति केसरी । पुष्पमालायते सर्पः स्त्री-पुंसां शीलधारिणाम् ॥१०७

कभी नहीं होना चाहिए। स्त्रियोंके कटाक्षके विषय बने हुए हरि, हर आदिकने शीलको छोड़ा। अर्थात् स्त्रियोंके सम्पर्कसे वे अपने शीलको सुरक्षित नहीं रख सके ॥ ९६ ॥ यदि मनुष्यरूपी पथिक स्त्रीके रूप-सौन्दर्यरूपी भयंकर वनमें न पड़ते, तो तपरूपी अश्वके द्वारा मुक्तिरूपी पुरीमें शीघ्र ही अल्पकालमें पहुँच जाते ॥ ९७ ॥ कोई मनुष्य और स्त्री नरकमें नहीं जाते हैं, इस कारणसे ही मानों विधाताने निश्चयसे मनुष्योंके मनको मोहित करनेवाली स्त्रियोंको नरकमें निवास करनेके लिए बनाया है ॥ ९८ ॥ जो बलवानोंके वशमें नहीं हुए, ऐसे तो सैकड़ों मनुष्य सुने जाते हैं, किन्तु जो अबलाओं (बलहीन स्त्रियों) के वशमें न गये हों, ऐसे यदि मनुष्य सुने जाते हैं तो वे पाँच-सात ही हैं ॥ ९९ ॥ स्त्रीरूपी गहन अन्धकारवाली रात्रियोंके द्वारा सम्यग्दृष्टियोंका भी नरकरूप समुद्रमें पतन होता है। और स्त्रीरूपी अर्गलाओं (सांकलों) से सुगतियोंकी तथा मुक्तिमें जानेकी गति रोक दी जाती है ॥ १०० ॥ स्त्रियाँ उत्तम चारित्रवाले भी मनुष्योंके चारित्रका लोप कर देती हैं, इसी कारण मोक्षके इच्छुक पुरुष कभी भी परस्त्रियोंके साथ संसर्ग नहीं रखते हैं ॥ १०१ ॥ व्रतके अभिलाषी जनोंको स्त्रियोंका देखना, स्पर्श करना, उनके शब्द सुनना, उनको उत्तर देना और उनके साथ एकान्तमें बैठना-उठना छोड़ देना चाहिए ॥ १०२ ॥ इत्यादि युक्तियोंके द्वारा मनुष्योंका शीलरूपी जल निर्मलताको धारण करता है और ऐसे मनुष्य देवोंके भी पूज्य होते हैं, फिर मनुष्योंकी तो कथा ही क्या है? अर्थात् मनुष्योंसे तो पूजे ही जाते हैं ॥ १०३ ॥ जिस प्रकार-से पुरुषोंके परस्त्री-संगमके छोड़नेसे शीलका संरक्षण माना जाता है, उसी प्रकार यहाँ परभर्तार-के साथ संगमका त्याग करनेसे स्त्रियोंके भी शीलका संरक्षण माना गया है ॥ १०४ ॥ विवाहिता स्त्रियोंको छोड़कर शेष सभी परस्त्री मानी जाती हैं। इसी प्रकार विवाहित पुरुषको छोड़कर शेष सभी पुरुष पर-भर्त्तार माने जाते हैं ॥१०५॥ सती-साध्वी स्त्रियोंका एक ही स्वामी होता है, उसके जीवित रहते हुए, या मर जानेपर कभी दूसरा स्वामी उचित नहीं माना जाता। किन्तु पुरुषोंके स्त्री-सम्बन्धी संख्याका नियम नहीं है ॥ १०६ ॥ शीलधारी स्त्रियों और पुरुषोंके आगे ज्वलन

सुराः सन्निधिमायान्ति पूजयन्ति च भूभुजः । श्वेतयत्यखिलं लोकं शीलेन विमलं : ॥१०८
कुशीलानां गुणाः सर्वे दोषरूपा भवन्त्यहो । गुणरूपाः सुशीलानां दोषाश्च निश्चितम् ॥१०९
ब्रह्मचर्यव्रतं मुख्यं : व्रतेष्वपि । यतो हरि-हरादीनां सुराणामपि दुष्करम् ॥११०
शीलमाहात्म्यतः सीतां दहनोऽपीह नादहत् । सुदर्शनस्यासिः श्रेष्ठिनो हारतामगात् ॥१११
शीलमाहात्म्यमित्यादिदृष्टान्तैः कथ्यते कियत् । मोक्षोऽपि सुलभो यस्माज्जायतेऽतीव दुर्लभः ॥११२
स्मरतीव्राभिनिवेशोऽन्यस्वीकृतास्वीकृतागती । कामक्रीडाऽन्यवीवाहोऽत्रादोऽतीचारपञ्चकम् ॥११३
हेयं सर्वप्रयत्नेन ब्रह्माणुव्रतधारकैः । सातीचारं न यतो विपुलं फलम् ॥११४

अथ परिग्रहपरिमाणम्—

चेतनाचेतनं वस्तु गृह्यते परिमाय यत् । परिग्रहप्रमाणाख्यं पञ्चमं तदणु ॥११५
परिमाति न यो ग्रन्थं चेतनाचेतने कुधीः । स्वीचिकीर्षुर्जगत् तदभावेऽपि सोऽघभाक् ॥११६
निमज्जति भवाम्भोधौ नरो भूरिपरिग्रहः । प्रमातिक्रान्तभारेण भृतः पोत इवाम्बुधौ ॥११७
यः परिग्रहवृद्धचानुमन्यते मूढधीः सुखम् । स गुडाक्तवपुर्लीनमत्कीटैर्मन्यते न किम् ॥११८
गच्छेद् यथा यथोर्ध्वं स्यात्कल्पेष्वल्पपरिग्रहः । तथा तथा सुखाधिक्यं जगदुर्जगदुत्तमाः ॥११९
यस्तु सञ्चिनुते वित्तं दानपूजादिहेतवे । वमिष्यामीति सोऽपथ्यं सेवते दैववञ्चितः ॥१२०

जल वन जाता है, जलधि (जलपूर्ण समुद्रादिक) स्थल हो जाता है, केशरी–सिंह श्वान हो जाता है और साँप फूलोंकी माला वन जाता है ॥ १०७ ॥ शीलके प्रतापसे देवगण समीप आते हैं, राजा लोग पूजते हैं, और निर्मल यश सारे लोकको उज्ज्वल कर देता है ॥ १०८ ॥ कुशीलवाले लोगोंके सारे गुण दोषरूप हो जाते हैं और उत्तम शीलवाले लोगोंके सभी दोष गुणरूप हो जाते हैं, यह निश्चित है ॥ १०९ ॥ यतः ब्रह्मचर्यका पालन हरि-हर आदि देवोंके भी दुष्कर है, अतः ब्रह्मचर्य-व्रत सर्व व्रतोंमें भी मुख्य माना गया है ॥ ११० ॥ शीलके माहात्म्यसे अग्निने सीताको नहीं जलाया । सुदर्शनसेठके गलेमें मारी गई तलवार भी हाररूप हो गई ॥१११॥ इत्यादि दृष्टान्तोंसे शीलका कितना माहात्म्य कहा जाये ? जिससे कि अत्यन्त दुर्लभ भी मोक्ष सुलभ हो जाता है ॥ ११२ ॥ कामतीव्राभिनिवेश, अन्यस्वीकृत स्त्रीगमन, अन्य अस्वीकृत स्त्रीगमन, अनंग-कामक्रीडा और अन्यका विवाह करना ये पाँच इस व्रतके अतीचार हैं ॥ ११३ ॥ ब्रह्मचर्याणुव्रत धारियोंको ये पाँचों अतीचार पूरे प्रयत्नके साथ छोड़ना चाहिए । क्योंकि अतीचार-युक्त व्रत भारी फलको नहीं देता है ॥ ११४ ॥

अव परिग्रह परिमाण व्रतको कहते हैं—जो चेतन और अचेतन वस्तु परिमाण करके ग्रहण की जाती है, वह परिग्रह परिमाण नामका पाँचवाँ अणुव्रत है ॥ ११५ ॥ जो कुवुद्धि पुरुष चेतन-अचेतन परिग्रहका परिमाण नहीं करता है और सारे संसारकी वस्तुओंको स्वीकार करनेकी इच्छा करता है, वह उनके अभावमें पापका भागी होता है ॥ ११६ ॥ परिग्रहके भारसे भारी हुआ मनुष्य संसार-समुद्रमें डूवता है, जैसे कि परिमाणसे अधिक भारसे भरा जहाज समुद्र-में डूवता है ॥ ११७ ॥ जो मूढ वुद्धि पुरुष परिग्रहकी वृद्धिसे सुख मानता है, वह अपनेको गुड़से लिप्त शरीरको मकोड़ोंसे चिपटा हुआ क्यों नहीं मानता है ॥ ११८ ॥ श्रावक जैसे जैसे अल्प-अल्प परिग्रहवाला होता जाता है, वैसे-वैसे ही ऊपरके स्वर्गोंमें जाता है और उसके उसी-उसी प्रकारसे सुखकी अधिकता होती जाती है, ऐसा लोकोत्तम पुरुषोंने कहा है ॥ ११९ ॥ जो दान-पूजादिके लिए धनका संचय करता है, वह दैवसे वंचित पुरुष 'वमन कर दूंगा' ऐसा विचार कर

न मे मूर्च्छेति यो वक्ति सञ्चिन्वन् द्रव्यमघप्रदम् ।
स बुभुक्षां विना भक्षयन्नं मन्ये दशोचितम् ॥१२१
शतमिच्छति निःस्वः प्राक् तत्प्राप्तौ स्यात्सहस्रधीः ।
तल्लाभे लक्षधीरित्थं तृष्णाऽग्रेऽग्रे विसर्पति ॥१२२

शान्तिमिच्छति तृष्णाया यो धनेन विचेतनः । शान्त्यै दीप्तस्य सप्तार्चेः सूरिः क्षिपतीन्धनम् ॥१२३
वित्ते सत्यपि सन्तुष्टो न यस्तस्य सुखं कुतः । मानसे यस्य सन्तोषः स निःस्वोऽपि सदा सुखी ॥१२४
परिग्रहग्रहार्तानां दुर्विकल्पशताकुलम् । स्वास्थ्यं नैति मनो वातकम्पिताश्वत्थपत्रवत् ॥१२५
आदायाऽऽदाय काष्ठानि नद्या वाहाच्चकार यः । सुवर्णवृषभाल्लोभाद्वणिक् स प्रापदापदम् ॥१२६
इत्यादिहेतुदृष्टान्तैर्दुष्टं ज्ञात्वा परिग्रहम् । प्रमितं कुर्वते सर्वं धनदासाद्युत्तमाः ॥१२७
यथा यथा कषायाणामन्तर्भवति मन्दता । बहिः परिग्रहासक्तिर्मान्द्यमेति तथा तथा ॥१२८
बहिःपरिग्रहोऽल्पत्वं नीयते ज्ञैर्यथा यथा । तथा तथा कषायाणामन्तर्भवति मन्दता ॥१२९
परिग्रहप्रमाणं यः करोति विजितेन्द्रियः । सन्तोषावद्यमान्द्याभ्यां स स्याल्लोकद्वये सुखी ॥१३०
मूर्च्छां परिग्रहे त्यक्त्वा गृहेऽपि सुविधिर्नृपः । भूत्वाऽच्युतेन्द्रस्तुर्येऽभूद् भवे प्रथमतीर्थकृद् ॥१३१
अतो मुमुक्षुणा हेया मूर्च्छाऽल्पेऽपि परिग्रहे । वक्ष्यमाणा अतिचारा अपि पञ्चात्र सर्वथा ॥१३२
सुवर्णरूप्ययोर्दासी-दासयोः क्षेत्र-वास्तुनोः । कुप्यस्य च प्रमाणस्यातिक्रमो धन-धान्ययोः ॥१३३

अपथ्यका सेवन करता है ॥ १२० ॥ जो पाप करनेवाले धनको संचित करता हुआ भी यह कहता है कि मेरी इसमें मूर्च्छा नहीं है, वह भूखके विना दश पुरुषके उचित अन्नको खाता है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ १२१ ॥ निर्धन पुरुष पहिले सौ रुपयोंकी इच्छा करता है, सौ की प्राप्ति हो जानेपर वह हजार पानेकी इच्छा करता है। और हजारके लाभ हो जाने पर लाख पानेकी इच्छा करने लगता है इस प्रकार तृष्णा आगे-आगे बढ़ती जाती है ॥ १२२ ॥ जो मूर्ख धनसे तृष्णाकी शान्ति चाहता है वह हवन करनेवाला आचार्य प्रदीप्त अग्निकी शान्तिके लिए उसमें और इन्धनको डालता है ॥ १२३ ॥ धनके होनेपर भी जो सन्तुष्ट नहीं होता है, उसके सुख कहाँसे हो सकता है ? जिसके मनमें सन्तोष है वह निर्धन होता हुआ भी सदा सुखी है ॥ १२४ ॥ जिस प्रकार वायुसे कंपित पीपलका पत्ता कभी स्थिर नहीं रहता, उसी प्रकार परिग्रहरूपी ग्रहसे पीड़ित मनुष्योंका सहस्रों खोटे विकल्पोंसे आकुल-व्याकुल मन स्थिरताको प्राप्त नहीं होता है ॥ १२५ ॥ नदीके प्रवाहसे लकड़ियोंको ला-लाकरके जिस वणिक्‌ने सोनेका बैल बनवाया; वह उसके लोभसे आपत्तियोंको प्राप्त हुआ ॥ १२६ ॥ इत्यादि हेतु और दृष्टान्तोंसे परिग्रहको खोटा जानकर उत्तम पुरुष धन, दासी, दास आदि सभी प्रकारके परिग्रहका परिमाण करते हैं ॥ १२७ ॥ जैसे-जैसे कषायोंकी अन्तरंगमें मन्दता होती जाती है, वैसे-वैसे ही बाहिरी परिग्रहकी आसक्ति भी मन्द होती जाती है ॥ १२८ ॥ ज्ञानी पुरुष जैसे-जैसे बाहिरी परिग्रहकी कमी करते जाते हैं, वैसे-वैसे ही उनके अन्तरंगमें कषायोंकी मन्दता होती जाती है ॥ १२९ ॥ जो जितेन्द्रिय पुरुष परिग्रहका परिमाण करता है, वह सन्तोष और पापोंकी मन्दतासे दोनों लोकोंमें सुखी होता है ॥ १३० ॥ सुविधिराजा घरमें रहते हुए भी परिग्रहमें मूर्च्छाको छोड़कर अच्युत स्वर्गका इन्द्र होकर चौथे भवमें प्रथम तीर्थंकर हुआ ॥ १३१ ॥ इसलिए मुमुक्षु पुरुषको अल्प भी परिग्रहमें मूर्च्छाका त्याग करना चाहिए। तथा वक्ष्यमाण पाँचों ही इस व्रतके अतीचार सर्वथा छोड़ना चाहिए ॥ १३२ ॥ सोना-चाँदीके, दासी-दासके, क्षेत्र-वास्तुके, धन-धान्यके और कुप्यके प्रमाणका अतिक्रम करना ये पाँच

अथ शीलव्रतानि—

गुणव्रतत्रितयं शिक्षाव्रतानां च चतुष्टयम् । सप्तशीलान्यमून्येभिर्व्रतानां दृढता भवेत् ॥१३४
विधाय दिक्षु मर्यादां गम्यते यद्दशस्वपि । आद्यं दिग्विरतिर्नाम विज्ञेयं तद्गु तम् ॥१३५
नदी-नदीश-देशाद्रि-सरसी-योजनादिकाः । मर्यादा दिग्विभागानां विधेया विश्रुता बुधैः ॥१३६
तत ऊर्ध्वं त्रसान् पाति स्थावरानप्यतो यतः । महाव्रतफलं दत्ते तन्नुरेतद् गुणव्रतम् ॥१३७
यो लोभक्षोभितस्वान्तः स न धर्तुमिदं क्षमः । हित्वा लोभं ततो धत्ते सुधीर्दिग्विरतिव्रतम् ॥१३८

विस्मृतिः क्षेत्रवृद्धिश्चोर्ध्वाऽधस्तिर्यग्व्यतिक्रमाः ।
हेया दिग्विरतौ पञ्चातीचाराश्चारुदर्शनैः ॥१३९

(इति दिग्विरतिः)

दिनादौ तत्कृता सीमा यत्र संक्षिप्यते पुनः । तद्देशविरतिर्नाम द्वितीयं स्याद् गुणव्रतम् ॥१४०
गृहाऽऽपणपुरग्रामवनक्षेत्रादिगोचरः । मतः क्षेत्रावधिः प्राज्ञैः सुदेशविरतिव्रते ॥१४१
यामाहःपक्षमासर्तुचतुर्मासायनाब्दगः । देशावकाशिके शीले मता कालावधिर्बुधैः ॥१४२
यो देशविरतिं नाम धत्ते शीलं सुनिर्मलम् । तदूर्ध्वं सर्वसावद्याभावात्स स्यान्महाव्रतः ॥१४३
पञ्चात्र पुद्गलक्षेपं शब्द-रूपानुपातने । प्रेष्यप्रयोगानयने अतीचारांस्त्यजेद्बुधः ॥१४४

(इति देशविरतिः)

परिग्रह परिमाणव्रतके अतीचार हैं ॥ १३३ ॥

अब शीलव्रतोंका वर्णन करते हैं—तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये सात शील कहलाते हैं। इनसे अणुव्रतोंकी दृढता होती है ॥ १३४ ॥ दशों दिशाओंमें मर्यादा करके उसके भीतर जो गमनागमन किया जाता है वह दिग्विरति नामका प्रथम गुणव्रत जानना चाहिए ॥ १३५ ॥ नदी, समुद्र, देश, पर्वत, सरोवर और योजनादिकरूप दिग्विभागोंको प्रसिद्ध मर्यादा ज्ञानी जनोंको करनी चाहिए ॥ १३६ ॥ दिशाओंकी मर्यादाके बाहिर दिग्व्रती श्रावक त्रस जीवोंकी भी रक्षा करता है और स्थावर जीवोंकी भी रक्षा करता है, अतः उस पुरुषको यह गुणव्रत महाव्रतका फल देता है ॥ १३७ ॥ जो पुरुष लोभसे क्षोभित चित्तवाला है, वह इस व्रतको धारण करनेके लिए समर्थ नहीं है। अतः बुद्धिमान् पुरुष लोभको छोड़कर दिग्विरति व्रतको धारण करता है ॥ १३८ ॥ सीमाकी विस्मृति, क्षेत्रकी वृद्धि, ऊर्ध्व मर्यादा व्यतिक्रम, अधोमर्यादा व्यतिक्रम और तिर्यग् मर्यादा व्यतिक्रम ये पाँच अतीचार दिग्विरतिव्रतमें सम्यग्दृष्टि जनोंको छोड़ना चाहिए ॥ १३९ ॥

(इस प्रकार दिग्विरतिव्रतका वर्णन किया)

उस दिग्व्रतकी सीमा पुनः दिन, पक्ष आदिरूपसे संक्षिप्त की जाती है, वह देशविरति-नामका दूसरा गुणव्रत है ॥ १४० ॥ ज्ञानी जनोंने देशविरतिव्रतमें घर, बाजार, ग्राम, वन, क्षेत्र आदिको विषय करनेवाली क्षेत्र मर्यादा कही है ॥ १४१ ॥ पहर, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन और वर्ष आदिको ज्ञानीजनोंने देशावकाशिक शीलमें कालमर्यादा कहा है ॥ १४२ ॥ जो श्रावक देश-विरतिनामक इस शीलको निरतिचार निर्मल धारण करता है, वह उस की हुई मर्यादाके बाहिर सर्व पापोंके अभावसे महाव्रती होता है ॥ १४३ ॥ पुद्गलक्षेप, शब्दानुपात, रूपानुपात, प्रेष्यप्रयोग और आनयन ये पाँच इस व्रतके अतीचार हैं। ज्ञानी पुरुषको इसका त्याग करना चाहिए ॥१४४॥

(इस प्रकार देशविरतिव्रतका वर्णन किया)

त्यागः सावद्ययोगानां योऽनर्थानां विधीयते । अनर्थदण्डविरतिर्व्रतं तद्-व्रतिभिर्मतम् ॥१४५
हिंसादानमपध्यानं दुःश्रुतिः पापदेशनम् । प्रमादाचरणं चेत्यनर्थाः पञ्चविधाः मताः ॥१४६
विषपाशास्त्रयन्त्राग्निमुशलोदूखलादिनः । हिंसाकृद्वस्तुनो दानं हिंसादानमुदीरितम् ॥१४७
कथं परस्त्रिया योगः पुरध्वंसो रिपुक्षयः । दुश्चिन्तनं यदित्यादि तदपध्यानमुच्यते ॥१४८
रागादीनां विधात्रीणां भववृद्धिविधायिनाम् । दुःश्रुतीनां श्रुतिः प्रोक्ता दुःश्रुतिः श्रुतपारगैः ॥१४९
गवाश्वषण्ढतामित्थमित्थं सेवां कृषिं कुरु । इत्याद्यवद्यकृत्कर्मोपदेशः पापदेशनम् ॥१५०
वृथाम्बुसेचनं भूमिखननं वृक्षमोटनम् । फलपुष्पोच्चयादिश्च प्रमादाचार इष्यते ॥१५१
यत्नतोऽमी परित्याज्या अनर्था अर्थवेदिभिः । भेदा अनर्थदण्डस्य वक्ष्यन्तेऽन्ये च केचन ॥१५२
सारिकाशुककेक्योतुश्वपारापतकुक्कुटाः । पोष्या नेत्यादयो जातु प्राणिघातकृतोऽङ्गिनः ॥१५३

द्विपाच्चतुःपदानां तत्त्वङ्नखास्थ्नां च विक्रयम् ।
न कुर्यान्मधुमद्यास्त्रकाष्ठादीनां च सांहसाम् ॥१५४

विक्रीणीयान्न निपुणो लाक्षां नीलीं शणं विषम् । कुदालं शकटं सीरिं हरितालं मनःशिलाम् ॥१५५
गुडखण्डेक्षुकापाकस्वर्णायःकरणादिकम् । चित्रलेपादिकर्मापि न निर्मातीह धर्मधीः ॥१५६
मौखर्यभोगानर्थक्यासमीक्षाधिकृतीः सुधीः । कन्दर्पकौत्कुच्ये अतीचारांस्त्यजेदिह ॥१५७

(इति अनर्थदण्डविरतिः)

जो निरर्थक सावद्ययोगोंका त्याग किया जाता है; उसे इस व्रतके धारक पुरुषोंने अनर्थदण्ड-विरतिव्रत कहा है ॥ १४५ ॥ हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति, पापोपदेश और प्रमादाचरण ये पाँच प्रकारके अनर्थदण्ड माने गये हैं ॥ १४६ ॥ विष, पाश (जाल), अस्त्र, यंत्र, अग्नि, मूसल, उखली आदि हिंसा करनेवाली वस्तुका देना हिंसादान कहा गया है ॥ १४७ ॥ परस्त्रीका संयोग कैसे हो, नगरका विध्वंस और शत्रुका विनाश कैसे हो ? इत्यादि प्रकारसे खोटा चिन्तवन करना अपध्यान कहा जाता है ॥ १४८ ॥ राग-द्वेष आदिकी बढ़ानेवाली और संसारकी वृद्धि करनेवाली खोटी कथाओंका सुनना, इसे श्रुतके पारगामी आचार्योंने दुःश्रुति कहा है ॥ १४९ ॥ इस प्रकारसे बैल और घोड़ेको वधिया करो, इस प्रकारसे सेवा और खेती करो, इत्यादिरूपसे पापकारक कार्योंका उपदेश देना पापोपदेश नामका अनर्थदण्ड है ॥ १५० ॥ व्यर्थ जल सींचना, भूमि खोदना, वृक्षोंको मोड़ना, फल-फूलोंका संचय आदि करना प्रमादाचार कहलाता है ॥ १५१ ॥ प्रयोजनके वेत्ता पुरुषोंको ये पाँचों अनर्थ दण्ड प्रयत्नके साथ छोड़ना चाहिए। इनके अतिरिक्त अनर्थ दण्डके अन्य अन्य जो भेद हैं, वे भी कहे जाते हैं ॥ १५२ ॥ मैना, तोता, मोर, बिल्ली, कुत्ता, कबूतर, मुर्गा इत्यादि प्राणिघात करने वाले पशु-पक्षी कभी नहीं पालना चाहिए ॥ १५३ ॥ दो पैर वाले दासी-दास और पक्षी आदि, तथा चार पैर वाले गाय, बैल, भैंस आदिक इनकी तथा इनके चर्म, नख और हड्डीकी विक्री न करे, तथा पाप-पूर्ण मधु, मद्य. अस्त्र-शस्त्र और काठ आदिको भी नहीं बेंचे। इसी प्रकार निपुण पुरुष लाख, नील, सन, विष, कुदाल, गाड़ी, हल, हरिताल, मैनशिल आदिको भी नहीं बेंचे। गुड़-खाँड़, ईख-पाक, सोना-लोहा आदिका उत्पादन आदि भी न करे। और धर्म बुद्धि मनुष्य इस लोकमें चित्रलेप आदि कार्य भी नहीं करता है ॥ १५४–१५६ ॥ मौखर्य, भोग-उपभोगानर्थक्य, असमीक्ष्याधिकरण, कन्दर्प और कौत्कुच्य ये पाँच अतीचार अनर्थदण्डविरति व्रतमें बुद्धिमानको छोड़ना चाहिए ॥ १५७ ॥

(इस प्रकार अनर्थदण्ड विरतिव्रतका वर्णन किया)

शि ेषु वक्ष्येऽग्रे ता-प्रोषधव्रते । तत्तत्प्रतिमयोरेव त न्यद् द्वयं शृणु ॥ १५८
भोगोपभोगयोर्यत्र परिसङ्ख्या विधीयते । भोगोपभोगसङ्ख्याख्यं शीलमालप्यतेऽत्र तत् ॥१५९
स भोगो भुज्यते भोज्यताम्बूलादि यदेकशः । उपभोगस्तु स स्त्र्यादि सेव्यते यदनेकशः ॥१६०
भोगोपभोगवस्तूनां त्यागश्च द्विविधो ः । यमो निरवधिस्त्यागः सावधि ः स्मृतः ॥१६१

भोगोपभोगवस्तूनि कानिचित् सर्वथा त्यजेत् ।
कानिचित् सावधि त्यक्त्वा भुज्यात्सङ्ख्याय कानिचित् ॥१६२

भोगोपभोगयोरेव हेतोः स्थावरहिंसनम् । गृही कुर्यात्ततः कार्यं तदत्यल्पत्वमुत्तमैः ॥१६३
भोगोपभोगयोर्जातं सुखं याति क्षयं क्षणात् । पापं तु चिरदुःखाय जायते तौ त य ॥१६४
दुःखानि नारकाण्यापात्सुदृष्टिरपि रावणः । भोगासक्त्यैव कथ्यन्ते कियन्तोऽन्ये च तादृशः ॥१६५
तत्प्रत्याख्यानसङ्ख्याने तयोः कृत्वा सुधीस्त्यजेत् । अतीचाराश्च पञ्चात्र प्रपञ्चरहिताशयः ॥१६६
सचित्तं तेन मिश्रं च दुष्पक्वाहार इत्यपि । तथा सचित्तसम्बन्धाभिषवौ चेति पञ्च ते ॥१६७

(इति भोगोपभोगसंख्या)

स्वायस्यातिथये भव्यैर्यो विभागो विधीयते । अतिथेः संविभागाख्यं शीलं तज्जगदुर्जिनाः ॥१६८

शिक्षाव्रत चार होते हैं—सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथि-संविभागव्रत । इनमेंसे सामायिकको आगे तीसरी प्रतिमाके रूपमें और प्रोषधोपवासको चौथी प्रतिमाके रूपमें कहेंगे । इस समय अन्य दो शिक्षाव्रतोंका स्वरूप कहते हैं सो सुनो ॥ १५८ ॥ जिस व्रतमें भोग और उपभोग व्रतकी संख्या नियत की जाती है, वह भोगोपभोग संख्या नामका शील कहा जाता है ॥ १५९ ॥ जो भोज्य—खानेके योग्य भक्त-पान, ताम्बूल आदि वस्तु एक बार भोगी जाती है, वह भोग कही जाती है और जो स्त्री, वस्त्र, पात्र आदि अनेक बार सेवन किये जाते हैं, वे उपभोग कहे जाते हैं ॥१६०॥ भोग और उपभोगरूप वस्तुओंका त्याग दो प्रकारका माना गया है—कालकी मर्यादाके विना यावज्जीवनके लिए जो त्याग होता है, वह यम और कालकी मर्यादाके साथ अल्प कालके लिए जो त्याग होता है वह नियम कहा जाता है ॥१६१॥ भोग और उपभोगमेंसे कितनी ही वस्तुओंको तो जीवन भरके लिए सर्वथा छोड़े और कितनी ही वस्तुओंको काल-मर्यादासे त्याग कर और संख्याका परिमाण करके सेवन करे ॥ १६२ ॥ भोग और उपभोगके निमित्तसे ही स्थावर जीवोंकी हिंसा होती है इसलिए गृहस्थको सभी कार्य यत्नाचार पूर्वक करना चाहिए और उत्तम पुरुषोंको भोग-उपभोगकी वस्तुओंका उत्तरोत्तर अल्प-अल्प सेवन करना चाहिए ॥ १६३ ॥ भोग और उपभोगकी वस्तुओंसे उत्पन्न होने वाला सुख क्षण-भरमें क्षय हो जाता है और उससे उत्पन्न हुआ पाप चिरकाल तक दुःखके लिए ही है, इसलिए उन दोनोंका ही त्याग करना चाहिए ॥ १६४ ॥ भोगोंकी आसक्तिसे सम्यग्दृष्टि भी रावणने नरकोंके दुःख पाये हैं और कितने उस प्रकारके अन्य जीव पा रहे हैं उन कितनोंका कथन किया जावे ॥१६५॥ इसलिए बुद्धिमान् मनुष्यको उन भोग और उपभोगके अनावश्यकका त्याग और आवश्यककी संख्या करके शेषका परित्याग कर देना चाहिए और प्रपंचसे रहित हृदयवाले मनुष्यको इस व्रतके पाँच अतीचार भी छोड़ना चाहिए—सचित्तवस्तु, सचित्तसे मिश्रित वस्तु, दुष्पक्व आहार, सचित्तसे संबद्ध पदार्थ और अभिषव अर्थात् गरिष्ठ पौष्टिक पदार्थोंका सेवन ॥ १६६-१६७ ॥

(इस प्रकार भोगोपभोगसंख्यानव्रतका वर्णन किया)

भव्य पुरुषोंके द्वारा अतिथिके लिए अपने धनका जो विभाग किया जाता है, उसे जिनदेवों-

तुर्यः षष्ठो निजायस्य विभागं धर्म-कर्मणे । न करोति स ना कुक्षिम्भरिर्ध्वाङ्क्षादतिरिच्यते ॥१६९
स्वयं योऽन्येति भिक्षार्थं सोऽतिथिः कथ्यते व्रती । भक्त्यान्नाद्यल्पमप्यस्मै दत्तं दत्ते फलं बहु ॥१७०
धत्तेऽतिथिविभागाख्यं यः शीलं श्रेयसे नरः । कुर्याद् भोजनवेलायां स द्वारावेक्षणं सदा ॥१७१
सोत्तरीयो निरीक्ष्यापिसमानन्देन वपुष्यमान् । नमोऽस्तु तिष्ठ तिष्ठेति तस्य कुर्यात्प्रतिग्रहम् ॥१७२
अन्तरानीय दद्याच्च तस्मायुच्चासनं स्वयम् । पादौ प्रक्षाल्य चाभ्यर्च्य प्रणम्यात्र त्रिशुद्धिभृत् ॥१७३
ततो नीत्वा कृतोल्लोचे स्थाने जन्तुवर्जिते । मार्जारास्पृश्यशूद्राद्यगोचरे तमसोज्झिते ॥१७४
देशर्तुप्रकृतीः ज्ञात्वा पथ्यमाहारमादरात् । दद्यात्स्वस्योपकाराय तस्य चालस्यवर्जितः ॥१७५
दद्यादन्नं न पात्राय यदेव पित्रादिकल्पितम् । मन्त्रितं नीचलोकार्हं सादशं रोगकारणम् ॥१७६
अन्यग्राम-गृहायातं सर्पिःपक्वं दिनोषितम् । पुष्पितं चलितस्वादमित्याद्यन्यच्च निन्दितम् ॥१७७
इत्थं यो नवधा शुद्धया श्रद्धादिगुणसप्तकः । पात्राय शुद्धमन्नाम्बो दद्यात्स स्याच्छ्रियां पदम् ॥१७८
प्रत्यहं कुर्वतामित्थं पात्रदानविधिं सताम् । परा सत्परिणामित्वाज्जायते कर्मनिर्जरा ॥१७९
त्यजेत्सचित्तनिक्षेपापिधाने परदेशनम् । कालातिक्रममात्सर्ये चेति पञ्चातिथिव्रती ॥१८०
यवसक्तून् प्रदायाऽऽप काले पात्राय यत्फलम् । तापसो याचनो नाप तन्नृपः स्वर्णयज्ञकृत् ॥१८१

ने अतिथिसंविभाग नामका शीलव्रत कहा है ॥ १६८ ॥ जो मनुष्य अपनी आयका चौथा या छठा भाग धर्म कार्यके लिए त्याग नहीं करता है, वह अपनी कूंखको भरने वाला कागसे भी गया बीता है ॥ १६९ ॥ जो व्रती-संयमी भिक्षाके लिए स्वयं गृहस्थके घर पहुँचता है वह अतिथि कहा जाता है। ऐसे अतिथिके लिए भक्तिसे दिया गया अल्प भी दान बहुत भारी फलको देता है ॥ १७० ॥ जो मनुष्य इस अतिथिसंविभागरूप शीलव्रतको धारण करता है उसे आत्म-कल्याणके लिए भोजन-के समय सदा द्वारावेक्षण करना चाहिए, अर्थात् घरके द्वार पर खड़े होकर अतिथिके आनेकी प्रतीक्षा करनी चाहिए ॥ १७१ ॥ धोतीके साथ उत्तरीय (दुपट्टा) को धारण करनेवाला श्रावक आते हुए साधुको देखकर आनन्दसे शरीरमें नहीं समाता हुआ 'नमोऽस्तु' और 'तिष्ठ-तिष्ठ' कह कर उसको स्वीकार करे (पडिगाहे) ॥ १७२ ॥ पुनः उन्हें घरके भीतर ले जाकर उच्चासन देवे और जलसे स्वयं उसके चरणोंका प्रक्षालन कर, उनका पूजन कर और प्रणाम करके मन वचन कायकी शुद्धिको धारण करता हुआ जीव-जन्तुओंसे रहित, ऊपर चंदोवा जिस स्थान पर बंधा है, जो मार्जार, अस्पृश्य शूद्रोंकी दृष्टिके अगोचर है और अन्धकारसे रहित है, ऐसे स्थान पर ले जाकर देश, ऋतु, काल और पात्रकी प्रकृतिको जानकर आदरपूर्वक आलस्य-रहित होकर अपने उपकारके लिए और पात्रके संयम-ज्ञानकी वृद्धिके लिए उसे पथ्य आहार देवे ॥ १७३–१७५ ॥ जो अन्न पितरोंके श्राद्ध आदिके लिए बनाया गया है, मंत्रित किया हुआ है, नीच लोगोंके योग्य है, सदोष है, रोगका कारण है, अन्य ग्रामसे या अन्य घरसे लाया गया है, घी में पकाया गया है, दिनवासा है, पुष्पित है और स्वाद-चलित है, इत्यादि निन्दनीय अन्न पात्रके लिए नहीं देना चाहिए ॥ १७६-१७७ ॥ इस प्रकार श्रद्धा आदि सात गुणवाला जो श्रावक नवधा भक्ति और शुद्धि-से पात्रके लिए शुद्ध भक्त-पान देता है, वह लक्ष्मीका आस्पद होता है ॥ १७८ ॥ इस प्रकार प्रति-दिन पात्र दानकी विधिको करने वाले सद्-गृहस्थोंके उत्तम परिणाम होनेसे भारी कर्मनिर्जरा होती है ॥ १७९ ॥ सचित्त निक्षेप, सचित्तविधान, पर व्यपदेश, कालातिक्रम और मात्सर्य इन पांच अतीचारोंको अतिथिसंविभागव्रती परित्याग करे ॥ १८० ॥ भिक्षा मांगकर जीवन-यापन करने-वाले तापसने योग्य कालमें पात्रके लिए जौका सत्तू देकर जो उत्तम फल पाया, वह सुवर्ण यज्ञ

मत्वेत्याद्यागमाज्जैनात्फलमस्य प्रशस्यधीः । धत्तेऽतिथिविभागाख्यं गृही शीलं सुनि ॥१८२

इति द्वितीयां प्रतिमामिहैतां । समासेन सतीं प्रणीताम् ।
दधाति यो दर्शनपूत । भवेत्स दुःकर्मरिपोर्विजेता ॥१८३

इति पण्डितश्रीगोविन्दविरचिते पुरुषार्थानुश सद्-व्रतप्रतिमाख्योऽयं र्थोऽवसरः परः ॥

अथ पञ्चमोऽवसरः

अथाऽऽनम्य जिनं वीरमजमच्युतमीश्वरम् । वक्ष्ये सामायिकाभिख्यां तृतीयां प्रतिमामहम् ॥१
सावद्यकर्मदुर्ध्यानरागद्वेषादिवर्जनात् । मनः साम्यैकलीनं द्धि सामायिकं स्मृतम् ॥२
शुद्धिः क्षेत्रस्य कालस्य विनयस्याऽऽसनस्य च । मनोवाग्वपुषां चेति सप्तसामायिके विदुः ॥३
पशुस्त्रीषण्ढसंयोगच्युते कोलाहलोज्झिते । शीतवातातपाधिक्यमुक्ते दंशादिवर्जि ॥४
सौगन्ध्यगीतनृत्याद्यै रहिते रागहेतुभिः । द्वेषबीजैश्च निर्मुक्ते धूमदुर्गन्धतादिभिः ॥५
कन्दरे शिखरे वाद्रेर्वने चैत्यालयेऽथ वा । निः मिनि मठे शून्यगृहे वा रहसि क्वचित् ॥६
यदित्यादिगुणे स्थाने चेतःसौस्थित्यकारणे । सामायिकं क्रियेत ज्ञैः क्षेत्रशुद्धिरियं मता ॥७
भव्यैः पूर्वाह्ण-मध्याह्नापराह्णेऽनेहसस्तपः । क्रियते नातिक्रमो जातु कालशुद्धिममुं विदुः ॥८
यः स्यादनादराभावः सतां सामायिके सदा । विनयस्य मता शुद्धिः सा सिद्धान्तार्थवेदिभिः ॥९

करनेवाले राजाने फल नहीं पाया ॥ १८१ ॥ जैन आगमसे दानका इत्यादि फल जानकर प्रशस्त बुद्धि श्रावक अतिथिसंविभाग नामक शील व्रतको निर्मल रूपसे धारण करता है ॥ १८२ ॥

इस प्रकार इस दूसरी व्रत प्रतिमाको मैंने संक्षेपसे कही। जो सम्यग्दर्शनसे पवित्र चित्त-वाला श्रावक इसे धारण करता है, वह दुष्कर्म रूपी शत्रुओंका जीतने वाला होता है ॥ १८३ ॥

इस प्रकार पण्डित श्री गोविन्दविरचित पुरुषार्थानुशासनमें व्रत प्रतिमाका
वर्णन करने वाला यह चतुर्थ अवसर समाप्त हुआ।

अब मैं अज, अच्युत, ईश्वर स्वरूप श्रीवीर जिनको नमस्कार करके सामायिक नामकी तीसरी प्रतिमाको कहूँगा ॥ १ ॥ पाप कार्योंके, दुर्ध्यानके और राग-द्वेषादिके परित्यागसे जो मन समभावमें एकाग्र होता है, उसे सामायिक कहा गया है ॥ २ ॥ सामायिकमें क्षेत्रकी शुद्धि, कालकी शुद्धि, विनयकी शुद्धि, आसनकी शुद्धि, मनकी शुद्धि, वचनकी शुद्धि, और कायकी शुद्धि ये सात शुद्धियाँ जानना चाहिए ॥ ३ ॥ पशु, स्त्री, नपुंसकके संयोगसे रहित, कोलाहलसे विमुक्त, शीत, वात और आतपसे मुक्त, डांस-मच्छरकी बाधासे रहित, सुगन्धता, गीत, नृत्य इत्यादि रागके कारणोंसे रहित, द्वेषके बीजभूत धूम, दुर्गन्धता आदिसे विमुक्त ऐसे किसी पर्वतके शिखर पर, कन्दरामें, वनमें, चैत्यालयमें, स्वामीसे रहित मठमें, सूने घरमें अथवा किसी उक्त गुणोंसे युक्त एकान्त स्थानमें, जो कि चित्तकी सुस्थिरताका कारण हो, वहाँ पर सामायिक करना चाहिए, इसे ज्ञानी पुरुषोंने क्षेत्र शुद्धि कहा है ॥ ४–७ ॥ भव्य जनोंके द्वारा निर्दोष दिनके पूर्वाह्णमें, मध्याह्नमें और अपराह्ण कालमें जो तप किया जाता है, और उस कालका कभी अतिक्रमण नहीं किया जाता है, उसे कालशुद्धि जानना चाहिए ॥ ८ ॥ सामायिक करनेमें सज्जनोंके जो अनादरका अभाव होता है, अर्थात् सामायिक करनेमें अति आदर होता है उसे आगमके अर्थ-

पर्यङ्काद्यासनस्यास्य सति कष्टेऽपि यत्ततः । चलनं नाल्पमप्येषाऽऽसनशुद्धिस्सदीरिता ॥१०
तथा सामायिकस्थस्य जातु सत्यपि कारणे । न मनोविकृतिर्या सा मनःशुद्धिर्मता बुधैः ॥११
संज्ञाहुङ्कारखात्कारत्यागः सामायिकेऽत्र या । सा शुद्धिर्मता शुद्धवाग्भिः सद्बुद्धिगोचरा ॥१२
पादप्रसारिकामूर्ध्वकम्पो हस्तादिचालनम् । क्रियते यन्न तत्रैषा वपुःशुद्धिर्जिनैर्मता ॥१३
इत्थं सामायिके भव्यः सप्तशुद्ध्यन्वितो वशी । स्थिरो भवति यस्तस्य स्यादेनोनिर्जरा परा ॥१४
सर्वसावद्यनिर्मुक्तस्त्यक्तारम्भपरिग्रहः । गृही सामायिकस्थः स्यात्सचेलोऽपि महाव्रतः ॥१५
सामायिकभिदोऽन्याश्च नामाद्याः सन्ति शासने । शेषावश्यकनिर्देशोऽप्यत्रैव गृहिणो मतः ॥१६
स्तुतिर्नतिः प्रतिक्रान्तिः प्रत्याख्योत्सर्ग इत्यमी । सामायिकोदयोऽर्हद्भिः षोढाऽऽवश्यकमीरितम् ॥१७
स्याच्चतुर्विंशतेस्तीर्थकराणां गुणकीर्तनम् । स्तुतिः श्रीवृषभादीनां वीरान्तानामनुक्रमात् ॥१८
शिरोनत्याऽऽसनावर्तमनोवाक्कायशुद्धिभिः । वन्दना यार्हदादीनां नतिः साऽर्हन्मते मता ॥१९
यन्निराकरणं शास्त्रोद्दिष्टयुक्त्या कृतैनसाम् । कथितेह प्रतिक्रान्तिः सा प्रतिक्रमणोद्यतैः ॥२०
प्रागेव द्वि त्यागोऽनागसानां यदेनसाम् । यमादिविधिना धीरैः प्रत्याख्यानं तदिष्यते ॥२१
निर्ममत्वेन कायस्य व्युत्सर्गो यो विधीयते । विधाय कालमर्यादामुत्सर्गः सोऽत्र दर्शितः ॥२२
ध्यानान्तर्भाव उत्सर्ग एवोक्तः प्रायशो यतः । न विना चिन्तनं किञ्चित्कायोत्सर्गे स्थिरीभवेत् ॥२३

वेत्ताओंने विनयकी शुद्धि कहा है ॥ ९ ॥ कष्ट होने पर भी सामायिकके समय स्वीकार किये गये पर्यंकासन, पद्मासन आदि आसनसे अल्पमात्र भी चल-विचल नहीं होना, यह आसन शुद्धि कही गई है ॥ १० ॥ सामायिक करते समय किसी कारणविशेषके होने पर भी मनमें जरा भी विकार नहीं लाना, इसे विद्वानोंने मनःशुद्धि कहा है ॥ ११ ॥ सामायिक करते समय संकेत हुँकार, खात्कार आदिका त्याग करना, उसे शुद्ध वचन वोलने वाले ज्ञानियोंने सद्-वुद्धिको देने वाली वचन शुद्धि माना है ॥ १२ ॥ सामायिकके समय पैर पसारना, शिर कंपाना, और हाथ आदिका चलाना इत्यादिके नहीं करनेको जिनदेवने कायशुद्धि कहा है ॥ १३ ॥ इस प्रकार सात शुद्धियोंस युक्त, इन्द्रियोंको वशमें रखने वाला जो भव्य पुरुष सामायिकमें स्थिर होता है, उसके पापकर्मोंकी भारी निर्जरा होती है ॥ १४ ॥ सर्व पाप कार्योंसे रहित, आरम्भ-परिग्रहका त्यागी, सामायिकमें स्थित गृहस्थ वस्त्र-सहित होता हुआ भी महाव्रती है ॥ १५ ॥ जैन शासनमें नाम, स्थापना आदिक अनेक भेद सायायिकके कहे हैं वे, तथा शेष आवश्यकोंके करनेका निर्देश भी इसी प्रतिमामें गृहस्थके लिए माना गया है ॥ १६ ॥ चौवीस तीर्थंकरोंका स्तवन, नमस्कार, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, और कायोत्सर्ग और सामायिक गृहस्थके ये छह आवश्यक अर्हन्त देवने कहे हैं ॥ १७ ॥ ऋषभ देवसे लगाकर महावीर तकके चौवीस तीर्थंकरोंका अनुक्रमसे गुण कीर्त्तन करना स्तुति है ॥ १८ ॥ शिरोनति, आसन, आवर्त्त द्वारा और मन वचन कायकी शुद्धि द्वारा जो अर्हन्त सिद्ध आदिकी वन्दना की जाती है, वह अर्हन्मतमें नति आवश्यक माना गया है ॥ १९ ॥ किये हुए पापोंका शास्त्रोक्त युक्तिसे जो निराकरण करना, वह प्रतिक्रमण करनेमें उद्यत आचार्योंने प्रतिक्रान्ति या प्रतिक्रमण कहा है ॥ २० ॥ भविष्य कालमें सम्भव पापोंका पहले ही जो त्याग यम-नियम आदिकी विधिसे किया जाता है, उसे धीर पुरुषोंने प्रत्याख्यान कहा है ॥२१॥ कालकी मर्यादा लेकर और ममता भाव से रहित होकर शरीरका जो त्याग किया जाता है, उसे यहाँ उत्सर्ग कहा गया है ॥ २२ ॥ प्रायः उत्सर्ग ध्यानके ही अन्तर्गत कहा गया है। कुछ भी चिन्तन किये विना कायोत्सर्गमें स्थिर होना

स्थितस्थितादयो भेदास्तस्य चत्वार ईरिता. ।
स्थितेन चिन्त्यते यत्राप्र तत्स्थितस्थितम् ॥२४
ध्यायेद्यत्रोत्थितोऽशस्तं तद्भवेदुत्थितास्थितम् ।
चिन्तयेद्यत्र स्थितस्तत्स्यात्स्थितोत्थितम् ॥२५

तदुत्थितोत्थितं यत्रोत्थितः शस्तं विचिन्तयेत् । ज्ञात्वा हेये इहाऽऽद्ये द्वे द्वे विधेये बुधैः परे ॥२६
चतुःपञ्चाशदुच्छ्वासाः प्रातर्व्युत्सर्ग ईरिताः । मध्याह्नेऽर्धास्ततो ज्ञेयाः सायमष्टोत्तरं शतम् ॥२७
व्युत्सर्गे कालमर्यादा नित्येऽमूं चित्तसत्तमाः । नैमित्तके तु विज्ञेयाः बहुधा परमागमात् ॥२८
पदस्थमथ पिण्डस्थं रूपस्थं वात्र चिन्त्यते । गृहस्थैर्न मतं ध्यानं तेषां रूपविवर्जितम् ॥२९
गार्हस्थोऽपि नरो ध्यानं यो रूपातीतमिच्छति । स प्रोर्नुनूषति व्योम वामनोऽपि करेण सः ॥३०
ध्यातुमिच्छति यो रूपातीतं कान्तादिमानपि । स ग्रावनावमारुह्य तितीर्षति पयोनिधम् ॥३१
न ध्यायति पदस्थादि यो रूपातीतयोः गृही । भुव एकपदेनैवाऽऽरुरुक्षति स भूभृतम् ॥३२
वक्ष्ये तन्मोक्षहेतुत्वे रूपातीतमहं म् । ध्यानाभ्यां -शुक्लाभ्यां सङ्क्षेपेणैव किञ्चन ॥३३
किञ्चित्पदस्थपिण्डस्थरूपस्थानामनुक्रमात् । वक्ष्येऽत्र लक्षणं साक्षाद्वक्ति वीरो न चापरः ॥३४
मनोरोधेन पुण्यानां पदानामनुचिन्तनम् । क्रियते यत्पदस्थं तद्-ध्यानमाहुर्मनीषिणः ॥३५

चाहिए ॥ २३ ॥ इस उत्सर्गके स्थितस्थित आदि चार भेद कहे गये हैं । वैठकर जो अप्रशस्त चिन्तन किया जाता है, वह स्थितास्थित कायोत्सर्ग है ॥ २४ ॥ जहाँ पर खड़े होकर अप्रशस्त चिन्तन किया जाता है, वह उत्थितास्थित कायोत्सर्ग हैं जहाँ पर वैठकर प्रशस्त चिन्तन किया जाता है, वह स्थितोत्थित कायोत्सर्ग है ॥ २५ ॥ जहाँ पर खड़े रहकर प्रशस्त चिन्तन किया जाता है, वह उत्थितोत्थित कायोत्सर्ग है । इन चारोंमें आदिके दो हेय हैं और अन्तके दो ज्ञानियोंके द्वारा करनेके योग्य हैं ॥ २६ ॥ प्रातःकालीन कायोत्सर्गमें चौपन उच्छ्वास कहे गये हैं, मध्याह्नके कार्योत्सर्गमें इससे आधे अर्थात् सत्ताईस उच्छ्वास कहे गये हैं और सायंकालके कायोत्सर्गमें एक सौ आठ उच्छ्वास कहे गये हैं ॥ २७ ॥ यह काल मर्यादा नित्य किये जानेवाले कायोत्सर्गमें श्रेष्ठ चित्तवाले आचार्योंने कही है । किन्तु नैमित्तिक कायोत्सर्गोंमें तो कायोर्त्गकी कालमर्यादा अनेक प्रकारकी है, उसे परमागमसे जानना चाहिए ॥ २८ ॥ इसी सामायिक करनेके समय गृहस्थोंके द्वारा पदस्थ, पिण्डस्थ, और रूपस्थ ध्यानका भी चिन्तन किया जाता है । किन्तु उनके रूपवर्जित अर्थात् रूपातीत ध्यान नहीं माना गया है ॥ २९ ॥ जो गृहस्थोमें रहता हुआ मनुष्य रूपातीत ध्यान करनेकी इच्छा करता है, वह बौना होता हुआ भी हाथसे आकाशको नाप लेनेकी इच्छा करता है ॥ ३० ॥ जो स्त्री आदिसे युक्त होते हुए भी रूपातीत ध्यान करनेकी इच्छा करता है वह पत्थरकी नाव पर वैठ कर समुद्रको तैरनेकी इच्छा करता है ॥ ३१ ॥ जो गृहस्थ पदस्थ आदि ध्यानोंको तो ध्याता नहीं है, किन्तु रूपातीत ध्यान करनेकी इच्छा करता है, वह एक पैरसे ही संसारके पर्वतोंके ऊपर चढ़नेकी इच्छा करता है ॥ ३२ ॥ इसलिए मैं इस रूपातीत ध्यानको मोक्षका कारण होनेसे धर्म और शुद्ध ध्यानके साथ ही संक्षेपमें कुछ कहूँगा ॥ ३३ ॥

यहाँ पर मैं पदस्थ, पिण्डस्थ और रूपस्थ ध्यानका कुछ लक्षण अनुक्रमसे कहूँगा । साक्षात् विस्तृत स्वरूप तो वीर भगवान् ही कह सकते हैं, दूसरा नहीं ॥ ३४ ॥ मनको रोककर जो पवित्र पदोंका अनुचिन्तन किया जाता है, उसे मनीषी पुरुषोंने पदस्थ नामका ध्यान कहा है ॥ ३५ ॥

पदं नमस्कारं सत्पञ्चत्रिंशदक्षरम् । अनादिसिद्धमन्त्रादिवहुसंज्ञमकृत्रिमम् ॥३६
महाप्रभावसम्पन्नं सर्वविद्याफलप्रदम् । राज्यस्वर्गापवर्गाणां दायकं मन्त्रनायकम् ॥३७
तिर्यञ्चोऽपि यदासाद्याविवेका अपि नाकिताम् । सम्प्रापुर्बहवो ध्येयं तद्विलोक्य सुखैषिणा ॥३८

' णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं'' ॥३९

ध्यायेदर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यः । नम इति षोडश वर्णं मन्त्रपदं कामदं धीमान् ॥४०
स्मरेच्च पञ्चगुर्वादिवर्णपञ्चकमञ्चितम् । ओमर्हं ह्रीमपूर्वाणि सन्त्यन्यानि पदानि च ॥४१
सुखदानि पदान्यर्हदागमोक्तानि धीधनैः । समस्तान्यपि चिन्त्यानि ध्यानिभिर्मोक्तुमिच्छुभिः ४२
स्तम्भनोच्चाटविद्वेषकारणानि पराणि यः । पदानि चिन्तयत्यज्ञो रागद्वेषाकुलीकृतः ॥४३
मोक्षसौख्यलवाशक्तचेतनो जन्मकर्दमात् । न निर्याति चिरं दुःखलक्षविक्षिप्तमानसः ॥४४
मत्वेत्यनादिमन्त्रादिपदानि पुण्यदानि यः । ध्यायत्यनारतं तस्याऽऽसन्ना भवति निर्वृतिः ॥४५
गोपः पञ्चनमस्कारस्मृतेर्भूत्वा सुदर्शनः । मोक्षमाप प्रसिद्धेयं कथास्ति जिनशासने ॥४६

(इति पदस्थम्)

पिण्डस्थे धारणाः पञ्च ज्ञेया दिध्यासुभिः शुभाः । पार्थिवीप्रमुखा अत्र वक्ष्यमाणा अनुक्रमात् ॥४७

पंच परमेष्ठीके नमस्कार रूप जो पाँच पद हैं, जिसमें पैंतीस अक्षर हैं, जो अनादिसिद्ध मंत्र आदि अनेक नामवाला है, अकृत्रिम है, महान् प्रभावसे सम्पन्न है, सर्व विद्यारूप फलको देनेवाला है, राज्य पद, स्वर्ग और मोक्षका दाता है, सभी मंत्रोंका स्वामी है, बहुतसे अविवेकी तिर्यंच भी जिसे पाकर देवपनेको प्राप्त हुए हैं, ऐसे उस अनादिसिद्ध मंत्रका सुखके इच्छुक मनुष्यको ध्यान करना चाहिए ॥ ३६–३८ ॥ वह मंत्र इस प्रकार है—'अरिहन्तोंको नमस्कार हो, सिद्धोंको नमस्कार हो, आचार्योंको नमस्कार हो, उपाध्यायोंको नमस्कार हो और लोकमें प्राणियोंका कल्याण करनेवाले सर्व साधुओंको नमस्कार हो ॥ ३९ ॥ तथा बुद्धिमान् श्रावक 'अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः' इस सोलह अक्षरके मनोवांछित अर्थको देनेवाले मंत्रका ध्यान करे ॥ ४० ॥ पंच परमगुरुके वाचक उनके आदि अक्षर—'अ सि आ उ सा' को नमः पद लगाकर स्मरण करे। इसी प्रकार बुद्धिमानोंको 'ॐ ह्रीं अर्हं नमः सिद्धेभ्यः' इत्यादि अन्य मंत्र पदोंका स्मरण करना चाहिए। ये सभी पद अर्हद आगममें कहे गये हैं और सुखके देनेवाले हैं अतः मुक्तिके इच्छुक ध्यान करने वाले मनुष्योंको इन सभी पदोंका अपनी शक्तिके अनुसार भक्तिके साथ चिन्तवन करना चाहिए ॥ ४१-४२ ॥ राग-द्वेषसे आकुल-व्याकुल हुआ मूर्ख मनुष्य स्तम्भन, उच्चाटन और विद्वेष- करनेवाले पदोंका चिन्तवन करता है, वह मोक्षके सुखका लवलेश भी पानेमें असमर्थ होकर लाखों दुःखोंसे विक्षिप्त चित्त होता हुआ संसाररूपी कीचड़से चिरकाल तक भी नहीं निकलता है ॥ ४३-४४ ॥ ऐसा जानकर जो मनुष्य पुण्य-प्रदायक इन अनादिमंत्र आदिके पदोंको संसारसे छूटनेकी इच्छासे निरन्तर ध्यान करता है, उसके मुक्ति समीप होती जाती है ॥ ४५ ॥ देखो—वह गुवाला पंच-नमस्कार मंत्रके स्मरण करनेसे सुदर्शन सेठ होकर मोक्षको प्राप्त हुआ, यह कथा जिनशासन-में प्रसिद्ध है ॥ ४६ ॥

(इस प्रकार पदस्थ ध्यानका वर्णन किया)

ध्यान करने वाले मनुष्योंके पिण्डस्थ ध्यानमें पार्थिवी आदिक वक्ष्यमाण पाँच धारणाएँ

तद्यथा—

मध्यलोकसमश्चित्ते चिन्त्यते क्षीरसागरः जम्बूद्वीपप्रमं तत्र हेमाब्जं रक्तकेशरम् ॥४८
हेमाचलमयी तत्र कर्णिका विष्टरम् । चन्द्राभं तत्स्थ त्मा ध्येयः कर्म ोद्यतः ॥४९

(इति पार्थिवी धारणा)

नाभावब्जं ततो ध्यायेत् षोडशस्वरपत्रकम् । कर्णिकायां हकारं च रेफविन्दुकलान्वितम् ॥५०
तद्-रेफवह्निना पद्ममष्टकर्माष्टपत्रकम् । निर्दहेदावृतात्मानं हृदि स्थितमधोमुखम् ॥५१
वहिःस्थितत्रिकोणाग्निमण्डलोत्याग्निना ततः । स्फुरज्ज्वाला कलापेन दहेद् धातुमयं वपुः ॥५२
अन्तःकर्माणि मन्त्राग्निर्म ग्निर्वहिर्वपुः । दग्ध्वा यातः स्वयं शान्ति दाह्याभावाच्छनैः शनैः ॥५३

(इति आग्नेयी धारणा)

ततस्तद्भस्म निधू्य प्रचण्डमरुता क्षणात् । पवनं च ततः शान्तिमानयेत्तं स्थिराशयः ॥५४

(इति मारुती धारणा)

नाभिस्थितात्ततोऽर्धेन्दुसमाद्वरुणमण्डलात् । तद्भस्म क्षालयेन्मेघाद् दिवश्च्योतत्पयःप्लवैः ॥५५

(इति वारुणी धारणा)

निर्धातुतनुमिद्धाभं स्वं ततोऽर्हत्समं स्मरेत् । स्फुरत्सिंहासनारूढं सर्वातिशयसंयुतम् ॥५६

(इति तत्त्वरू ी धारणा)

जाननी चाहिए। उन्हें अव अनुक्रमसे कहते हैं ॥ ४७ ॥ यथा—ध्यानमें मध्य लोकके समान विस्तृत क्षीरसागर पहले विचारना चाहिए। पुनः उसके मध्यमें जम्बूद्वीपप्रमाण लाल परागवाला सुवर्ण-कमल चिन्तन करे। पुनः उसके मध्यमें सुवर्ण गिरि (मेरु) मयी कर्णिका चिन्तन करे और उसपर चन्द्रके समान आभावाला सिंहासन चिन्तन करे, पुनः उस सिंहासनके ऊपर स्थित और कर्मोंका क्षय करनेके लिए उद्यत अपने आत्माका ध्यान करे ॥ ४८-४९ ॥ (यह पार्थिवी धारणा है।)

इस पार्थिवी धारणाके पश्चात् नाभिस्थान पर सोलह पत्र वाले कमलका विचार कर एक-एक पत्र पर अकारादि एक-एक स्वरका चिन्तन करे। और कर्णिकामें रेफ-विन्दु-कला सहित हकार-का अर्थात् 'हँ' इस पदका ध्यान करे ॥ ५० ॥ उसके पश्चात् हृदयमें अधो मुखवाले अष्ट दल कमलका चिन्तन करे। उसके एक-एक पत्र पर एक-एक कर्मको स्थापित करे। पुनः नाभि-कमलकी कर्णिका पर स्थित हँ के रेफसे उठती हुई अग्निके द्वारा आत्माको आवरण करने वाले उन आठ कर्म रूप कमल पत्रको जलता हुआ चिन्तन करे ॥ ५१ ॥ तत्पश्चात् बाहर स्थित तीन कोण वाले अग्नि मण्डलसे उठी हुई स्फुरायमान ज्वाला समूहवाली अग्निसे अपने सात धातुमयी शरीरको जलता हुआ चिन्तन करे ॥ ५२ ॥ इस प्रकार मंत्राग्नि भीतरके कर्मोंको और मण्डलाग्नि बाहरके शरीरको जलाकर जलाने योग्य अन्य पदार्थके अभावसे धीरे-धीरे स्वय शान्त हो रही है, ऐसा चिन्तन करे ॥ ५३ ॥ (यह आग्नेयी धारणा है।)

इसके पश्चात् प्रचण्ड वायुसे उस भस्मको क्षणमात्रमें उड़ाकर वह स्थिर चित्तवाला ध्याता उस पवनको धीरे-धीरे शान्तिको प्राप्त करावे ॥ ५४ ॥ (यह मारुती धारणा है।)

तत्पश्चात् नाभि-स्थित अर्धचन्द्र-सदृश वरुण-मण्डल रूप आकाश स्थित मेघसे बरसते हुए जलके प्रवाहों द्वारा उस भस्मको धो रहा हूँ, ऐसा चिन्तन करे ॥ ५५ ॥ (यह वारुणी धारणा है।)

तत्पश्चात् सर्वधातुओंसे रहित और बढ़ती हुई आभावाली अपनी, आत्माको स्फुरायमान

इत्थं यो धारणाः पञ्च ज्ञात्वा ध्याने स्थिरीभवेत् ।
पिण्डस्थे तस्य जायन्ते सर्वा वाञ्छितसिद्धयः ॥५७

पिण्डस्थधारणाभ्यासवशीभूताशयस्ततः । रूपस्थं परमं ध्यानं ध्यातुमारभते हि तत् ॥५८

तद्यथा—

रूपस्थे तीर्थकृद् ध्येयः समस्तातिशयान्वितः । उच्चैः सिंहासनासीनोऽमरचामरवीजितः ॥५९
शुद्धस्फटिकसंकाशकोटीनप्रभविग्रहः । स्वप्रभावनिरस्तेभसिंहादिप्राणिविग्रहः ॥६०
ख्यापयन्त्रिजगद्-राज्यछत्रत्रय न्वितः । उच्चैरशोकसद्-वृक्षच्छायाश्रितनरामरः ॥६१
देवदुन्दुभिनिर्घोषबधिरीभूतविष्टपः । दिव्यगीःप्रीणिताशेषदेवदानवमानवः ॥६२
अनारतभवत्पुष्पवर्षाञ्चितसभाङ्गणः । सेवाऽऽगतनमद्विश्वनरोरगमरुद्गणः ॥६३
भवाम्बुधिपतज्जन्तुदत्तहस्तावलम्बनः । केव नदृग्दृष्टस्पष्टत्रिभुवनस्थितिः ॥६४
वीतरागो गतद्वेषो विरोषो विमदो वितृट् । विलोभोऽनामयोऽमायोऽनपायो निर्भयोऽक्षयः ॥६५
निष्कामः कामिनीमुक्तो विवैरी विगतायुधः । पर्यङ्कासनमासीनो निष्पन्दीभूतलोचनः ॥६६
निष्कारणसुहृद् धर्मदेशकोऽनन्त : । अनन्तमहिमाऽपास्तसमस्तासन्नयान्वयः ॥६७
अजः स्रष्टा जगज्ज्येष्ठः स्वयम्भूः कम नः । ब्रह्मा पुराणपुरुषश्चतुरास्यः पितामहः ॥६८
श्रीपतिः पुण्डरीकाक्षो नरकान्तकरोऽच्युतः । अनन्तो विष्णुरव्यक्तो हृषीकेशो नरोत्तमः ॥६९

सिंहासन पर आसीन, और सर्वअतिशयोंसे संयुक्त अर्हन्तके समान स्मरण करे ॥ ५६ ॥ (यह तत्त्व-रूपवती धारणा है ।)

इस प्रकार जो मनुष्य पाँचों धारणाओंको जानकर पिण्डस्थ ध्यानमें स्थिर होता है उसको सभी मनोवांछित सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ॥ ५७ ॥ पिण्डस्थ धारणाओंके अभ्याससे जिसने अपने मनको वशमें कर लिया है, वह पुरुष पुनः परम रूपस्थ ध्यानको ध्याना इस प्रकारसे प्रारम्भ करता है ॥ ५८ ॥ रूपस्थ ध्यानमें समस्त अतिशयोंसे युक्त, ऊँचे सिंहासन पर विराजमान, और देवोंके द्वारा चामरोंसे वीजित तीर्थंकरका ध्यान करना चाहिए ॥ ५९ ॥ जिनका कि शरीर शुद्ध स्फटिकके सदृश और कोटि सूर्योंकी प्रभावाला है, और जिसने अपने प्रभावसे बकरे और सिंहादि प्राणियोंके जन्म-जात वैर-विरोधको दूर कर दिया है, जो तीन जगत्के साम्राज्यको प्रकट करने वाले तीन छत्रोंसे युक्त हैं, जिनके समीपस्थ ऊँचे अशोक वृक्षकी उत्तम छायामें देव और मनुष्य आश्रय ले रहे हैं, जहाँ पर बज रही देव-दुन्दुभियोंकी गम्भीर ध्वनिसे समस्त लोक बधिरसा हो रहा है, जिनकी दिव्यध्वनि समस्त देव,दानव और मानव समूहको हर्षित कर रही है, जहाँका सभाङ्गण निरन्तर हो रही पुष्पवर्षासे आच्छादित है, सेवाके लिए आये हुए समस्त मनुष्य नाग और देवगण जिन्हें नमस्कार कर रहे हैं, जो संसार-समुद्रमें पड़े हुए प्राणियोंको निकालनेके लिए हस्तावलम्बन दे रहे हैं, जिन्होंने केवलज्ञानरूप नेत्रसे त्रिभुवनकी समस्त स्थितिको स्पष्ट देख लिया है, जो राग-रहित हैं, द्वेष-रहित हैं, रोष-रहित हैं, मद-रहित हैं, तृष्णा-रहित हैं, लोभ-रहित हैं, रोग-रहित हैं, माया-रहित हैं, अपाय-(विनाश-) रहित हैं, निर्भय हैं, अक्षय हैं, निष्काम हैं, कामिनीसे रहित हैं, वैरि-रहित हैं, आयुधोंसे रहित हैं, पद्मासनसे विराजमान हैं, जिनके नेत्र टिमकारसे रहित हैं, जो सबके निष्कारण मित्र हैं, धर्मके उपदेशक हैं, अनन्त पराक्रमी हैं, अनन्त महिमावाले हैं, समस्त कुनयोंकी परम्पराके दूर करनेवाले हैं, अजन्मा हैं, स्रष्टा हैं, जगज्ज्येष्ठ हैं, स्वयम्भू हैं, कमलासन हैं, ब्रह्मा हैं, पुराण हैं, चतुरानन हैं, पितामह हैं, श्रीपति हैं, पुण्डरीकाक्ष हैं, नरकान्तक हैं, अच्युत हैं, अनन्त

कामहन्ता महादेवो वामदेव उमापतिः । शङ्करो भुवनेशानः शिवस्त्र्यक्षो दिगम्बरः ॥७०
समन्तभद्रः सुगतो लोकजिद् भगवान् जिनः । महाशक्तिधरः स्वामी गणाधीशो विनायकः ॥७१
तमोरिपुर्जगच्चक्षुर्विवस्वांल्लो न्धवः । कान्तिमानौषधीशानः कलावान् कमलाप्रियः ॥७२
वाचस्पतिः सुरगुरुर्योगीशो भूतनायकः । नित्य इत्यादिसङ्ख्यातान्वर्थनामोपलक्षितः ॥ ७३
सर्वज्ञः सर्वगः सार्वः दः सर्वदर्शिनः । ङ्गिशरणीभूतः सर्वविद्यामहेश्वरः ॥७४
अनन्तसुखसाद्भूतः कृतार्थः सकलार्थवान् । नवकेवललब्धीद्धसमृद्धिः सिद्धशासनः ॥७५
इन्द्रादिभिः सदाऽभ्यर्च्यश्चतुर्धा दिविषद्गणैः । वर्त्यादिभिः स्तुत्योऽभून्नभोगोचरैर्नरैः ॥७६
सर्वासाधारणाशेषविस्मयोत्पादिवैभवः । को मोक्षमार्गस्य दायकोऽभीष्टसम्पदाम् ॥७७
इत्यादिगणनातीतगुणोऽने केतनः । निर्विकारोपधिर्देवः सयोगिपरमेश्वरः ॥७८
तद्-ध्याननिश्चलीभूतचेताः सञ्चिन्तयेत्ततः । तन्मयीभूतमात्मानं स्थैर्यतः कि सिद्धयति ॥७९

इत्थं रूपस्थमाख्यातं ध्यानं सुनिर्मलम् ।
स्याद्गार्हस्थ्येऽपि केषाञ्चिदेतद् रुद्धाक्षचेतसाम् ॥८०

(इति रूपस्थध्यानम्)

यदा यदा मनः साम्यलीनं दुर्ध्यानवर्जि म् । सामायिकं भवेत्पुंसां सर्वकाले तदा तदा ॥८१
इत्यत्रैवार्हदर्चा च कैश्चित्पौरस्त्यसूरिभिः । गृहस्थानामनुष्ठाने नित्ये मुख ोदि ॥८२
देवानपूज्य यो भुङ्क्ते पात्रायान्धोऽप्रदाय च । आरम्भोत्थेन पापेन स गृही मुच्यते कथम् ॥८३

हैं, विष्णु हैं, अव्यक्तरूप हैं, हृषीकेश हैं, पुरुषोत्तम हैं, काम-हन्ता हैं, महादेव हैं, उमापति हैं, शंकर हैं, भुवनेश हैं, शिव हैं, त्रिलोचन हैं, दिगम्बर हैं, समन्तभद्र हैं, सुगत हैं, लोक-विजेता हैं, भगवान् हैं, जिन हैं, महाशक्तिके धारक हैं, स्वामी हैं, गणाधीश हैं, विनायक हैं, अन्धकारके शत्रु हैं, जगत्के नेत्र हैं, भास्वान् हैं, लोक-बान्धव हैं, कान्तिमान् हैं, औषधीश्वर हैं, कलावान् हैं, कमलाप्रिय हैं। वाचस्पति हैं, सुरगुरु हैं, योगीश हैं, भूतनायक हैं, नित्य हैं, इनको आदि लेकर जो सहस्रों सार्थक नामोंसे संयुक्त हैं, तथा जो सर्वज्ञ, सर्वग, सार्व, सर्वदाता, सर्वदर्शी हैं, सर्व प्राणियोंके शरणभूत हैं, सर्व विद्याओंके महेश्वर हैं, अनन्त सुखमें निमग्न हैं, कृतार्थ हैं, सर्व अर्थवाले हैं, नौ केवल-लब्धियोंकी समृद्धिसे सम्पन्न हैं, जिनका शासन सिद्ध है, इन्द्रादिकोंके द्वारा सदा पूज्य हैं, जो चारों प्रकारके देवगणोंसे, चक्रवर्ती आदिकोंसे और विद्याधर और भूमिगोचरी मनुष्योंसे सदा स्तुत्य हैं, सबसे असाधारण और सबको विस्मय उत्पन्न करनेवाले वैभवसे युक्त हैं, मोक्षमार्गके नायक हैं, अभीष्ट सम्पदाओंके दायक हैं, इत्यादि अगणित गुणोंके धारक हैं, अनेकान्तकी ध्वजावाले हैं, विकार-रहित हैं, परिग्रह-रहित हैं, ऐसे सयोगिपरमेश्वर तीर्थंकर देवको रूपस्थ ध्यानमें निश्चली-भूत चित्तवाला ध्यान चिन्तवन करे और अपनी आत्माको तन्मयस्वरूप विचार करे। ध्यानकी स्थिरतासे क्या सिद्ध नहीं होता है। इस प्रकार मैंने अति निर्मल रूपस्थ ध्यानको कहा। यह ध्यान गृहस्थपनेमें भी कितने ही इन्द्रिय और मनका निरोध करनेवाले श्रावकोंके होता है॥ ६०—८० ॥ यह रूपस्थ ध्यान है।

जब जब मनुष्योंका मन साम्यभावमें लीन होता है और आर्त्त-रौद्ररूप दुर्ध्यानोंसे रहित होता है तब तब सर्वकाल उनके सामायिक होती है ॥ ८१ ॥ इसी शिक्षाव्रतमें कितने ही प्राचीन आचार्योंने अर्हन्त देवकी पूजाको भी गृहस्थोंके नित्य कर्तव्योंमें मुख्यरूपमें कहा है ॥ ८२ ॥ जो मनुष्य अपने पूज्य देवोंकी पूजा न करके और पात्रोंको आहार न देकरके भोजन करता है वह

यस्तु वदत्यर्चनेऽप्येनः स्यात्पुष्पावचयादिभिः । न ततस्तदनुष्ठेयं स इत्थं प्रतिवोध्यते ॥८४

भक्त्या कृता जिनार्चनो हन्ति भूरि चिरार्जितम् ।
या सा किं तन्न हन्तीभं यः सिंहः स न किं मृगम् ॥८५

मत्वेति गृहिणा कार्यमर्चनं नित्यमर्हताम् । तेषां प्रत्यक्षमप्राप्तौ पूज्यास्तत्प्रतिमा बुधैः ॥८६
प्रतिमाऽचेतना सूते किं पुण्यं नेति मन्यते । भक्तिरेव यतो दत्ते नराणां विपुलं फलम् ॥८७
स्त्री-शस्त्रादिविनिर्मुक्ताः प्रतिमाश्च जिनेशिनाम् । रागद्वेषविहीनत्वं सूचयन्ति नृणामहो ॥८८
शान्ताः शुद्धासनाः सौम्यदृशः सर्वोपधिच्युताः । सन्मतिं जनयन्त्यर्हत्प्रतिमाश्चेक्षिताः सताम् ॥८९
प्रतिमातिशयोपेता पूर्वा व्यङ्गापि पूज्यते । व्यङ्गाऽन्या शिरसा सापि क्षिप्याब्धिस्वापगादिषु ॥९०
अब्रह्मारम्भवाणिज्यादिकर्मनिरतो गृही । स्नात्वैव पूजयेद्देवान् परिधायाच्छवाससी ॥९१
किं कृतप्राणिघातेन स्नानेनेतीह वक्तिः यः । स स्वेदाद्यपनोदाय स्नानं कुर्वन्न लज्जसे ॥९२
मत्वेति निर्जन्तुकस्थाने सलिलैर्वस्त्रगालितैः । पूजार्थमाचरेत्स्नानं सन्मन्त्रेणामृतीकृतैः ॥९३
सरित्यन्यत्र चागाधपयःपूर्णे जलाशये । वातातपपरिस्पृष्टे प्रविश्य स्नानमाचरेत् ॥९४
वाताहतं घटीयन्त्रग्रावाद्यास्फालितं जलम् । सूर्यांशुभिश्च संस्पृष्टं प्रासुकं यतयो जगुः ॥९५

गृहस्थ आरम्भ-जनित पापसे कैसे छूटेगा ? अर्थात् नहीं छूट सकेगा ॥ ८३ ॥ जो यह कहता है कि पुष्पोंको वृक्षोंसे तोड़ने आदिसे पूजन करनेमें पाप होता है, इसलिए पूजन नहीं करना चाहिए, उसे इस प्रकारसे प्रतिवोधित करते हैं ॥ ८४ ॥ भक्तिसे की गई जो जिन-पूजा चिरकालके उपार्जित भारी पापोंका विनाश करती है, वह क्या पुण्य संचय आदिसे उत्पन्न हुए अल्प पापका भी विनाश नहीं करेगी ? अर्थात् अवश्य ही करेगी। जो सिंह हाथीको मारता है, वह क्या मृगको नहीं मार सकता है ॥८५॥ ऐसा जानकर गृहस्थको नित्य ही अरहन्तोंका पूजन करना चाहिए। उनकी प्रत्यक्ष प्राप्तिके अभावमें विद्वानोंको उनकी प्रतिमाएँ पूजनी चाहिए ॥८६॥ जो ऐसा मानते हैं कि प्रतिमा तो अचेतन हैं, वह क्या पुण्य देगी ? उसे ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि भक्ति ही मनुष्यों-को विशाल फल देती है। भावार्थ—प्रतिमा तो कुछ फल नहीं देती, किन्तु उसके आश्रयसे की गई भक्ति ही फल देती है ॥ ८७ ॥ अहो, स्त्री, शास्त्र आदिसे रहित जिनेश्वरोंकी प्रतिमाएँ मनुष्योंको राग-द्वेषके अभावको सूचित करती हैं ॥ ८८ ॥ जिनेश्वरकी प्रतिमाएँ शान्तस्वरूप हैं शुद्ध आसन-वाली हैं, सौम्य दृष्टिकी धारक हैं, सर्व परिग्रह उपाधिसे रहित हैं। ऐसी जिनप्रतिमाएँ दर्शन किये जाने पर सन्त जनोंको सन्मति उत्पन्न करती हैं ॥ ८९ ॥ अतिशय वाली प्राचीन खंडित हुई प्रतिमा भी पूजाके योग्य होती है। जो प्रतिमा शिरसे खंडित हो, उसे समुद्र, नदी आदिमें क्षेपण कर देना चाहिए ॥ ९० ॥ अब्रह्म, आरम्भ, वाणिज्य आदि कार्योंमें संलग्न गृहस्थको स्नान करके और शुद्ध स्वच्छ दो वस्त्र धारण करके ही देव-पूजा करनी चाहिए ॥ ९१ ॥ जो मनुष्य यह कहता है कि पूजनके लिए प्राणिघात करनेवाले स्नानसे क्या प्रयोजन है ? वह मनुष्य पसीना आदिको दूर करनेके लिए स्नान करता हुआ क्यों लज्जित नहीं होता है ॥ ९२ ॥ ऐसा जानकर जीव-रहित स्थानमें वस्त्रसे छाने हुए और उत्तम मंत्र द्वारा अमृतरूप किये हुए जलसे पूजनके लिए स्नान करना चाहिए ॥ ९३ ॥ पवन और सूर्य-किरणोंसे परिस्पृष्ट (प्रासुक) नदी, सरोवर या किसी अगाध जल से भरे स्थानमें प्रवेश करके स्नान करे ॥ ९४ ॥ पवनसे आन्दोलित, अरहट से और पाषाण आदिसे टकराये हुए, तथा सूर्यकी किरणोंसे तपे हुए जलको यतियोंने प्रासुक कहा है ॥ ९५ ॥

इत्थं मन्त्रजलस्नातः लीकरणादिवित् । त्रिशुद्धया पूजयेद् देवान् शुद्धद्रव्यैर्जलादिभिः ९६
जिनेन्द्रसंहिताभ्यो ग्रन्थेभ्योऽर्चाविधिः स्फुटम् । ज्ञात्वा भव्यैरनुष्ठेयः स ो भवभीरुभिः ॥९७
जिनं पद्मेन भेकोऽपि पथ्यगच्छत्समर्चितुम् । गजपादाहतो मृत्वा देवोऽभूदद्भुतोदयः ॥९८
इत्यादिफलमालोच्य रतैर्भाव्यं जिनार्चने । आवश्यकेषु श्यं भव्यैः सामायिकादिषु ॥९९
केवलं प्राप चक्रयाद्यो लोचानन्तरमेव यत् । ज्ञेयं सामायिकस्यैव माहात्म्यं तत्कृताद्भुतम् ॥१००

इत्थं समासेन मया प्रणीतां सामायिकाख्यां प्रतिमां सभेदाम् ।
दधाति यः शुद्धमतिः सुयुक्ति भव्यार्थनीयां लभते स मुक्तिम् ॥१०१

इति पण्डितश्रीगोविन्दविरचिते पुरुषार्थानुशासने
ायिकोपदेशोऽयं पञ्चमोऽवसरः ।

अथ षष्ठोऽवसरः

अथानम्याऽऽर्हतो वक्ष्ये प्रतिमाः प्रोषधादिकाः । अष्टौ स्पष्टीकृताशेषतत्त्वभेदानघच्छिदः ॥१
स्यादष्टम्यौ चतुर्दश्यौ मासे पर्वचतुष्टयम् । तत्रोपवसनं यत्तद् भाष्यते प्रोषधव्रतम् ॥२
भुक्त्वा पूर्वेऽह्नि मध्याह्ने त्यक्त्वाऽऽरम्भं कृतैनसाम् । गृहीतप्रोषधस्तिष्ठेदनुप्रेक्षा विचारयन् ॥३
षोडशप्रहरानित्थं सन्मनोवाग्वपुःक्रियः । स्थित्वाऽद्यात्पात्रदत्तान्नशेषमर्धेऽपरेऽहनि ॥४

इस प्रकार मंत्रित जलसे स्नान किया हुआ, सकलकरणादि विधिका वेत्ता गृहस्थ त्रियोगकी शुद्धिपूर्वक जलादि शुद्ध द्रव्योंसे अर्हन्त देवोंकी पूजा करे ॥ ९६ ॥ भव-भीरु भव्य पुरुषोंको जिन-संहिता, इन्द्रनन्दिसंहिता आदि ग्रन्थोंसे विस्तार-सहित पूजनकी विधि जानकर नित्य पूजन करना चाहिए ॥ ९७ ॥ देखो—कमलसे भगवान्का पूजन करनेके लिए मार्गमें जाता हुआ मेढक श्रेणिक-के हाथीके पैरसे दब करके मरकर अद्भुत समृद्धि वाला देव हुआ ॥ ९८ ॥ पूजनका इत्यादि प्रकारसे उत्तम फल विचार कर भव्य पुरुषको जिन-पूजनमें और सामायिक आदि आवश्यकोंमें अवश्य ही संलग्न रहना चाहिए ॥९९॥ केश-लोचके अनन्तर ही आदि चक्रवर्ती भरत जो आश्चर्य-कारक केवलज्ञानको प्राप्त हुए, वह सामायिकका ही माहात्म्य जानना चाहिए ॥ १०० ॥

इस प्रकारसे जो शुद्ध बुद्धि वाला पुरुष मेरे द्वारा भेदसहित संक्षेपसे कही गई इस सामा-यिक नामकी तीसरी प्रतिमाको योग्य रीतिके साथ धारण करता है, वह भव्यजनोंके द्वारा प्रार्थनीय मुक्तिको प्राप्त करता है ॥ १०१ ॥

इस प्रकार पण्डित श्री गोविन्दविरचित पुरुषार्थानुशासनमें सामायिक प्रतिमाका
वर्णन करनेवाला यह पंचम अवसर समाप्त हुआ ।

अब अरिहन्तोंको नमस्कार प्रोषध आदिक आठ प्रतिमाओंको कहूँगा, ये प्रतिमाएँ श्रावकके समस्त ि.तंव्यरूप तत्त्वोंके भेदको स्पष्ट रूपसे प्रकट करनेवाली और पापोंका छेदन करनेवाली हैं ॥ १ ॥ एक मासमें दो अष्टमी और दो चतुर्दशी ये चार पर्व होते हैं, इनमें उपवास करनेको प्रोषधव्रत कहा गया है ॥ २ ॥ पर्वके पहिले दिन मध्याह्नमें भोजन करके, पापोंको करनेवाले सर्व आरम्भको छोड़कर और प्रोषधव्रत ग्रहण कर भावनोंका चिन्तवन करते हुए किसी पवित्र एकान्त स्थानमें रहे ॥ ३ ॥ पर्वके पूर्व वाले आधे दिनको, रात्रिको और पर्वके पूरे दिन-रातको तथा पर्वके आगेसे मध्याह्न तकके समयको, इस प्रकार सोलह पहरोंको मन वचन कायकी सत्-

इत्युत्तमोपवासस्याभ्यधाय्येव मया विधिः । ये मध्यमोपवासादिभेदा ज्ञेया जिनागमात् ॥५
संयमारामविच्छेदप्रवृत्ता अक्षदन्तिनः । निरोद्धुं नैव शक्यन्त उपवासाङ्कुशं विना ॥६
र्थेभ्यः करणान्यत्र निवर्त्योपवसन्ति यत् । एवोपवासोऽयमित्याचार्यैनिरुच्यते ॥७
यथा यथा क्षुधाद्याभिर्बाधाभिर्बाध्यते वपुः । तथा तथा परा कर्मनिर्जरा जायते नृणाम् ॥८
नोपवासोत्थबाधासु संक्लिश्यन्ते बुधा : । स्मृत्वा च नारकीर्बाधा अवाग्गोच्चरदुःखदाः ॥९
दुर्बलत्वं शरीरे स्यादुपवासेन यन्नृणाम् । तन्मन्ये गलितानन्तदुःकर्माणुचयोद्भवम् ॥१०
ततः कुर्याद्यथाशक्ति युक्तं ज्ञात्वा विचक्षणः । सूपवासादिकं किञ्चिद् व्रतं सर्वेषु पर्वसु ॥११
काञ्जिकाहारमेकान्नमेकस्थानं रसोज्झनम् । इत्येकभक्तिभेदेषु कुर्याद्वैकतमं सुधीः ॥१२
सुखं शिवे शिवं कर्महानितः सोपवासतः । एवोपवासोऽतः शक्तौ सत्यां सुखार्थिभिः ॥१३
यद्भवन्तीह तीर्थेशाश्चक्रिणश्चार्धचक्रिणः । तत्प्राक्कृतोपवासानामेतद् ज्ञेयं परं फलम् ॥१४
मातङ्गोऽप्युपवासेनार्जुनो निर्जरतामितः । ज्ञेया श्रीरामचन्द्रोक्तात्कथा पुण्यास्रवादियम् ॥१५
एकेनैवोपवासेन नागदत्तो वणिक्सुतः । मृत्वाऽभूदमरश्च्युत्वा ततोऽभूदत्र विश्रुतः ॥१६
कामो नागकुमाराख्यो लक्षकोटीभटः पटुः । चरमाङ्गः कथाऽस्येयं ख्यातैवास्त्यार्हते मते ॥१७

क्रियाएँ करते हुए विता कर तीसरे दिन मध्याह्नके समय पात्रको दान देकर बचे हुए अन्नको खावे ॥ ४ ॥ यह उत्तम उपवासकी विधि मैंने कही। उपवासके जो मध्यम आदि अन्य भेद हैं, उन्हें जिनागमसे जानना चाहिए ॥ ५ ॥

संयमरूपी उद्यानके विच्छेद करनेमें प्रवृत्त इन इन्द्रियरूपी गजोंको उपवासरूपी अंकुशके विना रोकना शक्य नहीं है ॥ ६ ॥ अपने-अपने विषयोंसे इन्द्रियोंको निवृत्त करके जो आत्म-स्वरूपमें निवास करते हैं, वही उपवास कहा जाता है, आचार्य उपवासकी ऐसी निरुक्ति करते हैं ॥ ७ ॥ जैसे जैसे भूख-प्यास आदिकी बाधाओंसे शरीर पीड़ित किया जाता है, वैसे-वैसे ही मनुष्योंके भारी कर्म-निर्जरा होती है ॥ ८ ॥ इसलिए ज्ञानी जन उपवास करनेसे उत्पन्न होनेवाली भूख-प्यास आदिकी बाधाओंके समय नरकोंमें होनेवाली वचन अगोचर दुःख देनेवाली बाधाओंको स्मरण कर संक्लेशको प्राप्त नहीं होते हैं ॥ ९ ॥ उपवास करनेसे मनुष्योंके शरीरमें जो दुर्बलता आती है, वह दुष्कर्मोंके अनन्त परमाणुसमुदायके गलनेसे उत्पन्न हुई है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ १० ॥ ऐसा जानकर चतुर पुरुषको सभी पर्वोंमें यथाशक्ति उपवास आदि कुछ-न-कुछ योग्यव्रत अवश्य ही करना चाहिए ॥ ११ ॥ पर्वके दिन यदि उपवासकी शक्ति न हो, तो कांजिक आहार, एक अन्नका आहार, एक स्थान (एक आसनसे बैठकर एक बार आहार), रसत्याग, इत्यादि जो एकाशनके भेद हैं, उनमेंसे किसी एकको बुद्धिमान् मनुष्य अवश्य ही करें ॥ १२ ॥ सुख मोक्षमें है, वह मोक्ष कर्मोंकी हानिसे होता है, कर्मोंकी हानि उपवाससे होती है। इसलिए सुखार्थी जनोंको शक्ति होने पर उपवास करना ही चाहिए ॥ १३ ॥ इस संसारमें जो तीर्थंकर चक्रवर्ती, अर्धचक्री आदि शलाका पुरुष होते हैं, वह उनके द्वारा पूर्वजन्ममें किये गये उपवासोंका ही उत्तम फल जानना चाहिए ॥ १४ ॥ अर्जुन नामका चाण्डाल भी उपवासके फलसे देवपदको प्राप्त हुआ, यह कथा श्रीरामचन्द्रमुमुक्षु-रचित पुण्यास्रव कथाकोशसे जाननी चाहिए ॥ १५ ॥ एक ही उपवाससे वणिक्-पुत्र नागदत्त मरकर देव हुआ और फिर वहाँसे च्युत होकर संसारमें प्रसिद्ध कुशल कोटीभट नागकुमार नामका चरमशरीरी कामदेव हुआ। यह कथा

ज्ञात्वा निदर्शनैरित्यादिभिर्भूरिफलं सुधीः । मुक्त्यभीप्सुर्यथाशक्तिर्विभृयात्प्रोषधव्रतम् ॥१८

(इति प्रोषधप्रतिमा ४)

अथ कार्यः परित्यागः सचित्तस्य विपश्चिता । क्रमेण मीं पूतां प्रतिमामारुरुक्षुणा ॥१९
सचित्तस्याशनात्पापं पापतस्ताप उल्वणः । इति सम्यग्विदन्नत्ति सचित्तं कः सचेतनः ॥२०
सचित्तं जलशाकान्नफलादि जिनशासनात् । यद्यथा प्रासुकं स्यात्तत्तथा ज्ञात्वा विधीयते ॥२१
वीजमन्नं फलं चोप्तं धरायां यत्प्ररोहति । जलं हरितकायांश्चेत्यादिकं स्यात्सचित्तकम् ॥२२
दलितं शस्त्रसंछिन्नं लवणाम्लादि मिश्रितम् । अग्निपक्वं च यत् तज्जिनैः प्रासुकं मतम् ॥२३
परैर्यद् व्यसुतां नीतं वस्तु भक्षति तत्कृती । गृहस्थोऽश्नात्यशक्तत्वात्स्वयं नीत्वा च कश्चन ॥२४
त्यजेत्सचित्तमित्यादि युक्तिवि ो जितेन्द्रियः । अ तया तस्य नासत्कर्मास्रवो भवेत् ॥२५

(इति सचित्तत्यागप्रतिमा ५)

अथ संसृतिसान्तत्यभीरवो जहतु त्रिधा । उग्रदुर्गतिपन्थानं मैथुनं दिवसे बुधाः ॥२६
दिवा निशि च कुर्वाणो मैथुनं जननिन्दितम् । दुश्चिन्ताव्याप्तचेतस्कः सञ्चिनोत्युरु पातकम् ॥२७
सञ्चिन्वंश्च योऽवश्यं नरो भवति नारकः । दुःखं निरन्तरं तस्य यत्स्यात्तत्केन वर्ण्यते ॥२८
मत्वेति यस्त्यजेदह्नि सुरतं सुकृती पुमान् । तस्यार्धं ब्रह्मचर्येण गलत्यायुः सुमेधसः ॥२९

भी आर्हत मतमें बहुत प्रसिद्ध है ॥ १६-१७ ॥ इत्यादि दृष्टान्तोंसे उपवासका भारी फल जानकर मोक्षके इच्छुक बुद्धिमान् मनुष्यको यथाशक्ति प्रोषधव्रत धारण करना चाहिए ॥ १८ ॥ (यह चौथी प्रोषध प्रतिमाका वर्णन किया।)

अब क्रमसे पांचवीं पवित्र सचित्तत्याग प्रतिमा पर आरोहण करनेके इच्छुक विद्वान्को सचित्त वस्तुओंका त्याग करना चाहिए ॥ १९ ॥ सचित्त वस्तुके भक्षणसे पाप होता है और पापसे उग्र सन्ताप होता है, इस प्रकार जानता हुआ भी कौन सचेतन पुरुष सचित्त वस्तुको खाता है ॥ २० ॥ जल, थल, अन्न और फल आदिक सचित्त पदार्थ जिस प्रकारसे प्रासुक होते हैं, वैसा जिनशासनसे जानकर उसी प्रकारसे काममें लिया जाता है ॥ २१ ॥ वीज, अन्न, फल जो भूमिमें बोया गया अंकुरित हो जाता है, तथा जल और हरितकाय सभी वनस्पति इत्यादिक सचित्त होते हैं ॥ २२ ॥ चक्की आदिसे दली गई, शस्त्र आदिसे काटी गई, नमक, खटाई आदिसे मिली हुई, और अग्निसे पकी हुई, इन सभी वस्तुओंको जिनदेवने प्रासुक कहा है ॥ २३ ॥ कर्तव्यका जानकार गृहस्थ दूसरोंके द्वारा प्रासुक की गई वस्तुको खाता है। कोई गृहस्थ अशक्त होनेसे सचित्तको लाकर और स्वयं प्रासुक करके खाता है ॥ २४ ॥ युक्तिका वेत्ता जो जितेन्द्रिय पुरुष सचित्त इत्यादि अप्रासुक वस्तुके खानेका त्याग करता है, अप्रमत्त होनेसे उस पुरुषके खोटे कर्मोंका आस्रव नहीं होता है ॥ २५ ॥ इस प्रकार पांचवीं सचित्त त्याग प्रतिमाका वर्णन किया।

जो संसारकी सन्तति (परम्परा)से डरनेवाले ज्ञानीजन हैं उन्हें घोर दुर्गतिके मार्गस्वरूप दिनमें मैथुन सेवन मन वचन कायसे छोड़ देना चाहिए ॥ २६ ॥ लोगोंसे निन्दित मैथुनको दिन और रातमें करनेवाला मनुष्य खोटी चिन्ताओंसे व्याप्त चित्तवाला होकर भारी पापका संचय करता है ॥ २७ ॥ और पापोंका संचय करनेवाला मनुष्य अवश्य ही मर कर नारकी होता है। वहाँ पर उसको जो निरन्तर दुःख होता है, उसे कौन वर्णन कर सकता है ॥ २८ ॥ ऐसा जानकर मनुष्यको दिनमें मैथुन सेवन छोड़ना चाहिए। ऐसे त्यागी सुबुद्धि वाले पुरुषकी आधी आयु ब्रह्म-

दिने रताश्रितं कर्म निश्याहारं चतुर्विधम् । जिताक्षो यस्त्यजेत्तस्यावश्यं स्यात्सुगतिः परा ॥३०

(इति दिवाब्रह्मचर्यप्रतिमा ६)

अथ कश्चिद् गृहस्थोऽपि मुमुक्षुर्जितमन्मथः । सर्वथा ब्रह्मचर्येण स्वमलङ्कुरुते कृती ॥३१

स्मरतापोपशान्ति यो मैथुनेन चिकीर्षति । ज्वलन्तं सर्पिषा सोऽग्निं विध्यापयितुमिच्छति ॥३२

ेथा सुरतं यस्तु शुद्धबुद्धिः परित्यजेत् । मनोरोधाद् ध्रुवं तस्य मनोजाग्निः प्रशाम्यति ॥३३

निर्विशन्तोऽपि कल्पेशाः प्रवीचारसुखं चिरम् । न तृप्यन्ति सदा तृप्ताः कल्पातीतास्तदुज्झिताः ॥३४

चिरेणापि विरक्तिः स्यात्सेव्यमानेन मैथुने । सर्वानुभवसिद्धं न केनेदं मन्यते वचः ॥३५

मैथुने सकलान् दोषान् ब्रह्मचर्येऽखिलान् गुणान् । ज्ञात्वाऽत्र तदभावेन तद्वत्ते सत्तमोऽचलम् ॥३६

मनोवाक्कायसौस्थित्याद् ब्रह्मचर्यव्रतः सुखम् । यत्स्यान्न सुरते तस्य शतांशमपि जायते ॥३७

ब्रह्मचारी भवेद् वन्द्यो वन्द्यानामपि भूतले ।
स्तुत्यः स्यात्त्रिदशेशानां मान्यः स्याद् भूभुजामपि ॥३८

व्याप्नोत्येव ककुभ्-चक्रं ब्रह्मचर्योद्भवं यशः । श्रेयस्तु स्वर्गतौ पुंसो नयत्येवानिवारितम् ॥३९

सतीरपि सतीर्नारी नरो न रमतेऽत्र यः । सोऽवश्यं रमते देवीर्देवो भूत्वा चिरं दिवि ॥४०

मर्त्यामर्त्यसुखं लब्ध्वाऽतः परम्परया नरः । मुक्तिं च लभते धार्यं ब्रह्मचर्यं तदुत्तमैः ॥४१

(इति ब्रह्मचर्यप्रतिमा ७)

चर्यसे वीतती है। अतएव दिनमें तो मैथुन सेवन कार्यका और रात्रिमें चारों प्रकारके आहारका त्याग जितेन्द्रिय मनुष्यको अवश्य ही करना चाहिये। ऐसे पुरुषकी परम सुगति होती है ॥२९-३०॥ इस प्रकार दिवा ब्रह्मचर्यनामक छठीं प्रतिमाका वर्णन किया।

कोई मोक्षका इच्छुक कृती गृहस्थ कामविकारको जीतकर सर्व प्रकारसे ब्रह्मचर्य-द्वारा अपनी आत्माको अलंकृत करता है ॥ ३१ ॥ जो मनुष्य काम-जनित सन्तापकी शान्ति मैथुनसेवनसे करना चाहता है, वह जलती हुई अग्निको घीसे बुझाना चाहता है ॥ ३२ ॥ जो शुद्ध वुद्धि पुरुष मैथुनका सर्वथा त्याग कर देता है, उसकी कामाग्नि मनके निरोध द्वारा निश्चित रूपसे प्रशान्त हो जाती है ॥ ३३ ॥ कल्पवासी देव चिरकाल तक प्रवीचार सुखको भोगते हुए भी कभी तृप्त नहीं होते हैं। किन्तु काम-सेवनसे रहित कल्पातीत अहमिन्द्र सदा तृप्त रहते हैं ॥३४॥ चिरकाल तक भी मैथुनके सेवन करने पर विरक्ति नहीं होती है, यह सबका अनुभव-सिद्ध वचन कौन नहीं मानता है ॥ ३५ ॥ मैथुन-सेवनमें सभी दोषोंको और ब्रह्मचर्य-धारण करनेमें सभी गुणोंको जानकर सज्जनोत्तम मनुष्य मैथुनका त्याग कर दृढ़ ब्रह्मचर्यको धारण करते हैं ॥ ३६ ॥ ब्रह्मचर्य वाले पुरुषके मन वचन कायकी सुस्थिरतासे जो अनुपम सुख होता है, मैथुन-सेवनसे उसका शतांश भी नहीं होता है ॥ ३७ ॥ इस भूतल पर ब्रह्मचारी मनुष्य वन्दनीय पुरुषोंका भी वन्दनीय होता है। वह इन्द्रोंको भी स्तुत्य और राजाओंको भी मान्य होता हूँ ॥ ३८ ॥ ब्रह्मचर्य धारण करनेसे उत्पन्न हुआ यश सारे दिग्-मंडलको व्याप्त कर देता है और उससे उत्पन्न हुआ श्रेय (पुण्य) स्वर्गलोकमें तो नियमसे ले ही जाता है ॥ ३९ ॥ जो मनुष्य इस लोकमें उत्तम स्त्रियोंके होते हुए भी उनके साथ रमण नहीं करता है, वह परलोकमें स्वर्गमें देव होकर चिरकाल तक देवियोंके साथ अवश्य ही रमण करता है ॥ ४० ॥ इसके पश्चात् वह मनुष्यों और देवोंके सुखोंको पाकर परम्परासे मुक्तिको प्राप्त करता है, अतः उत्तम पुरुषोंके यह ब्रह्मचर्य अवश्य ही धारण

अथाऽऽरम्भपरित्यागो विधेयो भवभीरुणा । गृहस्थेन कुटुम्बस्य न्यस्य भारं सुतादिषु ॥४२
आरम्भकर्मतो हिंसा हिंसातः पातकं महत् । पातकाद्दुर्गतिस्तस्यां दुःसहं दुःखमङ्गिनाम् ॥४३
कृत्वाऽऽरम्भं कुटुम्बार्थं स्वस्य दुःखं करोति कः । मत्वेति सुमतिः कुर्यात्सर्वथाऽऽरम्भवर्जनम् ॥४४
येषां कृते जनः कुर्यादारम्भाद् भूरिपातकम् । तद्विपाके सहायाः स्युर्बन्धवो नैव तस्य ते ॥४५
दुःखभीतैरिति ज्ञात्वाऽऽरम्भो यैस्त्यजतेऽखिलः । नाल्पोऽप्यघास्रवस्तेषां स्यान्महाव्रतिनामिव ॥४६

(इत्यारम्भत्यागप्रतिमा ८)

ततो गृहस्थ एवायं त्यजेत्सर्वं परिग्रहम् । तत्स्वामित्वं सुते न्यस्य स्वयं तिष्ठेन्निराकुलः ॥४७
त्यक्त्वा स्त्रीपुत्रवित्तादौ ममतां समतां भजेत् । स्वजनान्यजन-द्वेषि सुहृत्-स्वर्णतृणादिषु ॥४८
सुतेनान्येन वा केनचिदणुव्रतधारिणा । सप्रश्रयं समाहूतो गत्वा भुञ्जीत तद्-गृहे ॥४९
सरसं नीरसं वाऽन्नमेकवारं समाहरेत् । तिष्ठेच्च क्वचिदेकान्ते धर्मतानो दिवानिशम् ॥५०
पठेत् स्वयं श्रुतं जैनं पाठयेदपरानपि । पूजयेत्स्वयमर्हन्तं परांश्चार्चामुपादिशेत् ॥५१
दत्तं सुतादिभिर्यावत्कार्यमेवौषधादिकम् । वस्त्रादिकं च गृह्णीयात्सुसन्तुष्टो जितेन्द्रियः ॥५२
इत्थं परिग्रहत्यागसुस्थिरीभूतचेतसः । न स्यान्महाव्रतस्येव कर्मणामास्रवोऽसताम् ॥५३

(इति परिग्रहत्यागप्रति ९)

करना चाहिए ॥ ४१ ॥ इस प्रकार सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमाका वर्णन किया।

अब इसके पश्चात् संसारसे डरने वाले पुरुषको कुटुम्बका भार पुत्र आदिके ऊपर डालकर आरम्भका त्याग करना चाहिए ॥ ४२ ॥ क्योंकि गृहस्थीके आरंभी कार्योंसे हिंसा होती है। हिंसा-से महापापोंका संचय होता है, पापोंसे दुर्गति प्राप्त होती है और दुर्गतिमें प्राणियोंको दुःसह दुःख भोगना पड़ता है ॥ ४३ ॥ कौन ऐसा वुद्धिमान मनुष्य है जो कुटुम्बके लिए आरंभ करके अपने लिए दुःख उत्पन्न करता है ? ऐसा जानकर सुवुद्धि वाले पुरुषको आरंभका सर्वथा त्याग करना चाहिए ॥ ४४ ॥ जिन कुटुम्बी जनोंके लिए यह मनुष्य आरम्भ करके भारी पापोंका उपार्जन करता है, उन पापोंके लिए परिपाकके समय वे वन्धुजन उसके नहीं होते हैं ॥४५॥ ऐसा जान कर दुःखों-से डरने वाले श्रावक समस्त आरंभका त्याग करते हैं। आरंभ त्यागीके आरंभजनित अल्प भी पाप महाव्रती पुरुषोंके समान नहीं होता है ॥ ४६ ॥ इस प्रकार आठवीं आरम्भ त्याग प्रतिमाका वर्णन किया।

आरम्भ-त्याग करनेके पश्चात् उस गृहस्थको सर्व परिग्रह भी छोड़ देना चाहिए। परिग्रह-का स्वामित्व पुत्र पर डालकर स्वयं निराकुल होकर रहे ॥ ४७ ॥ स्त्री, पुत्र और धन आदिमें ममताको छोड़कर समताको धारण करना चाहिए। तथा स्वजन-परजन, शत्रु-मित्र और सुवर्ण-तृण आदिमें समभाव रखना चाहिए ॥ ४८ ॥ उस समय पुत्रके द्वारा अथवा अणुव्रतधारी किसी अन्यके द्वारा विनयपूर्वक वुलाये जाने पर उसके घर जाकर भोजन करे ॥ ४९ ॥ भोजनके समय सरस या नीरस जैसा अन्न मिल जाय, उसे एक वार ही खावे और दिन-रात धर्ममें संलग्न होकर किसी एकान्त स्थानमें रहे ॥५०॥ स्वयं जैनशास्त्र पढ़े और दूसरोंको पढ़ावे, स्वयं जिनदेवका पूजन करे और अन्यको भी पूजन करनेका उपदेश देवे ॥५१॥ आवश्यक कार्य होने पर पुत्र आदिके द्वारा दिये गये औषधि आदिको और वस्त्र आदिको अत्यन्त सन्तुष्ट होता हुआ जितेन्द्रिय वन कर ग्रहण करे ॥ ५२ ॥ इस प्रकार परिग्रहके त्यागसे अत्यन्त स्थिर चित्तवाले उस परिग्रहत्यागी पुरुषके महाव्रतीके समान अशुभ कर्मोंका आस्रव नहीं होता है ॥ ५३ ॥ इस प्रकार नवमी परिग्रह त्याग

अथ नानुमतिं दद्यादवद्यास्रवभीरुकः । सुतादिभ्योऽपि वाणिज्यप्रमुखाणां कुकर्मणाम् ॥५४
कुर्वित्थं रत्नसंस्कारमित्थं स्वर्णं च संस्कुरु । धावनं रञ्जनं चेत्थं वस्त्राणां वत्स कारय ॥५५
हिङ्गुतैलघृतादीनां कुर्वित्थं क्रय-विक्रयौ । अश्वादीनां विधेहीत्थं स्थूलीकरणपालने ॥५६
कर्णयेत्थं क्षमां तस्यामित्थं बीजं च वापय । कारयेत्थं वृतिं तत्रेत्थं च तत्सिञ्चनादिकम् ॥५७
कारयेत्थं ततो लावं धान्यस्य कुरु सञ्चयम् । प्रस्तावे विक्रयस्तस्य विधेयो विधिनाऽमुना ॥५८
इत्थं भूपतिराराध्य इत्थं पोष्याश्च सेवकाः । इत्याद्याऽनुमतिस्त्याज्या प्राज्यार्हन्मतवेदिभिः ॥५९
पापासनुमतिं हित्वा तां चतुर्गतिदुःखदाम् । पुण्यामनुमतिं दद्याद् वक्ष्यमाणाममुं सुधीः ॥६०
नित्यमित्थं जिनेन्द्रार्चां शुद्धया वाक्कायचेतसाम् । भक्त्या शुद्धैः कुरु द्रव्यैश्चन्दनप्रसवादिभिः ॥६१
गुरूणां कुरु शुश्रूषामित्थं पथ्याशनादिभिः । स्वाध्यायं च विधेहीत्थमित्थं संयममाचर ॥६२
तपः कुर्वित्थमित्थं च दानं देहि यथोचितम् । इत्थं पञ्चनमस्कारं स्मर सारसुखप्रदम् ॥६३
मैत्रीं सत्त्वेषु कुर्वित्थमित्थं गुणिषु मोदितम् । कृपां क्लिष्टेषु माध्यस्थ्यं सन्मानं चेत्यमाचर ॥६४
क्षमया जय कोपारिं मार्दवेन स्मयं जय । निर्जयाऽऽर्जवतो मायां लोभं शौचेन निर्जय ॥६५
सत्येन नाशयासत्यं संयमेनाप्यसंयमम् । त्यागेनानागतं कर्म तपसा पूर्वसञ्चितम् ॥६६
ब्रह्मचर्येण कामारिं निर्जयातीवदुर्जयम् । शान्तिमाशानलज्वालां नयाऽऽकिञ्चन्यवारिणा ॥६७

प्रतिमाका वर्णन किया।

अब पापास्रवसे डरनेवाले श्रावकको वाणिज्य आदि खोटे कार्योकी पुत्रादिके लिए अनुमति भी नहीं देनी चाहिए ॥ ५४ ॥ हे वत्स, इस रत्नका संस्कार इस प्रकार करो, इस सोनेका संस्कार इस प्रकार करो, और वस्त्रोंका धोना और रंगना इस प्रकारसे करो, हींग तेल घी आदिका क्रय और विक्रय इस प्रकार करो, घोड़े आदिको मोटा-ताजा इस प्रकार बनाओ, उनका पालन इस प्रकार करो, भूमिको इस प्रकारसे जोतो, इस प्रकारसे बीज बोओ, खेतकी वाड़ी इस प्रकारसे कराओ, उस खेतमें जलकी सिंचाई इस प्रकार कराओ, इस प्रकारसे धान्यको कराओ और उसका इस प्रकारसे संचय करो, मौके पर इस विधिसे उसकी विक्री करो, राजाकी इस प्रकारसे आराधना सेवा करनी चाहिए, सेवकोंका इस प्रकारसे पोषण करना चाहिए और इस प्रकार उनसे काम लेना चाहिए, इत्यादि अनुमतिका त्याग उत्तम अर्हन्मतके वेत्ताओंको करना चाहिए ॥ ५५–५९ ॥ इस प्रकारको चतुर्गतिके दुःखोंको देनेवाली पाप कार्योकी अनुमति छोड़कर बुद्धिमान् श्रावकको आगे कही जाने वाली इस प्रकारके पुण्य कार्योकी अनुमति देनी चाहिए ॥ ६० ॥

हे वत्स, तुम्हें प्रतिदिन मन वचन कायकी शुद्धि पूर्वक भक्तिके साथ चन्दन-पुष्प आदि शुद्ध द्रव्योंसे जिनेन्द्र देवकी पूजा करनी चाहिए, गुरुजनोंकी पथ्य भोजन, औषधादिसे इस प्रकार शुश्रूषा करनी चाहिए, इस प्रकारसे स्वाध्याय करो, इस प्रकारसे संयमका पालन करो, इस प्रकार-से तप करो, इस प्रकारसे पात्रोंको यथायोग्य दान दो, इस प्रकारसे सार सुखको देने वाले पंच-नमस्कार मंत्रका स्मरण करो, प्राणियों पर इस प्रकारसे मैत्री करो, गुणी जनों पर इस प्रकारका प्रमोद भाव रखो, दुःखी जीवों पर इस प्रकारसे दया रखो, विपरीत बुद्धिवालों पर इस प्रकारसे माध्यस्थ्य भाव रखो, लोगोंका इस प्रकारसे सम्मान करो, क्रोधरूपी शत्रुको क्षमासे जीतो, मान-को मार्दवसे जीतो, आर्जव भावसे मायाको जीतो और शौच भावसे लोभको जीतो, सत्यसे असत्य-का नाश करो, संयमसे असंयमको दूर करो, त्यागसे अनागत (भविष्य कालीन) कर्मसे बचो और तपसे पूर्व-संचित कर्मोंका क्षय करो, अत्यन्त दुर्जय कामरूपी शत्रुको ब्रह्मचर्यसे जीतो, आकिंचन्य-

स्वभावं जगतोऽजस्रं संवेगायानुचिन्तय । वैराग्याय च कायस्य क्षणविध्वंसिनोऽशुचेः ॥६८
समस्तान् संसृतेर्हेतून् हित्वा मुक्तेः समाश्रय । संसृतावेव यद्दुःखं मुक्तावेव सुखं परम् ॥६९
पुण्यानुमतिरित्याद्या दर्शिता शासनेऽर्हताम् । सद्भिर्भव्यस्य दातव्या हातव्या सर्वथाऽपरा ॥७०
द्वयीमनुमतिं ज्ञात्वा दद्यात्पुण्यां न चापराम् । अयतात्मा समारम्भेणैव बंभ्रम्यते चिरम् ॥७१

(इत्यनुमतित्यागप्रतिमा १०)

अथोद्दिष्टाऽऽहृतित्यागप्रतिमा प्रतिमोच्यते । यां दधज्जायते मर्त्य उत्तमो देशसंयतः ॥७२
धर्तुमिच्छति यः पूतां प्रतिमामुत्तमाममूम् । स मुण्डितशिरो भूत्वा गृहवासं परित्यजेत् ॥७३
गुर्वादेशेन कौपीनं विनान्यान्यखिलान्यपि । त्यजेद् वासांसि शौचाय धरेत्पाणौ ण्डलुम् ॥७४
भिक्षापात्रकरश्चर्यावेलायां गृहपञ्चकान् । शुद्धमाहारमादाय भक्त्या दत्तमयाचितम् ॥७५
भुञ्जीतैकस्य कस्यापि श्रावकस्य सतो गृहे । एकवारमनारम्भमनुद्दिष्टमदूषणम् ॥७६
क्वचिच्चैत्यालये शून्यभवने वा वनेऽथवा । तिष्ठेद्दिवानिशं शश्वत्स्वाध्यायनिरतो वशी ॥७७
स्थावराणामपि प्रायः कुर्यादेवैष रक्षणम् । त्रसानां रक्षणेऽमुष्य यत्नः किमुपदिश्यते ॥७८
आवश्यकेषु सर्वेषु सदा यत्नपरो भवेत् । महाव्रत इवाशेषव्यापारविमुखः सुधीः ॥७९
परानीतैरयं द्रव्यैर्भव्यैर्जिनपतेः स्वयम् । कुर्यान्नित्यार्चनं नास्य यज्ञादावधिकारिता ॥८०

रूपी जलसे आशारूपी अग्निकी ज्वालाको शान्त करो, संसारके क्षणभंगुर और दुःखदायक स्वभावका निरन्तर संवेगकी वृद्धिके लिए चिन्तवन करो, वैराग्यकी वृद्धिके लिए क्षणविध्वंसी अशुचि कायका विचार करो, और संसार-वर्धक समस्त कारणोंको छोड़कर मुक्तिके कारणोंका आश्रय लो क्योंकि संसारमें ही परम दुःख है और मुक्तिमें ही परम सुख है। इत्यादि प्रकारकी जो पुण्यानुमति अर्हन्तोंके शासनमें बतलायी गयी है, वह भव्य पुरुषके लिए सज्जनोंको देना चाहिए और दूसरी पापानुमतिको सर्वथा त्यागना चाहिए ॥ ६१-७० ॥ इस प्रकारसे दोनों प्रकारकी अनुमतियोंको जानकर पुण्यानुमतिको देना चाहिए और पापानुमतिको नहीं देना चाहिए। क्योंकि, असंयत आत्मा समारंभसे ही संसारमें चिरकाल तक परिभ्रमण करता है ॥ ७१ ॥ इस प्रकारसे दशवीं अनुमति त्याग प्रतिमाका वर्णन किया।

अब उद्दिष्ट आहार त्याग प्रतिमा नामक ग्यारहवीं प्रतिमा कहते हैं—जिसे धारण करता हुआ मनुष्य उत्तम देशसंयत होता है ॥ ७२ ॥ जो श्रावक इस उत्तम पवित्र प्रतिमाको धारण करनेकी इच्छा करता है, वह शिर मुंडा करके गृहवासका परित्याग करे ॥ ७३ ॥ तथा गुरुकी आज्ञासे लंगोटीके विना अन्य सभी वस्त्रोंका त्याग करे और शौचके लिए हाथमें कमण्डलुको धारण करे ॥ ७४ ॥ गोचरीके समय भिक्षापात्रको हाथमें लेकर पाँच घरोंमें जाकर विना माँगे भक्तिसे दिये हुए शुद्ध आहारको लेकर किसी एक श्रावकके घर बैठकर एक बार आरम्भ-रहित, अनुद्दिष्ट और दूषण-रहित उस आहारका भोजन करे ॥ ७५-७६ ॥ भोजनके पश्चात् किसी चैत्यालयमें, शून्य भवनमें अथवा वनमें दिन-रात रहे और अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखता हुआ सदा स्वाध्यायमें संलग्न रहे ॥ ७७ ॥ यह स्थावर जीवोंकी भी प्रायः रक्षा करता ही है, फिर त्रस जीवोंकी रक्षा करनेमें यत्न करनेका क्या उपदेश उसे दिया जाये ॥ ७८ ॥ इस प्रतिमाधारीको सभी आवश्यककोंमें सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए। यह सुबुद्धि श्रावक महाव्रती मुनिके समान समस्त सांसारिक व्यापारोंसे विमुख रहता है ॥ ७९ ॥ अन्य भव्य पुरुषोंके द्वारा लाये गये प्रासुक शुद्ध द्रव्योंसे जिनेन्द्र देवका स्वयं नित्य पूजन करे। किन्तु यज्ञ आदि करनेमें इसको अधिकार नहीं है ॥ ८० ॥

पृष्टः शुश्रूषिणां कुर्याज्जिनधर्मोपदेशनम् । असत्यं परुषं ग्राम्यं न जातु वचनं वदेत् ॥८१
आसनं शयनं कुर्यात् प्रतिलेख्यैव यत्नतः । चरेच्च पथि भून्यस्तदृष्टिर्जन्तून् विवर्जयेत् ॥८२
निन्दकेषु न कुर्वन्ति रोषं तोषं स्तुवत्स्वपि । सर्वत्र समभावः स्यात्साम्यमेव परं व्रतम् ॥८३
व्रतादौ जातु सञ्जातं दोषं संशोधयेद् गुरोः । प्रायश्चित्तेन कस्तादृग् व्रतं दोषैर्विनाशयेत् ॥८४
खण्डयेत् प्राणनाशेऽपि न गृहीतं व्रतं सुधीः । प्रतिज्ञालङ्घनं धीराः सर्वनिन्दास्पदं विदुः ॥८५
इत्यादियुक्तिविद् धत्ते यः सतीं प्रतिमाममूम् । स द्वि-त्रिषु भवेष्वेव प्राप्नोति सुखमक्षयम् ॥८६
कांश्चनासहमानोऽपि नग्नतादीन् परीषहान् । पूतान्त्यप्रतिमाधारी यतीव क्षपयत्यघम् ॥८७
संयतासंयतो देशयतिः क्षुल्लक इत्यपि । उपासकादयश्चाख्या निखिलप्रतिमाभृताम् ॥८८

(इत्यनुद्दिष्टप्रतिमा ११)

इत्थमेता मयाऽऽख्याताः प्रतिमा पञ्च-षट्प्रमाः । सङ्क्षेपादेव देवेशवन्द्यपादाऽर्हदागमात् ॥८९
आर्यैर्धार्या यथाशक्ति क्रमेणैकादशाप्यमूः । दर्शनप्रतिमा मुख्या दोषमुक्ताः सुखार्थिभिः ॥९०
इच्छाकारं नमः कुर्याद्दर्शनी व्रतिना पुरा । तौ सामायिकिनस्ते तु प्रोषधव्रतधारिणः ॥९१
इत्थं यो यः क्रमाद् धत्ते प्रतिमासु परां पराम् । तस्य तस्य पुरा पूर्वं इच्छाकारं प्रकुर्वते ॥९२
पश्चात्परश्च पूर्वेषामिच्छामीत्येव जल्पति । युक्तिरेषा परिज्ञेयाऽनुक्रमप्रतिमाधृताम् ॥९३

पूछे जाने पर सुननेके इच्छुक जनोंको धर्मका उपदेश देवे, किन्तु असत्य, कर्कश और ग्रामीण वचन कभी न कहे ॥ ८१ ॥ आसन, शयन आदि कार्य यत्नसे प्रतिलेखन करके ही, करे, मार्गमें भूमि पर दृष्टि रख कर चले और जन्तुओंको बचावे ॥ ८२ ॥ अपनी निन्दा करने वालों पर रोष नहीं करे और स्तुति करने वालों पर सन्तोष प्रकट न करे, किन्तु दोनों पर ही समभाव रखे; क्योंकि साम्यभाव ही परमव्रत है ॥ ८३ ॥ कदाचित् व्रतादिमें कोई दोष हो जाय, तो गुरुसे प्रायश्चित्त लेकर उसे शुद्ध करे। कौन बुद्धिमान् अपने शुद्ध व्रतको दोषोंसे विनष्ट करेगा ? कोई भी नहीं करेगा ॥८४॥ बुद्धिमान्‌को चाहिए कि ग्रहण किये गये व्रतको प्राणोंका नाश होने पर भी खंडित न करे। क्योंकि धीर-वीर पुरुष प्रतिज्ञाके उल्लंघनको सबसे अधिक निन्दास्पद मानते हैं ॥ ८५ ॥ इत्यादि युक्तियोंका वेत्ता जो इस उत्तम प्रतिमाको विधिपूर्वक निर्दोष धारण करता है, वह दो-तीन भवोंमें ही अक्षय सुखको प्राप्त करता है ॥ ८६ ॥ नग्नता आदि कितनी ही परीषहोंको नहीं सहन करता हुआ भी यह पवित्र अन्तिम प्रतिमाधारी मुनिके समान पापोंका क्षय करता है ॥८७॥ इस ग्यारहवीं प्रतिमाका धारक सर्वोत्कृष्ट संयतासंयत, देशयति और क्षुल्लक कहलाता है। और उपासक, श्रावक आदि नाम तो सभी प्रतिमाधारियोंके हैं ॥ ८८ ॥ इस प्रकार ग्यारहवीं अनुद्दिष्ट प्रतिमाका वर्णन किया।

इस प्रकार देवेन्द्रोंके द्वारा वन्दनीय चरण-कमलवाले श्री जिनेन्द्रदेवके आगमसे उक्त ग्यारह प्रतिमाओंको मैंने संक्षेपसे ही कहा ॥ ८९ ॥ सुखके इच्छुक आर्य पुरुषोंको दर्शन प्रतिमा जिनमें मुख्य है ऐसी ये ग्यारह प्रतिमाएँ दोष-रहित क्रमसे ही धारण करना चाहिए ॥ ९० ॥ दर्शनप्रतिमाधारी श्रावक व्रतप्रतिमाधारीको पहले इच्छाकार बोलते हुए नमस्कार करे, प्रथमकी दोनों प्रतिमाधारी सामायिक प्रतिमावालेको, और प्रारंभके तीनों प्रतिमाधारक प्रोषधप्रतिमावालेको इसी प्रकारसे इच्छाकार-पूर्वक नमस्कार करें। इस प्रकारके क्रमसे पूर्व-पूर्व प्रतिमाधारी आगे आगेकी प्रतिमाधारीको इच्छाकार-पूर्वक नमस्कार करता है और आगेकी प्रतिमावाला पहलेकी प्रतिमाधारीको

सुदृष्टिः प्रतिमाः काश्चित् क्रमात्काश्चिद्विना क्रमम् ।
दधदप्येति संविग्नः कतिचिद्भिर्भवैः शिवम् ॥९४
न विना दर्शनं शेषाः प्रतिमा विधृता अपि । शिवाय नुः प्रजायन्ते भवैरपि परः शतैः ॥९५
ज्ञात्वेति दर्शनं धृत्वा निर्मलं विमलाशयैः । शेषा धार्या यथाशक्ति प्रतिमा प्राणिरक्षकैः ॥९६
इच्छाकारं मिथः कुर्युः सर्वेऽपि प्रतिमाधृतः । वात्सल्यं विनयं चैव मानहीना यथोचितम् ॥९७
इत्थं सुश्रावकाचारमाचरन् कृतसंवरः । कुर्यात्सल्लेखनामन्ते समाधिमरणेच्छया ॥९८
जाते रोगेऽप्रतीकार उपसर्गेऽथ दारुणे । कैश्चित्संयमनाशे वा प्रारब्धे दुष्टचेष्टितैः ॥९९
जलानलादियोगे वा सञ्जाते मृत्युकारणे । उपान्ते वा परिज्ञाते निमित्ताद्यैर्निजायुषः ॥१००
प्रारभेत कृती कर्तुं शुद्धं सल्लेखनाविधिम् । सङ्क्षेपाद् वक्ष्यमाणेन मयाऽत्र विधिनाऽमुना ॥१०१
द्रव्यादिकं नियोज्य स्वं सर्वं धर्मादिकर्मणि । बन्धुमित्रादिभिः सर्वैः क्षन्तव्यं संविधाय च ॥१०२
समाश्रित्य गुरुं कञ्चिन्निर्यापकम् । आलोचनां विधायास्य पुरः पूर्वाखिलागसाम् ॥१०३
आन्तरान् कामकोपादीन्निष्ठाप्य द्वेषिणोऽखिलान् । शरीरादौ बहिर्द्रव्ये निर्ममत्वं विधाय च ॥१०४

उत्तर में 'इच्छामि' कहता है। इस प्रकारकी यह युक्ति अनुक्रमसे प्रतिमाधारियोंकी जाननी चाहिए ॥ ९१–९३ ॥

कोई दर्शन प्रतिमाका धारक सम्यग्दृष्टि जीव इन प्रतिमाओंको क्रमसे धारण करता है और कोई उनको विना क्रमसे भी धारण करता है, फिर भी वह संविग्न श्रावक कुछ भवोंसे मोक्ष-को प्राप्त करता है। किन्तु दर्शनप्रतिमाके विना शेष धारण की गई भी प्रतिमाएँ सैकड़ों भवोंके द्वारा भी मनुष्यकी मुक्ति या शिवपदकी प्राप्तिके लिए नहीं होती हैं ॥ ९४-९५ ॥ ऐसा जानकर निर्मल अभिप्राय वाले प्राणि-रक्षक मनुष्योंको निर्मल दर्शनप्रतिमा धारण करके ही शेष प्रतिमाएँ यथाशक्ति धारण करनी चाहिए ॥ ९६ ॥ सभी प्रतिमाधारकोंको मानसे रहित होकर परस्पर वात्सल्य और विनय-पूर्वक इच्छाकार करना चाहिए ॥ ९७ ॥

इस प्रकारसे पापोंका संवर करनेवाले और उत्तम रीतिसे श्रावकके आचारको आचरण करनेवाले श्रावकको जीवनके अन्तमें समाधिमरणकी इच्छासे सल्लेखना धारण करनी चाहिए ॥ ९८ ॥ प्रतीकार-रहित रोगके हो जाने पर, दारुण उपसर्गके आनेपर, अथवा दुष्ट चेष्टावाले मनुष्योंके द्वारा संयम-विनाशक कार्यके प्रारम्भ करने पर, जल, अग्नि आदिका योग मिलनेपर, अथवा इसी प्रकारका अन्य कोई मृत्युका कारण उपस्थित होनेपर, अथवा ज्योतिष-सामुद्रिक आदि निमित्तोंसे अपनी आयुका अन्त समीप जाननेपर कर्तव्यके ज्ञाता मनुष्यको मेरे द्वारा संक्षेपसे आगे कही जानेवाली विधि-पूर्वक शुद्ध सल्लेखना विधिको करनेका प्रयत्न आरम्भ करना चाहिए ॥ ९९–१०१ ॥ अपने पासके सभी धन आदिको धर्मकार्यमें लगाकर और बन्धु-मित्र आदि सभी जनोंसे क्षमा-याचना करके किसी शान्त-स्वभावी निर्यापकाचार्यको प्राप्त होकर पूर्वमें किये हुए अपने समस्त पापोंकी निश्छलभावसे आलोचना करके, तथा आन्तरिक काम-क्रोधादि समस्त शत्रुओंको दूर करके और शरीरादि बाहिरी द्रव्यमें निर्ममत्वभाव धारण करके गुरुके द्वारा कही गई युक्ति-पूर्वक खाद्य (दाल-भात-रोटी आदि) और स्वाद्य (सभी प्रकारके स्वादिष्ट पकवान आदि) को क्रमसे त्याग करना चाहिए। आहारका परित्याग करके पुनः क्रमसे लेह्य (चाँटने योग्य) अवलेह, चासनी युक्त औषधि आदिको क्रमसे छोड़े। और फिर पेय(पीने योग्य दूध, छांछ और

युक्त्या गुरूक्तया खाद्यं स्वाद्यं च क्रमतस्त्यजेत् ।
हापयित्वाऽशनं चाथ व्युत्सृजेत् सकलं क्रमात् ॥१०५
तिष्ठेन्निश्चलमेकान्ते क्रमात् पेयं च हापयन् ।
त्यक्त्वा तदाऽखिलं चाथ स संस्तरगतो भवेत् ॥१०६
तत्रासीनो विना निद्रां सुप्तो वा रुद्धमानसः । स्मरेत्पञ्चनमस्कारमर्हतो वाऽनिशं हृदि ॥१०७
अनुप्रेक्षा अनित्याद्या यदि वा हृदि भावयेत् । लीनो भवेद् विशुद्धात्मा पदस्थादिषु वा क्वचित् ॥१०८
क्षुत्पिपासातृणस्पर्शशीतवाताऽऽतपादिभिः । बाध्यमानोऽपि संक्लेशं न कुर्यान्निश्चलाशयः ॥१०९
बलाद्विक्षिप्यमाणं तैर्मनः सद्गुरुणोदितैः । शिक्षावाक्यैर्नयेत्स्वास्थ्यं भवदुःखविभीरुकः ॥११०
इत्थं परिसमाप्यायुः सुमतिर्यस्तनुं त्यजेत् । भुक्त्वा सुर-नरैश्वर्यं स याति पदमव्ययम् ॥१११
जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागं सुखानुबन्धं च । अत्र निदानेन समं विमुञ्चेदतीचारान् ॥११२
मृत्वा समाधिना यान्ति सुगतावव्रता अपि । असमाधिमृतानां स्याद् व्रतिनामपि दुर्गतिः ॥११३
सिंहोऽतिक्रूरभावोऽपि मुनिवाक्योपशान्तधीः । संन्यासविधिना मृत्वा देवो भूत्वा महर्द्धिकः ॥११४
ततश्च वाञ्छितान् भोगान् भुक्त्वा नृ-सुरजन्मसु । अष्टसु क्रमतो जातसुखाभ्युदयवृद्धिषु ॥११५
सिद्धार्थ-प्रियकारिण्योः पुत्रस्तीर्थंकरोऽभवत् । देवः श्रीवर्धमानाख्यः शतेन्द्रप्रणत : ॥११६
समाधिमरणस्येति फलं सुविपुलं जनाः । ज्ञात्वा यत्नं तथा कार्यं तदवश्यं यथा भवेत् ॥११७

जल) को भी क्रमसे घटाता हुआ एकान्त स्थानमें निश्चल भावसे रहे और समीपकी सभी उपधिको छोड़कर संस्तर-गत हो जावे। अर्थात् संथारेके लिए जो घास आदिका विस्तर गुरुने बताया हो उस पर निश्चलभावसे आसीन हो जावे ॥ १०२–१०६ ॥

उस पर आसीन होकर मनको बाहिरसे रोककर निद्राके विना जागते हुए, अथवा सोते हुए भी पंच नमस्कारमंत्रका, अथवा अर्हन्त देवका निरन्तर हृदयमें स्मरण करता रहे ॥ १०७ ॥ अथवा अनित्य, अशरण आदि अनुप्रेक्षाओंकी हृदयमें भावना करे, अथवा कभी चित्तमें जैसी समाधिसे, तदनुसार वह विशुद्धात्मा पदस्थ-पिण्डस्थ आदि ध्यानमें लीन रहे ॥ १०८ ॥ उस समय भूख, प्यास, तृणस्पर्श, शीत, वात, आतप आदिसे पीड़ित होनेपर भी संक्लेश न करे, किन्तु समभावमें निश्चल चित्त रहे ॥ १०९ ॥ कदाचित् भूख-प्यास आदिसे बलात् पीड़ित हो कर मन चलायमान हो तो सद्‌गुरुके द्वारा कहे गये शिक्षा-वचनोंसे संसारके दुःखोंसे भयभीत होता हुआ मनको स्वस्थ करे ॥ ११० ॥ इस प्रकारसे जो सुबुद्धि पुरुष सावधानीके साथ आयु समाप्त कर शरीरको छोड़ता है, वह देवों और मनुष्योंके ऐश्वर्यको भोगकर अन्तमें अव्यय अक्षय मोक्षपदको प्राप्त करता है ॥ १११ ॥ इस सल्लेखनामें जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान इन पाँच अतीचारोंको छोड़ना चाहिए ॥ ११२ ॥

अव्रती भी पुरुष समाधिके साथ मरण करके सुगतिमें जाते हैं। किन्तु असमाधिसे मरनेवाले व्रती जनोंकी दुर्गति ही होती है ॥ ११३ ॥ देखो—अत्यन्त क्रूर भाववाला सिंह भी मुनिके वचनोंसे उपशान्त चित्त होकर और संन्यासकी विधिसे मरकर महान् ऋद्धिका धारक देव हुआ ॥ ११४ ॥ वहाँ पर मनोवांछित भोगोंको भोगकर तत्पश्चात् मनुष्यों और देवोंमें जन्म लेता हुआ आठों ही भवोंमें उत्पन्न हुए और अभ्युदयकी वृद्धिवाला होकर अन्तमें सिद्धार्थ राजा और प्रियकारिणी माताके श्री वर्धमान नामसे प्रसिद्ध और सौ इन्द्रोंसे पूजित चरण कमल वाला तीर्थंकर पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ११५-११६ ॥ समाधिमरणका ऐसा महान् विशाल फल जानकर मनुष्योंको

कदलीघातवज्जातु केषाञ्चिज्जायते मृतिः । स्तोककालेन कर्त्तव्या तैश्च पञ्चनमस्कृतिः ॥११८
सन्तः सदैव तिष्ठन्तु दुःखभीताः समाधिना । को वेत्ति मरणं कस्य कदा कुत्र कथं भवेत् ॥११९
इत्थं मयैताः प्रतिमाः समस्ताः सल्लेखनान्ताः कथिताः स्वशक्त्या ।
ये बिभ्रति ज्ञातजिनागमार्था भवन्ति ते सन्मतयः कृतार्थाः ॥१२०

इति पण्डितश्रीगोविन्दविरचिते पुरुषार्थानुशासने गृहस्थधर्मोपदेशाख्योऽयं षष्ठोऽवसरः परः ।

•

अवश्य ही यथाशक्ति उसे धारण करनेका प्रयत्न करना चाहिए ॥ ११७ ॥ यदि कदाचित् किन ही जीवोंका मरण कदलीघातके समान अकस्मात् अल्पकालमें ही आ उपस्थित हो तो उन्हें पंचनमस्कार मंत्रका स्मरण करते हुए प्राणोंका त्याग करना चाहिए ॥ ११८ ॥ संसारके दुःखोंसे डरनेवाले सन्त पुरुषोंको सदा ही समाधिसे रहना चाहिए। कौन जानता है कि कब किसका कहाँपर और कैसे मरण हो जाय ॥ ११९ ॥

इस प्रकार मैंने सल्लेखना पर्यन्त इन समस्त प्रतिमाओंको अपनी शक्तिके अनुसार कहा। जो जिनागमके अर्थ ज्ञाता सन्मति पुरुष इनको धारण करते हैं, वे कृतार्थ होते हैं, अर्थात् अपने अभीष्ट प्रयोजनभूत मोक्षको प्राप्त करते हैं ॥ १२० ॥

इस प्रकार पंडित श्री गोविन्द-विरचित पुरुषार्थानुशासनमें गृहस्थ धर्मका उपदेश करनेवाला यह छठा अवसर समाप्त हुआ।

•

शुद्धिपत्रक के सम्बन्ध में न -निवेदन

प्रथम भागके पृष्ठ ४१२के 'णमो जिणाणं' आदि सूत्रोंको वहाँके रिक्त स्थान पर इस प्रकारसे संशोधन करनेके लिए पाठकोंसे निवेदन है—

ॐ ह्रीं र्हं णमो जिणाणं १। ॐ ह्रीं र्हं णमो ओहिजिणाणं २। ॐ ह्रीं र्हं णमो परमोहिजिणाणं ३। ॐ ह्रीं र्हं णमो सव्वोहिजिणाणं ४। ॐ ह्रीं र्हं णमो अणंतोहिजिणाणं ५। ॐ ह्रीं र्हं णमो कोट्ठवुद्धीणं ६। ॐ ह्रीं र्हं णमो वीजवुद्धीणं ७। ॐ ह्रीं र्हं णमो पादाणुसारीणं ८। ॐ ह्रीं र्हं णमो संभिण्णसोदाराणं ९। ॐ ह्रीं र्हं णमो पत्तयेवुद्धीणं १०। ॐ ह्रीं र्हं णमो सयंवुद्धीणं ११। ॐ ह्रीं र्हं णमो वोहियवुद्धीणं १२। ॐ ह्रीं र्हं णमो उजुमदीणं १३। ॐ ह्रीं र्हं णमो विउलमदीणं १४। ॐ ह्रीं र्हं णमो दसपुव्वीणं १५। ॐ ह्रीं र्हं णमो चोद्दसपुव्वीणं १६। ॐ ह्रीं र्हं णमो अट्ठंगमहाणिमित्तकुसलाणं १७। ॐ ह्रीं र्हं णमो विउव्वणइड्ढिपत्ताणं १८। ॐ ह्रीं र्हं णमो विज्याहराणं १९। ॐ ह्रीं र्हं णमो चारणाणं २०। ॐ ह्रीं र्हं णमो पण्णसमणाणं २१। ॐ ह्रीं र्हं णमो आगासगामीणं २२। ॐ ह्रीं र्हं णमो आसीविसाणं २३। ॐ ह्रीं र्हं णमो दिट्ठिविसाणं २४। ॐ ह्रीं र्हं णमो उग्गतवाणं २५। ॐ ह्रीं र्हं णमो दित्ततवाणं २६। ॐ ह्रीं र्हं णमो तत्ततवाणं २७। ॐ ह्रीं र्हं णमो महातवाणं २८। ॐ ह्रीं र्हं णमो घोरतवाणं २९। ॐ ह्रीं र्हं णमो घोरपरक्कमाणं ३०। ॐ ह्रीं र्हं णमो घोरगुणाणं ३१। ॐ ह्रीं र्हं णमो घोरगुणवम्भचारीणं ३२। ॐ ह्रीं र्हं णमो आमोसहिपत्ताणं ३३। ॐ ह्रीं र्हं णमो खेलोसहिपत्ताणं ३४। ॐ ह्रीं र्हं णमो जल्लोसहिपत्ताणं ३५। ॐ ह्रीं र्हं णमो विट्ठोसहिपत्ताणं ३६। ॐ ह्रीं र्हं णमो सव्वोसहिपत्ताणं ३७। ॐ ह्रीं र्हं णमो मणवलीणं ३८। ॐ ह्रीं र्हं णमो वचिवलीणं ३९। ॐ ह्रीं र्हं णमो कायवलीणं ४०। ॐ ह्रीं र्हं णमो अमियसवीणं ४१। ॐ ह्रीं र्हं णमो महुसवीणं ४२। ॐ ह्रीं र्हं णमो सप्पिसवीणं ४३। ॐ ह्रीं र्हं णमो खीरसवीणं ४४। ॐ ह्रीं र्हं णमो अक्खीणमहाणसाणं ४५। ॐ ह्रीं र्हं णमो सिद्धायदणाणं ४६। ॐ ह्रीं र्हं णमो वड्ढमाणाणं ४७। ॐ ह्रीं र्हं णमो महदिमहावीरवड्ढमाणाणं ४८।

तीसरे भागके पृ० १९९पर पूज्यपाद श्रावकाचारका १००वाँ श्लोक अशुद्धि-बहुल है। दूसरी प्रति उपलब्ध न होनेसे उसका संशोधन संभव नहीं हो सका और इसी कारण उसका भाव ठीक रीतिसे समझमें न आनेके कारण उसका अर्थ भी नहीं दिया जा सका है।

इसी भाग के पृ० २४५पर श्लोकाङ्क ३५९का उत्तरार्ध छपनेसे रह गया है, जो इस प्रकार है—

कुर्वन्ति धर्मं दशधोज्ज्वलं ये ते मानवा मोक्षपदं व्रजन्ति ॥३५९॥

इसी भागके पृ० ४४९पर सिद्धचक्रयन्त्र और वृहत्सिद्धचक्रयन्त्र मुद्रित होनेसे रह गये हैं, उन्हें शुद्धिपत्रकके अन्तमें दिया जा रहा है।

—सम्पादक

प्रथम भागका शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	६	शुद्ध	स्वयं
२०	१०	असंखयाराओ	असंखवाराओ
२४	९	परिपाणं	परिमाणं
२८	९	होता	होता है
२९	१२	-रङ्कुरैः	-रङ्कुरैः
३०	२	-द्रोङ्कुराः	-द्राङ्कुराः
३०	१२	भजग्ति	भजन्ति
,,	,,	लोक्र	लोक
३३	१२	निस्सङ्गग	निस्सङ्ग
३५	३	निन्यास	विन्यास
३८	१२	-दस्ये दृशं	-दस्येदृशं
३९	११	क या	कन्या
४१	२	षोदूशधा	षोडशधा
४६	१२	यूय अस्माभिः	यूयमस्माभिः
५७	७	-कल्पना	-कल्पाना
६०	८	पचरात्	पश्चात्
६२	४	तान	तान्
६८	३	ह्यते	ह्येते
७६	८	-मरा प्रमेयोक्ती	-माराप्रमेयोक्ती
७९	११	पठ्यातताम्	पठ्यताम्
८३	९	त्रिलोकविजय	त्रिलोकविजय त्रिलोकविजय
८४	८	विपयाश्च	विषयांश्च
९३	६	-कारिणा	-कारित्ता
९९	१५	-दानत्मा	-दात्मा
११०	५	प्राणात्	प्राणान्
११५	११	भोगपभोगो	भोगोपभोग
११८	१	यी	यो
११९	१७	प्रतिकमणम्	प्रतिक्रमणम्
१२१	१४	रत्नमय	रत्नत्रय
१४४	३	वात्ति	वाप्ति
१४४	७	प्रेर्यो	प्रेर्या
१५०	३	दुवासना	दुर्वासिना
१७२	१३	दुर्भ	दर्भ
१७४	२	प्रत्नकम	प्रत्नकर्म
१७६	१५	कौशिस्य	कौशिकस्य
१८०	४	मक्ष्मी	लक्ष्मी
१८७	२	मरक	मकर
१९९	१	हृदङ्कुरे	हृदङ्कुरे
२०८	९	मेदो	भेदो
२३३	२	-चिताङ्कराः	-चिताङ्कुराः
२३८	९	तत्रिचविधम्	तच्च त्रिविधम्
२३९	५	कूष्ट	कूट
२६१	११	-दस्थानं	-वस्थानं
२६३	२	यैर्हष्टि	यैर्दृष्टि
,	४	मर्माष्टक	कर्माष्टक
२६६	१०	घर्मं	धर्मं
२७०	६	मलायने	मलालयेन
२७२	२	अमितग	अमितगति
२७३	१०	प्राःज्ञै	प्राज्ञैः
२८१	४	निरुपमा गुणाः	निरुपमगुणाः
२८२	६	द्विहृषिकाः	द्विहृषीकाः
२८६	४	नाघचष्टेः	नाघचेष्टैः
,,	७	-जन्यः	जन्यैः
३००	४	दृष्टान्तस्तो	दृष्टान्तस्ततो
३०७	११	नमना-	गमना-
३१४	१	त्रिविधा	द्विविधा
३१८	१	अर्थ्यं	अर्थ्यं
,,	७	वह्निसमं	वह्निसमं
३२०	१	सर्वारम्भानिवृत्तेः	सर्वारम्भनिवृत्तेः
३२१	१०	अततिः	अतति
३२७	८	प्रयांति	प्रयाति

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३३०	७	विवर्द्धय	विवृद्धय	३९१	२	वाचना च्छना	वाचना पृच्छना
३३१	१४	रौद्रार्थ	रौद्रार्त्त	४११	२	साक्षरं	सप्ताक्षरं
३३२	८	दिवसेन	दिवसे न	४२१	४	वरयते	वारयते
३३५	१४	कपायाकलिते	कपायाकुलिते	,,	,,	पातत्रयी	वातत्रयी
३४६	८	कुर्वोत्स्यजति	कुर्वीस्त्यजति	,,	,,	-म्यस्यस्यमानं	-मभ्यस्यमानं
३४७	६	देवं	देयं	,,	,,	मदम् ,,	मुदम् ॥१॥
,,	८	नमतो	न मतो	४२६	४	अण्णेण	अण्णेण
३५४	१	नकायं	निकायं	४२८	५	अदण्ण-	अवण्ण-
,,	७	व्रूते सूत्र-	व्रूते च सूत्र-	४३०	९	अजंणिज्जं	अजंपणिज्जं
३५८	१६	तपस्विना	तपस्विता	४३२	४	णोचाणं	णीचाणं
३६६	२	-करोज्ज्वल:	-करोज्ज्वल:	,,	८	गुणी	गुणो
३७०	५	निपण्णैस्त्र	निपण्णैस्तत्र	४४१	११	-त्तुंमा	-त्तुंगा
३७७	१	रोटि:	राटि:	४६३	३	कुज्जाप यत्तेण	कुज्जा पयत्तेण
,,	६	नरकै-	नारकै-	४७२	५	पिण्डस्य स्यान	पिण्डस्थध्यान
३८९	४	कुतस्तनी	कुत: स्तनी	४८३	४	वासक	वासरु
,,	२०	वह्	दाख	४८८	१०	वरदव्व	परदव्व

द्वितीय भागका शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	२	-घनो	-व्रनो	६०	७	धन्या ते	ते धन्या
,,	,,	यजत्	यजन्	६६	४	तच्छये	तत्क्षये
७	२	वस्कुगती:	वत्कुगती:	८२	८	ये	न ये
१०	३	चक्रिमि:	चक्रिभि:	९१	४	दखं	दु:खं
११	८	हिंस्रा:	हिंसा	११३	५	भीमित्र	भो मित्र
१२	१	शस्त्र-	शास्त्र-	१४४	६	त्रिसन्ध्यं	त्रिसन्ध्यं
२१	१	किया-	क्रिया-	१४९	४	-दुत्कष्ट:	-दुत्कृष्ट:
२३	४	साकीर्ति	चैति साकीर्त्ति	,,	९	-लाभेना	-लाभेन
३६	२	य	च	१५०	४	किन्त्वार्थ	किन्त्वार्य
४८	६	परिमाना-	परिमाया-	१६०	५	-पर्वाणि	पर्वणि
५९	२	ज्ञानलौल्य	ज्ञानालौल्य	१७३	९	पट्कम	पट्कर्म
,,	३	-त्रयोच्छ्यो	-त्रयोच्छ्रयो	२०३	११	-निश्चतो	निश्चयतो

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०६	३	हेयान्कर्मदा	हेया कर्मदा
२१४	४	-दवेनादिजम्	-वेदनादिजम्
२२३	३	निर्गन्थान्	निर्ग्रन्थान्
२३३	४	अधमुर्हूवि-	अध ऊर्ध्व-
२३५	१	यतिः श्रावक-	यतिश्रावक-
२४७	१३	वदिन्त्वा	वन्दित्वा
२५०	६	रूपेग	रूपेण
२५७	८	याचयः	याचय
२६०	१	ससारं	संसारं
२६२	८	कुसिक्तानि	कुसिक्थ्यानि
२६३	९	गुहायामूचे	गुहामूचे
२६५	९	-निर्दोषाः	-निर्दोषः
२६९	२	नैवं	नैव
२७०	१	ते च	ते
२७१	५	-वृप	-नृप
२७५	७	-मधून्नेव	-मधून्येव
२७९	२	अनेकधा	अनेकशः
२८७	१२	प्रच्छने नैव	प्रच्छन्नेनैव
२९७	११	वद्धा	वद्ध्वा
२९९	६	किमागतोऽपि	किमागतोऽसि
३००	११	तनोक्तं	तेनोक्तं
३०१	१०	श्रुतकरं-त्वं	श्रुतकरत्वं
३०२	९	भिक्षादनेनैव	भिक्षाटनेनैव
३०४	९	श्रष्ठ	श्रेष्ठ
,,	१०	सम्व्यक्तं	सन्त्यक्तं
३१०	२	सवंस्व	सर्वस्व
,,	१०	गणिजां	गणिकां
३२७	८	सद्-व्रतेनाहं	सद् घृतेनाहं
,,	११	श्रीरत्नं	स्त्रीरत्नं
३३०	८	प्रमादाज्ञात	प्रमादाज्ञान
३३२	११	कुकयाणक	कुक्रयाणक
३३९	१२	-व्यथार्थं	व्ययार्थं
३४२	६	आनापयाति	आनापयति
३४६	४	-नैव भव्यः	-नैवाभव्यः
३४७	३	व्यधौ	व्याधौ
३४८	९	-दालसः प्रमादतः	-दालसप्रमादतः
३५०	५	मत्स्योद्वतं	मत्स्योद्वर्तं
३६०	२	काम्या	काम्यया
३७१	६	रात्पात्र-	सत्पात्र-
३८५	११	वेदपापगम्	वेदपारगम्
४०९	३	॥२०॥	॥२२॥
४४४	५	-सद्गुणात्	द्वादशगुणात्
४४९	१०	-त्यजे	-त्यजेत्
४८०	४	थथाविधि	यथाविधि

तृतीय भाग का शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११	२	ग्रह	
१६	२	त्याज्गं	त्याज्यं
३८	८	दयो शतः	दयोंऽशतः
४६	५	सद्दहणमाणो	सद्दहमाणो
६१	९	संख्यधां	संख्यधा
६९	६	परिपाठ्या	परिपाट्या
७०	६	नावकोशो	नावकाशो
८८	३	पूर्ववक्तेऽपि	पूर्ववत्तेऽपि
१०५	६	त्राप्यवयोगेषु	त्राप्यपयोगेषु
१०६	३	मस्रं	मद्यं
१६६	६	नस्यति	नश्यति
१८३	५	उदरान्	उदारान्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१७	२	ग्रन्सन्ततं	यत्सन्ततं
२३८	४	सम्यवत्त्व-	सम्यक्त्व-
२४५	६	श्लोक ३५९ का उत्तरार्ध छूट गया है	
२४५	१५	संज्जन-	सज्जन-
२४८	३६	अङ्गिशलक (?)	अङ्गिशलक (घोंसले) में
२४९	१	-शलके[१]	-शलके (?)
२५२	७	रातिवादो	राटिवादो
२५५	९	मीन-	मौन-
२६५	९	-दोपाश्च	-दोपाश्च
२७३	१६	थुवति-	युवति
२७६	७	-रद्भूत	-रद्भुत
२७८	१	श्रद्धातं	श्रद्धानं
,,	१३	कपायान्तं	कपायान्तं
२७९	११	भयमग-	भवमव-
२८४	८	शास्त्रेपु	शस्त्रेपु
२८५	८	-दाङ्क्षेचो	-दाकाङ्क्षेचो
२८६	१	॥३३१॥	॥२३१॥
,,	७	तथा	तदा
२८८	११	जन-	जिन-
२९३	४	-मदीदशन्	-मदीदशत्
३००	१०	स्वर्पो	सूर्पो
,,	३०	स्वर्प	सूर्प
३०२	९	स्थि ीकरण	स्थितीकरण
३०३	८	स भवत्	अभवत्
३१०	४	ननु	न तु
३११	३	शास्त्रेण	शस्त्रेण
३१३	८	प ते	पर्वते
३१५	१३	विण्णु-	विष्णु-
३१८	४	घृत्वा	वृत्वा
३२०	७	दुराग्रहग्रस्तं	दूराग्रहग्रहग्रस्तं
३२३	१६	हिंसा	हिंसां
३४०	५	यक्षाधिपत्ति	यक्षाविपत्ति
३४७	६	-फलितां	-कलितां
३५६	१	-काष्ठ	-काठ
३५७	११	वनर्थ-	अनर्थ-
३६०	१०	मिर्मुक्ते	निर्मुक्ते
३७०	२	मिता	मिता
३७३	९	ह्यदाहृतं	ह्युदाहृतं
३७५	२	भये	भवे
३७९	११	पक्षि[१]	पक्षि (?)
३८९	३	-काथाना-	-कायाना-
३९०	१०	-ट्रेप-	-द्वेप-
३९७	१२	स्वोदिष्ट-	स्वोद्दिष्ट-
४०५	७	ऊणत्य	अणत्य-
४०६	६	स्व स्वशरीर-	स्वशरीर-
४१०	८	-तदुपज्ञं	तदुपज्ञा-
४१०	१०	॥८॥	॥९॥
४१६	४	-रुद्दानां	-रुद्धानां
,,	६	-रतिवतिया तथा	-रतिवितथात्तथा
४१७	१	भव्यमार्गोपदेश उपासकाध्ययन	पद्मचरित-गत श्रावकाचार
४२२	१	त्रन-	त्रस-
४२५	१	-राघानं	-रावानं
४४१	१	णिणंतरं	णिरंतरं
४४३	२	निहत्याण	गिहत्याण
४४६	१०	समदिट्ठी	सम्मदिट्ठी
४४८	८	वीत-	वीज-
४५३	१४	वयका	वयकाय-
४६६	१५	स शूद्रो	सच्छूद्रो
४७९	१४	प्रत्ता	पत्ता
४८०	१३	वण्हणं	वाहणं
४८१	१३	पंचमगाले	पंचमकाले
४८४	५	अमुह-	असुह-
,,	१४	उचसम-	उवसम-
,,	,,	कषाय-	कसाय-
४८७	३	दुर्गादुर्गति-	दुर्गाद्दुर्गति-
४८८	१	त्रिवर्गोऽचतुर्वर्गे	त्रिवर्गश्चतुर्वर्गे
४९०	४	परीक्ष्यं	परीक्ष्य
४९१	६	स	स च
४९९	४	क्षुघा-	क्षुधा-
५०८	७	स्त्रियम्	स्त्रियाम्
५१४	६	-र्जितं	-विवर्जिते
५२८	४	कर्णयेत्थं	कर्पयेत्थं

पृ० ४४९ पर पढ़े

लघु सिद्धचक्र यंत्र

